भौतिक भूगोल

[PHYSICAL GEOGRAPHY]

डा. एल. एन. उपाध्याय

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1984
BHAUTIK BHOOGOL

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य से
उपलब्ध कराये गये कागज पर मुद्रित।

मूल्य : 89.00

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर–302 004

मुद्रक :
प्रिण्ट्समैन
बी-177, जनता कॉलोनी,
जयपुर–302 004

प्राक्कथन

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपने जीवन काल के दस वर्ष पूरे कर चुकी है। 15 जुलाई, 1984 को इस संस्था ने सोलहवें वर्ष में प्रवेश किया है। इस अल्पावधि में संस्था ने विभिन्न विषयों के 325 से अधिक मानक ग्रन्थों का हिन्दी में प्रकाशन कर मातृभाषा के माध्यम में विश्वविद्यालय के छात्रों व विषय विशेष के पाठकों के समक्ष भाषा वैविध्यता की कठिनाई दूर करने में अपना अकिंचन योगदान दिया है।

अकादमी के कई प्रकाशन द्वितीय व तृतीय संस्करणों/आवृत्तियों में छप चुके हैं। इसके लिए हम सुयोग्य पाठकों व लेखकों के अत्यन्त ऋणी हैं।

प्रकाशन जगत में मानक ग्रन्थों का कम मूल्य पर प्रकाशन एक ऐसा प्रयत्न है जिससे विश्वविद्यालय स्तर एवं विषय विशेष के विशेषज्ञों के ग्रन्थ आसानी से हिन्दी में उपलब्ध हो सकें। प्रयत्न यह रहा है कि अकादमी शोध ग्रन्थों का प्रकाशन अधिकाधिक करे जिससे लेखक एवं पाठक दोनों ही लाभान्वित हो सकें तथा प्रामाणिक विषय वस्तु पाठकों को सुलभ होती रहे। लेखक को भी नव सृजन के लिए उत्साह व प्रेरणा मिलती रहे जिससे प्रकाशन के अभाव में महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियां अप्रकाशित ही नहीं रह जायें। वास्तव में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी इसे अपना उत्तरदायित्व समझती रही है कि दुर्लभ विषय ग्रन्थों का ही प्रकाशन किया जाय। हमें यह कहते गर्व होता है कि अकादमी द्वारा प्रकाशित कतिपय ग्रन्थ केन्द्र एवं अन्य राज्यों के बोर्ड व संस्थानों द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं और इनके विद्वान लेखक सम्मानित हुए हैं।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय की अनुप्रेरणा व सहयोग हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को स्वरूप ग्रहण करने से लेकर योजनाबद्ध प्रकाशन कार्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। राज्य सरकार ने इस अकादमी को प्रारम्भ से ही पूरा-पूरा सहयोग देकर पल्लवित किया है।

अकादमी अपने भावी कार्यक्रमों में राजस्थान से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य को प्रमुखता देने जा रही है जिससे विलुप्त कड़ियां जुड़ सकें। यह भी प्रयत्न है कि तकनीकी एवं आधुनिकतम विषय वस्तु के ग्रन्थ योजनाबद्ध प्रकाशित हों जिससे सम्पूर्ण विषय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में छात्रों को किसी तरह का अभाव अनुभव नहीं हो।

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि के स्नातक पाठ्यक्रमों को समाविष्ट किया गया है। विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं के विद्यार्थियों हेतु भी पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। विषय को चार खण्डों में विभक्त किया गया है—(क) अन्तरिक्ष में पृथ्वी, (ख) स्थलमण्डल, (ग) वायुमण्डल, (घ) जल-मण्डल। इन खण्डों के पृथक-पृथक अध्ययन से विद्यार्थियों को भौतिक भूगोल के समझने तथा शुद्ध दृष्टिकोण अपनाने में सरलता का अनुभव होगा। विषय को रोचक तथा सुगम बनाने के लिए यथास्थान रेखाचित्र, मानचित्र, फोटोग्राफ्स आदि पर्याप्त संख्या में प्रयुक्त किये गये हैं।

हम पुस्तक के लेखक डा. एल. एन. उपाध्याय, समीक्षक डा ए. एन. भट्टाचार्य तथा भाषा सम्पादक श्री श्यामराय भटनागर के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभारी हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तक में प्रस्तावना स्वरूप "भौतिक भूगोल का स्वरूप एवं क्षेत्र" पृ. सं. 1–4, अध्याय 5 "भूपटल के पदार्थ" पृ. सं. 93–103, तथा अंशत: अध्याय 28 "समुद्री जल की संरचना" पृ. सं. 600-618 के लेखन हेतु अकादमी डा. रघुवीरसिंह राठौड़ के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञता के भाव ज्ञापित करती है।

शिवचरण माथुर
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
एवं मुख्यमंत्री, राजस्थान सरकार
जयपुर

(डा.) पुरुषोत्तम नागर
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्रस्तावना

विविधता प्रकृति की अनुपम देन है। इसी विविधता में जन्मे और पले मानव भी प्रयत्न करने पर भी भौतिक वातावरण की इस विभिन्नता के प्रभाव से अपने को अछूता नहीं रख पाये। इस रहस्यमयी सृष्टि के छिपे तत्त्वों का ज्ञान हम भौतिक वातावरण की पृष्ठभूमि के आधार पर कर सकते हैं। यही ज्ञान हमको शोध एवं अनुसन्धान के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। अनुसन्धान के यही अंकुर भविष्य में भरे-पूरे वृक्ष के रूप में पल्लवित होते हैं तथा अनुसन्धानकर्त्ता अपनी मौलिक विचारधारा से आने वाली पीढ़ी को फल देकर लाभान्वित करता है। इस प्रकार विद्वानों द्वारा सृष्टि के रहस्य विवेचन से प्रकृति की अनेक गुत्थियों को खोलकर जिज्ञासुओं का अधिक ज्ञानवर्द्धन किया गया है। अतः भौतिक भूगोल के महत्त्व और व्यापक क्षेत्र का अध्ययन अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक है।

लेखक ने अपने लम्बे अध्ययन और अध्यापन के आधार पर अनवरत परिश्रम से पुस्तक को यथासम्भव सरस एवं रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। यह प्रयास कहां तक सफल हुआ यह तो सहृदय पाठक ही बता पायेंगे। विचारों की विभिन्नता स्वाभाविक है और इस बात को भी नहीं नकारा जा सकता कि पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी रखने पर भी पुस्तक में मुद्रण तथा विषय सम्बन्धी कुछ त्रुटियां रह गयी हों। लेखक उन सभी पाठकगणों का आभारी रहेगा जो कि अपने अमूल्य सुझावों से उसे अवगत करायेंगे जिससे अगली आवृत्ति में उन सुझावों से पुस्तक को और भी अधिक ज्ञानवर्द्धक बनाया जा सके।

अन्त में लेखक डा. ए. एन. भट्टाचार्य का अत्यन्त आभारी है जिनके अमूल्य सुझावों के कारण यह पुस्तक अधिक प्रस्तुति योग्य बन पड़ी है। लेखक डा. रघुवीरसिंह राठौर का भी ऋणी है जिनके तीन लेख पुस्तक में संकलित हैं। प्रकाशक भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके प्रयत्नों से यह पुस्तक शीघ्र प्रकाशित हो सकी है।

डा. लक्ष्मीनारायण उपाध्याय

विषय-सूची

विषय प्रवेश
[Introduction]

भौतिक भूगोल का स्वरूप एवं क्षेत्र
(Nature and Scope of Physical Geography)

भौतिक भूगोल, वृहत भूगोल शास्त्र की प्रधान शाखा है। भूगोल भूतल के क्षेत्रीय सम्बन्धों एवं विभिन्नताओं का अध्ययन है। भूतल पर वायुमण्डल और भूपटल के जल और स्थल के अंग आपस में मिलते हैं। इसी पर वनस्पति व जीवधारी आदि समस्त प्राणधारियों का विकास होता है। मानव अपने विकास के लिए प्रकृतिप्रदत्त सम्पदा एवं विशिष्ट प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। ये प्राकृतिक उपादान 'भौतिक पर्यावरण' कहे जाते हैं। जीवधारी अपने भौतिक पर्यावरण से कभी भी स्वतन्त्र नहीं हो पाता है फिर भी सुविधामय जीवन के लिये वह अपने बौद्धिक विकास से इसके सदुपयोग द्वारा सांस्कृतिक पर्यावरण का सृजन करता है। अतः आधुनिक भूगोल में पृथ्वी अथवा उसके किसी भाग में मानव के भौतिक, जैविक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। भूगोल भूतल का अध्ययन, मानव सहित समस्त जीवों की 'धात्री' के रूप में करता है। भूतल पर प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितिगत स्थानीय और क्षेत्रीय विभिन्नताएं मिलती हैं। भूगोल में भूतल के इन्हीं सम्बन्धों एवं क्षेत्रीय विभिन्नताओं का कारण सहित अध्ययन किया जाता है।

परम्परा से भूगोल की विषय-वस्तु को मानव भूगोल एवं मानव-रहित भूगोल में बांटा जाता रहा है। मानवरहित भूगोल में भूतल के वे समस्त तत्त्व एवं घटनाएं सम्मिलित की जाती रही हैं जो केवल प्रकृति द्वारा निर्मित हैं और मानव क्रियाकलापों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हैं। पृथ्वी पर मानव यदि नहीं भी होता तो भी सौयिक ताप से जल का वाष्पीभूत होकर उड़ जाना और मेघों के रूप में संघनित होकर पुनः बरस पड़ना, नदियों का जल-प्रवाह और उससे सम्बन्धित अपरदन, परिवहन एवं निक्षेप की समस्त प्रक्रियाएं होती रहतीं। शीत एवं उष्णता के प्रभाव से शैलों का विखण्डन हिमानी, पवन एवं सागरीय जल की समस्त गतिविधियां आज जैसी ही चलती रहतीं। बीजों का अंकुरण, विकास और प्रस्फुटन भी होता रहता तथा भूतल पर मानव के अतिरिक्त सहस्रों प्रकार के जल, थल व नभचारी जीव विचरते रहते। पर्यावरण के इन्हीं मानव-रहित पक्षों के अध्ययन को भौतिक भूगोल की संज्ञा दी गई। एलिवस तथा वुल्ड्ज इसे 'प्राकृतिक भूगोल' कहना अधिक उचित मानते हैं।

भौतिक भूगोल वह विज्ञान है जिसमें भौतिक पर्यावरण का अध्ययन किया जाता है। आर्थर होम्स के अनुसार "भौतिक पर्यावरण का अध्ययन जिसके अन्तर्गत महाद्वीपों एवं

महासागरों की तली के धरातलीय उच्चावच, सागर तथा महासागरों तथा पवन (वायुमण्डल) का अध्ययन भौतिक भूगोल में सम्मिलित किया जाता है।" इस प्रकार भौतिक भूगोल में पर्यावरण के तीन पृथक तत्व—स्थल, जल एवं पवन, का संसर्गिक विवरण किया जाता है।

वर्तमान में 'भौतिक भूगोल' को भूविज्ञान के व्यापक क्षेत्र का उपभाग माना जाता है। प्रत्येक भूविज्ञान में पृथ्वी अपने वायुमण्डल एवं सागरों सहित एक प्रयोगशाला है। भौतिक भूगोल, मानव के समस्त पार्थिव प्रारूपों का विश्लेषण एवं समन्वय व प्राकृतिक पर्यावरण का अध्ययन करता है। प्राकृतिक पर्यावरण भूतल के विभिन्न भागों में कैसे भिन्न है। इस हेतु चट्टानों की बनावट, मृदा, सागरीय एवं स्थलीय जल, वायुमण्डल और प्राकृतिक वनस्पति के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता है।

यद्यपि सभी भूविज्ञान का विशिष्ट विषय क्षेत्र होता है परन्तु इसकी सीमाएं अनिवार्य रूप से परस्पर होती हैं और एक दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण करती हैं। भौतिक भूगोल अनेक भूविज्ञान का समन्वय है। "भौतिक भूगोल सामान्य रूप से भूविज्ञान का अध्ययन एवं समन्वय है जो मानव पर्यावरण के स्वरूप पर सामान्य रूप से प्रकाश डालते हैं।" भौतिक भूगोल यद्यपि स्वयं में विज्ञान की एक विशिष्ट शाखा नहीं है परन्तु भूतल पर प्रधानतः पर्यावरण की स्थानविषयक विभिन्नताओं पर चुने गये प्राकृतिक विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों का संकलन है।

पृथ्वी का आकार तथा विस्तार भूमापन विज्ञान से सम्बन्धित है तो पृथ्वी एवं सूर्य के सम्बन्ध खगोल विज्ञान के अंग हैं। भूगोलवेत्ता केवल दो पिण्ड—सूर्य और चन्द्रमा से सम्बन्ध रखता है क्योंकि ये दो ही पृथ्वी पर जीवन को पर्याप्त प्रभावित करते हैं। सूर्य से निःसृत विकिरण से ही भूतल पर जीवों को पोषित करने वाली समस्त ऊर्जा, जलधाराओं एवं पवन की प्रेरक शक्ति उपलब्ध होती है। सूर्यशक्ति की प्रखरता, दैनिक एवं वार्षिक चक्र में घटती-बढ़ती रहती है, अतः सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की अपने कक्ष पर गतियों का ज्ञान भौतिक भूगोल का आवश्यक अंग है। साथ ही चन्द्रमा सागरीय ज्वारों के नियंत्रक पिण्ड के रूप में भौतिक भूगोल का गौण विषय है।

मानचित्रों एवं चित्रों द्वारा ही भूविज्ञान के आंकड़ों और तथ्यों की संपुष्टि हो सकती है। अतः मानचित्र कला भी भौतिक भूगोल का अपरिहार्य अवयव है। मानव यद्यपि पृथ्वी के ठोस स्थल पर रहता है किन्तु वह वायुमण्डल में सांस लेता है। वायुमण्डल का अध्ययन जलवायु विज्ञान तथा मौसम विज्ञान द्वारा किया जाता है, अतः ये भी भौतिक भूगोल के अंग हैं। ठोस स्थल और वायु-आवरण के मध्य मिट्टी की पतली परत है जो जलवायु एवं धरातल के प्रभाव दर्शाती है। अतः मृतिका शास्त्र भी भौतिक भूगोल का अंग है। प्राकृतिक वनस्पति का स्वरूप एवं वितरण जीव विज्ञान का विषय है, यह अध्ययन भी भौतिक भूगोल में सम्मिलित किया जाता है क्योंकि पेड़-पौधे, जलवायु व मिट्टी उच्चावच के सही सूचक होते हैं। अतः वनस्पति भूगोल को भी भौतिक भूगोल में सम्मिलित किया जाता है।

सागर विज्ञान जिसमें सागरों की तली का उच्चावच, निक्षेप, जल का संगठन और सागर की गतियों का अध्ययन किया जाता है, भौतिक भूगोल के प्रमुख अंग हैं।

भूतल की स्थलीय आकृति से मानव का सम्बन्ध है, ये उसके कृषि क्षेत्र, नगरों तथा यातायात के मार्गों को निश्चित करते हैं। भू-आकृति विज्ञान समस्त स्थलाकृतियों की

उत्पत्ति एवं व्यवस्थित विकास का अध्ययन करता है अतः यह भी भौतिक भूगोल का अंग है। प्रायः स्थलाकृतियां भूगर्भ स्थित शैलों की संरचना एवं शैलियों को अभिव्यक्त करती हैं अतः भूगर्भशास्त्र के कुछ सिद्धान्तों को भौतिक भूगोल में सम्मिलित करना अनिवार्य होता है। भूभौतिकी को भी भौतिक भूगोल से पृथक नहीं रखा जा सकता है क्योंकि गहन भूगर्भ के स्वभाव एवं संरचना का अध्ययन भूभौतिकी में होता है। गहन भूगर्भ की हलचलें भूतल को प्रभावित करती हैं। जल विज्ञान भू-जल एवं अधोभौमिक जल का अध्ययन किया जाता है अतः वह भी भौतिक भूगोल का प्रमुख भाग बन जाता है। जल मानव जीवन के लिये आवश्यक होता है।

इस प्रकार भौतिक भूगोल में मानव के प्राकृतिक पर्यावरण के विभिन्न पक्षों का समन्वित एवं सम्यक विवरण होता है। यह ही समग्र भौगोलिक ज्ञान का आधार है।

भौतिक भूगोल का प्रारम्भ पृथ्वी के अध्ययन पृथ्वी के सौरमण्डलीय सम्बन्धों तथा भूतल पर जल और थल के वितरण से सम्बन्धित है। भौतिक भूगोल के सामान्यतः तीन खण्ड हैं जिनमें स्थल, जल एवं वायु का क्रमबद्ध अध्ययन है। इन तीनों ही तत्त्वों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु ये तीनों एक दूसरे से पृथक भी हैं और इनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है।

भौतिक भूगोल का विषय-क्षेत्र सामान्यतः चार वर्गों में विभक्त है—

(i) पृथ्वी

इसके अन्तर्गत पृथ्वी की उत्पत्ति, आकार, आयु, सौरमण्डलीय सम्बन्ध तथा गतियों का अध्ययन किया जाता है।

(ii) स्थल

इसमें भूगर्भ एवं भूपटल की संरचना, समस्थिति, भूपटल के धरातलीय प्रारूप इनको प्रभावित करने वाले आन्तरिक एवं वाह्य बलों और उनसे उत्पन्न विभिन्न स्थलाकृतियों एवं उनकी विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है। स्थलमण्डल का अध्ययन प्रधानतः भूतल पर सृजन एवं विनाश के बलों के मध्य अनवरत संघर्ष को स्पष्ट करता है।

(iii) जल

इसके अन्तर्गत महासागरों के अधःस्तल के उच्चावचन प्ररूप, महासागरीय निक्षेप, सागरीय जल का संघटन, तापक्रम, गतियां तथा प्रवाल भित्तियां एवं द्वीपों का अध्ययन है।

(iv) वायु

इसमें वायुमण्डल की संरचना, तापक्रम, वायुदाब, वायु-संचार, आर्द्रता एवं वर्षण तथा जलवायु का अध्ययन सम्मिलित है।

यद्यपि स्थल, जल एवं वायु एक दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु वे एक दूसरे के पूरक हैं। जल का अधिकांश भाग सागरों, झीलों और नदियों में व्याप्त है किन्तु वह मिट्टी एवं शैलों में प्रविष्ट रहता है तथा जल का अंश वाष्प रूप में सदा वायु में भी विद्यमान रहता है। इसी तरह वायु का एक भाग मिट्टी एवं शैलों में प्रविष्ट होता है तो एक भाग सागरों, झीलों, नदियों आदि के जल में भी रहता है। स्थल के ठोस भाग का एक अंश सागरों, झीलों, नदियों आदि के जल के साथ गाद पन के रूप में घुला रहता है। धूलिकण वायुमण्डल में सदैव ही न्यूनाधिक मात्रा में व्याप्त रहते ही हैं। जल, थल तथा वायु के अन्तर्सम्बन्धों को एक अन्य उदाहरण से भी समझाया जा सकता है। सूर्य ताप के प्रभाव से

एक ओर सागर का जल वाष्पीभूत होता है तो दूसरी ओर तापक्रम एवं वायुभार की विभिन्नता उत्पन्न होती है जिससे वायु में संचरण तथा धरातल पर वर्षा होती है। वर्षा और जलवायु के अन्य तत्त्व भी भूतल के विकास को प्रभावित करते हैं। भौतिक भूगोल स्थल, जल एवं वायु का संतुलित, सारगर्भित एवं संसर्गिक ज्ञान प्रदान करता है।

भौतिक भूगोल में प्रकृति के भौतिक तत्त्वों की क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित व्याख्या सम्पूर्ण भूगोल के आधार हैं। अन्य विषयों की भांति भौतिक भूगोल के अध्ययन में भी विशिष्टीकरण बढ़ रहा है।

विशिष्टीकरण से प्रभावित होने से वर्तमान में भौतिक भूगोल के प्रति आस्था घटने का कारण इसकी विषयवस्तु में सम्बद्धता के अभाव से है।

स्थल, सागर एवं वायु पृथक् एवं भिन्न हैं किन्तु इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी असंदिग्ध है। अतः भौगोलिक अध्ययन में स्थल, जल एवं वायु के संतुलित एवं संसर्गिक अध्ययन की वैज्ञानिक भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इन तीनों के संसर्गिक अध्ययन के बिना सम्पूर्ण पर्यावरण का सम्यक ज्ञान नहीं हो सकता।

भौतिक भूगोल, एक संग्रही तथा संसर्गिक विषय होते हुए भी उसकी अपनी विधि, प्रयोजन तथा मर्यादाएं हैं जिनका अध्ययन भी सम्बद्ध घटनाओं से युक्त संसर्गिक विषय के रूप में होना चाहिये।

भौतिक भूगोल किसी भी स्थान के सम्पूर्ण पर्यावरण का एक अनिवार्य अंग होता है तथा किसी भी संस्कृति में भौतिक पर्यावरण की मानव के कार्य-कलापों में निर्णायक भूमिका होती है। अतः भूगोल के सम्यक ज्ञान हेतु भौतिक पर्यावरण का संसर्गिक ज्ञान आवश्यक है जिसे भौतिक भूगोल के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Hartshorne, R. (1968)—Perspective on the Nature of Geography, John Murray.
2. Wooldridge, S. W. East, and Gordon W.—Spririt and Purpose of Geography.
3. James, P. E. (1959)—New Viewpoints in Geography, National Council for the Social Studies, Washington.
4. Strahler, A. N. (1965)—Introduction to Physical Geography; John Wiley & Sons, Inc., New York.
5. Trewartha, G. T., Robinson, A. H. and Hammond, E. H. (1967)—Physical Elements of Geography, Mcgraw Hill Book Co.
6. Patton, C. P., Alexander, C. S. and Kramer, F. L. (1970)—Physical Geography, Wadsworth Publishing Co., Inc. Belmont.
7. Holmes, A. (1965)—Principles of Physical Geography, Thomas Nelson & Sons, London.

प्रथम खण्ड

अन्तरिक्ष में पृथ्वी

1

अन्तरिक्ष ज्ञान
[Knowledge of Space]

आकाशीय पिण्डों की गति का ज्ञान खगोल विज्ञान या ज्योतिर्विज्ञान कहलाता है। अंग्रेजी में इसे एस्ट्रोनामी कहते हैं जो ग्रीक भाषा के दो शब्दों—एस्ट्रोन (astron=star) तथा नेमो (nemo=to arrange) से बना है, अर्थात् तारों का क्रम।

खगोल विज्ञान का उदय सर्व प्रथम भारत फिर यूनान, मिश्र, सुमेर, चीन आदि देशों में हुआ। ईसा से 14वीं शती पूर्व भारत के ज्योतिषी 'लगध' ने सर्व प्रथम ज्योतिष वेदांग की रचना की जो संसार का प्राचीनतम खगोल ग्रन्थ है। पश्चात् आर्यभट्ट (5वीं शती), वराहमिहिर (छठी शताब्दी), भास्कराचार्य (12वीं शती) आदि ज्योतिषियों के नाम उल्लेखनीय हैं। आर्यभट्ट को भारत का न्यूटन माना जाता है। थुम्बा आधार से 19 अप्रेल, सन् 1975 को छोड़ा गया। भारत के प्रथम कृत्रिम उपग्रह का नाम आर्यभट्ट रखा गया। खगोल विज्ञान के क्षेत्र में यूनान के थेल्स (800 ईसा पूर्व), हिपारकस (200 ईसा पूर्व), मिश्र के सिकन्दरियावासी टॉलमी (दूसरी सदी ईस्वी) आदि प्राचीन खगोलशास्त्रियों का नाम उल्लेखनीय हैं।

प्राचीन ज्योतिषीय-भूगोल गणित के सिद्धान्तों, नियमों तथा प्रक्रियाओं पर आधारित था। सन् 1610 में गैलीलियो गैलिली (Galileo Galilee) ने दूरदर्शिका का आविष्कार कर ज्योतिषियों को अपूर्ण दृष्टि प्रदान की। जिसने यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी भी अन्य ग्रहों की भाँति एक ग्रह है और सूर्य की परिक्रमा करती है। कापर निकस ने भी पृथ्वी को ग्रह की संज्ञा दी थी और बताया कि यह सूर्य के चारों ओर घूमती है। इन दोनों ही विद्वानों को आधुनिक खगोल शास्त्र का जनक माना जाता है।

पिछली तीन दशाब्दियों से अन्तरिक्ष ज्ञान के क्षेत्र में कई सफलतायें प्राप्त हुई हैं। 4 अक्टूबर, सन् 1957 को सोवियत संघ ने सर्व प्रथम मानव रहित अन्तरिक्ष यान पृथ्वी के कक्ष में भेजकर इसके रहस्यों को प्रकाश में लाने का सफल प्रयास किया। तब से सोवियत संघ एवं अमेरिका के मध्य अन्तरिक्ष के रहस्यों का उद्घाटन करने की होड़ सी लगी हुई है। वर्तमान में दोनों ही देश अपने अन्तरिक्ष यानों द्वारा चन्द्रमा, शुक्र, मंगल आदि ग्रहों पर वैज्ञानिक उपकरण पहुँचा कर उनकी उत्पत्ति, संरचना और वायुमण्डल के रहस्यों के उद्घाटन में प्रयत्नशील हैं। निस्सन्देह बीसवीं शताब्दी खगोल विज्ञान के विकास का स्वर्ण-युग सिद्ध होगी और अनेकों अन्तरिक्ष रहस्य प्रकाश में आयेंगे।

अन्तरिक्ष का आकार और विस्तार

आइंस्टीन के सापेक्षता-सिद्धान्त के अनुसार आकाश वक्राकार है। जिस तरह तालाब में एक पत्थर गिरने से वक्राकार लहरें उत्पन्न हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार अन्तरिक्ष में पदार्थ के चारों ओर वक्राकार आकाश फैला हुआ है। पदार्थ के घटने-बढ़ने के साथ-साथ वक्र भी घटता-बढ़ता जाता है। यदि हम काश्मीर से कन्याकुमारी तक की दूरी नापें तो ऐसा मालूम होगा कि हम सीधी रेखा खींच रहे हैं, किन्तु वास्तव में यह रेखा पृथ्वी के गोल पर वक्राकार होगी।

आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त के आधार पर भौतिक विज्ञानवेत्ता सर जेम्स जीन्स ने ब्रह्माण्ड की उपमा एक साबुन के बुलबुले की सतह से दी है। इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि साबुन के बुलबुले के त्रिविम (लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई) होते हैं, किन्तु ब्रह्माण्ड चतुर्विम हैं—तीन दिक् के और एक काल का। जिस प्रकार पृथ्वी एक त्रिविमीय गोले का खोल है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड तथा अन्तरिक्ष भी चतुर्विमीय गोले के खोल हैं जिसमें काल एक चौथा आयाम है।

यदि हम ब्रह्माण्ड को काल के आधार पर नापें तो यह समस्या कुछ सीमा तक सुलझ सकती है। किन्तु समस्या यह रहेगी कि उससे आगे क्या ? एक वैज्ञानिक का कथन है कि "सीमित पदार्थ असीमित आकाश में फैला हुआ है।" तारों की दूरी अन्तरिक्ष की विशालता का अनुमान हम इससे लगा सकते हैं कि अगर हम पृथ्वी के निकट से निकट तारे तक पहुँचने के लिए 1600 किमी. प्रति घण्टा की गति से चलने वाले यान से यात्रा तो करें इस तारे तक पहुँचने में 3,000 वर्ष लगेंगे।

सर जेम्स जीन्स के अनुसार यदि ब्रह्माण्ड की प्रतिमा (Model) बनाएँ तो पृथ्वी की कक्षा जोकि 9 अरब 10 करोड़ किमी. है एक पिन के शीर्ष को प्रदर्शित करेगी। पिन का शीर्ष सेन्टीमीटर का 1/6 वाँ भाग होता है। सूर्य इस प्रतिमा में से. मी. का 1/8500 वाँ भाग होगा। सौर्यमण्डल का समीपस्थ से तारा भी 205 मीटर दूर रखना होगा। यदि 100 और तारे दिखाने होंगे तो इस प्रतिमा का आकार 1.6 किमी. लम्बा, 1.6 किमी. चौड़ा और 1.6 किमी. ऊँचा करना होगा। इस प्रकार अनगिन तारामंडल के लिये प्रतिमा के आकार को अनन्त तक बढ़ाना होगा। यदि हम प्रतिमा के पैमाने को 1 से मी. =32 खरब किमी. मान लें तो 1120 किमी. ऊँची प्रतिमा को बनाने के पश्चात भी हम अपने ही तारागण समूह में रहेंगे। अतिरिक्त तारागण समूह को दिखाने के लिए हमको प्रतिमा के आकार को 4,800 किमी. और बढ़ाना होगा। इस प्रकार प्रतिमा को बढ़ाये जाइए किन्तु अन्त फिर भी नहीं आयेगा। प्रश्न यही रहेगा कि उससे आगे क्या ?[1]

असंख्य तारों से निर्मित आकाशीय रचना ब्रह्माण्ड है जिसमें विभिन्न सौरमण्डल विद्यमान हैं। प्रसिद्ध नक्षत्र-विज्ञानवेत्ता सर आर्थर एडिंगटन के अनुसार हमारे ब्रह्माण्ड में 11,000 करोड़ सूर्य हैं। इस शोध से विदित होता है कि हमारा सौरमण्डल सम्पूर्ण ब्रह्मांड

---

1. Lyttleton, R.A., 'The Modern Unriverse,' (Oxford University Press, 1939), p. 143.

का एक अंश मात्र है। हमारे ब्रह्माण्ड जैसे आकाश में अनेकों ब्रह्माण्ड हैं जिनकी खोज अभी शेष है।

तारामण्डल

जोड्रेल वेधशाला की दूरबीन से जो एक अरब प्रकाश वर्ष की दूरी* तक देख सकती है, देखने से विदित होता है कि आकाश में दो तारामण्डल विद्यमान हैं--एक आन्तरिक तारामण्डल तथा दूसरा बाह्य तारामण्डल।

आन्तरिक तारामण्डल

आन्तरिक तारामण्डल का रूप गोल बंद गेटी या अण्डे के समान है। इसके मध्य भाग में तारे घनी मात्रा में तथा दोनों ओर विरल होते जाते हैं। हमारा ब्रह्माण्ड जोकि ऐरावत पथ या आकाश गंगा के नाम से जाना जाता है आन्तरिक तारामण्डल का ही एक अंग है। आकाश गंगा में ही हमारा सौर-मण्डल स्थित है।

बाह्य तारामण्डल

आन्तरिक तारागण से बहुत दूर बाह्य तारामण्डल स्थित है जिसमें दूर-दूर छितराये तारे तथा नीहारिकाओं के समूह के समूह देखे जा सकते हैं। इस तारा मण्डल में अनेकानेक ब्रह्माण्ड अभी भी निर्माण अवस्था की स्थिति में हैं।

तारागण समूह के अतिरिक्त अन्तरिक्ष शून्य नहीं है। इस अनन्त आकाश में अत्यन्त न्यूनतम घनत्व वाला पदार्थ विरलता में फैला हुआ है। खोज के आधार पर परस्पर सम्बन्धित ग्रहों के मध्य रिक्त स्थान में पदार्थों (अधिकांशतः हाइड्रोजन) के 10 परमाणु प्रति एक घन सेन्टीमीटर में फैले हुए हैं। इसी प्रकार कल्पनातीत आकाश में गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्र तथा विद्युत चुम्बकीय विकरण वर्ण-क्रम, कोसमिक किरणें तथा चुम्बकीय क्षेत्र के अज्ञात तत्त्व अपार फैलाव से ओत-प्रोत हैं।[2]

आकाश गंगा

आकाश गंगा तारों का एक समूह है जो लम्बाकार पथ के रूप में आन्तरिक तारागण समूह का व्यास बनाती है। इसकी लम्बाई एक लाख तथा चौड़ाई बीस हजार प्रकाश वर्ष है। इसके मध्य भाग में तारों का घनत्व अधिक है जो दूरी के अनुपात में विरल होता गया है। गैलेक्सी (Galaxy) ग्रीक भाषा का शब्द है जिसका तात्पर्य दूध से है। इसकी आकृति चौरस बिम्ब की भाँति है। इसकी नाभि के चारों ओर तारे चक्राकार भुजाओं में स्थिर होकर परिक्रमा करते हैं। आकाश गंगा में लगभग 100 अरब तारे हैं। हमारा सौरमण्डल इसकी भुजा के एक छोर पर स्थित है। इसके केन्द्र से सूर्य की दूरी 30 हजार तथा पृथ्वी की दूरी 47 हजार प्रकाश वर्ष है। सूर्य सौर मण्डल सहित आकाश गंगा के केन्द्र की परिक्रमा 25 करोड़ वर्षों में पूरी करता है। 320 कि.मी. प्रति सेकेण्ड की गति

---

* प्रकाश की गति एक सेकण्ड में 3,00,000 किमी. है। इस गति से प्रकाश एक वर्ष में जितनी दूरी तय करता है, उस दूरी को एक प्रकाश वर्ष (light year) कहते हैं।

2. Encyclopedia Britanica, London, 1971, p. 1042.

से अब तक सूर्य आकाश गंगा की नाभि की 12 परिक्रमा लगा चुका है। ब्रह्माण्ड में ऐसी अनेकों आकाश गंगा हैं जो अनेकों पिण्डों को जन्म दे रही हैं।
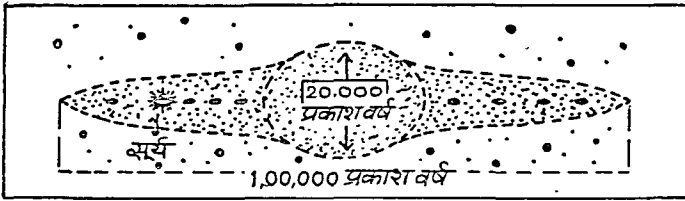
चित्र 1·1 आकाश गंगा

ब्रह्माण्ड

ब्रह्माण्ड असंख्य तारों का एक समूह है जिसमें अनेकों सौरमण्डल सम्मिलित हैं। आइंस्टीन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ब्रह्माण्ड अन्नत है। ब्रह्माण्डों का अर्ध व्यास 350 अरब प्रकाश वर्ष है जिसमें 11 महापद्म सूर्य हैं।

सोवियत वैज्ञानिक आरटोविमास ओवेन के अनुसार ब्रह्माण्ड में स्थित 1 से 5 प्रतिशत ऐसे नक्षत्र हैं जिनके चारों ओर पृथ्वी जैसे ग्रह परिक्रमा करते हैं जिनमें जीवन की सम्भावनाएं हैं। सोवियत वैज्ञानिकों ने ऐसे विराट छिपे द्रव्यपुंजों के अस्तित्व का पता लगाया है जो अभी तक अज्ञात थे। ये द्रव्यपुंज सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के द्रव्यपुंज से अधिक हैं।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

ब्रह्माण्ड-विज्ञान तथा ब्रह्माण्ड-उत्पत्ति सिद्धान्त कल्पना के आधार पर ही प्रतिपादित हैं। भारतीय ऋषियों ने अपने अध्यात्मिक (Psychic) तथा योग्य-सिद्ध से अन्त:प्रजा (Intution) द्वारा वेदों और उपनिषदों में जो वर्णन दिया है वह वर्तमान विज्ञान की नवीनतम खोजों से मेल खाता है। इसका एक उदाहरण ऋगवेद का अघमर्षण सूक्त है—

"ऋतं सत्यं अभीद्धात् तपसो अध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। तत: समुद्रो अर्णव: समुद्रदादार्णवादधि सम्वत्सरो अजायत।"

अर्थात् (अभीद्धात् तपसो) परम तेजमय ईश्वर से (ऋतं च सत्यं) ज्ञान और सत्य प्रकृति की उत्पत्ति हुई, (तत: समुद्रो अर्णव:) उसमें परमाणुओं से परिपूर्ण आकाश की उत्पत्ति हुई। परमाणुओं से व्याप्त आकाश में क्षोभ अर्थात् गति उत्पन्न हुई जिसके परिणामस्वरूप नक्षत्रों की उत्पत्ति हुई।

भौतिक विज्ञान में पदार्थ और शक्ति एक ही वस्तु हैं। पदार्थ रहित शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं। यह पदार्थ और शक्ति का सागर जिससे ब्रह्माण्ड की रचना हुई कहां से आया? यह अभी भी उत्तररहित है। एक मत के अनुसार प्रारम्भ में विश्व पदार्थ केवल शक्ति के रूप में था जिससे वायव्य मेघ बने। इस असीमित पदार्थ में गुरुत्व शक्ति का संचार हुआ जिससे परमाणुओं का संघर्ष हुआ। इस प्रकार अनन्त आकाश में वाष्प और धूल कणों से निर्मित अनगिनती पिंड बने। गुरुत्व के कारण इन पिंडों ने और भी परमाणुओं को आकर्षित किया और इस प्रकार शनै:-शनै: इनका आकार बढ़ता गया। विशालकाय होने के कारण उनमें आणविक घर्षण क्रिया प्रारम्भ हुई और प्रचंड ताप के कारण इनमें विस्फोट

होने प्रारम्भ हुए। विस्फोटों के कारण यह गैस के प्रज्वलित पिण्ड आकाश में अपने केन्द्रों पर घूमने लगे जिनको नीहारिकाओं के नाम से सम्बोधित करते हैं। इन्हीं तीव्र गति से परि-भ्रमण करती हुई नीहारिकाओं से असंख्य सौरमण्डलों का जन्म हुआ और हो रहा है भारतीय वैज्ञानिक जयन्त नार्लेकर ने इस प्रकार की कई नीहारिकाओं के रंगीन फोटो द्वारा इस तथ्य को उजागर किया है।

एक अन्य विचारधारा के अनुसार सृष्टि का प्रारम्भिक द्रव्यमान एक सघन मेघ के रूप में था जिसका घनत्व 10 से 12 किलोग्राम प्रति घनमीटर आंका गया है। इस सघन मेघ को खगोलवेत्ता 'प्रोटो गैलक्सी' के नाम से पुकारते हैं। इसमें विस्फोट होने के पश्चात् उसके केन्द्र और टुकड़ों में गुरुत्व शक्ति उत्पन्न हुई। बड़े टुकड़े या भाग नीहारिकाएँ बन गये और छोटे-छोटे टुकड़े तारकों के रूप में अपने छोटे-छोटे कलेवरों को संगठित बना पाने में सफल हो गए। ऐसे अनेकों ब्रह्माण्ड हैं। सभी ब्रह्माण्डों का अर्वव्यास 350 अरब प्रकाश वर्ष है जिसमें 11 महापद्म सूर्य होने का अनुमान है।

जार्ज गैमो के अनुसार प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड की समस्त पदार्थ राशि एक केन्द्र पर स्थिर रही होगी। इस समान जातीय राशि का घनत्व और ताप अत्यधिक रहा होगा। ताप के कारण राशि फैलने लगी जिससे ताप गिरकर 5.5° अरब हो गया। ताप के ह्रास के कारण पूर्व स्थित न्यूट्रान जमने लगे। न्यूट्रानों के जमने के कारण विद्युत अणु और विखंडन से परमाणु बनने लगे। परमाणुओं के संघनन से तारों और ग्रहों की रचना हुई।

सन् 1930 में ई. पी. हब्बल ने माउन्ट विल्सन वेधशाला से खोज के आधार पर बताया कि दृश्यमान ब्रह्माण्ड पृथ्वी से दूर हटता जा रहा है। वैज्ञानिकों का मत है कि आकाशीय पिण्ड एक दूसरे से दूरी के अनुपात में उसी गति से विरल होते जा रहे हैं। जिस प्रकार गुब्बारे पर रंग के छीटे पड़े हों और उसको फुलाया जाय तो वह रंग बिन्दु गुब्बारे के फूलने के साथ-साथ एक दूसरे से दूर हटते जायेंगे, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड फैल रहा है। हाल में ही इस मत में भी संशोधन किया गया है। डा० आलन सेण्डाग के अनुसार ब्रह्माण्ड फैलता और सिकुड़ता भी है। इसके एक बार फैलने और सिकुड़ने में 8 अरब 20 करोड़ वर्ष लगते हैं।

अमरीकी वैज्ञानिक टालमैन के अनुसार ब्रह्माण्ड का विस्तार अस्थायी अवस्था है। ब्रह्माण्ड के पदार्थ तथा ऊर्जा शून्य में छितराए जा रहे हैं। तारे अपनी शक्ति और ताप छोड़ रहे हैं। सूर्यताप भी घट रहा है। ब्रह्माण्ड की सभी क्रियाएँ संकेत कर रही हैं कि वह 'शीतल अवस्था' की ओर अग्रसर हो रहा है। और एक दिन वह आयेगा कि प्रकाश, उष्णता और शक्ति सभी का अस्तित्व मिट जायेगा, उस दिन ब्रह्माण्ड का अन्त होगा।

ऊर्जा और पदार्थ के संरक्षण के नियम के आधार पर कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड अमिट रहेगा। ऊर्जा और पदार्थ की मात्रा का केवल रूप परिवर्तन होगा न कि वह कम होगी। सर जैम्स जीन्स भी इसका अनुमोदन करते हैं। उनके अनुसार जब तक घड़ी में चाबी भरी रहती है वह चलती रहती है चाबी समाप्त होने पर घड़ी रुक अवश्य जाती है किन्तु नष्ट नहीं होती। उसमें फिर से चाबी भरदी जाय तो वह दुबारा कार्य आरम्भ कर देगी। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड की समाप्ति पर दूसरे ब्रह्माण्ड की रचना के लिए कोई प्रक्रम अवश्य कार्य कर कर रही है।

एडिंगटन के अनुसार ब्रह्माण्ड अपना पुनर्निर्माण कर रहा है। न्यूनताप फिर से एलक्ट्रोन तथा प्रोटोन में परिणित होकर अणुओं को निरन्तर जन्म देता रहता है जो 'नवीन पदार्थ के जन्म की घोषणा' माना गया है।

आकाशीय पिण्ड

आकाश में विभिन्न आकार प्रकार के पिण्ड हैं जैसे नीहारकाएँ, नक्षत्र समूह, तारागण, कृष्णविवर, धूमकेतु, ग्रह, उपग्रह आदि।

नीहारिकाएँ

तेज गर्म गैस का परिभ्रमणशील महापिण्ड, जो आकाश में हल्के चमकते हुए मेघ की भाँति दिखाई देता है नीहारिका कहलाता है। अनुमान है कि आकाश में लगभग 3 करोड़ नीहारिकाएँ विद्यमान हैं जो अनेकानेक सौरमण्डलों को जन्म दे रही हैं। निकट से निकट नीहारिका के प्रकाश को पृथ्वी तक पहुँचने में लगभग एक लाख वर्ष लग जाते हैं। कई नीहारिकाएँ निर्माण अवस्था में हैं। हब्बल, वायसे और मेयल ने नीहारिकाओं का विशेष अध्ययन करके अनेक नवीन तथ्यों को उजागार किया है।

स्थिति के अनुसार नीहारिकाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है—(i) **आन्तरिक तारागण समूह की नीहारिकाएं तथा (ii) बाह्य तारागण समूह की नीहारिकाएँ**

(i) आन्तरिक तारागणसमह की नीहारिकाएं

(अ) नक्षत्रीय नीहारिकाएं

इन नीहारिकाओं में नक्षत्रों से घिरे बीच-बीच में सूर्य दिखाई देते हैं। इसलिए इनको नक्षत्रीय नीहारिकारों की संज्ञा दी गई है। वान मानेन ने 21 नीहारिकाओं का अध्ययन कर बतलाया है कि ये अत्यधिक गर्म तारों के समूह हैं जो चमकीली धूल से घिरे हुए हैं। औसत रूप में प्रत्येक नीहारिका हमारे सूर्य से लगभग दस गुनी चमकीली है। आकाश में इस प्रकार की 130 नीहारिकाएँ दृष्टिगोचर हुई हैं। इनमें से प्रत्येक नीहारिका का व्यास हमारे सौरमण्डल से लाखों गुना अधिक है। पृथ्वी की समीप से समीप नक्षत्रीय नीहारिका भी 1000 प्रकाश वर्ष दूर है।

(ब) काली नीहारिकाएं

काली नीहारिकाएं प्रकाश रहित होती हैं। यह आकाश में विवर-तुल्य प्रतीत होती हैं। कई वैज्ञानिकों का मत है कि काली नीहारिकाएं सूक्ष्मतम आकाशीय धूल से निर्मित हैं।

(स) श्वेत नीहारिकाएं

उष्ण गैस के ज्योतिर्मय प्रकाश-पुंज श्वेत नीहारिका कहलाते हैं जो निकट के तारों के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं। कहीं-कहीं यह गैस इतनी घनी होती है कि उसमें होकर तारों का प्रकाश छनकर नहीं निकल पाता। यह तारों को अपने आवरण से ढके हुए दिखाई देती हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि हमारी आकाश-गंगा स्वयं एक नीहारिका है जो अभी तक पूर्ण नहीं हुई।

(ii) बाह्य तारामण्डल नीहारिकाएं

बाह्य तारागण समूह की नीहारिकाओं का आकार निश्चित और सम होता है। इस प्रकार के हजारों नीहारिका पुंज हैं। इनमें से कोमा-विर्गो नीहारिका समूह में लगभग 100

नीहारिकाएं हैं। यह नीहारिका समूह हमसे एक करोड़ प्रकाश वर्ष दूर है। इनमें से अनेकों श्वेत गतिमान नीहारिकाएं दृष्टिगोचर होती हैं। विलियम हरशैल के अनुसार ये नीहारिकाएं हमारी आकाश-गंगा जितनी विशाल हैं।

चक्राकार नीहारिकाएं

श्वेत प्रकाशमान तथा चक्राकार नीहारिकाओं का अध्ययन सर्व प्रथम अर्ल आफ रोस ने सन् 1845 में किया था। उसने इनको द्वीप ब्रह्माण्ड की संज्ञा दी। सन् 1915 में हब्बल ने एण्ड्रोमेज नीहारिका समूह की वृहत नीहारिका का अध्ययन किया। उनके अनुसार इसकी सर्पिल भुजाएं स्पन्दनावस्था में सिकुड़ती व फैलती हैं जिससे इनका प्रकाश घटता बढ़ता हैं। पृथ्वी से निकटतम यह नीहारिका 8 लाख प्रकाश वर्ष दूर है। एण्ड्रोमेडा में स्थित चक्राकार विशाल आकार की मेसीर 31 नीहारिका है जिससे लगभग 10 अरब सूर्यों का निर्माण सम्भव है। इसके मध्य में चमकीला केन्द्रक है। यह पृथ्वी से 10 लाख प्रकाश वर्ष दूर है। इसी प्रकार आरियन की नीहारिका, लायरा की वलयाकार नीहारिका, केनिस विनेटिसी की नीहारिका आदि नीहारिकाएं अध्ययन के दृष्टिकोण से उल्लेखनीय हैं। इन नीहारिकाओं की लम्बाई उनकी चौड़ाई से प्रायः 12 गुनी है।
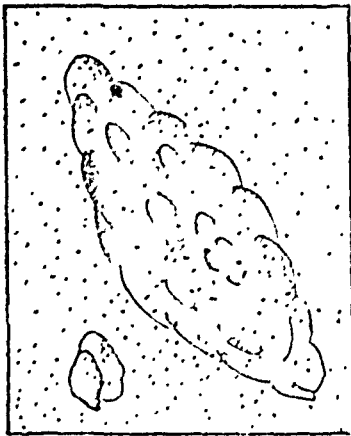
चित्र 1.2 एण्ड्रोमेडा नीहारिका समूह

चित्र 1.3 एण्ड्रोमेडा समूह की एक सर्पिल घूमती नीहारिका

अव्यवस्थित-वाह्य तारागण समूह की नीहारिकाएं

ये नीहारिकाएँ निर्माणावस्था में हैं। डोराडो नीहारिका समूह में विशाल मेगेलानिक मेघ रचना के चरण में है। यह हमसे 75,000 प्रकाश वर्ष दूर है। इसका व्यास 18,000 प्रकाश वर्ष है। इसमें सूर्य से भी बड़े 5 लाख तारे समा सकते हैं।

वार्ट नीहारिकाएं

ये नीहारिकाएं भी निर्माणावस्था में हैं। आकाश में यह मेघों के समूह के रूप में दिखाई देती हैं। ये एक तरह से निर्माणावरुद्ध नीहारिकाएं हैं।

नक्षत्र-समूह

ब्रह्माण्ड में मिश्रित आकृति के अनेकों नक्षत्र-समूह हैं। आकृति के अनुसार इनको भिन्न-भिन्न नामो से पुकारा जाता है। मछली की आकृति वाले नक्षत्र-समूह को 'मीन', सिंह

की भांति दिखने वाले को 'सिह', तराजू की आकृति वाले को 'तुला' कहते हैं। भारतीय ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार नक्षत्र-समूहों को 'राशि' के नाम से जाना जाता है। इनमें से 12 राशियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध वर्ष के 12 महीनों से है। इनमें से प्रत्येक को पार करने में पृथ्वी को एक-एक महीना लग जाता है। इन राशियों के नाम हैं—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ तथा मीन।
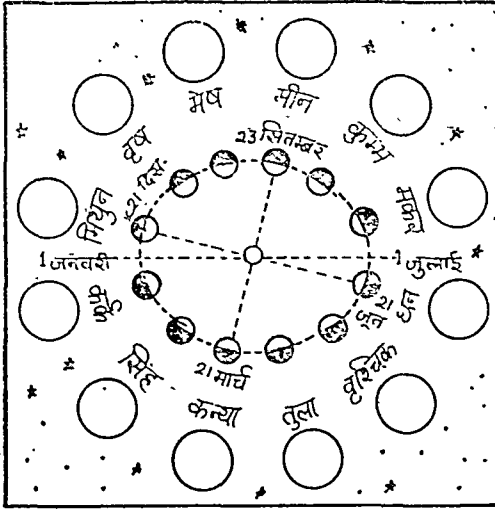
चित्र 1·4 पृथ्वी की स्थितियाँ तथा राशियों का क्रम
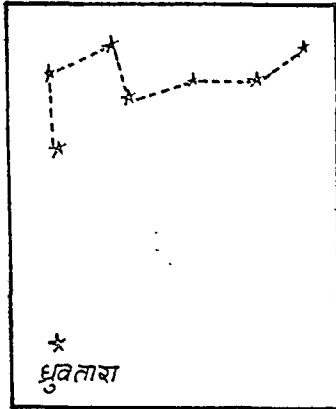
खुला तारा-समूह

आकाश में खुले तारा-समूह लगभग 400 दिखाई देते हैं जो हमसे हजारों प्रकाश वर्ष दूर हैं। सप्तर्षि मण्डल भी इन्हीं में से एक है। इसमें सात तारे हैं जिनमें से चार पलंग की भांति आयत बनाते हैं और तीन पतंग के पुच्छल्ले की भांति फैले हुए हैं। दो तारों की ठीक सीध में सबसे तेज ध्रुवतारा चमकता दिखाई देता है। पृथ्वी परिक्रमण करती हुई अपनी अक्ष को सदैव ध्रुवतारे की ओर रखती है जिससे ध्रुवतारा एक ही स्थान पर उत्तर की ओर दिखाई देता है।

चित्र 1·5 सप्तर्षि तारा समूह

सप्तर्षि-मण्डल की भांति ही उत्तर दिशा में अंग्रेजी के अक्षर 'w' जैसी आकृति का चमकता तारा-समूह केसोपिया कहलाता है। ध्रुवतारे के एक ओर सप्तर्षि-मण्डल और दूसरी विपरीत दिशा में केसोपिया स्थित है। ध्रुवतारे से सप्तर्षि-मण्डल एवं केसोपिया लगभग समान दूरी पर स्थित हैं।

सघन तारा-समूह

आकाश में इस प्रकार के समूह लगभग 100 की संख्या में दिखाई देते हैं। प्रत्येक समूह में लगभग 20,000 सूर्य, या उससे भी अधिक चमकते तारे हैं। इनमें से सबसे निकटतम तारा-समूह 22,000 प्रकाश वर्ष दूर है। इसका नाम ओमेगा सेन्टोरी है।

तारा (Star)

नभमण्डल में स्थिर दीप्तमान पिण्ड जो अपने स्वयं के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है, तारा कहलाता है। हमरा सूर्य इसी प्रकार का पिण्ड है। तारे विभिन्न रंगों में दिखाई देते हैं। इनमें से लाल तारे नीले तारों से अधिक बड़े हैं। आर्द्रा नक्षत्र पृथ्वी की कक्षा से भी बड़ा है और ज्येष्ठा आर्द्रा से भी कई गुना बड़ा है। यह इतना विशाल है कि इसमें कई अरब पृथ्वी समा जायें। ज्येष्ठा पृथ्वी से 350 प्रकाश वर्ष दूर है।
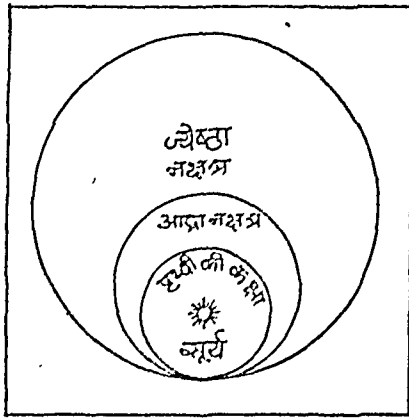
चित्र -1·6 पृथ्वी की कक्षा की तुलना में आर्द्रा एवं ज्येष्ठा नक्षत्रों का आकार

वर्णपट पर रंगों और चमक के अन्तर से तारों की दूरी का अनुमान लगाया जाता है। दस ग्राम मकड़ी के जाले की लम्बाई 308 कि. मी. होती है। तारे हमसे इतने दूर हैं कि उनकी दूरी नापने के लिए हमें 5000 टन मकड़ी के जाले की आवश्यकता होगी।

हायल एवं लिटिलटन के अनुसार तारे प्रायः हाइड्रोजन गैस से निर्मित हैं। हाइड्रोजन के चार परमाणुओं के योग से हीलियम गैस के केवल एक परिमाणु की रचना होती है जिससे तारों में प्रकाश उत्पन्न होता है। इस क्रिया से तारे के ताप में कुछ भी अन्तर नहीं आता।

पलासर

यह अत्यन्त दीप्तिमान छोटा तारा है जो एक सेकण्ड में तीस बार टिमटिमा कर अपनी शक्ति क्षीण करता रहता है। हाइड्रोजन की कमी के कारण यह सिकुड़ता जाता है और इसका तापमान बढ़ जाता है। संकुचन के कारण उसकी परिभ्रमण गति तीव्र होती जाती है जिसके फलस्वरूप अपकेन्द्रीय बल बढ़ जाता है। एक सेकण्ड में यह इतनी ऊर्जा निसृत करता है कि यदि उसे पृथ्वी पर काम में लायें तो संसार की ऊर्जा की आवश्यकता को करोड़ों वर्षों तक पूरा कर सकती है। सिकुड़ने के कारण इसका घनत्व इतना बढ़ जाता है कि एक चम्मच पील का भार एक टन हो जाता है। यों तो यह हमारे सौरमण्डल से भी

बड़ा होता है किन्तु खगोल विज्ञान की भाषा में इसको बौना तारा ही कहा जाता है क्योंकि इसमें अपने आकार से कहीं अधिक प्रकाश और ऊर्जा होती है। खगोलविद एक ऐसे क्वासर की खोज कर चुके हैं जो हमसे लगभग 10 अरब प्रकाश-वर्ष दूर है। यह प्रकाश के 91 प्रतिशत वेग से अर्थात् 2,80,000 किमी. प्रति सेकण्ड वेग से दूर भाग रहा है।

न्यूट्रोन तारा

आकार में क्वासर से अत्यन्त छोटा टिमटिमाता तारा न्यूट्रोन तारा कहलाता है। इस प्रकार के 16 कि. मी. व्यास के सघन तारे काल और अंतरिक्ष में हैं। अत्यधिक संकुचन और गुरुत्वाकर्षण के कारण इसके अणु दबकर समाप्त हो जाते हैं तथा केवल न्यूट्रोन ही शेष रह जाते हैं। इसका घनत्व क्वासर तारे से भी हजारों गुना अधिक होता है। न्यूट्रोन तारा एक सेकण्ड में लगभग 30 बार टिमटिमाता है इसलिए इसको धड़कते तारे की संज्ञा दी गई है। केम्ब्रिज के खगोलविदों द्वारा इस प्रकार के 100 तारों की खोज की जा चुकी है।

युग्म तारे

दो या दो से अधिक तारों के समूह जो एक ही दिशा में गुरुत्वाकर्षण के कारण एक ही केन्द्र की परिक्रमा करते हैं युग्म तारे कहलाते हैं। क्कीपर ने सन् 1949 में ऐसे तारों की खोज की थी। आकाश गंगा में 83 प्रतिशत युग्म तारे हैं। पृथ्वी से अधिक दूर तथा परस्पर अधिक समीप होने के कारण यह दूरदर्शी से भी बड़ी कठिनाई से पृथक रूप में दिखाई दे पाते हैं, किन्तु स्पेक्ट्रोस्कोप से भली प्रकार देखे जा सकते हैं।

ग्रह

ग्रह तारे के प्रकाश से चमकता है तथा उसकी परिक्रमा करता है, जैसे पृथ्वी ग्रह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है तथा उसकी परिक्रमा करती है।

कृष्ण विवर

आज तक खोजे गए सभी आकाशीय पिण्डों की तुलना में काले विवर छोटे और अत्यधिक घनत्व के हैं। आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त के अनुसार काले विवर एक विशाल तारे के प्रलयंकारी क्षय के अन्तिम अवशेष हैं। यह तारे के विकास क्रम की अन्तिम अवस्था है। जब किसी भीमकाय तारे की ऊर्जा-प्रक्रिया बन्द हो जाती है तो उसके द्रव्य का केन्द्र भाग में तेजी से पतन हो जाता है। ऐसे तारे का संकुचन व संघर्षता निरन्तर जारी रहता है तथा अत्यधिक घनत्व के कारण वह प्रकाश किरणों को भी अपनी ओर खींच लेता है। अतः कैसी भी किरणें इसके बाहर नहीं आतीं जिससे इसके अस्तित्व को जान पाना सम्भव नहीं। काला विवर युग्म-तारों में से एक तारा माना गया है जो दूसरे तारे के पदार्थ को गैस के रूप में खींचता रहता है। यह गैस इतनी उष्ण होती है कि उसमें विस्फोट होकर ऐक्स-रे किरण उत्सर्जित हो जाती हैं। आधुनिक खोजों के आधार पर यदि किसी तारे का द्रव्यमान दो सौर द्रव्यमान से अधिक हो जाता है तो वह काला विवर बन जाता है। राकेट तथा कृत्रिम उपग्रहों के एक्स-रे दूरदर्शी से काले विवरों का कुछ भेद खुल पाया है। सिग्नस एक्स-1 एक काला विवर है जो पृथ्वी से 8000 प्रकाश वर्ष दूर है। इसके बिम्ब की मोटाई दो किलोमीटर और व्यास दस लाख किमी. है। इसके समीप एक बड़ा तारा माना गया है जिसको HOE 226868 के नाम से सम्बोधित करते हैं।

श्वेत विवर

काले विवरों में अदृश्य हो जाने वाले अतिसघन द्रव्य की अन्त में क्या परिणति होती है ? द्रव्य का विनाश सम्भव नहीं, अधिक से अधिक ऊर्जा में ही इसका रूपान्तरण हो सकता है। 'काले विवरों' में लुप्त हुए द्रव्य का अन्ततोगत्वा कहीं अन्यत्र प्रकट होना अवश्यम्भावी है। हाल में ही खगोलविदों ने ऐसे 'श्वेत विवरों' की कल्पना की है जहाँ यह लुप्त द्रव्य पुन: प्रकट होता है।

धूमकेतु (Comet)

धूमकेतु साधारणत: पुच्छल तारे के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इनके बहुत लम्बी पूँछ होती है। यह आकाश में कभी-कभी दृष्टिगोचर होते हैं। धूमकेतु के तीन अंग होते हैं। इसका अग्र भाग या शीर्ष गोलाकार होता है जिसका व्यास हजारों किलोमीटर होता है, मध्य भाग छोटे-छोटे चमकीले पिण्डों का समूह होता है तथा पृष्ठ भाग झाड़ू के आकार का होता है जो लाखों किलोमीटर लम्बा होता है। धूमकेतु का मुख सूर्य की ओर तथा पूँछ विपरीत दिशा में होती है। यह हिम, जल, अमोनिया, मीथेन, कार्बन-डाइ-ऑक्साइड गैसों के मिश्रण से बनते हैं जिनमें आकाशीय धूल भी मिश्रित रहती है। सूर्य के निकट पहुँचने पर धूमकेतु का ठोस मध्य भाग जलकर गैसों को उत्पन्न करता है जो इस तारे की पूँछ का निर्माण करती हैं। यह गैस सूर्य के प्रकाश से दीप्तमान होकर लाखों किलोमीटर लम्बी दिखाई देती है।

पुच्छल तारे आमतौर पर सांयकाल आकाश के पश्चिमी भाग में तथा प्रात:काल पूर्व में दिखाई देते हैं। अनुमान है कि सौर-मण्डल में एक लाख बीस हजार धूमकेतु विद्यमान है जिनमें से 600 से अधिक खोजे जा चुके हैं। पुच्छल तारों का परिक्रमा पथ इतना लम्बा
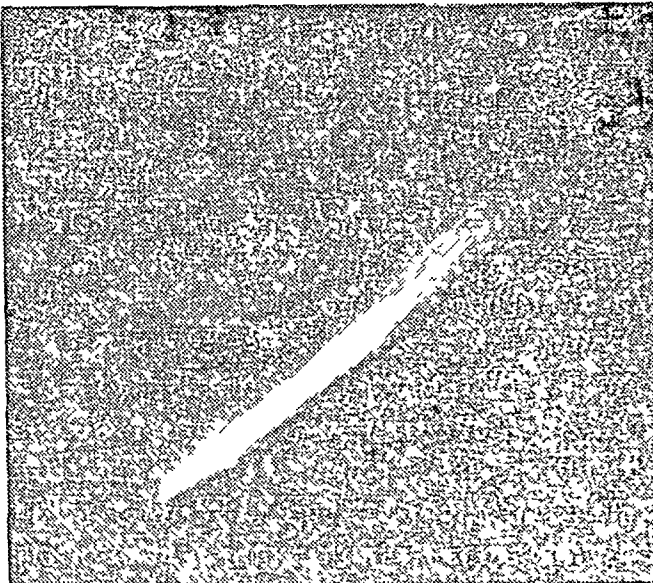
धूमकेतु

होता है कि वह उसको वर्षों में पूरा करते हैं जबकि इनकी गति सैकड़ों किलोमीटर प्रति सेकण्ड होती है। इकेमा-सेकी धूमकेतु जो सन् 1965 में दिखाई दिया था अब ठीक एक हजार वर्ष पश्चात् दिखाई देगा। कुछ धूमकेतु ऐसे भी हैं जो एक बार के बाद पुनः नहीं देखे गए। लौटकर दिखाई देने वाले धूमकेतों में हेली नाम का पुच्छल तारा प्रमुख है।
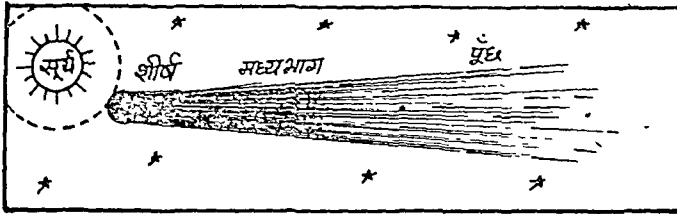
चित्र 1·7 धूमकेतु

इस आवर्ती पुच्छल तारे का नाम इसके अन्वेषक एडमण्ड हैली के नाम पर रखा गया है। हैली ने ही इसके वापस आने की भविष्यवाणी की थी। ईसा पूर्व 240 से लेकर लगभग $75\frac{1}{2}$ वर्ष के अन्तराल में यह अब तक 28 बार देखा जा चुका है। पिछली बार यह सन् 1910 में देखा गया था। हैली के अनुसार यह दिसम्बर 1985 एवं जनवरी 1986 के बीच पुनः दिखाई देगा। खगोलविदों के लिए इस धूमकेतु की वापसी शताब्दी की एक महत्वपूर्ण एवं रोमांचकारी घटना होगी। प्रत्येक शताब्दी में 15 से 20 धूमकेतु दिखाई देते हैं।

'अ'- धूमकेतु की सूर्य से अधिकतम दूरी, 'ब' धूमकेतु की सूर्य से निकटतम दूरी
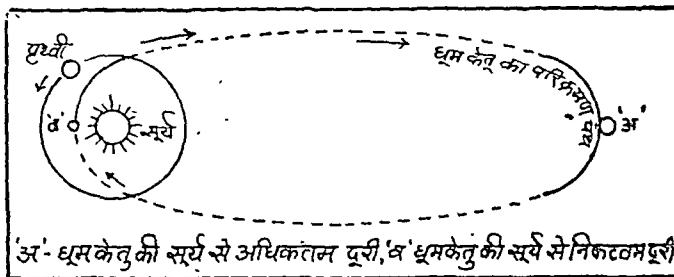
चित्र-1·8 धूमकेतु तथा पृथ्वी के परिक्रमण पथ

उल्काएं

रात्रि में कभी-कभी चमकते हुए आकाशीय पिण्ड पृथ्वी पर गिरते दिखाई देते हैं। ऐसे पिण्डों को उल्का तथा उनके गिरने को उल्कापात कहते हैं। इनका तारों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वास्तव में यह धूमकेतु के ही छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं जो गुरुत्वाकर्षण के कारण पृथ्वी की ओर 16 से 72 किमी. प्रति सेकण्ड की गति से गिरते हैं। जब यह पृथ्वी से लगभग 110 किमी. ऊपर वायुमण्डल में प्रवेश करते हैं तो घर्षण के कारण जलकर चमकने लगते हैं तथा पृथ्वी से 64 किमी. ऊपर जलकर राख हो जाते हैं। कभी-कभी बड़ी उल्काएँ वायुमण्डल में नष्ट नहीं हो पातीं तथा पृथ्वी पर गिर जाती हैं। ये उल्काएँ इस्पात से भी कठोर होती हैं। उत्तरी अमेरिका के एरीजोना मरुस्थल में एक गर्त जो 180 मीटर गहरा तथा 1260 मीटर व्यास का है उल्कापात के फलस्वरूप बना है। 30 जून, सन् 1908 को उल्कापात के कारण उत्तरी मध्य साइबेरिया में लगभग 10

हजार वर्ग किलोमीटर जंगल के क्षेत्र में आग से विनाशकारी दृश्य उपस्थित हो गया था। 12 फरवरी, सन् 1947 को पूर्वी साइबेरिया में पुनः उल्कापात हुआ। इस उल्का में निकिल, एलुमिनियम, ऑक्सीजन, गंधक आदि खनिजों का मिश्रण है।

जोधपुर संग्रहालय में रखे 30 किलो वजन का एक उल्का खण्ड है जो 29 दिसम्बर, 1937 में दिन को 10 बजे जालोर जिले के भोजमाल के पास रंगाला ग्राम में गिरा था। जहाँ यह उल्का खण्ड गिरा वहीं 1.22 मीटर (4 फीट) गहरा गड्ढा हो गया और इसके गिरने की आवाज 32 किलोमीटर तक सुनी गई। हारवर्ड वेधशाला में अध्ययन से विदित हुआ है कि उल्काएँ हमारे सौर परिवार के ही अंग हैं। ये सूर्य की निरन्तर परिक्रमा करती रहती हैं तथा पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण पृथ्वी पर गिर जाती हैं।

सौर परिवार

सूर्य तथा सौरमण्डल के ग्रह, उपग्रह, आवन्तर या क्षुद्र ग्रह, पुच्छल तारे तथा उल्काएं सभी आकाशीय पिण्ड मिलकर सौर परिवार की रचना करते हैं। प्रत्येक सौरमण्डल में एक केन्द्र-तारा होता है जिसके चारों ओर उस मण्डल के पिण्ड परिक्रमा करते हैं। हमारे सूर्य के 9 ग्रह हैं जो उसकी परिक्रमा करते हैं। ग्रहों के आकार के अनुसार उनके उपग्रह हैं जो अपने-अपने ग्रहों की परिक्रमा करते हुए सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। ग्रहों की परिक्रमा अवधि सूर्य से दूरी पर आधारित रहती है। सूर्य से निकट वाले ग्रह शीघ्र और दूर वाले ग्रह क्रम से अधिक समय में अपनी परिक्रमा पूरी करते हैं।

सूर्य

सूर्य एक तारा है जो स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित है तथा अपने ताप और प्रकाश से सौरमण्डल को प्रकाशित करता है। वैज्ञानिकों के अनुमान से सूर्य के धरातल का तापमान 6,000° सेग्रे. और केन्द्र का 2,00,00,000° सेग्रे. है। इसके धरातल पर प्रतिवर्ग सेन्टीमीटर में लगभग 9 अश्व शक्ति ऊर्जा विद्यमान है। यह ऊर्जा एलेक्ट्रोन्स तथा प्रोटोन्स के तीव्र संघर्षण के कारण उत्पन्न होती है। सूर्य में 55 प्रतिशत हाइड्रोजन, 44 प्रतिशत हीलियम गैस तथा शेष में सीसा, टिन, पोटेशियम, सोडियम, चाँदी आदि तत्त्व हैं जो सभी गैसों के रूप में हैं। हाइड्रोजन हीलियम में परिवर्तित होते समय ऊष्मा उत्पन्न करती है जिसका कुछ अंश प्रकाश में परिवर्तित हो जाता है। सूर्य प्रति सेकण्ड 584 टन हाइड्रोजन निसृत करता है। आने वाले 5 अरब वर्षों में सूर्य इतनी अधिक हाइड्रोजन समाप्त कर देगा कि यह फूलने लगेगा। फूलने के कारण यह अधिक ऊष्मा निकालेगा जिसके कारण पृथ्वी झुलस जायेगी और जीवन समाप्त हो जायगा।

सूर्य गैसमय है। अतः स्पैक्ट्रोसकोप द्वारा देखने से इसके तीन भाग दिखाई देते हैं। भीतरी भाग सूर्य-बिम्ब, उससे ऊपर का भाग गुलाबी रंग का वर्ण-मण्डल तथा सबसे ऊपर का भाग सौर-किरीट कहलाता है। यह किरीट सूर्य से उठती हुई ज्वालाओं के द्वारा बनता है। वर्णमण्डल एवं किरीट सूर्य ग्रहण के समय सूर्य के चारों ओर दिखलाई पड़ते हैं।

सूर्य का व्यास 13, 93,000 किमी. है जो पृथ्वी के व्यास से 109 गुना अधिक है। इसका आयतन पृथ्वी से 13 लाख गुना है, किन्तु घनत्व पृथ्वी से एक चौथाई है। इसीलिए

13 लाख गुना आयतन होते हुए भी सूर्य भार पृथ्वी से केवल 3,32,000 गुना है। पृथ्वी से सूर्य की दूरी 14 करोड़ 96 लाख किमी. है। सूर्य का प्रकाश 2,97,600 किमी. प्रति सेकण्ड की गति से चलता हुआ पृथ्वी तक 8 मिनट 22 सेकण्ड में पहुँचता है।

पृथ्वी की भाँति सूर्य भी अपने अक्ष पर 25 दिन में एक परिक्रमा कर लेता है। सूर्य सौरमण्डल के साथ 322 किमी. प्रति सेकण्ड की गति से चलता हुआ किसी अज्ञात आकाशीय पिण्ड की परिक्रमा करता रहता है जो 25 करोड़ वर्ष में पूरी होती है। अनुमान है कि सूर्य ने अब तक ऐसी 15 या 16 परिक्रमा पूरी कर ली हैं।

सूर्यधब्बे (Sun-Spots)

सूर्य की सतह पर गैस-भँवर काले धब्बे के रूप में दिखलाई देते हैं। इनका तापमान 4,800° सेग्रे. अर्थात सूर्य की सतह से कम रहता है। इसलिए ये धब्बे काले दिखाई देते हैं। एक विचारधारा के अनुसार सूर्य के धब्बे गैसों के बवण्डर हैं जो सौर्य विस्फोट के कारण सूर्य गर्भ से बाहर फूटते हैं। ये धब्बे प्रति 11 वर्ष पश्चात् अधिक मात्रा में दिखाई देते हैं। अतः सौर्य-विस्फोट चक्र की अवधि 11 वर्ष मानी गई है। अमेरिका के 'वृक्ष अनुसन्धान केन्द्र' के निदेशक प्रो. डगलस के अनुसार प्रत्येक 90 वर्ष पश्चात् सूर्य में भयंकर विस्फोट होता है तथा सूर्य धब्बों में असामान्य रूप से वृद्धि हो जाती है। विद्युत चुम्बकीय तूफान चलते हैं। रेडियो विकिरण बढ़ जाता है। पृथ्वी पर भयंकर तूफान आते हैं। ये धब्बे सूर्य पर 5° तथा 45° अक्षांशों के मध्य दिखाई देते हैं।

ग्रह

सौरमण्डल का केन्द्र सूर्य है तथा इसके चारों ओर अन्य 9 ग्रह परिक्रमा करते रहते हैं। बुध और शुक्र पृथ्वी तथा सूर्य के मध्य स्थित होने के कारण अन्तः ग्रह कहलाते हैं। शेष सात ग्रह जैसे पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण तथा प्लूटो सूर्य और पृथ्वी के बाहर की ओर स्थित होने के कारण बाह्य ग्रह कहलाते हैं।
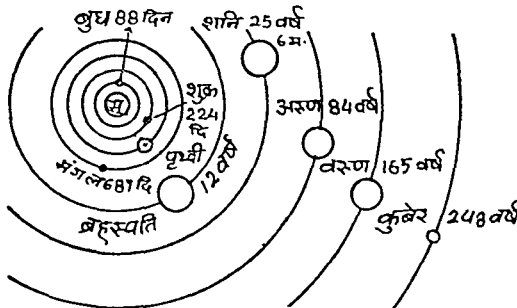
चित्र 1.9 सूर्य व ग्रहों की स्थिति एवं परिक्रमा का समय

बोडेस नियम

जर्मन खगोलविद् जान अल्बर्ट बोडे ने सूर्य से नौ ग्रहों की अनुपातित दूरी का नियम प्रस्तुत किया है। उसने 0,3,6,12,54 आदि अंक लिखे अर्थात् दूसरा अंक पहले से दुगुना लिखा और प्रत्येक अंक में 4 का अंक जोड़ दिया। इस प्रकार अंकों की शृंखला 4,7,10, 16,28 आदि हो गई। दो बाहरी ग्रहों यानी अरुण और कुबेर को छोड़कर सभी ग्रहों की सूर्य से इसी अनुपात में दूरी है जोकि अग्रांकित तालिका में दर्शाई गई है।

सारणी 1

ग्रहों का क्रम	बुध	शुक्र	पृथ्वी	मंगल	क्षुद्र ग्रह	वृह-स्पति	शनि	अरुण	वरुण	कुवेर
अनुपातित दूरी	4	7	10	16	28	52	100	186	388	772
वास्तविक दूरी (करोड़ मील में)	3.9	7.2	10	15.2	28	52	95.4	192	300.7	390

जान अल्वर्ट वोडे के नियम के अनुसार सूर्य से ग्रहों की दूरी।

बुध

बुध सौरमंडल का एक छोटा ग्रह है। यह चमकीला ग्रह सूर्यास्त के तुरन्त वाद पश्चिम में या प्रातः सूर्योदय से पहले पूर्व दिशा में दिखाई देता है। सूर्य के अत्यन्त समीप होने के कारण इसको दिन में देखना सम्भव नहीं है। सूर्य की परिक्रमा करते समय इसकी अधिकतम दूरी निकटतम दूरी की अपेक्षा लगभग दुगुनी हो जाती है। सूर्य से इसकी औसत दूरी 5.7 करोड़ किमी. है। यह सूर्य की 88 दिन में एक परिक्रमा कर लेता है। बुध का व्यास 4830 किमी. है। इसका धरातल पृथ्वी के धरातल से आधा, आयतन 1/27 तथा गुरुत्वाकर्षण 1/4 है। चन्द्रमा की भाँति इसका केवल एक भाग ही सूर्य के सामने रहता है। परिक्रमण करते समय सूर्य के समीप आने पर इसका तापमान 350° सेन्टीग्रेड और दूर होने पर 280° सेन्टीग्रेड हो जाता है। सूर्य के विमुख बुध के भाग में तापमान 200° सेन्टीग्रेड रहता है।

दूरदर्शक द्वारा देखने से बुध पर पहाड़, पठार, दरारें, गर्त आदि दिखाई देते हैं। ताप की भीषणता व विरलता, वायुमण्डल और जल के अभाव में इस ग्रह पर जीवन के चिह्न प्रतीत नहीं होते। बुध का कोई उपग्रह नहीं है।

शुक्र

शुक्र अत्यन्त चमकीला ग्रह है। चन्द्रमा की भाँति इसकी कलाएं हैं। यह सूर्योदय के चार घन्टे पहले और सूर्यास्त के चार घन्टे वाद तक देखा जाता है, इसलिए इसको भोर का तारा भी कहा जाता है।

शुक्र का व्यास 12,400 किमी. है। इसका औसत घनत्व पृथ्वी के घनत्व का 88 प्रतिशत है। आकार और घनत्व में यह पृथ्वी से इतना-मिलता जुलता है कि इसको पृथ्वी के 'जुड़वाँ भाई' की संज्ञा दी जाती है। पृथ्वी से शुक्र की दूरी कभी-कभी 4 करोड़ किमी. रह जाती है। किन्तु इतना समीप आ जाने पर भी वड़े से वड़े दूरदर्शक द्वारा भी शुक्र के धरातल की रचना पृथ्वी से दिखाई नहीं देती क्योंकि यह सदा अपारदर्शी घने मेघों से ढका रहता है। शुक्र का यह आवरण सूर्य के अधिकांश प्रकाश को परावर्तित कर देता है जिसके फलस्वरूप यह सौर परिवार का सवसे अधिक चमकने वाला ग्रह है। वेनस–9 के माड्यूला से पता चला है कि पृथ्वी की अपेक्षा शुक्र में वायुमण्डल का दवाव 90 गुना अधिक है और वहां का तापमान 485° सेन्टीग्रेड है क्योंकि यह पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य के एक-तिहाई समीप

है। शुक्र के धरातल से लगभग 15-20 किलोमीटर की ऊंचाई पर निरन्तर 50 से 100 मीटर प्रति सेकण्ड की गति से आँधियाँ चलती हैं। यहां के वातावरण में कार्बन-डाइ-ग्रावसाइड सबसे अधिक है।

शुक्र $224\frac{1}{2}$ दिन में सूर्य की परिक्रमा कर लेता है। सूर्य से यह 10.7 करोड़ किमी. दूर है। इसके सूर्योन्मुख भाग मे लगभग 100° सेन्टीग्रेड तथा सूर्य विमुख भाग में −23° सेन्टीग्रेड तापमान रहता है। पृथ्वी से दूर जाने और समीप आने पर इसका प्रकाश घटता-बढ़ता है। सोवियत संघ द्वारा भेजे गये 'वेनिस' 5 और 6 से ज्ञात हुआ है कि शुक्र पर ओषजन, नाइट्रोजन और जलवायु की न्यूनता तथा कार्बन-डाइ-ग्रावसाइड की प्रचुरता व वायुमण्डल का अत्यधिक दवाव है अतएव वहाँ जीवन सम्भव नही है। उच्च तापमान के कारण शुक्र पर धूल के बवण्डर उठते रहते हैं। इसका भी कोई उपग्रह नहीं है।

पृथ्वी

पृथ्वी अन्य ग्रहो की भाँति ही एक ग्रह है। इसका आकार गोल न होकर नारंगी की भाँति है जिसे हम लध्वक्ष गोलभ कहते हैं। यह दोनों ध्रुवों पर चपटी और भूमध्यरेखा पर कुछ उठी हुई है। इसका ध्रुवीय व्यास 12,710 किमी. और भूमध्यरेखीय व्यास 12,710 किमी. है। इसके धरातल का क्षेत्रफल 51 करोड़ 2 लाख वर्ग किलोमीटर है। पृथ्वी की ध्रुवीय परिधि 34,029 तथा भूमध्यरेखीय परिधि 40,092 किमी. है। इसका घनत्व 5.52 और अधिकतम तापमान 60° सेन्टीग्रेड है। पृथ्वी अपने अक्ष पर $23\frac{1}{2}$° झुकी हुई है जिसके फलस्वरूप इस पर ऋतु परिवर्तन होते हैं। यह अपने अक्ष पर 24 घन्टों में एक पूरा चक्कर लगा लेती है। भूमध्य रेखा पर परिभ्रमण की गति 1,671 किमी. प्रति घंटा है जो ध्रुवों की ओर घटती जाती है। पृथ्वी अपनी कक्षा पर $365\frac{1}{4}$ दिन में एक पूरा चक्कर लगा लेती है। पृथ्वी के परिभ्रमण की गति सूर्य की आंतरिक क्रियाओं से प्रभावित होती है। सन् 1972 की सौर क्रियाओं के कारण पृथ्वी की गति 1/1000 सेकण्ड प्रति-दिन घट गई।

पृथ्वी का एक मात्र उपग्रह चन्द्रमा है। इसका व्यास पृथ्वी के व्यास 1/4 और आयतन 1/21 है। पृथ्वी से इसकी दूरी 4 लाख किमी. है। चन्द्रमा 29 दिन 12 घन्टों में पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है। इसका अधिकतम तापमान 108° से. ग्रे.है। यह वायुमण्डल रहित है। प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण यहाँ जीवन सम्भव दिखाई नहीं देता। इसके धरातल पर गहरे गर्त, पहाड़ियाँ तथा धूल बिखरी पड़ी हैं। 20-21 जुलाई, सन् 1969 को 'अपोलो' द्वारा सर्व प्रथम अन्तरिक्ष यात्री आर्मस्टांग तथा एल्ड्रिन चन्द्रतल पर उतरे। मानवचरण पड़ने से पूर्व चन्द्रमा को पृथ्वी का ही एक भाग मानते थे। किन्तु चन्द्रमा की शैलों के अध्ययन से विदित हुआ है कि यह पृथ्वी से भी पुराना है।

मंगल

बुध को छोड़कर मंगल सौरमंडल का सबसे छोटा सदस्य है इसका आकार पृथ्वी से आधा है और चन्द्रमा से इसका व्यास दुगुना 6,800 किमी. है। सूर्य से इसकी दूरी 22 करोड़ 80 लाख और पृथ्वी से औसत दूरी 7,83,65,000 किमी. है। 15 से 17 बर्षो में जब पृथ्वी से मंगल की दूरी लगभग 5 करोड 60 लाख किमी. रह जाती है, उस समय यह आकाश में बिना दूरदर्शक के देखा जा सकता है। यह अंगारे की भांति लाल दिखाई देता है।

सारणी 2

क्रम संख्या	सौरमण्डल	व्यास (किलोमीटर में)	सूर्य से दूरी (करोड़ किलोमीटर में)	सूर्य से औसत दूरी खगोलीय एकक में०	पृथ्वी के व्यास की तुलना में	जल के घनत्व को इकाई मान कर औसत घनत्व	अधिकतम तापमान (सेन्टीग्रेड में)
	सूर्य	13,92,000	—	—	109	1.41	5700°
1	बुध	4,830	5.8	0.4	1/3	3.73	350°
2	शुक्र	12,400	10.8	0.7	लगभग समान	5.21	100°
3	पृथ्वी	12,714× 12,755*	15.0	1.0	—	5.52	60°
4	मंगल	6,800	22.8	1.5	1/2	3.94	24°
5	बृहस्पति	1,33,400× 1,42,000*	77.7	5.2	11	1.34	132°
6	शनि	1,08,140× 1,20,860*	142.6	9.2	9	0.69	−151°
7	अरुण	49,600	286.9	19.1	4½	1.36	−185°
8	वरुण	53,200	449.5	30.0	4	1.32	−200°
9	कुबेर	5,870	590.0	39.4	1/2	अज्ञात	−222°

* विषुवतरेखीय व्यास × ध्रुवीय व्यास ० पृथ्वी की सूर्य से दूरी को खगोलीय इकाई मान कर।

मंगल का दिन 24 घण्टा 39 मिनट का होता है । पृथ्वी की भांति इसकी धुरी झुकी होने से यहां पृथ्वी की भाँति ही ऋतुएं होती हैं, ऋतुओं के अनुसार इसकी विशालकाय हिमटोपियां सिकुड़ती-फलती हैं। 9 नवम्बर, 1971 को अमरीकी अंतरिक्ष यान मैरिनर 9 द्वारा मंगल पर पहली बार पानी का अनुमान लगाया गया जो उसके दक्षिणी ध्रुव की कार्बन-डाइ-आक्साइड की ठोस वर्फ के नीचे है और हर गर्मी में पिघलता है और बसन्त में जम जाता है । यहां इतना कम दाव है कि पानी रुई की भांति गिरेगा, यहां पानी शनैः-शनैः बहुत देर में गर्म होता है तथा खुले स्थान पर आग नहीं जलाई जा सकती । यहाँ का अधिकतम तापमान 24° सेग्रे. तथा न्यूनतम–158° से.ग्रे. है ।

20 जुलाई सन् 1976 को मानव रहित अमरीकी अंतरिक्ष यान वाकिंग मंगलतल पर उतरने में सफल हुआ तथा वहां से धरती पर चित्र भेजने में सफल रहा तथा इन चित्रों के अनुसार मंगल का धरातल तीखी चट्टानों तथा धूल से भरा हुआ है । वहां के वायुमंडल में नाइट्रोजन और आर्गन गैस भारी मात्रा में हैं । अनुमान लगाया जाता है कि मंगल का वातावरण अतीत में कभी अधिक घना और जीवधारियोंके लिए अधिक अनुकूल रहा होगा। यहाँ कभी नदियाँ बहती होंगीं । मंगल का आकाश नीला न होकर गुलाबी है । यहाँ हल्के वातावरण में धूल के कण उड़ते रहते हैं । मंगल ग्रह के फोबोस तथा डिमोस नाम के दो उपग्रह हैं ।

अवान्तर ग्रह

उन्नीसवीं शताब्दी से पहले मंगल और बृहस्पति के मध्य अधिक भाग में रिक्त स्थान देखा जाता था । किन्तु जब अरुण को देखा गया तो बोडे के नियम के अनुसार उसकी शनि से दूरी को सही पाया । परिणामस्वरूप 1801 में इटली के खगोलविद् पियाजो ने मंगल और बृहस्पति के मध्य 800 किमी० व्यास के एक छोटे से ग्रह को खोज निकाला जिसका नाम रोम की देवी लाइरस के नाम पर रखा गया । तत्पश्चात् जर्मन खगोलविदों ने अनेकों अवान्तर ग्रहों का पता लगाया जो एक किलोमीटर से 695 किमी० व्यास के हैं । इनमें से लगभग 300 बड़े तथा शेष छोटे-छोटे हैं । इनकी संख्या लगभग पौने दो हजार है ।

अवान्तर या क्षुद्र ग्रहों का आकार और घनत्व कम होने से इनका गुरुत्व भी इतना कम है कि पत्थर फैंकने पर वह वापस उन पर नहीं गिर सकता । इनका आकार गोलाकार न होकर अनियमित है, इनकी चमक भी घटती और बढ़ती है । जब इनका चपटा भाग पृथ्वी की ओर होता है तो हमको यह अधिक चमकीले दिखाई तेते हैं । अधिकांश वैज्ञानिकों का मत है कि अवान्तर ग्रह किसी बड़े तारे के टूटे जाने के अवशेष हैं ।

बृहस्पति

बृहस्पति की स्थिति अवान्तर ग्रहों से परे होने के कारण इसे बाह्य ग्रह मान जाता है । यह सौरमंडल का सबसे बड़ा ग्रह है । इसका व्यास पृथ्वी से 11 गुना, क्षेत्रफल 120 गुना तथा आयतन 1300 गुना अधिक है । इसका गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी से 2.33 गुना और भार 318 गुना अधिक है । अतः पृथ्वी पर एक किलो भार की वस्तु बृहस्पति पर 2.33 किलो भार की हो जायेगी । द्रुत गति के कारण यह पृथ्वी की भांति ध्रुवों पर चपटा है ।

सभी ग्रहों से बड़ा होने पर भी बृहस्पति शुक्र और मंगल की भाँति चमकीला नहीं है, क्योंकि यह सूर्य से 77.7 करोड़ किलोमीटर दूर है । इसका अक्ष 1° झुका होने के कारण

यहाँ मौसम सदा समान रहता है। इसका वायुमण्डल 9,655 किमी. सघन है। यह सदा मेघों से घिरा रहता है। इसकी सतह का तापमान 132° से.ग्रे. आँका गया है। वृहस्पति की भूमध्य रेखा के 10° उत्तर तथा 10° दक्षिण तक चमकीला कटिबन्ध दृष्टिगोचर होता है जिसे उष्ण कटिबन्ध कह सकते हैं।

वृहस्पति अपने अक्ष पर 9 घन्टे 55 मिनट में घूम लेता है । यह 11 वर्ष में सूर्य की एक परिक्रमा कर लेता है। इसके 12 उपग्रह हैं-- 4 बड़े और 8 छोटे। एक उपग्रह तो मंगल से भी बड़ा है। इसके 7 उपग्रह विपरीत दिशा में तथा 2 अनुकूल दिशा में इसकी परिक्रमा करते हैं।

मार्च सन् 1979 को वोयेजर 1 ने वृहस्पति ग्रह के चित्र धरती पर भेजे जिससे विदित होता है कि वृहस्पति पर शनि की भाँति एक वलय है।

शनि

देखने में सुन्दर होते हुए भी भारतीय ज्योतिपशास्त्र में शनि को एक क्रूर ग्रह मानते है। यह 29½ वर्ष में सूर्य की एक परिक्रमा कर लेता है। अत: धीमी चाल के कारण इसे शनिचर (शनैः+चर) अर्थात् मन्दगति से चलने वाला कहते हैं। इसकी खोज 1905 में हुई थी। सूर्य के वाह्य ग्रहों में शनि का दूसरा स्थान है। यह आकार में वृहस्पति से कुछ ही छोटा है। इसका परिमाण पृथ्वी से 95 गुना और घनत्व 0.69 है जो सभी ग्रहों से कम है। यदि शनि को पानी में छोड़ दिया जाय तो वह तैरता रहेगा।

शनि वृहस्पति से वहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसमें अधिकांश वायुमण्डल ही है। मेघों के पीछे छिपे शनि की भौतिक वनावट के बारे में स्पष्ट कहना कठिन है । शनि का अधिकतम तापमान 150° से.ग्रे. है।

शनि के चारों ओर 15 से 18 किमी. मोटी कुण्डली (वलय) है। यह धूल कण और ग्रहाणुओं से निर्मित है। शनि के वलय की रचना इसके अपने ही उपग्रहों से टकराने के फलस्वरूप हुई है। शनि से लगभग 13 हजार किलोमीटर दूर स्थित वलय शनि की 20 किमी. प्रति सेकण्ड की गति से परिक्रमा करती रहती है। वलय के अतिरिक्त शनि के 11 उपग्रह हैं। इनमें सबसे बड़ा उपग्रह टिटेन आकार में चन्द्रमा से दुगुना है। नवम्बर, 1980 में अमेरिका के वयोजर-1 ने शनि के अत्यन्त निकट स चित्र लेकर धरती हर भेजे जिनके अध्ययन से पता चला कि शनि के दो उपग्रह और भी हैं। इससे पूर्व शनि के 9 उपग्रहों के बारे में ही जानकारी थी।

अरुण

अरुण जर्मनी के सर विलियम हर्शेल द्वारा सर्वप्रथम सन् 1781 में देखा गया था। अत: जर्मन देवता यूरेनस के नाम पर इसका नामकरण हुआ। इसका व्यास 49.6 हजार किमी. है जो पृथ्वी से 4 गुना बड़ा है। इसका घनत्व 1.36 है। यह सूर्य से 286.9 करोड़ किमी. दूर है जो सूर्य और पृथ्वी के मध्य की दूरी से 19 गुना अधिक है। इसका परिभ्रमण काल 10 घन्टा 40 मिनट और परिक्रमण का समय 84 वर्ष है।

अरुण कुछ पीले और हरे रंग की तश्तरी जैसा दिखाई देता है। इसका अधिकतम तापमान −185° से. ग्रे. है। इस पर सामान्य वायु के लक्षण दिखाई देते हैं। अरुण के पांच उपग्रह हैं।

सारणी 3

क्रम संख्या	सूर्य तथा ग्रहों के नाम	सूर्य की परिक्रमा का समय	परिभ्रमण का समय	परिभ्रमण की गति प्रति सेकण्ड	पृथ्वी को इकाई मानकर परिमाण	अक्ष का कक्षातल के साथ झुकाव	उपग्रहों की संख्या
0	सूर्य		$24\frac{1}{2}$ दिन	—	3,33,400	—	
1	बुध	88 दिन		48	1/27	7°	0
2	शुक्र	$224\frac{1}{2}$ दिन	30 दिन	35	5/9	$3\frac{1}{2}$°	0
3	पृथ्वी	$365\frac{1}{4}$ दिन (1 वर्ष)	24 घण्टा	30	1	$23\frac{1}{2}$°	1
4	मंगल	687 दिन	24 घण्टा, 23 मिनट	24	1/9	2°	2
5	बृहस्पति	4,333 दिन (11 वर्ष 10 महीना)	9 घण्टा, 50 मिनट	13	$\frac{8}{8}$	1°	12
6	शनि	10,789 दिन (29 वर्ष 6 महीना)	10 घण्टा, 14 मिनट	10.4	95	$2\frac{1}{2}$°	11
7	अरुण	30,687 दिन (84 वर्ष)	10 घण्टा, 40 मिनट	6.4	$14\frac{3}{5}$	1°	5
8	वरुण	60,188 दिन (165 वर्ष)	15 घण्टा, 40 मिनट	5.6	$17\frac{1}{2}$	2°	2
9	कुबेर	90,611 दिन (248 वर्ष)	$6\frac{1}{2}$ दिन	4.8	·01	17°	0

वरुण

फ्राँसीसी गणितज्ञ लिवेरियर ने गणित के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि अरुण के आगे भी एक अन्य ग्रह होना चाहिए। इसी आधार पर केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक छात्र एडम्स ने सन् 1846 में वरुण को खोज निकाला। वरुण का व्यास 53.2 हजार किलोमीटर है। इसका घनत्व 1.32 है जो पृथ्वी के घनत्व से चार गुना कम है। इसका परिभ्रमण समय 15 घन्टा 40 मिनट और परिक्रमण का समय 165 वर्ष है। पृथ्वी से दूर होने के कारण वरुण का धरातल साफ दिखाई नहीं देता। इस पर वायुमण्डल है तथा इसका तापमान 180° सेन्टीग्रेड है। वायुमण्डल में अमोनिया, मीथेन तथा अन्य विषैली गैसें विद्यमान हैं।

कुबेर

कुबेर को यम के नाम से भी जाना जाता है। यह हमारे सौर परिवार का सबसे बाहरी ग्रह है। बुध को छोड़कर यह सभी ग्रहों से बड़ा है। लावेल वेधशाला में फोटोग्राफ के निरीक्षण करते समय क्लाइड टामबोघ द्वारा 13 मार्च, सन् 1930 को कुबेर की स्थिति का ज्ञान हुआ था।

कुबेर सूर्य से 590 करोड़ किलोमीटर दूर है। सूर्य से अधिक दूरी के कारण यह सूर्य से उतना ही प्रकाश लेता है जितना चन्द्रमा पृथ्वी से लेता है। इसना तापमान 222° सेन्टीग्रेड है। इसका व्यास पृथ्वी के व्यास से लगभग आधा और मंगल के व्यास के बराबर सा है। इसका परिभ्रमण काल $6\frac{1}{2}$ दिन और परिक्रमण काल 248 वर्ष है। इस उपग्रह के बारे में अभी अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हुई है।

चित्र 1·10 सूर्य की तुलना में नवग्रहों का तुलनात्मक आकार

सौरमंडल के ग्रहों की गति नियंत्रक नियम

सौरमण्डल के ग्रह, उपग्रह, अवान्तर ग्रह, पुच्छल तारे, उल्काएँ आदि ग्रहपति सूर्य की परिक्रमा लगाते हैं। ग्रहों के परिभ्रमण तथा परिक्रमण सम्बन्धी कई वैज्ञानिक नियम निम्नलिखित हैं—

(1) जड़त्व

आकाशीय पैत्रिक पिण्ड से पृथक् होते समय निर्माणावस्था में ही छोटे पिण्डों में गति का संचार हो जाता है। अतः एक बार पिण्ड जिस गति से चल पड़ता है सदा उसे बनाये रखता है। जड़त्व नियम के अनुसार आकाशीय पिण्ड अपनी-अपनी परिभ्रमण तथा परिक्रमण की गतियों को ज्यों का त्यों स्थिर रखे हुए हैं।

(2) गुरुत्वाकर्षण

गुरुत्व के नियम के अनुसार सूर्य अपने सभी ग्रहों को अपनी ओर आकर्षित किए हुए है अन्यथा ये छिन्न-भिन्न हो जाते।

(3) अपकेन्द्र बल

अपकेन्द्र बल के कारण परिभ्रमण तथा परिक्रमण करता हुआ पिण्ड अपने पथ से दूर जाने की प्रवृत्ति तो रखता है, किन्तु दूसरी ओर सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के कारण न तो ग्रह अपने पथ से दूर जा सकता है और न ही अपकेन्द्र बल के कारण सूर्य उसे अपनी ओर खींच सकता है। इस प्रकार गुरुत्व एवं अपकेन्द्र बल पिण्ड में सन्तुलन स्थापित कर पिण्ड को अपने पथ पर स्थिर रखता है।

परिभ्रमण और परिक्रमण सम्बन्धी अन्य तथ्य भी हैं जिन पर दोनों प्रकार की गतियाँ आधारित हैं। सन् 1948 में टर हार (Ter Harr) ने इन तथ्यों को चार भागों में बाँटा है—

(1) कोणीय संवेग* (Angular Momentum)

सौरमण्डल के कुल परिमाण का 99 प्रतिशत से भी अधिक द्रव्यमान अकेले सूर्य में ही निहित है, किन्तु इसका कोणीय संवेग 2 प्रतिशत से भी कम है। सौरमण्डल के समस्त ग्रहों का कोणीय संवेग 98 प्रतिशत से भी अधिक है जबकि परिमाण में एक प्रतिशत ही है। यह सिद्ध करता है कि सूर्य और ग्रहों तथा उपग्रहों की रचना समान तत्वों व संवेग के कणों से नहीं होकर उनमें आधारभूत अन्तर है।

(2) गति सम्बन्धी तथ्य

सभी ग्रहों के ग्रहपथ वृत्ताकार हैं और ग्रह एक ही दिशा में सूर्य की परिक्रमा लगाते हैं। सूर्य भी उसी दिशा में परिभ्रमण करता है। ग्रहों और सूर्य के अक्ष लगभग समानान्तर हैं।

(3) ग्रहों के मध्य का अन्तराल

ग्रहों की स्थिति एवं उनके मध्य का अन्तराल नियमवद्ध है। इस तथ्य का वैज्ञानिक कारण अभी ज्ञात नहीं हो पाया है।

(4) ग्रहों का दो वर्गों में विभाजन

नवग्रह दो वर्गों में विभाजित हैं—(1) आन्तरिक तथा (2) बाह्य। आन्तरिक ग्रहों का घनत्व बाह्य ग्रहों के घनत्व से अधिक है। बाह्य ग्रहों की परिभ्रमण गति तथा उपग्रहों की संख्या भी अधिक है।

पृथ्वी की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनायें (Hypotheses Regarding Origin of the Earth)—पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं—(1) धार्मिक तथा (2) वैज्ञानिक।

(1) धार्मिक विचारधारा

संसार के प्रायः सभी धर्म-ग्रन्थों में पृथ्वी की उत्पत्ति की कल्पना की गई है। इन

---

* संवेग=पिण्ड का परिमाण × पिण्ड की गति (Momentum=Mass × Velocity Or MV) कोणीय संवेग=पिण्ड का परिमाण × पिण्ड की गति × कक्षा का अर्धव्यास

(Angular Momentum=Momentum × Velocity × Radius of the Orbit of the rotating mass or MVR)

सभी का यह मत है कि पृथ्वी का जन्म अण्डाकार रूप में हुआ। पुराणों के अनुसार सृष्टि का आरम्भ ब्रह्मा के अण्ड ब्रह्माण्ड के रूप में हुआ। नार्समेन (Norsemen) ने पृथ्वी को सारस जैसे महापक्षी का अण्डा माना है। प्राचीन मिश्रवासियों के मतानुसार तूफानी समुद्र से एक अण्डा निकला, जिसके दो भाग हो गये—एक स्वर्ग तथा दूसरा पृथ्वी। स्केन्डिनेवियनों ने भी पृथ्वी को अण्डे की ही भाँति ढालनुमा आकृति का बताया है। हिन्दू धर्मशास्त्रों ने महासर्प के ऊपर एक वृहत् कच्छप की कल्पना की है जिसकी पीठ पर चार हाथियों को खड़ा बताया है और उन हाथियों की पीठ पर उल्टे अर्ध गोले के आकृति की पृथ्वी टिकी है।

आधुनिक वैज्ञानिक युग में पुरानी मान्यताओं को स्थान नहीं। वैज्ञानिक गवेषणाओं के सामने धार्मिक विचारधाराएँ अधिक नहीं टिक पातीं। कुछ आधारभूत तथ्यों के सहारे पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत सी वैज्ञानिक अवधारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं किन्तु फिर भी हम पूर्ण विश्वास के साथ यह नहीं कह सकते कि पृथ्वी का जन्म कैसे हुआ क्योंकि इसकी प्रमाणिकता प्रयोगशाला में सिद्ध नहीं की जा सकती।

(2) वैज्ञानिक विचारधारा

विद्वानों का यह मत है कि पृथ्वी का जन्म सौरपरिवार के अन्य सदस्यों के साथ ही हुआ होगा। किन्तु पृथ्वी की उत्पत्ति के बारे में इनमें मतभेद है। अठारहवीं शताब्दी से ही वैज्ञानिकों ने पृथ्वी की उत्पत्ति सम्बन्धी तथ्यों की खोज करना प्रारम्भ कर दिया था। अब तक अनेकों परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। मुख्य रूप से दो विचारधारायें प्रमुख हैं—(अ) एकरूपतावादी या एकल पैतृक परिकल्पनाएँ (ब) प्रलयवादी या द्विपैतृक परिकल्पनाएँ।

एकरूपतावादी या पैतृक परिकल्पनाएं विकास वादी सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इनमें एक ही प्रक्रम के अनुसार क्रमशः विकास के कारण ही सौर-मण्डल या पृथ्वी की उत्पत्ति को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि पृथ्वी की उत्पत्ति केवल एक ही पिण्ड द्वारा हुई। कान्त, लाप्लास, हरशेल, लॉकियर तथा रोसे इसी मत के हैं।
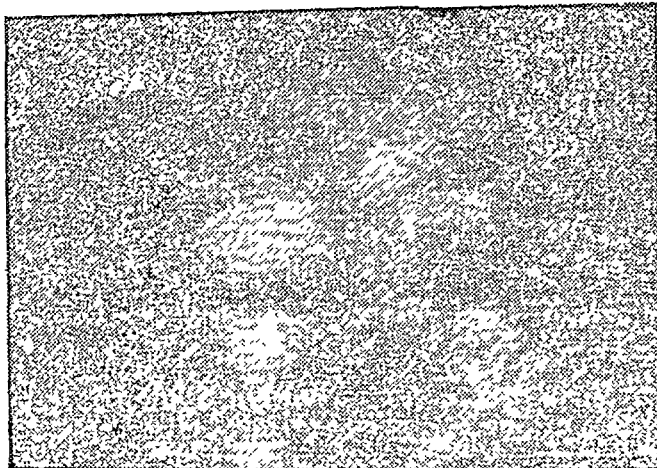
चित्र 1.11 वायव्य नीहारिका (Gaseous Nebula)

कान्त की वायव्य राशि परिकल्पना

जर्मन दार्शनिक कान्त ने सर्वप्रथम न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के नियम के आधार पर सन् 1755 में पृथ्वी की उत्पत्ति सम्बन्धी 'वायव्य राशि परिकल्पना' प्रस्तुत की कि ब्रह्माण्ड में आद्य पदार्थ के कठोर, ठोस गतिहीन कण फैले हुए थे। गुरुत्वाकर्षण के कारण ये एक दूसरे से टकराये व आपसी टकराव से इनमें ताप तथा गति उत्पन्न हुई। ताप की निरन्तर वृद्धि से ठोस आद्य पदार्थ वायव्य राशि में परिणत हो गया जिसने गतिशील चक्राकार नीहारिका का रूप ग्रहण कर लिया।

चित्र 1.12 गतिशील चक्राकार नीहारिका (Spiral Nebula)

चक्राकार नीहारिका की गति में तीव्रता के कारण गैस राशि भूमध्य रेखीय भाग से अपकेन्द्र बल द्वारा क्रमशः छोटे-छोटे 9 वलय बने जो ठोस होकर 9 ग्रहों में परिवर्तित हो गए तथा नीहारिका का मुख्य भाग सूर्य के रूप में रह गया। पृथ्वी भी इन्हीं नौ ग्रहों में से एक है। नीहारिका से पृथक वलयों में से इसी प्रकार से और भी छोटे वलय ग्रहों से पृथक हो गए जो इनके उपग्रह कहलाए इस प्रकार हमारी पृथ्वी का जन्म हुआ। शनैः-शनैः पृथ्वी ठण्डी होती गई तथा वायुमण्डल में संघनन के कारण वर्षा हुई। वर्षा का जल गहरे निक्षेपों में इकट्ठा होता गया और सागरों का निर्माण हुआ।

कान्त ने तो यहाँ तक कहा है कि "मुझे पदार्थ दो, मैं दिखाऊँगा कि उससे विश्व की रचना किस प्रकार होती है।"[3]

---

3 Kant, I., : A general theory of heavens and essay on mechanical structure of the Universe, on the Principles of Newton, 1755.

आरम्भ में तो कान्त की परिकल्पना को कुछ मान्यता मिली किन्तु आधारभूत सिद्धान्तों के प्रतिकूल होने के कारण यह तर्कहीन प्रमाणित कर दी गई। कान्त का मत गणित के गलत नियमों पर आधारित था।

(1) यह ग्रहों की संचालन शक्ति के आधारभूत सिद्धान्त के प्रतिकूल है। कोणीय संवेग की अविनाशता के सिद्धान्त के अनुसार किसी गतिहीन तंत्र (System) में उसी के अंगों के आपस में टकराने से गति का आविर्भाव नहीं होगा। गति विज्ञान के नियम के अनुसार कोणीय संवेग की अविनाशता के अन्तर्गत गतिहीन पदार्थों को टकराने के पश्चात् भी गति प्राप्त नहीं होगी।[4]
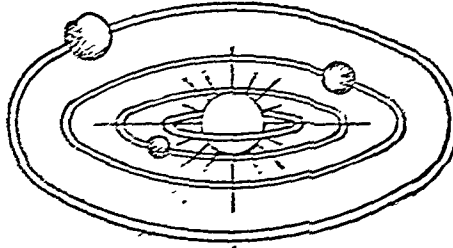
चित्र 1·15 कान्त की वायव्य-राशि परिकल्पना

(2) गुरुत्व शक्ति को नीहारिका में ताप की उत्पत्ति का जो कारण माना गया है वह इतनी अधिक ऊष्मा को उत्पन्न करने में अपर्याप्त थी।

(3) गुरुत्वाकर्षण के कारण आद्य पदार्थ के कण आपस में टकराए किंतु यह शक्ति पहले से विद्यमान थी, अकस्मात उत्पन्न नहीं हुई।

(4) नीहारिका के आकार के बढ़ने के साथ-साथ उसकी गति भी बढ़ी, यह सिद्धान्त के प्रतिकूल है। यदि आकार बढ़ता है तो गति घटती है और यदि गति बढ़ती है तो आकार घटता है। अतः आकार बढ़ने से गति में वृद्धि होना असंगत है।

कान्त की परिकल्पना को लाप्लेस की नीहारिका परिकल्पना ने आगे चलकर संशोधित किया।

लाप्लेस की नीहारिका परिकल्पना—फ्रांस के गणितज्ञ 'पियर डि लाप्लेस' ने सन् 1796 में कान्त की विचारधारा के आधार पर नीहारिका परिकल्पना का प्रतिपादन किया। कान्त की त्रुटियों को उन्होंने अपनी परिकल्पना में समाविष्ट नहीं होने दिया।

लाप्लेस के अनुसार अंतरिक्ष में पहले से ही गतिशील नीहारिकायें विद्यमान थीं। विकिरण एवं गुरुत्वाकर्षण के कारण इनका आकार घटता गया। ताप विकिरण से नीहारिका का ऊपरी भाग ठण्डा होकर सिकुड़ता गया। आकार छोटा होने के कारण उसकी गति तीव्र हुई, गति विज्ञान नियम के अनुसार यह सही है। नीहारिका की गति में तीव्रता आने से अपकेन्द्रीय बल में वृद्धि हुई। कालान्तर में केन्द्र की ओर गुरुत्वाकर्षण बल और केन्द्र से

विमुख अपकेन्द्रीय बल दोनों में सन्तुलन स्थापित होकर विषुवतरेखीय क्षेत्र में भारहीनता पैदा हो गई। नीहारिका निरन्तर ठण्डी होती गई उसका ऊपरी भाग ठोस होकर तप्त भाग से शनैः-शनैः पृथक होता गया तथा बाहरी भाग की परिक्रमण गति भीतरी भाग की अपेक्षा अधिक हो गई। जब अपकेन्द्रीय बल गुरुत्व बल से अधिक हो गया तो विषुवत रेखा का पदार्थ एक वलय के रूप में नीहारिका से पृथक हो गया और कालान्तर में यह विशालकाय तश्तरी-नुमा पिण्ड पुनः नौ वलयों में विभाजित हुआ। वलयों के पदार्थ के घनीभूत होने और सिकुड़ने के कारण उनके आपस का अंतराल बढ़ता गया। शनि का वलय इसका उदाहरण है।
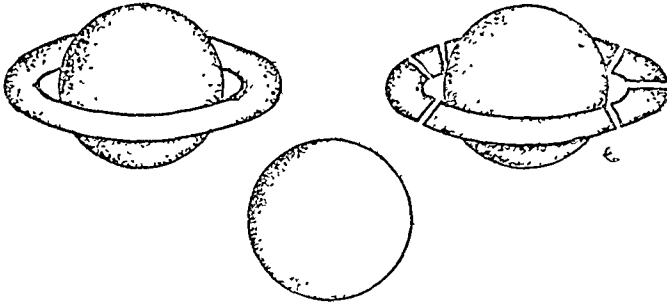
चित्र 1·14 नीहारिका से निकली वृहताकार वलय
(लाप्लेस की परिकल्पना के आधार पर)

नीहारिका परिकल्पना अन्तरिक्ष में नीहारिकाओं का अस्तित्व तथा शनि के चारों ओर वलय की उपस्थिति पर आधारित है। इसके अनुसार सभी ग्रह समान पदार्थों से निर्मित हैं और एक ही दिशा में परिभ्रमण करते हैं।

भू-भौतिकी की नवीनतम अवधारणाओं से भी यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी आरम्भ से गैसीय अवस्था में थी, फिर तरल और अन्त में ठोस अवस्था को प्राप्त हुई। पृथ्वी के गर्भ का पिछली दशा में होना, ज्वालामुखी के लावा तथा भूगर्भ ताप में वृद्धि से यह सिद्ध होता है। सूर्य व पृथ्वी का अधः स्तर आज भी तप्त है।

पृथ्वी पर वायुमण्डल की संरचना पदार्थों के तरल तथा ठोस अवस्था में आने के कारण है।

लाप्लेस का यह मत कि अन्तरिक्ष में एक प्रज्वलित गतिशील नीहारिका थी कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। लार्ड केल्विन के अनुसार तप्त धधकती हुई नीहारिका की छितराई (Diffused) हुई गैस लाखों वर्षों तक अंतरिक्ष में तप्त अवस्था में नहीं रह सकती विकिरण के कारण वह अल्पकाल में ही शीतल हो जायेगी।

यदि सूर्य नीहारिका का ही अवशेष रहा है इसे तो तरलावस्था में होना चाहिए। इसके विषुवतरेखीय भाग में उभार होना चाहिए जिससे वलयों के निर्माण का आभास हो।[5]

सूर्य की परिभ्रमण गति धीमी है। जबकि लाप्लेस के अनुसार सूर्य को तीव्र गति से घूमना चाहिए।

कोणीय संवेग की अविनाशिता के सिद्धान्त के अनुसार मौलिक नीहारिका का कोणीय संवेग वर्तमान सूर्य एवं सभी ग्रहों के सम्मिलित कोणीय संवेग के तुल्य होना चाहिए। अतः सम्पूर्ण कोणीय संवेग का अधिकांश भाग वर्तमान सूर्य तथा अवशेष सभी ग्रहों में होना चाहिये। किन्तु इसके विपरीत ग्रहों का कोणीय संवेग 98 प्रतिशत और सूर्य का 2 प्रतिशत है। अतः गणितीय नियमों पर यह परिकल्पना सही नहीं उतरती।

लाप्लेस के अनुसार ग्रहों का कक्षीय तल सूर्य के विषुवतरेखीय तल के समतल होना चाहिए। जबकि ग्रहों की कक्षाएँ दीर्घ वृत्ताकार हैं उनका कक्षीय धरातल सूर्य के विषुवत रेखीय तल पर प्रायः 6° के कोण पर झुका हुआ है।

इस परिकल्पना के अनुसार अति बृहत् आद्य पदार्थ से निर्मित सूर्य के विकासवादी क्रम के अनुसार क्रमशः ग्रहों की उत्पत्ति हुई। किन्तु सूर्य के जन्म से लेकर अब तक सूर्य की विशिष्टताओं में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। इतने बड़े आद्य सूर्य की कल्पना असंगत प्रतीत होती है।

लाप्लेस की परिकल्पना के अनुसार आद्य सूर्य का व्यास (सूर्य से कुबेर तक) 590 करोड़ किमी. होना चाहिए जबकि बड़े से बड़े तारों जैसे वी. वी. सेफी (V..V Cephei) तथा एप्सीलन आरीग (Aspilon Aurigae) का व्यास क्रमशः 177 तथा 257 करोड़ किमी. है।

सूर्य की आयु 4 से 5 अरब वर्ष निर्धारित की गई है। यदि आद्य नीहारिका वर्तमान सौरमण्डल तक विस्तृत थी तो इतने अल्प समय में इसका सूर्य के आयतन के बराबर आ जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

शनि और बृहस्पति के उपग्रह अपने जन्मदाता ग्रहों की विपरीत दिशा में घूमते हैं। जबकि उपरोक्त परिकल्पना के अनुसार उनको ग्रहों की परिभ्रमण दिशा में ही घूमना चाहिए।

जेम्स क्लार्क मैक्सवैल के अनुसार द्रवावस्था में वलय ग्रह नहीं बन सकता। केपलर के नियम के अनुसार द्रव के विभिन्न स्तरों की परिभ्रमण गति भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। अतः गति की विभिन्नता के कारण वलय घनीभूत होने से पूर्व भंग हो जाना चाहिये।[8]

मोल्टन (Moulton) के अनुसार वलय का सिमट कर ग्रहों में परिणित हो जाना असम्भव है, क्योंकि गैसों का अणुवेग इतना अधिक होगा कि गुरुत्वाकर्षण द्वारा उनका सिकुड़ कर ग्रह रूप लेना संभव नहीं है। भूगर्भशास्त्री हाव्स लाप्लेस की परिकल्पना को भ्रांतिपूर्ण मानते हैं।[9]

लाप्लेस की यह त्रुटिपूर्ण परिकल्पना उष्मागति विज्ञान, सांख्यिकीय भौतिकी, गैस अणुगत सिद्धान्त के आविर्भाव न होने के पूर्व की थी किन्तु इसने नई दिशा में सोचने के लिए प्रेरणा अवश्य दी।

रोशे की नीहारिका परिकल्पना— लाप्लेस की परिकल्पना में संशोधन है।[10] रोशे के मतानुसार विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई नीहारिका की विरल गैस का घनत्व इतना कम होगा कि उससे चपटे आकार की एक वृहत् गोलाकार वलय की रचना सम्भव नहीं। अतः रोशे ने नीहारिका की आकृति मसूर की दाल के समान मानी जिसके विषुवतरेखीय क्षेत्र से

समय-समय पर वायव्य राशि के पतले-पतले क्रमशः नौ वलय निकले और घनीभूत होकर ये ग्रह बने।
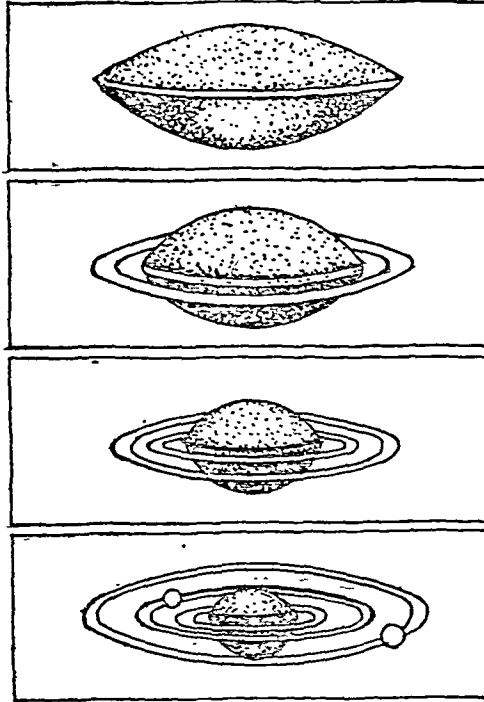
चित्र-1·15 रोशे के संशोधन के आधार पर ग्रहों की उत्पत्ती

रोशे के संशोधन में भी कुछ दोष हैं। यदि नीहारिका से क्रमशः नौ वलय पृथक हुए तो दसवाँ वलय क्यों नहीं निकला और वलय पृथक होने का क्रम समाप्त क्यों हो गया? नीहारिका के कणों की पारस्परिक असंलग्नता के कारण वलयों का निर्माण सतत एवं अविरल रूप से चलता रहना चाहिए।

डा. हानस आफवेन की विद्युत चुम्बकीय परिकल्पना के पूर्व की सभी परिकल्पनाओं में आकाशीय पदार्थों को आकर्षित करने के लिए गुरुत्वाकर्षण एवं ज्वारीय शक्ति को आधार माना गया था। आफवेन ने सर्व प्रथम विद्युत चुम्बकीय शक्ति को अपनी परिकल्पना का आधार माना। उन्होंने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी की भांति सूर्य के चारों ओर भी चुम्बकीय क्षेत्र है जो आरंभ में कई हजार गुना था। सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करते एक प्रोटोन पर चुम्बकीय शक्ति गुरुत्वाकर्षण शक्ति से 60,000 गुनी अधिक होती है।

आफवेन के अनुसार अत्यन्त वेग से परिभ्रमण करता सूर्य परमाणुओं से युक्त मेघों की कक्षा में प्रवेश कर गया। यह मेघ अआयनित परमाणुओं से बने हुए थे। परमाणुओं का वृहत् मेघ आयनित हो गया। यह मेघ वर्तमान कुल ग्रहों की कक्षा तक फैला हुआ था। परमाणुओं के आयनित होने के फलस्वरूप उनमें संघर्षण होकर परमाणुओं में गति का संचार हुआ। गतिमान आयनित परमाणुओं के वृहत मेघ में सूर्य की चुम्बकीय शक्ति के कारण

चुम्बकीय क्षेत्र में आवेषित कणों की गति के नियमों के अनुसार पदार्थों की मात्रा सूर्य के विषुवत रेखीय क्षेत्र में एकत्रित हो गई। पदार्थ की इस मात्रा का फैलाव वृहस्पति या शनि ग्रह की दूरी तक रहा होगा। सूर्य के परिभ्रमण वेग के कारण परमाणुओं की यह पट्टी सूर्य की परिक्रमा करने लगी। जब सूर्य की गति मन्द हुई तो परमाणुओं की यह पट्टी घनीभूत होने लगी फलस्वरूप ग्रहों का निर्माण हुआ।

आफवेन के अनुसार ग्रहों के आकार बढ़ जाने के कारण उनके चारों ओर सूर्य की भाँति चुम्बकीय क्षेत्र का निर्माण हो गया और ग्रहों की चुम्बकीय शक्ति से उपग्रहों की उत्पत्ति हुई। इस परिकल्पना से वृहत् एवं वाह्य ग्रहों की उत्पत्ति के क्रम तो समझ में आते हैं, किन्तु आन्तरिक एवं छोटे ग्रहों की उत्पत्ति के बारे में कोई तर्क संगत प्रमाण नहीं मिलता। पृथ्वी की उत्पत्ति का मूल कारण भी इस परिकल्पना से स्पष्ट नहीं होता।

डॉ. वान वीसेकर की नीहारिका मेघ परिकल्पना—सौरमण्डल की उत्पत्ति एक तारक सिद्धान्त पर आधारित है। इस तथ्य से सभी विद्वान सहमत हैं कि अन्तरिक्ष में गैस एवं धूल कण फैले हुए हैं। यही धूल कहीं-कहीं नक्षत्रों को झीने और मोटे पर्दे के रूप में ढके हुए हैं। आरियन नक्षत्र-मण्डल में घोड़े के सिर जैसी आकृति इसी मोटी धूल की है जिससे प्रकाश की गति में बाधा आती है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि 10 लाख घनकिमी. अन्तरिक्ष क्षेत्र में फैले पदार्थ का भार लगभग एक किलोग्राम होता है। सौरमण्डल की उत्पत्ति अन्तरिक्ष के इसी प्रकार के एक प्रतिशत भाग से हुई है जिसमें ऑक्सीजन, सिलिका लोहा एवं अन्य ठोस पदार्थ हैं। शेष 99 प्रतिशत भाग में हाइड्रोजन तथा हीलियम है जो पृथ्वी में अति सूक्ष्म मात्रा में मिलती है।

इस विचारधारा के अनुसार परिभ्रमण करता सूर्य अपेक्षाकृत घने गैसीय पदार्थ एवं धूल के सूक्ष्म कणों से निर्मित विसरित नीहारिका में प्रवेश कर गया तथा सैकड़ों वर्षों तक इसमें छिपा रहा। ये नीहारिकायें अत्यधिक विस्तीर्ण हैं तथा इनमें सूर्य का प्रवेश होना सम्भव है। कालान्तर से सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के कारण विसरित नीहारिका के गैसीय पदार्थ

चित्र 1·16
मोतियों के प्रत्येक हार में पांच चक्राकार-क्षेत्र

का एक विस्तृत आवरण सूर्य के चारों ओर फैल गया। यह पदार्थ कुल ग्रहों के द्रव्यमान से सौ गुना अधिक था। सूर्य के साथ यह पदार्थ भी तीव्र गति से घूमने लगा। गैस का कुछ

भाग सूर्य ने आकर्षित कर लिया तथा अवशेष अन्तरिक्ष में विलीन हो गया। संघर्षण करते धूल कण घनीभूत होते रहे जिससे पिण्डों का निर्माण हुआ। यह कार्य लगभग 10 करोड़ वर्षों तक चलता रहा और इनसे ग्रहों एवं उपग्रहों का निर्माण हुआ।

सूर्य के चारों ओर बड़े पिण्डों के रूप में घनीभूत धूलकणों की तुलना वीसेकर ने **मोतियों के हार**[11] से की है। अन्तरिक्ष में कणों का सघनीकरण सूर्य से विभिन्न दूरियों पर हो रहा था। परिकल्पित प्रत्येक हार में पाँच गोलाकार मोती अथवा चक्राकार क्षेत्र थे।[12] ऐसे क्षेत्रों में धूल कणों को परिक्रमण का सुलभ मार्ग मिल जाता है, जिससे उनमें सघनीकरण की प्रक्रिया सुगमता से होती है। कालान्तर में इसी प्रक्रिया से उपग्रहों का निर्माण हुआ।

मेक्सवेल के अनुसार ग्रहों के निर्माण में 99% हल्के व 1% भारी तत्त्व थे। आकाशीय धूल इनसे भी हल्की होती है।[13]

ग्रहों को धूलकण द्वारा निर्मित मान लेने से सूर्य से इनके अन्तराल की बात स्पष्ट हो जाती है।

इस परिकल्पना ने एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया जिससे एकरूपतावादी परिकल्पनाओं को बल मिला। गैस और धूल परिकल्पनाओं द्वारा सौरमण्डल की उत्पत्ति को प्रमाणित करने की सम्भावनाएँ बढ़ीं। क्कीपर, फेसनकोव, ओटो शिमिट आदि ने भी धूल और गैस पर आधारित परिकल्कनाएँ प्रस्तुत कीं।

वीसेकर का यह मत कि सूर्य विसरित नीहारिका में सैकड़ों वर्ष छिपा रहा असंगत है क्योंकि सूर्य में गुरुत्वाकर्षण पहले से ही विद्यमान था। गैस और धूल को आकर्षित करने में उसे इतना अधिक समय नहीं लगना चाहिये। धूलकणों से निर्मित आकृति को मोतियों के हार से तुलना में कल्पना अधिक तथा तथ्य कम है। चक्राकार क्षेत्रों की उत्पत्ति भी विज्ञान की अपेक्षा कल्पना के आधार पर अधिक है।

उपरोक्त परिकल्पना में भारतीय खगोलशास्त्री डॉ. चन्द्रशेखर ने संशोधन किया है।

वीसेकर के मत से प्रेरित अमरीकी खगोलशास्त्री क्कीपर ने नीहारिका मेघ परिकल्पना प्रस्तुत की कि गैस और धूल के मेघ ग्रह निर्माण पदार्थ से न बनकर आद्य-ग्रहों के मेघ के गुरुत्वाकर्षण के कारण संगठित होकर उनसे निसृत अतिरिक्त पदार्थ की राशि से निर्मित हुए हैं। कान्त की तरह क्कीपर की यह मान्यता है कि आद्य पदार्थ की रचना के समय ठण्डा था। आद्य ग्रहों की रचना के समय सूर्य भी निर्माणावस्था में था। इस प्रकार गैस और धूल में नीहारिका मेघ से सर्वप्रथम सूर्य की रचना हुई और बाद में आद्य-ग्रहों का निर्माण हुआ। आद्य ग्रहों का द्रव्यमान वर्तमान ग्रहों के द्रव्यमान से कई सौ गुना अधिक था। यह परिकल्पना भी दोषपूर्ण है। वैज्ञानिकों के अनुसार अन्तरिक्ष में आदिकाल से ही धूल विद्यमान है। गैसीय पुंजों से कण निकलकर अन्तरिक्ष में फैलकर धूल कणों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। आकाश गंगा में भी एक काला धब्बा दिखाई देता है जो धूल एवं गैस से बना हुआ है।

गैस और धूल द्वारा विशालकाय आदि-ग्रहों की उत्पत्ति में सन्देह है।[14] सोवियत वैज्ञानिक 'स्लोवस्की' के अनुसार आदि-ग्रहों से अतिरिक्त पदार्थ के निसरण में 500 से 600 करोड़ वर्ष लगते हैं जो वर्तमान ग्रहों की आयु से अधिक है। यदि पृथ्वी प्रारम्भ में बड़ी

थी और बाद में इसके द्रव्यमान में कमी होने के कारण छोटी हो गई तो इसकी परिभ्रमण गति भी कम हो जानी चाहिए थी किन्तु ऐसा नहीं है।

वी. जी फेसनकोव ने सौरमण्डल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परिभ्रमण परिकल्पना प्रस्तुत की कि तीव्र गति से घूमते हुए सूर्य में अपकेन्द्रीय बल के कारण विषुवत रेखीय भाग में पदार्थ एकत्रित हो गया। परिभ्रमण गति और बढ़ने से यह पदार्थ सूर्य से पृथक होकर उसकी परिक्रमा करने लगा। पृथक हुए पदार्थ से ही वर्तमान ग्रहों का निर्माण हुआ। फेसनकोव ने अपनी संशोधित परिकल्पना के अनुसार गैस और धूल के मेघ अपने ही गुरुत्वाकर्षण से प्रभावित होकर 'आदि ग्रहों' में परिवर्तित हो गये और आकाशीय पिण्डों की रचना हुई।

फेसनकोव के अनुसार सूर्य का निर्माण हाइड्रोजन तथा हीलियम जैसे हल्के पदार्थों से हुआ है, जबकि ग्रहों का निर्माण सिलिका, लोहा एवं अल्युमिनियम जैसे भारी पदार्थों से हुआ है। प्रश्न उठता है कि एक मेघ से दो तरह की संरचना वाले पिण्डों का निर्माण किस प्रकार सम्भव है ? यदि यह मान लिया जाय कि ग्रहों का निर्माण धूलकणों से हुआ तो फिर गैस का क्या हुआ ?

ओटो शिमिट की परिकल्पना—सोवियत वैज्ञानिक ओटो शिमिट ने सन् 1943 में गैस और धूल के कणों के द्वारा सौर-मण्डल के निर्माण के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया कि आखिर गैस और धूल के बादल कहाँ से आए ? अन्तरिक्ष में पर्याप्त मात्रा में धलकण और गैस के मेघ फैले हुए हैं। शिमिट के अनुसार ब्रह्माण्ड में यदि एक ओर विघटन होता है तो दूसरी ओर निर्माण। तारों से विसरित परमाणु पृथक होते हैं तो दूसरी ओर वही विसरित कणों के झुण्ड तारों और ग्रहों का निर्माण भी करते हैं। इस प्रकार तारों से ही पदार्थ की उत्पत्ति होती है और वही पदार्थ उनके निर्माण में सहायक होता है। यह क्रम अनवरत चलता रहा है। अन्तरिक्ष पदार्थ का रूप अवश्य परिवर्तित होता है किन्तु उसका अस्तित्व लोप नहीं होता।

शिमिट के अनुसार धूल एवं गैस के धुंधले मेघ या तो उल्काओं द्वारा निर्मित हुए हैं या फिर तारों से विसरित परमाणुओं से बने हैं जो पृथक होने पर कणों के रूप में घनीभूत हो जाते हैं। कुछ का मत है कि सूर्य और धूल तथा गैस के बादल साथ-साथ उत्पन्न हुए। किन्तु शिमिट के अनुसार गैस और धूल के मेघों के निर्माण से पूर्व सूर्य अस्तित्व में आ गया था। इस प्रकार सूर्य की रचना करने वाला पदार्थ ग्रहों की रचना वाले पदार्थ से भिन्न था। अतः ग्रहों का द्रव्यमान तथा कोणीय संवेग सूर्य के द्रव्यमान तथा कोणीय संवेग से पृथक है।

आकाश गंगा के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के समीप से भ्रमण करते हुए सूर्य ने गैस और धूल कणों के कुछ पुंजों को आकर्षित कर लिया। अतः विसरित कणों के गुच्छ का एक वृहत् मेघ आवरण सूर्य के चारों ओर छा गया। सूर्य भ्रमण गति के कारण यह मेघ आवरण दीर्घ वृत्ताकार सूर्य कक्षा में परिभ्रमण करने लगा। प्रारम्भ में विभिन्न आकार के कण एक गुच्छ के रूप में विश्रृंखल अवस्था में सूर्य की परिक्रमा करने लगे।

गैसीय पदार्थ ठोस कणों से पृथक होता है। गैस के कण प्रत्यास्थ रूप से टकराते हैं। अतः उनकी गति में न तो अन्तर आता है और न वह घनीभूत होते हैं। इसके विपरति धल

कण अप्रत्यास्थ होने से उनकी गति मन्द पड़ जाती है। अतः वह घनीभूत होकर संगठित हो जाते है। धूल-कणों के संगठन से छोटे-छोटे पिण्डों का निर्माण हुआ (चित्र 7)। आरम्भ में यह भ्रूण रूप में परिवर्तित हुए और शनैः-शनैः क्षुद्र ग्रहों का रूप ले लिया। इन क्षुद्र ग्रहों ने सूर्य के चारों ओर धूल से निर्मित बिम्ब में भ्रमण करते हुए निसृत पदार्थ को आत्मसात कर लिया। फलस्वरूप छोटे पिण्डों का आकार बढ़कर ग्रहों के रूप में विद्यमान हुए ग्रहों की रचना के पश्चात भी कुछ पदार्थ उनके चारों ओर बच गया था जो उनकी परिक्रमा करता रहा। जिस तरह धूल कणों से ग्रहों की रचना हुई ठीक उसी तरह उपग्रहों का भी निर्माण हुआ (चित्र 8)।
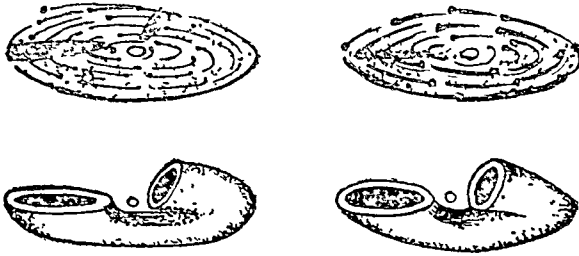
चित्र-1·17 ग्रहाणुओं के निर्माण की विधि

शिमिट ने अत्यन्त तर्कपूर्ण ढंग से प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर अपनी परिकल्पना के माध्यम से सौर-मण्डल की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला।
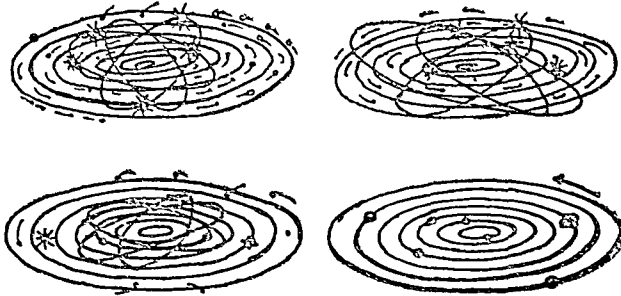
चित्र 1·18 ग्रहाणुओं से ग्रहों का निर्माण

प्रारम्भ में शिमिट ने विसरित कणों का अपहरण सूर्य की आकर्षित शक्ति को माना किन्तु संशोधन कर मेघों के अपहरण का कारण कणों द्वारा अप्रत्यास्थ रूप से संर्षघण को ठहराया। विभिन्न कणों के आपसी संघर्षण से धूल कणो से निर्मित पिण्ड स्वतन्त्र रूप से भ्रमण नही कर सके और औसत वेग प्राप्त किया। अतः ग्रहों की कक्षा वृत्ताकार हो गई।

सौरमण्डल के आन्तरिक ग्रह जैसे बुध, शुक्र, मंगल आदि भारी पदार्थों—सिलिका, लोहा, अल्यूमीनियम आदि से निर्मित है, जबकि बाह्य ग्रह जैसे शनि, वृहस्पति आदि हाइड्रोजन एवं हीलियम जैसे हल्के पदार्थों से बने है। बिम्बरूपी गैस और धूल के मेघों से घिरे सूर्य की किरणें बिम्ब को भेदकर अधिक दूर नहीं जा सकतीं। जहाँ सूर्य किरणें नहीं पहुँच पातीं वहाँ अत्यधिक न्यून तापमान (270° सेन्टीग्रेड) रहा होगा। अतः गैसीय पदार्थ शीत के

कारण जमे होंगे। (चित्र 1.9 तथा 1.10)। ग्रहों के पारस्परिक अन्तराल को शिमिट ने ग्रहों के आकारों और गतियों की विभिन्नता का आधार माना है।
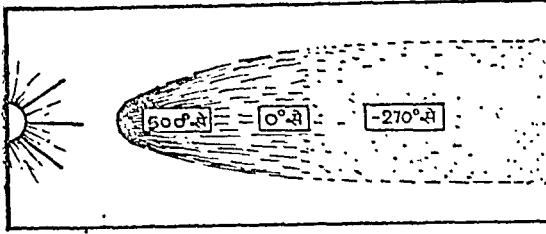
चित्र 1.19 सूर्य के चारों ओर तश्तरी-आकृति में ताप-वितरण

शनि के वलय के निर्माण को स्पष्ट करते हुए शिमिट ने रोशे के **'सीमा सिद्धान्त'** का सहारा लिया। यदि कणों का समूह पिण्ड के अर्धव्यास से ढाई गुनी दूरी या उससे भी निकट पहुँच जाय तथा दोनों का घनत्व समान हो, तो कणों का समूह छिन्न-भिन्न हो
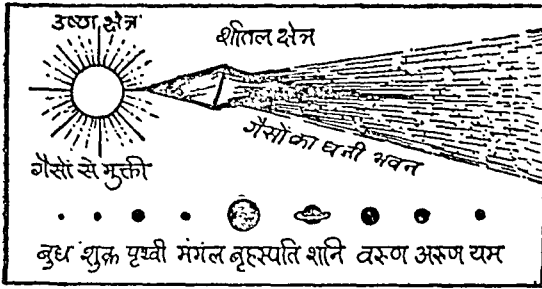
चित्र 1-20 ग्रहों का वर्गीकरण

जायगा। संभवतः कोई उपग्रह शनि के निकट आया होगा जिसके कारण वह छिन्न-भिन्न होकर वलय के रूप में परिवर्तित हो गया होगा। शिमिट ने ग्रहोंके मध्य दूरियों का निर्धारण करते समय सांख्यिकी का सहारा लिया है।

सोवियत वैज्ञानिक **विक्टर सेफ्रोनोव** इस परिकल्पना को केवल अंशतः ही सत्य मानते हैं क्योंकि अन्य समस्याओं का समाधान इसके द्वारा नहीं हो पाता। **व्लादिमीर त्रेट** का मानना है कि सूर्य की उत्पत्ति पृथक न होकर ग्रहों के साथ ही हुई। सूर्य द्वारा मेघों के आत्म सात होने का तर्कसंगत कारण इसमें प्रस्तुत नहीं किया गया। इस परिकल्पना में अपेक्षाकृत अनुकूल बिन्दुअधिक हैं।

नोबुल पुरस्कार विजेता उरे ने सन् 1951 में रसायनों के विश्लेषण पर आधारित मत व्यक्त किया कि प्रारम्भ में शीतल एवं ठोस पदार्थ सूर्य की परिक्रमा लगा रहा था। आद्य पदार्थ के कणों में गुरुत्वाकर्षण के कारण आपसी संघर्षण से उनमें ऊष्मा का संचार हुआ। तीव्र गति से घूमते हुए कण शनैः-शनैः एकत्रित होकर ग्रहों के रूप में परिवर्तित हो गये। वाष्पशील पदार्थ अन्तरिक्ष में विलीन हो गया तथा शेष भारी पदार्थ ग्रहों के रूप में परिवर्तित हो गये।

(ब) प्रलयवादी या द्विपैतृक परिकल्पनाएं

कान्त और लाप्लेस की वायव्य तथा नीहारिका परिकल्पनाओं को अमान्यता के

पश्चात् वैज्ञानिकों ने प्रलयवादी या द्विपैतृक परिकल्पनाओं के सहारे सौर-मण्डल की उत्पत्ति को प्रमाणित करने का प्रयास किया। इन परिकल्पनाओं को द्वितारक परिकल्पनाएँ भी कहते हैं। प्रलयवादी परिकल्पनाओं के अनुसार सौर-मण्डल की उत्पत्ति का आधार अन्तरिक्ष में घटित किसी प्रलयंकारी घटना को ही माना है जिसमें दो तारों की भीषण टकराहट से विस्फोट हुआ।

कान्त तथा लाप्लेस से पूर्व में सन् 1749 में सर्वप्रथम फ्रांस के वैज्ञानिक बफन ने सौर-मण्डल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में द्वैतारक परिकल्पना प्रस्तुत की कि सूर्य एक वृहत्गैसीय पिण्ड अथवा नीहारिका था। अकस्मात् एक भ्रमणशील विशालकाय तारा सूर्य से टकरा गया और विशाल मात्रा में तारकीय पदार्थ अन्तरिक्ष में छितरा गये। सूर्य से निकले पदार्थ का कुछ अंश भ्रमणशील तारा अपने साथ लेकर अंतरिक्ष में विलीन हो गया। तारकीय पदार्थ के अवशेष पर एक ओर सूर्य की आकर्षण शक्ति का प्रभाव हुआ। वहाँ दूसरी ओर कुछ सीमा तक भ्रमणकारी तारे का सूर्य पर प्रभाव पड़ा। दोनों के सम्मिलित आकर्षण के प्रभाव में आकर भी पदार्थ सूर्य की ओर अधिक आकर्षित हुआ और पदार्थ दीर्घ वृत्ताकार कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करने लगा। इसी तारकीय पदार्थ से सौर-मण्डल की उत्पत्ति हुई।
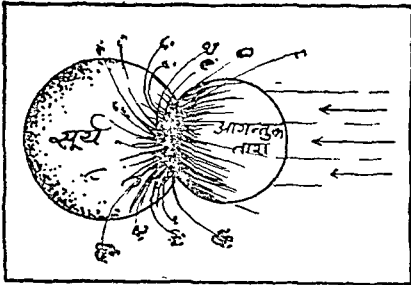
चित्र-1·21 बफन के अनुसार सूर्य तथा तारे की टक्कर

इस परिकल्पना में सूर्य एवं भ्रमणकारी तारे की टक्कर का कारण नहीं बतलाया न कोणीय संवेग के बारे में कोई तर्कसंगत तथ्य मिलता है। यह परिकल्पना गणित के नियमों के आधार पर नहीं है। बफन ने विस्फोट की अवधारणा का सर्वप्रथम सूत्रपात किया था। इससे भविष्य में वैज्ञानिकों को तर्कसंगत द्वितारक परिकल्पनाओं के प्रतिपादन का अवसर मिला।

चेम्बरलिन एवं माल्टन की ग्रहाणु परिकल्पना—टी. सी. चैम्बरलिन तथा माल्टन ने द्वैतारक परिकल्पना का प्रतिपादन किया कि सौरमण्डल की उत्पत्ति शीतल तथा ठोस कणों से निर्मित सर्पिल नीहारिका के निकट से एक भ्रमणकारी तारे के गुजरने से हुई। अन्तरिक्ष में आज भी सर्पिल नीहारिकाएं देखने को मिलती हैं। एंड्रोमिडा नाम की सर्पिल नीहारिका इसका उदाहरण है। ऐसी निहारिकाएं ठोस अवस्था में आने से पूर्व या तो सूक्ष्म कणों के समूह से निर्मित होती हैं या तरलावस्था में होती हैं।[11] प्रारम्भिक अवस्था में हमारा सूर्य भी कुछ इसी अवस्था में रहा होगा। आज भी सूर्य से उठती लाखों कि.मी. ऊंची लाल रंग की तप्त सौर ज्वालाओं को देखा जा सकता है। यह अनुमान लगाया गया है कि प्रारम्भिक अवस्था में तारकीय पदार्थ वर्तमान की तुलना में अधिक निसृत होता होगा।

चैम्बरलिन के अनुसार सुदूर अतीत में भ्रमणकारी विशालकाय तारे के गुरुत्वाकर्षण से आदि सूर्य का तारकीय पदार्थ अन्तरिक्ष में दूर-दूर तक छितरा गया। सूर्य से निसृत पदार्थ सूक्ष्म ग्रहाणुओं के रूप में परिवर्तित हो गया। ये ग्रहाणु आपसी आकर्षण से समूहित होकर बड़े आकार के केन्द्रक बने। केन्द्रकों के गुरुत्वाकर्षण के कारण इन पर असंख्य ग्रहाणु टकराए जिससे केन्द्रकों आकार और भी बड़ा

होता गया। ग्रहाणुओं के केन्द्रकों से टकराने और केन्द्रकों में दवाव के कारण इनमें ताप उत्पन्न हुआ। अत्यधिक ताप से केन्द्रकों में मैग्मा की जेव का निर्माण हो गया। इन मैग्मा भण्डारों से ज्वालामुखी का प्रादुर्भाव हुआ और अन्त में यह वर्तमान ग्रहों के रूपमें आ गए। यद्यपि कुल ग्रहों का परिमाण समस्त सौरमण्डल के परिमाण का 1/700 अंश है, किन्तु उसमें सौरमण्डल के कुल निर्माण की शक्ति का 98 प्रतिशत भाग विद्यमान है।

चित्र 1·22 चेम्बरलिन की नीहारिका परिकल्पना
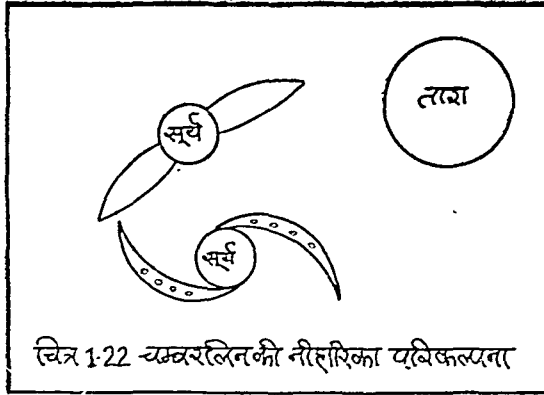
ग्रहों का निर्माण करने वाले ग्रहाणुओं में अपने आयतन से कई गुनी घनीभूत गैस एवं वाष्प रहती है जो ज्वालामुखी द्वारा भूगर्भ से वाहर आई। इसके अतिरिक्त पृथ्वी ने भी गुरुत्वाकर्षण द्वारा निकटवर्ती अन्तरिक्ष के वायुमण्डल को आकर्षित किया आंतरिक और वाह्य स्रोतों से पृथ्वी के चारों ओर वायुमण्डल का आवरण छा गया।

चैम्वरलिन के अनुसार प्रारम्भ में पृथ्वी के आन्तरिक भाग मे ताप के असमान वितरण एवं शैलों की विभिन्न रचनाओं के कारण विभिन्न द्रवणीयता थी। भूगर्भ से वाहर निकलते ताप से कम दाव वाले भाग अधिक दाव वाले भागों की अपेक्षा तरलावस्था में शीघ्र आ गए तथा नीचे वैठते गए। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में सागरों का जन्म छोटे-छोटे निक्षेपों के रूप में हुआ। जव वायुमंडल की जलवाष्प संतृप्तता-विन्दु पर पहुंच गई तो झीलों के रूप में सर्वप्रथम महासागरों की उत्पत्ति हुई जो कालान्तर में अपरदन के कारण एक दूसरे से मिल गये और महासागरों का निर्माण हुआ।

इस परिकल्पना से ग्रहाणुओं का अंतरिक्ष में छितराव तो समझा जा सकता है किन्तु उनके पुनः संगठित हो जाने की क्रिया तर्कसंगत नहीं है। तारकीय पदार्थ के सौर-ज्वालाओं के रूप में निष्कासित होकर पुनः ग्रहाणुओं में परिवर्तित होने और इतने वड़े ग्रहों की रचना करना कुछ अस्वाभाविक सा है। ग्रहाणुओं के आपस में टकराने से उनका आकार और भी घटता है व अंत में वह छिन्न-भिन्न होकर धूल कणों में परिवर्तित हो जाता है। पृथ्वी सदा से ठोस अवस्था में नहीं रही है यह कभी तरलावस्था में थी।

ग्रहों का निर्माण सूर्य से निकले पदार्थ से माना है जवकि ग्रहों का कोणीय संवेग सूर्य से अधिक है। यदि पृथ्वी प्रारम्भ से ही ठोस अवस्था में होती तो अपरदन के कारण सागरों में वर्तमान लवण की मात्रा अधिक होनी चाहिये थी। अरुण एवं वरुण की प्रतिगामी गतियां इस परिकल्पना के अनुकूल नहीं हैं। ग्रहाणुओं से उत्पन्न ग्रहों का ग्रहपथ वृत्ताकार न होकर अण्डाकार होना चाहिए था।

(3) जीन्स तथा जेफ्रेज की ज्वारीय परिकल्पना

जेम्स जीन्स ने 'ज्वारीय परिकल्पना' का प्रतिपादन किया जो जार्ज डारविन की खोज 'ज्वारीय शक्ति' तथा चन्द्रमा के आकर्षण द्वारा सागर में ज्वार पर आधारित है। सन् 1926 में जेफ्रेज ने इस परिकल्पना में कुछ संशोधन किया। जीन्स की कल्पना थी कि सम्भवतः 2 अरब वर्ष पूर्व हमारा पिताग्रह सूर्य-परिवार सहित अन्य तारों की भाँति अकेला ही आकाश में था, किन्तु अकस्मात् अकल्पनातीत घटना घटी। आकाश में विचरण करता हुआ एक महाकाय तारा सूर्य के समीप आया। इस भ्रमणकारी तारे के अति निकट आने से उसके गुरुत्वाकर्षण से सूर्य की सतह से गैसीय पदार्थों का ज्वार उठा। यह ज्वार ठीक उसी भाँति था जैसे सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण से सागर में ज्वार उठता है। यह ज्वार तारे की ओर अग्रसर हुआ। जैसे-जैसे तारा सूर्य के निकट आता गया ज्वार अधिक ऊँचा उठता गया। तारा क्रमशः सूर्य से दूर होता गया और अंत में अंतरिक्ष में विलीन हो गया। ज्वारीय पदार्थ ने दूर दिशा में प्रस्थान करने वाले तारे का कुछ दूर तक अनुसरण किया किन्तु अत्यधिक दूरी हो जाने से ज्वारीय पदार्थ एवं तारे का सम्बन्ध टूट गया। सूर्य से पृथक ज्वार आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार सूर्य में पुनः वापिस नहीं मिल सका तथा यह पिण्ड सूर्य की दीर्घवृत्तीय कक्षा में परिक्रमण करने लगा। इस प्रकार एक ओर सूर्य और दूसरी ओर भ्रमणशील तारे की आकर्षण शक्ति के कारण ज्वारीय पदार्थ मध्य में मोटा और दोनों ओर पतले सिगार के आकार का हो गया (चित्र 23)।
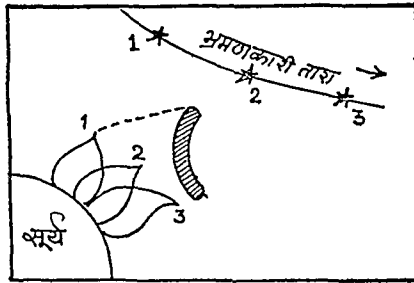
चित्र·1·23 सूर्य से निष्कासित ज्वार

सिगार के आकार का गैसीय पिण्ड सूर्य की परिक्रमा करता हुआ ठण्डा होकर अन्त में गोलाकार खण्डों में विभाजित हो गया। इस प्रकार नौ ग्रहों का निर्माण हुआ जो ग्रह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करने लगे। सूर्य के निकट आने पर सूर्य के आकर्षण बल से इनकी सतह पर ठीक उसी प्रकार ज्वार पैदा हुए जैसे आदि सूर्य में हुए थे और ग्रहों की सतह से विच्छेदित ज्वारीय पदार्थों से उपग्रहों का निर्माण हुआ। ग्रहो के ज्वारीय पदार्थो के घनीभूत अश इतने सूक्ष्म होने लगे कि वह अपनी निर्बल केन्द्रीय आकर्षण वल के द्वारा संगठित न रह सके और उपग्रहों का निर्माण समाप्त हो गया। इस प्रकार सूर्य के ग्रह और उपग्रह सहित पूरे परिवार की सृष्टि ज्वारीय परिकल्पना के आधार पर हुई।

जेफ्रेज (Jeffreys) ने ज्वारीय परिकल्पना में कुछ संशोधन प्रस्तुत किये। भ्रमणशील तारा सूर्य से जब टकराते सूर्य का कुछ अंश टूटकर अंतरिक्ष में बिखर गया, किन्तु गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से निष्कासित यह पदार्थ ग्रह पिन्डों में परिणित हो गया।

इस परिकल्पना के पक्ष में तथ्य—यदि सभी ग्रहों को क्रमवार एक सीधी रेखा में रख दिया जाय तो सिगार या गिल्ली के आकार की आकृति बन जायेगी। सिगार के मध्य में बृहस्पति तथा शनि विशालकाय ग्रह स्थित हैं तथा दोनों ओर अन्य ग्रह छोटे होते जाते हैं। (चित्र 13)। प्लूटो की खोज होने से कि यह सबसे छोटा ग्रह है, जीन्स के मत को और अधिक बल मिला। इन सभी ग्रहों का निर्माण एक ही प्रकार के शैलों से हुआ है।

ये ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं और ग्रह सूर्य से ही प्रकाश एवं ताप प्राप्त करते हैं व सूर्य की गुरुत्वाकर्षण के कारण अपने अक्षों पर झुके हुए हैं।
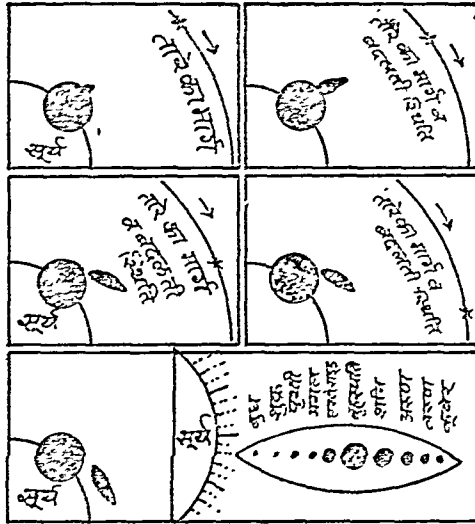
चित्र 1·24 सूर्य से निष्कासित ज्वार व सौर परिवार का जन्म

परिकल्पना के विपरीत तथ्य यह हैं कि मंगल ग्रह सौरमण्डल में सिगार के आकार के क्रम में एक अपवाद है क्योंकि इसका आकार वर्तमान आकार से बड़ा होना चाहिये था। यह स्पष्ट नहीं है कि भ्रमणकारी तारा सूर्य के निकट क्यों कर आया। तारे आकाश में अरबों वर्षों के जीवन काल में अपने स्थान को नहीं छोड़ते। यह भी सिद्ध नहीं होता कि ग्रहों में घूर्णन कैसे उत्पन्न हुआ व ग्रहों की दीर्घवृत्ताकार कक्षाओं में भ्रमण करने के कारण स्पष्ट नहीं है। ज्वारीय परिकल्पना सौरमण्डल के अत्यधिक फैलाव को प्रमाणित नहीं करती। इस परिकल्पना में ग्रहों के सूर्य से अधिक कोणीय संवेग के बारे में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। भ्रमणकारी तारा अंतरिक्ष में विलीन होकर पुनः सूर्य के निकट क्यों नहीं आया ? सूर्य के आकर्षण के कारण उस तारे में ज्वार उत्पन्न क्यों नहीं हुए ? इन सभी प्रश्नों के लिए यह परिकल्पना मौन है तथापि यह परिकल्पना अन्य पूर्व मतों की तुलना में अधिक तर्क संगत है।

(4) रसल एवं लिटिलटन की युग्म-तारा परिकल्पना

प्रोफेसर रसल ने सौरमण्डल के ग्रहों के कोणीय संवेग पर युग्म-तारा परिकल्पना का प्रतिपादन किया। लिटिलटन ने इस परिकल्पना में संशोधन किया। आकाश गंगा में विद्यमान अनेक युग्मतारे इस परिकल्पना की पुष्टि करते हैं। सूर्य का निकटवर्ती तारा लगभग 283 करोड़ किमी. दूरी पर स्थित था जितना कि अरुण सूर्य से दूर है। कालान्तर में एक तीसरा

वृहत्ताकार तारा परिभ्रमण में सूर्य के निकट आया जो सूर्य से अनुमानतः 30 या 40 लाख किमी. दूर रहा होगा। उसकी आकर्षण शक्ति के कारण सूर्य के साथी तारे की सतह से पदार्थों की बड़ी मात्रा लम्बे तन्तु के रूप में पृथक हो गई जो सूर्य से दूरी होने के कारण आगन्तुक तारे के आकर्षण से मुक्त रहा। सूर्य का साथी तारा पदार्थ की बड़ी मात्रा को छोड़कर तीसरे तारे के साथ ही अंतरिक्ष में विलीन हो गया। इसी निसृत पदार्थ से ग्रहों का निर्माण हुआ। नवनिर्मित ग्रह एक दूसरे के निकट से परिक्रमा करने लगे तथा पारस्परिक आकर्षण के कारण इन ग्रहों में से पदार्थ पृथक हुआ जिससे उपग्रहों का निर्माण हुआ।
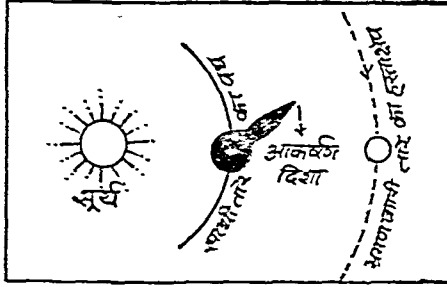
चित्र-1·25 युग्म तारा परिकल्पना

रासगन ने लाप्लेस की नीहारिका परिकल्पना तथा जीन्स की ज्वारीय परिकल्पना के मूलभूत तथ्यों के आधार पर विखण्डन परिकल्पना का प्रतिपादन किया। इस परिभ्रमण एवं ज्वारीय परिकल्पना परिभ्रमण तथा ज्वार दोनों ही तथ्य महत्वपूर्ण हैं। कोणीय संवेग की अविनाशता के सिद्धान्त के अनुसार सिकुड़ते हुए तारे की परिभ्रमण गति बढ़ती जाती है। जब परिभ्रमण गति अत्यधिक तीव्र हो गई तो वह विस्फोट की अवस्था में आ गया। विखण्डन की अवस्था में ही एक भीमकाय तीसरा तारा सूर्य के साथी तारे के समीप से गुजरा और आकर्षण शक्ति प्रभाव में विखण्डित अस्थायी तारे से ज्वारीय पदार्थ निकला जो सूर्य के आकर्षण क्षेत्र में आ गया क्योंकि इतने समय में भ्रमणकारी तीसरा तारा सूर्य से दूर जा चुका था। निर्माणावस्था में ग्रह तरलावस्था में रहे होंगे जिसके कारण सिकुड़ते हुए ग्रहों की तीव्र परिभ्रमण गति के फलस्वरूप उपग्रहों का निर्माण हुआ।
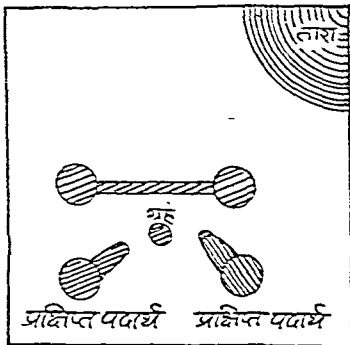
चित्र 1·26 रॉसगन की परिकल्पना

इस परिकल्पना में प्रारम्भिक युग्म तारे की परिभ्रमण गति को स्पष्ट नहीं किया गया है। रासगन के अनुसार सूर्य की गति के आधार पर किसी अन्य तारे का निकट आना भी सम्भव प्रतीत नहीं होता। आकाश में युग्म तारे एक दूसरे से इतनी दूरी पर स्थित हैं कि वे कदाचित ही अपने जीवन काल में एक दूसरे के निकट नहीं आ पायेंगे। सूर्य से निकटतम तारा 'अल्फा सेन्चुरी' सूर्य से 4.3 प्रकाश वर्ष दूर है। इस तारे की गति के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि यह अपने जीवनकाल में सूर्य के निकट कभी नहीं आ पायेगा। तारों के मध्य की दूरी को देखते हुए यह एक अकल्पनातीत विरल घटना होगी कि एक पड़ोसी तारा दूसरे के समीप आ जाय।

इस परिकल्पना से यह स्पष्ट नहीं होता कि ग्रहों के निर्माण के पश्चात् तारे का अवशेष शून्य में किस प्रकार लुप्त हो गया। इसी भाँति नवनिर्मित ग्रह विखंडित तारे के गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से किस प्रकार मुक्त होकर सूर्य की परिक्रमा करने लगे।

प्रमुख गणितज्ञ डॉ. ए. सी. बनर्जी को आकाश में 'डेल्टा सेफी' तारे को देखकर सीफीड परिकल्पना प्रस्तुत करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। अन्तरिक्ष में कुछ ऐसे तारे हैं जो समय-समय पर क्रमबद्ध रूप से सिकुड़ते तथा फैलते हैं। तारे की इस दशा को स्पन्दावस्था कहते हैं तथा ऐसे तारे को 'सीफीड चर' कहते हैं। स्पन्दावस्था में तारे में क्रमानुसार नियमित समय के अन्तराल में प्रकाश तेज और मन्द होता रहता है। डेल्टा सेफी भी ऐसा तारा है जोकि स्पन्दावस्था में विद्यमान है।

बनर्जी ने कल्पना की कि अतीत में एक तारा स्पन्दावस्था में विद्यमान था। एक अन्य तारे के समीप आने से पूर्व स्थित तारे की स्पन्दावस्था और भी तीव्र हो गई। अत्यधिक स्पन्दन से उसमें अस्थिरता उत्पन्न हुई और आगन्तुक तारे के आकर्षण से सीफीड तारे से पदार्थ का ज्वार उठा। ज्वारीय प्रभाव से स्पन्दित तारे से भारी मात्रा में पदार्थ छिटक कर दूर फैल गया। तारे की नाभि सूर्य के रूप में शेष रह गई। कालान्तर में सूर्य
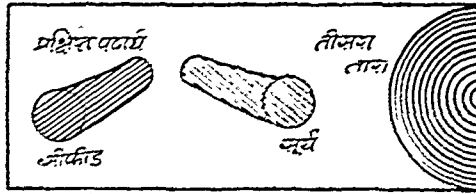
चित्र 1·27 सीफीड परिकल्पना

से निष्कासित पदार्थ का 2/5 भाग सूर्य के आकर्षण में आ गया। इस पदार्थ से ग्रहों का निर्माण हुआ। इस प्रकार सौरमण्डल को जन्म देकर आगन्तुक तारा तथा सीफीड दोनों ही अन्तरिक्ष में विलीन हो गये। इस परिकल्पना में दो तारों की भिड़न्त की सम्भावना भी व्यक्त की गई है किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया कि आगन्तुक तारा सीफीड के निकट क्यों कर आया।

चित्र 1·28 क्राब नीहारिका

हायल तथा लिटिलटन ने सन् 1945 में नवतारा परिकल्पना का प्रतिपादन किया। अन्तरिक्ष में ऐसे तारे जो अपनी मौलिक चमक से अकस्मात् हजारों गुना अधिक चमकने लगते हैं नोवा कहलाते हैं। नोवा से भी हजारों गुना चमकने वाले तारों को अधिनव तारा या अधिनोवा नाम से सम्बोधित करते हैं। हायल के अनुसार अन्तरिक्ष में प्रतिवर्ष 15 से 20 नवतारे और शताब्दियों में दो या तीन अधिनव तारे दिखाई देते हैं। कुछ नीहारिकाओं का निर्माण भी अधिनव तारे की भाँति ही हुआ।

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि ग्रहों का निर्माण 98 प्रतिशत भारी तत्त्वों जैसे—आक्सीजन, सिलिका, एलुमिनियम, लोहा, कैल्शियम आदि से हुआ है। तारे हाइड्रोजन

तथा हीलियम आदि हल्की गैसों से बने हैं। हाइड्रोजन के जलने से भारी गैस हीलियम का निर्माण होता है तथा साथ ही तारे का ताप भी बढ़ता जाता है। हाइड्रोजन के अत्यधिक उच्च ताप पर जलने से भारी पदार्थों का निर्माण होता है। जब तारे में हाइड्रोजन की कमी आ जाती है तो वह सिकुड़कर उच्च ताप विकसित करता है। सिकुड़ने से अपकेन्द्रीय बल में तीव्रता आ जाती है जिसके फलस्वरूप तारा पहले हल्के और बाद में भारी पदार्थ निष्कासित करना प्रारम्भ कर देता है। अत्यधिक दाब के कारण तारा अस्थिर होकर विस्फोटक स्थिति में आ जाता है तथा पदार्थ को और भी तीव्रता के साथ बाहर फेंकने लगता है।

हायल के अनुसार पूर्व में सूर्य का साथी एक तारा नवतारे की अन्तिम अवस्था में स्थित था। दोनों ही युग्म तारों के रूप में विद्यमान थे। इन दोनों के मध्य की दूरी $1\frac{1}{2}$ अरब किमी. थी। नवतारा अपनी आणविक प्रक्रिया के कारण अकस्मात् ही विस्फोटित हुआ। विस्फोट से गैसीय पदार्थ की विशाल मात्रा निष्कासित हुई। लिटिलटन के अनुसार पदार्थ चतुर्दिक निष्कासित हुआ किन्तु हायल पदार्थ का निष्कासन अपेक्षाकृत एक ओर अधिक मानते हैं। उन्होंने क्राब नीहारिका का उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि की है। हायल के अनुसार निष्कासन का वेग इतना भयंकर होता है कि निष्कासन के विपरीत दिशा में प्रतिक्षेप वेग उत्पन्न हो जाता है। प्रतिक्षेप वेग उत्पन्न होने के समय ही एक अन्य तीसरा तारा नवतारा के समीप आया। अतः नवतारा के प्रतिक्षेप बल और आगन्तुक तारा के आकर्षण से नवतारा अन्तरिक्ष में विलीन हो गया।
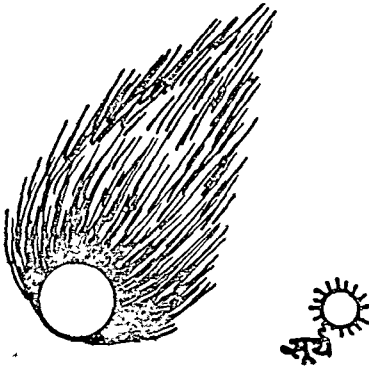
चित्र 1·29 नवतारा

चित्र 1·30 तीव्र गति से घूर्णन करते हुए ग्रह का खण्डित होना तथा उपग्रहों की उत्पत्ति
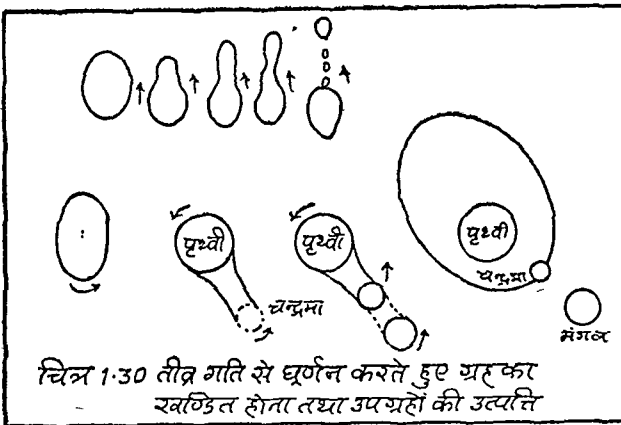
लिटिलटन के अनुसार नवतारा से निष्कासित पदार्थ का एक प्रतिशत भाग सौरमण्डल के सम्मिलित भार का 50 गुना अधिक था। अतः सूर्य उस पदार्थ के एक प्रतिशत से भी

कम भाग को आकर्षित कर सका। आकर्षित पदार्थ सूर्य की परिक्रमा करने लगा। इसी तश्तरीनुमा पदार्थ के आकार में ग्रहों के निर्माण की कल्पना की गई है। गैसीय पदार्थ के संघनन से ग्रहों और उपग्रहों का निर्माण हुआ। साथ ही साथ ग्रहों की परिभ्रमण गति इतनी तीव्र हो गई कि वह दो भागों में विभक्त हो गए। दोनों भागों के आकर्षण के कारण मध्य भाग में पदार्थ के लघु पिण्डों की एक लड़ी सी वन गई। इस लड़ी के अन्तिम छोरों पर अपेक्षाकृत छोटे पिण्ड रहे जो उपग्रह का रूप ले सके तथा मध्य के कुछ वड़े पिण्ड स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व प्राप्त कर सके। लिटिलटन के अनुसार वृहस्पति और शनि एक वृहत् पिण्ड के दो विभाजित ग्रह हैं। वुध, शुक्र, मंगल और पृथ्वी को भी विशालकाय पिण्ड के विभाजन के फलस्वरूप निर्मित माना है।

गुण

अन्तरिक्ष में वहुत से नवतारा दृष्टिगोचर होते हैं। यह सिद्ध हो चुका है कि ग्रह भारी तत्वों और तारा हल्के तत्वों से निर्मित हुए हैं। नवतारा की अत्यधिक परिभ्रमण गति से ग्रहों के सम्मिलित कोणीय सवेग की वात भी सिद्ध होती है।

किन्तु इस परिकल्पना में ग्रहों एवं उपग्रहों की उत्पत्ति उनकी परिभ्रमण गति को भी स्पष्ट नहीं किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Gamow, G. (1957), The Creation of the Universe, A Mentor Book.
2. Gamow, G. (1959), The Biography of the Earth—It's Past, Present and Future (The Viking Press).
3. Hargreaves, F. J. (1948), The Size of the Universe, The Penguin Books, London).
4. Glasstone, S. (1965). Sourcebook on the Space Sciences, (Von Nostrand Co., Princeton, N. J.)
5. Hoyle, F. (1955), The Fronteers of Astronomy, (Oxford Press).
6. Jeans, J. (1960), The Universe around us, stars in their courses, (Cambridge University Press).
7. Kuiper, G. P. (1954), The Solax System, The Earth as a Planet, Chicago.
8. Levin, B. (1951), The Origin of the Earth and Planets, Moscow.
9. Lyttleton, R. A. (1956), The Modern Universe, Oxford University Press.
10. Mehlin, T. G. (1959), Astronomy (John Wiley & Sons, New York).
11. Schimidt, O. (1958), The Theory of Earth's Origin, Moscow.
12. Urey, H. C., (1952), The Planets, Yale University Press.
13. Watson, F. G. (1945), Between the Planets, Harward Book on Astronomy.
14. Whipple, F. L. (1968), Earth, Moon and Planets, 3rd ed., (Harward University Press, Cambridge).

2

पृथ्वी के ग्रहीय सम्बन्ध
[Planetary Relations of the Earth]

पृथ्वी सौरमंडल में एक ग्रह है। सूर्य से ही पृथ्वी की उत्पत्ति मानी जाती है, अतएव पृथ्वी व सूर्य में अटूट सम्बन्ध हैं। ग्रह होने के नाते पृथ्वी की सभी गतियां एवं परिस्थितियां सूर्य द्वारा प्रभावित और निर्धारित होती हैं।

गति और परिवर्तन प्रकृति की दो मुख्य विशेषताएं हैं। दिन-रात, ऋतु परिवर्तन, सूर्य का उदय अस्त आदि क्रम अनन्त काल से चले आ रहे हैं। खगोल शास्त्र के विकास से पूर्व दार्शनिक पृथ्वी को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानकर कल्पना करते थे कि सभी आकाशीय पिण्ड उसके चारों ओर भ्रमण करते हैं। मध्य युग में खगोलशास्त्री कापरनिकस व कैपलर और इटली के गैलीलियो ने पृथ्वी की गति के विषय में नये तथ्य उजागर किये। कापरनिकस के अनुसार पृथ्वी अपने अक्ष पर पश्चिम से पूरब की ओर घूमती है और पृथ्वी एक ग्रह है, जो सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। इनमें से पहली गति दैनिक परिभ्रमण और दूसरी वार्षिक गति परिक्रमण कहलाती हैं।

पृथ्वी की गति

परिभ्रमण—काल्पनिक ध्रुवीय अक्ष पर पश्चिम से पूरब की ओर पृथ्वी की गति को परिभ्रमण या घूर्णन कहते हैं। पृथ्वी अपने अक्ष पर 24 घंटे में एक पूरा चक्कर लगाती है। भूमध्य रेखा पर परिभ्रमण गति 1690 किमी., 60° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों पर 845 किमी. प्रति घन्टा है यह गति दोनों ध्रुवों पर शून्य हो जाती है। परिभ्रमण की तीव्र गति के कारण पृथ्वी भूमध्य रेखा पर कुछ उभरी हुई है तथा ध्रुवों पर चपटी है। इसका आकार एक गोलाभ की भाँति है और इसीसे पृथ्वी का ध्रुवीय अक्ष सबसे छोटा है।

पृथ्वी के परिभ्रमण के प्रमाण—पहले लोगों की यह धारणा थी कि पृथ्वी स्थिर है तथा सूर्य उसकी प्ररिक्रमा करता है। किन्तु वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है।

सन् 1851 में फ्रान्सीसी वैज्ञानिक फोकाल्ट ने पेरिस की एक ऊंची मीनार से 60 मीटर लम्बी डोरी में एक लोलक द्वारा पृथ्वी का परिभ्रमण सिद्ध किया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है।

टोलमी की पद्धति को 'भूकेन्द्रीय पद्धति' और कापरनिकस की पद्धति को 'सूर्य केन्द्रीय पद्धति' कहते हैं।
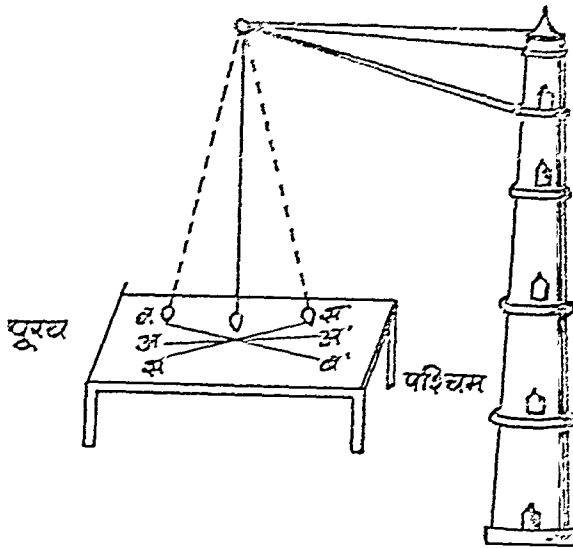
चित्र 2·1 फोकाल्ट का लोलक प्रयोग

अक्ष वह काल्पनिक रेखा है जो पृथ्वी के मध्य में दोनों ध्रुवों को मिलाती हुई मानी गई है। इस अक्ष पर पृथ्वी लट्टू की भाँति घूमती है। भू-अक्ष अपने कक्ष-तल पर $66\frac{1}{2}°$ का कोण बनाता है। 85432

परिभ्रमण की वास्तविक अवधि 23 घन्टा, 26 मिनट, 4.09 सेकण्ड है जिसे साइडीरियल दिन कहते हैं। मध्य देशान्तर पर सूर्य के दो क्रमिक अभिवहन के बीच के समय का औसत अन्तर 24 घन्टा होता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने सन् 1679 में एक ऊंची मीनार से पत्थर को सीधा नीचे गिराकर प्रयोग किया कि पत्थर मीनार से नीचे पृथ्वी की ओर लम्बवत् न गिरकर कुछ दाईं ओर गिरता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है। इस प्रयोग की व्याख्या करते हुए न्यूटन ने बतलाया कि जो बिन्दु पृथ्वी के अक्ष से जितनी ऊंचाई पर होगा पृथ्वी के साथ घूमते हुए उतना ही बड़ा वृत्त बनाएगा। मीनार का शीर्ष तली से अधिक ऊंचाई पर है इसलिए तली की अपेक्षा मीनार का शीर्ष बिन्दु अधिक तीव्रता से घूमता है। नीचे गिरते पत्थर की गति मीनार के शीर्ष बिन्दु के घूमने की गति के बराबर होगी। किन्तु तली के घूमने की गति अपेक्षाकृत कम होने के कारण पत्थर के गिरने का स्थान ठीक लम्बवत न होकर कुछ पूर्व की ओर हटकर होगा।

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति ही वस्तुओं के भार का कारण है। भूमध्यरेखा पर अपेक्षाकृत शेष भाग से अधिक परिधि होने के कारण पृथ्वी की परिभ्रमण गति भी अधिक है अतः भूमध्य रेखा पर अपकेन्द्रीय बल का प्रभाव सर्वाधिक होता है जब कि ध्रुवों पर परिभ्रमण गति शून्य होने से अपकेन्द्री बल भी न्यूनतम होता है अतः भूमध्य रेखा पर वस्तुओं का भार कम हो जाता है। यह प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि ध्रुवों की अपेक्षा भूमध्य रेखा पर उसी वस्तु का भार 1/289 घट जाता है क्योंकि

भूमध्य रेखा पर अपेक्षाकृत भार कम हो जाता है, यह सिद्ध करता है कि पृथ्वी परिभ्रमण-शील है।

चित्र 2.2 न्यूटन का प्रयोग
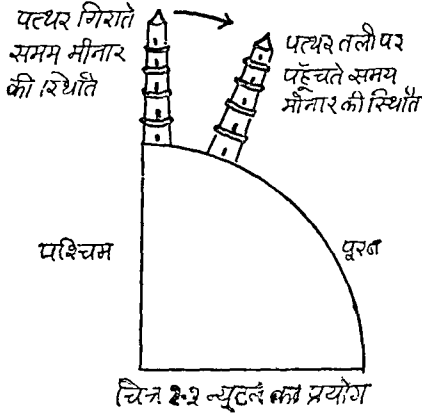
पृथ्वी का आकार एक गोलाभ के समान है जो भूमध्यरेखा पर उभरी और ध्रुवों पर चपटी है। घूमते हुए चाकू पर गीली मिट्टी का ऊपरी भाग चपटा हो जाता है और बीच का भाग उभर आता है। पृथ्वी के आकार से भी इसका परिभ्रमणशील होना सिद्ध होता है।

प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि यदि दूर स्थित किसी लक्ष्य पर बन्दूक से सीधा निशाना लगाया जाय तो गोली लक्ष्य से हटकर कुछ दाँई ओर लगेगी। इससे भी यह सिद्ध होता है कि जितने समय में गोली लक्ष्य तक पहुंचती है उतने समय में लक्ष्य बिन्दु पूर्व की ओर कुछ आगे बढ़ जाता है। इस प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर परिभ्रमण कर रही है।

फ्रांसीसी ज्योतिषी रिचर ने 17वीं शताब्दी में भूमध्य रेखा के समीप गायना में लोलक घड़ी पर प्रयोग किया। वह अपने साथ पेरिस से बनी घड़ी ले गया था। उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि गायना मे जाकर घड़ी मन्द हो गई। उसने प्रयोग के रूप में घड़ी का लोलक छोटा कर दिया जिससे घड़ी की गति सही हो गई। किन्तु जब रिचर वापस पेरिस पहुंचे तो घड़ी फिर तेज चलने लगी। अतः रिचर ने लोलक को पुनः उतना ही लम्बा कर दिया जिससे वह ठीक समय देने लगी।

इस प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि घड़ी में स्वंय कुछ खराबी न होकर उसके लोलक पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का प्रभाव पड़ रहा था। भूमध्य रेखा पर परिभ्रमण की गति तीव्र होने से आकर्षण शक्ति कम हो जाती है, जिससे वहाँ लोलकवाली घड़ी की गति मन्द पड़ जाती है। जबकि ध्रुवों पर आकर्षण शक्ति अधिक होने से वही घड़ी तेज चलने लगती है। इस प्रयोग के फलस्वरूप रिचर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि विभिन्न स्थानों पर लोलक वाली घड़ी की गति में अन्तर पृथ्वी के परिभ्रमण से पैदा होता है।

परिभ्रमण के प्रभाव—पृथ्वी के परिभ्रमण के निम्न प्रभाव उल्लेखनीय हैं—

(1) दिन रात का होना—पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण ही दिन-रात होते हैं। पृथ्वी की गोल आकृति के कारण इसका एक भाग सूर्य के सामने और दूसरा आधा भाग सूर्य

विमुख रहता है। सूर्य के सामने वाले भाग में प्रकाश के कारण दिन और प्रकाश रहित विपरीत भाग में रात होती है। पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण ही इसका प्रत्येक भाग बारी-बारी से सूर्य के सामने आता रहता है और विपरीत दिशा में भी जाता रहता है। अतः पृथ्वी के प्रत्येक भाग में बारी-बारी से दिन और रात हुआ करते हैं। दिन और रात को पृथक करने वाली रेखा को प्रकाश-चक्र कहते हैं। प्रत्येक स्थान प्रकाश-चक्र पर दो बार आता है। मध्यकालीन युग में लोगों की यह धारणा थी कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है जिससे दिन और रात होते हैं। परन्तु सूय पृथ्वी से आयतन में 13,00,000 गुना बड़ा है और आकर्षण शक्ति के नियम के अनुसार सूर्य जैसा विशाल आकाशीय पिण्ड पृथ्वी जैसे छोटे पिण्ड की परिक्रमा नहीं कर सकता। अतः यह निर्विवाद तथ्य है कि पृथ्वी के परिभ्रमण के परिणामस्वरूप ही दिन और रात होते हैं।

चित्र 2·3 दिन और रात का होना
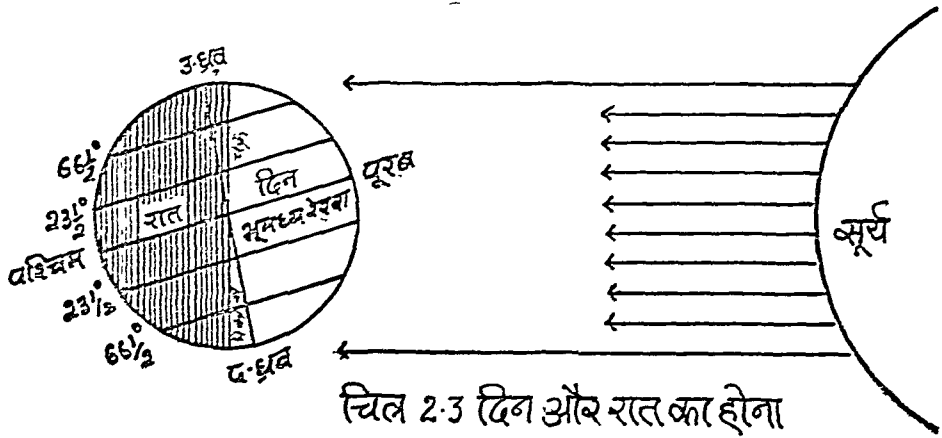
(2) **दिन के विभिन्न समयों का आविर्भाव**—पृथ्वी की गोल आकृति और परिभ्रमण के कारण ही क्रमशः प्रातः मध्याह्न व सायंकाल होते हैं। रात्रि के पश्चात् पृथ्वी के उस भाग में जहाँ सूर्य दिखाई देना आरम्भ होता है प्रभात या सुबह होती है। शनैः-शनैः सूर्य ऊपर चढ़ता जाता है और जब ठीक सिर पर या लम्बवत होता है तो मध्याह्न होती है तथा सूर्य के अस्त काल को संध्या होती है। मध्याह्न के समय ठीक पृथ्वी के पृष्ठ भाग में अर्ध रात्रि होती है।

(3) **काल विभाजन एवं देशान्तर रेखाओं का निर्धारण**—पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण ही भूतल के विभिन्न क्षेत्रों में समय का अन्तर होता है तथा इससे देशान्तर रेखाओं का निर्धारण होता है। घूर्णन के फलस्वरूप भूतल पर कुछ विशिष्ट बिन्दु और रेखाओं की कल्पना का आधार मिलता है। पृथ्वी के दोनों ध्रुवों को मिलाने वाली रेखाओं को देशान्तर रेखाएँ कहते हैं। इस प्रकार 360 देशान्तर रेखाएं मानी गई हैं। क्योंकि सूर्य पूर्व से उदय होकर पश्चिम की ओर जाता है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय तिथि रेखा से पूर्व की ओर के स्थानों का समय पश्चिम के स्थानों से सदा आगे रहता है। इन देशान्तरों के अनुसार स्थान विशेष पर भिन्न-भिन्न समय होता है। प्रत्येक देशान्तर की दूरी पर स्थानीय समय में 4 मिनट का अन्तर पड़ जाता है, क्योंकि पृथ्वी की 360° देशान्तर रेखाओं को घूमने में 24 घंन्टे लगते हैं। अतः देशान्तरीय स्थिति से स्थानीय समय व स्थानीय समय से देशान्तर ज्ञात किया जा सकता है।

(4) **किसी स्थान की स्थिति का ज्ञान**—पृथ्वी के परिभ्रमण के फलस्वरूप ही देशान्तर रेखाओं की कल्पना की गई। दोनों ध्रुवों से बराबर दूरी पर पृथ्वी के मध्य से गुजरने वाले एक वृत की कल्पना की गई है जिसे 'भूमध्यरेखा' की संज्ञा दी गई हैं। भूमध्य-रेखा के समानान्तर उत्तर तथा दक्षिण में 90° के वृत कल्पित किये गये हैं, जिन्हें अंक्षांश कहते हैं। अक्षांश तथा देशान्तर रेखाएँ एक दूसरे को काटती हुई हैं। गोले पर अक्षांश तथा देशान्तरों की सहायता से विश्व के किसी भी स्थान की सही स्थिति ज्ञात की जा सकती है।

(5) **आकाश में ग्रहों का पूर्व से पश्चिम को परिभ्रमण**—पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर अपने अक्ष पर परिभ्रमण कर रही है, इसीसे हमें सभी ग्रह पृथ्वी की गति के विपरीत पूर्व से पश्चिम की ओर चलते दिखाई देते हैं। जिस प्रकार रेल या बस में यात्रा करते समय वृक्ष, मकान तथा अन्य वस्तुएँ विपरीत दिशा में दौड़ती दिखाई देती हैं ठीक उसी तरह रात्रि में आकाशीय नक्षत्र भी पृथ्वी की गति के विपरीत चलते दिखाई देते हैं।

(6) **प्रचलित पवनों एवं धाराओं का दिशा परिवर्तन**—यह सिद्ध किया जा चुका है कि पवन एवं समुद्री धाराएं उत्तरी गोलार्द्ध में अपने से दांई ओर दक्षिणी गोलार्द्ध में बांई ओर मुड़ जाती हैं। फैरल ने एक प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी पर पवन एवं समुद्री धाराओं का मुड़ना पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण ही है। इस नियम को फैरल के नियम क नाम से जाना जाता है। अगर हम पश्चिम से पूर्व की ओर घूमते हुए गोले पर उत्तर से दक्षिण की ओर पेंसिल चलावें तो पेंसिल का शीर्ष सीधा न होकर कुछ दाहिनी ओर घूम जायेगा। ठीक इसी तरह पृथ्वी के पश्चिम से पूर्व की ओर परिभ्रमण से पवनों और समुद्री धाराओं का प्रवाह भी उत्तरी गोलार्द्ध में दाहिनी और दक्षिणी गोलार्द्ध में बांई ओर मुड़ जाता है।

(7) **भूमध्यरेखा पर वायुभार कम हो जाना**—भूमध्यरेखा पर पृथ्वी की परिभ्रमण गति सर्वाधिक होने के कारण पृथ्वी वायु को ऊपर फेंक देती है, इसलिए यहां वायु-भार कम रहता है जबकि ध्रुवों पर परिभ्रमण गति अति मंद होने के कारण वायु-भार अधिक रहता है।

(8) **पृथ्वी की आकृति पर प्रभाव**—पृथ्वी की वर्तमान आकृति परिभ्रमण के फलस्वरूप ही है। भूमध्य रेखा पर परिभ्रमण गति 1690 किलोमीटर प्रति घण्टा है जो उत्तर और दक्षिण में घटती हुई ध्रुवों पर शून्य रह जाती है जिसके फलस्वरूप भूमध्य रेखा पर पृथ्वी का भाग बाहर की ओर निकला हुआ है तथा ध्रुवों पर चपटा है।

परिक्रमण

पृथ्वी अपने काल्पनिक अण्डाकार मार्ग पर जिसे 'कक्ष' या ग्रहपथ कहते हैं, सूर्य की 365 दिन और 6 घण्टे में पूरी परिक्रमा कर लेती है। पृथ्वी की इस वार्षिक गति को परिक्रमण कहते हैं। सुविधा के लिए वर्ष को 365 दिन का मान लिया गया है। परन्तु प्रति चार वर्ष के बाद छः घण्टे प्रतिवर्ष के हिसाब से एक दिन ($6 \times 4 = 24$ घण्टे) और जोड़ देते हैं। प्रति चौथा वर्ष 366 दिन का वर्ष होता है। इस वर्ष को अंग्रेजी में लीप ईयर कहते हैं। इसीसे प्रति चौथे वर्ष में फरवरी का महीना 29 दिन का होता है।

सूर्य की स्थिति पृथ्वी के दीर्घवृत्तीय मार्ग के मध्य में न होकर कुछ उत्तर की ओर है। इसी से ग्रीष्म ऋतु में पृथ्वी सूर्य से 152,145,000 किलोमीटर तथा शीत ऋतु में

147,315,000 किलोमीटर दूर रहती है। पहली अवस्था को उत्तरायण और दूसरी अवस्था को दक्षिणायन कहते हैं। पृथ्वी अपने कक्ष पर एक ही गति से नहीं घूमती। गर्मियों की अपेक्षा शीत ऋतु में इसकी गति कुछ तीव्र हो जाती है। पृथ्वी का ध्रुवीय अक्ष उसके कक्ष के अण्डाकार तल पर $66\frac{1}{2}^\circ$ का कोण बनाता है तथा पृथ्वी इसी अवस्था में सूर्य की निरन्तर परिक्रमा करती है।
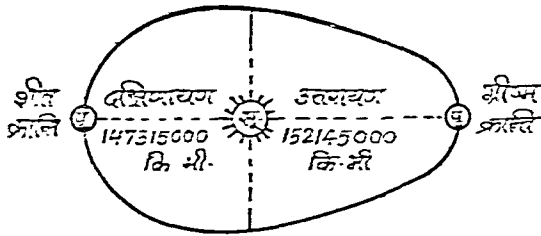
चित्र 2.4 पृथ्वी की अवस्थाएँ

पृथ्वी की वार्षिक गति या परिक्रमण के प्रभाव—पृथ्वी के अक्ष के झुकाव तथा निरन्तर परिक्रमण के निम्न प्रभाव होते हैं—

(1) दिन-रात का छोटा-बड़ा होना—पृथ्वी अपने कक्ष पर $66\frac{1}{2}^\circ$ झुकी है अतः दिन व रात की अवधि में अन्तर उत्पन्न होता है। यदि पृथ्वी अपने अक्ष पर झुकी न होती तो प्रत्येक स्थान पर दिन और रात समान अवधि के होते। अगर पृथ्वी परिक्रमण न करती और सूर्य की स्थिति उत्तरी गोलार्द्ध में होती तो उत्तरी गोलार्द्ध में सदा दिन बड़े और रातें छोटी और दक्षिणी गोलार्द्ध में रातें बड़ी और दिन छोटे होते, परन्तु ग्रीष्म ऋतु में दिन बड़े और शीत ऋतु में रात बड़ी होती हैं। परिक्रमण की अवधि में जब उत्तरी गोलार्द्ध सूर्य के सामने होता है तो दिन बड़े और रातें छोटी होती हैं तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दिन छोटे और रातें बड़ी होती हैं। परन्तु जब दक्षिणी गोलार्द्ध सूर्य के सामने होता है तो इसके विपरीत स्थिति होती है। इसके अतिरिक्त भी भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर सूर्य की किरणें ज्यों-ज्यों तिरछी होती जाती हैं, दिन-रात की अवधि में अन्तर आता जाता है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में 187 दिन रहता है, इसलिए उत्तरी ध्रुववृत्त से उत्तरी ध्रुव तक के भाग में सूर्य की किरणें 24 घन्टे चमकती रहती हैं, अर्थात् वहाँ ग्रीष्म ऋतु में रात्रि नहीं होती और दिन लगभग छः महीने का होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु में दिन बड़े और रातें छोटी (21 जून की स्थिति) होती हैं। शीत ऋतु में जब सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में होता है तो दक्षिणी ध्रुव पर सूर्य की तिरछी किरणें 178 दिन तक निरन्तर प्रकाश देती रहती हैं. अर्थात् दक्षिणी ध्रुव पर दिन की अवधि 178 दिन होती है जबकि इसी अवधि में उत्तरी ध्रुव पर रात होती है।

शीत ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध में रात बड़ी और दिन छोटे (22 दिसम्बर की स्थिति) होते हैं और दक्षिणी गोलार्द्ध में इसके विपरीत दिन बड़े और रातें छोटी होती हैं। उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में भूमध्य रेखा से ज्यों-ज्यों उत्तर और दक्षिण की ओर चलें तो दिन और रात की अवधि में अन्तर आता जाता है यह पृथ्वी की वार्षिक गति या परिक्रमण के कारण है। यदि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा न करती और सूर्य की स्थिति भूमध्यरेखा पर रहती तो समय के साथ दोनों गोलार्द्धों में दिन की अवधि में अन्तर नहीं आता परन्तु

परिक्रमण के कारण पृथ्वी की ऐसी सापेक्षिक स्थितियाँ आती हैं कि कभी तो उत्तरी ध्रुव और कभी दक्षिणी ध्रुव सूर्य के समीप होता है जिसके फलस्वरूप समय के साथ दोनों गोलार्द्धों में दिन की अवधि में अन्तर आता रहता है।

निम्न सारणी में सूर्य की उत्तरायन अवस्था (उत्तरी गोलार्द्ध में स्थिति) में अक्षांश व दिन की औसत अवधि प्रदर्शित की गई हैं :

सूर्य की उत्तरायन स्थिति में अक्षांश व दिन की अवधि

अक्षांश	दिन	घंटा	मिनट
90°	187	—	—
80°	134	—	—
70°	65	—	—
$66\frac{1}{2}$°	—	24	—
60°	—	18	30
50°	—	16	9
40°	—	14	51
30°	—	13	56
20°	—	13	13
10°	—	12	35
0°	—	12	0

पृथ्वी की दैनिक गति के कारण दिन और रात होते हैं परन्तु वार्षिक गति परिक्रमण के कारण ही दिन की अवधि में अन्तर पैदा होता है। सारांश में दिन की अवधि में निम्न कारणों से अन्तर आता है :

पृथ्वी के अक्ष का उसके कक्ष तल पर सदा $66\frac{1}{2}$° झुका रहना पृथ्वी का परिक्रमण, पृथ्वी की स्थिति उसका परिक्रमण पथ के मध्य में न होकर कुछ उत्तर की ओर होना।

(2) **ऋतु परिवर्तन**—पृथ्वी के परिक्रमण के कारण होते हैं। ऋतु परिवर्तन जब सूर्य की उत्तरायण अवस्था होती है अर्थात् जब वह उत्तरी गोलार्द्ध में चमकता है तो दिन बड़े

और रात छोटी होती हैं तथा सूर्य ताप की प्राप्ति अधिक होती है जिसके परिणामस्वरूप ग्रीष्म ऋतु होती है। परन्तु जब सूर्य दक्षिणायन अवस्था में होता है तो उत्तरी गोलार्द्ध में दिन छोटे और रातें बड़ी होती है। ऐसी दशा में दिन में प्राप्त सूर्यताप का रात्रि की अधिक अवधि में न केवल ह्रास होता है अपितु तापमान और भी नीचे गिर जाता है जिसके कारण शीत ऋतु होती है।
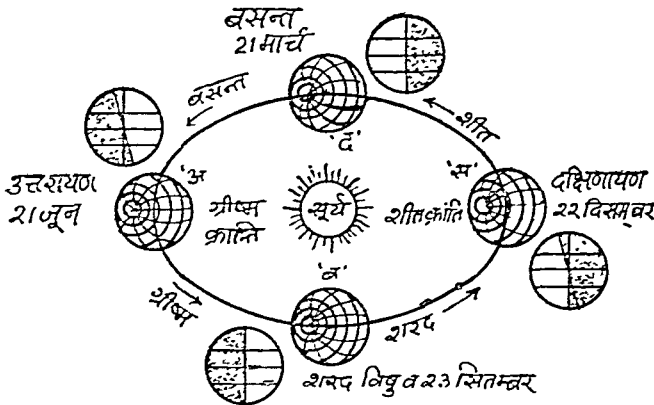
चित्र 2·5 परिक्रमण की अवस्था में पृथ्वी की चार विशिष्ट स्थितियां

21 मार्च और 23 सितम्बर की स्थितियां—इन दोनों दिनों सूर्य भूमध्यरेखा पर लम्बवत् चमकता है। इस समय उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्धों में प्रकाश बराबर रहता है जिससे दिन और रात की अवधि समान रहती है। दिन और रात की समान अवधि के कारण सूर्य ताप की प्राप्ति और विकिरण बराबर रहता है जिसके कारण ऋतु सम होतीं हैं। पृथ्वी की यह दोनों स्थितियाँ विषुव कहलाती है। 21 मार्च की स्थिति को **बसंत विषुव** तथा 23 सितम्बर की स्थिति को पतझड़ या **शरद विषुव** कहते हैं। इस प्रकार 21 मार्च से से 21 जून तक तीन माह की अवधि में उत्तरी गोलार्द्ध में वसन्त ऋतु रहती है। सूर्य उत्तरायण होना प्रारम्भ हो जाता है जिसके कारण दिन बड़े और रातें छोटी होना प्रारम्भ हो जाती हैं। शीत ऋतु के ताप ह्रास की पूर्ति दिन बड़े होने के कारण होने लगती हैं, इसलिए 21 मार्च से 21 जून तक के मौसम में ग्रीष्म जैसी तेजी नहीं आ पाती और ऋतु सम रहती है।

21 जून की स्थिति—21 मार्च के पश्चात् के तीन महीनों की अवधि में पृथ्वी ऐसी स्थिति मे आ जाती है कि उत्तरी गोलार्द्ध में 21 जून को सूर्य $23\frac{1}{2}°$ कर्क रेखा पर लम्बवत् चमकता है। 21 जून की स्थिति को ग्रीष्म संक्रांति कहते हैं क्योंकि इस समय उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है। 21 जून को सबसे बड़ा दिन और सबसे छोटी रात होती हैं तथा दिन की अवधि अधिक होने से सूर्य-ऊर्जा प्राप्ति की चरम सीमा होती है। 21 जून के पश्चात् सूर्य फिर से भूमध्यरेखा की ओर लौटने लगता है तथा तीन महीने की अवधि में 23 सितम्बर को ठीक भूमध्यरेखा पर होता है। इन तीन महीनों में सौर ऊर्जा प्राप्ति की मात्रा विकिरण से अधिक होने के कारण 21 जून से 23 सितम्बर तक उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु रहती है तथा इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध मे शीत ऋतु रहती है।

22 दिसम्बर की स्थिति—23 सितम्बर के पश्चात् परिक्रमण करती हुई पृथ्वी की स्थिति में अन्तर आना प्रारम्भ होता है और सूर्य दक्षिणायन होने लगता है दक्षिणी गोलार्द्ध में दिन बड़े और रातें छोटी होने लगती हैं। इसके विपरीत उत्तरी गोलार्द्ध में दिन छोटे और रातें बड़ी होने लगती हैं फलस्वरूप सूर्य ऊर्जा के ह्रास की मात्रा अधिक होने लगती है। 23 सितम्बर के बाद 3 महीनों की अवधि में सूर्य 22 दिसम्बर को दक्षिणी गोलार्द्ध में ठीक $23\frac{1}{2}°$ मकर रेखा पर चमकता है। 22 दिसम्बर को उत्तरी गोलार्द्ध में सबसे छोटा दिन होता है और रात्रि की अवधि सबसे अधिक होती है, फलस्वरूप उस दिन ह्रास की मात्रा अत्यधिक होती है। उत्तरी गोलार्द्ध में यह शीत ऋतु की अवस्था होती है तथा इस स्थिति को शीत-संक्रान्ति या शीत-सम्पात कहते हैं। 22 दिसम्बर के पश्चात् सूर्य पुनः भूमध्यरेखा की ओर गमन कर देता है और 21 मार्च को भूमध्यरेखा पर ठीक लम्बवत होता है।

उपरोक्त चित्र में परिक्रमण करती हुई पृथ्वी की मासिक स्थिति प्रदर्शित की गई है। 21 जून को पृथ्वी की स्थिति (अ) स्थान पर होती है जब सूर्य $23\frac{1}{2}°$ उत्तरी अक्षांश यानी कर्क रेखा पर ठीक लम्बवत् होता है। 23 सितम्बर को पृथ्वी की स्थिति (ब) स्थान पर होती है जब सूर्य भूमध्यरेखा पर होता है। 22 दिसम्बर को पृथ्वी की स्थिति (स) स्थान पर होती है जब सूर्य मकर रेखा यानी $23\frac{1}{2}°$ दक्षिणी अक्षांश पर लम्बवत् होता है तथा 21 मार्च को पृथ्वी की स्थिति (द) स्थान पर होती है जबकि सूर्य भूमध्यरेखा पर लम्बवत् चमकता है। इस प्रकार तीन-तीन माह के पश्चात् ग्रीष्म, शरद, शीत और वसंत ऋतुओं का आगमन होता रहता है। पृथ्वी निरन्तर परिक्रमण में रहती है और ऋतु क्रम चलता रहता है।

(3) ध्रुवों पर 6 महीने के दिन-रात—21 मार्च से 23 सितम्बर तक सूर्य 6 महीने उत्तरी गोलार्द्ध में होता है जिससे उत्तरी ध्रुव पर 6 महीने तक सूर्य की तिरछी किरणों का प्रकाश बना रहता है, निरन्तर प्रकाश में रहने के कारण उत्तरी ध्रुब पर 6 महीने का दिन होता है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध पर अन्धकार होने से वहां 6 महीने की रात होती है। किन्तु 23 सितम्बर से 21 मार्च तक सूर्य 6 महीने दक्षिणी गोलार्द्ध में बना रहता है जिसके कारण हमारे यहाँ शीत ऋतु में उत्तरी ध्रुव अन्धकार युक्त रहता है जबकि दक्षिणी ध्रुव पर सूर्य निरन्तर 6 महीने तक चमकता रहता है इस प्रकार शीतऋतु में दक्षिणी ध्रुव पर 6 महीने का दिन और उत्तरी ध्रुव पर 6 महीने की रात रहती है जबकि ग्रीष्म ऋतु में इसके विपरीत स्थिति होती है।

(4) अर्द्धरात्रि में सूर्य के दर्शन—21 जून को उत्तरी ध्रुववृत्त यानी $66\frac{1}{2}°$ उत्तरी अक्षांश पर तथा 22 दिसम्बर को दक्षिणी ध्रुव वृत्त यानी $66\frac{1}{2}°$ दक्षिणी अक्षांश पर सूर्य का प्रकाश 24 घण्टे रहता है। इसलिए इस स्थिति को अर्द्धरात्रि सूर्य कहते हैं। नार्वे तथा स्वीडन में अर्द्धरात्रि का सूर्य दिखायी देता है।

ग्रहण

सूर्य स्वयं प्रकाशित एक बड़ा आकाशीय पिण्ड है। चन्द्रमा भी पूर्णिमा के दिन साधारणतः पूरा दिखाई देता है परन्तु वर्ष में कभी-कभी सूर्य अमावस्या के दिन और चन्द्रमा पूर्णिमा की रात्रि को अन्धकार से आंशिक या पूर्णरूप से ढंके दिखाई देते हैं। ऐसी असाधारण स्थिति

को ग्रहण कहते हैं। यदि चन्द्रमा तथा पृथ्वी की कक्षा एक ही तल पर होती तो प्रत्येक अमावस्या व पूर्णिमा को सूर्य और चन्द्र ग्रहण लगा करते। किन्तु चन्द्रमा और पृथ्वी के कक्ष-तल एक दूसरे से 5° का कोण बनाते हैं इसलिए सूर्य, पृथ्वी व चन्द्रमा एक सीधी रेखा की स्थिति में नहीं आ पाते तथा नियमित ग्रहण नहीं लगते। कभी-कभी यह तीनों ग्रह एक ही सीधी रेखा में आ जाते हैं तो उस स्थिति में ग्रहण लगता है।

चन्द्रग्रहण—साधारणतः पूर्णिमा की रात को चन्द्रमा पूर्ण गोलाकार दृष्टिगोचर होना चाहिए, किन्तु कभी इसमें अपवादस्वरूप चन्द्रमा के पूर्ण बिम्ब पर चाप या हँसिया के आकार की काली परछाईं दिखाई देने लगती है और कभी यह छाया चन्द्रमा को पूर्ण रूप से ढक लेती है। पहली स्थिति को चन्द्र अंश ग्रहण या खण्ड-ग्रहण तथा दूसरी को चन्द्र पूर्ण-ग्रहण या खग्रास कहते हैं।

चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश प्राप्त करता है। उपग्रह होने के नाते चन्द्रमा अपने अण्डाकार कक्ष-तल पर पृथ्वी का लगभग एक माह में पूरा चक्कर लगा लेता है। चन्द्रमा और पृ वी के कक्ष तल एक दूसरे पर 5° का कोण बनाते हुए दो स्थानों पर काटते हैं। इन स्थानों को ग्रन्थि कहते हैं। साधारणतः चन्द्रमा और पृथ्वी परिक्रमण करते हुए सूर्य की सीधी रेखा में नहीं आते इसलिए पृथ्वी की छाया चन्द्रमा पर नहीं पड़ पाती। किन्तु पूर्णिमा की रात्रि को परिक्रमण करता हुआ चन्द्रमा पृथ्वी के कक्ष-तल के समीप पहुँच जाय और पृथ्वी की स्थिति सूर्य और चन्द्रमा के बीच ठीक एक रेखा में हो तो पृथ्वी की छाया चन्द्रमा पर पड़ती है। चन्द्रमा की ऐसी स्थिति को चन्द्र ग्रहण कहते हैं। किन्तु सदा ऐसी स्थिति नहीं आ पाती क्योंकि पृथ्वी की छाया चन्द्रमा की अगल-बगल होकर निकल जाती है और ग्रहण नहीं लग पाता। चन्द्र ग्रहण लगने की दो अनिवार्य दशायें हैं—चन्द्रमा पूर्ण कला से चमकता हो तथा यह क्रांतिवृत के अधिक समीप हो।

सूर्य पृथ्वी से 109 गुना बड़ा है और गोल है, इसलिए पृथ्वी की परछाईं दो शंकु बनाती है। परछाईं के एक शंकु को सूच्याकार या प्रच्छाया तथा दूसरे को खण्ड छाया या
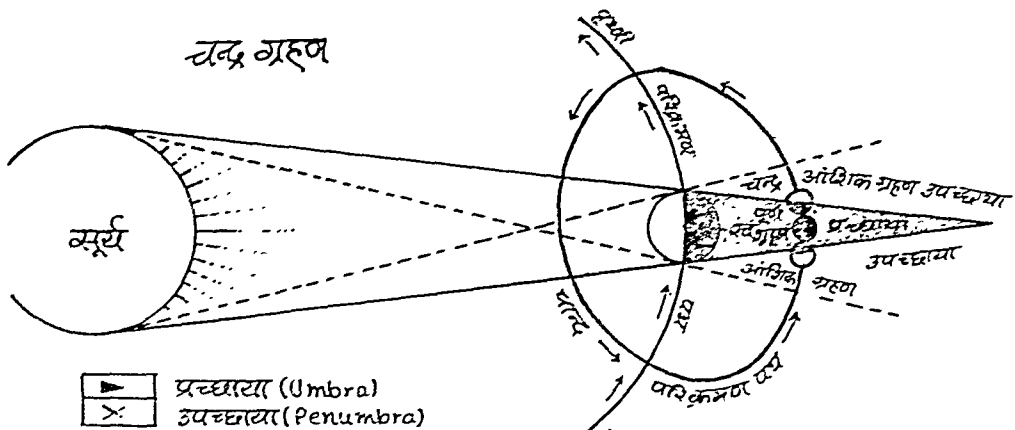
चित्र 2 6 आंशिक एवं पूर्ण चन्द्रग्रहण की स्थितियाँ

उपच्छाया कहते हैं। चन्द्रमा पर पृथ्वी की प्रच्छाया पड़ने से ही ग्रहण लगता है क्योंकि यह छाया सघन होने के कारण पृथ्वी और चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार कभी चन्द्रमा को आंशिक रूप से और कभी पूर्ण रूप से ढक लेती है जो क्रमशः अंश-ग्रहण तथा पूर्णग्रहण

कहलाते हैं। अंश-ग्रहण कुछ ही मिनट तथा पूर्ण ग्रहण कुछ घंटों को अवधि के लिए लगता है। चन्द्रमा परिक्रमण करते हुए आगे बढ़ जाता है तथा पृथ्वी की छाया से मुक्त हो पुनः सूर्य के प्रकाश से प्रतिबिम्बित होने लगता है।

चित्र 2,6 में दर्शक 'क' स्थान से अर्थात् पृथ्वी की उपच्छाया में खड़ा होकर चन्द्रमा को देखेगा तो उसको चन्द्रमा द्वारा प्रच्छाया वाला कटा हुआ भाग दिखाई नहीं देगा तथा उसे आंशिक चन्द्र ग्रहण ही दृष्टिगोचर होगा, किन्तु वह 'ख' स्थान से खड़ा होकर देखेगा तो उसे प्रच्छाया से पूर्ण रूप से ढका चन्द्रमा पूर्ण चन्द्रग्रहण के रूप में दिखाई देगा। पृथ्वी की उपच्छाया का चन्द्रमा पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। ग्रहण लगते समय चन्द्रमा सदा पश्चिम की ओर से पृथ्वी की प्रच्छाया में प्रवेश करता है इसलिए सर्व प्रथम इसके पूर्वी भाग में ग्रहण लगता है और अन्त में यह पूर्व की ओर मुक्त होता है।
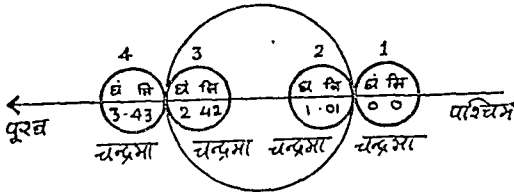
चित्र 2·7 पृथ्वी की प्रच्छाया (UMBRA) में चन्द्रमा का प्रवेश तथा निकास

चित्र 2.8 में प्रदर्शित किया गया है कि चन्द्रमा (1 स्थान) पश्चिम से पृथ्वी की प्रच्छाया में प्रवेश करता है। सर्व प्रथम इसका पूर्वी भाग प्रच्छाया में जाता है। दूसरे स्थान तक पहुँचने में चन्द्रमा को 1 घण्टा 1 मिनट लगता है और तीसरे स्थान तक 2 घटा 42 मिनट। इस प्रकार प्रच्छाया के केन्द्र में पहुँचने के लिए चन्द्रमा को लगभग 2 घंटे और मुक्त होने में लगभग 3 घंटे लग जाते हैं। प्रच्छाया से निकल कर चन्द्रमा उपच्छाया में प्रवेश करता है किन्तु इसके प्रकाश में कोई विशेष अन्तर नहीं आता।
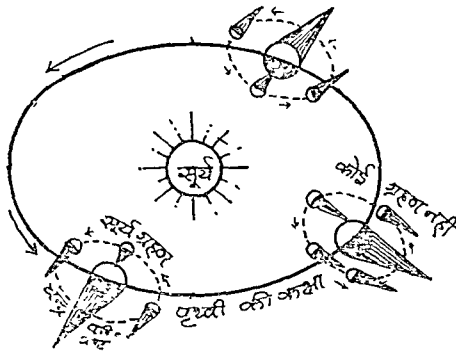
चित्र 2·8 सूर्य, पृथ्वी एवं चन्द्रमा की स्थितियाँ तथा सूर्य और चन्द्र ग्रहण

औसतन प्रति दस वर्षों में 15 चन्द्र ग्रहण घटित होते हैं। एक वर्ष की अवधि में अधिक से अधिक 3 और कम से कम शून्य चन्द्र ग्रहण लगते हैं। ग्रणह के समय चन्द्रमा

एकदम काला न दिखाई देकर धुँधला सुर्ख या ताम्र वर्ण का दृष्टिगोचर होता है। यह प्रकाश चन्द्रमा से प्रतिबिम्बित नहीं होता वरन् सूर्य का होता है। सूर्य का प्रकाश पृथ्वी के विपरीत भाग के वायुमण्डल से परावर्तित होकर प्रच्छाया में प्रवेश हो जाता है जिसके कारण ग्रहण की अवस्था में चन्द्रमा धुँधला मन्द लाल दिखाई देता है।
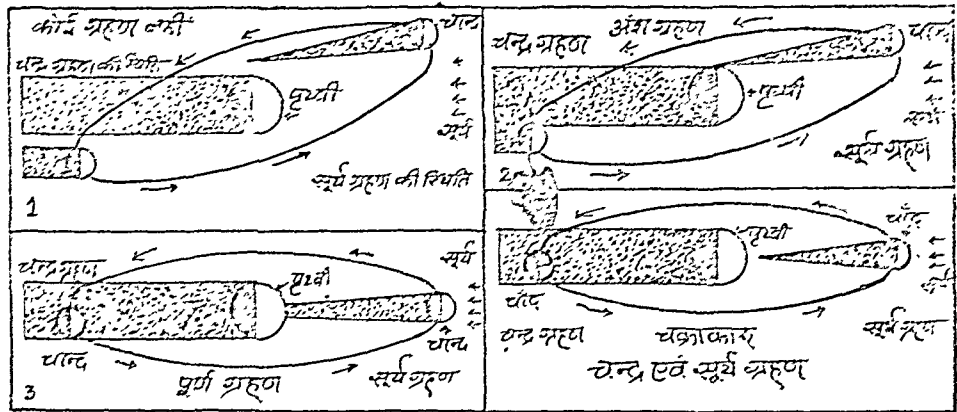
चित्र 2.9 चन्द्र ग्रहण तथा सूर्य ग्रहण की स्थितियाँ

सूर्य-ग्रहण—अमावस्या के दिन जब चन्द्रमा की स्थिति सूर्य और पृथ्वी के मध्य ठीक सीधी रेखा में होती है तो चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ती है तथा थोड़े समय के लिए सूर्य आंशिक या पूर्ण रूप से ढक जाता है जिसे सूर्य ग्रहण कहते हैं। सूर्य ग्रहण घटित होने के लिए दो अनिवार्य दशाएँ हैं—(1) अमावस्या अर्थात् चन्द्रमा रहित रात्रि होनी चाहिए तथा (2) चन्द्रमा क्रान्ति मण्डल पर हो या इसके अधिक समीप हो। ऐसी दशा में चन्द्रमा पृथ्वी के अधिक निकट होता है तथा उसका आकार बड़ा दिखाई देता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी छाया पृथ्वी तक पहुँच पाती है तथा सूर्य ग्रहण की स्थिति पैदा हो जाती है तथा पृथ्वी के छाया वाले भाग से सूर्य दिखाई नहीं देता।

आंशिक सूर्य-ग्रहण—चित्र 2.10 में संख्या 1 पर आंशिक सूर्य ग्रहण दिखाया गया है। यदि दर्शक की स्थिति पृथ्वी पर चन्द्रमा की उपच्छाया में है तो सूर्य आंशिक रूप से ढका दिखाई देगा क्योंकि चन्द्रमा की प्रच्छाया उसे किनारे से आंशिक ही दिखाई देगी।

पूर्ण सूर्य-ग्रहण—चित्र 2.10 में संख्या 2 पर पूर्ण सूर्य-ग्रहण प्रदर्शित किया गया है। ऐसी दशा में दर्शक की स्थिति पृथ्वी पर चन्द्रमा की प्रच्छाया में होती है तथा उसे सम्पूर्ण सूर्य दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति को पूर्ण सूर्य ग्रहण-कहते हैं।

चक्राकार सूर्य-ग्रहण—चित्र 2.10 में संख्या 3 पर चक्राकार सूर्य ग्रहण की स्थिति दिखाई गई है। ऐसी अवस्था में जबकि चन्द्रमा की प्रच्छाया पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाती तथा दर्शक की स्थिति ठीक उसके नीचे होती है तो उसे चन्द्रमा की गोल छाया सूर्य के मध्य दिखाई पड़ती है तथा चारों ओर छल्ले की भाँति सूर्य का प्रकाश दिखाई देता है, इसे चक्राकार ग्रहण कहते हैं। चित्र 2.11 में चक्राकार सूर्य-ग्रहण दिखाया गया है।

ग्रहण के समय जब सूर्य का पूर्ण विम्ब चन्द्रमा की प्रच्छाया से ढक जाता है तो सूर्य की सतह से जीभ के आकार की लाल रंग की सौर-ज्वालाएँ उठती दिखाई देती हैं। सौर-ज्वालाओं के नीचे गुलाबी रंग का वर्ण-मण्डल और मोती के समान सफेद चमकती आभा दिखाई देती है। इसे सौर-किरीट (Solar-Carona) कहते हैं। सूर्य के छिप जाने के कारण पृथ्वी पर गोधूलि-वेला का सा मध्यम प्रकाश हो जाता है तथा आकाश में ग्रह तथा चमकीले तारे दृष्टिगोचर होने लगते हैं।
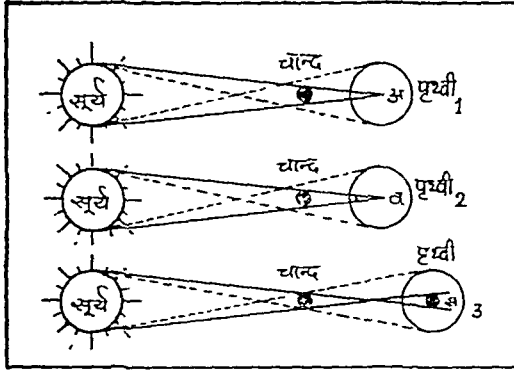
चित्र 2·10 पृथ्वी से सूर्य ग्रहण देखने वाले की स्थिति 'अ' पर अंश, 'ब' पर पूर्ण एवं 'स' पर चक्राकार सूर्य ग्रहण
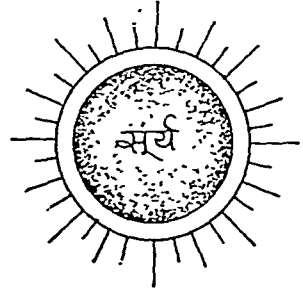
चित्र 2·11 चक्राकार सूर्यग्रहण
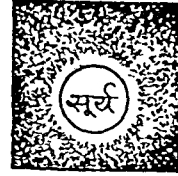
चित्र 2·11 सूर्यग्रहण के समय सौर-किरीट

दस वर्ष की अवधि में औसत 23 सूर्य-ग्रहण होते हैं जो पृथ्वी के किसी न किसी भाग से दृष्टिगोचर होते हैं। इस अवधि में 8 आंशिक, 7 पूर्ण तथा 8 चक्राकार ग्रहण होते हैं। वर्ष में अधिक से अधिक 5 और कम से कम 2 सूर्य ग्रहण पड़ते हैं। खगोल शास्त्री ग्रहों की चाल के आधार पर गणित लगाकर यह भविष्यवाणी कर देते हैं कि चन्द्र या सूर्य ग्रहण कब लगेगा और उनका कितना भाग कितने समय तक अदृश्य रहेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Bunnet, R. B., (1967), Physical Geography in Diagrams (Longmans Green & Co. Ltd., London).
2. Beiser, A. (1962), The Earth (Time Incorporated, New York).
3. Davidson, M. (1946), An Easy Outline of Astronomy (S. A. Watts and Co., Ltd., London).
4. Garland, G. D. (1965), The Earth's Shape and Gravity (Pergamon Press, Oxford).
5. Hynek, J. A. and Anderson, N. D. (1962), Challenge of the Universe (Scholastic Book Services, New York).

6. Kuiper, G. P. (1954), The Solar System, The Earth as a Planet, (Chicago).
7. Namowitz, S.N. and Stone, B. D. (1960), Earth Science (Princeton, D. Van Nostrand Co., INC., New York).
8. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography (Wiley International Edition, New York).
9. Whipple, F. L. (1968), Earth, Moon and Planets, 3rd ed. (Harward University Press, Cambridge).
10. Wyler, R. and Ames, G. (1955), The Golden Book of Astronomy (Publicity Products, London).

3

पृथ्वी की आयु एवं भूगर्भिक इतिहास
[Age of the Earth and its Geological History]

पृथ्वी की आयु

पृथ्वी की आयु जानने के दो आधार हैं—पहला धार्मिक तथा दूसरा वैज्ञानिक। भूगर्भिक प्रक्रियाएँ इतनी मन्द गति से चलती रहती हैं कि मानव अपने लघु जीवन काल में पृथ्वी पर हो रहे परिवर्तनों से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाया। भूगर्भ-शास्त्री 'जेम्स हटन' का मत है कि मानव के लिए पृथ्वी पर धीमी गति से हो रहे परिवर्तनों व पृथ्वी की आयु का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है क्योंकि **'न आदि का कोई लक्षण है और न अन्त की कोई सम्भावना है।'** हिन्दू धर्म में उपनिषदों के अनुसार भी 'पृथ्वी का न आदि है और न अन्त है।'

धार्मिक विचारधारा—विभिन्न धर्मावलम्बियों, दार्शनिकों तथा ज्योतिषियों ने पृथ्वी की आयु भिन्न-भिन्न बताई है। ईरान के विद्वानों के अनुसार पृथ्वी की आयु 12,000 वर्ष है। ईसाई धर्म के अनुयायी पादरी 'जेम्स अशर' के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति ईसा से 4004 वर्ष पूर्व, 22 अक्टूबर को सायं 7 बजे हुई, जिनेसिस के अनुसार पृथ्वी की 5,700 वीं वर्ष गाँठ सन् 1940 में सम्पन्न हुई। पृथ्वी पर लाखों वर्ष पुराने अवशेष मिलते है जिससे ऊपर की तीनों ही धारणाएँ निराधार हो जाती हैं। भारतीय शास्त्रों के अनुसार पृथ्वी की आयु लगभग 2 अरब वर्ष मानी गई है।

सनातन धर्मावलम्बियों के अनुसार वर्तमान में कलियुग का 28वां चरण है। मन्वंतरों के गणित के अनुसार पृथ्वी की आयु सम्बन्धी निम्न काल तालिका अंकित की गई है—

गत 6 मन्वन्तरों के वर्ष	1,84,03,20,000
इनके 7 मन्वन्तरों के सन्धि वर्ष	1,20,96,000
7वें मन्वन्तर के 27 चतुर्युगी	11,66,40,000
28वें त्रि-युगों के वर्ष	38,88,000
वर्तमान कलियुग के भुक्त वर्ष संवत 2037 (सन् 1983)	5,081
योग	1,97,29,49,091 वर्ष

वैज्ञानिक प्रमाण

(क) खगोलिक तथ्य—पृथ्वी सूर्य से ही एक पृथक हुआ अंग है, इसलिए सूर्य व पृथ्वी की आयु लगभग बराबर ही होनी चाहिए। सूर्य में प्रति सेकण्ड 80 करोड़ टन हाइड्रोजन हीलियम गैस में परिवर्तित होती रहती है जिससे प्रति सेकण्ड 10^{26} कैलोरी ऊर्जा उत्पन्न होती है। अनुमान के आधार पर 47 अरब वर्षों में सूर्य का कुल हाइड्रोजन समाप्त होगा जो उसका जीवंत होगा। वैज्ञानिकों के अनुसार अभी तक सूर्य अपनी कुल हाइड्रोजन का केवल 6 प्रतिशत ही व्यय कर सका है। इस तथ्य के अनुसार सूर्य की आयु 3 अरब वर्ष होती है। अतएव पृथ्वी की आयु भी लगभग 3 अरब वर्ष होनी चाहिये।

वर्तमान खगोलिक निरीक्षणों के आधार पर यह ब्रह्माण्ड गुब्बारे की भाँति फूलता चला जा रहा है, तारों और नीहारिकाओं के मध्य की दूरी बढ़ती जा रही है। लगभग 2 अरब वर्ष पूर्व नीहारिकाएँ एक दूसरे के बहुत निकट थीं जिसके कारण पहले तारों का और फिर ग्रहों का जन्म हुआ। इस परिकलन के अनुसार पृथ्वी की आयु 2 अरब वर्ष आंकी गई है।

(ख) चन्द्रमा की आयु के आधार पर—चन्द्रमा से प्राप्त सामग्री के अध्ययन के आधार पर डॉ. राबिन ब्रेट ने चन्द्रमा की आयु 460 करोड़ वर्ष बताई है।

चन्द्रमा के आकर्षण द्वारा उत्पन्न ज्वारीय तरंगों के कारण पृथ्वी के परिभ्रमण का समय प्रति शताब्दी में सेकण्ड का सौवाँ भाग बढ़ जाता है, क्योंकि ये तरंगें महाद्वीपों से टकराती हैं। चन्द्रमा की परिभ्रमण गति में भी वृद्धि हो रही है। इस आधार पर अनुमान लगाया गया है कि आज से लगभग 400 करोड़ वर्ष पूर्व चन्द्रमा पृथ्वी से पृथक हुआ होगा जब पृथ्वी अपने शैशव काल में थी।

प्रो. जे. वी. नारलिकर के अनुसार पृथ्वी और चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति निरन्तर कम होती जा रही है। परिणामस्वरूप चन्द्रमा पृथ्वी से दूर हटता जा रहा है। आणविक घड़ी से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति स्थिर न होकर परिवर्तित है। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चन्द्रमा पृथ्वी से 13 सेन्टीमीटर प्रतिवर्ष दूर हटता जा रहा है। चन्द्रमा की वर्तमान दूरी 3,84,000 किमी. है। इस प्रकार प्रतिवर्ष 13 सेन्टीमीटर दूर हटने की गति से चन्द्रमा को 3,84,000 किमी. दूर हटने में 2,95,38,46,000 वर्ष लगे होंगे। पृथ्वी का अस्तित्व चन्द्रमा से पहले ही रहा होगा। इस आधार पर पृथ्वी की आयु 4 अरब वर्ष बताई जाती है। हेराल्ड जेफरीज के ज्वारीय सिद्धान्त के आधार पर पृथ्वी की आयु 2.5 अरब वर्ष है।

भू-वैज्ञानिक प्रमाण

सागरों में लवणता के आधार पर—भूगर्भ के अध्ययन द्वारा ज्ञात हुआ है कि प्रारम्भ में सागर का पानी मीठा था। लगभग 200 वर्ष पूर्व एडमण्ड हैली ने परीक्षणों द्वारा ज्ञात किया कि संसार की नदियाँ प्रतिवर्ष सागर में $5.4 \times 80 — 8$ करोड़ टन नमक लाकर डाल देती हैं। इस समय सागरों में नमक का अनुपात 3.5 प्रतिशत है यदि सागरों की कुल लवणता की मात्रा में एक वर्ष की लवणता की मात्रा से भाग दें तो पृथ्वी की आयु ज्ञात हो सकती है। यह 12 करोड़ वर्ष आंकी गई। किन्तु पृथ्वी का अस्तित्व इससे भी पूर्व रहा होगा क्योंकि सागरों का निर्माण पृथ्वी के ठण्डा होने पर हुआ होगा।

जोली के अनुसार प्रतिवर्ष सागरों में $1.56 \div 10^{14}$ ग्राम अथवा 15.6 करोड़ टन नमक की मात्रा बढ़ जाती है। इस समय सागरों में कुल लवण की मात्रा $1.26 \div 10^{22}$ ग्राम अथवा 1260 करोड़ टन है। इस आधार पर पृथ्वी की आयु की गणना की जा सकती है :

$$\text{सागर की आयु} = \frac{1.26 \times 10^{22}}{1.56 \times 10^{14}} = 8 \text{ करोड़ वर्ष}$$

यदि सागरों का निर्माण 8 करोड़ वर्ष पूर्व हुआ तो पृथ्वी इससे भी पूर्व अस्तित्व में आई होगी। कुछ विद्वानों के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति और सागरों के निर्माण का मध्य काल 4 करोड़ वर्ष रहा होगा। इस प्रकार पृथ्वी की आयु 12 करोड़ वर्ष होती है।

कुछ विद्वानों के अनुसार यह गणना त्रुटिपूर्ण है क्योंकि नदियों का वेग, उनके द्वारा अपरदन तथा सागरों में लवण मात्रा पृथ्वी के इतिहास में निरन्तर घटती और बढ़ती रही है। पृथ्वी पर 4 बड़ी और 6 छोटी पर्वत निर्माणकारी घटनाएँ हुई हैं। समय के साथ पर्वत अस्तित्व में आए और अपरदन के कारण समतल मैदानों में परिवर्तन हो गए। परिणामस्वरूप पर्वतों के निर्माण के समय नदियों का वेग बढ़ा होगा जिससे सागरों में अधिक मात्रा में लवण ले जा सकी होंगी। किन्तु पर्वतों के निक्षरण के परिणाणस्वरूप नदियों की गति भी कम हुई होगी। अतः इस आधार पर सागरों की आयु 150 करोड़ वर्ष बैठती है। किन्तु पृथ्वी इससे भी पूर्व अस्तित्व में आई होगी। यदि यह मानलें कि सागर की आयु के एक चौथाई भाग (37.5 करोड़ वर्ष) पूर्व पृथ्वी की उत्पत्ति हुई होगी तो इस की आयु $150 \div 37.5 = 187.5$ करोड़ वर्ष मानी जा सकती है।

होम्स द्वारा संवहनीय धाराओं के सिद्धान्त के अनुसार भूगर्भ से उठती हुई धाराओं के साथ नमक बाहर आता है, जो सागरीय जल में मिश्रित होकर उसका खारापन बढ़ाता रहता है। इस प्रकार सागर में लवणता के आधार पर पृथ्वी की आयु का अनुमान त्रुटिपूर्ण है।

तलछटी शैलों के निक्षेप

पहाड़ों के क्षरण और घाटियों में शिला चूर्ण के आधार पर पृथ्वी की आयु का परिकलन किया गया है। किन्तु शैलों की मोटाई और निक्षेप की गति सब जगह एक जैसी नहीं है। विभिन्न स्थानों के परिणाम भिन्न-भिन्न आते हैं। वर्तमान समय की परतदार शैलों की सम्पूर्ण गहराई और प्रतिवर्ष निक्षेप का अनुपात ज्ञात हो जाय तो उनका निर्माण काल ज्ञात किया जा सकता है :

$$\text{परतदार शैल का निर्माणकाल} = \frac{\text{परतदार शैल की मोटाई}}{\text{प्रतिवर्ष निक्षेप का अनुपात}}$$

परतदार शैलों की गहराई साधारणत: 160 किमी. (100 मील) मानी गई है। तलछटी शैलों के निर्माण से पूर्व पृथ्वी अस्तित्व में आई। अनुमानत: पृथ्वी की आयु तलछटी शैलों के निर्माण से दुगनी है।

भारतीय शैलों के आधार पर यहाँ प्रति हजार वर्ष में 1.5 मीटर मिट्टी की परत जमती है। इस आधार पर निम्न गणना की जा सकती है :

1.5 मीटर निक्षेप = 1000 वर्ष

$$1,60,000 \text{ मीटर निक्षेप} = \frac{1000 \times 1,60,000}{1.5} \text{ वर्ष}$$

पृथ्वी की आयु = 10,70,00,000 × 2 वर्ष = 21,40,00,000 वर्ष

मिश्र में रैम्सीज द्वितीय की प्रस्तर मूर्ति 3000 वर्ष में 2.742 मीटर गहरी तलछट से ढक गई। इस आधार पर .914 मीटर तलछट का निक्षेप 1000 वर्ष में हुआ और 1,60,000 मीटर 17.5 करोड़ वर्षों में सम्पन्न हुआ। इस प्रकार पृथ्वी की आयु 17.5 × 2 = 35 करोड़ वर्ष हुई।

अमेरिका में कोलोरेडो तथा व्योमींग नदियों की घाटियों में तलछट के निक्षेप प्रति 1.6 किमी. 1,30,00,000 वर्षों में पाई गई। इस प्रकार 1,60,000 मीटर का निक्षेप 1 अरब 30 करोड़ वर्षों में हुआ होगा। पृथ्वी की आयु तलछटी शैलों से दुगुनी मानी गई है। अतः पृथ्वी की आयु 2 अरब 60 करोड़ वर्ष हुई। यह गणना "रेडियो सक्रिय पदार्थों" तथा भारतीय शास्त्रों द्वारा परिकलित आयु के समकक्ष बैठती है।

इंगलैण्ड में निक्षेप 4000 वर्ष में 0.3048 मीटर है। इस आधार पर वहाँ 1,60,000 मीटर गहरे शैलों के निक्षेप में 2 अरब 11 करोड़ वर्ष लगे होंगे। इस आधार पर पृथ्वी की आयु 4 अरब 22 करोड़ वर्ष ठहरती है।

उपर्युक्त परिकलन त्रुटिपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक स्थान पर निक्षेप की दर समान नहीं है, अधिक भार से शैल सिकुड़ जाते हैं जिसके कारण उनकी गहराई में अन्तर आने से निक्षेप का अनुपात सही नहीं बैठता। हटन के अनुसार सागर की लवणता के कारण तलछटी शैल पतली हो जाती हैं तथा भूमण्डल का सभी भाग कभी जल मग्न रहा है और कभी ऊपर उठा है। इन्हीं विघ्नों से परतदार शैलों की गहराई और उनके निक्षेप का मूल्यांकन त्रुटिपूर्ण रह जाता है। अतः निक्षेप के आधार पर पृथ्वी की आयु का परिकलन अविश्वसनीय है।

(ग) अपरदन

अपरदन और शैलों की गहराई के आधार पर भी पृथ्वी की आयु का परिकलन किया जा सकता है। भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार 0.30480 मीटर अपरदन 10,000 वर्षों में होता है। परतदार शैलों की गहराई 160 किलोमीटर है। इतनी मोटाई के अपरदन में 5 अरब 28 करोड़ वर्ष लगे होंगे। पृथ्वी की आयु इससे दुगुनी होगी यानी 10 अरब 50 करोड़ वर्ष। परन्तु पृथ्वी पर समान जलवायु न होकर भिन्न-भिन्न हैं जिससे अपरदन पर भी प्रभाव पड़ा। इसलिए अपरदन के आधार पर पृथ्वी की आयु की गणना त्रुटिपूर्ण है।

(घ) जीवविकास क्रम

प्रारम्भ में पृथ्वी गर्म थी, परन्तु जब यह ठण्डी हुई तो जीवन के लिए अनुकूल वातावरण पैदा हुआ। प्रारम्भिक जीव रीढ़ की हड्डी रहित एककोषी थे। बाद में बहु-कोषी जीव पैदा हुए जिनके अंग कठोर थे, अतः उनके अवशेष प्राप्त हो जाते हैं। डार्विन के अनुसार जीव विकास क्रम में मानव का अवतरण हुआ। एककोषी जीव पुराजीवी काल से लेकर मानव के विकास क्रम की अवधि जीव वैज्ञानिकों ने लगभग 50 करोड़ वर्ष मानी है। परन्तु पृथ्वी को अपने जन्म से लेकर हड्डी रहित जीवों के पैदा होने तक अनुकूल वातावरण

बनाने में 50 करोड़ वर्ष और लगे होंगे। इस आधार पर पृथ्वी की आयु लगभग एक अरब वर्ष निश्चित होती है जो अन्य अनुमानों की अपेक्षा आधी है। जार्ज गैमोके अनुसार पुराजीवी काल (50 करोड़ बर्ष) से पूर्व पृथ्वी के जीवन के लिए अनुकूल परिस्थितियां बनने में डेढ़ अरब बर्ष और लगे होगे। इस गणना से पृथ्वी की आयु 2 अरब बर्ष होती है।

(ङ) भूगर्भ से ताप ह्रास

लार्ड केलविन ने पृथ्वी की आयु की गणना भूगर्भ में तापह्रास की दर से निश्चित की। पृथ्वी की गहराई के साथ प्रति 32 मीटर पर 1° से.ग्रे. तापवृद्धि के आधार पर भूगर्भ के अन्तरतम में 4000. से.ग्रे. (7000° फा०) तापमान होता है। पृथ्वी का प्रारम्भिक तापमान 6000° से.ग्रे. था जो कि वर्तमान में 4000° से.ग्रे. है। ताप ह्रास के आधार पर पृथ्वी की आयु 4 अरब वर्ष निर्धारित की गई।

(च) रेडियो सक्रिय तत्त्व

सभी खनिजों के परमाणु परिवर्तनशील होते हैं तथा रेडियो सक्रिय परिमाणों के विखण्डन से उष्मा की उत्पत्ति होती है। रुदर फोर्ड तथा सोडी ने सन् 1904 में रेडियो सक्रिय परमाणुओं के विखण्डन के आधार पर पृथ्वी की आयु 2 अरब वर्ष निर्धारित की।

रेडियम, यूरेनियम तथा थोरियम मे सबसे अधिक रेडियो सक्रिय कण पाये जाते हैं। यह तत्त्व सभी तरह के शैलों में किसी न किसी अनुपात में मिलते हैं। भूगर्भ में यह तत्त्व तथा अन्य रेडियो सक्रिय तत्त्व स्वत: विखण्डित तथा विस्फोटित होकर 'अल्फा-कण' उत्पन्न करते रहते हैं। यह क्रम बिना किसी परिवर्तन के सदा निरंतर चलता रहता है तथा इस क्रम पर ताप, दाब या और किसी बात का प्रभाव नहीं होता। अल्फाकण शनैः-शनैः परिवर्तित होकर अन्त मे निश्चित अनुपात में हीलियम तथा सीसा में परिवर्तित हो जाते हैं। अल्फा-कणों को गिनकर रूपान्तरण का समय ज्ञात किया जा सकता है। यह पता लगाया गया है कि यूरेनियम का 1/67 भाग 10 करोड वर्षों में सीसा में परिवर्तित हो जाता है। प्रयोगों के आधार पर यह भी ज्ञात किया गया है कि अभी तक यूरेनियम का लगभग 1/3 भाग ही सीसा में परिणित हुआ है। इस प्रकार शैलों की आयु 2 अरब वर्ष निश्चित की गई है। परन्तु शैल के ठोस होने में पृथ्वी को तरलावस्था से ठोस अवस्था में आने के लिए एक अरब वर्ष और लगे होगे। इस गणना के आधार पर पृथ्वी की आयु लगभग 3 अरब वर्ष मानी गई है।

उपर्युक्त प्रयोगों पर कुछ आपत्ति उठाई गई। जिन खनिजों में वैज्ञानिकों ने सीसा की मात्रा पाई उनमें प्रारम्भ से ही सीसा विद्यमान हो सकता है। रेडियो सक्रिय पदार्थो के विघटन से उत्पन्न सीसा मौलिक सीसा से भिन्न होता है। दूसरी आपत्ति यह है कि रेडियो सक्रिय पदार्थों के विखंडित होते समय कुछ गैसें भी निकलती हैं और इस प्रकार शैल की आयु की गणना में त्रुटि का समावेश हो जाता है।

हाल की खोजों से ज्ञात हुआ है कि 43 करोड़ वर्षों में एक रासायनिक तत्त्व 'रूबीडियम' पूर्ण रूप से स्ट्रोशियम में परिवर्तित हो जाता है। इन दोनों पदार्थों मे गैस बनने की समस्या नहीं है। परिवर्तित अवस्था में जितना भी स्ट्रोशियम, रूबीडियम के निकट पाया जाता है, उनके आधार पर पृथ्वी की आयु 4 अरब वर्ष आँकी गई है।

एच. जी. वैल्स द्वारा पृथ्वी की आयु सैकड़ों लाख वर्ष हो सकती है जिसका सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वैज्ञानिक आज भी उपर्युक्त प्रमाणों से भी अधिक विश्वसनीय और ठोस प्रमाणों द्वारा पृथ्वी की सही आयु निर्धारित करने में लगनशील हैं।

उपर्युक्त आधारों पर पृथ्वी की गणना

आधार		गणना
1. भारतीय शास्त्रों द्वारा		लगभग 2 अरब वर्ष
2. खगोलिक तथ्य		
(क) सूर्य की घटती हुई ऊर्जा		3 अरब वर्ष
(ख) चन्द्रमा की आयु		4 अरब वर्ष
(ग) चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति		2.5 अरब वर्ष
3. भू-वैज्ञानिक प्रमाण		
(क) सागरों की लवणता		1 अरब 87 करोड़ वर्ष
(ख) तलछट का निक्षेप : अन्तिम गणना		2.5 अरब वर्ष
(ग) अपरदन के आधार पर		10 अरब 56 करोड़ वर्ष
(घ) जीव विकास क्रम		2 अरब वर्ष
(ङ) भूगर्भ से ताप ह्रास		4 अरब वर्ष
(य) रेडियो सक्रिय तत्व	पहली गणना	3 अरब वर्ष
	दूसरी गणना	4 अरब वर्ष

इन सभी गणनाओं के आधार पर पृथ्वी की आयु 4 अरब वर्ष आंकी गई है।

पृथ्वी का भूगर्भिक इतिहास

पृथ्वी के जन्म से ही इसके विकास क्रम का इतिहास प्रारम्भ होता है। जेम्स पार्क के अनुसार सागरो का उतार, चढ़ाव, भूमि का अनावृत्तीकरण, निक्षेपण आदि क्रियाएँ भूर्गभिक इतिहास की सामग्री हैं। दूसरे शब्दों में महाद्वीपीय, महासागरीय और पर्वत निर्माणकारी शक्तियाँ तथा जीवन के विकास क्रम की क्रियाओं का क्रमगत अध्ययन ही भूगर्मिक इतिहास का विषय है। बफन ने पृथ्वी के इतिहास को सात युगों में विभक्त किया किन्तु प्रथम युग के बारे में कुछ न बताकर शेष छः युगों का केवल कार्यकाल ही बताया है।

वर्तमान भूगर्भवेत्ता भी पृथ्वी के इतिहास के पांच महाकल्पों से सहमत हैं। इन महाकल्पो को भी विभाजित किया गया है तथा उनकी अवधि और काल की भी गणना गई है।

कल्प विभाजन

1. उषा आद्य महाकल्प (Eozoic Era)

उषा या आद्य महाकल्प सबसे प्राचीन काल है जब पृथ्वी सर्व प्रथम ठोस अवस्था में आई। इस कल्प की अवधि अन्य सभी कल्पों से लगभग तीन गुनी अधिक थी। अनुमान से इसको डेढ़ अरब वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ माना जाता है। इस काल की शैलें लगभग ४0,000 फीट की गहराई में पाई जाती है। इसीलिये अन्य कालों की भांति इसे युगों में

विभक्त नहीं किया जा सका। इसका एक ही युग है जिसे केम्ब्रियन से पूर्व, आरकेअन या अलगोनिकन युग कहते हैं। इसी युग में सर्व प्रथम शैलों का निर्माण हुआ तथा महासागर और महाद्वीप अस्तित्व में आये। महाद्वीपीय तथा पर्वत निर्माणकारी भू-संचलन अपनी चरम सीमा पर थे। भू-पटल पर विस्फोटक हलचलों और ज्वालामुखी के उद्‌गारों का ताण्डव हो रहा था। पैंजिया महाद्वीप चार स्थल खण्डों अर्थात् कनाडियन खण्ड, बाल्टिक खण्ड, साइबेरियाई या अंगारा खण्ड तथा गोंडवाना खण्ड में विभाजित हो चुका था। भारतीय प्रायद्वीप भी इसी काल में ऊपर उठा तथा गोंडवाना खण्ड के साथ अस्तित्व में आया। इस महाकल्प के अन्तिम भाग में लारेनशियाई भू-संचलन क्रिया हुई इन पर्वतों के अपरदन के बाद 'अलगोमियाई' तथा अन्त में 'चारनियाई' भू-संचलन के साथ यह कल्प समाप्त हो गया।

इस महाकल्प की शैलें सबसे पुरानी तथा पृथ्वी की आधारशिलायें हैं। माइका शिस्ट, डोलोमाइटिक, मारबल, नीस, ग्रेनाइट आदि शैलें बनीं। ताप तथा दाब के कारण इस युग की शैलों का सर्वाधिक रूपान्तरण हुआ। सागर के तप्त जल में सागरीय घास (Sea Weeds) तो उत्पन्न हुई परन्तु जीवन के लिये उपर्युक्त वातावरण नहीं था। सागरतल में स्पंज तथा समुद्री वनस्पति के जीवाश्म उस कल्प के धुँधले से प्रमाण रूप हैं।

2. पुराजीवी महाकल्प

पुराजीवी महाकल्प को दूसरे शब्दों में द्रविण या प्रथम काल कहते हैं। इसी कल्प के प्रारम्भ से पृथ्वी के इतिहास के ठोस प्रमाण जीवाश्म के रूप में मिलते हैं। इतिहास क्रम के अनुसार इस कल्प को 6 युगों में बांटा गया है।
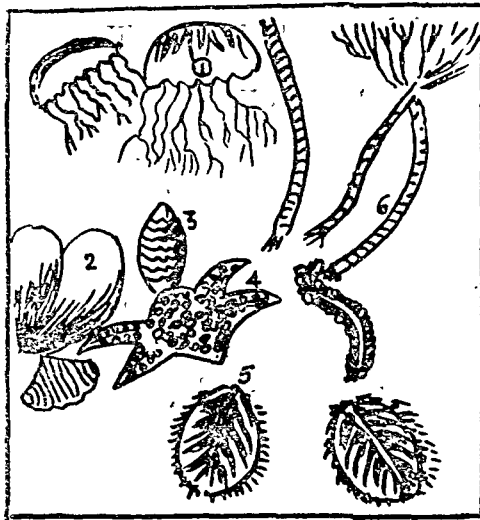
1. जैलीफिश 2. स्पंज 3 लेम्प शैल
4. स्टार फिश 5. ट्रिलोबाइट 6 क्रिनोइड
चित्र 3-1 केम्ब्रियन युग के जीवाश्म

(1) केम्ब्रियाई क्रम

यह क्रम 60 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर 10 करोड़ वर्ष तक चला। इस युग में सागरों का स्थल भाग पर चढ़ाव व उतार होता रहा। इसी कारण इस युग की शैलें अधिक

विस्तृत हैं। सबसे नीचे चूने की शैल, उसके ऊपर बलुआ शैलें, मृतिका स्लेटी शैलें और सबसे ऊपर फिर चूने की शैल पाई जाती हैं।

केम्ब्रियाई क्रम की शैलों में प्रथम जीवन के अवशेष मिलते हैं जो निम्न श्रेणी के बिना रीढ़ की हड्डी वाले जीवों के प्रतीत होते हैं। इनमें जैसे, मछली, स्पंज, प्रवाल, मूँगा, रेंगने वाले कीड़े मुख्य हैं।

(2) आर्डोविसियाई क्रम

यह क्रम आज से 50 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर 6 करोड़ वर्ष तक रहा। सागरों के विस्तार के परिणामस्वरूप स्थल का बहुत बड़ा भाग जलमग्न हो गया। सागरीय भागों में ज्वालामुखी क्रिया अधिक सक्रिय रही। जीवन समुद्रीतल तक ही सीमित था। इस क्रम में केम्ब्रियाई युग के ही जीवाश्म मिलते हैं परन्तु ग्रेप्टोलाइट तथा ट्रिलोबाइट उत्पन्न हुए।

(3) साइलूरियाई क्रम या प्रवाल युग

साइलूरियाई क्रम आज से 44 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर 4 करोड़ वर्ष तक रहा। लाल बालुका शैलें इस युग की मुख्य देन हैं जिनमें मछलियों के जीवाश्म पाये जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि सागर में पहली बार मछलियाँ पैदा हुईं। विकसित श्रेणी के बिना रीढ़ की हड्डी के श्वास लेने वाले जीव-जन्तु पैदा हो गये और स्थल पर वनस्पति का प्रादुर्भाव हुआ। सागरों में प्रवालों का बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ।

इस युग में सबसे पुराने पर्वतों का निर्माण हुआ जो कैलिडोनियाई भू-संचलन के नाम से जाने जाते हैं जो अत्यन्त कठोर शैलों से निर्मित हैं।

(4) डेवोनियाई क्रम या मत्स्य युग

यह क्रम आज से 40 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर 5 करोड़ वर्ष तक चला। इस युग में समुद्रों की सतह ऊपर उठने के कारण महाद्वीपों का निर्माण हुआ। अवशेषों के आधार पर यह माना जाता है कि पश्चिमी यूरोप और पूर्वी अमेरिका के भाग आपस में जुड़े हुए थे जहाँ आज एटलान्टिक महासागर लहरें मारता है। इसी प्रकार दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया एक बड़े महाद्वीप के ही अंग हैं। इस युग में पर्वत-निर्माण तथा ज्वालामुखी क्रियायें अत्यधिक सक्रिय रहीं, फलस्वरूप केलिडोनियाई पर्वतों ने अपनी चरम ऊँचाई प्राप्त की। पर्वतों का अपरदन भी प्रारम्भ हो गया जिससे उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में लाल बालुका शैलों का निक्षेप हुआ। मत्स्य जीवाश्म अधिक पाये जाने से इस युग को मत्स्य युग भी कहते हैं। थल पर वनस्पति का विकास होने के कारण सागर के रीढ़ वाले जीव थल की ओर अग्रसर हुए। इस प्रकार प्रथम बार एम्फीबाई जीवों का विकास हुआ जो जल और थल दोनों पर ही रह सकते थे। जैसे मगर, साँप, घोघा आदि।

(5) कारबोनीफेरस क्रम या कोयला युग

यह युग 35 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर 8 करोड़ वर्ष तक चला। इस युग में पृथ्वी की जलवायु गर्म तथा आर्द्र थी जिससे अत्यधिक वनस्पति उत्पन्न हुई। धरातल की उथल-पुथल के कारण घने जंगल सागर में जलमग्न होकर मिट्टी में दबते गये। कालान्तर में अत्यधिक दाब के कारण ये जंगल कोयले में परिवर्तित होते गये।

इस युग में आर्मोरिकाई भू-संचलन क्रिया हुई। वैगनर के अनुसार पैंजिया का विशाल महाद्वीप कारबोनीफेरस युग में खंडित हुआ। निक्षेप के कारण सागर उथले हो गये

परिणामस्वरूप कुछ प्रकार के जीव स्थल पर ही रहने के आदी हो गये। इस प्रकार इस युग में जल एवं थलचारी जीव-जन्तु उत्पन्न हुए।

चित्र 3·2 कारवोनीफेरस युगकी वनस्पति एव जीव

(6) परमियाई क्रम या गिरि युग

यह युग 27 करोड़ बर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर $4\frac{1}{2}$ करोड़ वर्ष तक रहा। अत्यधिक भू-संचलन तथा पर्वत निर्माणकारी क्रियायें, ज्वालामुखी क्रियाएँ और भूकम्प इसकी विशेषतायें हैं। इस युग में हरसीनियाई हलचल के फलस्वरूप उत्तरी अमेरिका तथा मध्य यूरोप के भाग ऊपर उठे। उत्तरी अमेरिका का पूरा भाग जल के बाहर आ गया तथा वहाँ अपलेशियाई पर्वत का निर्माण हुआ। इस युग के पर्वतों के अवशेष लगभग सभी महाद्वीपों में पाये जाते हैं।

इस युग में जल और थल पर रहने वाले जीव-जन्तु व सरिसर्प आदि पैदा हुए। इस युग के अन्त में ताप के बढ़ने और जलवायु के शुष्क होने के कारण झीलें सूख गईं तथा जल के स्थान पर पोटाश का निक्षेप हुआ।

3. मध्यजीवी महाकल्प

इस महाकल्प को आदि या मध्य काल भी कहते हैं जो प्राचीन और वर्तमान काल की एक कड़ी है। इस काल में जल और थल दोनों में ही नाना प्रकार के जीव-जन्तु पैदा हुए। दैत्याकार पक्षी, रेंगने वाले प्राणी तथा स्तनपोषी जीव इसी कल्प में अस्तित्व में आये। इस कल्प को 3 युगों में विभाजित किया गया है :

(1) रक्ताश्म या ट्रियासिक युग

यह युग आज से $22\frac{1}{2}$ करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर $4\frac{1}{2}$ करोड़ वर्ष तक चला। इस युग में गोण्डवाना भू-खण्ड ने उत्तर की ओर खिसकना प्रारम्भ कर दिया तथा कई खण्डों में विभाजित हो गया। उत्तरी गोलार्द्ध में जलवायु शुष्क तथा गर्म थी जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध बर्फ से ढका था। दक्षिणी भारत में दामुदा, मांडु तथा पूनो में हिम प्रवाह के चिन्ह गोलाश्म स्तर के रूप में पाये जाते हैं। गर्म सागरों में चिकनी मिट्टी तथा बालुका शैलों का निक्षेप हुआ। अन्त में जलवायु आर्द्र हो जाने से कोणधारी तथा मुलायम पत्तियो वाले वृक्ष पैदा हुए।

इस युग में मांसाहारी सरिसर्प, केकड़े, मक्खियाँ, दीमक एवं छोटे स्तनपोषी जीवों का विकास हुआ।

2) महासरट या जुरैसिक युग

यह युग 18 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ और 4½ करोड़ वर्ष तक चला। इस युग में मैडागास्कर, भारत, आस्ट्रेलिया एवं अंटार्कटिक महाद्वीप गोण्डवाना भू-खण्ड से प्रथक होकर अपनी वर्तमान स्थिति पर पहुँच गये। सागरों का पुनः विस्तार हुआ जिससे एशिया तथा यूरोप का अधिकांश भाग जलमग्न हो गया। पर्वतों का पुनः क्षरण प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप ऊँचे पर्वत नीची पहाड़ियों में परिणित हो गये। चूने की शैलों का निक्षेप फ्रांस, दक्षिणी जर्मनी तथा स्विटजरलैण्ड में पर्याप्त मात्रा में हुआ।

भारी वर्षा के कारण घनी वनस्पति और भी घनी हो गई। इसी युग में सर्व प्रथम पुष्पित वनस्पति का आविर्भाव हुआ। यह युग रेंगने वाले जीवों का युग कहलाता है। लम्बे चौड़े रेंगने वाले जीव पैदा हुए जिनकी नाक से पूंछ तक की लम्बाई 30 मीटर और भार 350 क्विण्टल से भी अधिक था। इनके पिछले पैर अधिक लम्बे और अगले पैर छोटे थे। लम्बी गर्दन के प्लाओसोरस, भारी आकार के इचथ्योसोरस, डरावने, निरामिष भोजी तथा मंद बुद्धि डाइनोसोर, तीन नेत्रवाली छिपकली स्फेनोडन आदि अद्भुत तथा विशालकाय थे। जल में भी मगरमच्छ जैसे मुँह और मछली के आकार के धड़वाले केकड़े जैसे जीव थे। इसी युग में उड़ने वाले पक्षी का आविर्भाव हुआ। उस समय के स्तनपोषी जीव चूहों के आकार के थे।

चित्र 3·3 जुरैसिक युग की वनस्पति एवं जीव-जन्तु

(3) खटी या क्रिटैशियाई युग

यह युग 13½ करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर 6½ करोड़ वर्ष तक चला। खटी युग की प्रधान घटना उत्तरी गोलार्द्ध में थल मार्गों पर सामुद्रिक अतिक्रमण है। यूरोप, ब्रिटेन, डेनमार्क, जर्मनी और उत्तरी अमरीका के निचले तटीय भाग जलमग्न हो गये। ब्रिटेन से जर्मनी तक और अलास्का से मेक्सिको तक खड़िया मिट्टी की तहें जम गई। दक्षिणी भारत के त्रिचुरापल्ली और सौराष्ट्र से ग्वालियर तक खड़िया मिट्टी के परत मिलते हैं। खटी

युग की दूसरी विशेषता है सक्रिय पर्वत निर्माणकारी घटनाएँ। इस के प्रारम्भ में नेवाडियन पर्वत की निर्माणकारी हलचल से उत्तरी अमेरिका में सियरा नेवाडा पर्वत का निर्माण हुआ और अन्त में लैरामाइड हलचल से कार्डिलियरा श्रेणी का जन्म हुआ। इसी युग के अंत में भारत के दक्षिणी पठारी भाग पर ज्वालामुखी क्रिया द्वारा लावा लगभग 6 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैल गया।

इस युग में आर्द्र जलवायु के कारण सुदूर उत्तर में ग्रीनलैंड तक वनस्पति का विकास हुआ। जलवायु के मौसमी परिवर्तन के कारण पतझड़ वाले वृक्ष जैसे अंजीर, मैग्नोलिया, पोपलर आदि का विकास हुआ। स्थल पर भीमकाय रेंगने वाले जीवों की संख्या में विकास हुआ। सागरों में बड़ी-बड़ी मछलियां, कछुआ तथा मोसासोरस जीवों का, जो वर्तमान सर्पों का पूर्व नया विकास हुआ। इसी समय उड़ने वाले पक्षियों का आकार भी बड़ा जिनके पंख सात-सात मीटर लम्बे थे। इस युग के अन्त तक स्तनपोषी जीवो का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था।

नवजीवी या केनोजोइक महाकल्प

इस कल्प को मध्य या तृतीय काल कहते हैं। इस कल्प में वर्तमान जीवन के अंकुर प्रस्फुटित हुए इसलिये इसको नवजीवी या केनोजोइक महाकल्प के नाम से जाना जाता है। इस कल्प की दो प्रधान विशेषतायें हैं—वर्तमान नवीन मोड़दार पर्वतों का निर्माण और द्वितीय रेंगने वाले जीवों का ह्रास तथा स्तनपोषी प्राणियों का विकास। इसको चार युगों में बाँटा गया है :

(1) आदिनूतन या इयोसीन युग

यह युग 7 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ और 3 करोड़ वर्ष तक चला। इस युग की

चित्र 3·4 इयोसीन युग के हिपारियन, वृक्षों पर लेमर

सबसे बड़ी विशेषता है ज्वालामुखी क्रिया. जिसके फलस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध के बहुत से भागों में लावा निर्मित शैलें निर्मित हुईं, पर्वतों का पुन: विकास हुआ, हिन्द और अटलांटिक

महासागरों का विस्तार हुआ। भूमि अवतलन के कारण उत्तरी अटलांटिक महासागर का निर्माण हुआ।

इस युग में जलवायु गर्म होने के कारण ग्रीनलैंड तक उष्ण कटिबन्धीय वनस्पति का विस्तार हुआ। भीमकाय रेंगने वाले जीवों के स्थान पर स्तनपोषी जीवों जैसे हिपारियन (Hipparion) का विकास हुआ जो वर्तमान में घोड़े, हाथी, शेर आदि के पूर्वज थे, परन्तु ये वर्तमान के कंगारू मारस् पिपलस से अधिक मेल खाते थे। लम्बी पूंछ वाले गिबन बन्दरों का आविर्भाव इसी काल में हुआ।

अल्पनूतन या ओलिगोसीन युग

यह युग 4 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ तथा इसकी अवधि 1.5 करोड़ वर्ष रही। इस युग में स्थल भाग का विस्तार हुआ। 'अल्पाइन-भू-संचलन' के फलस्वरूप यूरोप में अल्पाइन पर्वत तथा एशिया में हिमालय पर्वत श्रेणी का निर्माण प्रारम्भ हो गया। जलवायु ठण्डी होने के कारण जंगल नष्ट हो गये और घास अधिक उगने लगी। निरामिष जीवों की संख्या में वृद्धि हुई। छोटे आकार और छोटी सूंड़वाले हाथी तथा वर्तमान बिल्ली, कुत्ते, भालूओं आदि के पूर्वज उत्पन्न हुए। पहली बार पुच्छहीन बन्दर मनुष्य के पूर्वज के रूप में प्रकट हुआ।

मध्यनूतन या मायोसीन युग

यह युग 2.5 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर 1.4 करोड़ वर्ष तक चला। अल्पाइन-हलचल के कारण यूरेशिया महाद्वीप पर पूर्व से पश्चिम दिशा में नवीन वलित पर्वत श्रणियों का निर्माण हुआ। हिमालय की द्वितीय श्रेणी का उत्थान हुआ। यूरोप और उत्तरी अमेरिका में पतझड़ वाले वृक्षों का विकास हुआ। बड़े आकार के मैमथ हाथी और पुच्छहीन वानर अफ्रीका से यूरोप, उत्तरी अमेरिका तथा एशिया में फैल गये। बड़ी टांगों वाले जल पक्षी और पेंग्विन का आविभाव हुआ।

अतिनूतन या प्लायोसीन युग

यह युग 1.1 करोड़वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर 1 करोड़ वर्ष तक चला। इस युग में उथले समुद्रों में निक्षेप होने के कारण मैदानों का आविर्भाव हुआ तथा महासागरों और महाद्वीपों को वर्तमान रूप मिला। अल्पाइन भू-संचलन की हल्की हलचल के फलस्वरूप हिमालय की शिवालिक श्रेणी का निर्माण हुआ। सागरीय पौधों और जीवों का वर्तमान रूप में विकास हुआ। स्थल पर विशालकाय स्तनधारी जीवों का विनाश हुआ परन्तु मानव सदृश पुच्छहीन वानरों का विकास हुआ।

5. चतुर्थ महाकल्प या नियोजोइक महाकल्प

इस महाकल्प को नवीन या चतुर्थ महाकल्प कहते हैं। यह पृथ्वी के जीवन इतिहास का सबसे नवीन महाकल्प है। इस महाकल्प में पृथ्वी वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हो चुकी थी। इस कल्प की सबसे बड़ी विशेषता है वर्तमान मानव के पूर्वजों का आविर्भाव। इस कल्प को दो युगों में विभक्त किया गया है—अत्यन्त नूतन या प्लीस्टोसीन युग तथा अभिनव युग।

(क) अभिनव नूतन या प्लीस्टोसीन युग

यह युग लगभग दस लाख वर्ष पूर्व प्रारम्भ होकर वर्तमान समय से 10 हजार वर्ष पूर्व तक चला। इस युग की सबसे बड़ी विशेपता यह है--उत्तरी गोलार्द्ध में हिमावरण।

यूरोप तथा उत्तरी अमरीका का लगभग 23 करोड़ वर्ग किलोमीटर भाग मोटी बर्फ की तह से ढक गया था। इसलिये इस युग को 'महा हिमयुग' कहा जाता है। पेन्क तथा ब्रकनर के अनुसार उत्तर से दक्षिण की ओर चार बार हिम अवतरण हुआ। ये चार युग हैं 'गुंज' 'मिण्डल' रिस, तथा वर्म। बीच के समय को हिमान्तर काल कहा जाता है। इस प्रकार के तीन काल हुए। जब भी हिमचादर आगे बढ़कर पीछे हटी तो अपने पीछे हिमोढ़ के रूप में तलछट छोड़ गई। जर्मनी में इस प्रकार के चार हिमोढ़ पाये जाते हैं जिससे इन चार युगों की पुष्टि होती है।

जब भी हिम का विस्तार हुआ सागरों का जलतल नीचा हो गया तथा स्थल भाग का विस्तार हुआ। परन्तु हिम के पिघलने पर सागरों में फिर से जल बढ़ गया। उत्तरी अमेरिका में महान् झीलों तथा नार्वे में फियोर्ड तट का निर्माण इस युग में हुआ। इस युग की जलवायु अत्यन्त परिवर्तनशील रही।

दैत्याकार जीव अति शीत के कारण समाप्त हो गये। शीत से सुरक्षा के लिये जीवधारियों के शरीर छोटे होते गये। पक्षियों का पूर्ण विकास हुआ। इस युग की सबसे बड़ी देन है पाषाणकालीन मानव का प्रादुर्भाव जो जलवायु की विषमताओं से जूझता हुआ अब से एक लाख वर्ष पूर्व संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बन गया।

(ख) आधुनिक या होलोसीन युग

यह युग "होलोसीन युग" अथवा "प्लीस्टोसीन उपरान्त युग" के नाम से भी जाना जाता है। आज से 10 हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ और वर्तमान में चल रहा है। जलवायु गर्म होने के कारण हिम पिघलकर सागरों में मिल गया तथा उत्तरी ध्रुव पर ही हिमावरण रह गया। हल्का होने के कारण हिम मुक्त क्षेत्र फिर से ऊपर उठ गये। उत्तरी अफ्रीका तथा मध्य एशिया में शुष्कता के कारण मरुस्थलों का आविर्भाव हुआ। हिम चादर के हट जाने से उत्तरी अमेरिका, यूरोप और एशिया के उत्तरी भागों मे फिर से वनों का विकास हुआ।

स्तनपोषी चौपाये गाय, भैंस तथा अन्य आधुनिक जीव-जन्तु अस्तित्व में आये इस युग में मानव का पूर्ण विकास हुआ। उसने पशु पालन और कृषि कार्य इसी युग में प्रारम्भ किये।

पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास का विभाजन शैलों की रचना, पदार्थों के निक्षेप एवं जीवों के अवशेषों के आधार पर किया जाता है। काल की गणना शैलों और जीवाश्म के रासायनिक विश्लेषणों पर आधारित है परन्तु फिर भी इसको पूर्ण रूपेण शुद्ध नहीं कह सकते क्योंकि जीवाश्म तो मिलते ही रहते है और गणना मे फिर से संशोधन करना पड़ता है। किसी सीमा तक वैज्ञानिकों ने कल्पों और युगों के समय का निर्धारण शैलों के अध्ययन के आधार पर किया है जो किसी सीमा तक शुद्ध माना जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Barrel, J. (1917), Rythms and Measurements of Geologic Time, Bulletin of Geological Society of America, Vol. 28.
2. Eicher, Donald, L. (1968), Geologic Time (Prentice Hall, Inc., Eglewood Cliff, N. J.)
3. Gamow, G. (1959), 'Biography of the Earth', The Viking Press.

4. Holmes, A. (1956), 'How old is the Earth' ? Transactions of the Edinburgh Geological Society, Vol. 16.
5. Holmes, A. (1965), 'Principles of Physical Geology', The English Language Book Society, Nelson.
6. Jeffreys, H. (1952), 'The Earth'—Its Origin, History and Physical Constitution, 3rd ed., Cambridge.
7. Judson, S., Deffeyes, K. S. and Hargraves, R. B. (1978), Physical Geology (Prentice Hall of India Pvt. Ltd., New Delhi).
8. Kuip, J. L. (196), 'Geologic Time Scale', Science, Vol. 133.
9. Solas, W. J. (1912), 'The Age of the Earth', London.
10. York, Derek and Farquahr, R. N. (1972), The Earth's Age and Geochronology (Pergamon Press, New York).
11. वर्मा, देवकीनन्दन (1973), सामान्य भू-विज्ञान, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ।

———

द्वितीय खण्ड

स्थल मण्डल

4

भू-गर्भ की संरचना
[Constitution of the Earth's Interior]

सामान्य परिचय—धरातल की स्थलीय संरचना भू-गर्भ के शैलों से प्रभावित होती है। पृथ्वी का आन्तरिक भाग अदृश्य है। सीमित प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव में इसका ज्ञान अधिकांशत: परिकल्पनाओं पर ही आधारित है।

ज्वालामुखी उद्‌गार से निकले पदार्थों और गर्म जल के स्रोतों के खनिजों से पृथ्वी की आन्तरिक रचना की विविधता का आभास पहले ही हो गया था कि भू-गर्भ में वायु, जल और अग्नि के अनेक भण्डार हैं। पृथ्वी पर जल एवं स्थल का असमान वितरण तथा शीर्ष रेखा का पर्वतों की ओर न झुककर मैदानों की ओर झुकना इस बात का संकेत देते हैं कि भू-गर्भ में विभिन्न घनत्व के पदार्थ हैं। वैज्ञानिकों ने खानों की खुदाई, ज्वालामुखियों के उद्‌भेदन, भूमम्प-तरंगों, ताप, दाब व शैलों के घनत्व आदि के आधार पर भूगर्भ की झांकी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। सम्पूर्ण पृथ्वी का घनत्व 5.5 माना गया है। धरातल के शैलों का घनत्व 2.7 तथा केन्द्रीय भाग का 7 से 8 तक है। इससे यह प्रकट होता है कि धरातल के कम घनत्व और हल्के शैलों के नीचे ठोस और भारी शैल भी विद्यमान हैं।

भू-गर्भ के शैलों की विषमता के बारे में प्राप्त अध्ययन हेतु पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्त तापक्रम, दबाब, घनत्व आदि परोक्ष साधन व ज्वालामुखी, भूकम्प विज्ञान आदि का सहारा लिया गया।

अप्रत्यक्ष साधन

पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर आधारित प्रमाण निम्न हैं जिनमें गैसीय गर्भ, तरल गर्भ, ठोस गर्भ तथा ठोस भू-पृष्ठ, किन्तु मध्य भाग तरल प्रमुख हैं।

(1) गैसीय गर्भ

कान्त की वायव्य परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी के अन्तरतम को गैस का बना माना गया। यदि मान लिया जाय कि अन्तरतम गैस का है तो अब तक ज्वालामुखी व तेल के कुओं द्वारा या अन्य साधनों से गैस के निसृत होने पर पृथ्वी के कई भाग ठीक उसी प्रकार से पिचक गये होते जैसे कि गैस निकल जाने पर गुब्बारा पिचक जाता है। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता।

(2) तरल गर्भ

लाप्लास की नीहारिका परिकल्पना के आधार पर यह अनुमान लगाया गया कि भू-गर्भ तरल होना चाहिए। ज्वालामुखी से निकले लावा के उद्‌गार से यह भ्रामक विचार बना कि तरल अन्तरतम पर एक पतला ठोस भू-पृष्ठ है। यह भी पता लगाया गया कि भू-गर्भ में प्रति 32 मीटर की गहराई पर 1° से.ग्रे. तापक्रम बढ़ जाता है जिससे अधिक गहराई में पदार्थ ठोस न रहकर तरल अवस्था में आ जायेगा। परन्तु ज्वार के समय पृथ्वी एक ठोस पिंड के रूप में संतुलित रहती है। ठोस परत नीचे नहीं बैठती है भू कंपन तरंगें ठोस पिंड का आभास देती हैं। भू-गर्भ की ताप वृद्धि से शैल पिघलते नहीं, दाब से घनत्व बढ़ता है। अपकेन्द्रण बल एक केन्द्र में स्थिर रहता है अतः भू-गर्भ तरल द्रव नहीं है।

(3) ठोस गर्भ

चैम्बरलिन की ग्रहाणु परिकल्पना के आधार पर पृथ्वी के अन्तरतम को ठोस माना गया। ज्वार के समय पृथ्वी एक ठोस पिण्ड की भाँति काम करती है।

भू-गर्भ में प्रति 32 मीटर गहराई पर 1° से.ग्रे. तापक्रम के अनुपात से केन्द्र पर 1,93,060° से.ग्रे. तापक्रम होना चाहिए। धरातल पर शैलें 1200° से 1800° से.ग्रे. तापमान पर पिघल जाते हैं। इस स्थिति में पृथ्वी के आन्तरिक भाग में पदार्थ ठोस या द्रव अवस्था में नहीं रह सकता। लार्ड कैलविन के अनुसार पृथ्वी काँच के समान ठोस पिण्ड की भाँति है। जैफरे के अनुसार भू-गर्भ तरल होते हुए भी ठोस की तरह कार्य करता है।

(4) भूगर्भ तथा भूपृष्ठ ठोस, किन्तु मध्य भाग तरल

यदि पृथ्वी को ठोस माना जाय तो ज्वालामुखी से निकला लावा इस धारणा में अवरोध उपस्थित करता है। यह पृथ्वी का केन्द्रीय भाग ऊपरी भारी दबाब के कारण ठोस अवस्था में हैं तथा भू-पृष्ठ ठण्डी होकर ठोस हो गई है। किन्तु इन दोनों के मध्यवर्ती भाग में द्रव पदार्थ भरा हुआ है जो ज्वालामुखी विस्फोट के समय लावा के रूप में बाहर आता है। चारों ओर से अत्यधिक दाब होने के कारण भू-गर्भ अधिक उष्ण होते हुए भी ठोस है। ज्वालामुखी विस्फोट उसी अवस्था में सम्भव हो पाते हैं जब पृथ्वी की हलचल के कारण भू-पृष्ठ में कहीं दरार पड़ जाय या दाब कम हो जाय। उच्च दाब के कारण द्रवणांक भी ऊँचा रहता है परन्तु दाब कम होते ही द्रवणांक कम हो जाने पर शैल पिघल जाते हैं और मार्ग पाकर ज्वालामुखी विस्फोट के साथ लावा के रूप में बाहर निकल आते हैं।

धरातल पर भी कुछ ऐसे पदार्थ पाये जाते हैं जिनमें ठोस तथा द्रव दोनों ही गुण विद्यमान हैं।

यह निष्कर्ष निकाला गया है कि

(1) सम्पूर्ण पृथ्वी ठोस पिण्ड की भाँति आचरण करती है।

(2) भू-गर्भ का आन्तरिक भाग गाढे द्रव पदार्थ के गुण रखता है।

(3) भू-गर्भ में लगभग 50 कि. मी की गहराई तक तापक्रम के बढ़ जाने या दाब कम हो जाने पर ठोस पदार्थ भी तरल अवस्था में आकर लावा के रूप में पृथ्वी के बाहर निकल सकता है।

तापक्रम

भूगर्भ में अत्यधिक ताप के अनेक प्रमाण मिलते हैं। गर्मजल के स्रोत, ज्वालामुखी से निकला तप्त लावा, तेल के कुओं से निकलती गैस आदि कुछ ऐसे प्रमाण हैं जिनके द्वारा

भूगर्भ में उच्च ताप का होना सिद्ध होता है। पृथ्वी के आन्तरिक भाग में ताप के दो मुख्य स्रोत हैं—सूर्यातप तथा रेडियो-धर्मी तत्त्व।

सूर्यातप

पृथ्वी की ऊपरी परत में स्थल पर 1 मीटर तथा जल में 20 मीटर की गहराई तक सूर्यातप का सीधा प्रभाव पड़ता है। पृथ्वी की इस परत को सौरताप मण्डल के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस परत के नीचे समताप मंडल पाया जाता है जिसकी मोटाई शैलों की संरचना पर आधारित रहती है। समताप मण्डल पृथ्वी में 2 मीटर से 20 मीटर तक की मोटाई में पाया जाता है तथा कुछ सीमा तक सूर्यातप से प्रभावित रहता है।

रेडियोधर्मी तत्त्व

भूगर्भ में समतापीय मण्डल के नीचे पृथ्वी ताप मण्डल स्थित है। इस मण्डल में सूर्य की गर्मी का कोई प्रभाव नहीं होता। पृथ्वी ताप मण्डल में ताप पृथ्वी की आन्तरिक क्रिया से ही निर्धारित होता है। इस मण्डल में रेडियोधर्मी तत्त्व जैसे यूरेनियम, थोरियम पाये जाते हैं जो विखण्डित होकर हीलियम (helium) और अन्त में सीसा में परिवर्तित होते रहते हैं। विखण्डन तथा परिवर्तन की दशा में यह ऊर्जा छोड़ते हैं जिसके द्वारा पृथ्वी अपने अन्तर्भाग में तापक्रम बनाए रखती है। रेडियोधर्मी तत्त्व भूगर्भ के ऊपरी भाग में अथवा सियाल की परत में अधिक पाये जाते हैं तथा गहराई में उत्तरोत्तर घटते जाते हैं। रेडियोधर्मी तत्त्वों के विखण्डन से सियाल के नीचे इतनी ऊर्जा उत्पन्न हो जाती है कि शैल पिघलने लगते हैं तथा संवहन धाराओं का निर्माण होता है जिससे भू-पृष्ठ की संरचना प्रभावित होती है। ओटो श्मिट के अनुसार रेडियोधर्मी तत्त्वों के विखण्डन से समस्त पृथ्वी का तापमान 2000° से. ग्रे. से 3000° से. ग्रे. तक हो गया होगा जिसके कारण पृथ्वी तरलावस्था में आ गई होगी और हलके पदार्थ ऊपर और भारी पदार्थ केन्द्र की ओर चले गये होंगे।

भू-गर्भ में तापक्रम बढ़ने की दर प्रति 32 मीटर गहराई पर 1° से.ग्रे. है। लगभग 50 किमी. की गहराई पर शैल पिघलने का विन्दु पाया जाता है। इसी गहराई पर ज्वालामुखी के उद्गार स्थान हैं। पृथ्वी का अर्धव्यास 6375 कि.मी. है। इस प्रकार ताप बढ़ने के अनुपात से भू-केन्द्र पर 1,93,060° से.ग्रे. तापमान होना चाहिए। परन्तु भू-केन्द्र पर 3,500° से.ग्रे. स 4000° से ग्रे. तापक्रम का ही अनुमान लगाया गया है अन्यथा पृथ्वी का आन्तरिक भाग 1,93,060° से.ग्रे. तापमान पर न केवल तरल ही रहता किन्तु गैस की अवस्था में आ गया होता। यह सिद्ध हो चुका है कि भू-गर्भ का अन्तरिम भाग न तो तरल है और न ही वह गैस का बना हुआ है। वैज्ञानिकों का मत है कि भार और दाब के कारण द्रवणांक विन्दु ऊँचा हो जाता है। इसीलिए भू-गर्भ में गहराई के साथ-साथ तापांश दर घटती जाती है। तापांश दर सामान्यत: 3 किलोमीटर की गहराई के पश्चात् घटना प्रारम्भ होती है परन्तु यह भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होती है तथा शैलों की संरचना और भू-गर्भ जल से भी प्रभावित होती है।

संक्षेप में भू-गर्भ का तापक्रम पृथ्वी के शैलों की संरचना व स्वभाव, उनका झुकाव, दाब, वाह्य एवं आन्तरिक जल की प्रतिक्रिया, सागर, रेडियो सक्रियता आदि से प्रभावित होता है। भू-गर्भ में तापक्रम शैलों की संरचना को प्रभावित करता रहता है। शैलों के

पिघलने पर घनत्व कम हो जाता है और आयतन बढ़ जाता है, जिससे शैलों को अधिक स्थान घेरना पडता है। परन्तु केन्द्र पर अत्यधिक दाव के कारण शैलों को फैलने का स्थान नहीं मिल पाता और वह ठोस अवस्था में ही रह जाती हैं। यह तथ्य खगोलीय तथा भूगर्भिक आकड़ों से भी विदित होता है कि पृथ्वी का क्रोड़ दाब के कारण ठोस प्लास्टिक की भाँति लचीला है।

दाब

न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम के अनुसार आकर्षण शक्ति पदार्थ के द्रव्य की मात्रा के अनुपात में बढ़ती है और उसके बीच की दूरी के अनुपात में कम होती है। भू-गर्भ में गहराई के साथ-साथ शैलों में द्रव्य की मात्रा बढ़ती जाती है जिससे गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी बढ़ती जाती है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के बढ़ने के कारण शैलों पर दबाव की मात्रा भी अधिक होती जाती है। धरातल पर एक वर्ग सेन्टीमीटर पर 2.4 पौण्ड का दबाव रहता है जो भू-गर्भ मे गहराई के साथ-साथ बढ़ता जाता है। भू-गर्भ में $1\frac{1}{2}$ कि.मी. गहराई पर यह दाब एक वर्गमीटर पर 5,000 टन तथा केन्द्र पर 222 लाख टन हो जाता है। ठोस अवस्था में रहते हुए शैल किसी सीमा तक बढ़ते दाब को सहन कर सकता है, किन्तु और दाब बढ़ता है तो शैल का स्वभाव एक ठोस लचीले पदार्थ की भाँति हो जाता है। भू-केन्द्र पर अत्यधिक दाब के कारण शैलों की रचना पृथ्वी की ऊपर की परतों की शैलों से भिन्न हैं तथा दाब के कारण उनका घनत्व भी अधिक है।

घनत्व

भू-पृष्ठ के शैल जैसे बालुका शैल, खड़िया, मिट्टी, मृदा, चूने का शैल, ग्रेनाइट आदि का घनत्व सामान्यत: 1.5 से 3.4 होता है। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम के अनुसार समस्त पृथ्वी का घनत्व 5.5 है। पृथ्वी का भार अपने बराबर आयतन वाले जलपिण्ड के के भार से 5.5 गुना अधिक है। धरातल की शैलों का औसत घनत्व 2.7 है। अगर समस्त पृथ्वी ऊपरी शैलों जैसे पदार्थों से निर्मित होती तो उसका इस समय के भार से आधा भार रह जाता। भू-पृष्ठ तलछटी शैलों द्वारा निर्मित है जिसकी औसत गहराई 20 कि.मी. है। इस आवरण के नीचे आग्नेय शैलें पाई जाती हैं, जिनका घनत्व 3 से 3.5 तक होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी में गहराई के साथ-साथ शैलों का घनत्व भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार अनुमान लगाया जाता है कि पृथ्वी के केन्द्र के आस-पास अर्थात् 'मध्य पिण्ड' का घनत्व 11 से अधिक है। लाप्लेस के अनुसार धरातल तथा पृथ्वी के केन्द्र के मध्य का घनत्व 8.23 और केन्द्र का 10.74 है। डार्विन के अनुसार पृथ्वी के अर्धव्यास के मध्य लगभग 3000 कि.मी. गहराई में घनत्व 7.4 है जो केन्द्र की ओर बढ़ता जाता है। बलेन ने विभिन्न गहराई पर घनत्व को पृष्ठ 83 परदी हुई सारणी में प्रदर्शित किया है।

भू-गर्भ में घनत्व के बढ़ने के बारे में वैज्ञानिकों के दो मत हैं। एक मत के अनुसार घनत्व दाब के कारण बढ़ता है, परन्तु प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि दाब द्वारा शैलों का घनत्व 11 तक नहीं पहुँचाया जा सकता। अन्य मत के समर्थकों का यह विश्वास है कि पृथ्वी की आन्तरिक संरचना भू-पृष्ठ की संरचना इसे भिन्न है। से अधिकांश वैज्ञानिक मान्यता देते हैं।

गर्म जल के स्रोतों से निकलने वाले खनिजों से ज्ञात होता है कि धरातल के नीचे पदार्थों का रूप कुछ और ही है। ज्वालामुखी उद्गार से निकला पदार्थ धरातल के शैलों से

भिन्न होता है। ज्वालामुखी का उद्‌गम क्षेत्र धरातल से 30 और 60 कि.मी. गहराई के बीच पाया जाता है। ब्राजील की सबसे गहरी खान मोरो वेल्हो की गहराई 2 किमी. है। कैलीफोर्निया में खनिज तेल के कुँए की गहराई 6 कि.मी. है।

सारणी 1

गहराई के साथ बढ़ता घनत्व

गहराई (किमी.	घनत्व प्रति इकाई ग्राम
0	3.3
1,000	5.5
3,000	5.8
4,000	10.4
5,000	11.5

चित्र 4.1 पृथ्वी की गहराई कि मी में
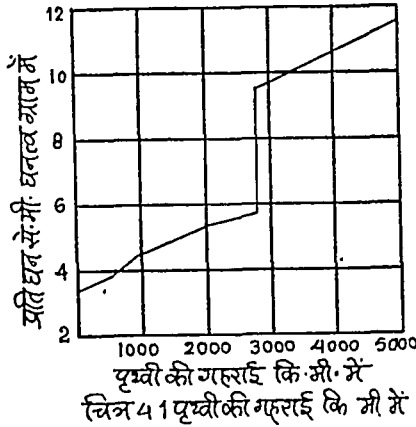
(अ) ज्वालामुखी क्रिया

ज्वालामुखी ऊष्ण लावा इंगित करता है कि भूगर्भ तरल पदार्थों का भण्डार है। ज्वालामुखी क्रियाओं द्वारा धरातल से लगभग 50 या 60 कि.मी. गहराई तक का ही ज्ञान हो सकता है जो पृथ्वी के अर्द्धव्यास का केवल एक प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त निकले लावा द्वारा केवल इस गहराई की शैलों का ही अध्ययन हो पाता है तथा शेप का ज्ञान अधूरा रह जाता है।

(ब) भूकम्प तरंगें

भूकम्पीय तरंगें पृथ्वी के अन्तर्भाग की सही गहराई पर शैलों की रचना के परिवर्तन की महत्वपूर्ण जानकारी देती हैं। 'महोरोविस' ने प्रयोगों के आधार पर बतलाया कि

भूकम्पीय तरंगें कम घनत्व की शैलों की अपेक्षा अधिक घनत्व की शैलों में तीव्र गति से चलती हैं। अगर एक ही तरंग भिन्न-भिन्न शैलों में तीव्र गति से चलती है तो उसकी गति भिन्न होती है। सीसमोग्राफ पर तरंगों की गति की विभिन्नता से शैलों के स्वभाव की भिन्नता का आभास होता है।

साधारणत: भूकम्पीय तरंगों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—अनुदैर्घ्य अथवा प्राथमिक तरंगें, अनुप्रस्थ या गौण तरंगें, या धरातलीय तरंगें।

अनुदैर्घ्य तरंगें 2900 कि.मी. की गहराई पर शैलों के घनत्व की विभिन्नता के कारण प्रत्यावर्तित होकर वक्राकार हो जाती हैं तथा अनुप्रस्थ तरंगें उस गहराई पर समाप्त हो जाती हैं। पृष्ठीय तरंगें केवल धरातल तक ही सीमित रहती हैं। गति के आधार पर वैज्ञानिकों ने P तथा S तरंगों के तीन युग्मों का अन्वेषण किया है। प्रथम Ps तथा Ss तरंगों की गति सबसे अधिक होती है। द्वितीय Pg तथा Sg तरंगें-इनकी गति सबसे कम होती है। तृतीय $P^{\times}$ तथा $S^{\times}$ तरंगें–इनकी गति प्रथम दो युग्मों की तरंगों के मध्य की होती है। भूकम्पीय तरंगों की गति और स्वभाव के आधार पर भूगर्भ में मुख्यत: तीन घनत्व-क्षेत्रों का आभास मिलता है।

ऊपरी परत

पृथ्वी के ऊपरी धरातल में Pg तरंग 5.4 किमी. तथा Sg तरंग 3.3 किमी. प्रति सैकण्ड की गति से चलती हैं तथा 15 किमी की गहराई के पश्चात् इनकी गति तेज हो जाती है। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि भूगर्भ में 15 किमी. की गहराई तक 2.7 घनत्व की चट्टानें विद्यमान हैं। ग्रेनाइट शैल का घनत्व 2.7 होता है, इसलिए यह सिद्ध होता है कि भूगर्भ में 15 किमी. की गहराई तक का भाग ग्रेनाइट शैल का बना हुआ है। Ps तथा Ss तरंगों के पश्चात् Pg तथा Sg तरंगों के युग्म का अनुभव किया जाता है। ये तरंगें धरातल के सबसे ऊपरी भाग में अत्यन्त मन्थर गति से प्रवाहित होती हैं। पृथ्वी का यह भाग बहुत ही कम घनत्व की शैलों से निर्मित है। Ps तथा Ss तरंगों के गति के आधार पर धरातल का सबसे ऊपरी भाग परतदार शैलों का बना माना गया है।

मध्यवर्ती परत

भूगर्भ में 15 किमी गहराई के पश्चात तरंगों की गति बढ़ जाती है। इसमें $P^{\times}$ तरंग की गति 5 से 6 किमी. तथा $S^{\times}$ तरंग की गति 3 से 4 किमी. प्रति सैकण्ड अनुभव की गई है। तरंगों की गति के आधार पर डाली तथा जेफरे ने मध्यवर्ती परत को ग्लासी बेसाल्ट का माना है जिसका घनत्व 3 है। इस परत की अधिकतम मोटाई 30 किमी. मानी गई है।

निचली परत

भूगर्भ में 35 किमी. से 45 किमी. की गहराई के पश्चात् भूकम्पीय तरंगों की गति और भी अधिक बढ़ जाती है। मध्यवर्ती परत के नीचे P तरंग की गति 7.8 किमी. और S तरंग की गति 4.5 किमी. प्रति सैकण्ड हो जाती है। इस गति से यह तरंगें भूगर्भ में 2900 किमी. की गहराई तक प्रवाहित होती हैं जिससे निष्कर्ष निकलता है कि निचली परत की मोटाई 2900 किमी. है तथा इस भाग का घनत्व 4.5 है। घनत्व के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि यह परत डूनाइट या पेरिडोटाइट शैलों की बनी हुई है।

भू-क्रोड़

2900 किमी. की गहराई के पश्चात् S तरंगें भू-क्रोड़ में प्रवेश नहीं कर पातीं तथा अपने बाँई और दाँई ओर मुड़कर वक्राकार मार्ग का अनुसरण करती हैं। भूगर्भ के सबसे निचले इस भाग में P तरंगें प्रवाहित तो होती हैं परन्तु सीधी न चलकर वक्राकार मार्ग पर मन्थर गति से चलती हैं। P तरंगों की गति के आधार पर अनुमान लगाया गया है भू-क्रोड़ ठोस न होकर कुछ चिपचिपे पदार्थ से निर्मित हैं। इस भाग की मोटाई लगभग 3400 किमी. मानी गई है।

जार्ज गेमो केन्द्र में पृथ्वी के आयतन का 1/8 भाग लौह अयस्क का मानते हैं तथा मध्यवर्ती भाग में जहाँ S तरंगें लुप्त हो जाती हैं तरल पदार्थ का अनुमान लगाया है।

पृथ्वी का रासायनिक संगठन, खनिज तथा शैल परतें

रासायनिक संरचना के अनुसार सभी आकशीय पिण्डों में आधारभूत समानता है। अदृश्य भू-गर्भ की रासायनिक रचना के सम्बन्ध में दूसरे आकाशीय पिण्डों से पृथ्वी पर गिरी उल्काओं के अध्ययन से भी जानकारी मिलती है। उल्काओं को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है : (1) प्रश्तरी, (2) लौह तथा (3) प्रश्तर लौह। प्रथम वर्ग की प्रश्तरी उल्काएँ लोहा-मेगनेशियम के सिलिकेट धातु की बनी होती हैं, तथा यह भू-गर्भ में भी मिलती हैं। द्वितीय वर्ग की लोहा-उल्काओं में लोहा तथा निकल का मिश्रण पाया जाता है। यह भी भू-गर्भ में विद्यमान है। तीसरी उल्काओं में सिलिकेट, निकल तथा लोहे का मिश्रण होता है तथा यह मिश्रण भी भूगर्भ में पाया जाता है। इसी आधार पर भूगर्भ के ऊपरी परत में ड्यूनाइट, मध्य में लोहा तथा केन्द्र में लोहा और निकल का मिश्रण मान सकते हैं।

स्वेस ने पृथ्वी के परत तीन भागों-सियाल, सीमा तथा नीफे में विभक्त किया है। ऊपरी परत सिलिका तथा एलुमिनियम के योग से बनी हुई है। इस परत की रवेदार शैलों में फेल्सपार तथा अभ्रक खनिजों की बाहुलता पाई जाती है जो सिलिकेट से निर्मित होती हैं। इसके अतरिक्त इसमें तेजाबी पदार्थ जैसे पोटेशियम, सोडियम तथा एलूमिनियम के सिलिकेट भी पाये जाते हैं। अनुमानतः महाद्वीप सियाल से ही निर्मित माने जाते हैं। इस परत का औसत घनत्व 2.9 तथा मोटाई 50 से 300 किमी. के लगभग है।

सीमा—सियाल परतों के नीचे सीमा की मध्यवर्ती परत फैली हुई है। रासायनिक आधार पर यह सिलिका तथा मैग्नेशियम मिश्रण से बनी हैं। इस परत में बैसाल्ट तथा गैब्रो

चित्र 5.2 स्वेस के अनुसार पृथ्वी की परतें

के अतिरिक्त क्षारीय पदार्थ मैग्नेशियम, कैल्शियम लोह सिलिकेट आदि अधिक मात्रा में होते हैं। इस परत से ज्वालामुखी उद्गार के समय गर्म लावा भू-गर्भ से बाहर आता है। सीमा का औसत घनत्व 2.9 से 4.7 तथा गहराई 1,000 से 2,000 किमी. तक होती है।

सारणी 2

क्रम संख्या	परत का नाम (Name of layer)	मोटाई (Thickness) (किमी. में)	तत्त्व (Elements)	घनत्व (Density)
1	ऊपरी सियाल परत (Upper sial crust)	1. महाद्वीपों के नीचे 60 2. अटलांटिक महासागर के नीचे 20 3. प्रशान्त महासागर के नीचे नगण्य	आक्सीजन, सिलिकेट, पोटेशियम, सोडियम तथा अल्यूमीनियम	2.7 से 2.9
2	सियाल की भीतरी परत (Inner silicate mantle)	60 से 1200	आक्सीजन, सिलिकेट, लोहा, कैलशियम तथा मैग्नेशियम	3.1 से 4.75
3	सिलिकेट तथा मिश्रित धातुओं की परत (Silicate and mixed minerals)	1200 से 2900	लोहा, निकल तथा मैग्नेशियम	4.75 से 5.0
4	भू-क्रोड़ (Core or metallic nucleus)	2900 से 6378 अर्थात केन्द्र तक	प्रधान रूप से लौह-अयस्क	11.00

जैफरे के अनुसार विभिन्न घनत्व के शैलों के आधार पर आन्तरिक भाग को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है—

सारणी 3

क्रम संख्या	परत का नाम (Name of layer)	घनत्व (Density)	मोटाई (Thickness)	तत्व (Elements)
1	ऊपरी परत (Upper layer)	2·7	60 किमी.	ग्रेनाइट (Granite)
2	मध्यवर्ती परत (Intermediate layer)	4	1120 किमी.	डायोराइट (Diorite) थैचीलाइट (Thachilite)
3	निचली परत (Lower layer)	5	1700 किमी.	बैसाल्ट (Basalt)
4	केन्द्र (Core)	11	शेष भाग	डूनाइट (Dunite), पेरियोडाइट (Periodite), इक्लोजाइट (Eclozite)

जेफरे ने ऊपरी परत को ग्रेनाइट, नीचे की परत को बैसाल्ट और इन दोनों के मध्य डायोराइट की परत बताई है।

होम्स ने केवल दो परतें ही मानी हैं। उसके अनुसार ग्रेनाइट के नीचे डायोराइट है।

नीफे—सीमा के नीचे पृथ्वी का क्रोड़ या केन्द्र पिण्ड स्थित है । भू-गर्भ के सबसे निचले भाग में निकल तथा लोह धातुओं के मिश्रण से बना है । इसका घनत्व 11 और मोटाई लगभग लगभग 3,500 किमी है ।

भूगर्भ की विभिन्न परतों की मोटाई व घनत्व

पृथ्वी के आन्तरिक भाग की रचना की विभिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न परतों की मोटाई तथा घनत्व भी भिन्न हैं ।

परतों की संख्या, उनकी मोटाई, तत्व एवं घनत्व के आधार पर भू-गर्भ की विभिन्न परतों को चार भागों बांटा है जो पृष्ठ 86 पर दी हुई सारिणी में अंकित है ।

डाली ने भी भू-गर्भ को चार मण्डलों में विभाजित किया है:

सारणी 4

क्र. सं.	मण्डल (Sphere)	घनत्व (Density)	मोटाई (Thickness)	तत्त्व (Elements)
1	स्थलमण्डल (Lithosphere)	3	80 किमी.	ग्रेनाइट
2	दुर्बल मण्डल (Asthenosphere)	4.5	360 किमी.	डायोराइट, थैचीलाइट
3	मध्यकाय मण्डल (Mesosphere)	9	2400 किमी.	बैसाल्ट, एकलोजाइट
4	केन्द्र (Centrosphere)	11.6	3538 किमी.	ग्रालीवाइन (Olivine) डूराइट, पेरियोडाइट

गुटनवर्ग तथ महोरोविसिस के अनुसार भू-गर्भ को पांच परतो मे बाँटा गया है :

तलछटी परत—यह असमान मोटाई की परत स्थल भागो में कुछ मोटी तथा जलाशयों में पतली है । इसको महोरोविसस की विश्रृंखल रेखा कहते हैं । तलछट के निक्षेप के स्थान पर यह अधिक मोटी है ।

ग्रेनाइट शैल की परत—भू-पृष्ठ तलछटी तथा ग्रेनाइट शैलों से बना है, इसकी गहराई 15 से 30 किमी. तक पाई जाती है, इसलिए ग्रेनाइट शैल महासागरो की अपेक्षा महाद्वीपों पर अधिक पाए जाते हैं ।

मूल शैलों की परत—भू-पृष्ठ तथा प्रावार के मध्य मूल शैल की परत स्थित

जिसकी मोटाई 60 किमी. है । इस परत में फेरोमैग्नेशियम की प्रधानता तथा फेल्सपार का अभाव है । महोरोवीसिस की खोज के परिणामस्वरूप इसे 'मोहो' की संज्ञा दी है ।

चित्र 4.3 भूगर्भ की परतों के घनत्व का तुलनात्मक अध्ययन
(गुटनबर्ग एवं महोरोविसिस के अनुसार)

अत्यालपसिलिक शैल की परत—यह परत प्रावार तथा भू-क्रोड़ के मध्य स्थित है । अतः इसको 'गुटनवर्ग परत' के नाम से जाना जाता है । इसमें पेरिडोटाइट की प्रमुखता होती है । इसकी औसत मोटाई 2900 किमी. आंकी गई है ।

भू-क्रोड़

भू-गर्भ के लगभग 3400 किमी. मोटाई में भू-क्रोड़ के होने का अनुमान लगाया गया है । भू-क्रोड़ में भी एक आन्तरिक भू-क्रोड़ की सम्भावना व्यक्त की गई है । इस आन्तरिक भू-क्रोड़ का घनत्व 17 और मोटाई 1400 किमी. मानी गई है ।

चित्र 4.4 पृथ्वी की आन्तरिक परतों का तुलनात्मक अध्ययन

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर भू-गर्भ को मुख्यतः तीन परतों में विभक्त किया जा सकता है—ऊपरी परत, मध्य परत तथा भू-क्रोड़ ।

ऊपरी परत—पृथ्वी की ऊपरी परत की मोटाई महाद्वीपों के नीचे 70 किमी., हिन्दमहासागर व अटलाण्टिक महासागर के नीचे 10 से 15 किमी. तथा प्रशान्त महासागर के नीचे 5 किमी. तक मानी है । होम्स ने ऊपरी आवरण की औसत गहराई 15 किमी. मानी है जो विभिन्न प्रयोगों के आधार पर निर्भर है ।

सारणी 5

होम्स के अनुसार भू-गर्भ के ऊपरी आवरण की गहराई

प्रयोगों के आधार पर	गहराई किमी. में
ताप के आधार पर	20 से कम
भूकम्प की पृष्ठीय तरंगों के आधार पर	15 से अधिक
भूकम्पीय तरंगों के दबाव के आधार पर	20 से 30 तक
अगाध भू-सन्नात के आधार पर	20 से अधिक

हेफोर्ड (Hayford) ने साहुल को आधार मानकर ऊपरी परत की मोटाई लगभग 144 किमी. तथा हेलमर्ट ने 120 किमी. बतलाई है। गुटनबर्ग ने इसको केवल 60 किमी. ही माना है। परत का ऊपरी भाग निचले भाग से रचना में कुछ भिन्न है। ऊपरी भाग में आक्सीजन, सीलिका तथा अल्यूमीना अधिक मात्रा में हैं, परन्तु निचले भाग में अल्यूमिनम की वजाय मैग्नेशियम अधिक मात्रा में पाई जाती है। इस भाग की रचना लगभग धरातल शैलों की रचना के समान ही है।

जैफरे ने घनत्व के आधार पर 481 किमी. की गहराई पर शैलों का घनत्व 3.99 से अकस्मात 4.22 हो जाता है। इस आधार पर स्तरों की रचना की विभिन्नता ज्ञात होती है। अन्वेषणों के आधार पर इसकी गहराई 474 किमी. आंकी गई है।

मध्य परत—भू-गर्भ में ऊपरी परत के नीचे मध्य परत का होना सिद्ध हो चुका है। इस परत की मोटाई 2850 से 2900 किमी. है। इसके ऊपरी भाग में लोहा सिलिकेट तथा मैग्नेशियम की अधिकता पाई जाती है। ऊपरी भाग का घनत्व 4.5 तथा मोटाई 1200 से 1250 किमी. बतलाई गई है। मध्य परत में 1200 किमी. से अधिक गहराई में निकल (Nickel) की मात्रा बढ़ जाती है जिससे घनत्व 5 से 6 हो जाता है। निचले भाग की मोटाई 1700 किमी. आँकी गई है। गुटनबर्ग ने भू-गर्भ में यह स्तर 1200 और तीसरा 1700 किमी. गहराई पर निर्धारित किया है। इस तथ्य से मध्य परत की दो भागो विभक्ति सिद्ध होती है।

भू-क्रोड़—भू-क्रोड़ लगभग 2900 किमी. की गहराई में प्रारम्भ होता है। भू-गर्भ का यह अतरतम भाग मुख्यतः धातुओं का बना है। भू-क्रोड़ को भी दो स्तरों में विभाजित किया जा सकता है—ऊपरी व आन्तरिक भाग। 2900 किमी. की गहराई से 5000 किमी, की गहराई तक ऊपरी परत तथा 5000 किमी. की गहराई से केन्द्र तक पृथ्वी का आन्तरिक क्रोड़ है। आन्तरिक क्रोड़ को निकल और लोहे-से बना माना जाता है। स्वेस ने भू-क्रोड़ को नीफे नाम दिया है। पृथ्वी के क्रोड़ की रचना में अन्तर न आकर पदार्थ का रूप बदल जाता है। अत्यधिक दाब के कारण अणुओं में इलेक्ट्रोन्स की मात्रा कम हो जाती है। भू-गर्भ के इस भाग का घनत्व 7 से 12 तक आँका गया है। इसे गुरुमण्डल भी कहा जाता है।

पृथ्वी के सामान्य मण्डल

संक्षेप में भूगर्भ की तीन परतों—स्थलमण्डल, उत्तापमण्डल तथा गुरुमण्डल में विभक्त किया जा सकता है ।

सारणी 6

पृथ्वी के सामान्य मण्डल

क्र. सं.	मण्डल	घनत्व	गहराई	तत्व
1	स्थलमण्डल	3	60 किमी.	ग्रेनाइट
2	उत्तापमण्डल	5.6	60 से 2900 किमी.	बेसाल्ट
3	गुरुमण्डल	12	2900 किमी. से केन्द्र तक	लोचदार किन्तु दृढ़ तत्व
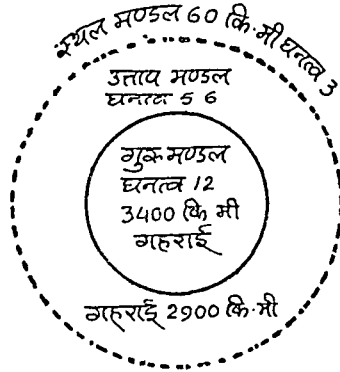
चित्र 4.5 पृथ्वी के सामान्य मण्डल

स्थलमण्डल में ग्रेनाइट जैसे कम घनत्व के शैल पाए जाते हैं, जिनका अधिकतम घनत्व 3 है । इस मण्डल की मोटाई 60 किमी. है । स्थलमण्डल के नीचे उत्तापमण्डल है जिसकी मोटाई 2900 किमी. है । उत्तापमण्डल में बेसाल्ट जैसे शैलों का घनत्व लगभग 5.6 होता है । उत्तापमण्डल के नीचे गुरुमण्डल अर्थात् केन्द्र पिण्ड है जिसका घनत्व 12 और मोटाई 3400 किमी. है । अत्यधिक ताप और दाब के कारण इस भाग में लोचदार किन्तु दृढ़ पदार्थ पाये जाते हैं ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Eddington, Sir A. S. (1926), 'The Internal Constitution of the Stars' (Cambridge University Press).
2. Encyclopedia Britanica (1966), Volume VII.
3. Gamow, G. (1959), 'Biography of the Earth', The Viking Press.

4. Gutenberg, B. (1951), 'Internal Constitution of the Earth', Dover, New York.
5. Jeffreys, H. (1959), 'The Earth', University Press, Cambridge.
6. Joly, J. (1930), 'The Surface History of the Earth', 2nd ed., Oxford.
7. Levin, B. (1958), 'The Origin of the Earth and Planets', Moscow.
8. Steers, J. A. (1964), 'The Unstable Earth', Methuen and Co. Ltd., London.
9. Strahler, A.N. (1965), 'The Earth Sciences', Harper and Row Publishers, New York.
10. Von Engeln, O. D. (1953), 'Geomorphology', Macmillan Co., New York.
11. Wooldridge, S. W., and Morgan, R. S. (1965), 'An Outline of Geomorphology', Longmans.

5

भू-पटल के पदार्थ

[Materials of the Earth's Crust]

पृथ्वी के भूपटल की मोटाई अनुमानतः 5 से 40 किमी. है जो विभिन्न शैलों से बना है । भूपटल पर स्थल के विकास में शैलों की भूमिका महत्वपूर्ण है, अतएव भूगोलवेत्ताओं के लिए सामान्य शैलों का ज्ञान आवश्यक है ।

भूपटल का सम्पूर्ण आवरण शैलों का बना है अतएव भूपटल जिन पदार्थों से बना है वे शैल अथवा चट्टान कहलाते हैं ।

सामान्यतः 'शैल' कठोर एवं संघटित पदार्थ है । शैलों के अन्तर्गत भूपटल के सभी ठोस पदार्थ आ जाते हैं चाहे वे कठोर हों अथवा कोमल, संघटित अथवा असंघटित । ग्रेनाइट जैसी कठोर तथा ठोस शैल जैसी कोमल और बालू जैसे असंघटित सभी पदार्थ शैलों के अन्तर्गत आते हैं ।

शैल खनिजों से निर्मित होते हैं, खनिज प्राकृतिक रूप से उपलब्ध निश्चित रासायनिक संरचना और निश्चित भौतिक एवं रासायनिक गुणों वाला पदार्थ होता है । पृथ्वी में 2000 से भी अधिक खनिज हैं किन्तु केवल छः खनिज—फेल्सपार, क्वार्ट्ज, पाइराक्सीन (औजाइट), एम्फिबोल (हार्नबलेण्ड), अभ्रक, मृदा आदि ऐसे हैं जिनसे भूपटल की अधिकांश शैलों की रचना हुई है ।

खनिजों की रचना रासायनिक तत्त्वों के अणुओं के संयोग से है जैसे फेलसपार खनिज एल्यूमिनियम, सिलिका, आक्सीजन, सोडियम, पोटेशियम एवं कैलशियम रासायनिक तत्त्वों के अणुओं के सम्मिश्रण से बना है । कुछ खनिजों में एक ही रासायनिक तत्त्व होता है जैसे सोना, चांदी, प्लेटेनिम, गंधक, ग्रेफाइट, हीरा आदि । ये तत्त्व अपनी मौलिक अवस्था में मिलते हैं अतः ये मौलिक अथवा प्राकृतिक तत्त्व कहलाते हैं ।

रासायनिक तत्त्व अनेक हैं परन्तु, इनमें से आठ–आक्सीजन, सिलिका, एल्यूमिनियम, लोहा, कैलशियम, सोडियम और मैगनेशियम इतनी प्रचुर मात्रा में हैं कि वे शैल खनिजों का 98.5 प्रतिशत है इनमें से प्रत्येक का परिमाण अग्रांकित तालिका में दर्शाया गया है :

सारणी 1

क्रम सं.	रासायनिक तत्त्व का नाम	प्रतिशत मात्रा
1	ग्राक्सीजन	46.60
2	सिलिका	27.72
3	एल्यूमिनियम	8.13
4	लोहा	5.00
5	कैल्शियम	3.63
6	सोडियम	2.83
7	पोटेशियम	2.59
8	मैग्नेशियम	2.09

कुछ शैल एक ही खनिज से बने होते हैं किन्तु अधिकांश बहुखनिज शैल होते हैं। ग्रेनाइट शैल क्वार्टज, अभ्रक, हार्नबलेण्ड ग्रादि खनिज कणो के संयोग से बनते हैं किन्तु चूना पत्थर, बलुग्रा पत्थर ग्रादि शैलों में एक ही खनिज होता है। इन्हें शैल एवं खनिज दोनों ही की संज्ञा दी जा सकती है।

ग्रत: शैल एक अथवा एक से अधिक खनिजों का संयुक्त रूप होता है तथा खनिज एक या एक से अधिक रासायनिक तत्त्वों का योगफल है

सारणी 2

शैल का नाम	शैल निर्माणकारी खनिज	खनिज निर्माणकारी रासायनिक तत्त्व
	क्वार्टज	ग्राक्सीजन सिलिका
ग्रेनाइट	फेल्सपार	सिलिका, एल्युमिनियम, ग्राक्सीजन, सोडियम, कैलशियम, पोटेशियम
	अभ्रक	सिलिका, पोटेशियम, एल्यूमिनियम, लौह, मैग्नेशियम

शैलों का वर्गीकरण।

शैलों के ग्रनेक प्रकार है। इनका वर्गीकरण इनकी संरचना, संघटन रचना विधि, भौतिक गुणधर्मों के ग्राधार पर किया जाता है, रचना विधि के ग्राधार पर शैलो के तीन वर्ग—ग्राग्नेय, ग्रवसादी एवं कायान्तरित होते है।

आग्नेय शैल

उष्ण एवं पिघले पदार्थों के ठोस हो जाने से निर्मित शैल आग्नेय शैल कहलाते हैं। ठोस भूपटल के नीचे का पदार्थ अत्यधिक गर्म है परन्तु ऊपरी परतों के अत्यधिक दाब के कारण वह पिघल नहीं पाता है, जब कहीं दाब कम हो जाता है तो वह पदार्थ पिघल जाता है। यह उष्ण, लसदार एवं पिघला पदार्थ शैलमूल अथवा मैग्मा कहलाता है। मैग्मा के ठंडा होकर ठोस हो जाने से ही आग्नेय शैल बनते हैं इन्हें मैग्मक शैल भी कहते हैं।

आग्नेय शैल को मूल शैल भी कहते हैं क्योंकि इनकी रचना सबसे पहले हुई तथा अन्य सभी शैलों का उद्भव इन्हीं शैलों से ही हुआ है। जब पृथ्वी अपने विकास के आरम्भिक चरण में पूर्णतः द्रवित अवस्था में थी तथा इसकी बाहरी परत के ठंडी होने से आग्नेय शैलों का निर्माण हुआ किंतु यह रचना क्रम आज भी जारी है। आज भी भूपटल पर 500 से अधिक जाग्रत ज्वालामुखी हैं जो इनके शैलों के वर्तमान रचनाकार हैं। ग्रेनाइट, बेसाल्ट, एन्डिसाइट, गैब्रो, आबसीडियन, डोलेराइट, रियोलाइट, पेरिडोटाइट आदि आग्नेय शैलें हैं।

आग्नेय शैल स्फटिक अथवा रवेदार होती हैं। इनमें रवे पिघले पदार्थों के ठंडा होने से बन जाते हैं। इन रवों का निश्चित आकार नहीं होता है। जब मैग्मा मन्द गति से ठण्डा होता है तो रवे बड़े बनते हैं और जब मैग्मा तुरन्त ठंडा होकर ठोस होता है तो रवे बहुत ही महीन-रूप लेते हैं और कभी-कभी रवे बन भी नहीं पाते हैं। आग्नेय शैलों में रवों का निश्चित क्रम भी नहीं होता है।

ये शैल स्थूल व परतहीन होती हैं तथा मैग्मा की परत पर पुनः मैग्मा जमा होने से कभी-कभी इनमें परतें दिखाई देती हैं। किंतु ये परते केवल मैग्मा के उद्गार के समयान्तर को दर्शाती हैं।

ये शैल कठोर, सुगठित एवं रन्ध्रहीन होती हैं जिससे इनका अपरदन कठिनाई से होता है परन्तु सूर्य ताप, पाला एवं रासायनिक क्रिया द्वारा अपक्षय सुगम है।

इन शैलों में जीवाश्म या वनस्पति के अवशेष नहीं पाये जाते हैं क्योंकि आग्नेय शैलों की रचना पृथ्वी के विकास के आरम्भिक काल में हुई तब जीवों एवं वनस्पति का आविर्भाव ही नहीं था। अति उष्ण एवं तरल मैग्मा के शीतल होकर ठोस रूप लेने में उच्च ताप के कारण भी जीवाश्म या वनस्पति अवशेष नष्ट हो जाते हैं।

भूपटल के समस्त पदार्थ का 95 प्रतिशत आग्नेय शैल हैं। अपनी विपुलता के साथ-साथ ये अनेक प्रकार के होते हैं। इनका रासायनिक संगठन, कण-आकार, रंग, रचना विधियाँ आदि विभिन्न होती हैं अतः इन शैलों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया गया है किन्तु रचना विधि एवं रासायनिक संगठन पर आधारित वर्गीकरण ही अधिक मान्य है।

अधिकांश आग्नेय शैलों का रासायनिक संगठन अत्यन्त जटिल है इनमें लगभग सब ही ज्ञात रासायनिक तत्व मिलते हैं। किन्तु एक आग्नेय शैल में उपस्थित सिलिका की मात्रा वर्गीकरण के आधार के लिये उपयोगी सूचकांक है। सिलिका की मात्रा के आधार पर आग्नेय शैलों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है :

अधिसिलिक आग्नेय शैल—इन शैलों के रासायनिक संगठन में सिलिका की मात्रा 65 प्रतिशत से अधिक होती है। सिलिका की मात्रा अधिक होने से रचनाकारी सामग्री

सारणी 3

रासायनिक संघटन एवं रचना विधि के आधार पर आग्नेय शैलों का वर्गीकरण

वर्गीकरण का आधार	अधिसिलिक	मध्यसिलिक	अल्पसिलिक	अति अल्पसिलिक
रासायनिक संघटन				
सिलिका की मात्रा (%)	65 से अधिक	66—55	55—45	45 से कम
मूल आक्साइड की मात्रा (%)	35 से कम	35—45	45—55	45 से अधिक
(अ) अन्तर्वेधी				
1–पातालीय	ग्रेनाइट	डायोराइट	ग्रेबो	पेरिडोटाइट
2–उप-पातालीय	ग्रेनोफायर	विभिन्न प्रकार के फोरफाइरीज	डालोराइट	—
रचना विधि				
(ब) बहिर्वेधी				
ज्वालामुखी शैल	रियोलाइट	एन्डिसाइट आबसीडियन	बेसाल्ट	—

तुरन्त ठण्डा हो जाता है अतः यह शैल सीमित क्षेत्रों में मिलते हैं। लोह, मैगनेशियम, सोडियम आदि की कमी के कारण इनका रंग फीका और भार हल्का होता है। इनका औसत घनत्व 2.5—2.7 होता है। ग्रेनाइट, आबसीडियन आदि अधिसिलिक आग्नेय शैल हैं।

मध्य सिलिक आग्नेय शैल—इनमें सिलिका की मात्रा 55 से 65 प्रतिशत होती है। इनका घनत्व 2.7 से 2.8 होता है। डायोराइट, एन्डिसाइट आदि मध्य सिलिका शैल हैं।

अल्प सिलिक आग्नेय शैलों में सिलिका की मात्रा 55 प्रतिशत से कम तथा मूल अयस्क लोह, मैगनेशियम, पोटेशियम की मात्रा 45 प्रतिशत से अधिक होती है। सिलिका की मात्रा सापेक्ष कम होने से ये मन्द गति से ठण्डी होती है। अतः ये शैल विस्तृत क्षेत्रों में मिलते हैं। इनका रंग गहरा काला तथा ये वजन में भारी होते हैं। इनका घनत्व 2.8 से 3.0 होता है। गेब्रो, बैसाल्ट आदि प्रमुख शैल इस श्रेणी में आते हैं।

अति अल्प सिलिक आग्नेय शैल—इनमें सिलिका की मात्रा सबसे कम (45 प्रतिशत से भी कम) होती है। ये सबसे गहरे रंग की एवं वजन में सबसे भारी होते हैं। इनका घनत्व 3.0 से 3.5 होता है। पेरिडोटाइट, डुनाइट आदि शैल प्रमुख हैं।

रचना विधि के आधार पर वर्गीकरण

आग्नेय शैलों की रचना विभिन्न परिस्थितियों में मैग्मा के ठण्डा होकर ठोस होने से होती है। मैग्मा की उत्पत्ति भूपटल में पर्याप्त गहराई पर होती है। आन्तरिक दबाव से ऊपर की ओर निसृत ठोस एवं भंगुर भूपटल से बाहर आते हैं। सम्भवतः 30 किलोमीटर या उससे भी अधिक गहराई पर मैग्मा की स्थानीय संचयिकाएं पाई जाती हैं, इस प्रकार रचना विधि के आधार पर आग्नेय शैलों को बहिर्वेधी एवं अंतर्वेधी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

बहिर्वेधी आग्नेय शैल—मैग्मा के भूतल पर ठण्डा होकर ठोस होने से रचित होते हैं। इन्हें ज्वालामुखी शैल भी कहते हैं क्योंकि भूतल पर मैग्मा ज्वालामुखी अथवा दरारों द्वारा आता है। मैग्मा गैसों के निर्गमन से लावा में परिणित हो जाता है। ज्वालामुखी से निःसृत राख, धूल, लेपिली, बड़े-बड़े शिलाखण्ड आदि भी बहिर्वेधी आग्नेय शैल हैं इन्हें ज्वालाखण्डमय शैल भी कहते हैं।

ये शैल लावा प्रवाह एवं ज्वालामुखी पर्वतों के रूप में देखे जा सकते हैं। प्रायः द्वीपीय भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग बिहार की राजमहल पहाड़ियों का निकटवर्ती क्षेत्र एवं कोलम्बिया के पठार लावा के बहाव से बने शैल हैं।

मैग्मा के शीघ्र ठण्डा होने से बहिर्वेधी शैलों में रवे या तो निर्मित नहीं होते हैं या ये बहुत ही महीन होते हैं। आब्सीडियन ऐसा ही रवे विहीन शैल होता है जो काले शीशे सदृश्य चमकीला और चिकना होता है। बैसाल्ट एवं एन्डिसाइट सूक्ष्म कणिक शैल हैं।

भूगर्भ में मैग्मा के ठोस होने से बने शैल अन्तर्वेधी आग्नेय शैल कहलाते हैं। आन्तरिक भाग में मैग्मा धीरे-धीरे ठण्डा होता है इसमें रवे बड़े-बड़े बनते हैं। भूगर्भ की विभिन्न गहराई में अन्तर्वेधी आग्नेय शैल के दो उपवर्ग हो सकते हैं, पातालीय एवं उप-पातालीय।

अधिक गहराई में रचे आग्नेय शैल पातालीय शैल कहलाते हैं। तापमान अधिक होने से मैग्मा मन्द गति से ठण्डा होता है जिससे बड़े-बड़े एवं अपरिष्कृत रवों वाली गठीली शैलों का निर्माण होता है। इनमें ग्रेनाइट, गेब्रो, डायोराइट, पेरिडोटाइट आदि प्रमुख हैं।

भूपटल की सामान्य गहराई पर निर्मित आग्नेय शैल उप-पातालीय शैल कहलाते हैं। मैग्मा प्रतिरोधक भूपटल को तोड़कर भी बाहर नहीं आ पाता है और संधियों व दरारों में ही जमा हो जाता है तो इन शैलों की रचना होती है। सामान्य गहराई पर निर्मित होने से इन शैलों में रवे अपेक्षाकृत छोटे-छोटे होते हैं। डालोराइट, ग्रनोफायर, पोरफाइरीज आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

भूपटल की दरारों, संधियों एवं संस्तरण सतहों में विभिन्न गहराई पर मैग्मा के जमा होने से बैथोलिथ, लेकोलिथ, सिल, डाइक आदि आग्नेय अन्तर्वेधों में अनेक विलक्षण एवं रोचक रूप पाये जाते हैं।

अवसादों के संचयन से निर्मित शैल अवसादी शैल कहलाती हैं। भूपटल पर अपक्षय एवं अपरदन सूर्यताप, वर्षा, हिम, पवन आदि शैल वियोजन में सतत् लीन हैं इससे भूतल की शैल असंघटित एवं अनेक आकार के खण्डों में विभक्त हो जाती है। इस असंघटित शैल सामग्री को पवन, हिम, जल भूपटल पर यत्र-तत्र फैलाते रहते हैं। एक भाग से स्थानान्तरित करके अन्यत्र जमा की गई असंगठित शैल अवसादों में कंकड, बट्टी, बजरी, बालू, कांप आदि सभी होते हैं। ये अवसाद शनैः-शनैः संचित होकर अवसादी शैल की रचना करते हैं।

अवसादी शैल को स्तरीय शैल भी कहते हैं। क्योंकि इनमें अवसादों का निक्षेप निश्चित क्रम से स्तरों में होता है। भारी और मोटे कण ऊपर तथा हल्के व छोटे कण नीचे जमा होते हैं। इस प्रकार भार एवं आकार के अनुसार कणों के जमाव से स्तरों का निर्माण होता है। सामान्यतः अवसाद आरम्भ में असंघटित, ढीले एवं कोमल होते हैं परन्तु शनैः-शनैः ऊपरी स्तर के भार एवं संयोजक पदार्थों जैसे कैलशियम कार्बोनेट, सिलिका, लोह अयस्क आदि के प्रभाव से गठीले, सुदृढ़ एवं कठोर बनते जाते हैं। ये अनुमूल शैल भी कहे जाते हैं। ये पूर्ववर्ती शैल पृथ्वी के इतिहास की आरम्भिक अवस्था में आग्नेय शैल ही थे किन्तु कालान्तर में कायान्तरित एवं अवसादी शैल भी पूर्ववर्ती शैल के रूप में बन गये। चूना पत्थर, बलुआ पत्थर शैल, डोलोमाइट, पोट जिप्सम, खड़िया, मिट्टी आदि अवसादी शैल हैं।

ये अवसादी शैल भूपटल के लगभग 75 प्रतिशत क्षेत्र को ढके हुए हैं। परन्तु इनकी मोटाई बहुत ही कम है। यद्यपि कुछ स्थानों में इनकी मोटाई 15–20 किलोमीटर तक भी है परन्तु अधिकांश क्षेत्रों में यह कुछ मीटर ही है।

ये शैल स्तरित होते हैं जो सामान्यतः क्षैतिज स्थिति में ही निर्मित होते हैं परन्तु भूपटल की परवर्ती हलचलों ये स्तर से किसी भी कोण पर झुक जाते हैं। दो आसन्न स्तरों को पृथक करने वाली बीच की सतह को संस्तरण सतह कहा जाता है।

ये रंध्रमय शैल होते हैं। छोटे-बडे अवसाद कणों के संयोजन से निर्मित होने से इनमें रंध्र रह जाते हैं। इन रंध्रों से जल सुगमता से प्रवेश करता है। इनमें अवसाद कण विभिन्न आकार के होते हैं किन्तु वे निश्चित क्रम से निक्षेपित होते हैं। इनमें सामान्यतः

जीवाश्म एवं वनस्पति के अवशेष पाये जाते हैं। ये शैल नरम होते हैं फलस्वरूप इनका अपरदन सरलता से होता है। अधिकांश अवसादी शैलों में से लहरों के चिन्ह विद्यमान होते हैं।

आग्नेय शैल की भांति अवसादी शैल भौतिक, जैविक एवं रासायनिक शैल हो सकते हैं तथा सरचना के आधार पर ये मोटे तथा महीन अवसाद कण आकार की तथा कार्बनयुक्त, चुनायुक्त और सिलिकायुक्त होते हैं।

सारणी 4

अवसादी शैलों का वर्गीकरण
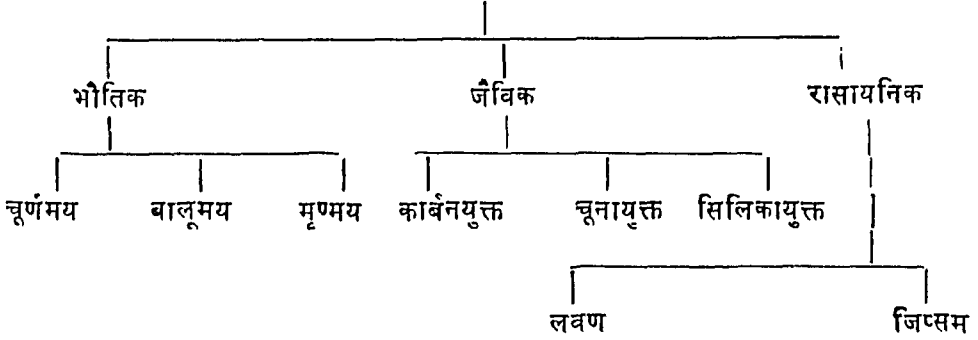
भौतिक विधि से पूर्ववर्ती शैलों के वियोजन एवं विखण्डन से प्राप्त शैल खण्डों के संचय से निर्मित शैल खण्डमय शैल कहलाते हैं।

भूपटल की चट्टानें अपक्षय एवं अपरदन से निरन्तर विखण्डित एवं ध्वंसित होती रहती हैं जिससे विभिन्न आकार एवं आकृति के शैल खण्ड जैसे गोलाश्म, कंकर, बालु, बजरी, मिट्टी और गाद, धूल आदि बनते हैं।

सारणी 5

प्रधान शैल खण्ड कणों के आकार

(मिलीमीटर में)

	मोटे	मध्यम	महीन
शैल खण्ड			
गोलाश्म	200	—	—
कंकर	200–60	—	—
बजरी	60–20	20–60	6–2
बालु	2–0.6	0.6–0.2	0.2–0.6
गाद	0.06–0.02	0.02–0.06	0.006–0.002
चीका या पंक	—	—	0.002 से भी कम

जल, पवन, हिम, नदी आदि इन शैलखण्डों को बहाकर अन्यत्र जमा कर देते हैं।

यह शैल सामग्री यदि सागरों में जमा की जाती है तो **सागरीय शैल**, यदि सरोवर एवं झीलों में तो **सरोवरीय शैल** और यदि नदी घाटी की तली व उसके किनारों पर तो **नदी शैल** कहलाते है। ये तीनो ही प्रकार के शैल जल में अवसादों के संचित होने से निर्मित होते है अत: ये **जलीय शैल** है। हिमनदी एवं पवन निक्षेप से संचित शैल क्रमश: **हिमनदी शैल** एवं **वायूढ शैल** कहलाते है। जल में निक्षपित शैल सामग्री क्रमवद्ध स्तरों में संचित होती है। इसी प्रकार पवन द्वारा निक्षिप्त शैल सामग्री भी क्रमबद्ध एवं स्तरित होती है किन्तु हिमनदीय निक्षेप क्रमरहित अस्तरित होता है। अधिकांश अवसादी शैल ऐसे ही खण्डमय शैल हैं। अवसाद कणों के आधार पर खण्डमय शैल को तीन वर्गों—चूर्णमय, बलुआ शैल, मृण्मय शैल में विभाजित किया जा सकता है।

चूर्णमय शैल—2 मिलीमीटर से अधिक व्यास वाले अवसाद कणों के होते है। इनमें गोलाश्म, कंकर, बजरी, बट्टी आदि असंगठित शैल खण्ड होते हैं। ये ही संगठित होकर गिट्टी, संपिण्डित एवं कोणाश्म शैलो का रूप लेते हैं।

बलुआ शैल—बालू के कणों से गठित होते हैं। इनमें अवसाद कणों का व्यास .05 मिलीमीटर तक होता है। इसमें क्वार्ट्ज की प्रधानता होती है। जल के साथ घुली हुई चिकनी मिट्टी, सिलिका, लोह आक्साइड एवं चूने के साथ विभिन्न आकार के बालू कण मिलकर संगठित होने से इन शैलों का निर्माण होता है। ये सरंध्रमय शैल होते हैं किन्तु अपरदन प्रतिरोधक होते है।

मृण्मय शैल—मिट्टी के महीन कण जिनका व्यास .05 मि. मी. से कम होता है के निक्षेप से मृण्मय शैल बनते हैं। जल में बड़े-बड़े कण भी घुलकर मिट्टी का रूप लेते हैं। बाढ़ प्लावित मैदान, सरोवर एवं सागर–निक्षेपो में प्राय: यही शैल होते है। इनमें क्वार्ट्ज तथा अभ्रक के सूक्ष्म कणों की प्रधानता होती है। महीन कणों के कारण ये सरंध्रमय नहीं होते है। किन्तु कोमल होने से शीघ्र अपरदित हो जाते हैं।

जैविक अथवा जीवकृत अवसादी शैल

ये जीवाश्म एवं पेड़-पौधो के अवशेषो से बनते है। अवसादों के निक्षेप केसमय उनमें जीव-जन्तु अथवा वनस्पति दब जाती है। ये धीरे-धीरे सड़कर अवसाद का अंश बन जाते हैं तथा कभी-कभी जीवों के अस्थिपंजर एवं वनस्पति के टुकड़े अवसादी शैलों के बीच स्पष्ट दिखाई देते हैं। जैविक शैल में कार्बन, चूना एवं सिलिका की प्रधानता के आधार पर इनके तीन उपवर्ग हैं :

कार्बनयुक्त शैल में कार्बन तत्त्व की प्रधानता होती है। दलदल एवं कीचड़ में पेड़-पौधों के संचयन से इनका निर्माण होता है। समुद्र के समीप स्थित घने वन जब कभी समुद्र में डूब जाते हैं उन पर अवसाद जमा होते रहते हैं शनै:-शनैः ऊपरी भार व आन्तरिक ताप से यह वनस्पति कोयला बन जाती है। कोयले की परतें प्राय: बलुआ पत्थर एवं शैल की परतों के बीच मिलती हैं। पीट, लिगनाइट आदि विभिन्न प्रकार का कोयला कार्बनयुक्त शैल के उदाहरण हैं।

चूनायुक्त शैल की संरचना में कैलशियम कार्बनेट की प्रधानता होती है। कैलशियम कार्बोनेट सागरीय जीव जैसे प्रवाल, फोरेमिनिफेरा, घोंघा आदि के कंकाल एवं खोलों से

प्राप्त होता है। ये शैल पर्याप्त कठोर होते हैं किन्तु जल के सम्पर्क में आकर शीघ्र घुल जाते हैं। चूना पत्थर, चाक, डोलामाइट आदि प्रमुख हैं।

सिलिकायुक्त शैलों की संरचना में सिलिका तत्त्व की प्रधानता होती है। सिलिका सागरीय जीव स्पंज, रेडियोलेरिया आदि तथा सागरीय पौधे डियाटम के अवशेषों से प्राप्त होता है। सिलिकायुक्त शैल पृथक रूप में नहीं मिलती है। इसकी ग्रन्थियां चूना तथा खड़िया शैलों में फुटकर रूप में मिलती हैं।

रासायनिक विधि से निर्मित शैल

जल में घुले हुए लवण के अवक्षेप से निर्मित शैल रासायनिक शैल कहलाते हैं। जल में प्रायः लवण घुले हुए रहते हैं। जल के वाष्पीकरण, रासायनिक प्रतिक्रिया, अधो-भौमिक जल पर दबाव कम होने आदि से ये लवण अवक्षेपित होते हैं। सागरों की संकरी व उथली खाड़ियों एवं अन्तरस्थलीय बेसिनों व छिछली झीलों में जल के तीव्र वाष्पीकरण से विभिन्न प्रकार के लवण तहों के रूप में जमा होते रहते हैं तथा कालान्तर में ये शैल बन जाते हैं। शैल लवण जिप्सम आदि इसी प्रकार के शैल हैं। गुफाओं में अश्चुताश्म एवं निश्चुताश्म के रूप में चूना के निक्षेप रासायनिक विधि से होते हैं। चूनामय निक्षेप जब नरम एवं स्पंजी होता है तो टूफा जब कठोर एवं गठीला होता है तो टेवरटाइन कहलाता है। ये शैल अखंड होते हैं।

कायान्तरित शैल

ये पूर्ववर्ती शैल के रूप, गुण एवं संरचना में परिवर्तन होने से बनते हैं। पूर्ववर्ती शैलों के रूपान्तरण की प्रक्रिया कायान्तरण कहलाती है। ताप दबाव एवं रासायनिक क्रिया से आग्नेय, अवसादी और पूर्वकायान्तरित शैलों की काया पलट जाती है। इसके फलस्वरूप मूल शैल की कठोरता बढ़ जाती है, उसकी खनिज संरचना बदल जाती है तथा इनमें रवों की रचना तथा पुनर्रचना होती है। कुछ शैलों में कायान्तरण के बाद भी पूर्ववर्ती शैलों के लक्षण बने रहते हैं किन्तु कभी-कभी कायान्तरण इतना प्रखर होता है कि नवीन शैल की संरचना मूल शैल से नितान्त भिन्न हो जाती है।

कायान्तरित शैल का गठन आग्नेय एवं अवसादी शैलों से भिन्न विधि से होता है। अवसादी शैलों का अवसाद अपने उत्पत्ति स्थल से स्थानान्तरित होकर अन्यत्र निक्षिप्त होता है तथा आग्नेय शैलमूल भी मैग्मा से स्थानान्तरित होता है। किन्तु कायान्तरित शैल सामग्री अपने मूल स्थल से स्थानान्तरित नहीं होती है। इनका निर्माण मूल शैल में कायान्तरण प्रक्रिया से होता है।

सामान्यतः कायान्तरित शैल पहाड़ी क्षेत्रों और भूतल के नीचे पाई जाती है। भूतल पर ये केवल उन्हीं क्षेत्रों में मिलती है जहां अपरदन से इनके ऊपर का शैलावरण हट गया हो स्लेट, संगमरमर, क्वार्ट्जाइट, फाइलाइट विभिन्न प्रकार के शिस्ट एवं नाइस, हीरा आदि प्रमुख कायान्तरित शैल हैं।

कायान्तरित शैल कठोर एवं गठीले सामान्यतः सघन, व्यवस्थित रवेदार होते हैं। रंध्रहीन इन शैलों में अपरदन व अपक्षय कम होता है।

कायान्तरित शैलों का वर्गीकरण

कायान्तरित शैलों का वर्गीकरण अभिकर्त्ता, मूल शैल और प्रभाव क्षेत्र के आधार पर किया जाता है।

तापीय कायान्तरण ताप के प्रभाव से होता है। मैग्मा के अन्तर्वेध तथा अधिक गहराई में धंसाव व उच्च ताप से मूल शैलों के खनिज द्रवित होकर पूर्णतः नवीन रूप धारण कर लेते हैं। इससे बलुआ पत्थर क्वार्टजाइट में तथा चूना पत्थर संगमरमर में परिवर्तित हो जाते हैं।

गत्यात्मक कायान्तरण—शैलों में सम्पीडन के फलस्वरूप होता है। सम्पीडन में गति निहित होती है इससे शैल सिकुड़ती हैं अथवा विस्थापित होती हैं। पार्श्विक सम्पीडन से शैल के खनिज कण सिकुड़ कर पिस कर चपटे हो जाते हैं इससे खनिज कण पुनर्व्यवस्थित होते हैं और शैल संरचना व रूप में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। बलित पर्वतों की रचना इसी प्रकार के कायान्तरण से होता है। अधोमुखी सम्पीडन से गहराई पर स्थित शैलों में स्थैतिक कायान्तरण होता है। शैल शिस्ट में तथा ग्रेनाइट नाइस में सम्पीडन के कारण ही कायान्तरित होती है।

रासायनिक कायान्तरण—उष्ण अथवा शीतल द्रव और गैसों की रासायनिक प्रक्रिया से शैलों के खनिज एवं सामान्य संरचना में परिवर्तन कहलाता है। द्रव, विशेषकर जल शैल सामग्री को घुला कर कालान्तर में उनका नवीन खनिज सम्मिश्रण बना देता है जिससे नवीन शैल बन जाते हैं। गैस और विशेषकर जल वाष्प जो मेग्मा से निसृत होती है, शैल की रासायनिक संरचना में परिवर्तन करके कायान्तरण कर देती है। इसे उष्ण जलीय कायान्तरण भी कहते हैं।

कायान्तरित शैल तीन प्रकार के होते हैं : मूल आग्नेय शैलों में कायान्तरण से परि-आग्नेय अथवा आग्नेय कायान्तरित शैल निर्मित होते हैं। इस कायान्तरण से ग्रेनाइट नाइस में, गैब्रो सरपेन्टाईन में तथा बैसाल्ट स्लेट में रूपान्तरित हो जाता है।

मूल अवसादी शैलों में कायान्तरण होने से परि-अवसादी अथवा अवसादी कायान्तरित शैल बनते हैं। इसी कायान्तरण से शैल स्लेट में, बलुआ पत्थर क्वार्ट्जाइट में तथा चूना संगमरमर में परिवर्तित हो जाता है।

स्वयं कायान्तरित शैल में कायान्तरण होने से पुनः कायान्तरित अथवा बहु-कायान्तरित शैल की रचना होती है। इस कायान्तरण से शैल स्लेट में, फाईलाईट शिस्ट में तथा कोयला ग्रेफाइट में, ग्रेफाइट हीरे में परिवर्तित हो जाता है।

(क) स्पर्शीय कायान्तरण—ताप के स्पर्श से होने वाला शैल कायान्तरण स्पर्शीय कायान्तरण कहलाता है। इसका प्रभाव सीमित क्षेत्र में होता है अतः इसे स्थानीय कायान्तरण की संज्ञा भी दी जाती है। आग्नेय अन्तर्वेधों से संलग्न शैल उष्ण मेग्मा एवं उससे निःसृत गैस तथा जलवाष्प के स्पर्श से कायान्तरित होते हैं। अन्तर्वेध के आस-पास की कायान्तरित शैलों का क्षेत्र कायान्तरित मंडल कहलाता है। इस क्षेत्र में स्पर्श तल पर शैल कायान्तरण अधिक प्रखर होता है तथा स्पर्श तल से दूर कायान्तरण की प्रखरता कम होती जाती है।

(ख) क्षेत्रीय कायान्तरण—विस्तृत क्षेत्र में शैल कायान्तरण में ताप एवं सम्पीड़न दोनों ही का हाथ होता है। पर्वत निर्माणकारी बलों से भूपटल के विस्तृत क्षेत्र के शैलों पर अत्यधिक

दबाव पड़ता है तथा बहुत से शैल गहराई में धंस जाते हैं जहां उष्णता अधिक होती है। इसी अत्यधिक दबाव और ताप से विस्तीर्ण क्षेत्र के शैल पूर्णतः रूपान्तरित हो जाते हैं। हिमालय, राकीज, आल्प्स आदि वलित पर्वतों में क्षेत्र कायान्तरण के अनेक लक्षण पाये जाते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Longwell, C. R. and Flint, R. F. (1962), Introduction to Physical Geology (John Wiley and Sons, Inc.), New York.
2. Monkhouse, F. J. (1962), Principles of Physical Geography (University of London Press), London.
3. Lange, O. etc., General Geology (Foreign Language Publishing House), Moscow.
4. Holmes, A. (1965), Principles of Physical Geology (Thomas Nelson Ltd.), London.
5. Strahler, A. N. (1968), Physical Geography (Wiley Eastern Private Ltd.), New Delhi.
6. Wooldridge, S. W. & Morgan, R.S. (1959), An Outline of Geomorphology (Longmans).
7. Worcester, P.G. (1965), A Text Book of Geomorphology (Affiliated East-West Press Pvt. Ltd.), New Delhi.

6

महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति

[Origin of Continents & Ocean Basins]

पूर्व में यह धारणा बलवती थी कि महाद्वीप एवं महासागर पृथ्वी के अस्थायी अंग हैं, किन्तु 20वीं शताब्दी से यह धारणा अमान्य हो गई। आज यह धारणा बलवती है कि अनादिकाल से पृथ्वी पर महाद्वीपीय एवं महासागरीय भू-खण्ड स्थायी रूप से विद्यमान हैं। सभी क्षेत्रीय विभिन्नताओं में पृथ्वी के ठोस धरातल का रूप ही स्थायी है। समय-समय पर भू-गर्भिक हलचलों एवं भौगोलिक तत्त्वों ने इनके आकार में परिवर्तन अवश्य किया है किन्तु फिर भी यह सदा स्थायित्व लिये हुए हैं।

महाद्वीपों एवं महासागरों का स्थायित्व

यद्यपि परतदार शैलों का जन्म उथले सागरों मे हुआ, किन्तु महासागरीय गहराइयों में पाये जाने वाले निक्षेपो में सूक्ष्मकण वाली लाल मिट्टी का महाद्वीपीय अवसादी शैलों में सर्वथा अभाव है। वलित पर्वतो में उथले सागरीय निक्षेप पाये जाते हैं जो महाद्वीपों के किनारे लम्बे तथा संकरे आकार में फैले हुए हैं किन्तु महाद्वीपों के आन्तरिक भाग में इनका अभाव है। गहराई के साथ-साथ शैलों का घनत्व भी बढ़ता जाता है। सागर तल सीमा से और महाद्वीप सियाल से बने हैं अतः सागरीय तलों में सियाल का अभाव है। भू-तल की संरचना के अनुसार 'सियाल' अधिक घनत्व के सीमा में तैरता है। अतः हल्के सियाल का भारी सीमा में डूबना-उतरना संगत प्रतीत नहीं होता। ध्वनिक सर्वेक्षणों से महासागरों के तल में कहीं भी महाद्वीपीय भू-खण्ड नहीं पाये जाते। यह सिद्ध करता है कि महाद्वीप तथा महासागरों ने कभी स्थान परिवर्तन नहीं किया तथा पृथ्वी अनिवार्य रूप से स्थिर रही है।

महाद्वीपों तथा महासागरों की प्रमुख विशेषताएँ

समस्त महासागरों एवं महाद्वीपों का क्षेत्रफल 510.1×10^6 वर्ग किमी. अर्थात् लगभग 51 करोड़ वर्ग किलोमीटर है। इस क्षेत्र का 70.8 भाग महासागरों में और 29.2 भाग महाद्वीपों के रूप में फैला हुआ है। सागर और स्थल का अनुपात 2.43 : 1 है। किन्तु महाद्वीपो की सीमाएँ जो सागर तल से बाहर दृष्टिगोचर होती है, महासागर के किनारे तक ही सीमित नहीं है वरन् महासागरो में 180 मीटर या 100 फैदम की गहराई रेखा तक फैली हुई हैं। महाद्वीपों का यह जलमग्न भाग महाद्वीपीय तट कहलाता है जिसका

क्षेत्रफल 2.59 करोड़ वर्ग किमी. है, पृथ्वी के कुल क्षेत्रफल का 5 प्रतिशत महाद्वीपीय मग्नतट स्थल के ही अंग हैं। समस्त पृथ्वी के स्थल के 34.2% (29.2+5=34.2) भाग पर महाद्वीप तथा शेष 65.8 (70.8—5=65.8) प्रतिशत भाग पर महसागर फैले हुए हैं।

महाद्वीपों के कुल क्षेत्र में से 81 प्रतिशत उत्तरी गोलार्द्ध और 19 प्रतिशत दक्षिणी गोलार्द्ध में पाये जाते हैं। महाद्वीपों का सबसे ऊँचा शिखर एवरेस्ट पर्वत सागर सतह से 8,848 मीटर ऊंचा है और निम्नतम भाग मृतसागर है जो समुद्र की सतह से 662 मीटर नीचा है। गौम द्वीप के निकट सागर की अधिकतम गहराई 10,800 मीटर आँकी गई है। महाद्वीपों के उच्चतम बिन्दु के मध्य 19,682 मीटर (8848+10,800=19,648 मी.) लगभग 19.65 किलोमीटर का अन्तर है।
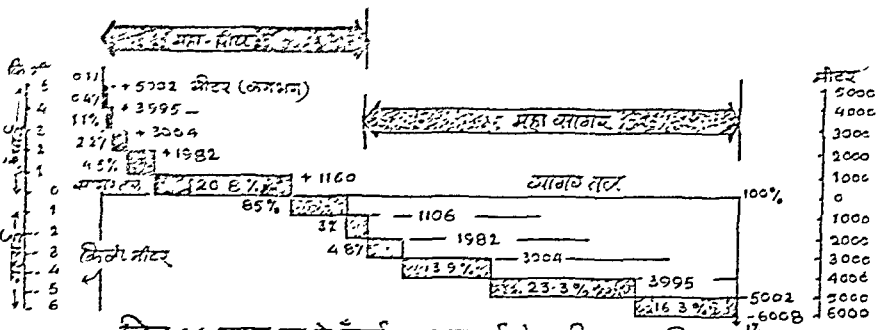
चित्र 61 सागरतल से ऊँचाई तथा गहराई से पृथ्वी तल का वितरण

महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति

भू-तल के प्रथम श्रेणी के स्थल रूपों की विभिन्नता को देखकर यह आभास होता है, कि पृथ्वी के उद्भव काल में ही इनका निर्माण व विकास हुआ होगा। महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति पर मुख्यतः दो विचारधाराएँ हैं—संकुचन एवं विस्थापन। तीसरा मत निमज्जन एवं उनमज्जन पर आधारित है। इन विचारधाराओं के अतिरिक्त कुछ मत और भी हैं।

चैम्बरलेन के मत के अनुसार पृथ्वी का निर्माण विभिन्न संरचना के ग्रहाणुओं के असमान संग्रह से हुआ है। इन ग्रहाणुओं की द्रवणीयता (Fusibility) भी भिन्न थी। कम दाब वाले भागों की ओर भू-गर्भ से ताप संचालन हुआ जिसके परिणामस्वरूप वह भाग अपेक्षाकृत शीघ्र द्रवित हो गये। अतः द्रवण के स्थानीय भागों का निर्माण हुआ। शनैः-शनैः यह गर्त एक दूसरे से मिल गये। इस प्रकार महासागरों का निर्माण वास्तव में भूतल के रन्ध्र-युक्त निचले स्तर में हुआ। कालान्तर में यह गर्त ज्वालामुखी उद्भेदन के कारण धरातल पर प्रकट हुए व एक दूसरे से मिल गये। वाष्प के संघनन के फलस्वरूप यह गर्त जलप्लावित हो गये तथा महासागर कहलाए। जिस भाग में ग्रहाणुओं का अधिक संग्रह हुआ वह जल से ऊपर निकले भाग महाद्वीप कहलाए।

संकुचन पर आधारित सिद्धान्त में लोथियन ग्रीन का मत प्रमुख है। ब्रिटिश गणितज्ञ लोथियन ग्रीन ने ज्यामिति के आधार पर महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति से सम्बन्धित

अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इससे पूर्व एलीडिब्यूमोन्ट ने पर्वतों के क्रम को पंच-कोणीय बारह भुजा वाले आकार के रूप में बतलाकर महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ज्यामितीय आधार पर अपनी परिकल्पना प्रस्तुत की। ग्रीन ने महाद्वीपों और महासागरों की व्यवस्था, उनका क्रम, उनके ज्यामित आकार तथा अन्य विशेषताओं को देख कर चतुष्फलक की धारणा प्रस्तुत की। चतुष्फलक ज्यामित की वह ठोस आकृति है जिसके तीन शीर्ष बिन्दु तथा चार फलक अथवा सपाट धरातल होते हैं जो चार समानबाहु त्रिभुजों के मिलाने से बनते हैं (चित्र2)।
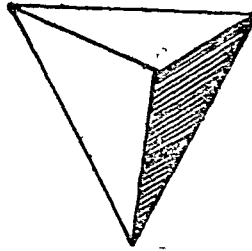
चित्र 6.2 - चतुष्फलक की आकृति

गोलाकार पिण्ड का आयतन, धरातलीय क्षेत्रफल की तुलना में सर्वाधिक होता है। चतुष्फलक वह चपटा पिण्ड है जिसका आयतन, धरातलीय क्षेत्र की अपेक्षा न्यूनतम होता है।

ग्रीन इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यदि किसी गोलाकार पिण्ड पर सभी ओर से समान दाब डाला जाय तो वह सिकुड़कर चतुष्फलक का रूप ले लेगा। दाब के कारण उसका आयतन तो घटेगा किन्तु क्षेत्रफल में कोई अन्तर नहीं आता। ग्रीन ने कल्पना की कि ठण्डा होते समय पृथ्वी का आन्तरिक भाग बाह्य भू-पटल की अपेक्षा शीघ्रता से सिकुड़ा जिससे आन्तरिक भाग का आयतन घट गया। गुरुत्वाकर्षण के कारण ऊपरी परत निचली परत पर बैठ गई। अतः पृथ्वी का आयतन क्षेत्रफल के अनुपात मे कम हो गया। सिकुड़ कर पृथ्वी ने चतुष्फलक का रूप धारण कर लिया। पृथ्वी की विभिन्न संरचना के कारण चतुष्फलक का आकार
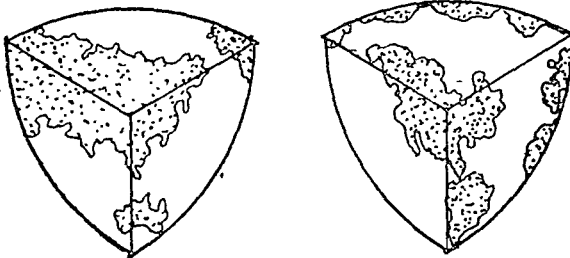
चित्र. 6.3 चतुष्फलक रूपी पृथ्वी पर जल तथा स्थल का वितरण (होम्स के आधार पर)

पूर्णतः विकसित नहीं हो पाया। फेअर वेअर्न ने यह प्रमाणित किया कि दाब के कारण सिकुड़ता पिण्ड चतुष्फलक का रूप ग्रहण कर लेता है। चतुष्फलक में शीर्ष बिन्दु के विपरीत आधार
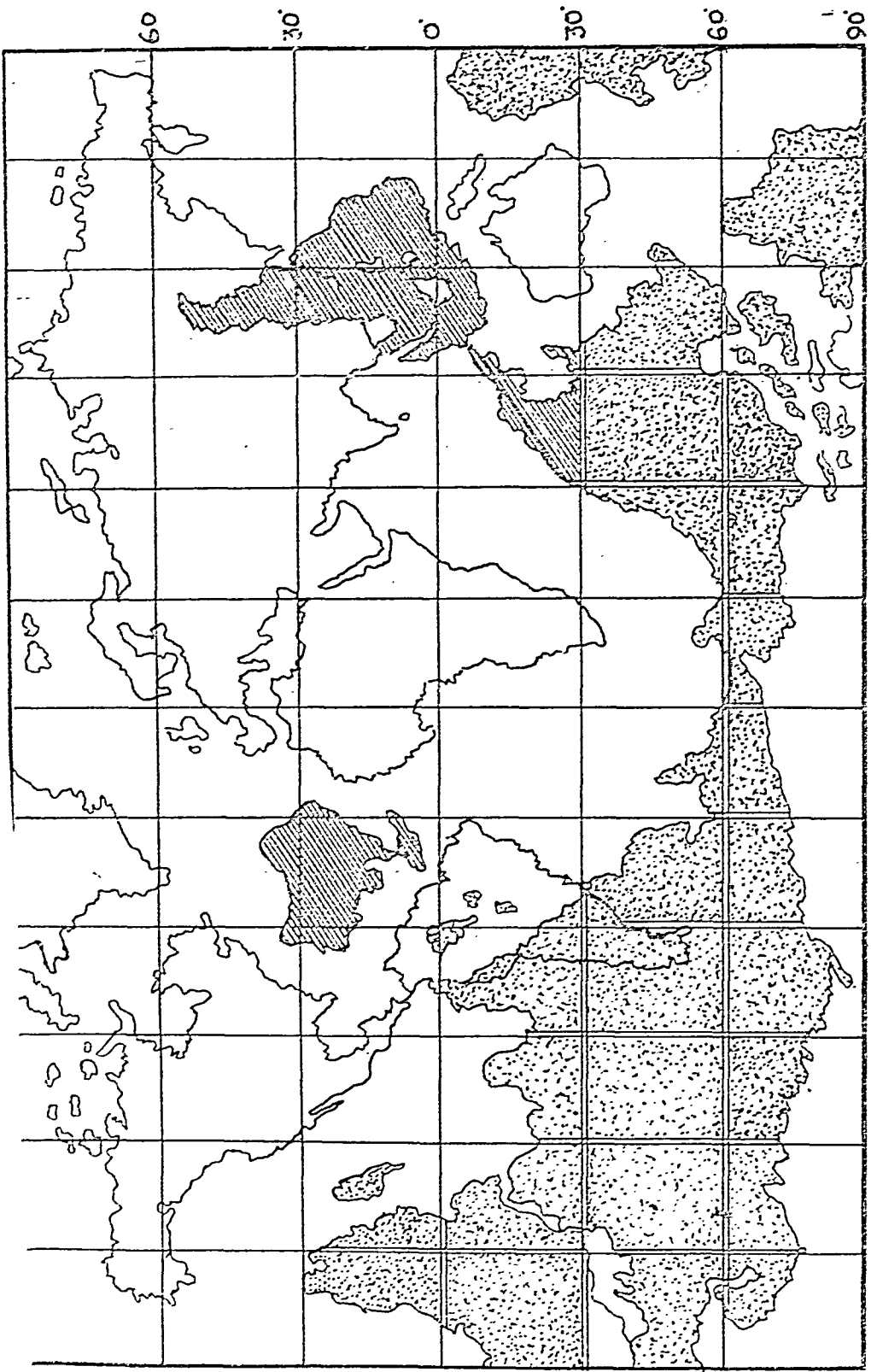
गाल्स स्टीरियो ग्राफिक प्रक्षेप

चित्र 6·4 स्थल तथा जल की प्रति ध्रुवीय अवस्था (Antipodal arrangement of Land and Water)

तल होते हैं। इस तथ्य पर ग्रीन ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि महाद्वीपों का विस्तार महासागरों की विपरीत दिशा में है। महाद्वीप चतुष्फलक के तीन शीर्ष बिन्दुओं पर स्थित हैं और महासागर चार चपटे धरातलों पर फैले हुए हैं (चित्र 3)।

सभी महाद्वीप उत्तर की ओर चौड़े तथा दक्षिण की ओर संकड़े हैं। इनकी आकृति त्रिभुजाकार है। उत्तरी ध्रुवीय सागर के चारों ओर स्थल का एक छल्ला है जहाँ बेरिंग जलडमरूमध्य एक अपवाद है। जल तथा थल की प्रतिध्रुवीय व्यवस्था है अर्थात् जल और थल एक दूसरे की विपरीत दिशा में हैं।

इसमें अपवाद पेटेगोनियां दक्षिणी अमेरिका की उत्तरी चीन से प्रतिव्यासीय स्थिति है व न्यूजीलैण्ड आइबेरियन प्रायद्वीप स्पेन तथा पुर्तगाल के विपरीत स्थित हैं। थल का केवल 1.4 प्रतिशत भाग ही थल की प्रतिध्रुवीय या प्रतिव्यासीय अवस्था में है (चित्र 4)।

उत्तरी गोलार्द्ध में तीन पुराने स्थिर भू-खण्ड—बाल्टिक, लॉरेशिया तथा अंगारा एक दूसरे से 120° देशान्तर के अन्तर पर स्थित हैं।

प्रशान्त महासागर पृथ्वी के 1/3 क्षेत्र को घेरे हुए है और चारों ओर नवीन वलित पर्वतों से घिरा हुआ है। कुछ अपवादों को छोड़कर ग्रीन का सिद्धान्त महासागरों एवं महाद्वीपों के वर्तमान वितरण तथा उनकी उत्पत्ति के बारे में लगभग सही विवरण देता है।

ग्रेगरी ने भी ग्रीन के सिद्धान्त में कुछ संशोधन कर इसकी पुष्टि की। उन्होंने पुरा भौगोलिक मानचित्र द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कैम्ब्रियाई युग में महाद्वीपों एवं महासागरों का वितरण वर्तमान वितरण के लगभग समान ही था। उस समय उत्तर में एक वृहत् त्रिभुजाकार महाद्वीप था जो उत्तर की ओर चौड़ा और दक्षिण में संकड़ा था। वर्तमान सागरीय निक्षेप से विदित होता है कि उस समय आर्कटिक महासागर वर्तमान आर्कटिक महासागर से कुछ पूर्व में स्थित था। ग्रीन के अनुसार कालान्तर में महाद्वीपों और महासागरों के आकार में परिवर्तन हुए और महाद्वीपों का विस्तार पूर्व-पश्चिम तथा महासागरों का विस्तार उत्तर-दक्षिण में हुआ। ग्रेगरी के अनुसार पृथ्वी के सिकुड़ने के कारण चतुष्फलक के लम्बवत किनारे तो लगभग स्थिर रहे किन्तु ऊपरी चपटी फलक घेरने वाले तीनों किनारे परिवर्तित हुए। यह कभी उत्तर तथा कभी दक्षिण में खिसकते रहे जिससे महासागरों एवं महाद्वीपों के आकार में अन्तर आता रहा। फ्रेक ने यह सिद्ध किया कि केम्ब्रियाई युग में उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल तथा जल का वितरण पूर्ण विपरीत दिशा में था।

परिभ्रमण करती हुई पृथ्वी के लिए चतुष्फलक आकार की आकृति सन्तुलित आकार की नहीं है। अतः असन्तुलित आकार पृथ्वी की परिभ्रमण गति में बाधक सिद्ध होगा क्योंकि पृथ्वी की परिभ्रमण गति में विशेष अन्तर नहीं आया।

पृथ्वी की परिभ्रमण गति इतनी तीव्र है कि गोलाकार आकृति चतुष्फलक के रूप में ध्वस्त नहीं हो सकती। अतः तीव्र गति से परिभ्रमण करती हुई पृथ्वी चतुष्फलक का रूप ग्रहण नहीं कर सकती।

लेपवर्थ तथा लव की परिकल्पना के अनुसार महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति का कारण है पृथ्वी पर बृहत् संवलन। पृथ्वी के आन्तरिक तापह्रास के कारण संकुचन होता है जिसमे विस्तृत आकार की भूअपनतियाँ तथा भूअभिनतियाँ होती हैं। अपनतियों के उभरे हुए भाग शीर्ष पर महाद्वीप तथा अभिनतियाँ या गर्त सागर तल बन गये। लेपवर्थ ने पृथ्वी के संकुचन के परिणामस्वरूप जिन बृहत् वलनों की कल्पना की है वह वैज्ञानिक आधार पर सही नहीं है।

लेपवर्थ की परिकल्पना को आधार मान लव ने गणित से इसका संशोधित रूप प्रदान किया। लव के अनुसन्धानों के अनुसार पृथ्वी के विभिन्न भागों में स्थानीय गुरुत्वाकर्षण केन्द्र विद्यमान हैं जो पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र से पृथक हैं। इन स्थानीय गुरुत्वाकर्षण केन्द्रों के कारण ही भू-पटल की बनावट में विकृति होना स्वाभाविक है जो संवलन के रूप में हैं। जब तक विभिन्न भागों के गुरुत्वाकर्षण केन्द्रों तथा भौगोलिक गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के मध्य पूर्ण सामंजस्य स्थापित नहीं हो जाता पटलविरूपण का कार्य सतत चलता रहता है। किन्तु इस परिकल्पना को भी त्रुटिपूर्ण माना गया है क्योंकि पृथ्वी का संकुचन इतने विस्तृत सवलनों की रचना नहीं कर सकता। विज्ञान ने लव की गणितीय परिकल्पना को गलत सिद्ध कर दिया है।

स्वेस की परिकल्पना में संकुचन, उत्थान एवं अवतलन को आधार माना गया है। इसमें भू-पटल को दो भागों में—प्रतिरोधक पिण्ड तथा अप्रतिरोधक भाग में विभाजित किया गया है। प्रतिरोधक भू-खण्ड कठोर शैलों से निर्मित हैं जो संपीडन के समय टूट तो सकते हैं किन्तु मुड़ नहीं सकते। अप्रतिरोधक भाग कोमल शैलों से बने हैं। वर्तमान में पृथ्वी पर
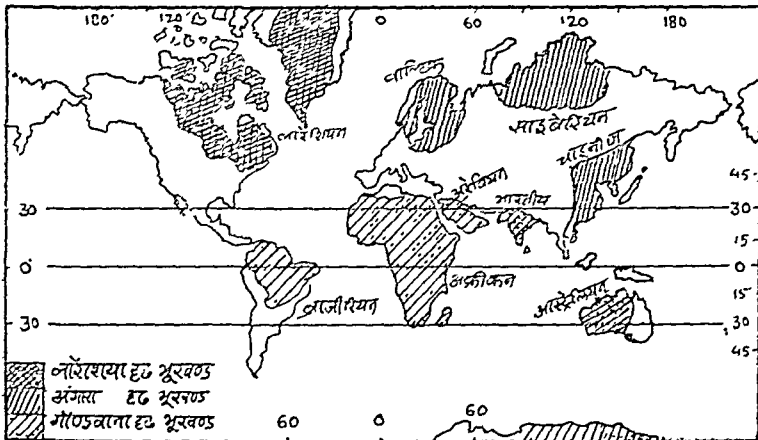
चित्र 6 5 भू-पटल के प्राचीन दृढ भूखण्ड

ऐसे तीन प्रतिरोधक पिण्ड उत्तरी गोलार्द्ध एवं एक दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थित हैं। उत्तरी गोलार्द्ध मे लारेंशिया या केनेडियाई पिण्ड जिसमें कनाडा का एक भाग तथा स्काटलैण्ड के पश्चिमी द्वीप सम्मिलित है। दूसरा पिण्ड बाल्टिक तट है,जिसमें बाल्टिक सागर के चारो ओर का भाग सम्मिलित हे। तीसरा पिण्ड अंगारालैण्ड है जिसमें पूर्वी साइबेरिया का भाग शामिल हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में गोडवाना है जिसमें ब्राजील, अफ्रीका, अरब, सीरिया, भारत का प्रायद्वीप, हिन्दचीन तथा आस्ट्रेलिया का पश्चिमी पठारी भाग शामिल है। (चित्र 5)।

उपरोक्त कठोर भू-खण्डों के मध्य अप्रतिरोधक भागों में दाब एवं सम्पीडन के कारण वलन पड़ गये जिसके फलस्वरूप नवीन पर्वतों का जन्म हुआ। पृथ्वी पर सम्पीडन, वलन तथा उत्थान की क्रिया सतत न चलकर एक-एक कर होती है। अन्तरिम अवस्था में कठोर भागो के टूटने और नीचे धंसने की क्रिया सम्पन्न होती है जहाँ कठोर भाग टूट कर नीचे धंस गये वहाँ महासागरों का निर्माण हुआ। दाब तथा सम्पीडन से जो अप्रतिरोधक भाग पर ऊपर उठ आए वे महाद्वीप बन गये। लारेंशिया तथा गोण्डवाना के टूटने से एटलांटिक महासागर बना। उत्तर में एशिया और यूरोप (अंगारा भ-खण्ड) तथा दक्षिण मे अफ्रीका गोण्डवाना के मध्य टैथिस सागर विद्यमान था जो दोनों ओर से दाब तथा सम्पीडन के कारण उभरकर हिमालय तथा आल्पस के रूप मे आ गया। वर्तमान भूमध्य सागर टैथिस सागर का ही अवशेष है।

स्वेस के अनुसार कठोर भू-खण्ड जो भ्रंशन के कारण नीचे धंस गये वहाँ महासागरों का निर्माण हुआ। कोमल खण्डो मे मुड़ा व वलित पर्वतों का विकास हुआ तथा शेष कठोर भू-खण्ड जो सम्पीडन के कारण ऊपर उठे रह गये महाद्वीप कहलाये।

पृथ्वी के विभाजन सम्बन्धी परिकल्पनाएँ

चन्द्रमा की उत्पत्ति पर आधारित 'जीन्स' एवं सोलास की परिकल्पना के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में पृथ्वी उष्ण तथा वायव्य अवस्था में थी। यह शनैः-शनैः ठण्डी होकर वर्तमान ठोस अवस्था को प्राप्त हुई। यदि पृथ्वी क्रमशः ठोस अवस्था में आई तो उसके आन्तरिक सकेन्द्रीय खोलों की मोटाई निश्चित होनी चाहिए। अतः संपूर्ण भू-पटल समान मोटाई के सियाल द्वारा बना होना चाहिए और उस पर समुद्र की गहराई भी एक समान होनी चाहिए। जीन्स के अनुसार स्थल पर सियाल की मोटाई समान है। प्रशान्त महासागर के नितल में सियाल का अभाव है। यह पूर्णतः बेसाल्ट का है। हिन्द एवं अटलांटिक महासागर के नितल ग्रेनाइट की पतली परत से निर्मित हैं तथा प्रशान्त महासागर का आकार लगभग वृताकार है और तट रेखा की बनावट अन्य महासागरो से नही मिलती।

ग्रहो के परिभ्रमण वेग की स्थिरता के आधार पर जीन्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि चन्द्रमा को जन्म देने के पश्चात् भी पृथ्वी की परिभ्रमण गति में कोई परिवर्तन न आने के कारण यह 'नाशपाती' के आकार में परिवर्तित हो गई। इसके उभरे भागो पर महाद्वीप तथा धंसे भागो पर महासागरों का जन्म हुआ।

पृथ्वी को नाशपाती के आकार का मानकर जीन्स ने कल्पना की ठण्डा होते समय पृथ्वी के दोनों स्थल खण्ड पारस्परिक गुरुत्वाकर्षण के कारण सिकुड़ कर एक दूसरे के समीप आगये। इसी दाब के कारण विषुवत रेखीय स्थल भाग उभर कर ऊपर उठ गये। उठे भाग पर दो महाद्वीपो का निर्माण हुआ।

सोलास ने जीन्स परिकल्पना के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि अफ्रीका स्थल गोलार्द्ध के केन्द्र में स्थित है तथा उसकी विपरीत प्रतिध्रुवीय स्थिति मे प्रशान्त महासागर है। सोलास ने पृथ्वी के संकुचन के परिणामस्वरूप मध्यवर्ती भाग मे जो स्थलीय वलय को अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अन्टार्कटिका. इण्डोनेशिया तथा एशिया के रूप में माना है। स्थल खण्ड प्रशान्त महासागर को अटलांटिक एवं हिन्द महासागर से प्रथक करते है।

ओमण्ड फिशर ने जीन्स एवं सोलास के समर्थन में बताया कि चन्द्रमा के पृथ्वी से पृथक होने के कारण प्रशान्त महासागर की उत्पत्ति हुई। इसी से प्रशान्त महासागर की
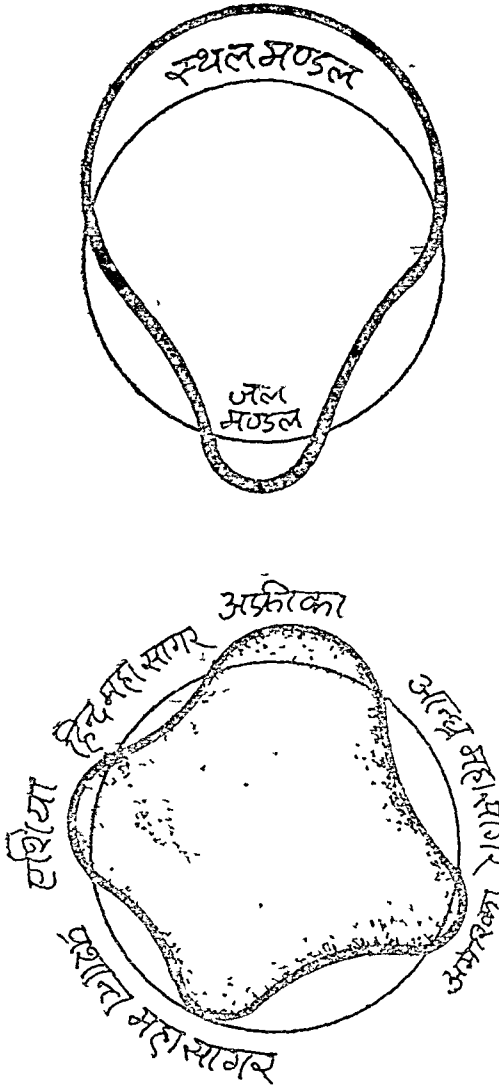
चित्र 6·6 पृथ्वी का विकृत रूप
(जल मण्डल व स्थल मण्डल का वितरण)

तट रेखा अन्य महासागरों की तटरेखा से मेल नहीं खाती तथा उसकी आकृति भी गोलाकार है। यह सिद्ध हो चुका है कि चन्द्रमा का क्षेत्रफल प्रशान्त महासागर के क्षेत्रफल के लगभग समान है। चन्द्रमा का घनत्व 3.46 है तथा भू-पटल का घनत्व 2.75 है। यदि चन्द्रमा की उत्पत्ति के समय के सीमा के कुछ अंश सम्मिलित कर लिये जाये तो जीन्स के मत की पुष्टि हो जाती है। यह धारणा है कि प्रशान्त महासागर के स्थान से पृथ्वी की 60 किमी. मोटी परत पृथक हुई जिससे चन्द्रमा का निर्माण हुआ।

परिकल्पना के प्रतिकूल आपत्तियाँ—(1) यदि पृथ्वी से चन्द्रमा पृथक हुआ था

तो पृथ्वी के परिभ्रमण वेग में बाधा क्यों नहीं आई तथा पृथ्वी निरन्तर अपनी परिभ्रमण गति को बनाए हुए क्यों है ।

(2) जेफरी के अनुसार पृथ्वी की तरलावस्था में ज्वार का उठना उसके अर्द्धव्यास की 1/17 भाग की ऊँचाई तक ही सम्भव है, फिर चन्द्रमा इतना ऊँचा कैसे पहुँचा ।

(3) मोल्टन के अनुसार चन्द्रमा को पृथक करने के लिए पृथ्वी को अत्यधिक कोणीय संवेग की आवश्यकता होनी चाहिए थी ।

(4) सन् 1931 में नोके ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी से पृथक होने वाला भू-खण्ड पुनः उससे मिल जाना चाहिये ।

(5) लिटिलटन ने सन् 1938 में यह मत व्यक्त किया है कि ग्रह से पृथक होने वाले खण्ड से ग्रह का ही निर्माण होना है, न कि उपग्रह का ।

(6) चन्द्रमा से प्राप्त शैलों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि यह पृथ्वी की अधिकतम पुराने शैलों से भी प्राचीन हैं । अतः चन्द्रमा पृथ्वी का टूटा भाग नहीं है ।

(7) यह भी सिद्ध हो चुका है कि चन्द्रमा का आयतन प्रशान्त महासागर के आयतन से 30 गुना है ।

वेगनर का महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त

जर्मन विद्वान एल्फ्रेड वेगनर ने सन् 1912 में महाद्वीपीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । सन् 1924 में उसकी पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद छपा जो कि वैज्ञानिक जगत में चर्चा का एक विषय बन गया, वे प्रसिद्ध जलवायु विशेषज्ञ, बनस्पति शास्त्री एवं भूगर्भशास्त्री भी थे । वेगनर के अनुसार पृथ्वी के एक ही स्थान में भिन्न-भिन्न समय पर जलवायु में परिवर्तन होते रहे है । एन्टार्कटिका महाद्वीप पर कोयले का पाया जाना यह प्रमाणित करता है कि कभी वहाँ विषुवत रेखीय जलवायु रही होगी । इसी प्रकार शीत कटिबन्ध सम्बन्धी जलवायु के चिन्ह वर्तमान उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में पाए जाते हैं ।

इससे यह शंका होती है कि या तो महाद्वीपों की स्थिति में परिवर्तन या फिर सयय-समय पर एक ही स्थान पर जलवायु में परिवर्तन ।

वेगनर ने महासागरों की तली और महाद्वीपों को अस्थायी माना तथा महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त के आधार पर अपना मत प्रतिपादित किया । अतीत के विभिन्न चिह्नों के आधार पर वेगनर का लक्ष्य महाद्वीपों को पुनः जोड़कर यह सिद्ध करना था कि कभी यह सम्मिलित रहे होंगे ।

वेगनर ने स्वेस (Suess) के मत को कुछ सीमा तक ग्रहण करते हुए माना कि महाद्वीप जो सियाल के बने हैं सीमा में तैर रहे हैं । उनके अनुसार कार्बनीफेरस युग में सियाल से निर्मित एक वृहत भू-खण्ड पेंजिया था । पैंजिया को पैन्थलासा विशाल महासागर चारों ओर से घेरे हुए था । वर्तमान सभी महाद्वीप पैंजिया के ही अभिन्न अंग थे । इसका कुछ भाग जल-मग्न था जिससे उथले सागरों का निर्माण हुआ । पैंजिका के मध्य से पश्चिम की ओर 'टैथिस सागर' था । टैथिस सागर के उत्तर का भू-खण्ड अंगारा व दक्षिण का भूखण्ड गौण्डवाना लैण्ड थे । कार्वोनिफेरस युग में महाद्वीप तथा महासागर के वितरण की यही व्यवस्था थी, किन्तु बाद में आस्ट्रेलिया तथा एन्डार्कटिका दोनो ही अफ्रीका से पृथक हो गये । प्रायद्वीपीय भारत भी गौण्डवाना लैण्ड से पृथक होकर उत्तर में खिसक गया तथा दक्षिणी

अमेरिका का विस्थापन पश्चिम की ओर हुआ। उसी समय उत्तरी अमेरिका भी मुख्य भूखण्ड से पश्चिम की ओर खिसक गया है।
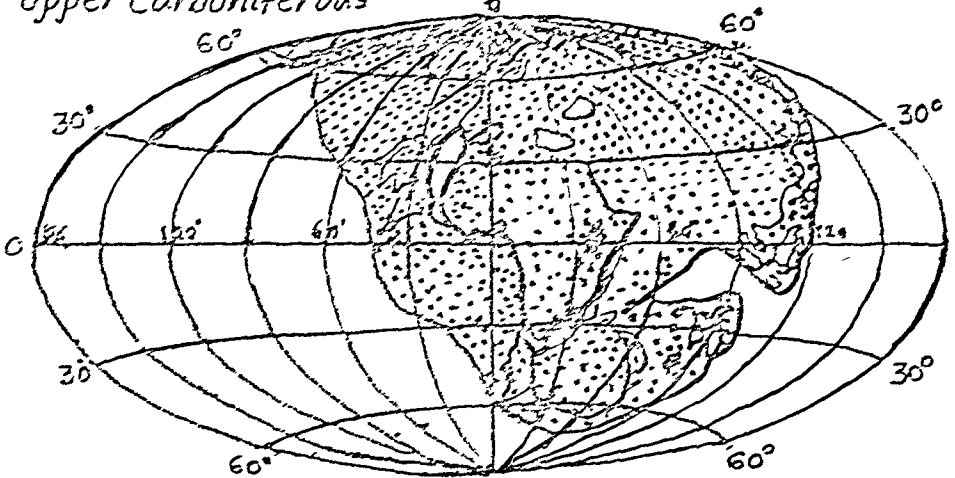
चित्र: 6.7 पैंजिया (कार्बोनिफेरस युग)

वेगनेर ने प्रायद्वीपीय भारत के विषुवत रेखा की ओर विस्थापन की प्लवनशीलता की शक्ति तथा दोनों अमेरिकाओं को पश्चिम की ओर खिसकने का कारण चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति को माना है।
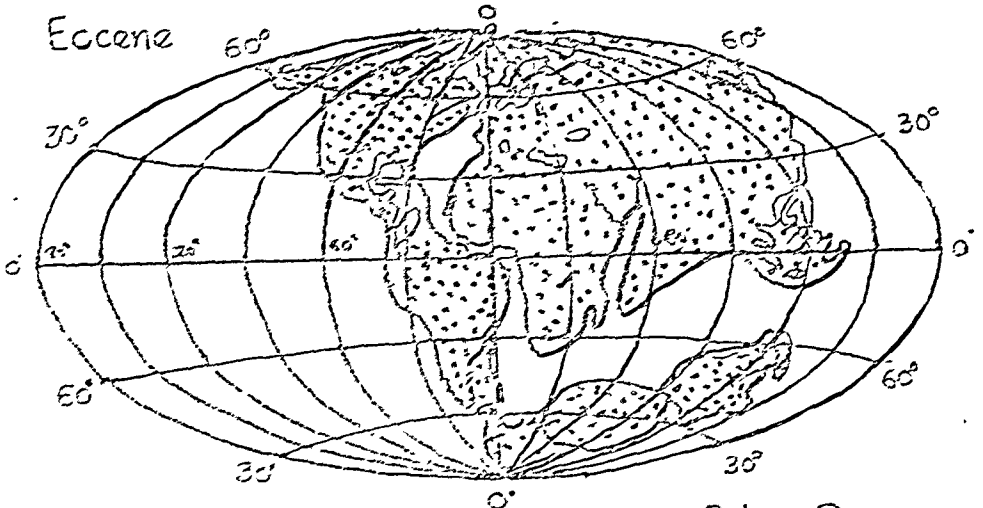
चित्र: 6.8 पैंजिया का विखण्डन तथा महाद्वीपों का विस्थापन (आदि नूतन युग)

सिद्धान्त के अनुकूल तथ्य

वेगनर को महासागर के दोनों तटों की भूगर्भिक संरचना, जलवायु, वनस्पति, पशुओं के पलायन में व्यापक समानता मिली।

एटलांटिक महासागर के दोनों तटों की बनावट ऐसी है कि उन्हें पुनः जोड़ा जा सकता है। ब्राजील का उभरा हुआ पूर्वी भाग पश्चिमी अफ्रीका को गिनी की खाड़ी के अन्दर
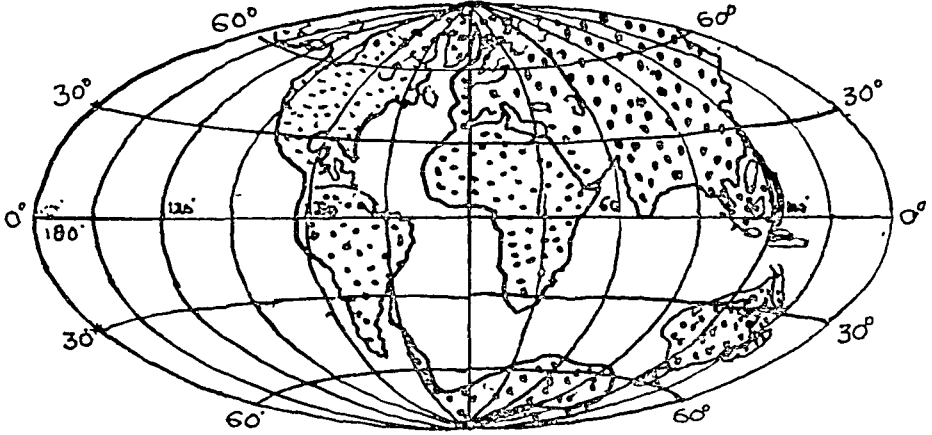
चित्र 6·9 महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति (प्रातिनूतन युग)

धसे भाग में समाविष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार ग्रीनलैण्ड तथा उत्तरी अमेरिका को यूरोप से जोड़ा जाय तो पूर्व संधि की स्थिति में आ जायेंगे।

एटलांटिक महासागर के मध्य की श्रेणी महाद्वीपों के विभाजन के समय छूटा हुआ अवशेष है।

दोनों तटों की भूगर्भिक संरचना लगभग समान है। केलेडोनियाई तथा आरमोनिकन वलित पर्वतों का क्रम यूरोप के पश्चिमी तट तथा उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट पर है। उत्तरी अमेरिका के केलेडोनियाई युग की अपलेशियाई श्रेणियाँ उत्तर में पेन्सिलवेनिया के हर्सीनियाई युग के पर्वतों से मिलती-जुलती हैं। यही क्रम ग्रीनलैण्ड के पूर्वी तट पर पाया जाता है। इसी भाँति उत्तरी-पश्चिमी यूरोपीय तट पर स्कैण्डीनेविया तथा स्काटलैण्ड में केलेडोनियाई पर्वत श्रेणियाँ मिलती हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में भी ब्राजीलाइड तथा गोण्डवानाइड दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तटीय भाग और अफ्रीका के पश्चिमी तटीय भागों पर मिलते हैं (चित्र 10)।

वेली ने उत्तरी एटलांटिक महासागर के दोनों तटों की भूगर्भिक संरचना की समानता एवं डुटोइट ने दक्षिणी अटलांटिक महासागर के दोनों तटों की संरचना की समानता का समर्थन किया है। डुटोइट के अनुसार दक्षिणी अमेरिका और अफ्रीका के मिलाने पर दोनों तटों के मध्य 700 से 800 किमी. चौड़ी दरार का रहना इस तथ्य का द्योतक है कि कभी यह भाग इन्हीं का अभिन्न अंग रहा होगा जो बाद में अपरदन या अवतलन के कारण लोप हो गया। वैज्ञानिकों ने इस बात की पुष्टि की है कि अटलांटिक महासागर के मध्य सियाल का इतना ही चौड़ा भू-खण्ड उपस्थित है जो अवतलन के फलस्वरूप सागर में समा गया।

दक्षिणी अमेरिका तथा अफ्रीका में एक ही अक्षांशीय भागों में हीरों तथा अन्य समान धातुओं का पाया जाना इसका प्रमाण है कि कभी दोनों ही तट एक दूसरे से जुड़े हुए होंगे।

अटलांटिक महासागर के दोनों तटों पर पाए जाने वाले जीवाश्म तथा वनस्पतियों के अवशेषों में अधिकांश एकरूपता है। उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोप के पश्चिमी तटों पर समान स्तर का कोयला पाया जाता है।
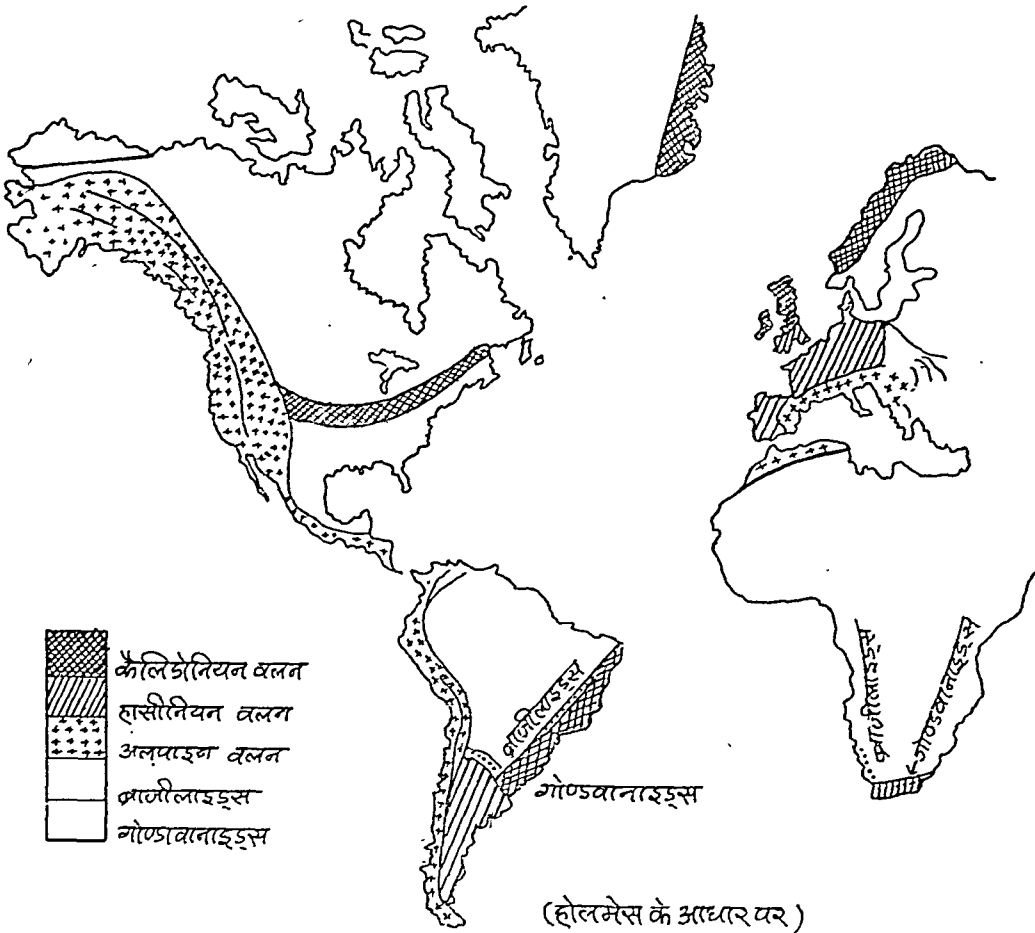
चित्र 6.10 - एटलांटिक महासागर के दोनो तटों के विवर्तनिक पर्वतों की समरूपता

भूगणितीय के आधार पर उत्तरी अमेरिका तथा ग्रीनलैण्ड के मध्य की दूरी सन् 1823, 1870 तथा 1917 में नापी गई जिससे विदित हुआ कि ग्रीनलैण्ड उत्तरी अमेरिका की ओर प्रति वर्ष 31.9 मीटर के हिसाब से बढ़ रहा है। वूचर ने यह ज्ञात किया कि महाद्वीपों का क्षैतिज स्थानान्तरण हो रहा है।

उत्तरी स्केण्डीनेविया क पहाड़ी मूषकों लेमिंग की यह प्रवृत्ति है कि 10 या 15 वर्ष के अन्तराल में अधिक जनसंख्या हो जाने पर अपने स्थान को छोड़कर पश्चिम की ओर कूच करते हैं तथा समुद्र में कूदकर कुछ दूर तैर कर डूब जाते हैं। उनकी यह प्रवृति इस तथ्य की द्योतक है कि अतीत में उनके पूर्वज ग्रीनलैण्ड चले जाया करते थे जब वह यूरोप का ही अंग था।

दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, भारत तथा आस्ट्रेलिया में हिम युग के निक्षेपों के पाये जाने से यह सिद्ध होता है कि यह सभी भू-खण्ड गोण्डवाना के ही भाग थे जो बाद में

विस्थापित होकर वर्तमान स्थिति में आए। वेगनर के अनुसार कार्बोनिफेरस युग में दक्षिणी ध्रुव अफ्रीका के वर्तमान डरबन के समीप था। ब्राजील के शांता केथारिना, फाकलैण्ड द्वीप,
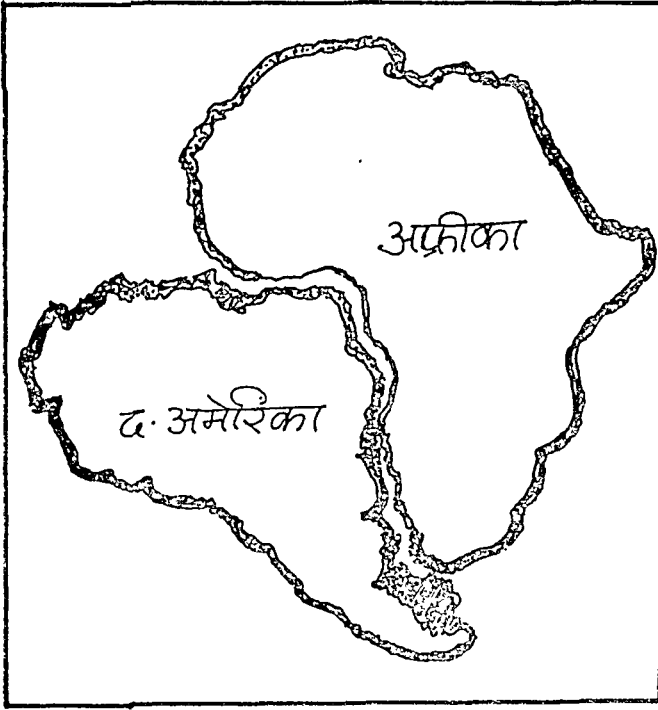
चित्र, 9·11 अफ्रीका के पश्चिमी तथा द. अमेरिका के पूर्वी तटों की समरूपता

दक्षिणी अमेरिका के कारू, प्रायद्वीपीय भारत, आस्ट्रेलिया तथा अन्य स्थानों पर हिमयुग के हिमनद निक्षेप इस बात के द्योतक हैं कि यह सभी एक ही महाद्वीप पैंजिया के अभिन्न अंग थे।
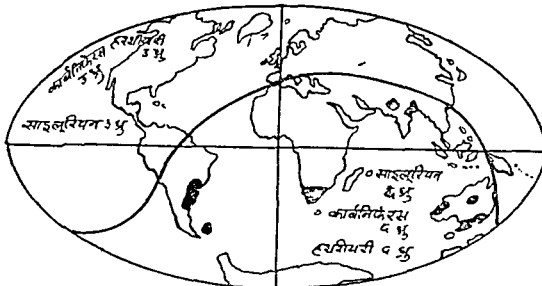
चित्र 6 12 वेगनर के अनुसार परमो कार्बनी फेरस युग का हिमाच्छदन तथा विषुवत रेखा और विभिन्न युगों में ध्रुवों का स्थानान्तरण

महाद्वीपीय विस्थापन के लिए वेगनर ने दो शक्तियों को कारण ठहराया, किन्तु

श्वेडर ने तीसरी शक्ति—पृथ्वी के अक्ष का 'पुरस्सरण' के आधार पर यह सिद्ध किया कि महाद्वीपीय विस्थापन सम्भव है।

वेगनर सिद्धान्त को लेकर मतांतर हैं, इनमें विस्तृत महाद्वीपों का पुनर्शृंखलन में विस्तृत अन्तर का रह जाना, ठोस महाद्वीपों को पश्चिम की ओर वलन के लिए चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति वर्तमान शक्ति से 10 अरब गुनी अधिक होना संभव नहीं है।

विषुवत रेखा की ओर प्लवनशीलता गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के ठीक लम्बवत अण्डाकार पृथ्वी के लिये सिद्ध नहीं होती। किन्तु हमारी पृथ्वी अण्डाकार है। अत: प्लवनशीलता की शक्ति विषुवत रेखा के ठीक 45° के कोण पर सबसे अधिक होगी। इसी शक्ति के द्वारा भारतीय प्रायद्वीप अफ्रीका से विस्थापित होकर विषुवत रेखा की ओर आकर्षित हुआ और अपने डूबने के स्थान से ठीक 45° के कोण पर बाहर निकला।

प्लवनशीलता की शक्ति गुरुत्वाकर्षण बल की रेखा से 45° के कोण पर जहाँ पर अत्यधिक मानी गई है, विस्थापन शक्ति से 20 या 30 लाख गुनी कम है। पैंजिया से पृथक होकर जब महाद्वीपीय सियाल सीमा पर तैरते हुए विस्थापन हो रहे थे तो उनके मार्ग में कोई रुकावट नहीं आई। परन्तु पश्चिम की ओर विस्थापित होने वाले उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीपों के मार्ग में सीमा ने व्यवधान उपस्थित कर दिया जिसके कारण उनके पश्चिमी तटों पर वलित पर्वतों का निर्माण हुआ। वेगनर ने विस्थापन को सिद्ध करने के लिए सीमा को तरल एवं सियाल को ठोस माना है। समस्या यह पैदा होती है कि ठोस पदार्थ के तरल पदार्थ से टकराहट से वलित पर्वतों का निर्माण किस प्रकार सम्भव हुआ।

यदि यह मान लिया जाय कि यदि कोई ऐसी शक्ति विद्यमान थी जिसके कारण महाद्वीपों का विस्थापन हुआ तो ऐसी स्थिति में पृथ्वी की परिभ्रमण गति पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था किन्तु पृथ्वी अपनी गति को सतत बनाए हुए है। सीमा, सियाल से अधिक कठोर है इसलिए सियाल उस पर तैर कर विस्थापित नहीं हो सकता। यदि सीमा कोमल होता तो महाद्वीपों में अनवरत रूप से गतिशीलता बनी रहती किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता। वेगनर ने महाद्वीपों को सियाल और महासागरों को सीमा की परत माना है जबकि यह सिद्ध हो चुका है कि महासागरों के नीचे सियाल की परत है जैसा कि अटलांटिक महासारर की तली में है।

अटलांटिक महासागर के मध्य जलमग्न श्रेणियां (Submarine ridges) विद्यमान हैं। आलोचकों ने इसे विस्थापन में बाधा माना है।

वेगनर ने ग्लोसोप्टेरिस वनस्पति के चिह्नों द्वारा विस्थापन सिद्ध किया किंतु इस तरह की वनस्पति न केवल दक्षिणी भारत में वरन् काश्मीर, अफगानिस्तान, साइबेरिया तथा ईरान में भी मिलती है।

किसी भी स्थान की जलवायु में परिवर्तन उस स्थान के स्थानान्तरण के कारण माना गया है किन्तु विश्व में समय-समय पर जलवायु में परिवर्तन होते रहे हैं पर्वतों का निर्माण ध्रुवों से भू-खण्डों के चारों ओर विस्थापन के फलस्वरूप हुआ होगा। इस प्रकार ध्रुवों की ओर से प्रसारित बल के कारण हिमालय एवं आल्पस का निर्माण हुया न कि प्लवनशीलता के कारण।

वर्तमान में होम्स द्वारा सम्वाहन धाराओं को ही विस्थापन का प्रमुख कारण माना है न कि चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति अथवा प्लवनशीलता को। अनेकों आपत्तियों और

जटिलताओं के होते हुए भी वेगनर ने एक नई दिशा में विचार करने का मार्गदर्शन किया है। पर्वत निर्माण के सम्बन्ध में वर्तमान ज्ञान इस सिद्धान्त की ही देन है।

सम्पूर्ण क्रिया विधि किसी कारण हुई हो तो भी महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है। वर्तमान में इसे एक तथ्य के रूप मे माना जाता है। इसी सिद्धान्त को आधार मान कर मॉर्गन पट्टिका विवर्तनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

होम्स ने वेगनर तथा जोली के सिद्धान्त पर आधारित महाद्वीपीय विस्थापन से सम्बन्धित संवाहनी धाराओं के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि भू-पटल तीन स्तरों में विभाजित है—ऊपरी सियाल स्तर, मध्यवर्ती स्तर तथा निचली स्फटिक परत। महाद्वीप ऊपरी सियाल परत से निर्मित हैं। अटलांटिक महासागर के तली में कहीं-कहीं सियाल परत के चिन्ह पाए जाते हैं अन्यथा सागर तल मध्यवर्ती सीमा परत के बने है। इनके नीचे अधः स्तर है जो तरलावस्था में है। भूगर्भ में रेडियोधर्मी पदार्थ अपने में उष्मा निस्रत करते रहते है जो ऊपर की सियाल परत में से विकरण द्वारा निकलकर भूगर्भ में एकत्रित होती रहती है। रेडियोधर्मी पदार्थ भूगर्भ में 60 किमी. की गहराई तक अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

अत्यधिक ताप के कारण ये पदार्थ तरलावस्था में रहते हैं जिससे संवाहनी धाराएँ उत्पन्न होती हैं जो नीचे से ऊपर की ओर तथा विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर प्रवाहमान होती हैं। इन धाराओं की प्रखरता विषुवत रेखीय भाग में भू-पटल की अपेक्षाकृत अधिक मोटाई व रेडियोधर्मी कणों के वितरण में अन्तर पर निर्भर है।

विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर प्रवाहित शक्तिशाली धाराएँ अपने साथ भू-खण्डों को बहा ले जायेंगीं। भीतरी परत में ताप अधिक होने के कारण धाराओं की गतिशीलता अधिक रहेगी जिससे बाहर की परत फट जायेगी। मैसोजोइक के मध्यजीव महाकल्प में सम्भवतः विषुवत-रेखीय महाद्वीप के संवाहनी धाराओं द्वारा दो भागों (अफ्रीका तथा यूरोप) में विभाजित होने के फलस्वरूप **'टैथिस सागर'** की उत्पत्ति हुई होगी। महाद्वीपों एवं महासागरों के अंतराल से उठती धाराएँ महाद्वीपीय तट पर दो विपरती दिशाओं से संगम करती हैं। विपरती धाराओं के वेग से सम्पीडन तथा दाब के फलस्वरूप शैलें कायान्तरित होकर भारी हो जाती हैं। ग्रेनाइट शैल भारी इक्लोगाइट में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार भारी पदार्थ तरल सीमा में दब जायेगा जिससे सागर तटों पर अभिनति का निर्माण होगा। महाद्वीपों की ओर से यहाँ तलछट निक्षेपित होती रहेगी। तलछट के भार से सम्पडीन में वृद्धि होगी। सम्पीडन से अन्त में तलछट वलित पर्वतों के रूप में परिवर्तित हो जायेंगे। किन्तु पर्वतों के पदार्थ का घनत्व अधःस्तर के घनत्व से कम होने के कारण ये उसमें डूबेंगे नहीं तथा स्वयं द्रव की अवस्था में परिवर्तित कर अधःस्तर के पदार्थ के भार को और भी कम कर देंगे और ज्वालामुखी क्रिया आरम्भ हो जायगी। इस प्रकार पर्वतों का निर्माण क्रम जारी है।

महाद्वीप के नीचे जहाँ धाराऐं एक दूसरे से विपरीत दिशा में चलेंगीं वहाँ महाद्वीप का ऊपरी भाग उत्तरोत्तर पतला होता जायेगा क्योंकि दोनों धाराऐं पदार्थ घसीट कर ले जायेंगीं तथा तनाव भी बढ़ता रहेगा। बढ़ते तनाव के कारण महाद्वीप खण्डित हो जायेंगे और अधःस्तर का ताप बाहर फूट आयेगा। खण्डित स्थान पर भू-अभिनति का निर्माण होगा

इस भू-अभिनति में शनैः-शनैः चारों ओर से तलछट का निक्षेप होगा जिसके भार से अवतलन होगा। फलस्वरूप सम्पीडन बढ़ेगा और दोनों ओर के खण्डित महाद्वीप एक दूसरे के समीप
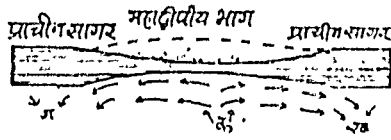
चित्र 6·13 संवाहनी धाराओं की उत्पत्ति

आयेंगे। महाद्वीपों के निकट आने के कारण भू-अभिनति मे निक्षेपित पदार्थ दाब पड़ने से ऊपर को वलित हो उभर आयेंगे। इस प्रकार वलित पर्वतों का निर्माण होगा। सम्भवतः आल्प्स तथा हिमालय पर्वतों का जन्म इसी प्रकार की भू-अभिनति में हुआ।
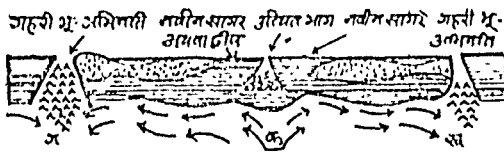
चित्र 6·14 संवाहनी धाराओं का महाद्वीप एवं महासागरों से सम्बन्ध

पर्वतों के वलय के पश्चात् भार के कारण उनके निचले भाग अधःस्तर में प्रवेश कर गये जिससे ताप में वृद्धि हुई। बढ़े हुए ताप के कारण संवाहनी धाराएँ महाद्वीपों के किनारों की ओर संचलित हुई जिससे तटवर्ती भाग आगे की ओर खिचकर पतले होते गये। महाद्वीपों के ये तटवर्ती पतले भाग नीचे की ओर जाती हुई संवाहनी धाराओं के साथ अवतलित होते गये। तापमान के ह्रास के कारण इक्लोगाइट का निर्माण समाप्त हो गया
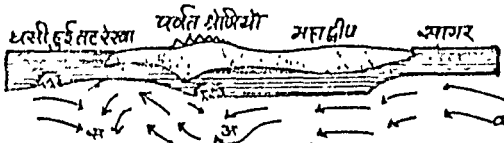
चित्र 6·15 संवाहनी धाराओं का प्रभाव

फलस्वरूप अवतलन रुक गया। अवतलन समाप्त होने पर पर्वतों का उत्थान हुआ। तापमान में कमी होने से संवाहनी धाराओं का स्रोत ही समाप्त हो गया। किन्तु महाद्वीपों के नीचे एक नवीन धारा-क्रम प्रारम्भ हुआ जिससे नये महाद्वीपों, महासागरों तथा पर्वतों का निर्माण हुआ। यह क्रम सतत चलता रहता है तथा समय-समय पर ताप में वृद्धि होते ही नये भूखण्डों का आविर्भाव होता रहता है।

होम्स महाद्वीपीय विस्थापन के प्रबल समर्थक हैं। उनके अनुसार सर्वप्रथम संवाहनी धाराओं के कारण एक विस्तृत महाद्वीप का निर्माण हुआ जो खण्डित होकर दो भागों में विभाजित हो गया। यह दोनों भाग एक दूसरे की ओर से विस्थापित हुए जिससे मध्य में वलित पर्वतों का निर्माण हुआ।

होम्स के अनुसार पुराजीव महाकल्प के अन्त में गोण्डवाना महाद्वीप के नीचे केप पर्वत के निकट संवाहनी धाराएँ उत्पन्न हुई होंगी। इसी प्रकार लौरेशिया महाद्वीप के नीचे

अपलेशियन पर्वतों के निकट धाराओं का आविर्भाव हुआ होगा जिसके कारण स्थल भूखण्ड उत्तर की ओर विस्थापित हो गये। वर्तमान स्थलीय उत्तरी गोलार्द्ध तथा दक्षिणी जलीय गोलार्द्ध की उत्पत्ति इस तरह हुई मानी जाती है।
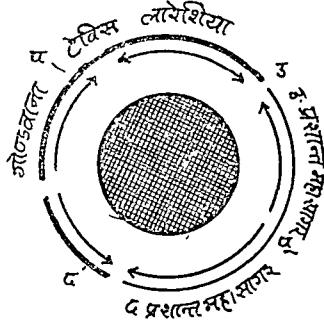
चित्र 6.16 होम्स के अनुसार महाद्वीपों की स्थिति

गोण्डवाना भू-खण्ड के दो भागों के पृथक होने से हिन्द महासागर का निर्माण हुआ। भारतीय प्रायद्वीप उत्तर की ओर विस्थापित हो गया। आस्ट्रेलिया एवं अन्टार्कटिक दक्षिण की ओर खिसक गये और इन सभी महाद्वीपों के तटों पर पर्वतों का निर्माण हुआ।

गोण्डवाना के खण्डित भाग के उत्तर की ओर विस्थापित होने से हिमालय पर्वत का जन्म हुआ। आज भी हिमालय तथा तिब्बत में भू सम्पीडन अनुभव किया गया है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि प्रायद्वीपीय भारत हिमालय की ओर अग्रसर हो रहा है जिससे हिमालय क्षेत्र में भूकम्प का वातावरण बना रहता है।

लारेंशिया महाद्वीप के टूटने से एटलान्टिक महासागर का निर्माण हुआ। खण्डित भू-खण्ड के पश्चिम की ओर खिसकने से राकी पर्वत एवं पश्चिमी द्वीप समूहों का निर्माण हुआ।

आलोचना

होम्स ने अपने सिद्धान्त का मूल आधार संवाहनी धाराओं को माना है। क्या यह सम्भव है कि धाराएँ इतनी शक्तिशाली होंगीं कि महाद्वीप जैसे विशाल भू-भागों को खण्डित कर देंगी? यदि यह मान लिया जाय तो वर्तमान में इनका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर क्यों नहीं होता।

अनेकों आपत्तियों और त्रुटियों के होते हुए भी यह सिद्धान्त अपेक्षाकृत तर्क संगत है।

ग्रेगरी ने विस्थापन की बजाय स्थल सेतुओं के निमज्जन द्वारा महाद्वीपों की वनस्पति, जीव-जन्तु, शैल, जलवायु आदि की एकरूपता को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

फाकलैण्ड तथा सेन्टपाल द्वीप स्थल-सेतुओं के ही अवशिष्ट हैं जिनका निमज्जन हो चुका है। यह पेरीडोटाइट से बने हैं जो महाद्वीपीय शैलों के अभिन्न अंग हैं।

मैनेज के अनुसार महासागरों के तल पर कहीं-कहीं सियाल अथवा हल्के पदार्थ पाए जाते हैं जिन्हें स्थल-सेतुओं के अवशेष माना गया है।

प्रशान्त महासागर के द्वीप तथा तली का कुछ भाग रायोलाइट तथा ट्रेचीलाइट शैलों अर्थात् प्रशान्त महासागर का समस्त तल बेसाल्ट से निर्मित नहीं है।

उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में अवतलन एवं भ्रंशन के अनेकों प्रमाण मिलते हैं। स्काटलैण्ड तथा आइसलैण्ड में ज्वालामुखी क्रिया द्वारा लावा प्रवाह अवतलन एवं भ्रंशन के
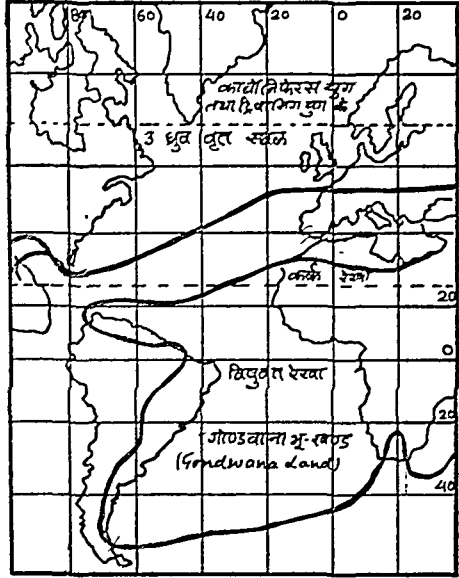
चित्र 6.17 स्थल सेतुओं का वितरण

कारण हुआ। इसी प्रकार एटलांटिक महासागर का मध्यवर्ती भाग तथा पश्चिमी अफ्रीका में भ्रंशन के कारण ज्वालामुखी क्रिया हुई।

विस्थापन के समर्थन में नवीनतम विचारधारा

आधुनिक वैज्ञानिक गवेषणाओं की सहायता से विस्थापन के तथ्यों को सिद्ध करने के दो प्रमुख आधार हैं :

पुरातन शैलों में विद्यमान जीवाश्मी चुम्बकीय तत्त्व तथा महासागरों के तलों की संरचना।

वर्तमान अन्वेषणों से यह ज्ञात हुआ है कि जीवश्मी चुम्बकीय तत्त्वों का वितरण समय-समय पर भि-न्नभिन्न रहा है। चुम्बकीय उत्तर किसी समय हवाई द्वीप के समीप था। कालान्तर में यह जापान तथा कमचटका प्रायद्वीप के समीप से खिसकती हुई अन्त में साइबेरिया में स्थापित हो गया।

7 करोड़ वर्ष पूर्व प्रायद्वीप भारत विषुवत रेखा के दक्षिण में स्थित था। ब्रिटेन के अनुसार भी 15 करोड़ वर्ष पूर्व विषुवत रेखा के निकट होने की सम्भावना थी। दोनों ही देशों की वर्तमान स्थिति यह सिद्ध करती है कि यदि ये दक्षिण में थे तो अवश्य विस्थापित होकर उत्तर की ओर अपनी वर्तमान स्थिति में पहुँचे हैं।

सागरों की तली सम्बन्धी कुछ तथ्य भी विस्थापन को गहरे महासागरों में तलछट के निक्षेप का अभाव यह प्रमाणित करता है कि इनका निर्माण अधिक पुराना नहीं है। इसके अतिरिक्त किसी भी सागर में खटीयुग से पूर्व के तलछट नहीं मिलते। सभी सागरीय तलों में क्रमवद्ध उभरी जलमग्न पर्वत श्रेणियाँ हैं। एटलांटिक महासागर के मध्य यह श्रेणी

उत्तर से दक्षिण की ओर फैली हुई है। प्रशान्त महासागर के पूर्वी तट के समीप स्थित इन श्रेणियों के मध्य गहरी दरार है।

ग्रीनलैण्ड का उत्तरी अमेरिका की ओर विस्थापन प्रमाणित हो चुका है। इसी केलीफोर्नियाँ के तट के समीप स्थलखण्ड कई सौ किलोमीटर पश्चिम की ओर खिसक गया है।

डीज तथा हेस ने भी महाद्वीपीय विस्थापन में विश्वास प्रकट करते हुए संवाहनी धाराओं के अस्तित्व की पुष्टि की है। संवाहनी धारायें नीचे को जाते हुए अपने साथ उपर के शैलों को अध स्तर में ले जाती हैं, इसके विपरीत नीचे से ऊपर आने वाली धाराएँ अधःस्तर के शैल उपर ले आती हैं। इस प्रकार सागर तल सदा परिवर्तनशील रहता है जिससे सागर तल में तलछट के निक्षेप का अभाव है।

डीज के अनुसार संवाहनी धाराओं का अपना निर्धारित क्षेत्र पृथ्वी की पृथक-पृथक कोशिकाओं तक सीमित है। किन्तु धाराओं के प्रवाह का क्रम स्थायी नहीं है। अतः नवीन कोशिकाओं का विकास होता रहता है जहाँ धारायें अपनी घरती रच लेती हैं। एटलांटिक महासागर में नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहमान धारा ने महासागर के मध्य में श्रेणी का निर्माण किया है। इस श्रेणी में धारा के प्रवाह से विवर बना है। जहाँ धाराएँ ऊपर से नीचे की ओर बहती हैं वहाँ संगम पर महाद्वीप की स्थिति होगी। इसके विपरीत यदि धाराएँ नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित हैं और ऊपर कोई स्थल-खण्ड है तो धाराएँ उस स्थल खण्ड को विभक्त कर देंगीं या बहा ले जायेंगीं।

डीज के मतानुसार पुरानी कोशिकाओं के स्थान पर नवीन कोशिकाएँ भी जन्म लेती हैं। केलीफोर्नियाँ की खाड़ी का निर्माण नवीन कोशिकाओं के कारण हुआ है। अफ्रीका की दरारी घाटी की उत्पत्ति नीचे से ऊपर को प्रवाहित धाराओं से हुई। उपर आकर धाराओं के फैलने से स्थल भाग का विस्थापन हो गया।
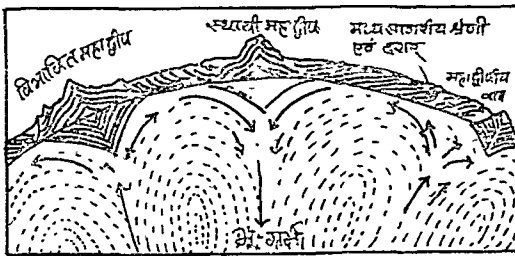
चित्र 6·18 अधः स्तर की कोशिकाओं में संवाहनी धाराओं का चक्र एवं खोल

पट्टिका विवर्तनिक सिद्धान्त

पृथ्वी पुरा चुम्बकत्व साक्ष्यों के आधार पर वेगनर के महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त का विकसित रूप है। पृथ्वी की चुम्बकीय विषमताओं तथा विभंग मण्डलों के सर्वेक्षण से महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पट्टिका विवर्तनिक सिद्धान्त सामने आया। पट्टिका विवर्तनिक सिद्धान्त के प्रवर्तक मॉर्गन, मेकेंजी तथा पिचन हैं।

अफ्रीका के पश्चिमी तथा दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तटों के पुनः संयोजन की अनुरूपता से मार्गन ने महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त को आधार मान कर यह परिणाम निकाला

कि ठण्डा और कठोर भू-मण्डल (महासागरों की तली तथा महाद्वीप) बिना किसी परिवर्तन के गतिमान हैं। अर्थात् विभ्रंश सागरीय द्रोणी, उभार एवं निक्षेप भू-मण्डल को अनेकों खण्डों में विभाजित करते हैं। इसे 'वेनिग्राफ मण्डल' भी कहते हैं क्योंकि वेनिग्राफ ने इस बात को महत्वपूर्ण बतलाया कि भूकम्पीय मण्डल महाद्वीपों की ओर झुके हुए भ्रंशों के द्योतक हैं। अधिक क्षैतिज विस्तार तथा पतला (100 किमी. से कम मोटा) होने के कारण गतिमान कठोर खण्डों की पट्टिकायें सियालिक महाद्वीप और सीमेटिक सागरीय तली के रूप में होती हैं। 100 किमी. मोटी परत को विवर्तनिक मंडल व स्थलमण्डल कहते हैं। पट्टिकाओं के संगम पर भू-गर्भिक क्रियाएँ घटित होती हैं। ज्वालामुखी, भूम्कपीय तथा वलित पर्वतों की निर्माण क्रियाएँ होती हैं। गतिमान पट्टिकाओं की व्यवस्था जो पृथ्वी के विवर्तनकों की है पट्टिका विवर्तनिक कहलाती है।

पट्टिका विवर्तनिकों का अस्तित्व उस समय प्रकाश में आया जबकि यह जानकारी प्राप्त हो गई कि विभंग मण्डल छोटे-छोटे वृत्तों के रूप में पृथ्वी के विशिष्ट भाग के कठोर शैलों को इकाइयों में विकसित हो जाते हैं। सागर तली के रूक्ष प्रदेश में हजारों किलोमीटर लम्बी फैली ऐसी संकीर्ण एकाकी पट्टी विभंग मण्डल कहलाती है। सेन डिगो (San Siego) से हवाई (Hawaii) द्वीप तक लगातार फैली हुई लम्बी पट्टी विभंग मण्डल का स्वरूप हैं। इसी पट्टी के समानान्तर अनेक समकेन्द्रित पट्टियाँ फैली होती हैं जो कि पट्टिकाओं की गति की दिशा को निर्धारित करती हैं।

चित्र 6·19 - पूर्वी प्रशान्त सागर के मुख्य-संकेद्रित विभंग मण्डल

आयलर के अनुसार कोई भी कठोर भू-भाग स्वछन्दतापूर्वक घूमे तो वह किसी ध्रुव के चारों ओर परिभ्रमण करेगा। मार्गन ने अटलांटिक महासागर में 30° उत्तरी और 10° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य विभंग मण्डलों को छोटे-छोटे समकेन्द्रित वृत्तों के रूप में पाया जिनका केन्द्र ग्रीनलैण्ड के दक्षिणी छोर पर स्थित है।

यदि हम 44° उत्तरी अक्षांश और 30.6° पश्चिमी देशान्तर को केन्द्र मानकर समकेन्द्रीय वृत्त खीचें तो हम पायेंगे कि द. अमेरिका इन वृत्तों के सहारे अपने मौलिक स्थान से वर्तमान स्थान पर किस प्रकार पहुंचा है।

मैकेंजी तथा पार्कर के अनुसार मर्केटर प्रक्षेप पर सभी छोटे वृत्त सीधी रेखाओं द्वारा प्रदर्शित होते हैं। आयलर की प्रमेय तथा पट्टिकाओं की खोज से यह निष्कर्ष निकलता है कि पट्टिकाओं की गति विभंग मण्डलों के समानान्तर होती है। आयलर के

चित्र 6·20 महासागरों तथा महाद्वीपों के द्वितीय श्रेणी के स्थल रूप

अनुसार पट्टिकाओं की गति उनके कोणीय संवेग तथा अक्ष से कोणीय दूरी के अनुपात में होती है। इनकी गति ध्रुव से दूरी के अनुपात में बढ़ती हुई विषुवत रेखा पर अधिकतम हो जाती है।

चित्र 6·21 पुस्तकों द्वारा केन्द्र निकालने की विधि

मार्गन ने पृथ्वी को छोटी और बड़ी 20 पट्टिकाओं में विभाजित किया तथा उनके तीन सीमांकन किये—

(1) रचनात्मक क्षेत्र—इस क्षेत्र में भू-गर्भ का पदार्थ ऊपर आकर सागरीय कटकों की रचना करता है, इस क्षेत्र में प्रतिबल लम्बरूप में रहते हैं तथा भ्रंश क्षैतिज तल से 60° पर झुके रहते हैं।

(2) विनाशकारी क्षेत्र—जिन स्थानों पर पृथ्वी की पपड़ी नष्ट हो गई है वह विनाशकारी क्षेत्र कहलाते हैं। नष्ट हुई पपड़ी का लुप्त भाग खाइयों, द्वीपतोरणों तथा पर्वतों के नीचे वलित होता चला जाता है। यहाँ न्यूनतम प्रतिबल लम्बवत होता है तथा पट्टिकाओं की सीमा, प्रतिवर्ती अंश में 30° के कोण पर झुकी रहती है।

चित्र 6·22 ग्लोबपर चित्र नं 20 की भाँति घूर्णनाक्ष ऑइलर ध्रुव ज्ञात करने की विधि
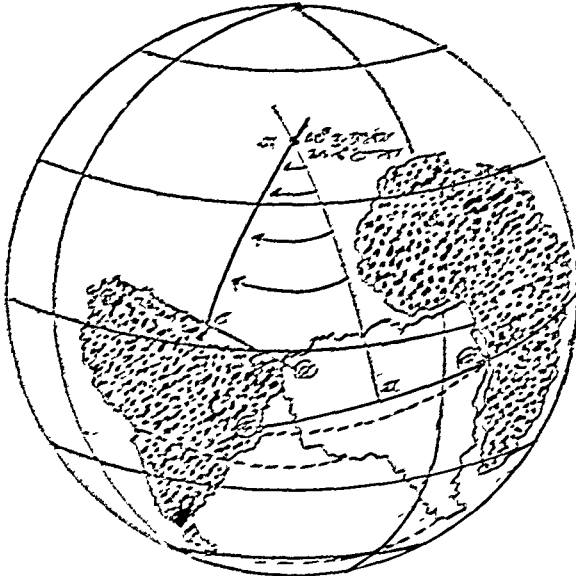
(3) अविनाशी क्षेत्र—ऐसे स्थान जहाँ पपड़ी न तो नष्ट हुई है और न उत्पन्न हुई है अविनाशी क्षेत्र कहलाता है। इस प्रकार की सीमा पर मध्यवर्ती प्रतिबल लम्बवत होता है तथा रूपांतर विभंग के रूप में पाया जाता है। पृथ्वी गोलाकार होने के कारण यह विभंग वक्राकार, किन्तु मर्केटर प्रक्षेप पर सीधी रेखा में दृष्टिगोचर होते हैं।

चित्र 6·23 रूपान्तर विभंग
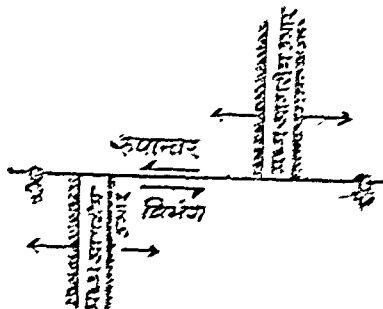
सागर की नवीन परिकल्पना को और भी सरल करने के लिए ली पिचन ने पृथ्वी को 5 बड़ी पट्टिकाओं में विभाजित किया—(i) अमेरिकी, (ii) यूरेशियन, (iii) अफ्रीका, (iv) आस्ट्रेलिया, (v) पेसिफिक तथा (vi) अण्टार्कटिक। इन पट्टिकाओं के मध्य स्थित कुछ छोटी

पट्टिकाएँ हैं, जैसे केरिबियाई, पूर्वी भूमध्यसागर व तुर्की जो कि अत्यधिक भूकम्पों के क्षेत्र हैं। ली पिचन ने पट्टिकाओं के परिभ्रमण केन्द्रों को निर्धारित करने के लिए चुम्बकीय
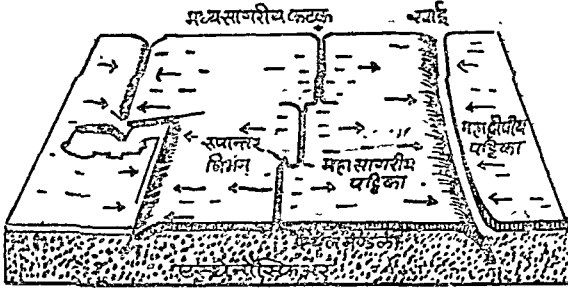
चित्र 6·24 पट्टिका विवर्तनिकी की मुख्य आकृतियों को प्रदर्शित करते हुए आयोजन आरेख

विषमताओं से प्रभावित प्रसारित अनुपात का घटना तथा महासागरों के कटकों के अक्षों तथा परावर्तित विभंगों के संगम के दिगंश का सहारा लिया। प्रकट रूप में पट्टिकाएँ दृढ़ भूखण्डों की भाँति आचरण करती हैं। किन्तु दक्षिणी तथा उत्तरी प्रशान्त, आर्कटिक, अटलांटिक तथा हिन्द महासागरों में से प्रत्येक की उत्पत्ति परिभ्रमण द्वारा सिद्ध की जा सकती है।
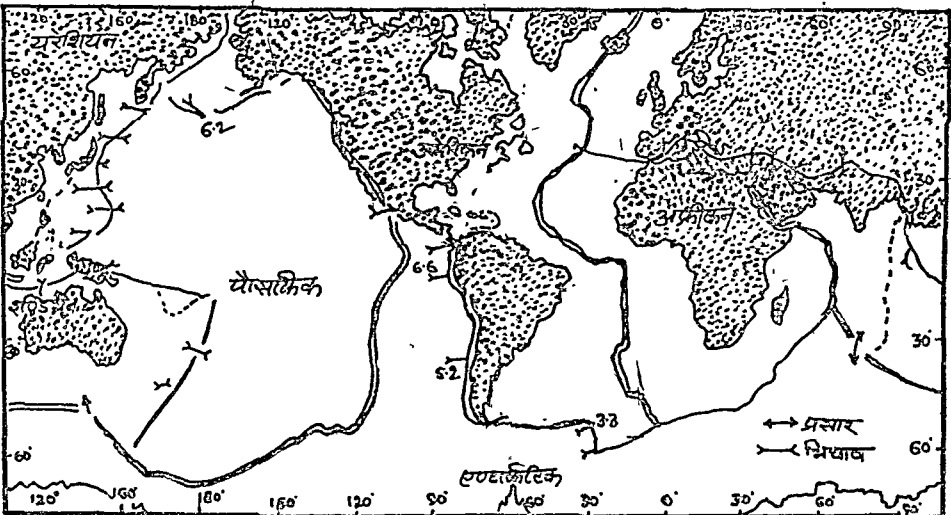
चित्र 6·25 पट्टिकाओं में विभाजित पृथ्वी का धरातल। = रचनात्मक सीमा, —विनाशकारी सीमा, ~अविनाशी सीमा विनाशकारी सीमाओं के सहारे लिखे अंक स्थल मण्डल के विनाश की सेन्टीमीटर/प्रति वर्ष की दर प्रदर्शित करते हैं।

ली पीचन ने इस धारणा को निरस्त कर दिया कि गत 20 करोड़ वर्षों में महासागरों का प्रसार पृथ्वी के अर्द्धव्यास की तीव्र वृद्धि के कारण हुआ।

अन्त में ली पिचन ने प्रसार गति के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि मध्यजीव कल्प से सन् 1968 तक महासागरों का प्रसार 6 सेन्टीमीटर प्रतिवर्ष रहा है।

पट्टिकाएँ एक दूसरे से पृथक होकर महासागरों, एक दूसरे की ओर अग्रसर होकर निक्षेपों, ज्वालामुखियों और वलित पर्वतों तथा एक दूसरे के संपार्श्व पर धंस कर भूकम्पों को जन्म देती हैं। इन तीनों गतियों की दिशा के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पट्टिकाएँ ज्वालामुखी केन्द्रों के चारों ओर घूमती हैं। ज्वालामुखी केन्द्र पृथ्वी के उष्ण स्थान हैं जो महाद्वीपों व महासागरों के विकास में सहायक होते हैं।

चित्र 6·26 - पृथ्वी के 20 उष्ण स्थान, खाइयाँ, विभंग मण्डल, कटक तथा ज्वालामुखी कटकों तथा ज्वालामुखी कटकों की दिशा

महाद्वीपों के आन्तरिक गर्भ में 27 से 35 करोड़ वर्ष पुरानी शैलों के केन्द्रक मिलते हैं जो चारों ओर से 8 से 27 करोड़ वर्ष पुराने शैलों से घिरे हुए हैं। ज्वालामुखी उद्भेदन तथा पर्वत निर्माण घटनाओं के कारण महाद्वीपों में महासागरों की अपेक्षा मोटी पपड़ी है जिसकी ऊपरी परत ग्रेनाइट से निर्मित है। पिछले 30 से 40 करोड़ वर्षों में महाद्वीपों का

चित्र 6·27 एफार ज्वालामुखी त्रिकोण

निर्माण हुआ। महासागरीय कटकों के सहारे मैग्मा के ऊपर आने से महासागरीय तली का बैसाल्ट से निर्माण हुआ है। हवाई की ज्वालामुखी द्वीप शृंखला इसका उदाहरण है। पश्चिम की ओर महासागरीय तली की अधिकतम पुरानी शैल केवल 7.5 करोड़ वर्ष पुरानी है। यह सिद्ध करता है कि पहले महाद्वीप और बाद में महासागरों की रचना हुई।

यदि महाद्वीप एक से अधिक उष्ण स्थानों के ऊपर स्थित होते हैं तो वे विभ्रंश घाटियों द्वारा विच्छेदित कर दिए जाते हैं। भूकम्पीय तथा विवर्तनिक क्रियाओं द्वारा सचित पृथ्वी की सक्रिय द्रोणियां पपड़ी को कठोर भूखण्डों के रूप में पृथक करती हैं। विभ्रंश घाटियां तथा द्रोणियां कालान्तर में नवीन सागरों के रूप में विकसित होती जाती हैं, पूर्वी अफ्रीका की विभ्रंश घाटी महाद्वीप को विभाजित करने का प्रारम्भिक प्रक्रिया स्वरूप है। एक ओर नवीन महासागरों का जन्म होता है तो दूसरी ओर पुराने महासागरों की तली उपमुक्त जाती है। उत्पलावनता के कारण महाद्वीप नीचे की ओर नहीं धंसते तथा उनको विभाजित करने वाले स्थान का लुप्त पदार्थ खाइयों की ओर प्रवाहित होकर द्वीप तोरणों के आयतन में वृद्धि करता है।

दो पट्टिकाएं आपसी संघात से जटिल पर्वत श्रेणियों को जन्म देती हैं। इस सिद्धान्त के अंतर्गत उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका एक ही अमेरिकी पट्टिका के दो खण्ड हैं। ये पट्टिकाएं पश्चिम की ओर खिसक रही हैं। अतः इनका पश्चिमी किनारा संलग्न जलमग्न पट्टिका को नीचे धकेलता जा रहा है जिससे ऐण्डीज तथा राकीज पर्वतों का निर्माण का क्रम जारी है। दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर एक लम्बी और गहरी खाई है। इसी प्रकार अलास्का की एल्यूशियन द्वीप श्रृंखला के पश्चिमी तट पर भी लम्बी और गहरी खाई है। ये खाइयाँ पश्चिम की ओर स्थित पट्िका के पूर्व भाग के एस्थेनो-स्फिअर में धंसाव की द्योतक हैं जिसके ऊपर अमेरिकी पट्टिका अध्यारोपित हो रही है। इसी प्रकार जब दो महाद्वीपों की पट्टिकाएं एक दूसरे से टकराती हैं तो हिमालय जैसी पर्वत श्रृंखलाओं निर्माण होता है।
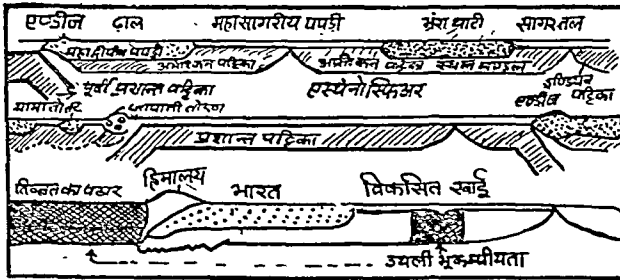
चित्र 6·28 पट्टिका महासागरों, महाद्वीपों और द्वीप तोरणों के सम्बन्धों की आयोजन काटे (Schematic section)

भूकम्पी तरंगों के अध्ययन से पता चला है कि पृथ्वी के ऊपरी आवरण में लगभग 60 किमी. गहराई पर एक कोमल तथा विरल शक्ति की परत है जिसे एस्थेनोस्फिअर के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस परत में गहराई के साथ-साथ लगभग 200 किमी. तक शक्ति घटती चली जाती है। उसके बाद भू-आवरण में शक्ति पुनः बढ़नी प्रारम्भ हो जाती है। एस्थेनोस्फिअर की इस 140 किमी. मोटी परत में रेडियोधर्मिता के कारण ताप शैलों के द्रवांक बिन्दु तक पहुंच जाता है। अत्यधिक ताप के कारण शैल अपनी शक्ति क्षीण कर देते हैं तथा असमान प्रतिबलों के फलस्वरूप धीमी गति से प्रवाहित होने लगते हैं। इस तप्त और क्षीण शक्ति की परत के ऊपर 50 से 70 किमी. मोटी ठण्डी एवं कठोर परत है जो आयलर की प्रमेय के अनुसार परिभ्रमण करती रहती है।

भूगर्भ में 400 से 700 किमी. की गहराई पर शैल परिवर्तित अवस्था में आ जाते हैं। भूगर्भ में 400 किमी. गहराई पर लगभग 1500° सेग्रे. तापमान हो जाता है। इस अवस्था में **अलिवाइन** जोकि **पेरिडोटाइट** का मुख्य खनिज है, घने रवेदार पिंड में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार के पुनर्विन्यास को संक्रमण अवस्था कहते हैं। यही संक्रमण अवस्था संवाहनी धाराओं के निर्माण में सहायक होती है। तापीय प्रसार संवाहनी धाराओं के लिए उत्तरदायी है, यह धारणा अधिक तर्कसंगत नहीं है। यद्यपि 400 किमी. की गहराई पर तापीय प्रसार क्षीण होता है किन्तु यह महत्वपूर्ण है। यदि संक्रमण अवस्था में तप्त पदार्थ कम घनत्व के पदार्थ में अन्तरित हो जाता है तो तापीय प्रसार की अपेक्षा पदार्थ के घनत्व में अधिक परिवर्तन आ जाता है। अतः कम घनत्व का पदार्थ ऊपर की ओर सागरीय कटकों के नीचे और अधिक घनत्व का पदार्थ क्षैतिज रूप से बहता हुआ खाइयों के नीचे चला जाता है।
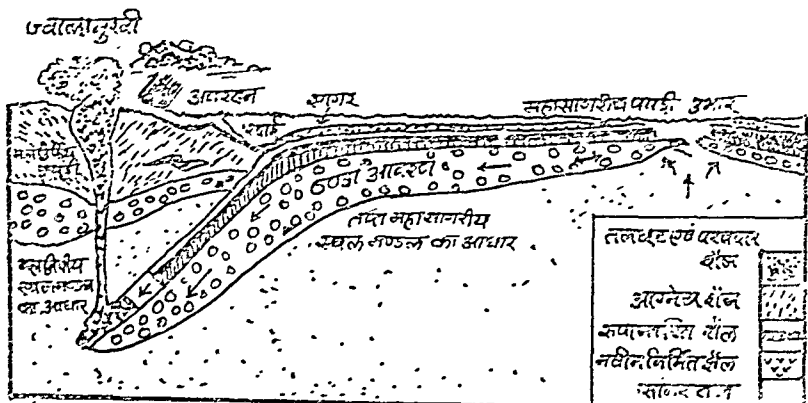
चित्र 6·29 महाद्वीपीय कोर (Edge) पर लुप्त होती हुई महासागरीय पट्टिका तथा शैल चक्र जोकि सम्भावित संक्रमण (Phase Transition) के लिये उत्तरदायी हैं

संवाहनी धाराओं के उद्गम स्थान पर जहां से तप्त पदार्थ ऊपर उठता है विवर हो जायेगा। संक्रमण अवस्था के ठण्डे स्थान से नीचे जाती हुई पट्टिका ऊपर को उठ जायेगी। गुरुत्व के कारण उद्गम स्थान का विवर चौड़ा हो जायेगा और शीतल स्थान कूबड़
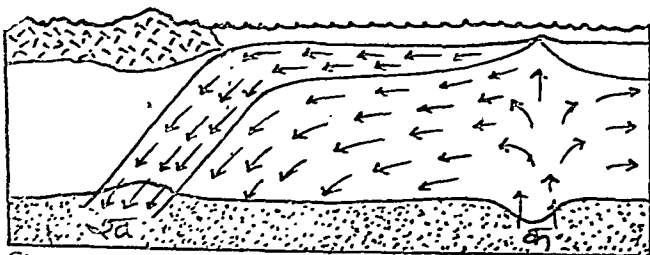
चित्र 6·30 संक्रमण अवस्था के कारण संवाहनी धाराओं की उत्पत्ति

की भाँति ऊपर उठ जायेगा। यही शक्तियां संवाहनी धाराओं के आगे प्रवाह में सहायक होती हैं।

ग्रक्सवर्ग, टरकोट तथा मेकेंजी ने गणित के ग्राधार पर संवाहनी धाराग्रों का एक मॉडल तैयार किया । उसके ग्रनुसार रवेदार शैलों में मन्दगति की खिसकन पैदा हो जाती है । जिस प्रकार हिमानी रेंगती है उसी तरह तापमान तथा प्रतिबलों की विषमताग्रों के कारण रवेदार शैलों में भी गति होती है । यदि तापमान का ग्रनुपात कम हो ग्रौर प्रतिबलों का ग्रन्तर ग्रधिक हो तो शैल रेंगने के स्थान पर टूट जाती हैं ।

भू-ग्रावरण की परिकल्पित बेलनाकार संवाहन कोशिकाएँ जोकि ग्रारवण के निचले भाग की ग्रोर नल की भाँति फैली हुई हैं प्लम या पिच्छ संवाहन कहलाती हैं । ने लावा मॉर्गन का स्रोत संक्रमण ग्रवस्था वाले मण्डल को बतलाया है जोकि भूगर्भ में 400 से 700 किमी. गहराई पर पाया जाता है । संवाहन के लिए उष्ण स्थानों की ग्रपेक्षा ग्रारोही लावा ग्रधिक महत्वपूर्ण है । भूगर्भ में तापीय सीमा परतें है । तप्त ग्रारोही ग्रौर ठण्डी ग्रव-रोही पिच्छें एक प्रकार के वाहक पट्टों का कार्य करती हैं जिनसे ताप स्थान्तरित होता है । जैसे ही स्थल मण्डल की ठण्डी पट्टियाँ नीचे की ग्रोर सबडक्शन मण्डल में जाती हैं वे उच्च घनत्व की खनिजों में परिवर्तित हो जाती हैं जिससे उनके डूबने की गति बढ़ जाती है । पट्टियां संलग्न शैलों के ताप संवाहन के कारण तप्त होकर तापीय ग्रपरदन को प्राप्त होती हैं रगड़ के कारण उत्पन्न ताप भी शैलों को गला देता है ।

मार्गन ने ज्वालामुखी कटकों के ग्रध्ययन के ग्राधार पर लावा को संवाहन प्रारूप का कारण बतलाया क्योंकि लावा का स्रोत भू-संतुलन के स्थान से कुछ ऊपर है । लावा, बैसाल्ट से निर्मित कटकों की ग्रपेक्षा ग्रधिक पुराना है । इसमें पोटेशियम तथा बड़े व्यास के
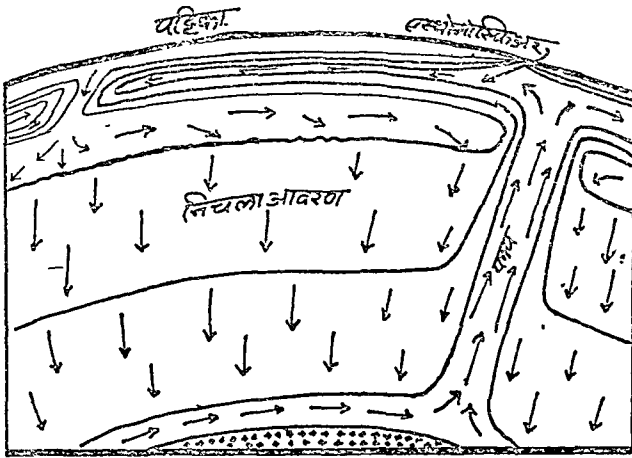
चित्र 6·31 पिच्छ संवाहन (Plume Convection)

तत्त्व ग्रधिक मात्रा में पाए जाते हैं तथा उष्ण-स्थान ज्यामितीय रूप में स्थिर तथा एक दूसरे से संबद्ध हैं ।

मॉर्गन के ग्रनुसार इन तीनों ही तथ्यों के पीछे एक ही कारण है । ग्रारोही संवाहनी कोषिकाएँ जो पृथ्वी के ग्रावरण में फैली हुई हैं लावा के स्रोत की धरातलीय ग्रभिव्यक्ति हैं । इस प्रकार की 20 पिच्छें हैं । मॉर्गन ने इन पिच्छों के स्वरूप को गर्जन मेघ के ग्राकार का बतलाया है जिसका स्तम्भ लम्बा होता है तथा वह ऊपर जाकर चारों ग्रोर फैल जाता

है। एस्थेनोस्फियर में प्रवेश कर पिच्छ उष्ण स्थानों को जन्म देती हैं और क्षैतिज रूप में प्रवाहित होकर महाद्वीपीय तथा महासागरीय पट्टिकाओं को अपने साथ घसीट लेती हैं।

पृथ्वी के आवरण में ये पिच्छें नलों की भाँति फैली हुई हैं जो सागरतल की ओर ताप संवाहन के कारण ठण्डी हो जाती हैं। सागर तल पट्टिका के विकास का एक मुख्य मार्ग है जिससे पृथ्वी के आवरण का ताप निकल जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Clark, S.P., Jr. (1971), Structure of the Earth (Prentice Hall, Englewood Cliff, N. J., pp. 131).
2. Cox, A., ed (1973), Plate Tectonics and Geomagnetic reversals, (W. H. Freeman, San Fransisco, pp. 702).
3. Hallam, A. (1973), A Revolution in the earth sciences (Clarendon Press, Oxford, pp. 127).
4. Gilluly, Waters & Woodford (1960), Principles of Geology (Modern Asia Ed.)
5. Holmes, A. (1965), Principles of Physical Geology (The English Language Book Society, Chapter XXXI, pp. 1193–1250).
6. Jeffreys, H. (1959), The Earth, IV ed. (Cambridge University Press, London).
7. Joly, J. (1930), The Surface History of the Earth (Oxford).
8. Judson. S., Deffeyes, K., Hargraves, R. (1978), Physical Geology (Prentice Hall of India Private Ltd, New Delhi, Chapters 9, 10, 11 and 12).
9. Kummel, Bernard (1970), History of the Earth (W. H. Freeman and Co., San Fransisco).
10. Marvin, Ursula B. (1973), Continental Draft (Smithsonian Institution Press, Washington D. C.).
11. Phinney, R. A. (1968), The History of the Earth's Crust (Princeton University Press, Princeton, N.J.).
12. Stacey, F. D. (1969), Physics of the Earth (John Wiley and Sons, Inc., New York).
13. Steers, J. A. (1961), The Unstable Earth (Methuen and Co. Ltd., London).
14. Strahler, Arthur N. (1975), Physical Geography (John Wiley and Sons, Inc., New York).
15. Sullivan, Walter (1974), Continent in Motion (McGraw Hill Book Co., New York).
16. Wegener, Alfred (1966), The Origin of Continents and Oceans Dover Publications, New York).
17. Wooldridge, S. W. and Morgan, R. S. (1963), An Outline of Geomorphology. The Physical Basis of Geography, Longmans.
18. Worcester, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology (D. Van Nostrand Company, Inc., Toronto).

———

7

भू-सन्तुलन के सिद्धान्त
[Theories of Isostasy]

पृथ्वी के उच्चावच्चों की विविधता से यह आभास होता है कि पहाड़ पठारों से, पठार मैदानों से और मैदान सागरों से अधिक भारी हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा होता तो पृथ्वी अपने सन्तुलन को नहीं बनाए रख सकती थी क्योंकि पृथ्वी अपने सन्तुलन के साथ नियमित गति कर रही है। भूतल पर समस्थिति की दशा उसी समय स्थिर रह सकती है जबकि विभिन्न आकारों के उच्चावच्चों में परस्पर समायोजन होकर उनका भार समान रहे। सामान्य रूप से परिभ्रमण करती पृथ्वी पर विभिन्न भार के उच्चावच्चों में स्थिरता की दशा को संतुलन की दशा कहते हैं। दूसरे शब्दों में "भू-तल पर जहाँ कहीं भी सन्तुलन होता है, वहाँ पर बराबर धरातलीय क्षेत्र के नीचे पदार्थ की मात्रा भी समान होती है।"

अमरीका के भू-वैज्ञानिक डटन ने संतुलन सिद्धान्त की गवेषणा की। डटन ने स्पष्ट किया कि धरातल पर खड़ी उच्च पर्वत मालाओं और पठारों, दूर तक फैले समतल मैदानों और गहरे सागरों का भार भू-गर्भ में कुछ गहराई पर बराबर है। अगर अपरदन या निक्षेप के कारण धरातल के किसी भाग में भार कम और किसी में अधिक हो जाता है तो सन्तुलन की स्थिति बनाए रखने के लिए पृथ्वी पर इतनी धीमी गति से परिवर्तन होते हैं कि इनका आभास भी नहीं हो पाता। कभी-कभी तीव्र और बड़े परिवर्तनों के फलस्वरूप भूकम्प अवश्य आ जाते हैं। नदियां निरन्तर पर्वतीय क्षेत्रों का लाखों टन अपरदित तलछट सागरों के तल में जमा करती रहती हैं। इस क्रिया में पर्वतों का भार कम और सागरों का भार सामान्य से अधिक हो जाता है। फलतः सन्तुलन की स्थिति को बनाये रखने के लिए सागर तलों का भारी पदार्थ अग्रसित हो उसी अनुपात में अपरदित क्षेत्र को ऊपर उठा देता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है तथा पृथ्वी अपने सन्तुलन को बनाए रखती है। एक तरह से यह क्षतिपूर्ति है।

सन् 1959 में भारत में गंगा-सिन्धु के मैदान में कुछ स्थानों का सर्वेक्षण द्वारा अक्षांशीय माप लेने के लिए आधार बिन्दु स्थापित किये गये। त्रिभुजीकरण से कल्याना और कल्याणपुर के मध्य अक्षांशीय अन्तर 5°23′42.294″ था, जबकि खगोलीय सर्वेक्षण द्वारा इन्हीं दोनों स्थानों का अन्तर 5°23′37.058″ रहा अर्थात् दोनों विधियों का अन्तर 5.236″ था।

कल्याना हिमालय पर्वत के समीप है जबकि कल्याणपुर उसके दक्षिण में दूर स्थित है, उत्तर में हिमालय के आयतन और अधिक द्रव्यमान के आधार पर खगोलिक सर्वेक्षण करते हुए गणितीय हिसाब से साहुल सूत्र का झुकाव कल्याना पर 27.853" और कल्याणपुर पर 11.968" और इन दोनों का अन्तर 15.885 सैकण्ड होना चाहिये था परन्तु वास्तविक अन्तर 5.236 सैकण्ड आया। अर्थात् हिमालय पर्वत ने साहुल सूत्र को गणितीय हिसाब से कम आकर्षित किया। और इसी सूत्र ने सन्तुलन के सिद्धान्त को जन्म दिया।

कल्याना तथा कल्याणपुर के खगोलीय सर्वेक्षण से पूर्व प्राट की यह धारणा थी कि धरातल पर विभिन्न उच्चावच्चों के नीचे समान घनत्व के शैल हैं, परन्तु साहुल सूत्र के अनुमान से कम झुकाव ने प्राट को अपना मत बदलने को बाध्य कर दिया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि बाह्य रूप से हिमालय भारी शैलों से निर्मित प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में
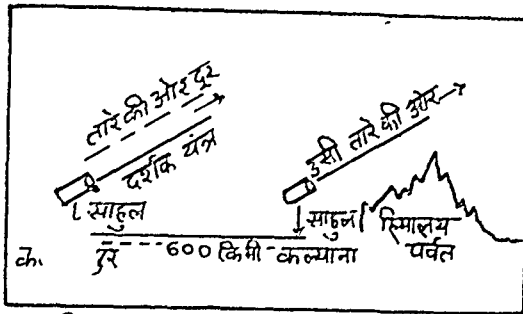
चित्र 7·1 प्राट द्वारा प्रयोग

हिमालय के नीचे की शैलों का घनत्व कम है। उन्होंने यहां तक कह डाला कि हिमालय खोखला है जिसमें शैल न होकर बुलबुले हैं। हिमालय के ऊपरी अत्यधिक पदार्थ का सन्तुलन उसके नीचे के कम घनत्व वाले पदार्थ से होता है। इसीलिए हिमालय का समस्त भार कम होने से आकर्षण भी कम होगा।

प्राट के अनुसार पर्वत, पठार, मैदान और सागर तल अंतराल के भारी पदार्थ पर तैर रहे हैं। जो जितना हलका है वह उतना ही धरातल से ऊपर उभरा हुआ है और जो जितना भारी है वह उतना ही भूगर्भ में धंसा हुआ है। इस प्रकार ऊंचाई और घनत्व का
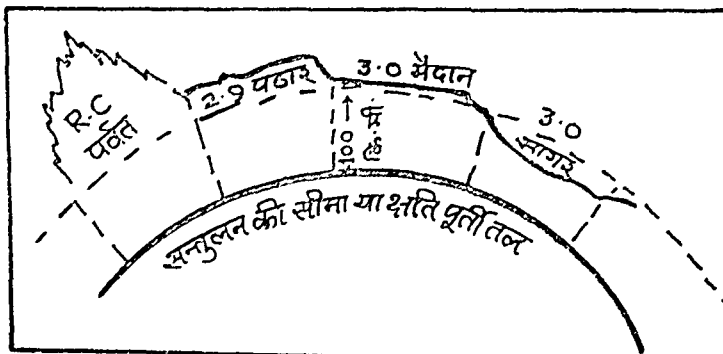
चित्र 7·2 क्षति पूर्ती तल

विपरीत अनुपात है—ऊंचा स्तम्भ कम घनत्व, नीचा स्तम्भ अधिक घनत्व। उच्चावच्चों के घनत्व की विभिन्नता और भार केवल स्थलमण्डल में ही सीमित हैं तथा उसके नीचे लगभग

100 किमी. की गहराई पर एक ऐसा तल आता है जहाँ ऊपर के उच्चावच्चों का दाब या भार समान हो जाता है। इस तल को क्षतिपूर्ति तल की संज्ञा दी गई है। प्राट का विश्वास क्षतिपूर्ति तल के नियम में है।

प्राट के नियमों के अनुसार भिन्न-भिन्न उच्चावच्चों का घनत्व भिन्न-भिन्न होता है। पर्वत जितना ऊँचा होगा उसमें उतने ही हल्के पदार्थ होगे। ऊपरी अत्यधिक पदार्थ का सन्तुलन नीचे के कम घनत्व वाले पदार्थ से होता है। उच्चावच्चों के घनत्व में विभिन्नता होते हुए भी उनकी गहराई का तल समान है। भूगर्भ में एक ऐसा तल है जहाँ घनत्व में अन्तर नहीं होता।

एअरी की धारणा (Concept of Sir George Airy)

साहुल सूत्र आकर्षण में अन्तर के आधार पर जार्ज एअरी ने यह विचार प्रकट किया कि भू-पटल का ऊपरी हल्का भाग जिसका औसत घनत्व 2.67 है अन्तराल के भारी 3.00 घनत्व के अध:भाग सियाल सीमा में तैर रहा है। जिस प्रकार तैरती वस्तु अपने भार के बराबर नीचे के पानी को हटा देती है ठीक उसी तरह पर्वत भी अध:भाग में प्रवेश पाकर अपने भार के बराबर भारी पदार्थ को हटा देते हैं। अपरदन और निक्षेप के कारण सन्तुलन में अन्तर आने पर धरातल के विभिन्न भागों के तल सन्तुलन के सिद्धान्त के अनुसार ऊंचे नीचे होते रहते हैं तथा अन्तराल का पदार्थ अधिक दाब या भार के क्षेत्रों के नीचे से कम भार के क्षेत्रों की ओर हटता रहता है।

आर्किमिडीज के नियम के अनुसार तैरती हुई वस्तु का नौ भाग पानी में तथा एक भाग ऊपर रहता है। इस नियम के अनुसार हिमालय का एवरेस्ट शिखर (8,690 मीटर) के नीचे का भाग 78,520 मीटर गहराई तक अन्तराल में प्रविष्ट है। एअरी ने ज्ञात किया कि साहुल सूत्र का हिमालय की ओर आकर्षण अनुमान से कम इसलिए रहा क्योंकि हिमालय के नीचे, उसके भार के बराबर हल्के पदार्थ ने भारी बैसाल्ट को हटाकर उसका स्थान ग्रहण कर लिया है।

एअरी के अनुसार भूपटल का घनत्व समान है। खदानों में अधिक गहराई तक से प्राप्त शैलों का घनत्व लगभग समान ही पाया जाता है। इस तथ्य से एअरी की धारणा को बल मिलता है। इस सिद्धान्त के परीक्षण हेतु एअरी ने विभिन्न आकार के लोहे के कुछ टुकड़े पारे से भरे बर्तन में तैरने छोड़ दिये। लोहे के सभी टुकड़ों का घनत्व तो समान था परन्तु आकारों की भिन्नता के कारण उनका भार अलग-अलग था। उसने देखा कि बड़े आकार और अधिक भार के लोहे के टुकड़े छोटे आकार और कम भार के टुकड़ों की अपेक्षा पारे में अधिक गहराई तक धंसे हुए थे। इसी प्रकार पारे से ऊपर भी बड़े टुकड़े छोटे टुकड़ों की अपेक्षा अधिक उभरे हुए थे। पारे से ऊपर अधिकतम उभरा टुकड़ा पारे में उसी अनुपात में अधिक गहराई तक प्रविष्ट था। इसी प्रकार छोटे और कम भार के टुकड़े पारे के ऊपर कम उभरे थे तथा उसी अनुपात में पारे में भी कम गहराई तक प्रविष्ट थे। एअरी के अनुसार भू-खण्डों का घनत्व समान है–जो जितना ऊपर निकला हुआ है वह उसी अनुपात में उतना ही अधिक नीचे द्रव में डूबा हुआ है।

बाह्य रूप से पर्वतों का आकार अधिक होने के कारण वह भारी दिखाई देते हैं, जबकि मैदानों और सागर तल के नीचे का भारी पदार्थ अदृश्य रहता है।

एअरी के मत के अनुसार पृथ्वी के विभिन्न भू-आकारों का घनत्व समान है। सभी भूआकार नीचे भारी और अधिक घनत्व के पदार्थ पर तैर रहे हैं। जो धरातल से जितना ऊँचा उठा होगा उसकी उतनी ही गहरी जड़ होगी, तथा वह अपने भार के बराबर पदार्थ
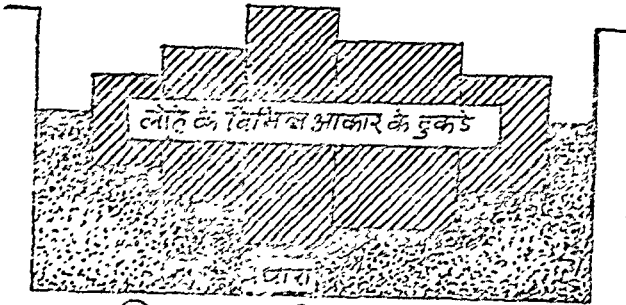
चित्र 7 3 एयरी द्वारा प्रयोग

को हटा देगा। भू-गर्भ में सभी भू-आकारों का भार समान होने से वह सन्तुलित अवस्था में बने रहते हैं। सन्तुलन स्थिर रखने के लिए अधिक भार वाले स्थानों के नीचे के अधः भाग का भारी पदार्थ कम भार के स्थानों की ओर हटता रहता है।
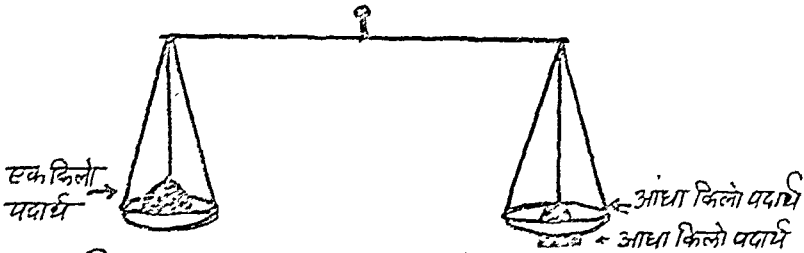
चित्र 7·4 धरातल पर सन्तुलन की व्यवस्था का उदाहरण

हेफोर्ड तथा बोवा का मत—हेफोर्ड और बोवी ने प्राट के विचारों की पुष्टि करते हुए मिलती-जुलती अपनी धारणा प्रस्तुत की। हेफोर्ड के अनुसार भूतल पर विभिन्न घनत्व के असमान अपरदित और निक्षेपित क्षेत्रों के मध्य एक स्थाई सम्बन्ध है जो सन्तुलन की अवस्था को स्थिर रखता है। धरातल से लगभग 100 किलोमीटर गहराई पर जहाँ सभी
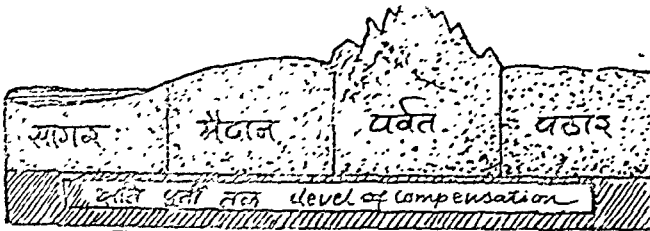
चित्र 7·5 सन्तुलन की स्थिति

भू-भागों का घनत्व समान हो जाता है जिससे पृथ्वी पर सन्तुलन की व्यवस्था रहती है। "क्षतिपूर्ति" तल कहलाता है। क्षतिपूर्ति तल के ऊपर कम घनत्व के भू-आकारों की ऊँचाई अधिक और अधिक घनत्व के भू-आकारों की ऊँचाई कम होती है।

बोवी ने क्षतिपूर्ति तल की विचारधारा की पुष्टि के लिए विभिन्न धातुओं के समान भार के आठ टुकड़े लिए। इन सभी टुकडों की चौड़ाई और मोटाई तो समान थी परन्तु घनत्व की विभिन्नता के कारण सभी टुकड़ों की लम्बाई में अन्तर था। हल्की धातुओं जैसे पाइराइट, टिन, जस्ता आदि के टुकड़ों की लम्बाई भारी धातुओं जैसे तांबा, सीसा, निकल आदि के टुकड़ों की अपेक्षाकृत अधिक थी। इन सभी टुकड़ों को पारे से भरे बर्तन में डाल देने पर बोवी ने देखा कि सभी टुकड़ों का निचला तल समान स्तर पर था। कम घनत्व के
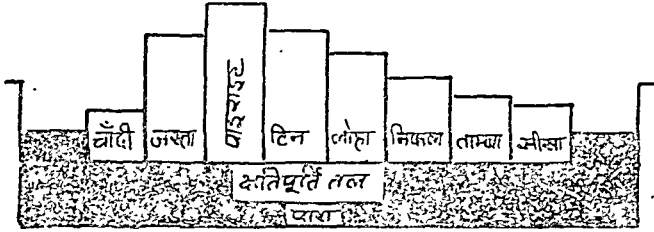
चित्र 7·6 बोवी का प्रयोग

टुकड़े लम्बाई में ऊँचे और अधिक घनत्व तथा भारी टुकड़े लम्बाई में छोटे दिखाई दे रहे थे। इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकला कि समान क्षेत्रफल वाले भाग के नीचे का भार समान होता है, तथा विभिन्न घनत्व और आयतन वाले भूपटल के भाग एक दूसरे के सहारे सन्तुलित होकर क्षतिपूर्ति तल पर टिके हुए हैं। यह माना जाता है कि विभिन्न आयतन वाले भूस्तम्भ अपने घनत्व की विभिन्नता के कारण एक दूसरे के भार की क्षतिपूर्ति करते हुए क्षतिपूर्ति तल पर समान भार डालते हैं तथा इस प्रकार एक दूसरे को सहारा देकर सन्तुलित अवस्था में स्थिर हैं।

हेफोर्ड तथा बोवी ने क्षतिपूर्ति तल की गहराई लगभग 100 किमी. (60 मील) मानी है परन्तु विभिन्न घनत्व के भूभागों के नीचे समान गहराई पर इस तल का होना सम्भव नहीं लगता। महाद्वीपों और महासागरों की भूपटल की औसत गहराई 45 किमी. है। पृथ्वी में गहराई के साथ प्रत्येक किमी. पर 32° सेग्रे. तापमान बढ़ जाता है। तापमान के इस हिसाब से 100 किमी. की गहराई पर यह तापमान 3,200° सेग्रे. हो जायेगा। इतने अधिक तापमान पर शैलों का द्रवणांक बिन्दु आ जाता है तथा शैलों के पिघलने पर क्षतिपूर्ति तल का होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस दशा में क्षतिपूर्ति के तल के अभाव में सन्तुलन की स्थिति भी कायम रहना सम्भव नहीं है। डटन के अनुसार सन्तुलन की स्थिति शैलों की दृढ़ता के कारण है अन्यथा भारी पदार्थ हल्के पदार्थों को ऊपर फेंक देते।

एअरी समान घनत्व और विभिन्न गहराइयों में किन्तु प्राट समान गहराई और विभिन्न घनत्व के भू-आकारों में विश्वास करते हैं। बोवी ने हेफोर्ड के इस मत से भी सहमति प्रकट की कि क्षतिपूर्ति तल के ऊपर घनत्व लम्बवत् रूप में बदलता है क्षैतिज रूप में नहीं। हेफोर्ड तथा बोवी का यह मत अमान्य है क्योंकि धरातलीय भाग लम्बवत् स्तम्भ के रूप में हैं क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि भू-भाग क्षैतिज परत के रूप में है।

जोली का मत (Concept of Joy)

जोली, हेफोर्ड तथा बोवी के इस मत से सहमत नहीं हैं कि क्षतिपूर्ति तल की गहराई 100 किमी. है। उनके अनुसार भूपटल का ऊपरी भाग 2.7 समान घनत्व का है जिसके

नीचे 16 किमी. मोटी एक पट्टी है जिसमें पदार्थों के घनत्व में विभिन्नता पाई जाती है। इसका औसत घनत्व 3.00 है। इस 16 किमी. मोटी पट्टी में ऊपर के हल्के या कम घनत्व के पदार्थ धंसे हुए हैं। जिस प्रकार बर्फ पानी में तैरता हुआ अपने वजन के पानी को हटा देता है उसी प्रकार महाद्वीपीय भाग भारी अधोभाग में तैर रहे हैं। इसके विपरीत
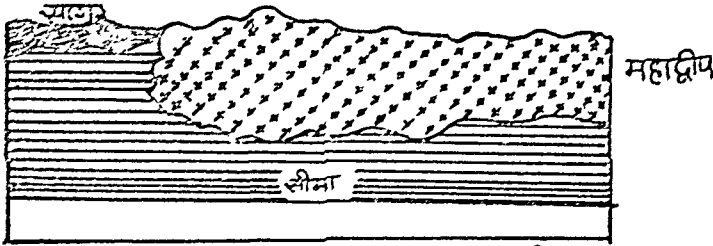
चित्र 7·7 जोली के अनुसार सन्तुलन की व्यवस्था

महासागरों की तली अधिक घनत्व की है जिससे महाद्वीपों तथा महासागरों का भार तुलनात्मक रूप से समान है। जोली के अनुसार महाद्वीपों की औसत ऊँचाई का नौ गुना भाग सीमा की 31 किमी. गहराई में प्रविष्ट करेगा। इस प्रकार सन्तुलन का कार्य एक तल पर न होकर एक कटिबन्ध में हो रहा है जिसको जोली ने क्षतिपूर्ति कटिबन्ध की संज्ञा दी है।

आर्थर होम्स का मत (Concept of Arthur Holmes)

आर्थर होम्स ने भूकम्पीय तरंगों के अध्ययन के आधार पर बतलाया कि पर्वतों के नीचे सियाल की गहराई 40 किमी., मैदानों के नीचे 10 से 12 किमी. और सागरों के नीचे अत्यन्त कम है। उनके अनुसार सन्तुलन स्थिर रखने के लिए पहाड़ी भाग मैदानों और मैदानी भाग सागरों की अपेक्षा भू-गर्भ में अधिक गहराई तक धंसे हुए हैं।

भूपटल में सन्तुलन की व्यवस्था

आर्थर होम्स के अनुसार व्यावहारिक रूप में सन्तुलन की स्थिति सम्भवतः कभी-कभी आती है परन्तु पृथ्वी सन्तुलन की स्थिति को बनाये रखने में सतत क्रियाशील है। प्रतिवर्ष नदियाँ पर्वतों की लाखों टन तलछट सागरतली में निक्षेपित कर देती हैं। इस प्रकार पर्वतों का भार कम और सागरों का भार अधिक होता रहता है जिससे सन्तुलन की व्यवस्था का बिगड़ने का भय रहता है। परन्तु सागर तली में निक्षेपित अतिरिक्त भार क्षतिपूर्ति तल तक तो लम्बवत रूप से तथा उससे नीचे क्षैतिज रूप से दबाव डालता है। परिणामस्वरूप सागरों के नीचे का लचीला तथा अधिक घनत्व का पदार्थ मन्थर गति से महाद्वीपों के निचले भाग की ओर प्रवाहित होता है। इस प्रकार एक ओर तो सागर तली धंसती रहती है दूसरी ओर पर्वतीय भाग उठता रहता है। उठाव और अपरदन के कारण पर्वत या महाद्वीप अपनी ऊँचाई को और सागर धंसाव एवं निक्षेप के कारण अपनी गहराई को स्थिर रखते हुए संतुलन बनाये रखते हैं। भार-वृद्धि से भू-पृष्ठ अधोमुखी तथा भार निवारण से ऊर्ध्व मुखी होता है। अगर प्रकृति का यह नियम न होता तो अपरदन के कारण महाद्वीपों की संपूर्ण तलछट सागरों के गर्भ में निक्षेपित हो जाती जिसके फलस्वरूप महाद्वीप अत्यन्त विरल हो जाते और महासागर और भी भारी हो जाते और अत्यधिक 'गुरुत्व विसंगति' पैदा हो सन्तुलन बिगड़ जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता।

8

भूतल पर परिवर्तनकारी आंतरिक बल

[Endogenetic Forces Bringing Changes on the Face of the Earth]

भूतल सदा एक सा न रहकर समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। कारवोनिफैरस युग में वर्तमान महाद्वीपों का अस्तित्व नहीं था। पर्वत शनैः-शनैः पठारों में और पठार मैदानों में परिवर्तित हो गये। भूतल पर परिवर्तन लाने वाले दो वल हैं—(1) अन्तर्जात वल तथा (2) वहिर्जात वल। अन्तर्जात वल भू-गर्भ में तथा वहिर्जात वल भू-पटल पर क्रिया करते हैं।

अन्तर्जात वल – अन्तर्जात वलों को दो भागों में वांटा गया है—

दीर्घकालीन वल से महाद्वीप तथा पर्वतों का निर्माण होता है।

आकस्मिक वल द्वारा ज्वालामुखी, भूकम्प, भू-स्खलन तथा अवलांश आदि की रचना होती है।

दीर्घकालीन वल के कारण पटलविरूपणकारी घटनायें घटित होती हैं। यह वल मन्द गति से भू-संचलन द्वारा भूपटल पर परिवर्तन लाता है भू-संचलन से चट्टानों में तनाव अथवा दवाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप भू-पटल खिच जाता है। उसमें सन्धियाँ पड़ जाती हैं तथा सामान्य भ्रंश उत्पन्न हो जाते हैं। दवाव के कारण भू-पटल का क्षेत्र सिकुड़कर मुड़ जाता है जिससे उभरे भाग पर्वतों का रूप ग्रहण करते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में उत्क्रम भ्रंशों तथा क्षेप भ्रंशों का निर्माण हो जाता है।

दो तरह के भू-संचलन होते हैं। एक पृ वी के व्यास की दिशा में लम्बवत या अरीप अपर तथा नीचे की दिशाओं में गति करता है। इसे महाद्वीपीय निर्माणकारी या भू-निर्माणकारी वल कहते हैं। दूसरा पृथ्वी के धरातल से स्पर्शरेखीय या सम्पाती क्षैतिज गति करता है। क्षैतिज गति के कारण पर्वतों का निर्माण होता है। अतः इसे पर्वत निर्माणकारी वल कहते हैं। हिमालय पर्वत के निर्माण में यही वल सक्रिय है।

महाद्वीपीय निर्माणकारी घटनायें दो तरह की ऊर्ध्वमुखी तथा अधोमुखी संचलन क्रियाओं से प्रभावित होती हैं।

ऊर्ध्वमुखी गतियाँ नीचे से ऊपर की ओर भूगर्भ से भूपटल की ओर होती हैं। यह गतियाँ भी दो—उत्थान तथा उन्मज्जनकारी होती हैं।

सारणी 1
पृथ्वी के अन्तर्जात बलों का वर्गीकरण
दीर्घकालीन
आकस्मिक
महाद्वीपीय निर्माणकारी बल
पर्वत निर्माणकारी बल
ज्वालामुखी
भूकम्प
भू-स्खलन
अवलोश
उपरिमुखी
अधोमुखी
सम्पीड़न
तनाव
उन्मज्जन
निमज्जन
भूपटलनमन (मुड़ाव)
भूपटल विभंग
संवलन
वलन
भ्रंशन
चटकन
सन्धि
उत्संवलन
अवसंवलन
साधारण
प्रतिकूल
क्षेप भ्रंश
सम्पीड़नात्मक
तनाव मूलक
अपनति
अभिनति
ग्रीवाखण्ड
पंखाकार
जटिल
समनति
असमनति
समपनति
समभिनति

जब कोई विस्तृत स्थल खन्ड अपने मौलिक तल अर्थात् सतह से ऊँचा उठ जाता है तो इस गति को उत्थान कहते हैं, जैसे हिमालय पर्वत का वर्तमान उत्थान। हिमालय की नदियाँ एक बार प्रौढ़ होने के पश्चात पुनः तरुण हो रही हैं। कुमाँयू में गंगा, यमुना, काली आदि नदियों के किनारे तीन-तीन वेदिकाओं के देखने से विदित होता है कि पिछले 10 से 15 हजार वर्षों में ही हिमालय का तीन बार उत्थान हुआ है। इसके अतिरिक्त शंकु (U) आकार की घाटियों का अत्यन्त गहरे महाखड्ड (George) में परिवर्तन हिमालय के उत्थान का ज्वलन्त उदाहरण है।

यदि किसी महाद्वीप का जलमग्न तटीय भाग सागर तल से ऊपर उठ जाता है तो इस गति को उन्मज्जन कहते हैं। उत्थित तट, तरंगजनित वेदिकाएँ, प्रवाल भित्तियाँ आदि भू-आकार उन्मज्जन के प्रमाण हैं। अमेरिका का दक्षिणी-पूर्वी तटीय मैदान, भारत में काठियावाड़ का वर्तमान स्वरूप उन्मज्जन का ही परिणाम है।

अधोमुखी गति ऊर्ध्व गति के विपरीत ऊपर से नीचे की ओर, भूपटल से भूगर्भ की ओर होती है। यह गति अवतलन तथा निमज्जन दो तरह की है।

यदि किसी स्थल खण्ड का विस्तृत क्षेत्र अपने मौलिक तल अर्थात् आसपास की भूमि की सतह से नीचे धंस जाये तो इस क्रिया को अवतलन कहते हैं। अफ्रीका की विभ्रंश घाटी, भारत में पांडिचेरी के समीप लिगनाइट व पीट के गर्त तथा गंगा डेल्टा में दबी वनस्पति अवतलन सिद्ध करते हैं। केलिफोर्निया की सान ज्वाक्युन घाटी के एक भाग में 35 वर्षों में 3 मीटर तक अवतलन हुआ है।

किसी महाद्वीप का तटीय भाग सागर तल के नीचे धंसकर जल मग्न हो जाय तो इस क्रिया को निमज्जन कहते हैं। इटली में नेपल्स के निकट पोज्जौली में सिरापिस के मन्दिर का अधिकांश भाग निमज्जन के कारण जलमग्न है। वर्तमान में इस मन्दिर के केवल तीन खम्भे जल-तल से ऊपर दिखाई देते हैं। भारत में कच्छ का सिन्द्री का पुराना किला वर्तमान में जलमग्न है। इसकी केवल कुछ बुर्जियाँ ही जल तल से ऊपर दिखाई देती हैं।

ओरोजेनेटिक भूपटल पर पर्वतों का निर्माण क्षैतिज गति से होता है। इस गति को स्पर्शरेखीय बल भी कहते हैं। क्षैतिज गति सम्पीड़नात्मक तथा तनावमूलक—दो तरह की मानी गयी है।

सम्पीड़न के कारण भूपटल में मुड़ावें पड़ जाते हैं। यह मुड़ाव दो होते हैं—संवलन तथा वलन। इन दोनों ही स्थितियों में दबाव आता है।

संवलन बल दो भूखण्डों के एक दूसरे की विपरीत दिशा में, एक दूसरे की ओर अग्रसित होने अथवा एक स्थिर भूखण्ड की ओर दूसरे भूखण्ड के संचलन के कारण उत्पन्न होता है जो दो प्रकार का होता है—उत्संवलन तथा अवसंवलन।

उत्संवलन के कारण स्थल का सीमित क्षेत्र उभर कर गुम्बदनुमा बन जाता है। यह गुम्बद कम ऊँचाई तथा नीचे ढाल (1° से 2°) के होते हैं। पश्चिमी अफ्रीका में इस प्रकार के गुम्बद विद्यमान हैं।

अवसंवलन—उत्संवलन के विपरीत अवसंवलन के कारण भूपटल दाब के कारण ऊपरी स्थान पर नीचे की ओर मुड़ जाता है जिससे वृहद् खड्ड या बेसिन अथवा भू-अभिनति होती है।

व्यापक क्षेत्र पर संवलन ही से उत्संवलन तथा अवसंवलन के कारण वृहत् भूआकारों का निर्माण होता, भूपटल बड़े पैमाने पर ऊपर-नीचे मुड़ जाता। वृहत् संवलन के फलस्वरूप भूअपनति का निर्माण होता है।
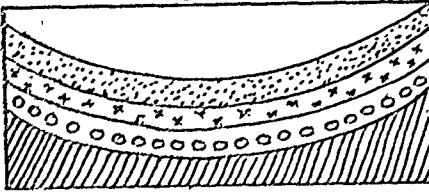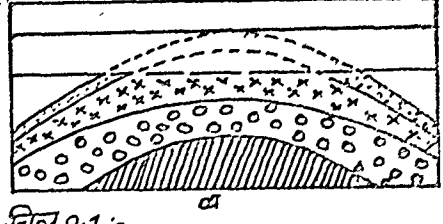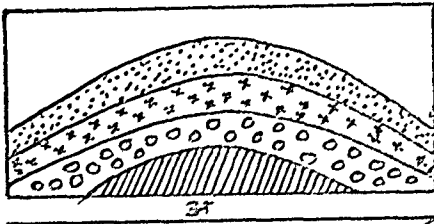
चित्र 8·1 :-
अ. उत्संवलन (Upwarping)
ब. अपरदित उत्संवलन (Eroded upwarp)
स. अवसंवलन (Down Warping)

जैसे भारत का उत्तरी मैदान तथा डकोटा (संयुक्त राज्य अमेरिका) में ब्लैक हिल (Black Hill) नामक पर्वत इसके उदाहरण हैं। वृहत् अवसंवलन से द्रोणी तथा भूअभिनति
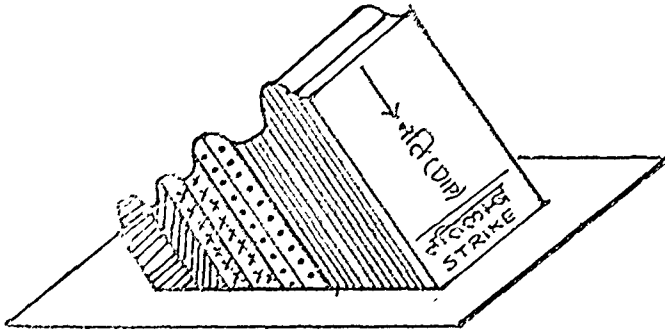
चित्र 8.2 नति (DIP) तथा नतिलम्ब (STRIKE)

का निर्माण होता है। अल्टिन टाग, तीन शान पर्वतों के मध्य तारिम बेसिन तथा कारबनीफेरस युग की टैथिस सागर द्रोणी या भूअभिनति इसके प्रमाण हैं।
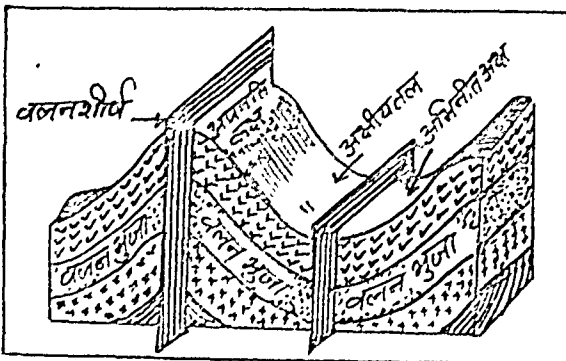
भूपटल के झुकाव के कारण प्राकृतिक तल क्षैतिजिक स्थिति में न रहकर मुड़ जाता है तथा क्षैतिजिक तल के सहारे कुछ अंश का कोण बनाते हुए पाया जाता है। प्राकृतिक तल प्रत्येक प्रकार की शैलों की संरचना के लक्षणों का द्योतक है। अतः शैलों की संरचना
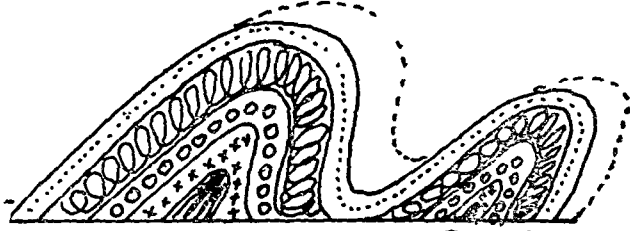
चित्र 8·4 अपनति तथा अभिनति

कोण के झुकाव को प्रभावित करती है। यह तल अवसादी शैलों के संस्तरित परतों, डाइक के पार्श्व, सिल के ऊपरी तथा निचले भागों में, स्लेट के स्लेटी विदीर्ण तथा ग्रेनाइट के जोड़ों में पाये जाते हैं।

भूगर्भवेत्ता प्राकृतिक तलों के माप तथा इनकी स्थिति का ज्ञान ज्योमिति से करते हैं।

प्राकृतिक शैल तल तथा काल्पनिक क्षैतिजिक तल के मध्य जो न्यून कोण बनता है इसे **नति** कहते हैं। यह कोण अंशों में प्रदर्शित किया जाता है तथा **नति कोण** कहलाता है। यदि क्षैतिजिक तल पर शैल स्तर का झुकाव 40° के कोण पर है और ढाल की दिशा पूर्व है तो शैल स्तर के नति को 40° पूर्व कहा जायेगा।

नति लम्ब—झुके हुए शैल स्तर पर नति के साथ समकोण बनाने वाले काल्पनिक क्षैतिजिक तल को नति लम्ब कहते हैं। नति लम्ब सदा 90° के कोण पर होता है। नति कोण एवं नति लम्ब दोनों ही मिलकर किसी झुके तल की स्थिति को प्रकट करते हैं।

वलन—सम्पीड़न के कारण भूपटल पर निर्मित लहरदार मोड़ों को वलन कहते हैं। उभरे भाग को **अपनति** तथा नीचे धंसे भाग को **अभिनति** कहा जाता है। अपनति के वलन का ढाल सम्पीड़न के वेग पर आधारित रहता है।
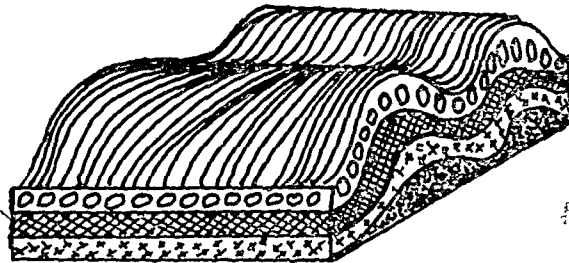
चित्र 8·5 सममित वलन (Symmetrical-folds)

वलन निम्न प्रकार के होते हैं—(1) यदि वलन के दोनों ओर का झुकाव समान हो तो उसे 'सममित वलन' कहते हैं (चित्र 5)।

(2) यदि वलन के एक ओर का झुकाव दूसरी ओर के झुकाव से अधिक हो, दोनों ओर के झुकाव असमान हों तो उसे 'असममित वलन' कहते हैं (चित्र 6)।
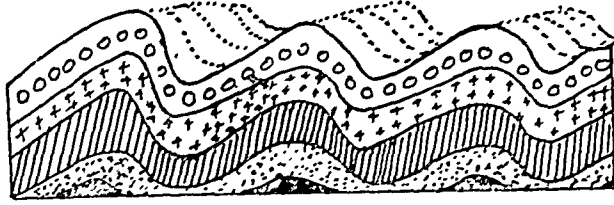
चित्र 8·6 - असमित वलन (Asymmetrical Fold)

(3) यदि वलन के एक ओर की भुजा लम्बवत रूप से धरातल पर 90° का कोण बनाती है, किन्तु दूसरी ओर की भुजा का झुकाव साधारण है, तो 'एकनत वलन' कहलाता है (चित्र 7)।
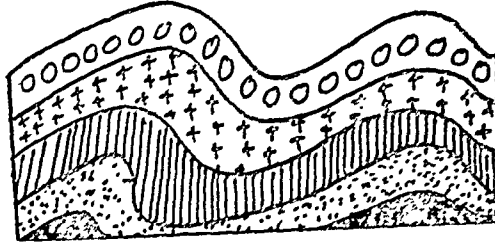
चित्र 8·7 एकनत वलन (Monoclinal Fold)

(4) यदि दोनों ओर से सम्पीड़न के कारण वलन की दोनों भुजाएं समान रूप से झुककर एक दूसरे के इतने निकट आ जाती हैं कि वह समानान्तर दिखाई देती हैं तथा प्रत्येक भुजा एक ही दिशा में झुकी रहती है तो इसे 'समनत वलन' कहते हैं (चित्र 8)।
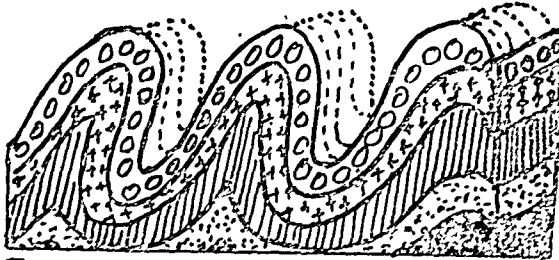
चित्र·8·8 समनत वलन (Isoclinal fold)

(5) यदि तीव्र सम्पीड़न के कारण वलन इतना अधिक हो जाता है कि वलन की भुजाएं मुड़ते-मुड़ते क्षैतिज दिशा में आ जाती हैं तो इसे 'परिवलन' कहते हैं (चित्र 9)।

(6) जब किसी वलन की एक भुजा दूसरी भुजा पर उलट जाती है तो उसे 'प्रति-वलन' की संज्ञा दी जाती है (चित्र 10)।

(7) जब किसी विशाल अपनति में अनेकों लघु अपनतियां तथा अभिनतियां निर्मित हो जाती हैं तो इसका आकार पंखे के समान हो जाता है, इसलिए इसको 'पंखा वलन या समपनति' कहा जाता है (चित्र 11 (अ))।

(8) जब किसी वृहद् अभिनति में अनेकों लघु अपनति तथा अभिनति पैदा हो जाती हैं तो वह 'समभिनति' कहलाती है (चित्र 11 (ब)) ।

चित्र 8·9 परिवलन (Recumbent fold)
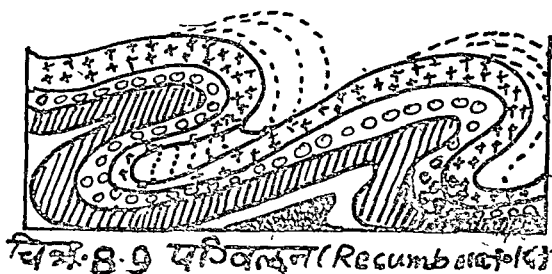
तीव्र सम्पीडन के कारण 'परिवलन' की एक भुजा या खण्ड दूसरे पर चढ़ जाता है। इस क्रिया को उत्क्रम कहते हैं। जिस तल के सहारे उत्क्रम होता है उसे उत्क्रम तल कहते
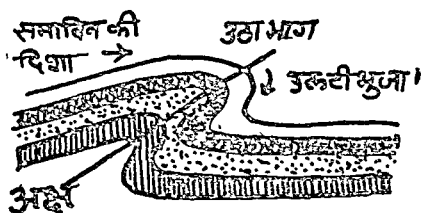
चित्र 8·10 प्रतिवलन
(Overturned Fold)

है। उत्क्रम के कारण ऊपर उठे भाग को बाह्य उत्क्रम वलन व जब अत्यधिक दबाव से बाह्य उत्क्रम पिण्ड अपनी जड़ से टूटकर दूसरे पिण्ड पर चढ़ जाता है तो उसको नापे या
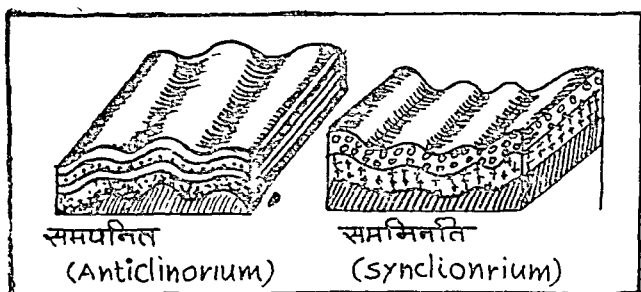
चित्र 8·11 समपनित एवं समभिनिति

ग्रीवा खण्ड कहते है। फ्रेंच में नापे का अर्थ मेजपोश होता है। मेजपोश जिस तरह मेज से भिन्न होता है उसी तरह नापे शैल नीचे की शैलों से भिन्न होती है, क्योंकि उत्क्रम पिण्ड कभी-कभी अत्यधिक दाब के कारण जड़ से टूटकर नापे का निर्माण करते हैं।

भूपटल विभंग तथा भ्रंश

पृथ्वी के आंतरिक बल के कारण भूपटल में तनाव तथा सम्पीड़न उत्पन्न होता है

जो क्षैतिज संचलन पैदा करता है जिससे शैलों के स्तरों में स्थानान्तरण होता है। एक तल के सहारे शैल स्तर के स्थानान्तरण को भूपटल विभंग कहते हैं। तीव्र तनाव से उत्पन्न
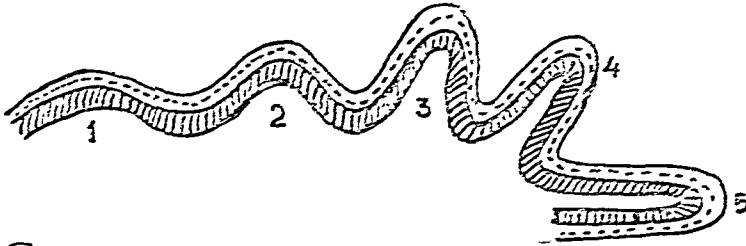
चित्र 8.12 वलन के प्रकार—1. समनति 2. असमनति 3. एकनत 4. समनति 5. परिवलन

संचलन के कारण विभंग अधिक होता है। सम्पीड़न के कारण विभंग उसी स्थिति में होता है जब शैल कठोर हो तथा वलन इतना अधिक हो कि अक्ष के सहारे वलन की दोनों भुजाएँ
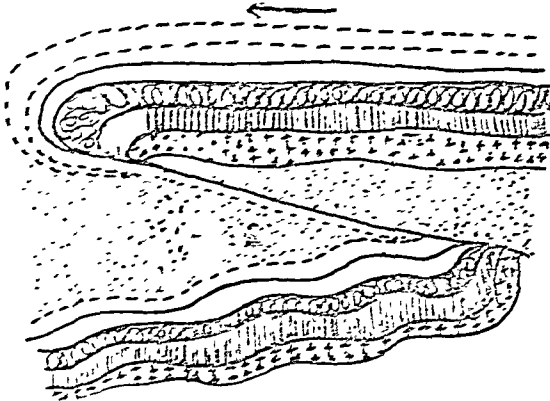
चित्र 8.13 ग्रीवाखण्ड या नॉप (NAPPE)

टूटकर स्थानान्तरित हो जायें। जिस तल के सहारे धरातल की शैलों में स्थानान्तरण होता है उसे विभंग तल या भ्रंश-तल कहते हैं। यह तल शैलों के स्तरों के क्षैतिज तल पर लम्बवत् अथवा किसी अंश तक झुका रहता है।

भ्रंश

दाब तथा तनाव के कारण विभाजित शैल संस्तर प्रायः विस्थापित हो जाते हैं। अत्यधिक तनाव के कारण भूपटल में तीव्र संचलन पैदा होता है जिससे विभंग तल के सहारे शैलों के विशाल पैमाने पर स्थानान्तरण को भ्रंश कहते हैं। भूपटल पर भ्रंश तनाव, सम्पीड़न या आवर्तन के कारण संचित दाब का प्रतिफल है जो शैल स्तरों में वलन के रूप में विरूपण पैदा करते हुए पृथक न होकर अकस्मात् भ्रंश का रूप लेता है। वारसेस्टर के अनुसार भ्रंश से पृथ्वी में एक विभंग या दरार होती है जिसके सहारे एक पार्श्व दूसरे पार्श्व की अपेक्षा खिसक जाता है।

भ्रंश के विभिन्न अंग—(1) भ्रंशन के कारण विस्थापित शैलों के संस्तरों के छोर बहुधा ऊपर या नीचे की ओर मुड़ जाते हैं जिन्हें कर्षज अपरूप कहते हैं।

(2) भ्रंश के ऊपरी भाग के शैल को शीर्ष भित्ति एवं निचले भाग को आधार या पाद भित्ति कहते हैं (चित्र 15)।

चित्र 8·14 भ्रंश तल
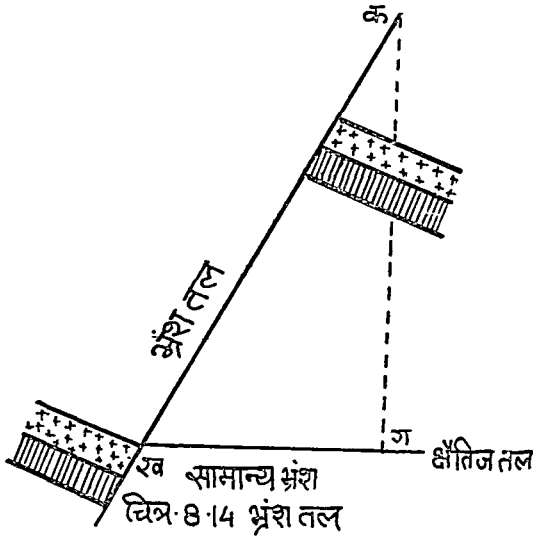
भ्रंश के कारण संस्तरों का विस्थापन ऊपर या नीचे की ओर होता है। ऊपर की ओर विस्थापित खण्ड को ऊर्ध्वपात पार्श्व एवं नीचे की ओर विस्थापित खण्ड को अवपात पार्श्व कहते हैं (चित्र 15)।

भ्रंशन के कारण शैलों के संस्तरों का क्षैतिज विस्थापन पार्श्वक्षेप या अभिस्पन्दन कहलाता है। ऊर्ध्वाधर तल से भ्रंश-तल की नति या कोण को उन्नयन कहते हैं (चित्र15)।
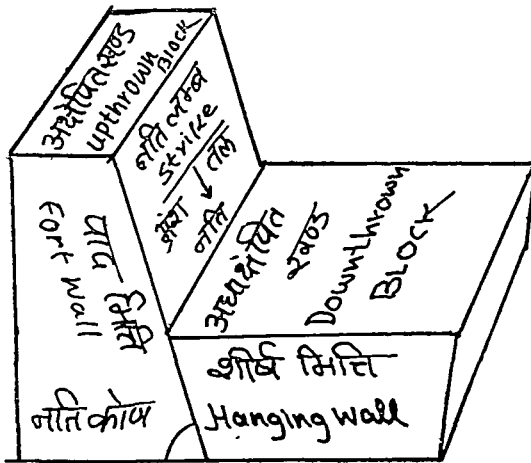
चित्र 8·15 भ्रंश के विभिन्न अंग

स्तर भ्रंश के प्रकार—(1) विभंजन होने के कारण यदि किसी भू-भाग के दो खण्ड विभंजित रेखा के सहारे एक दूसरे की विपरीत दिशा में खिसक जायें तथा दोनों खण्डों

के मध्य की दूरी बढ़ जाती है तो उसे सामान्य भ्रंश कहते हैं। इसे गुरुत्व भ्रंश भी कहते हैं क्योंकि एक खण्ड गुरुत्व के कारण खिसक कर नीचे चला जाता है।

(2) विभंजन के कारण चट्टान की दरार के सहारे जब किसी भू-भाग के दो खण्ड एक दूसरे की ओर खिसकते हैं तथा दोनों के मध्य की दूरी घट जाती है तो इसे प्रतिकूल या उत्क्रम भ्रंश कहते हैं। यह सामान्य भ्रंश की दिशा से प्रतिकूल होता है। अधिक सम्पीड़न के कारण कभी-कभी एक खण्ड दूसरे पर चढ़ जाता है, इसलिए इसे सम्पीड़नात्मक या अधिक्षिप्त भ्रंश भी कहते हैं।

(3) वलित पर्वत निर्माण अवस्था में अत्यधिक सम्पीड़न के कारण शैल स्तरों का विस्थापन नतिलम्ब के सामानान्तर होता है। इस प्रकार के भ्रंश को समानान्तर भ्रंश भी कहते हैं।

(4) विदारण भ्रंश में प्रतिबलों के कारण प्राय: ऊर्ध्वाधर विभंग पैदा होता है तथा विभाजित शैल खण्डों का विस्थापन भ्रंश-रेखा के सहारे क्षैतिज रूप में होता है। इसे पार्श्वीय भ्रंश या नतिलम्बी भ्रंश भी कहते हैं।
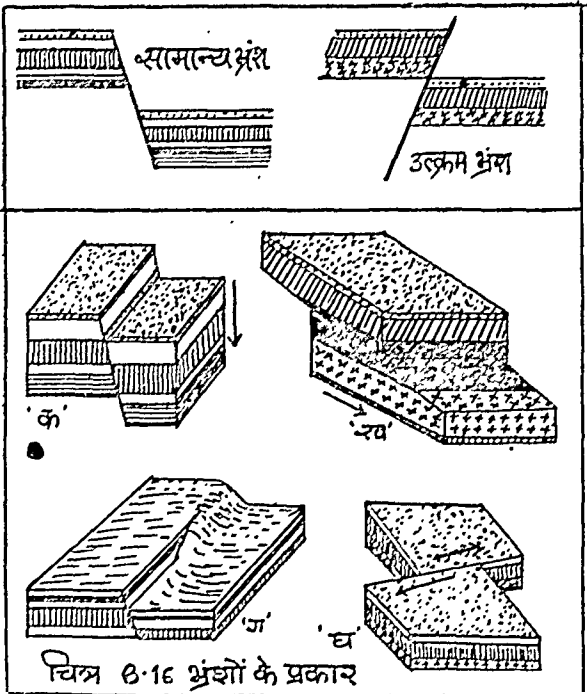
चित्र 8·16 भ्रंशों के प्रकार

(क) सामान्य भ्रंश (तनाव द्वारा)(Norma ult produced by tension)
(ख) उत्क्रम भ्रंश (भिचाव द्वारा) (Reversed fault produced by compression)
(ग) सामान्य भ्रंश एक दिनत वलन द्वारा (Normal fault grading into monoclinal fold)
(घ) विदारण भ्रंश (क्षैतिज विस्थापन द्वारा (Tear fault produced by shearing stresses)

(5) यदि शैल स्तरों का विस्थापन नति की दिशा के समानान्तर होता है तो इस तरह के भ्रंश नतिभ्रंश कहलाते हैं (चित्र 17)। ये भ्रंश नतिलम्ब पर समकोण बनाते हैं। इन्हें अभिनति भ्रंश भी कहते हैं।

(6) यदि शैल के स्तरों का विस्थापन नतिलम्ब की दिशा के समानान्तर हो तो इसे नतिलम्ब भ्रंश कहते है।
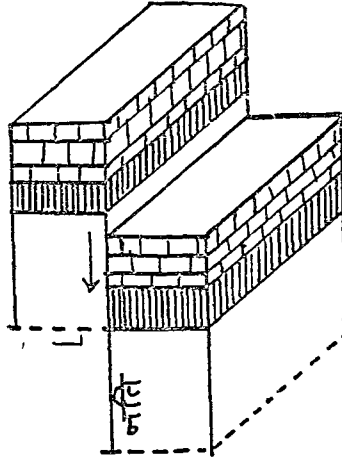
चित्र·8·17 नति भ्रंश

(7) यदि शैल स्तरों का विस्थापन नति या नतिलम्ब दोनो ही समानान्तर दिशा में न होकर किसी और दिशा में होता है तो उसको तिर्यक भ्रंश माना जाता है।

(8) यदि दो या दो से अधिक सामान्य भ्रंशों के अवपात की दिशा एक ही हो तथा भ्रंश एक दूसरे के समानान्तर और पास-पास हो तो सोपानी रचना का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार के सामूहिक भ्रंशों को सोपानी भ्रंश कहते हैं।

(9) क्षेपभ्रंश उत्क्रम या प्रतिकूल भ्रंश की एक विशेष अवस्था है। इस प्रकार के के भ्रंशों में भ्रंश कोण अत्यन्त न्यून और संस्तरों का विस्थापन अभिस्पन्दित होता है।
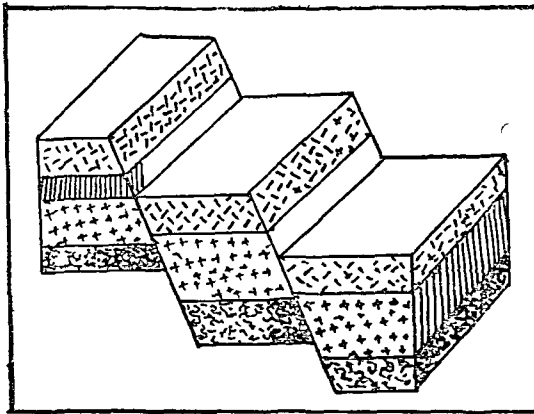
चित्र·8 18 सोपानी भ्रंश

यदि क्षेपभ्रंश के तल की नति कम होती है तो उसे न्यून कोण क्षेप भी कहते हैं। नवनिर्मित वलित वर्वतों में ये भ्रंश अधिकतर मिलते हैं।

शिवालिक को लघु हिमालय से पृथक करती हुई एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई क्षेपभ्रंश की दरार है। क्षैतिज बल से छोटा कोण बनाती हुई झुकी हुई इस दरार के
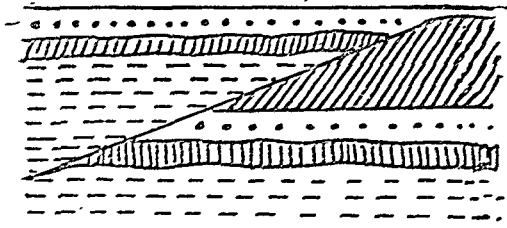
चित्र 8·19 क्षेप भ्रंश (Thrust Fault)

सहारे धरती खिसकने के प्रमाण मिलते हैं। भारी और बार-बार होने वाले भूस्खलन और टूटते पहाड़ तथा इस पट्टी की चट्टानों के क्षत-विक्षत और क्षीण होने की निरन्तर क्रिया क्षेपभ्रंश की सूचक है। भारतीय भूवैज्ञानिक, सर्वेक्षण विभाग के वी. के. कृष्णास्वामी (V. K. Krishnaswami) के अनुसार क्षेप भ्रंशों की दरारों पर औसतन 1 या 2 सेमी. प्रतिवर्ष की गति से धरती खिसक रही है। दक्षिण में शिवालिक को लघु हिमालय से विभाजित करती हुई पर्वतमाला को 'मुख्य सीमान्ती क्षेपभ्रंश' की संज्ञा दी गई है। उत्तर में लघु हिमालय और वृहत् हिमालय के मध्य की सीमा-रेखा 'मुख्य केन्द्रीय क्षेपभ्रंश' कहलाती है। क्षेप भ्रंशों की सन्निधि में विशेष रूप से अधिक भूकम्प उठते हैं।

भ्रंशन के कारण धरातल पर कटक, द्रोणी, कगार, चूल, कीलक या आवर्ती भ्रंश के भू-आकार बनते हैं।

(1) कटक भ्रंश—अत्यधिक तनाव के कारण कभी-कभी भूपटल पर गहरे भ्रंश (कटक भ्रंश) निर्मित हो जाते हैं। इनका निर्माण दो अवस्थाओं में होता है। पहली स्थिति दो समानान्तर भ्रंशों के मध्य भाग का उत्थान हो जाता है। यह मध्य भाग कटक के रूप में दिखाई देता है। दूसरी स्थिति में यदि भ्रंशित खण्डों का अधोमुखी विस्थापन हो जाता है तो मध्य भाग उत्थित खण्ड के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इन दोनों ही स्थितियों में कटक का निर्माण होता है। ये अवरोधी पर्वत कहलाते हैं।
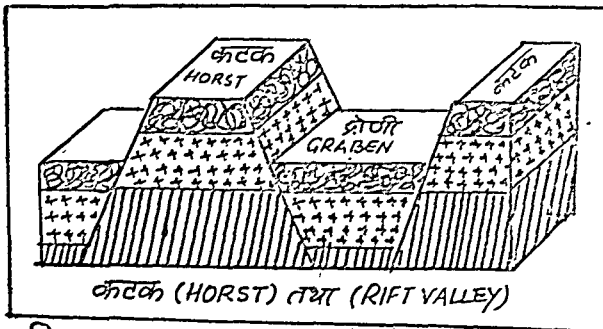
चित्र 8-20 कटक तथा द्रोणी भ्रंश

(2) द्रोणीभ्रंश—कटक भ्रंशन के विपरीत यदि समानान्तर भ्रंशों के मध्यवर्ती खण्ड का अधोमुखी विस्थापन हो तो पार्श्ववर्ती खण्डों के मध्य द्रोणी की रचना हो जाती है। इसे

द्रोणीभ्रंश कहते हैं। विस्तृत क्षेत्र में निर्मित द्रोणी को भ्रंश घाटी कहते हैं। भारत में नर्बदा तथा ताप्ती नदियों की स्तर-भ्रंश घाटियाँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। भ्रंश घाटियाँ न केवल स्थल अपितु महासागरों में भी मिलती हैं।
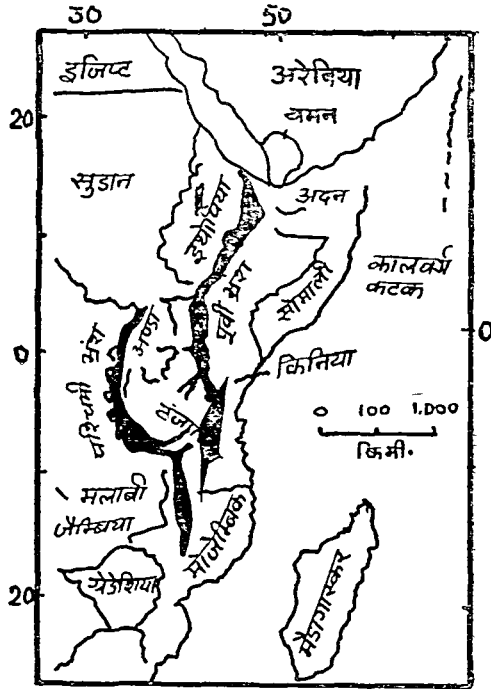
चित्र 8·21 पूर्वी अफ्रीका की भ्रंश घाटी

(3) कगार भ्रंश—तनाव के कारण भ्रंश रेखा के सहारे शैल-पिण्ड का एक भाग ऊपर उठ जाता है तथा दूसरा नीचे धंस जाता है। ऐसी स्थिति में पर्वत का ढाल कगार
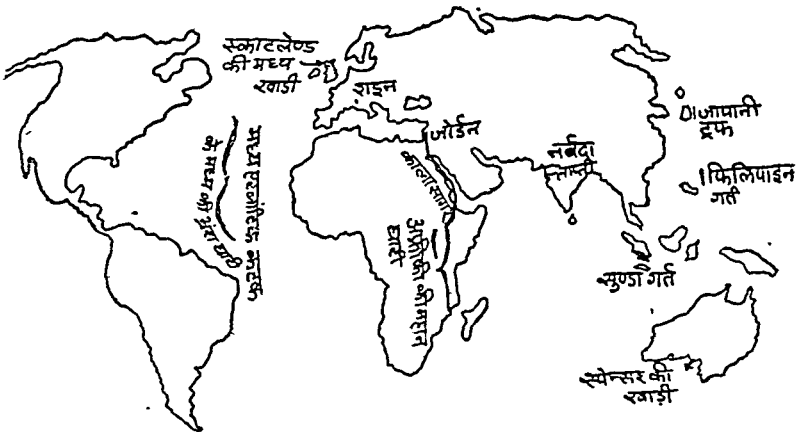
चित्र 8·22 संसार में भ्रंश घाटियों का वितरण

बन जाता है। ऐसी भू-आकृति को कगार भ्रंश कहते हैं। अपरदन के कारण ऊँचा उठा हुआ भाग शनैः-शनैः समाप्त हो जाता है तथा समतल दिखाई देता है।

(4) चूल भ्रंश—लम्बाई की दिशा में कभी-कभी एक ओर अवपात अधिक रहता है तो दूसरी ओर कम होता जाता है तथा किनारे पर पहुंचते-पहुंचते लुप्त हो जाता है।
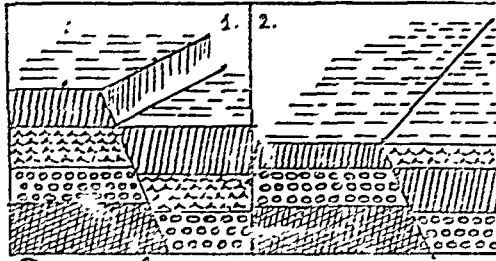
चित्र 8·23 1. कगार भ्रंश (Fault Scarp)
2. कगार भ्रंश अपरदन के पश्चात

इस प्रकार इस भ्रंशन की एक किनारे की शैल स्थिर रहती है तथा दूसरी ओर के किनारे पर विस्थापन होता है जिससे शैल के दो खण्डों के मध्य चूल के आकार की दरार सी बन जाती है।
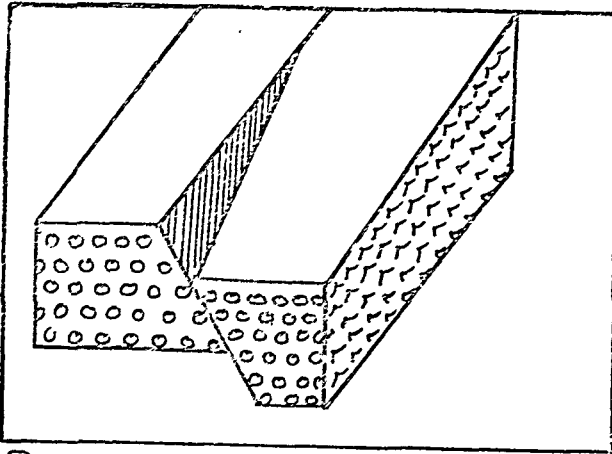
चित्र 8·24 चूल भ्रंश (Hinge Fault)

(5) कीलक या आवर्ती भ्रंश—विभंजित खण्डों के चूल या कीलक संचलन के कारण कीलक भ्रंश का निर्माण होता है। चूल भ्रंश में केवल एक किनारे पर ही अवपात होता है, किन्तु कीलक भ्रंश में विभाजित खण्ड के एक किनारे पर अवपात तथा दूसरे किनारे
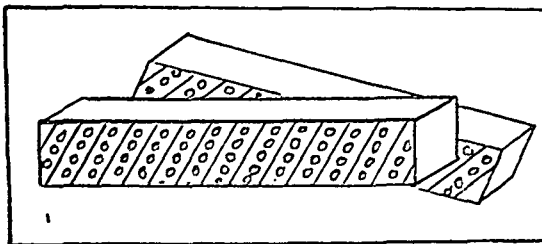
चित्र 8·25 कीलक या घूर्णी भ्रंश (Pivotal fault)

पर ऊर्ध्वपात होता है। अतः दोनों खण्ड भ्रंशन के समय आवर्तन की दशा में होते हैं। इसमें भ्रंशित खण्ड का एक पार्श्व झुका और दूसरा उभरा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

चटकन या दरार—भूपटल पर सम्पीडन अथवा तनाव के कारण चटकन या दरारें पड़ जाती हैं। चटकन अधिक गहराइयों में न होकर भूपटल के ऊपरी भाग तक ही सीमित रहती हैं। तनाव के समय चट्टानों में क्षैतिज बल विपरीत दिशाओं में कार्य करता है जिससे चट्टान के कमजोर भाग चटक जाते हैं। सर्दी और गर्मी में बार बार सिकुड़ने और फैलने के कारण भी आग्नेय शैलों में चटकनें हो जाती हैं। अवसादी शैलों में वाष्पीकरण के कारण परतें सूख जाती हैं. और शैल का आयतन घट जाता है। आयतन घटने से शैल सिकुड़ जाता है जिससे उसमें दरारें पड़ जाती हैं। दाब या तनाव की तीव्रता के साथ-साथ दरार फैलकर विभंग या भ्रंश का रूप ले लेती है।

दरारें कई तरह की होती हैं :

(i) **चापाकार दरारें**—ये अत्यधिक तनाव व दबाव के स्थान के चारों ओर वृत्तों के आकार में पाई जाती हैं।

(ii) **संस्तरित दरारें**—ये स्तरों के सहारे चट्टानों के खिसकने से उत्पन्न दरारों को संस्तरित दरारें कहते हैं।

(iii) **अरीय दरारें**—ये दरारें केन्द्र के चारों ओर पहिये की ताड़ी के समान फैली हुई होती हैं।

(iv) **विभंजित दरारें**—निर्माण प्रकम में ही असंयत होकर खण्डित होने लगती हैं। अर्थात् दरार बनने के पूर्व ही विभंजित हो जाती हैं।

तनाव या दाब के कारण दृढ़ शैल मुड़ने के स्थान पर चटक कर टूट जाते हैं। यदि टूटे हुए समानान्तर दोनों भागों में किसी प्रकार का विस्थापन नहीं होता तो इस अवस्था मे दोनों भागों के मध्य बनी संकीर्ण दरार सन्धि कहलाती है। सन्धि चट्टान को दो खण्डों में विभाजित करती है। चटकन चट्टान के ऊपरी भाग तक ही सीमित रहती है जबकि सन्धि चट्टान के आरपार होती है। सन्धियां आग्नेय शैलों में अधिक पाई जाती हैं। सन्धियों के स्थान पर अपक्षय क्रिया अपेक्षाकृत अधिक होती है। सन्धि सम्पीडनात्मक तथा तनावमूलक होती हैं।

दाव से उत्पन्न सन्धियां निकट तथा समान रूप में पाई जाती हैं। सम्पीडन बल के फल स्वरूप उत्पन्न सन्धि को कर्तन या अपरूपक सन्धि कहते हैं। सन्धियों के आकार तथा उनकी दिशा के आधार पर निम्न वर्गीकरण किया गया है :

(i) **नति सन्धि**—संस्तर की नति की दिशा के समानान्तर होती हैं। इस अवस्था में शैल-स्तरो की दिशा अनुदैर्घ्य रूप में सीधी आरपार होती है।

(ii) **नति लम्ब सन्धि**—नति लम्ब के समानान्तर अर्थात् संस्तर के झुकाव पर लम्बाकार खींची गई रेखा के समानान्तर होती है। इन्हें अनुदैर्घ्य सन्धियां भी कहते हैं क्योंकि यह शैल स्तरों की अनुदैर्घ्य दिशा के समानान्तर होती हैं।

(iii) **विदलन सन्धि**–संस्तरों के समानान्तर होती हैं तथा अपेक्षाकृत अधिक दाब के कारण उत्पन्न होती है।

(iv) **परत सन्धि**—चट्टानों को परत के रूप में विभाजित करने वाली सन्धियों को परत-सन्धि कहते हैं। ग्रेनाइट चट्टानो में परत सन्धि पाई जाती हैं।

तनाव से बनी सन्धि को तनाव सन्धि कहते हैं। यह सन्धियाँ असमान रूप में पाई जाती हैं तथा दाब द्वारा उत्पन्न सन्धियों की तुलना में अधिक खुली हुई होती हैं। असमान रूप के कारण इनको तिर्यक सन्धियां कहते हैं।

आकार तथा फैलाव के अनुसार सन्धियों को दो भागों में विभक्त किया गया है :

(1) प्रधान-सन्धि —अधिक विकसित एवं दूर तक विस्तृत सन्धि को कहते हैं।

(2) गौण-सन्धि—कम विकसित तथा अपेक्षाकृत कम विस्तृत स्थानीय रूप से पाई जाने वाली सन्धियां गौण-सन्धियां कहलाती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Bailings, Marland P. (1972), Structural Geology, 3rd ed. (Prentice Hall, Inc., Englewood Cliffs).
2. De Sitter, L.V. (1964), Structural Geology (McGraw Hill Book Co., New York).
3. Emmons, Allison, Stauffer and Thiel (1960), Geology; Principles and Processes (McGraw Hill Book Co., Inc., New York).
4. Hills, E. Sherbon (1972), Elements of Structural Geology, 2nd ed. (John Wiley and Sons, Inc., New York).
5. Holmes, A. (1666), Principles of Physical Geology (English Language Book Society, London).
6. Lahee, F. H. (1961), Field Geology, 6th ed. (McGraw Hill Book Co., New York).
7. Lobeck, A. K. (1939), Geomorphology (McGraw Hill Book Co., New York).
8. Longwell and Flint (1961), An Introduction to Physical Geology (John Wiley and Sons, Inc., New York).
9. Monkhouse (1954), Principles of Physical Geography (London Uni. Press, London).
10. Peel, R. F. (1960), Physical Geography, Teach Yourself Geography (Cambridge University Press).
11. Ramsay, John G. (1967), Folding and Facturing of Rocks (McGraw Hill Book Co., New York).
12. Sheldon Judson, Kenneth, S. Deffeyes and Robert, B. Hargraves (1978), Physical Geology (Prentice Hall of India Pvt. Ltd., New Delhi).
13. Strahler. A. N. (1973), Physical Geography, 4th ed. (John Wiley & Sons, Inc., New York).
14. Worcester, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology, (D. Van Nostrand Co., Inc., New York).

9

पर्वत तथा उनका संरचना क्रम
[Mountains and Mountain Building]

पृथ्वी के द्वितीय श्रेणी के उच्चावचों में पर्वतों का महत्वपूर्ण स्थान है जो पृथ्वी के लगभग दशांश भाग में फैले हुए हैं। धरातल के ऐसे उभरे भाग जो अपने समीपस्थ प्रदेश से एकदम ऊँचे उठे होते हैं पर्वत कहलाते हैं। पर्वतों की ऊँचाई निश्चित न होकर सापेक्षिक है। सामान्यतः **सागर तल से 600 मीटर ऊंचाई के ऊबड़-खाबड़ तथा तीव्र ढाल के स्थलाकार** जिन पर प्रमुख रूप से कटक, चोटियाँ तथा घाटियाँ हों, पर्वत कहलाते हैं। पर्वतों का प्रधान लक्षण यह हैं कि इनके धरातल का क्षेत्रफल अधिक होता है जो कि शीर्ष की ओर क्रमशः कम होता जाता है।

पर्वतों का अधिकांश क्षेत्रफल तिरछे ढलवां भागों में रहता है। समतल भूमि से इनके ढाल प्रायः 26° से 35° का कोण बनाते हैं। मैदानी या पठारी भागों की अपेक्षा पर्वतों के नीचे सियाल की मोटाई अधिक होती है। पर्वतीय भागों में सम्पीडन तथा संकुचन के कारण शैलों का रूपान्तरण अधिक होता है। किन्तु भ्रंशोत्थ पर्वतों में सम्पीड़न के स्थान पर तनाव के कारण रूपान्तरण अपेक्षाकृत कम होता है। अधिक सम्पीड़न तथा दाब के कारण पर्वतीय क्षेत्रों में शैलों का रूपान्तरण रवेदार ग्रेनाइट के रूप में अधिक होता है।

भौगोलिक विन्यास के आधार पर पर्वतों का वर्गीकरण
(Classification of Mountains according to Geographic Arrangement)

वारसेस्टर ने भौगोलिक विन्यास के आधार पर पर्वतों का निम्न वर्गीकरण किया है—

पर्वत
- पर्वत समूह
- पर्वत क्रम
- पर्वतमाला
- पर्वत वर्ग
- पर्वत श्रृंखला
- एकाकी पर्वत

सामान्यतया वह ऊँचा प्रदेश जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्पत्ति तथा आयु की पर्वतमालाएँ हों, पर्वत समूह कहलाता है। पर्वत समूहों का क्रम अनिश्चित होता है तथा इनकी व्यवस्था भी विभिन्न प्रकार की होती है। कहीं पर श्रेणियाँ समानान्तर तो, कहीं पर केन्द्रीय नाभि के चारों ओर फैली होती हैं। श्रेणियों के मध्य घाटियाँ तथा पठार भी पाये जाते हैं।
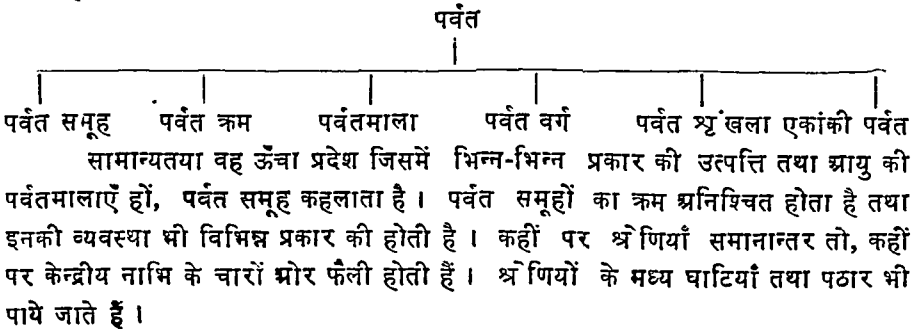
एक ही प्रकार से निर्मित तथा समान आयु की बहुत सी पर्वत श्रेणियाँ **पर्वत क्रम** की रचना करती हैं। टार तथा वॉन एंग्लिन के अनुसार उन्नमन से उत्थित पर्वत वलन की वे श्रेणियाँ जो एकाकी वर्ग की रचना करती है, पर्वत क्रम कहलाता है।
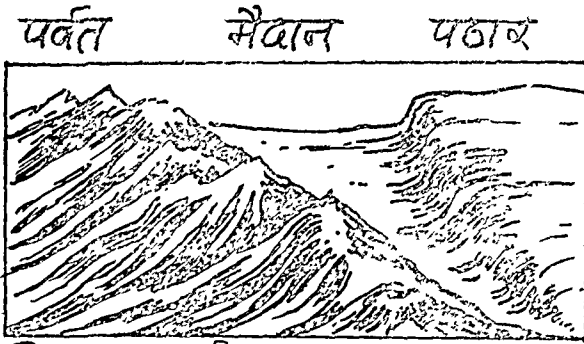
चित्र 9 1 पर्वत मैदान और पठार

बहुत से पर्वत जो एक लम्बी तथा संकीर्ण पट्टी के रूप में निश्चित क्रम से फैले होते हैं, **पर्वत माला या पर्वत श्रेणी** कहलाते हैं। ऐसे लम्बाकार पर्वत आयु तथा उद्भव में एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होते हैं। हालांकि इनके शैलों की संरचना तथा बनावट में स्थानीय अन्तर होता है, किन्तु इनका भू-आकृतिक इतिहास समान होता है। शिवालिक और एल्प्स की पर्वतमालाएँ तथा वासात पर्वतमाला इसी वर्ग के हैं।

कई स्थानों की उच्च भूमि पर अनेकों पर्वत अव्यवस्थित रूप से फैले होते हैं। इस प्रकार के अनिश्चित क्रम से फैले पर्वतों को **पर्वत वर्ग** की संज्ञा दी गई है। वर्ग में सैकड़ों पर्वत होते हैं जो विभिन्न दिशाओं में फैले होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का **सान जुआन पर्वत वर्ग** इसका उदाहरण है।

विभिन्न युगों में निर्मित तथा उत्पत्ति की दृष्टि से भिन्नता लिये हुए पर्वतों की लम्बी एवं संकीर्ण पट्टी को **पर्वत शृंखला** कहते हैं। शृंखला मुख्यतः ज्वालामुखी पर्वतों की होती है।

एकाकी पर्वत प्रायः अपवाद के रूप में पाया जाता है इसका निर्माण या तो ज्वालामुखी क्रिया अथवा अपरदन के फलस्वरूप होता है। इटली का **विसूवियस**, जापान का प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत **फ्यूजीयामा**, भारत के घर्षित पर्वत **विन्ध्याचल** एकाकी पर्वतों के उदाहरण हैं।

पर्वतों का विस्तार स्थल एवं सागरों में दोनों ही स्थानों पर पाया जाता है। अतः स्थिति के आधार पर पर्वतों को दो भागों में विभक्त किया गया है—(अ) महाद्वीपीय तथा (ब) महासागरीय पर्वत।

महाद्वीपीय पर्वत विश्व के अधिकांश पर्वत स्थल पर ही स्थित हैं। महाद्वीपीय पर्वतों को दो उपविभागों में—आंतरिक पर्वत तथा तटीय पर्वत में विभाजित किया गया है। आंतरिक पर्वत सागर तटों से दूर महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में पाये जाते हैं। तटीय पर्वत महाद्वीपों के किनारे लम्बाकार विस्तीर्ण पाये जाते हैं।

सागरीय पर्वत तटों से दूर खुले समुद्र में पाये जाते हैं। इनका विस्तार सागर-द्रोणियों तथा महाद्वीपीय जलमग्न पठारों दोनों पर ही पाया जाता है। इस प्रकार के पर्वत

कुछ तो जल-तल से ऊपर निकले रहते हैं किन्तु अधिकांश पर्वत जल-तल के नीचे स्थित हैं। सागरीय पर्वत अधिकांशतः ज्वालामुखी होते हैं।

उत्पत्ति-प्रणाली के आधार पर पर्वतों को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया गया है—(1) भूगर्भिक, (2) अवशिष्ट तथा (3) मिश्रित। मौलिक पर्वतों की कई प्रकार की शाखाएँ एवं उपशाखाएँ होती हैं। उत्पत्ति प्रणाली के आधार पर पर्वतों का निम्न वर्गीकरण किया गया है :
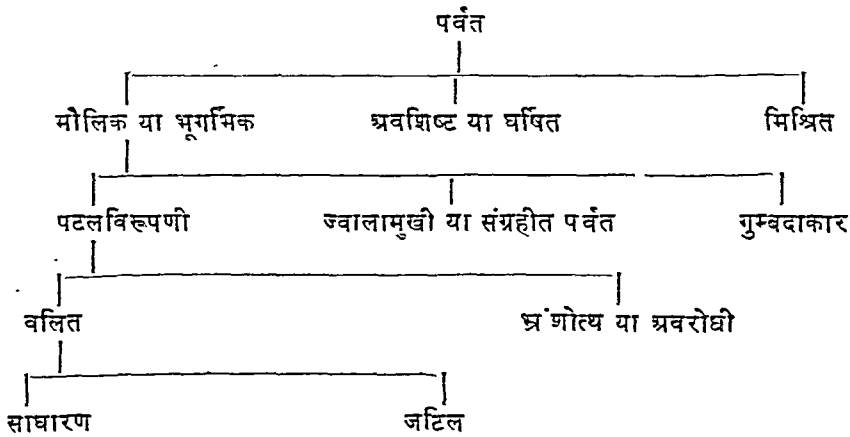
मौलिक पर्वतों का निर्माण भूगर्भिक हलचलों के परिणामस्वरूप होता है। पटलविरूपण के कारण वलित तथा भ्रंशोत्थ या अवरोधी पर्वतों तथा ज्वालामुखी क्रिया के कारण संग्रहीत और गुम्बदाकार पर्वतों का निर्माण होता है। ये सभी पर्वत स्थल के संरचनात्मक स्वरूप कहलाते हैं।

पटलविरूपणी पर्वत वलित तथा भ्रंशोत्थ या अवरोधी पर्वत होते हैं। भूगर्भिक बलों के प्रभाव से धरातलीय शैलों में मोड़ पड़ने के कारण वलित पर्वतों का निर्माण होता है। क्षैतिज सम्पीड़न के कारण धरातल में लहरनुमा मोड़ पड़ने के कारण विश्व के अधिकांश पर्वतों का जन्म हुआ है। वलन के आकार के आधार पर वलित पर्वतों की भी दो भागों—साधारण मोड़दार पर्वत तथा जटिल मोड़दार पर्वतों में उपविभाजन किया गया है।

जिन पर्वतों में अपनतियाँ और अभिनतियाँ नियमित तथा व्यवस्थित रूप में होती हैं, साधारण वलित पर्वत कहलाते हैं। लोबेक के अनुसार "वलित पर्वत" का प्रयोग उन पर्वतों के लिए किया जाता है जिनमें खुले हुए अपेक्षाकृत सामान्य मोड़ पाये जाते हैं। साधारण वलन सामान्य सम्पीड़न के फलस्वरूप होते हैं।

अत्यधिक सम्पीड़न के कारण जब मोड़ का अग्र भाग टूट कर दूसरे मोड़ पर चढ़ जाता है तो परिवलित मोड़ का निर्माण होता है। इस स्थिति में निचली परतों के ऊपर आ जाने से संरचना उल्टी हो जाती है। ऐसी विषम रचना वाले पर्वतों को **जटिल वलित पर्वत** कहते हैं।

वलित पर्वतों की कुछ विशेषताएँ हैं जिनके कारण वे अन्य पर्वतों से भिन्न होते हैं। वलित पर्वतीय क्षेत्रों में अवसादी शैलों की प्रचुरता पाई जाती है। अतः निक्षेप

ओर दाव के कारण इनमें परतदार शैलों का निर्माण हुआ। इन पर्वतों के नीचे गहराई में अवसादी शैल मिलते हैं। वलित पर्वतों के प्रस्तरीभूत शैलों में ताप तथा दाव के कारण

चित्र 9.2 वलित पर्वत
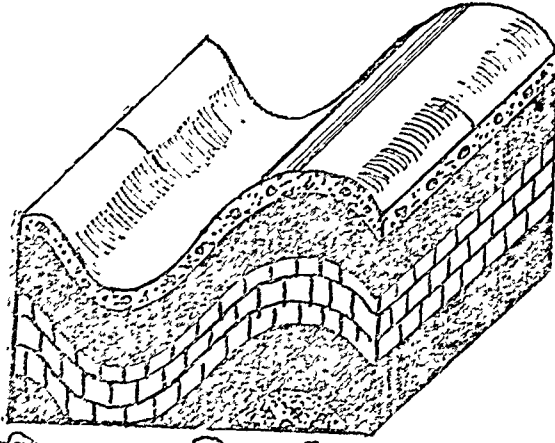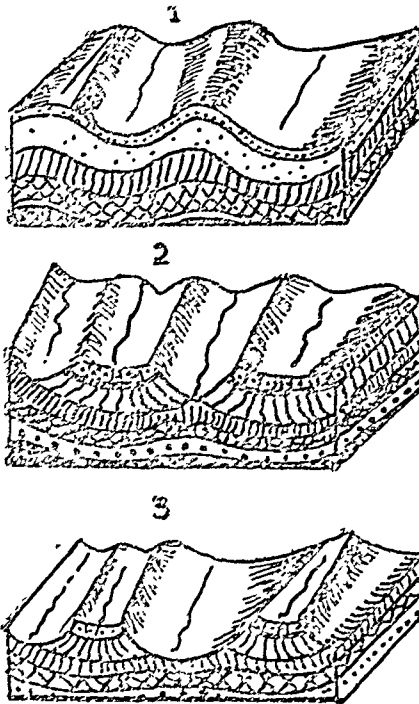
चित्र 9.3 वलित पर्वतों में क्रमागत अपरदन के फलस्वरूप वर्तमान स्वरूप

परिवर्तन आ जाता है और ये रूपान्तिरित शैलों में परिवर्तित हो जाते हैं। क्षैतिज संपीड़न के कारण परतदार चट्टानें मुड़कर वलित पर्वतों का रूप ले लेती हैं। वलित पर्वतों का

का जन्म सागर की विशाल भू-अभिनतियों में निक्षेप के कारण हुआ है इसलिए इन पर्वतों में सागरीय जीवों के अवशेष पाये जाते हैं तथा इनकी लम्बाई अधिक और चौड़ाई कम होती है। संसार की सर्वोच्च शिखरें इन्हीं पर्वतों में पाई जाती हैं। अधिक ऊँचाई और अवसादी शैलों की प्रचुरता के कारण इन पर्वतों में दूसरे पर्वतों की अपेक्षा अनाच्छादन की क्रिया अधिक पाई जाती है। वलित पर्वतों में खनिजों का प्रायः अभाव होता है। इनका निर्माण क्षैतिज दाब के कारण हुआ है। अतः इनका रूप वृत्ताकार या चाप के समान होता है तथा एक ओर का ढाल नतोदर तथा दूसरी ओर का उन्नतोदर होता है। यूरेशिया में यह दबाव दक्षिण की ओर से आया इसलिए हिमालय का उत्तरी किनारा नतोदर तथा दक्षिणी किनारा उन्नतोदर है।

भ्रंशोत्थ पर्वतों की उत्पत्ति के बारे में मतभेद पाया जाता है। भ्रंशोत्थ पर्वतों का निर्माण विशेषात्मक अपरदन के कारण होता है, अर्थात् आस-पास की भूमि कट जाती है तथा मध्य का कठोर ऊँचा उठा भाग भ्रंशोत्थ पर्वत के रूप में खड़ा रह जाता है। किन्तु
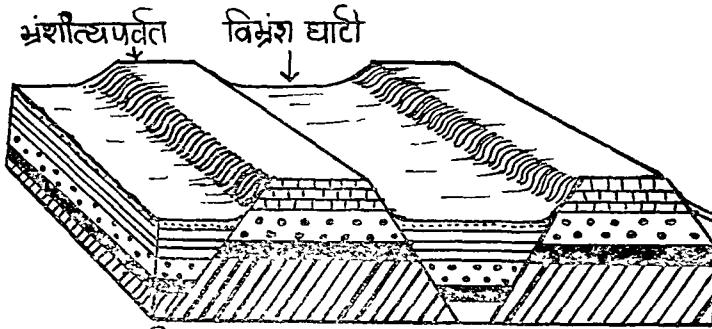
चित्र 9.4 भ्रंशोत्थपर्वत तथा विभ्रंश घाटी

यह मान्यता प्रबल है कि धरातल पर तनाव या दाब के कारण भ्रंश या दरारें पड़ जाती हैं जिनके दोनों ओर के खण्ड नीचे धंस जाते हैं तथा मध्य का स्थिर खण्ड भ्रंश या अवरोधी पर्वत का रूप ले लेता है। इस ऊँचे उठे भाग को शीर्ष भी कहते हैं।

ज्वालामुखी से निकले लावा, राख एवं कीचड़ के जमाव से भी पर्वतों का निर्माण होता है। प्रारम्भ में ये छोटे आकार के टीले होते हैं, किंतु निरन्तर निक्षेप से इनका आकार बड़ा हो जाता है।

धरातल का वह विशिष्ट भाग जो नीचे से लावा प्रसार के कारण, टूटने-फूटने के स्थान पर, उभर कर गुम्बद के रूप में ऊपर उठ जाता है गुम्बदाकार या लैकोलिथ पर्वत कहलाता है। गुम्बदाकार पर्वत पृथ्वी पर विस्तृत रूप में फैले हुए हैं तथा सक्रिय ज्वालामुखी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इनका ऊपरी भाग चाप की भांति गोलाकार होता है। इनका विस्तार तथा ऊँचाई भूगर्भ में लावा द्वारा दाब की गति पर निर्भर करती है। दाब कम होता है तो छोटे और दाब अधिक है तो विस्तार में वृहद् और सैकड़ों मीटर ऊँचे गुम्बदों का आविर्भाव होता है।

जब किसी बड़े आकार के गुम्बद के चारों ओर छोटे-छोटे अनेक गुम्बदों का निर्माण हो जाता है तो इस प्रकार की उच्चावच आकृतियों को **मिश्रित गुम्बद** कहते हैं।

ज्वालामुखी क्रिया द्वारा निर्मित गुम्बद को **लावा गुम्बद** कहते हैं। यह गुम्बद सर्वाधिक विस्तृत तथा ऊँचे होते हैं। भूगर्भ में लवण तथा जिप्सम से निर्मित गुम्बदों को साल्ट गुम्बद की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार के गुम्बद सबसे छोटे और नीचे होते हैं।
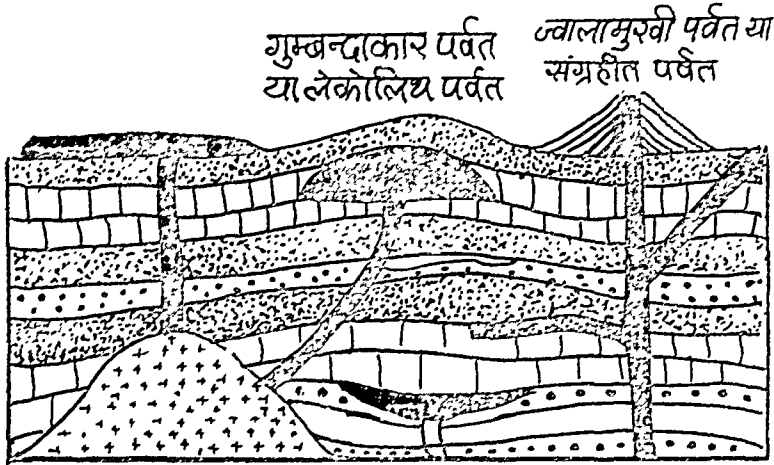
चित्र 9 5 ज्वालामुखी या संग्रहीत पर्वत तथा गुम्बदाकार या लेकोलिथ पर्वत

जब किसी पठारी या उच्च स्थल की कोमल शैल अपरदनकारी वाह्य शक्तियों द्वारा घर्षित करदी जाती है तो शेष कठोर भाग घर्षित नीची भूमि से ऊपर उठा दिखाई देता है। इस प्रकार के उभरे भाग को **अवशिष्ट पर्वत** की संज्ञा दी गई है। इनका निर्माण घिसने के फलस्वरूप होता है, अतः इनको घर्षित पर्वत भी कहते हैं।
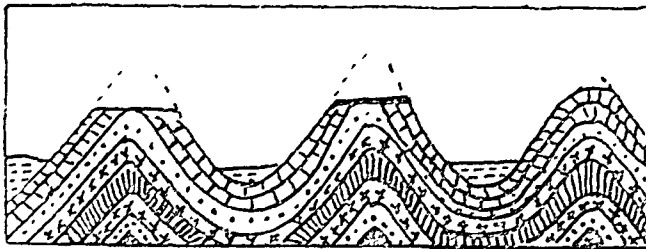
चित्र 9 6 अवशिष्ट पर्वत

बहुत से वलित पर्वतों की रचना, भ्रंशन तथा ज्वालामुखी क्रिया की निरन्तरता से अत्यधिक जटिल हो जाती है। ऐसी संयुक्त रचना वाले पर्वतों को मिश्रित या जटिल पर्वत कहते हैं। जटिल पर्वतों की उलझी आकृति में आग्नेय, कायान्तरित तथा परतदार सभी प्रकार के शैलों का समावेश होता है। लोवेक के अनुसार मिश्रित पर्वत जिनका निर्माण पूर्ण रूप से आग्नेय चट्टानों या कायान्तरित चट्टानों या वृहत्‌रूप से अव्यवस्थित परतदार शैलों से होता है या इनमें से कई के मिश्रण से होता है।

पृथ्वी के प्रत्येक भूगर्भिक काल में पर्वतों का निर्माण होता रहा है। किन्तु पर्वत निर्माण क्रिया कभी तीव्र और कभी मन्द रही है। दो पर्वतों के निर्माण युग के मध्य सुप्त

या मंद काल होता है। भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार पृथ्वी की आयु के तीन-चौथाई भाग में केम्ब्रियाई युग से पूर्व आद्य महाकल्प में तीन पर्वत निर्माणकारी हलचलें घटित हुईं। इस बारे में हमारा ज्ञान सीमित है। आद्य महाकल्प के पश्चात् भी तीन उल्लेखनीय पर्वत निर्माणकारी बड़ी हलचलें हुईं।

अपरदन के कारण आद्य महाकल्प के पर्वत आकृतिविहीन कठोर भू-खण्डों में ऐसे परिवर्तित हो गये कि उनके मौलिक रूप को पहचानना कठिन है किन्तु उनके मूल आज भी दृढ़ भूखण्डों के रूप में देखने को मिलते हैं इन्हें महाद्वीपों की आद्यक्रोड़ कहते हैं। इन्हीं आद्य या केन्द्रीय क्रोड़ के चारों ओर महाद्वीपों का विकास हुआ। सभी महाद्वीपों में आद्य-क्रोड़ के चारों ओर पर्वत निर्माण क्रमों द्वारा उत्तरोत्तर संरचना की पट्टियों में वृद्धि हुई।
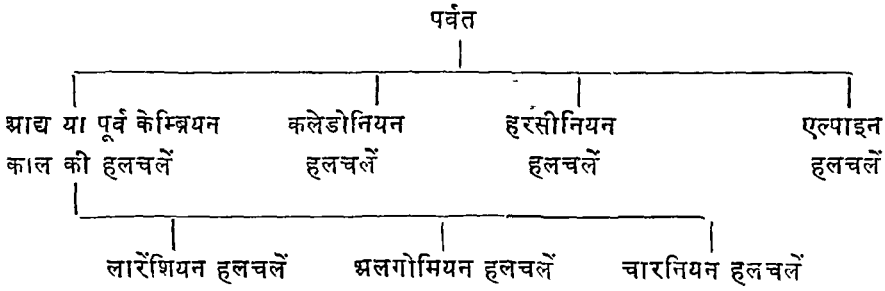
आद्य महाकल्प के पर्वत निर्माण का इतिहास 50 करोड़ वर्षों से भी पुराना है। केम्ब्रियन युग से पूर्व पर्वत निर्माणकारी हलचलें अनेकों बार घटित हुईं किन्तु उनमें से तीन उल्लेखनीय हैं – **लारेंशियन, अलगोमियन** तथा **चारनियन**। प्रत्येक हलचल के समय ज्वालामुखी सक्रिय हुए और शैलों का रूपांतरण हुआ तथा रचनाएँ अपरदित होकर समप्राय मैदानों में परिवर्तित हो गईं।

कनाडा में बड़ी झीलों के उत्तर में वलन के कारण लारेंशियन पर्वतों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त पृथ्वी की ठण्डी एवं ठोस परत के नीचे ग्रेनाइट शैलों का अधिकाश भाग तरलावस्था में था। अतः परत की दरारों में से तरल ग्रेनाइट लावा बाहर बहकर पर्वतों के रूप में आ गया। तत्पश्चात् अपरदन के कारण यह समप्राय मैदानों में परिणित हो गए। पर्वत निर्माण की इस हलचल को केनोरन नाम से भी जाना जाता है।

पूर्व निर्मित पर्वत जब अनाच्छादन के कारण इतने नीचे हो गए कि महाद्वीपों के अधिकांश भाग सागर के अतिक्रमण के फलस्वरूप जलप्लावित हो चले तो पूर्व निर्मित पर्वतों के स्थान पर सागरों में पुनः तलछटों का निक्षेप हुआ तथा दरारों से लावा फूट पड़ने के कारण अलगोमियन पर्वतों का निर्माण हुआ। यह पर्वत एक बार फिर अपरदित होकर दृढ़ भू-खण्डों में परिवर्तित हो गए। **लारेंशियन शील्ड, बल्टिक शील्ड, अंगारा तथा गोण्डवाना** दृढ़ भूखण्ड अलगोमियन पर्वत निर्माण हलचलों के ही प्रतीक हैं। पर्वत निर्माण का यह युग हडसोनियन युग कहलाता है।

आद्य महाकल्प के अन्तिम समय में एक बार फिर पर्वत निर्माणकारी घटनाएँ घटित हुईं जो चारनियन हलचलों के नाम से जानी जाती हैं। इस युग में प्रायद्वीपीय भारत

धारवाड़, कुडप्पा तथा विन्ध्य क्रम की शैलों तथा अरावली पर्वत का निर्माण हुआ। यह युग ग्रेनवाइल कहलाता है।

लगभग 39.5 करोड़ वर्ष पूर्व साइलूरियन काल में केलेडोनियन नाम का भीषण भू-संचलन हुआ फलस्वरूप धरातल पर एक विशाल पर्वतक्रम ने जन्म लिया। इन पर्वतों का फैलाव उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों ही गोलार्द्धों में पाया जाता है। यूरोप में स्केण्डिनेविया, स्काटलैण्ड, लेक डिस्ट्रिक्ट, एशिया में अल्टाई तथा बैकाल झील के दक्षिणी किनारे पर अंगारा तथा लीना नदियों के समीप, अफ्रीका में सहाराइड, उ. अमेरिका में पीडमोंट पठार में, द. अमेरिका में ब्रासिलाइडस (ब्राज़ील) में तथा आस्ट्रेलिया में न्यूसाउथवेल्स के पर्वत केलेडोनियन पर्वत क्रम के अंग हैं।

लगभग 28 करोड़ वर्ष पूर्व कार्बोनिफेरस तथा परमियन काल में हरसीनियन हलचल में अपलेशियन, वासजेस तथा ब्लैकफारेस्ट, खिंघन, टियान शान, पूर्वी कार्डिलेरा, आशा अन्तरीप के मोड़ तथा ब्राजील के उत्तरी और पूर्वी भागों में हरसीनियन क्रम के पर्वतों ने जन्म लिया। भारत में पंजाल ज्वालामुखी क्रम का निर्माण भी इसी युग में हुआ।

एल्पाइन हलचलें (Alpine Movements)

एल्पाइन पर्वत क्रम भूगर्भिक इतिहास की नवीनतम पर्वत शृंखलाएँ हैं। विश्व के सर्वोच्च शिखर वाले पर्वत इसी युग की हलचलों में निर्मित हुए। इस युग में कुछ प्राचीन पर्वतों का पुनः उत्थान हुआ और कुछ स्थानों पर दाब के कारण नवीन वलित पर्वतों का निर्माण हुआ। इन पर्वतों का आज भी अत्यन्त मन्द गति से उत्थान क्रम जारी है। अनाच्छादन इनके मौलिक रूप को अभी विकृत नहीं कर पाया है।

यूरोप के एल्पाइन पर्वतों के निर्माण काल के आधार पर इस काल में निर्मित पर्वतों को एल्पाइन क्रम की संज्ञा दी गई है। यह पर्वत क्रम अधिकांश रूप से इयोसीन, ओलिगोसीन तथा प्लाओसीन तीन भूगर्भिक युगों में निर्मित हुआ। अतः इसको तृतीय या टर्शियरी काल भी कहते हैं। प्रत्यक्ष रूप में एल्पाइन काल लगभग 6.5 करोड़ वर्ष पूर्व सीनोजोइक कल्प के प्रारम्भ में इयोसीन युग में हुआ, किन्तु ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि इस काल की हलचलें मेसोजोइक कल्प के क्रिटेशियस युग में प्रारम्भ हो गई थीं जिससे वारिस्कन युग के घर्षित पर्वत पुनः ऊपर उठ गए। पिछली पर्वत निर्माणकारी हलचलों की तुलना में एल्पाइन काल अधिक लम्बा चला। स्टिल ने इसको तीन भागों में विभक्त किया है :

अवस्था	काल
नवीन एल्पाइन (नवीन टर्शियरी)	ऊपरी मायोसीन से लेकर प्लायोसीन के पश्चात तक
मध्य एल्पाइन (प्राचीन टर्शियरी)	पूर्व ओलीगोसीन से निचले मायोसीन तक
प्राचीन एल्पाइन (टर्शियरी से पूर्व)	इयोसीन से पूर्व (क्रिटेसियस काल)

प्राचीन एल्पाइन पर्वत निर्माण काल—वैरिस्कन तथा एल्पाइन कालों के मध्य अन्तर्कालीन अवस्था है। इस काल में वारिस्कन युग के ही निर्मित पर्वत पुनः ऊपर उठे।

यह काल टर्शियरी से पूर्व मेसोजोइक कल्प के अन्तिम समय में प्रारम्भ हुआ अतः इसको पूर्व टर्शियरी काल कहते हैं ।

मध्य एल्पाइन काल को प्राचीन टर्शियरी काल भी कहते हैं । वास्तव में टर्शियरी युग सीनोजोइक कल्प के ओलिगोसीन काल में प्रारम्भ होकर मायोसीन तक चला । इस युग में यूरोप के पिरनीज, जूरा, काकेशस, फ्रेंच एल्पस, दक्षिणी कारपेथियन तथा भारत में लघु हिमालय का निर्माण हुआ । उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका में मध्य एल्पाइन युग के पर्वतों का आभव है। इस काल के पर्वतों का अधिकांश निर्माण यूरेशिया में ही हुआ। नवीन एल्पाइन युग या नवीन टर्शियरी काल की हलचल मायोसीन युग से प्रारम्भ होकर प्लायोसीन के पश्चात् प्लीस्टोसीन युग तक चली। इस युग में मध्य एल्पाइन काल में निर्मित कुछ पर्वतों का पुनः उत्थान हुआ तथा कुछ का नवनिर्माण हुआ । भारत में शिवालिक तथा बाहरी हिमालय की पहाड़ियां, पामीर के गर्भ से निकलने वाले उदार पर्वत, बर्मा, पूर्वी एशिया तथा पूर्वी द्वीप समूह के मोड़दार पर्वत आदि इसी काल में उभरे ।

एल्पाइन युग के नवीन मोड़दार पर्वतों में भूकम्पीय हलचलें बहुधा होती रहती हैं । प्रशान्त महासागर के चारों ओर के मोड़दार पर्वत भूकम्पीय तथा सक्रिय ज्वालामुखी क्रियाओं के क्षेत्र हैं ।

वलित पर्वतों की उत्पत्ति के बारे में मुख्य रूप से तीन विचारधाराएँ प्रमुख हैं — पृथ्वी का संकुचन, भूगर्भ में लम्बवत गति तथा महाद्वीपीय विस्थापन पर आधारित

चित्र 9·7 दृढ़ भू-खण्डों एवं वलित पर्वतों का विश्व विवरण

सिद्धान्त। ताप ह्रास के कारण पृथ्वी सतत संकुचित हो रही है जिससे धरातल के कोमल भागों पर सिकुड़नें पड़ जाती हैं। सिकुड़नों के उठे भाग पर्वत एवं धंसे भाग घाटियों का निर्माण करते हैं।

सुइस तथा आरगैण्ड ने डाना के भू-संकुचन सिद्धान्त को विस्तृत रूप दिया। इनके अनुसार पृथ्वी का ताप विकिरण द्वारा निरन्तर घटता जा रहा है। ताप ह्रास के कारण भू-पृष्ठ में भी सिकुड़न आना स्वाभाविक ही है। यही सिकुड़नें वलित पर्वतों का रूप ले लेती हैं।

पृथ्वी के संकुचन से अंगारा भू-खण्ड गोंडवाना भू-खण्ड के समीप आया जिसके कारण इन दोनों भू-खण्डों के मध्य का दुर्बल एवं कोमल भाग वलित होकर हिमालय पर्वत बना। हिमालय की रचना में सुइस ने तिब्बत को पार्श्व तथा भारतीय प्रायद्वीप को अग्र प्रदेश माना है। इसी प्रकार बाल्टिक भू-खण्ड के अफ्रीका महाद्वीप (गोंडवाना भू-खण्ड) की ओर समीप आने के फलस्वरूप एलप्स पर्वतों की रचना हुई। इसमें अफ्रीका पश्च तथा यूरोप अग्र प्रदेश था।

नवीन खोजों के अनुसार रेडियोधर्मी पदार्थों के कारण भू-गर्भ में ताप की निरन्तर वृद्धि हो रही है। अतः भू-संकुचन का सिद्धान्त मान्यता प्राप्त नहीं है।

चित्र 9 8 पश्च एवं अग्र भूमि के मध्य पर्वत निर्माण क्रिया

चेम्बरलिन द्वारा ग्रहाणुओं का सिद्धान्त

चेम्बरलिन ने मोड़दार पर्वतों के निर्माण के सम्बन्ध में पृथ्वी को अनेक परतों व खण्डों में बांटा है। इनका आधार महाद्वीप एवं महासागर है तथा नुकीला शीर्ष पृथ्वी के केन्द्र की ओर था। आपेक्षिक गुरुत्व के कारण महासागरों में स्थित खंड महाद्वीपीय खण्डों की अपेक्षा नीचे की ओर पहले धंसे। महासागरीय खण्डों के नीचे धंसने के कारण महाद्वीपों के तटों पर दाब उत्पन्न हुआ जिसके परिणामस्वरूप तटों के निर्बल व कोमल भाग मुड़ कर वलित पर्वतों के रूप में आ गए। इसी प्रकार महाद्वीपों में स्थित गहरे तलछट से भरी द्रोणियों में भी पृथ्वी के संकुचन के फलस्वरूप मोड़ पड़ गए। ताप ह्रास के कारण पृथ्वी में संकुचन होता गया और मोड़ ऊपर उठते गये जो वलित पर्वतों के रूप में विद्यमान हैं।

कोबर की मान्यता है कि पृथ्वी के नौ प्राचीन स्थिर भू-खण्डों—केनेडियाई, रूसी, साइबेरियाई, चीनी, प्रायद्वीपीय भारत, आस्ट्रेलियाई, अंटार्कटिक, ब्राजीलियाई तथा अफ्रीकी भू-अभिनतियों में गहरा संबंध है।

कोबर के अनुसार वलित पर्वतों के स्थान पर भू-अभिनतियां थीं। वे भू-अभिनतियों के स्थान को पर्वत **निर्माण स्थल** तथा दृढ़ भू-खण्डों को क्रेटोजिन मानते हैं।

कोबर के अनुसार पृथ्वी के प्रारम्भिक काल से ही तापीय ह्रास हो रहा है जिससे समय-समय पर संकुचन की क्रिया होती है। इसी आधार पर उन्होंने पर्वत निर्माण की चक्रीय व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। पर्वतीकरण की व्यवस्थाएँ निम्न है :

प्राचीनतम या पूर्व केम्ब्रियन कल्प में लैरेंशियन, एग्लोमन तथा किलारनियन। पुराजीवी कल्प के साइलूरियन युग में कैलेडोनियन। पुराजीवी कल्प के परमियन युग में वेरिस्कन या हरसीनियन। नवजीवी महाकल्प के मायोसीन युग में एल्पाइन या नवीन वतिल पर्वत निर्माण प्रमुख हैं।

सुएस के विपरीत कोबर ने दो कठोर भू-खण्डों के पारस्परिक दाब और तनाव के कारण भू-अभिनतियों में वलन की क्रिया को मान्यता दी। उन्होंने दोनों ओर ही अग्र अग्रदेशों की कल्पना की। कोबर मे अग्र प्रदेशों के पार्श्वों पर पर्वत श्रेणियों को **रेण्डकेटन** की संज्ञा दी। जब वलन की क्रिया तीव्र होती है तो मध्य में कुछ क्षेत्र टूट जाता है जिसे मध्य-पिण्ड के नाम से सम्बोधित किया है। मध्य पिण्ड पठार, मैदान या समुद्र तीनों में से एक हो सकता है। तिब्बत, ईरान व तुर्की के पठार मध्य पिण्ड के रूप में हैं। इसी प्रकार कारपेथियन तथा डिनारिक एल्प्स के मध्य **हंगरी का मैदान,** एल्प्स तथा एटलस पर्वतों के पश्चिमी भू-मध्यसागर में डूबा हुआ **मध्य पिण्ड** है जिसके अवशेष कोर्सिका तथा सारडिनिया द्वीप हैं।

कोबर के अनुसार पर्वत निर्माण की दो अवस्थाएँ हैं :

(1) **भू-अभिनति में अवसाद निक्षेप की अवस्था**—इस अवस्था में भू-अभिनतियाँ सागर के उथले भाग होते हैं जिनमें दोनों ओर के भू-खण्डों से तलछट का निक्षेप हो जाता है। निक्षेप के भार से भू-अभिनति में अवतलन प्रारम्भ हो जाता है।

(2) **पर्वत निर्माणकारी अवस्था**—इस अवस्था में पृथ्वी से ताप ह्रास के कारण संकुचन होता है जिससे भू-अभिनति के दोनों ओर के अग्र प्रदेश एक दूसरे के समीप आने

चित्र 9.9 कोबर के अनुसार वलित-पर्वतमाला का निर्माण

लगते हैं जिससे वलन प्रारम्भ हो जाता है। वलन की तीव्र क्रिया के कारण दोनों ओर की श्रेणियां आपस में एक स्थान पर मिल जाती हैं, पहाड़ियों का निर्माण होता है। वलन की क्रिया के समय ज्वालामुखी उद्भेदन तथा कायान्तरण की क्रिया सम्पन्न होती हैं।

जेफरे के अनुसार पृथ्वी में निरन्तर ताप ह्रास हो रहा है जिससे संकुचन के कारण धरातल पर सिकुड़न पड़ जाती हैं जो पर्वतों का रूप ले लेती हैं। पृथ्वी में संकुचन दो तरह से होता है। धरातल से 700 किमी. भूगर्भ की गहराई तक ताप ह्रास होता है। गणितीय परिकलन के आधार पर पृथ्वी का व्यास 200 किमी. कम हुआ है तथा धरातलीय क्षेत्रफल में 5×10^{16} वर्ग सेन्टीमीटर की कमी हुई है।

पृथ्वी का संकुचन परिभ्रमण शक्ति के ह्रास से भी हुआ है। लगभग एक अरब साठ करोड़ वर्ष पूर्व पृथ्वी अपनी धुरी पर 0.84 घन्टे में एक परिक्रमा पूरी कर लेती थी, किन्तु वर्तमान में उसको 24 घण्टे लगते हैं जिससे पृथ्वी की भूमध्य रेखीय परिधि 18 किमी. कम हुई है। जेफरे की इस संकुचन परिकल्पना को पर्वत निर्माण की कल्पना मात्र माना गया है।

पृथ्वी के ताप ह्रास की क्रिया में ऊपर की प्रत्येक परत अपने नीचे की परत की अपेक्षा शीघ्र ठण्डी होती है, किन्तु भीतरी परत से निरन्तर ताप ह्रास हो रहा है। अतः एक समय ऐसा आता है कि ऊपरी परत की अपेक्षा निचली परत सिकुड़ जाती है। इन दोनों परतों के मध्य 700 किमी. गहराई में ताप ह्रास से मुक्त तनाव हीन तल होता है। तनावहीन तल के नीचे वाली परत को ऊपरी अपेक्षाकृत बड़ी परत के साथ सामन्जस्य स्थापित करने के लिए फैलना पड़ता है। फैलने के कारण तनाव पैदा होता है और तनाव के फलस्वरूप उसमे दरारें तथा भ्रंशन पैदा हो जाते हैं जो नीचे ही भरे जाते हैं। पृथ्वी के व्यास में कमी होने के कारण तनावहीन तल की ऊपरी परत में क्षैतिज सम्पीड़न प्रतिवल का आविर्भाव होता है जिससे ऊपरी परत में उभार और वलन प्रारम्भ होने लगता है और इस प्रकार पर्वतों का निर्माण होता है। पर्वत निर्माण काल की हलचलों के पश्कात् दाव और तनाव घटने से पर्वत निर्माण क्रिया रुक जाती है। इस सुप्त काल के पश्चात् पुनः पर्वत-निर्माण काल प्रारम्भ हो जाता है और इस तरह पर्वत-निर्माण और सुप्त कालों की पुनरावृत्ति होती रहती है। जेफरे के अनुसार पृथ्वी के भू-गर्भिक इतिहास में अब तक पाँच पर्वत-निर्माण कालो की कल्पना की गई है। भू-गर्भिक अध्ययनों से भी यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी पर पाँच निर्माणकारी हलचलें हुई है।

इस सिद्धान्त के अनुसार पर्वत निर्माण के लिए नीचे की परत पतली होकर फैलेगी तथा गुरुत्व के कारण ऊपर की ओर धंस जायेगी और नीचे से अप्रवाह प्रारम्भ होकर सतत् चलता रहेगा। अतः पर्वतनिर्माण क्रिया निरन्तर चलती रहेगी। किन्तु यह तथ्य जेफरे के सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

जेफरे के अनुसार पृथ्वी में संकुचन विभिन्न न होकर समान रूप से हो रहा है। समान सकुचन से छोटे पर्वतों का निर्माण तो हो सकता है किन्तु हिमालय जैसे विशाल पर्वत निर्मित नहीं हो सकते।

यह असम्भव सा प्रतीत होता है कि पृथ्वी की दैनिक गति के घटने से विशाल पर्वतों का निर्माण हुआ। पृथ्वी से चन्द्रमा के पृथक होने के कारण भूमध्यरेखीय परिधि 18 किमी. के स्थान पर 1000 किमी. कम हुई होगी।

जेफरे के मतानुसार महासागरों की चट्टानें महाद्वीपीय चट्टानों की अपेक्षा अधिक मजबूत हैं। अतः महासागरों की ओर से महाद्वीपों की ओर प्रतिवल के कारण परि-प्रशान्त

तटीय पर्वत श्रृंखलाओं का निर्माण हुआ। किन्तु इस प्रकार के प्रतिबल से हिमालय और एल्प्स जैसे महाद्वीपीय पर्वतों का निर्माण सिद्ध नहीं होता।

क्या बड़े पर्वतों के निर्माण से पृथ्वी का प्रतिबल कम हो जाता है, और यदि नहीं तो ऐसी कौनसी प्रक्रिया है जिसके कारण यह कम होगा ? यह किस सीमा तक संचारित होता है। भू पृष्ठ की आन्तरिक परत पर आधारित है तथा गुरुत्व के कारण नीचे की ओर समा रहा है। ऊपर की ओर मोड़ की प्रवृत्ति नीचे के पदार्थ को भी ऊपर लायेगी। ऐसी स्थिति में भूपृष्ठ पर क्षैतिज रूप से दूर तक प्रतिबल पड़ेगा। अतः स्थानीय मोड़ नहीं होंगे। यह मोड़ वहीं पड़ेंगे जहाँ प्रतिबल चट्टान की शक्ति के सम होगा। वलन की यह क्रिया पुराने निर्बल क्षेत्रों में कार्य करेगी, जैसे कि यूरोप में वेरिस्कन तथा एल्पाइन पर्वत श्रेणियाँ एक ही स्थान पर मिलती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये पर्वत श्रेणियाँ अधिक निकट होंगीं जो वास्तव में नहीं है।

एक मान्यता यह भी है कि पर्वतों का निर्माण भूगर्भ में लम्बवत गति के फलस्वरूप हुआ। डटन तथा हरमन इस धारणा के प्रबल समर्थक हैं।

डटन के अनुसार पृथ्वी पर सन्तुलन बनाए रखने के लिए प्रकृति ने विस्तृत स्थल खण्डों और सागरीय भागों का भार समान रखा है, किन्तु इनके घनत्व भिन्न-भिन्न हैं। जब कम घनत्व वाले महाद्वीपीय भागों से तलछट अपरदित होकर अधिक घनत्व वाले सागरीय भागों में निक्षेपित हो जाता है तो पृथ्वी पर असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पृथ्वी पर पुनः समस्थिति लाने के लिए सागरीय तल का अवसाद अत्यधिक भार के कारण अवतलित होकर कम भार और कम घनत्व के महाद्वीपीय क्षेत्रों की ओर प्रवाहित होता है। यह क्षेत्र महाद्वीपों और महासागरों के संगम पर होता है। अतः महाद्वीपों और महासागरों के सन्धि-स्थल पर ऊपर उठते हुए पदार्थ के कारण प्रतिबल पैदा हो जाता है, जिससे वलन तथा सिकुड़न पैदा हो जाती है और इस प्रकार वलित पर्वतों का निर्माण होता है। यह क्रिया सतत् चलती रहती है। इसीलिए हिमालय पर्वत वर्तमान में भी उत्थापित हो रहा है। पृथ्वी पर पर्वतों के वर्तमान वितरण से यह सिद्ध होता है कि इनका निर्माण महासागरों तथा महाद्वीपों के संगम-स्थल पर हुआ है। इस धारणा से पर्वतों का ऊर्ध्वाधर तो सिद्ध होता है, किन्तु क्षैतिज सम्पीड़न की पुष्टि नहीं होती जो वलन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

हरमन ने यह कल्पना की कि पृथ्वी में क्रमवार ताप में वृद्धि और ह्रास होता है जिसके फलस्वरूप आयतन में वृद्धि एवं कमी होती है। आयतन में वृद्धि के कारण पृथ्वी में प्रसरण और कमी के कारण संकुचन होता है। इसे पृथ्वी का स्पन्दन कहते हैं। इस परिकल्पना को दोलन तरंगित सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। हरमन के अनुसार प्रसरण की प्रथम अवस्था में पृथ्वी के विभिन्न भू-खण्डों का अवतलन होता है तथा दूसरी अवस्था में संकुचन होता है जिससे भू-गर्भ के अगाध में एकत्रित तलछट में ऊर्ध्वगति उत्पन्न होती है। तलछट की ऊर्ध्वाकार गति से पर्वतों का निर्माण होता है।

महाद्वीपीय विस्थापन पर आधारित सिद्धान्त

(Theories based on Displacement of Continents)

महाद्वीपीय विस्थापन विचारधारा को दो उपविभागों में बाँटा गया है—(1) **महाद्वीपीय गवन** (Continental Drift) तथा (2) महाद्वीपीय अधोगवन या अवरोहण (Continental Discent)।

महाद्वीपीय गवन सिद्धान्त (Continental Drift Theory)

वेगनर (A. Wegener, 1914) के अनुसार पर्वत निर्माण महाद्वीपों के क्षैतिज विस्थापन के परिणामस्वरूप हुआ। उन्होंने कल्पना की कि महाद्वीपीय खण्ड हल्के सियाल के होते हैं जो कि भारी सीमा में तैर रहे हैं। प्रारम्भ में एक वृहत महाद्वीप था जो कि चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति तथा गुरुत्व और प्लवनशीलता (Buoyancy) के कारण खण्डित हुआ। चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति के कारण उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित हुई जिसके फलस्वरूप रॉकीज तथा एण्डीज पर्वतों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार प्लवनशीलता तथा अपकेन्द्रीय बल दोनों के ही मिश्रित प्रभाव के कारण हिमालय तथा एल्प्स पर्वतों का निर्माण हुआ। महाद्वीपों के गवन के कारण उनके अग्रभागों में अधःस्तर के प्रतिरोधी चट्टानों से टकराकर वलन क्रिया प्रारम्भ हुई जिसके फलस्वरूप वलित पर्वत निर्मित हो गए। विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 6 का अवलोकन कीजिए।

डेली की महाद्वीपीय स्खलन परिकल्पना
(The hypothesis of sliding of continents of R. A. Daly, 1926)

डेली के अनुसार महाद्वीपीय भागों के अधोस्तर (Substratum) में स्खलन के कारण पर्वतों का निर्माण हुआ। प्रारम्भ में ध्रुवों तथा भू-मध्य रेखा पर स्थिर एवं दृढ़ भू-खण्डों की तीन पेटियाँ विद्यमान थीं जिनके मध्य सम्भवतः दो भूअभिनतियाँ फैली हुई थीं। उत्तर में टैथिस सागर की भूअभिनति थी किन्तु दक्षिण की भूअभिनति के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाया। शेष भाग में प्रशान्त महासागर फैला हुआ था। स्थलमण्डल प्रशान्त महासागर से ऊँचा गुम्बद के रूप में विद्यमान था। अतः थलीय भागों का प्रशान्त महासागर एवं दो मध्य अक्षांशीय खाड़ियों (mid latitudinal furrows) की ओर ढाल था। ढाल के कारण भूअभिनतियों में तलछट की अपार राशि निक्षेपित हो गई। तलछट के भार और दाब में निरन्तर वृद्धि होती गई जिसके परिणामस्वरूप थलीय भागों के तटीय क्षेत्रों का भू-अभिनतियों की ओर झुकाव बढ़ता गया। अन्त में एक ऐसा समय आया कि दाब, भार और गुरुत्व के कारण महाद्वीपों के तटीय भाग टूट कर ग्लासी बैसाल्ट (Glay basalt) में डूब गए। अवरोही अवसाद के कारण पार्श्विक दबाव उत्पन्न हुआ जिसका प्रभाव तटीय भागों पर पड़ा जिसके फलस्वरूप भूअभिनतियों के क्षेत्रों में वलन की क्रिया प्रारम्भ हुई। पर्वत निर्माण की यह पहली अवस्था थी।

महाद्वीपों के टूटे हुए खण्ड फिसलकर अधोस्तर में पहुँच गए तथा उच्च ताप के कारण पिघल गए। पिघलने से उनके आयतन में प्रसार हुआ। इस प्रसार के कारण महासागरीय तटों पर स्थित भूअभिनतियों में निक्षेपित अपार तलछट उभर कर ऊपर आ गया जोकि पार्श्विक दबाव के कारण स्थान-स्थान पर मुड़ गया। पृथ्वी के संकुचन तथा परिभ्रमण गति के घटने से वलन की क्रिया को और भी बल मिला जिसने वलित पर्वत निर्माण में सहायता प्रदान की पर्वत निर्माण की यह दूसरी अवस्था थी जिसमें वलित पर्वतों का पूर्ण विकास हुआ।

टैथिस सागर भू-अभिनति की ओर उत्तरी एवं दक्षिणी स्थल खण्डों के फिसलने, उसमें तलछट की अपार राशि के जमने और पार्श्विक दबाव के कारण हिमालय तथा एल्प्स पर्वतों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार उत्तर से दक्षिण की ओर फैले रॉकीज और एण्डीज

पर्वतों का निर्माण महाद्वीपीय भागों के प्रशान्त महासागर की ओर महाद्वीपीय स्खलन के कारण हुआ। इस प्रकार डैली ने महाद्वीपीय स्खलन परिकल्पना द्वारा पर्वत निर्माण की समस्या का हल करने का सफल प्रयास किया है।
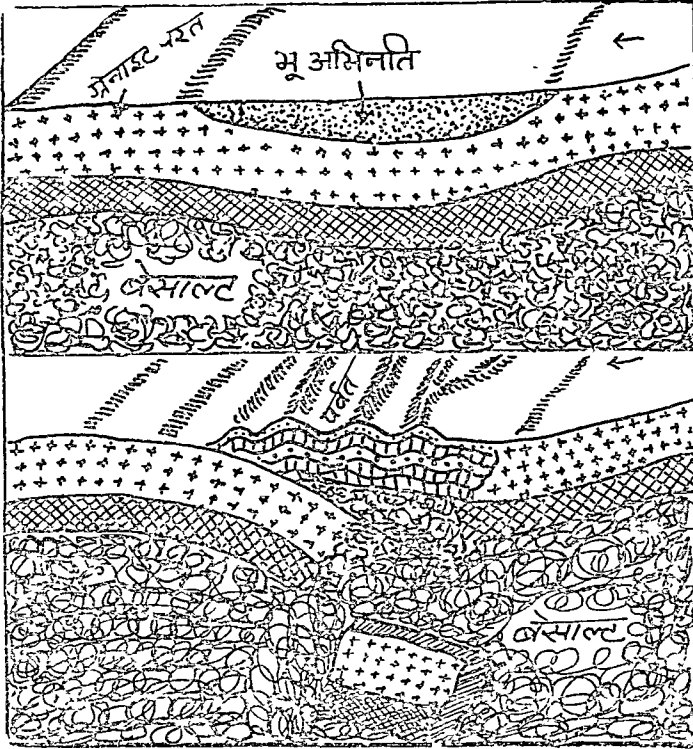
चित्र 9 10 डेली द्वारा सिद्धान्त के अनुसार पर्वत निर्माण

जौली का रेडियो एक्टिवता सिद्धान्त

(Radio Activity Theory of J. Joly, 1925)

जौली ने 1925 में अपनी पुस्तक 'The Surface History of the Earth' में अपने सिद्धान्त को प्रकाशित किया। जौली के रेडियो एक्टिवता सिद्धान्त को तापीय चक्र सिद्धान्त (Thermal cycle theory) के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। उनके अनुसार महाद्वीपीय सियाल के भाग अधोस्तर (Substratum) सीमा में तैर रहे हैं। अधोस्तर में अत्यन्त रेडियो एक्टिव तत्त्व विद्यमान हैं। यह तत्त्व विघटन द्वारा सियाल एवं सीमा में उष्मा उत्पन्न करते हैं। सियाल की उष्मा किसी सीमा तक विकीर्ण हो जाती है जबकि सीमा की उष्मा निरन्तर बढ़ती रहती है। एक समय ऐसा आता है जबकि ताप की मात्रा किसी स्थान पर इतनी अधिक हो जाती है कि सीमा पिघल जाता है। पिघले सीमा में अपेक्षाकृत कम घनत्व के सियाल खण्ड अवतलित हो जाते हैं। महासागरीय भागों में यह उष्मा संवाहकता (Conductivity) द्वारा शनैः-शनैः बाहर निकल जाती है जिसके कारण

सीमा पुनः पूर्व स्थिति को प्राप्त कर लेता है और सियाल खण्ड पूर्वानुसार सीमा में तैरना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार ताप के बढ़ने और घटने से तापीय चक्र चलता रहता है।

सियाल के पिघले खण्ड सीमा में डूब जाने से धरातल पर सागर का अतिक्रमण (Transgression) होता है, जिसके फलस्वरूप तलछट की अपार राशि सागरों के किनारे निक्षेपित हो जाती है। इस प्रकार से जोली के सिद्धान्त में भूअभिनतियों का विवरण मिलता है जहाँ कि तलछट निक्षेपित होता है।

सियाल जब सीमा में डूब जाता है तो उसका प्रसार होता है जिससे पृथ्वी के व्यास में वृद्धि होती है। किन्तु सीमा के पुनः ठण्डा होने से वह अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है जिसके फलस्वरूप पृथ्वी का व्यास तथा परिधि घटती है और धरातल पर संकुचन के कारण मोड़ पड़ जाते हैं।

महासागरों की तली में सियाल न होने के कारण सीमा का सर्वाधिक प्रसार होता है। अतः ठण्डा होने पर सबसे अधिक संकुचन महासागरों की तली में ही होगा। क्योंकि इनकी तली कठोर है, अतः संकुचन का सर्वाधिक प्रभाव तटों पर निक्षेपित कोमल तलछट पर पड़ेगा। सागर तली से पार्श्विक दबाव के कारण तटीय अवसादों में वलन पड़ जायेंगे जोकि वलित पर्वतों का रूप लेंगे।

जोली ने पर्वत निर्माण के संदर्भ में ज्वारीय शक्ति तथा घर्षण (Tidal Force and Friction) की भी सहायता ली है। सीमा के पिघलने पर सियाल उस पर तैरेगा। अतः ज्वारीय शक्ति से महाद्वीप पश्चिम दिशा से प्रवाहित होंगे जिसके फलस्वरूप तटीय भागों में पार्श्विक दबाव के कारण पर्वत निर्मित होंगे। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रशान्त महासागरीय पर्वतमालाओं का निर्माण तो समझ में आता है, किन्तु महाद्वीपों के मध्य, जैसे यूरेशिया में निर्मित पर्वत श्रेणियों के निर्माण स्पष्ट नहीं होते।

कुछ विद्वानों ने जोली द्वारा पर्वत-निर्माण की चक्रीय अवस्था की आलोचना की है। शेपर्ड (Shepard) के अनुसार पर्वत-निर्माण क्रिया निरन्तर चलती रहती है। जोली ने पर्वत-निर्माण के चक्र को समान काल के अन्तर पर माना है किन्तु वास्तव में इसकी अवधि समान नहीं है। इसके अतिरिक्त महाद्वीपों का पश्चिम की ओर प्रवाह के लिए जोली द्वारा सम्भावित ज्वारीय शक्ति अपर्याप्त है।

होम्स का सम्वाहन धारा सिद्धान्त
(Convectional Current Theory of A. Holmes, 1933)

होम्स के अनुसार अधोस्तर में रेडियो एक्टिव पदार्थ विद्यमान हैं जिनके विघटन से भूगर्भ में ताप संचय होता रहता है। कालान्तर में भूगर्भ में इतना ताप संचित हो जाता है कि शैल तरलावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। अतः तरल पदार्थ से निर्मित संवाहनीय धाराएँ महाद्वीपों के मध्य भाग के नीचे से ऊपर की ओर चलती हुई दोनों ओर मुड़ जाती है तथा ठण्डी होकर ऊपर से नीचे की ओर चलने लगती हैं। जब दो आरोही धाराएँ भू-पृष्ठ के नीचे एक दूसरे के विपरीत दिशाओं में घूम जाती हैं तो धरातल में तनाव उत्पन्न हो जाता है। तनाव के कारण महाद्वीपीय मध्यभाग पतले होकर खण्डित हो जाते हैं। खण्डित महाद्वीप के दोनों भाग विपरीत गामनी धाराओं द्वारा एक दूसरे से दूर ले जाये जाते हैं जिसके

फलस्वरूप महाद्वीप के मध्य भू-अभिनतिओं का जन्म होता है। भूअभिनतियों में दोनों ओर से तलछट का निक्षेप प्रारम्भ हो जाता है।

जब दो अवरोही धाराएँ नीचे की ओर घूम जाती हैं तो भू-पटल पर संपीड़न बल (Compressional force) का अविर्भाव होता है जिसके कारण अधोमुखी कर्षण (Downward pull) प्रारम्भ हो जाता है। अतः नीचे की ओर दबाव के कारण दोनों ओर के भू-खण्ड एक दूसरे के निकट आ जाते हैं जिसके फलस्वरूप भूअभिनति का तलछट सिकुड़ कर वलित पर्वतों का रूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार की टैथिस सागर की भूअभिनति में हिमालय तथा एल्प्स पर्वतों का निर्माण हुआ।
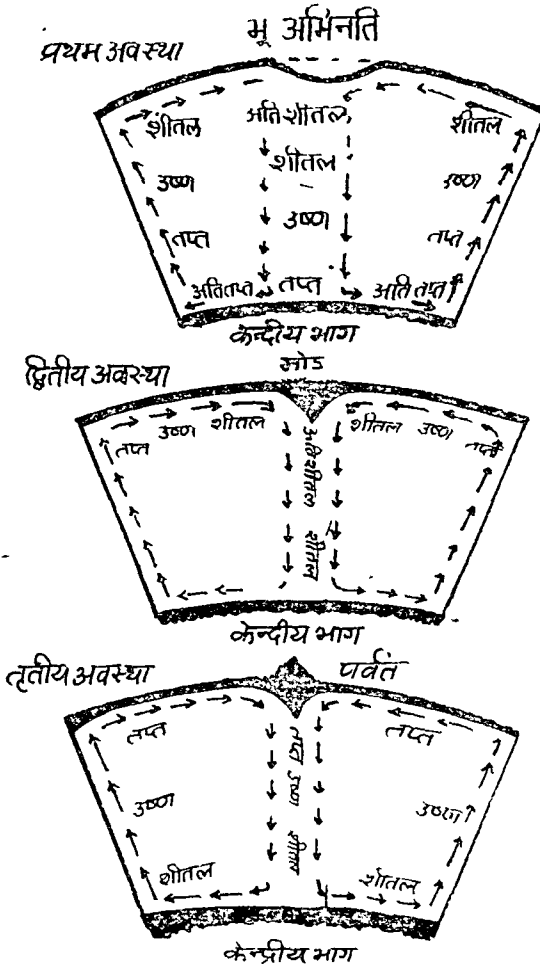
चित्र 9 11 धाराओं की क्रमिक अवस्थाएं तथा पर्वत निर्माण
(होम्स के आधार पर)

संवाहनी धाराएँ महाद्वीपों से सागर और सागर से महाद्वीपों की ओर चलेंगी जिसके कारण धरातलीय दबाव बना रहेगा। अतः कालान्तर में महाद्वीपों के तटीय भागों में पर्वत

निर्माण होगा। उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के पर्वत समूह, पूर्वी एशिया के मालाकार द्वीप समूह, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा न्यूगिनी के पर्वतों का इसी प्रकार निर्माण हुआ। शनैः-शनैः संवाहनी धाराएँ ठण्डी होकर बहना बन्द कर देंगी तथा इस प्रकार पर्वत निर्माण चक्र समाप्त हो जायगा।

होम्स के अनुसार संवाहनी धाराओं का चक्र मुख्यतः चार क्रमिक अवस्थाओं में सम्पन्न होता है :

(1) रेडियो एक्टिव तत्त्वों के ताप से संवाहनी धाराओं का निर्माण।

(2) अधोमुखी कर्षण के कारण भूअभिनतियों का निर्माण तथा उनमें अवसादों का निक्षेप।

(3) दो आरोही संवाहनी धाराओं के एक दूसरे के विपरीत दिशा में आमने-सामने चलने से संपीड़न बल का उत्पन्न होना तथा अवसादों में वलन, भ्रंशन, क्षेपण आदि का उत्पन्न होकर पर्वतों का निर्माण करना।

(4) ताप ह्रास के कारण धाराओं का समाप्त होना तथा पर्वत-निर्माण चक्र का समाप्त होना।

कुछ विद्वान होम्स के मत से सहमत नहीं हैं। उनको सन्देह है कि अधोस्तर में संवाहनी धाराओं का अस्तित्व है या नहीं और यदि है भी तो क्या वह इतनी शक्तिशाली हैं कि इतने विशाल तलछट और महाद्वीपीय खण्डों को अपने साथ बहा ले जाकर इतने विशाल पर्वतों का निर्माण कर दे।

विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 6 का अवलोकन करें।

पर्वत निर्माण की अवस्थाएं
(Phases of Mountain Building)

अधिकांश विद्वान इस मत से सहमत हैं कि पर्वतों का निर्माण भू-अभिनतियों में हुआ जो कि तीन अवस्थाओं में सम्पन्न हुआ :

(i) भू-अभिनति में अपवाद निक्षेप की व्यवस्था (Period of Lithogenesis)

(ii) पर्वत निर्माण की अवस्था (Period of Orogenesis)

(iii) पर्वतों के अपरदन प्रारम्भ की अवस्था (Period of Gliptogenesis)

(i) भूअभिनति में अवसाद निक्षेप की अवस्था (Period of Lithogenesis)

इस अवस्था में भू-अभिनति का निर्माण होता है। नदियां उथले सागरों में अवसाद की अपार राशि लाकर निक्षेपित कर देती हैं जिसके भार के कारण सागर तल में धंसाव प्रारम्भ हो जाता है। स्टीअर्स के अनुसार भू-अभिनति उन लम्बे तथा अपेक्षाकृत संकरे सागर को कहते हैं जिनकी तली निक्षेप के कारण नीचे को धँसकती जाती है। इसके अतिरिक्त अलरिन तथा मॉरगन की मान्यता है कि भू-अभिनति का निर्माण एवं उसका तलछट से भराव स्पष्ट रूप में उसी स्थान पर वलित श्रेणियों के निर्माण हेतु आवश्यक पूर्वाभास है।

भू-अभिनति की तली के नीचे धंसने का कारण

(क) कुछ विद्वानों के अनुसार धरातल के तनावपूर्ण स्थान की लम्बाई बढ़ती है और मोटाई घटती जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे रबर की डोरी को खींचने से होती है। मोटाई

घटने के कारण धरातल का निर्बल भाग इतना पतला हो जाता है कि वह भार से नीचे को लचक जाता है और इस प्रकार भू अभिनतियों का जन्म होता है। हिमालय, एल्प्स तथा एप्लेशियन पर्वतमालाओं के सूक्ष्म निरीक्षण से यह धारणा सत्य प्रतीत होता है।

(ख) कुछ विद्वानों के अनुसार भिचाव के कारण धरातल के कुछ भाग नीचे धंस जाते हैं और कुछ ऊपर उठ जाते है। ऊपर उठे भागों से अपरदन द्वारा अवसाद नीचे बैठते हुए भागों में निक्षेपित होता रहता है। एक ओर बढ़ते हुए भिचाव के कारण धंसता हुआ भाग अधिकाधिक धंसता जाता है और दूसरी ओर अवसाद के निक्षेप से भरता जाता है।

(ग) होम्स के अनुसार अधोस्तर में संवाहनी धाराओं के कारण भू-अभिनतियों का निर्माण होता है।
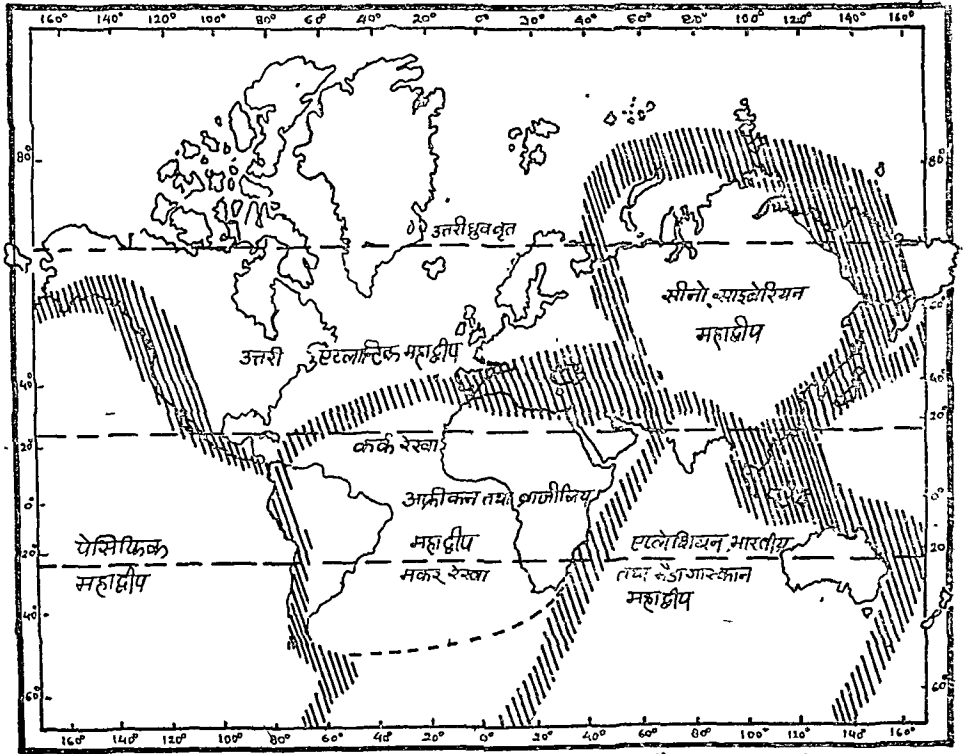
चित्र 9·12 संसार में भू-अभिनति वितरण (हॉग के अनुसार)

कोवर के अनुसार तीन प्रकार की अभिनतियां होती हैं जो कि निम्न प्रकार हैं :

(1) एम्फीबोलाइट की मध्यवर्ती परत के नीचे से मैग्मा के बह जाने से सागर में अवतलन प्रारम्भ हो जाता है जिसके फलस्वरूप भू अभिनति का निर्माण होता है। भू-गर्भिक काल की पश्चिमी कार्डिलेरा की भू-अभिनतियां तथा वर्तमान काल की टस्मानियां, अराकुरा, कोरल, वैडल (Weddell) तथा रोस सागर (Ross-sea) भू-अभिनतियां इसी प्रकार की हैं।

(2) दूसरे प्रकार की भू-अभिनतियों का निर्माण सियाल की परत के अत्यन्त पतले एवं दुर्बल हो जाने से हुआ। संवाहनी धाराओं के चलने से तनाव पैदा होता है तथा तनावपूर्ण

क्षेत्र दो भागों में विभक्त हो जाता है। इन दो कठोर भागों के मध्य लम्बा, उथला व संकरा सागर निर्मित हो जाता है जिसे भू अभिनति कहते हैं।

(3) तीसरी प्रकार की भू-अभिनति महासागरों एवं महाद्वीपों के संगम स्थान पर निर्मित होती हैं। अधोस्तर में चलने वाली विपरीत दिशा से आने वाली संवाहनी धाराएं संगम स्थान पर मिलती हैं। संपीड़न के कारण शैल कायान्तरित होकर भार के फलस्वरूप अवतलित हो जाते हैं तथा भूअभिनतियों का निर्माण हो जाता है।

(ii). पर्वत निर्माण की अवस्था (Period of Orogenesis)

भू-अभिनति में अवसाद के निक्षेप की सीमा होती है। इस सीमा तक पृथ्वी का सन्तुलन स्थापित रहता है। किन्तु यदि अवसाद सीमा से अधिक निक्षेपित हो जाता है तो सन्तुलन की पुनः व्यवस्था लाने के लिए भू-गर्भिक हलचल प्रारम्भ हो जाती है जिसके कारण भू-अभिनति के पार्श्विक भागों पर क्षैतिज दबाव पड़ने लगता है। क्षैतिज दबाव के फलस्वरूप भू-अभिनति का निक्षेपित अवसाद वलित पर्वतों के रूप में ऊपर आ जाता है। दबाव की तीव्रता के साथ-साथ भू-अभिनति संकरी होती जाती है तथा वलनों में जटिलता आने लगती है। टरशरी हलचल द्वारा निर्मित एल्प्स पर्वत वलनों की जटिलता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(iii) पर्वतों के अपरदन प्रारम्भ की अवस्था (Period of Lithogenesis)

पर्वतों के निर्माण के साथ-साथ आनच्छादन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप पर्वतों का क्षय प्रारम्भ हो जाता है। क्षयात्मक क्रिया के द्वारा विभिन्न प्रकार के भू-आकारों का निर्माण होता है।
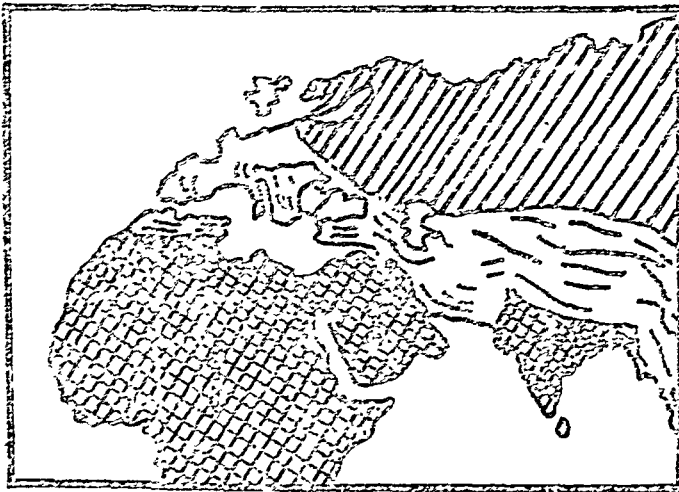
चित्र 9·13 पुराने विश्व में टरशरी पर्वतों की उत्पत्ति

भू अभिनतियों की उत्पत्ति और विकास के बारे में सिद्धान्त—भू-अभिनतियों की उत्पत्ति और विकास के बारे में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं—

1. डाना तथा हाल का सिद्धान्त (Concept of Dana and Hall)

सर्व प्रथम डाना महोदय ने सन् 1873 में लम्बे, संकीर्ण तथा निरन्तर धंसते हुए

उथले सागरों को भू-अभिनति नाम से सम्बोधित किया। भू-अभिनति सिद्धान्त डाना तथा हाल के सम्मिलित प्रयास का प्रतिफल है किन्तु हाल ने सिद्धान्त को संशोधित कर इसका पूर्ण विकास किया। उन्होंने वलित पर्वतों तथा भू-अभिनतियों के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया

चित्र·9·14 अल्पस पर्वत-निर्माण की अवस्थाएँ

तथा वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पर्वतों का जन्म उथले सागरों में हुआ है। उनके अनुसार भू-अभिनतियों में जैसे-जैसे शिलाचूर्ण भरता गया वैसे ही वैसे भार के कारण उनकी तली झुकती गई और इस प्रकार सागरीय तली के निमज्जन (Submergence) द्वारा महान पर्वतमालाओं का उत्थान हुआ।

2. हाग का सिद्धान्त (Concept of Haug)

हाग महोदय ने हाल तथा डाना के सिद्धान्त का आंशिक समर्थन करते हुए बताया कि भू-अभिनति लम्बी तथा संकरी अवश्य थी किन्तु उथली न होकर गहरी थी। हाग ने द्रविड़ अथवा पुराजीवी महाकल्प के समस्त लम्बे तथा संकीर्ण समुद्री प्रदेश मानचित्र द्वारा प्रदर्शित किए जो कि वर्तमान में सबसे ऊंची पर्वत श्रेणियां हैं। उन्होंने कल्पना की कि मध्य पुराजीवी महाकल्प में पृथ्वी पर पांच अत्यन्त कठोर महाद्वीप थे, जैसे–1. प्रशान्त, 2. उत्तरी अटलांटिक, 3. अफ्रीकन-ब्राजीलियन, 4. सिनो-साईबेरियन तथा 5. आस्ट्रेलियन-इण्डियन-मैडागास्कान इन महाद्वीपों को भू-अभिनतियां प्रथक करती थीं। इन भू-अभिनतियों में

टैरीजिनस (Terrigenous)[1], नेरीतिक (Neritic)[2] तथा बेथियालिक (Bathyalic)[3] पदार्थ क्रमानुसार एक दूसरे पर निक्षेपित होते रहे। हाग के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि भू अभिनति विकास की सभी अवस्थाओं को पूरा करे। भू-अभिनति में निक्षेपण होते ही उन्मज्जन हो सकता है। उन्मज्जित भाग को समतल स्थापित शक्तियां अपरदित कर देती हैं। अतः भू अभिनति में पुनः निक्षेपण प्रारम्भ हो जाता है जिसके फलस्वरूप धंसाव की क्रिया चालू हो जाती है। इस प्रकार भू-अभिनतियों के अनेकों बार निमज्जन तथा उन्मज्जन के पश्चात् ही पर्वत-निर्माण कार्य सम्भव हो सका।

शूकर्ट का मत (Concept of Schuchert)

शूकर्ट के अनुसार तीन प्रकार की अभिनतियां होती हैं :

(1) **एकल भू-अभिनतियां** (Mono-geosynclines)–शूकर्ट के अनुसार अप्लेशियन भू-अभिनति अकेली भू-अभिनति थी। यह संकरी तथा लम्बी थी जिसका तल शिला चूर्ण के भार से निरन्तर नीचे धंसता गया। हाल तथा डाना ने भी इसी प्रकार की भू-अभिनति की कल्पना की थी।

(2) **बहु भू-अभिनतियां** (Poly-geosynclines)—इस प्रकार की भू-अभिनतियां विशेष रूप से लम्बे, संकरे परन्तु एकल-अभिनतियों से अधिक चौड़े सागरों में हुईं। यह महाद्वीपों से घिरी हुई थीं। शिला चूर्ण के भार से इनमें वलन उत्पन्न हुआ। वलन के
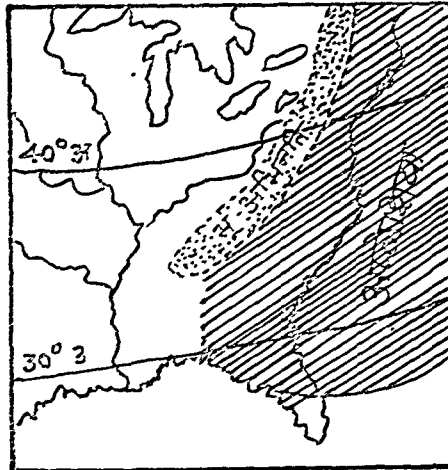
चित्र 9·15 आप्लेशियन भू-अभिनति
(एकल भू अभिनति)

उभरे भागों में पर्वत तथा नीचे धंसे भागों में घाटियों का निर्माण हुआ। इस प्रकार अनेक अभिनतियों से समानान्तर पर्वत श्रेणियां निर्मित हुईं। राकी पर्वत इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। इस प्रकार की भू-अभिननियों का इतिहास अत्यन्त विषम एवं जटिल रहा है।

---

1. भूमि से उत्पन्न पदार्थ।
2. भूमि के निकट गहरे सागरों से संबद्ध।
3. अधिक गहरे सागरों के पदार्थ।

(3) **मध्य भू-अभिनति** (Meso-geosyncline)—इस प्रकार की भू-अभिनतियां विकास के क्रम में एक से अधिक बार अवस्थाएँ प्राप्त कर चुकी हैं। यह कई बार बनी और बिगड़ी। इनकी स्थिति दो कठोर भू-खण्डों के मध्य मानी जाती है, जैसे **टेथिस सागर** जो कि
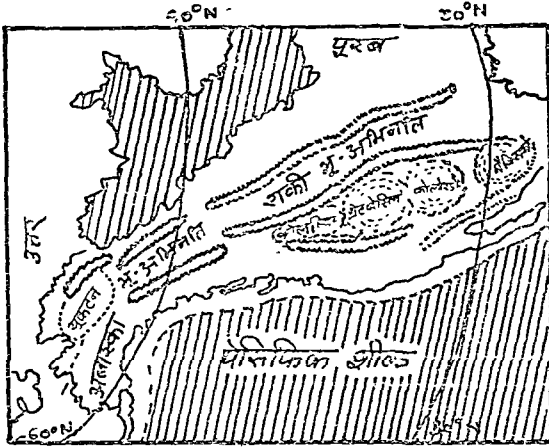
चित्र 9·16 रॉकी भू-अभिनति (बहु भू-अभिनति)

अंगारा तथा गोण्डवाना भू-खण्डों के मध्य स्थित था एक सुन्दर उदाहरण है। इसमें हिमालय का जन्म हुआ। इन भू-अभिनितियों का इतिहास भी अत्यन्त जटिल होता है।
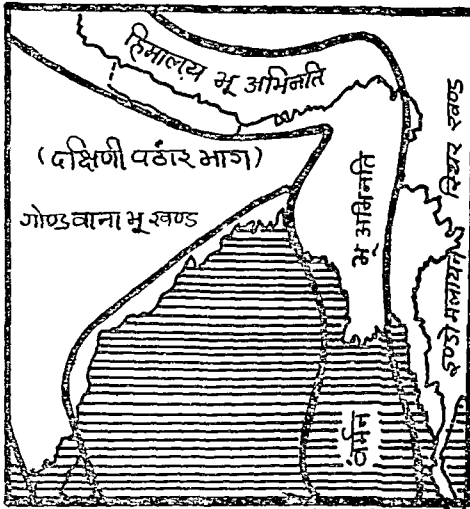
चित्र 9·17 हिमालय की भू अभिनति
(मध्य भू-अभिनति)

4. इवान्स का मत (Concept of J. W. Evans)

इवान्स महोदय ने भू-अभिनतियों को तलछट का धंसाव क्षेत्र (Area of Subsiding sedimentation) के नाम से पुकारा है। इनकी आकृतियों में अन्तर तो होता ही है, किन्तु विकास क्रम में भी अपना रूप बदलती रहती हैं। इस प्रकार की भू-अभिनतियों की स्थिति निम्न स्थानों पर होती है—

(1) दो महाद्वीपों के मध्य,
(2) किसी विशाल नदी के मुहाने पर,
(3) पर्वत या पठारों के निकट मैदान में,
(4) महाद्वीपों के निकट सागर में ।

इवान्स के अनुसार भू-अभिनतियों में शनैः-शनैः शिलाचूर्ण निक्षेपित होता रहता है जिसके कारण वह सियाल (Sial) के कोमल भाग में अधिक गहराई तक धंस जाता है । अत्यधिक भार उत्पन्न हो जाने के कारण दोनों ओर से भिचाव और तनाव उत्पन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप भू-अभिनति के दोनों किनारे एक दूसरे के समीप आना आरम्भ कर देते हैं । अत: पदार्थ नीचे की अपेक्षा ऊपर की ओर उठकर मुड़ता हुआ पर्वतों का रूप ग्रहण कर लेता है । इस प्रकार पर्वत निर्माण की क्रिया तीन अवस्थाओं में सम्पन्न होती है—1. निक्षेप तथा अवतलन की अवस्था, 2. भिचाव एवं तनाव की अवस्था और 3. भूअभिनति के पतन की अवस्था ।

होम्स का मत (Concept of A. Holmes)

होम्स ने तीन प्रकार की भू-अभिनतियों की कल्पना की है जिनको समझने के लिए पृथ्वी के अधोभाग में स्थित तीन प्रकार के भू-स्तरों को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है । उनके अनुसार यह भू-स्तर निम्न प्रकार हैं—

(1) ग्रेनोडायोराइट की ऊपरी परत (Upper layer of Granodiorite)—सबसे ऊपर ग्रेनोडायोराइट की परत 10 से 12 किमी. मोटी है ।

(2) एम्फीबोलाइट की मध्यवर्ती परत (Intermediate layer of Amphibolite)—ऊपरी ग्रेनोडायोराइट तथा निचली एक्लोजाइट की परत के मध्य 20 से 25 किमी. मोटी एम्फीबोलाइट की परत है ।

(3) एक्लोजाइट की निचली परत (Lower layer of Eclozite)—सबसे नीचे एक्लोजाइट की परत है जो कि पृथ्वी का अधोस्तर (Substratum) कहलाता है । अधोस्तर के इस भाग में पदार्थ तरलावस्था में रहता है ।

ऊपरी सियाल की परत महासागरों के नीचे नहीं पाई जाती । मध्यवर्ती तथा निचली परतों का विस्तार महाद्वीपों एवं महासागरों दोनों के ही नीचे पाया जाता है किन्तु यह महासागरों के नीचे अधिक मोटी होती है । धरातल की ऊपरी परत रवेदार शैलों से निर्मित है जबकि निचली परतें ग्लासी (Glassy) हैं ।

हिमालय की उत्पत्ति (Origin of Himalaya)

भारत के उत्तर में तलवार की भाँति पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग 2400 किमी. लम्बी तथा 240 से 320 किमी. चौड़ी पर्वत शृंखला हिमालय के नाम से विख्यात है । संसार का सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट (Everest) 8848 मीटर ऊँचा है । प्राय: इस मत से सभी महमत हैं कि हिमालय का निर्माण टैथिस सागर की भू-अभिनति से हुआ । हिमालय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने मत व्यक्त किए हैं जिनमें एडवर्ड स्वेस (E. Suess), सिडनी बुरार्ड (S.Burrard), आरगण्ड (E. Argend), वेडल (Weddle) तथा फाक्स (Fox) आदि हैं । इसके अतिरिक्त प्रो. वाडिया (D.N. Wadia), पिलग्रिम और वेस्ट (C. E. Pilgrim & W. D. West, 1928), आढन (J. B. Auden, 1933) आदि विद्वानों ने हिमालय के विभिन्न भागों का विस्तृत वर्णन किया है ।

स्वेस महोदय के अनुसार मध्यजीवी महाकल्प (Mesozoic Era) के क्रिटैशियस युग (Cretacious period) में दो विशाल महाद्वीपों—उत्तर में लारेंशिया तथा दक्षिण में गोण्डवाना के मध्य टैथिस सागर भू-अभिनति के रूप में पूर्व से पश्चिम की ओर फैला हुआ था। भूमध्यसागर टैथिस सागर का ही अंग है। दोनों महाद्वीपों से टैथिस सागर में करोड़ों वर्षों तक तलछट निक्षेपित होता रहा। अज्ञात भूगर्भिक हलचलों के कारण टैथिस सागर के तल में उत्थान होने लगा जिसके फलस्वरूप गोण्डवाना महाद्वीप खण्डित हो गया। इस प्रकार अफ्रीका, मैडागास्कर एवं आस्ट्रेलिया भारतीय प्रायद्वीप से प्रथक हो गए तथा हिन्दमहासागर का जन्म हुआ। इस हलचल के फलस्वरूप टैथिस सागर के उत्तर में अंगारा भू-खण्ड एवं दक्षिण में भारतीय प्रायद्वीप विद्यमान रहे।

टैथिस सागर में दोनों ओर से तलछट का निक्षेप होता रहा जिसके कारण उस भू-अभिनति में दाब और भार के कारण अवसादों में संपीड़न बल उत्पन्न हुआ, पृथ्वी के संकुचन के कारण ज्यों-ज्यों अंगारा तथा गोण्डवाना भू-खण्ड समीप आते गए त्यों-त्यों संपीड़न बल बढ़ता गया। इस प्रकार इस बल के कारण निक्षेपित अवसादों में वलन, क्षेपण तथा भ्रंशन के फलस्वरूप हिमालय का निर्माण हुआ। वर्तमान में हिमालय अपने यौवन काल से गुजर रहा है। इसका जन्म लगभग दो करोड़ वर्ष पूर्व हुआ था। किन्तु उसकी दक्षिणी सीमान्ती पर्वतमाला 'शिवालिक' का जन्म तो लगभग 25-30 लाख वर्ष पूर्व ही हुआ था।
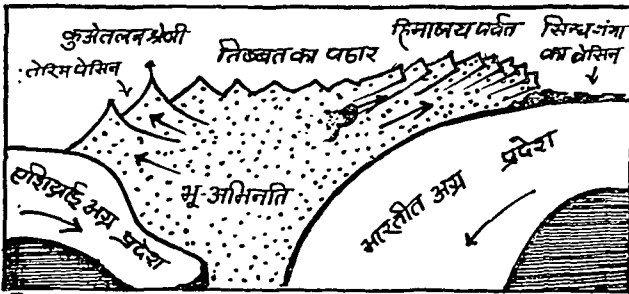
चित्र 9·18 हिमालय की उत्पत्ति (कोबर के आधार पर)

इस प्रकार हिमालय पृथ्वी का सबसे तरुण पर्वत है। शायद इसीलिए वह सबसे ऊंचा भी है। वर्तमान में भी भारतीय प्रायद्वीप लगभग एक या दो सेन्टीमीटर प्रतिवर्ष की गति से उत्तर की ओर विस्थापित हो रहा है जिसके कारण आज भी हिमालय उठ रहा है और बार-बार कांप रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Baily, E. (1935), Tectonic Essays, mainly Alpine (Oxford Clarendon Press, London).
2. Billings, M. P. (1960), *Diastrophism and Mountain Building* (Bulletin of Geological Society of America, Vol. 71).
3. Burrard, Sir S. and Heron, A. N. (1934), The Geography and Geology of the Himalaya Mountains, (Second Edition).

4. Collet, L. W. (1927). The Structure of the Alps (Adward Arnold & Co., London).
5. Finch & Trewartha (1949), Physical Elements of Geography (Mc Graw Hill Book Co., Inc., New York).
6. Holmes, A. (1956), Principles of Physical Geology (English Language Book Society, London).
7. James, Geikei (1914), Mountains, Their Origin, Growth and Decao (D. Van Nostrand Co., Inc., New York).
8. Lobeck, A. K. (1939), Geomorphology (McGraw Hill Book Co., Inc., New York).
9. Longwell, C. R., Richard, R. F. (1962), Introduction to Physical Geology (John Wiley and Sons, New York).
10. Peel, R. F. (1960), Physical Geography (Cambridge University, London).
11. Randhawa, M. S. (1947), The Birth of the Himalayas (The National Information and Publications Ltd., Bombay).
12. Salisbury, R. D. (1967), Physiography (Hindi Translation), Laxmi Narain Agrawal, Hospital Road, Agra).
13. Steers, J. A. (1979), The Unstable Earth (Kasilyani Publishers, New Delhi).
14. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography (John Wiley and Sons, Inc., New York).
15. Wadia, D. N. (1976), Geology of India (Tata McGraw Hill Publishing Co. Delhi).
16. Wilson, J.T., ed. (1970), Continents Adrift, Readings from Scientific American (W. H. Freeman, San Fransisco, p. 112).
17. Worcestor, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology (D. Van Nostrand Co., Inc., New York).
1. Wooldridge, S. W. & Morgan, R. S. (1959), An Outline of Geomorphology (Longman Green and Co., London).

10

पठार और मैदान
[Plateaus and Plains]

स्थलमण्डल के भू-आकारो से प्रथम श्रेणी में पठार एवं द्वितीय श्रेणी में मैदान हैं। इनकी उत्पत्ति पृथ्वी की आन्तरिक हलचलों—पटलविरूपण से मानी जाती है। पठार प्रायः विशाल पर्वत श्रेणियों के किनारे या मध्य पाये जाते हैं जबकि मैदान महाद्वीपो के मध्य या तटीय भागों में मिलते है।

पर्वत के पश्चात् पठारों का महत्वपूर्ण स्थान है। धरातल का वह विस्तृत तथा अपेक्षाकृत समतल भाग जो अपने आसपास के क्षेत्र की तुलना में विशेष रूप से ऊँचा पठार कहलाता है। पठार के ऊपर का भाग समतल और किनारे तीव्र ढाल वाले होते हैं। इसे **उच्च समभूमि** की संज्ञा भी दी गई है। ऊँचाई में यह पर्वतों से छोटा तथा मैदानों से ऊँचा होता है। सामान्यतः पठार समुद्र की सतह से 300 से 1000 मीटर तक की ऊँचाई के होते हैं। कुछ पठार 300 मीटर से नीचे तथा कुछ 1000 मीटर से ऊँचे होते है। प्रो. फिन्च ने धरातल से 150 मीटर से अधिक ऊँचे चपटे आकार के भू-भागों को पठार की परिभाषा दी है। पठार बिना किसी विरूपण के एक बिस्तृत सपाट क्षेत्र है जो आस-पास की भूमि से ऊपर उठ गये है।

वारसेस्टर के अनुसार पठार का धरातल मैदान की भाँति सपाट, लहरदार या पहाड़ की तरह या फिर नदियों तथा हिमानियों द्वारा इतना कटा-फटा हो सकता है कि पठार के मूल लक्षणों को पहचानना कठिन होता है। पठार के निर्माण के साथ-साथ अपरदन चक्र सक्रिय हो जाता है जिसके फलस्वरूप पठारों में अनेक संकरी और गहरी घाटियों का निर्माण हो जाता है तथा कहीं-कहीं इन पर छोटी पहाड़ियाँ होती हैं। सामान्यतः पठारो का धरातल असमान और ऊबड़-खाबड़ होता है।

पठारों को निर्माण विधि के अनुसार—निक्षेप जन्य, अपरदन जन्य तथा पटल विरूपणी पठार, भौगोलिक स्थिति के अनुसार–अन्तरपर्वतीय, पर्वतपदीय, महाद्वीपीय तथा तटीय पठार, आकृति के अनुसार—गुम्बदाकार, विच्छेदित, सीड़ीनुमा तथा पुनर्युवित पठार, संरचना के अनुसार—अनुप्रस्थ शैल-स्तर, बैसाल्ट लावा तथा प्राचीन स्फाटिक शैलों के पठार तथा अपरदन चक्र के अनुसार—तरुण, प्रौढ़ तथा जीर्ण पठारों में वर्गीकृत किया गया है।

संसार के प्राचीन पठार चित्र 9.7 अध्याय 9 में दिखाये गये हैं।

निर्माण विधि के अन्तर्गत निक्षेपजन्य पठारों की विभिन्न श्रेणियाँ हैं जिनमें मुख्यतः निक्षेपजन्य, जलकृत, हिमानी, पवन व लावाकृत हैं। अपरदन जन्य पठारों में नदी, हिमानी, पटलविरूपण से बने पठार आते हैं।

नदियों द्वारा निक्षेपित तलछट अधिक दाब के कारण धीरे-धीरे कठोर शैलों का रूप ले लेती हैं। पृथ्वी की आन्तरिक सम्बद्ध हलचल के कारण निक्षेपित स्थानों पर उत्थान हो जाता है जिससे निकट के क्षेत्रों की सतह से ऊपर जलकृत पठारों का निर्माण होता है। विन्ध्याचल पठार ऐसे ही बना है।

हिमानी भी निक्षेप द्वारा भू-भागों को ऊँचा करके छोटे-छोटे पठारों का निर्माण करती है। पवन एक स्थान से दूसरे स्थान पर मिट्टी तथा बालू के सूक्ष्म कण उड़ा ले जाती है जो शनैः-शनैः जमकर कठोर शैलों के रूप में पठार बन जाते हैं।

कुछ पठारों का निर्माण ज्वालामुखी के उद्गार से निकले लावा के कारण हुआ है। विन्ध्याचल में मालवा का पठार इसी श्रेणी में आता है।

अपरदन जन्य पठारों में नदी शनैः-शनैः ऊँची पर्वत श्रेणियों को काट-काट कर सपाट कर देती है। कालान्तर में नदियों द्वारा अपरदित होकर पहाड़ पठारों में परिवर्तित हो जाते हैं जैसे भारत का दक्षिणी पठार।

इसी भाँति बड़ी-बड़ी हिमानियाँ पहाड़ी भागों को घर्षण द्वारा अपरदित कर सपाट सतह में ले आती हैं जो पठार का रूप ग्रहण कर लेते हैं। गढ़वाल के पठार ऐसे ही बने हैं।

पटलविरूपणी पठार संसार के वृहत तथा ऊँचे पठारों का निर्माण पटलविरूपणकारी बल अर्थात् ऊर्ध्वाधर या क्षैतिज संचलन के फलस्वरूप ही हुआ है। अन्तरपर्वतीय, पर्वतपदीय, महाद्वीपीय, गुम्बदाकार आदि सभी पठार इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

भौगोलिक स्थिति के अनुसार पठारों के चार वर्गीकरण किये जा सकते हैं—

(1) अन्तरपर्वतीय पठार चारों ओर से पर्वतों से घिरे रहते हैं। प्रायः संसार के सर्वोच्च एवं वृहत पठार इसी श्रेणी में आते हैं। आकार में यह अत्यन्त जटिल होते हैं। भूसन्नति के किनारे पर पर्वत श्रेणियों के निर्माण के साथ मध्य पिण्ड के ऊपर उठ जाने से
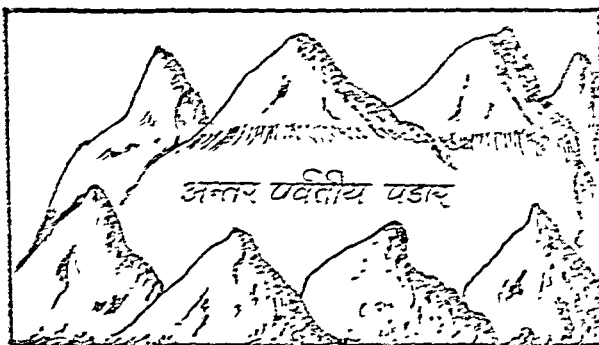
चित्र 10·1 अन्तर पर्वतीय पठार

इनकी संरचना होती है। तिब्बत, कोलम्बिया, मंगोलिया, तारिम आदि पठार अन्तरपर्वतीय पठार हैं। तिब्बत का पठार 6000 मीटर ऊँचा तथा लगभग 20 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में विस्तृत है।

(2) पर्वतपदीय पठार के एक ओर पर्वत तथा दूसरी ओर मैदान या समुद्र होते हैं। पर्वतों के आधार के साथ जुड़े होने के कारण ये पर्वतपदीय कहलाते हैं। मैदानों की ओर इनका तीव्र ढाल होता है। दक्षिणी अमेरिका में एण्डीज पर्वत से जुड़ा पैटेगोनिया पठार
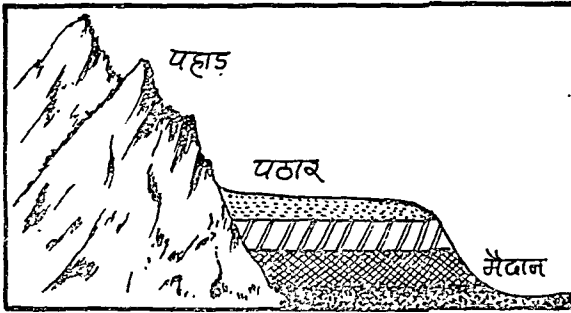
चित्र 10·2 पर्वत पदीय पठार

उत्तरी अमेरिका का कोलोरेडो पठार तथा पीडमॉन्ट पठार और भारत में शिलांग का पठार पर्वतपदीय पठार हैं।
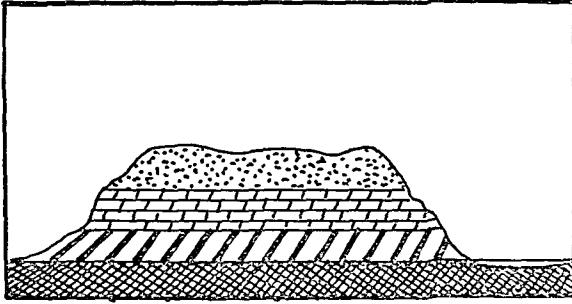
चित्र 10·3 महाद्वीपीय पठार

(3) महाद्वीपीय पठारों का विस्तार इतना अधिक होता है कि वे समस्त देश या महाद्वीप पर फैले होते हैं। सागरीय तट या मैदानों से यह स्पष्ट ऊँचे उठे हुए दृष्टिगोचर
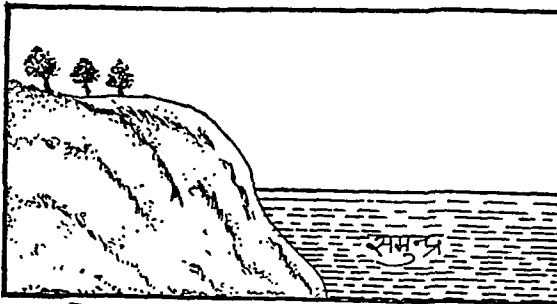
चित्र 10·4 तटीय पठार

होते हैं। दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी भारत, अरब, स्पेन, ग्रीनलैण्ड तथा अन्टार्कटिक के पठार इसी श्रेणी में आते हैं।

(4) समुद्र तट के किनारे के पठारों को तटीय पठार कहते हैं। इनका आधार समुद्र में डूबा हुआ होता है तथा ऊपरी भाग तट के निकट फैला हुआ होता है। भारत के **कारोमण्डल तट का पठार** तथा चीन का **प्रायद्वीपीय पठार** इसी श्रेणी में आते हैं।

आकृति के अनुसार भी पठारों का तीन तरह का वर्गीकरण संभव है :

(1) गुम्बदाकार पठार में ज्वालामुखी उद्गार या वलन की क्रिया द्वारा स्थल का वृहत भाग उभर कर गुम्बद के आकार का हो जाता है। इसका बीच का भाग ऊंचा उठा होता है तथा किनारे के भाग गोलाकार होते हैं। भारत में **छोटा नागपुर का पठार** तथा अमेरिका का **ओजार्क पठार** इसी श्रेणी में आते हैं।

(2) अधिक वर्षा वाले पठारों पर नदियां तीव्रता से गहरी एवं तीव्र ढाल वाली घाटियों का निर्माण कर लेती हैं। फलस्वरूप पठार अत्यन्त कटा-फटा हो जाता है। ऐसे पठारों को विच्छेदित पठार कहते हैं, जैसे स्काटलैण्ड, वेल्स तथा असम के पठार। पठार पर बहने वाली नदियां तंग घाटियों द्वारा अनेक छोटे-छोटे पठारों में विभक्त कर देती हैं। इन छोटे-छोटे पठारों को मेसा कहते हैं।
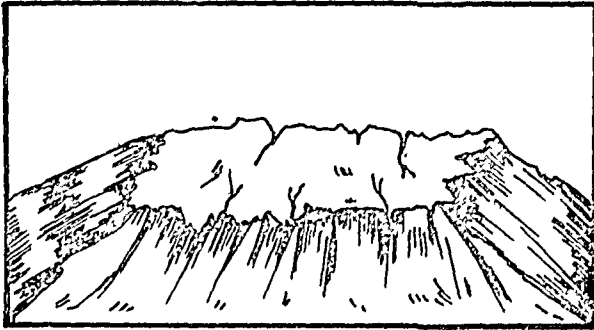
चित्र 10·5 विच्छेदित पठार

(3) सीढ़ीनुमा पठार—नाम के अनुरूप इस प्रकार के पठारों की आकृति सीढ़ीनुमा होती है। ये बीच में ऊंचे तथा चारों ओर का ढाल चौड़ी सीढ़ियों के रूप में होता है। भारत में विंध्याचल पठार इसका अच्छा उदाहरण है।

(4) जीर्णावस्था के पश्चात् यदि पठार में पुन: उभार आ जाता है और उसकी ऊंचाई बढ़ जाती है तो उसे पुनर्युवित पठार कहा जाता है। जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका का **मिसौरी पठार**। इस प्रकार के पठारों पर अपरदन के अनेक चिह्न मिलते हैं।

संरचना के आधार पर वर्गीकरण

पठारों में विद्यमान विभिन्न संरचना की शैलों और उनकी आकृति के आधार पर तीन तरह से वर्गीकरण किया गया है :

क्षैतिज शैल-स्तर के पठार—इस प्रकार के पठारों में पुरानी स्फाटीय शैलों की सतह पर अवसादी शैलों का निक्षेप समानान्तर रूप से कई सौ मीटर तक हो जाता है। परिणामस्वरूप क्षैतिज शैल स्तर के नीचे आधारभूत शैल अदृश्य हो जाते हैं। इस प्रकार के पठरों में कहीं-कहीं दरारें एवं घाटियों का निर्माण हो जाता है किन्तु ऊपर की सतह चौरस और सपाट रहती है। उ. अमेरिका का कोलोरेडो पठार तथा दक्षिणी अफ्रीका का पठार इसी तरह के हैं।

लावा पठारों की संरचना—ज्वालामुखी के दरारी उद्भेदन के कारण लावा के निक्षेप से होती है। लावा की विस्तृत परत के ऊपर परतों का निक्षेप होता जाता है जिसके फलस्वरूप लावा निक्षेपित स्थल-खण्ड अपने आस-पास के क्षेत्र से ऊँचा उठ जाता है। लावा पठार की परतों की मोटाई असमान होती है। लावा की परतों के कारण आधारभूत पृष्ठीय रूप पूर्णतया ढंक जाता है। इस प्रकार के पठार प्रायः ज्वालामुखी क्षेत्रों में मिलते हैं। वेसाल्टिक लावा के ऊँचे और अम्ल लावा के नीचे पठार होते हैं।

दक्षिणी-पश्चिमी **प्रायद्वीपीय भारत** का पठार विश्व का सर्वाधिक विस्तृत वेसाल्टी पठार है। इसका निर्माण क्रिटैशियस युग में लावा प्रवाह के कारण हुआ था। यह लगभग 5.2 वर्ग किमी. क्षेत्र में फैला हुआ है। ऐसा ही **कोलम्बिया का पठार** भी 2.5 वर्ग किलो मीटर क्षेत्र में विस्तृत है। **दक्षिणी अफ्रीका, उत्तरी-दक्षिणी अर्जेन्टाइना,** उत्तरी आयरलैण्ड का **अन्तरिम, एबीसीनिया** के पठार इसी श्रेणी में आते हैं।

प्राचीन स्फाटिक शैलीय पठार—जैसे ही पर्वतों का निर्माण होता है वैसे ही उन पर अपरदन चक्र प्रारम्भ हो जाता है। कालान्तर में पहाड़ अपरदित होकर चौरस उच्च प्रदेश में परिवर्तित हो जाते हैं। यह प्राचीन पर्वतों के अवशेष मात्र हैं, जैसे पश्चिमी आस्ट्रेलिया का पठार, पूर्वी ब्राजील, मध्य अफ्रीका, प्रायद्वीपीय भारत आदि के पठार।

अपरदन चक्र के अनुसार वर्गीकरण

मैदानों की भाँति पठार भी अपरदन चक्र की तीनों अवस्थाओं से पारित होते हैं। लोवेक ने अपरदन की विभिन्न अवस्थाओं को प्रदर्शित करने के लिए तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है—(i) तरुणावस्था, (ii) परिपक्वावस्था तथा (iii) जीर्णावस्था।

(i) **तरुणावस्था** (Youthful stage)—तरुणावस्था में पठार चारों ओर से कगारों से घिरे हुए होते हैं तथा निकट के क्षेत्र से सुगमता से पहचाने जा सकते हैं। चट्टानों की रचना क्षैतिज रूप में होती है। तीव्र ढाल के कारण नदियाँ तेजी के साथ अपरदन करती हैं तथा गहरी और संकरी घाटियों का निर्माण कर लेती हैं। शुष्क प्रदेशों के पठारों में नदियों के उद्गम स्थान पर तंग घाटियों का निर्माण अपेक्षाकृत शीघ्र हो जाता है जबकि आर्द्र प्रदेशों में ऋतु अपक्षय के कारण यह भाग तंग घाटियों के रूप में न कट कर विस्तृत भाग में अपरदित हो जाता है। **कोलोरेडो** के शुष्क पठार पर कोलोरेडो नदी ने लगभग 200 किमी. लम्बी और लगभग 1.6 किमी. गहरी घाटी का निर्माण किया है। यह घाटी **ग्रैण्ड केनयन** के नाम से प्रसिद्ध है। आर्द्र प्रदेशों में वनस्पति के कारण ढालों पर द्रुत गति से कटाव नहीं हो पाता तथा ढालों पर निक्षेप होने से यह अपेक्षाकृत साधारण होते हैं। यदि तरुण पठार पहाड़ों से घिरा होता है तो वह निकट के प्रदेश से नीचा दिखाई देता है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका का इदाहो पठार। निरन्तर अपरदन के कारण पठार की सतह असमान होने लगती है तथा घाटियाँ चौड़ी होने लगती हैं। यह अवस्था तरुणावस्था की समाप्ति की द्योतक है।

(ii) **परिपक्वावस्था** में पठार की ऊपरी सतह अत्यन्त असमान हो जाती है। जलवायु के अन्तर के कारण शुष्क एवं आर्द्र प्रदेशों के पठारों की मौलिक विशेषताओं में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। यदि शैलों की संरचना लम्ववत सन्धियों की होती है तो शुष्क पठारों में नुकीली एवं कोणिक चोटियों का निर्माण हो जाता है। तंग घाटियाँ अधिक चौड़ी

हो जाती हैं तथा उनके खड़े ढाल से होते हैं। पठार के पार्श्व में सीढ़ियों का निर्माण हो जाता है। इसके विपरीत आर्द्र प्रदेशों में पठारों पर गोलाकार चोटियाँ बन जाती हैं तथा
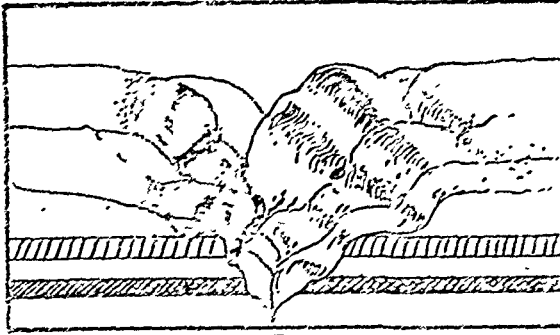
चित्र 10·6 पठार की तरुणावस्था

वृक्षाभ अपवाह प्रणाली का आविर्भाव हो जाता है। अपरदन के कारण क्षैतिज समानान्तर चट्टानों की परतों में चौड़े-चौड़े शिखर, वेदिकाएँ तथा चट्टानी सोपानों का निर्माण हो जाता है। आर्द्र प्रदेशों में इस प्रकार की स्थिति पठार की परिपक्वावस्था की परिचायक है। उ. अमेरिका का अप्लेशियन पठार इस अवस्था का उदाहरण है।
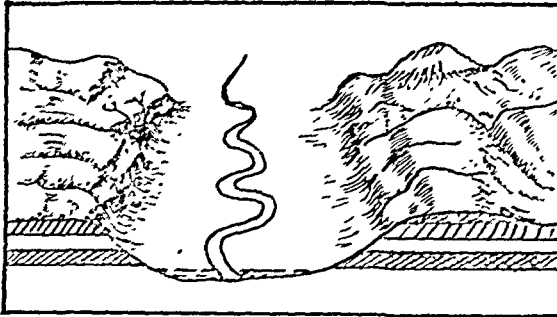
चित्र 10·7 पठार की परिपक्वावस्था

(iii) जीर्णावस्था—यदि अपरदन सतत सक्रिय रहता है तो पठार घिस-घिस कर निम्नस्तर तक पहुँच जाता है जिसे पेनेप्लेन कहते हैं। नदियाँ भी प्रौढ़ावस्था में पहुँच
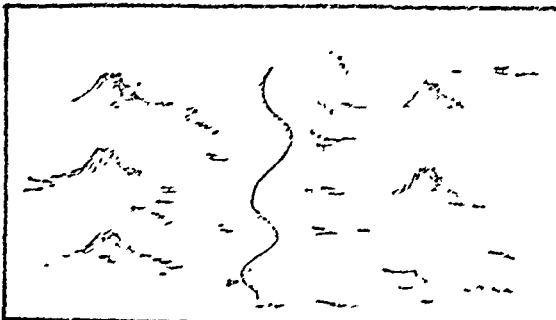
चित्र 10·8 पठार की जीर्णावस्था

जाती हैं। इनकी घाटियाँ उथली, चौड़ी और समतल हो जाती हैं। धरातलीय विषमताएँ बहुत कम हो जाती हैं। कहीं-कहीं पर टीले, मेसा तथा उभार होते हैं। आर्द्र प्रदेशों में

पठारी भागों के टीलों के शिखर गोलाकार हो जाते हैं। वह सभी भूग्राकार पठारी भागों की अवशिष्ट आकृतियाँ हैं जो जीर्णावस्था के लक्षण प्रकट करती हैं।

पठारों की विशेषताएँ

पठार और खनिज सम्पदा—पठार खनिज सम्पत्ति के अतुल भण्डार होते हैं। अधिकांश पठारी भागों में प्राचीन और कठोर शैल मिलते हैं जिनमें खनिज पाये जाते हैं। भारत के प्रायद्वीपीय पठार में मैंगनीज, लोहा, कोयला और अभ्रक प्रचुर मात्रा में मिलते है। संसार के अन्य पठारी भागों जैसे पश्चिमी आस्ट्रेलिया व कनाडा में सोना, दक्षिणी अफ्रीका में सोना, ताँबा व हीरा, ब्राजील में मैंगनीज, सोना व हीरा, यूरोप के पठारी भागों में लोहा और कोयला तथा साइबेरिया के पठार व लीना नदी का सीमावर्ती पठार सोने की खानों के लिए प्रसिद्ध हैं।

पठार और पशु-पालन—पठारी ढालों पर घास प्रायः प्रचुर मात्रा में मिलती है। अतः इन भागों में पशु-पालन व्यवसाय उन्नत अवस्था में पाया जाता है जैसे—अफ्रीका के वेल्ड, आस्ट्रेलिया का पूर्वी पठारी भाग, तुर्की में अनाटोलिया, ब्राजील का पठार, पेटेगोनिया आदि। यहाँ भेड़ तथा बकरियाँ अधिक पाली जाती हैं।

पठार और कृषि—पठारी भागों में कठोर भूमि और पानी के अभाव में कृषि व्यवसाय पिछड़ी अवस्था में पाया जाता है। किन्तु जहाँ लावा निर्मित काली मिट्टी मिलती है वहाँ अच्छी खेती होती है, जैसे—दक्षिण भारत में कपास और उत्तरी अमेरिका में कोलम्बिया के पठार पर गेहूं की खेती होती है। इसी प्रकार इण्डोनेशिया में इन पठारों पर सीढ़ीनुमा खेती होती है।

पठार और यातायात—अधिकांश पठारी भागों का धरातल ऊबड़-खाबड़ होता है। अतः इन भागों में यातायात के सुगम साधन उपलब्ध नहीं हैं जिसके कारण मैदानों की अपेक्षा पठारी भाग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। किन्तु जिन क्षेत्रों में खनिज सम्पदा की बाहुल्यता है,वह अपेक्षाकृत विकसित हो गये हैं।

पठार और जनसंख्या—पठारों पर जनसंख्या का अभाव रहता है। कृषि और यातायात के अभाव में तथा ऊबड़-खाबड़ भूमि के कारण ऊँचाई के साथ-साथ जनसंख्या कम होती जाती है। पठारी भागों में अधिकतर पिछड़ी जातियाँ निवास करती हैं। किन्तु खनिज क्षेत्रों के समीप आधुनिक बस्तियों का निर्माण हो गया है जहाँ जनसंख्या अधिक मिलती है जैसे पश्चिमी आस्ट्रेलिया के पठारी भाग में कालगूर्ली और कूलकार्डी, द. अफ्रीका मे किम्बरले, छोटा नागपुर पठार पर रानीगंज, झरिया, बोकारो तथा उत्तरी अमेरिका में पीडमाण्ट पठार पर पिट्सवर्ग नगर।

मैदान

मानव की सुख-सुविधा एवं आवास की दृष्टि से मैदान प्रकृति का वरदान है। विश्व की 90 प्रतिशत जनसंख्या मैदानों में निवास करती है। ये मानव की सांस्कृतिक गतिविधियों उनके कार्यकलाप, व्यवसाय और सभ्यता के केन्द्र रहे हैं।

फिन्च तथा ट्रिवार्था के अनुसार मैदान शब्द उस सभी स्थल के लिए उपयोग में लाया जाता है जो अपेक्षाकृत नीचा होता है तथा जिसका स्थानीय धरातल समुद्र तट से लगभग 500 फीट (150 मीटर) ऊंचाई से कम होता है। दूसरे शब्दों में धरातल का विस्तृत, समतल अथवा अपरदन के कारण लहरदार भाग जो समुद्र तल से 150 मीटर ऊंचाई के अन्तर्गत होता है, मैदान कहलाता है। किन्तु कुछ मैदान 150 मीटर से भी बहुत नीचे है जैसे हॉलैण्ड का मैदान तथा कुछ बहुत ऊंचे हैं जैसे मिसीसिपी नदी के पूर्वी भाग का मैदान जो 500 मीटर ऊंचाई पर स्थित है। अतः ऊंचाई के आधार पर मैदानों को सामान्यतः वर्गीकृत नहीं किया जा सकता।

द्वितीय श्रेणी के भू-आकारों में मैदान अपनी स्पष्ट एवं सरल आकृति के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इनका धरातल सपाट अथवा लहरदार होता है जो मुलायम मिट्टी के मोटे आवरण से ढंका रहता है। इनका ढाल क्रमिक एवं सरल होता है। अधिकांश मैदान नदियों से लायी हुई मिट्टी के निक्षेप से बनते हैं। नदियां कांप को अपने विस्तृत बहाव क्षेत्र अर्थात् चौड़ी घाटी में जमा कर देती हैं। यही घाटियां मैदान कहलाते हैं। संसार के बड़े-बड़े मैदानों के नाम उस प्रदेश में बहने वाली नदियों के नाम से पुकारे जाते हैं, जैसे भारत में गंगा का मैदान, चीन मे ह्वांगहो का मैदान, मिस्र में नील नदी का मैदान, उत्तरी अमेरिका में मिसीसिपी का मैदान आदि।

मैदानों की उत्पत्ति अनेक कारणों से हुई। भू-पटल पर कुछ गहराई पर ही सागरीय तलछट के मिलने से ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश मैदानों की उत्पत्ति सागर तल के निर्गमन के कारण हुई है जिन पर बाद में नदियों ने अवसाद निक्षेपित कर दिया है। मैदानों की उत्पत्ति के निम्न कारण हैं—

पर्वत निर्माण के समय भू-सन्नति के मध्य का भाग उठ जाता है तथा किनारे के अभिनति भाग को नदियां कालान्तर में निक्षेप से पाट कर मैदान में परिवर्तित कर देती हैं जैसे हिमालय के दक्षिण में भारत का विशाल उत्तरी मैदान।

भूगर्भिक हलचलों के कारण अधिमहाद्वीपीय सागरों की तलहटियों का उत्थान हो जाता है जिनपर नदियां बाद में तलछट निक्षेपित कर देती हैं जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका का ग्रेट प्लेन।

कभी-कभी समुद्र के निवर्तन अथवा पीछे हटने से सागरीय तली सूखकर मैदान में परिवर्तित हो जाती है, जैसे—भारत में कच्छ के रन का क्षेत्र। पर्वत निर्माण के समय दो श्रेणियों के मध्य का भाग वलन क्रिया से अप्रभावित रहकर मैदान का रूप ले लेता है, जैसे हंगरी का मैदान।

मैदानों की संरचना किसी भी उपरोक्त कारण से हुई हो किन्तु उन पर वाह्य बलों का प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण रहता है। नदी, हिमानी तथा पवन निक्षेपात्मक और अपरदनात्मक दोनों ही क्रियाएँ सम्पन्न करती हैं जिससे मैदानों का निर्माण होता है। इन बलों के अतिरिक्त समुद्र तथा ज्वालामुखी क्रियाएं भी मैदानों को जन्म देती हैं।

संरचना विधि के आधार पर मैदानों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया गया है :
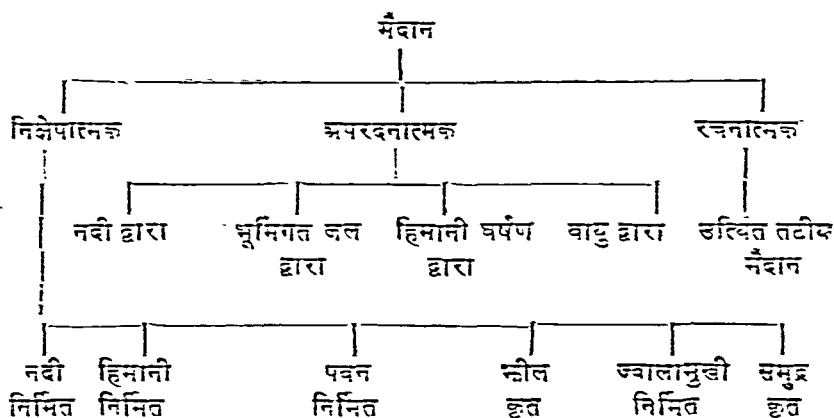
निक्षेपात्मक मैदान कई प्रकार के होते हैं। जो मैदान नदी द्वारा लाई हुई कांप के निक्षेप से बने होते हैं उनको कांप या जलोढ़ मैदान कहते हैं। इनका क्रमिक ढाल होता है तथा यह सामान्यतया समतल होते हैं। यह अत्यन्त उपजाऊ और विस्तृत होते हैं, जैसे—गंगा, सिन्धु, दजला-फरात, ह्वांगहो, मिसीसिपी आदि नदियों के मैदान।

कांप के मैदानों को उनकी स्थिति एवं अवस्था के आधार पर तीन उप-विभागों में विभक्त किया गया है—भाबर के मैदान, बाढ़ के मैदान, डेल्टा के मैदान।

(क) भाबर के मैदान

नदी जैसे ही पर्वतीय क्षेत्र से नीचे उतरती है उसकी भार वहन की शक्ति क्षीण हो जाती है। फलस्वरूप नदी पहाड़ों से लाए हुए तलछट को गिरि पद पर निक्षेपित कर देती है। निक्षेपित पदार्थों में बजरी से लेकर बड़े-बड़े शिलाखण्ड तक होते हैं। यह तलछट ढीला तथा अव्यवस्थित होने के कारण उपजाऊ कृषि योग्य मैदान की रचना नहीं कर पाता।
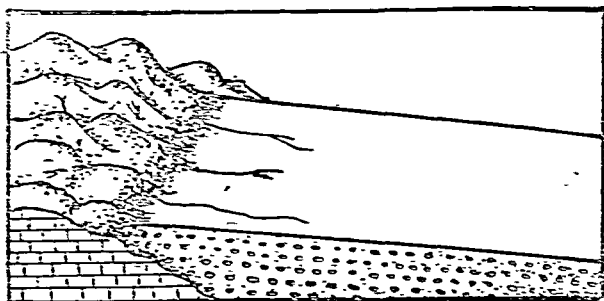
चित्र 10 9 भावर का मैदान

इस प्रकार के गिरिपदीय कम उपजाऊ मैदान को भाबर नाम से सम्बोधित किया गया है। भाबर क्षेत्र में नदियां प्रायः भूमिगत बहती हैं। भारत में शिवालिक पर्वत के सहारे अर्थात् उत्तर प्रदेश व बिहार के उत्तरी भागों में तराई प्रदेश के उत्तर में एक पट्टी है जिसे भाबर कहते हैं। इस प्रदेश में खेतों एवं जनसंख्या का अभाव पाया जाता है किन्तु लम्बी जड़ों वाले ऊँचे-ऊंचे वृक्ष मिलते हैं।

(ख) बाढ़ के मैदान

बाढ़ के समय नदी का अतिरिक्त जल नदी की सीमाओं को लांघ कर मिट्टी को निक्षेपित कर देता है। यह क्रिया बार-बार पुनरावृत होती है तथा कालान्तर में कांप की मोटी परत घाटी के मध्य भाग में जम कर बाढ़ के मैदान की रचना करती है। बाढ़ के मैदान की कांप कुछ सेन्टीमीटर से कई मीटर के मध्य होती है। मिसीसिपी के बाढ़ के
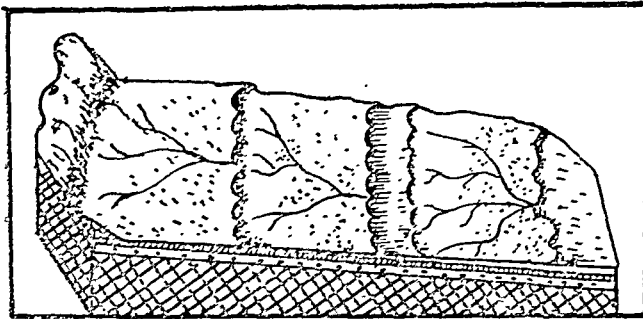
चित्र 10·10(A) काँप का मैदान

मैदान में 30 मीटर मोटी जलोढ़ मिट्टी पाई जाती है। गंगा, सिन्धु, नील, दजला-फरात, ह्वांगहो आदि अनेक नदियों ने बाढ़ के मैदानों का निर्माण किया है। इन मैदानों में नदी द्वारा छोड़ा हुआ मार्ग, प्राकृतिक बांध एवं नदी की अनेकों धाराएं पाई जाती हैं। ये मैदान सपाट एवं विस्तृत होते हैं।
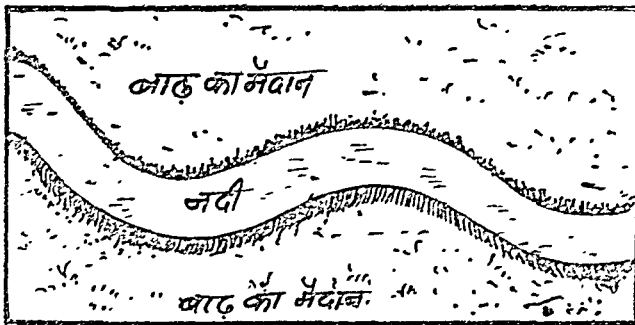
चित्र 10·10(B) बाढ़ का मैदान

(ग) डेल्टाई मैदान

बाढ़ के मैदान से आगे नदी मिट्टी के सूक्ष्म कण बहाकर ले जाती है जिनको समुद्र में जाकर निक्षेपित कर देती है। इस बारीक मिट्टी के निक्षेपण से समुद्र में तिकोने आकार के मैदान की रचना हो जाती है, जिसे डेल्टा कहते हैं। डेल्टा मैदान बाढ़ के मैदानों से मिलते-जुलते हैं किन्तु इनमें नदी की अनेक शाखाएँ इनको विशिष्टता प्रदान करती हैं। यहाँ दल-दल एवं प्राकृतिक बांध मिलते हैं। गंगा का डेल्टा, ह्वांगहो का डेल्टा, नील नदी का डेल्टा, मिसीसिपी का डेल्टा आदि डेल्टाई मैदानों के उदाहरण हैं।

हिमानी निर्मित मैदान—ये हिमानियां द्वारा लाई तलछट से निर्मित होते हैं। इन्हें अपोढ़ मैदान कहते हैं। इन मैदानों में बड़े-बड़े शिलाखण्ड, कंकड़-पत्थर, बजरी, रेत और

बालू आदि पदार्थ होने से ये असंगठित रहते हैं। अतः इन पर कृषि कार्य सुचारु रूप से नहीं हो पाता। उत्तरी जर्मनी तथा न्यू इंगलैण्ड के मैदान इस प्रकार के अपोढ़ मैदान हैं। स्थिति एवं तलछट के आकार और प्रकार के आधार पर अपोढ़ मैदानों को भी वर्गीकृत किया गया है।

हिमानी अपने साथ बड़े-बड़े शिलाखण्डों तथा कंकड़ पत्थरों को लेकर चलती है जो बर्फ पिघलकर अन्तिम हिमोढ़ के रूप में एकत्रित हो जाती है। इसी प्रकार गतिमान हिमानी अपनी तलहटी पर भी तलछट की मोटी परत तलीय हिमोढ़ के रूप में छोड़ती जाती है। कालान्तर में हिमोढ़ का तलछट बिखर कर हिमोढ़ मैदान की रचना करता है। इस प्रकार के मैदान में **गोलाश्म** अधिकांश रूप से होता है तथा मैदान ऊबड़ खाबड़ और दलदली होता है। उत्तरी जर्मनी तथा पोलैण्ड के मैदान इस प्रकार के मैदानों में से हैं।

हिमानी द्वारा निक्षेपित विजातीय तथा असमान आकार के पदार्थों को टिल कहते हैं। इसमें छोटे से लगाकर बड़े सभी प्रकार के पदार्थ होते हैं। टिल मैदान असमतल तथा विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ होता है। इसका धरातल तरंगित होता है। हिमानी पिघलकर पीछे हटती जाती है तथा उसके साथ लाया हुआ पदार्थ जमता जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप टिल मैदान का निर्माण होता है। उत्तरी अमेरिका में इलीनाइज, इओवा तथा इण्डियाना में विस्तृत मैदान इसके उदाहरण हैं।

हिमानी के पिघलने के कारण जल की धाराएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो अपने साथ बारीक मिट्टी, बालू व रेत आदि सूक्ष्म तलछट निक्षेपित कर देती हैं। अतः हिमानी के जलीय-प्रवाह से बने इस प्रकार के मैदानों को हिमानी अपक्षेप मैदान कहते हैं। उत्तरी अमेरिका में मिशीगन, उत्तरी जर्मनी तथा पोलैण्ड में इस प्रकार के मैदान मिलते हैं।
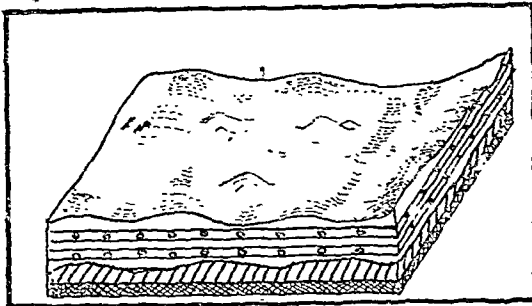
चित्र 10·11 हिमानी निक्षेप कृति मैदान

पवन मरुस्थलीय क्षेत्रों से यांत्रिक अपक्षय द्वारा बालू तथा रेत कणों को उड़ा कर अन्यत्र निक्षेपित कर देती हैं जिससे मैदानों की रचना होती है। ये मैदान दो प्रकार के होते हैं—(क) रेतीले मैदान तथा (ख) लोयस का मैदान।

पवन रेत के मोटे कणों को अधिक दूर तक ले जाने में असमर्थ रहता है अतः मोटे रेतकण मरुस्थलीय भागों में ही एकत्रित होते रहते हैं जिससे तरंगित मैदानों की रचना हो जाती है। इन मैदानों का रूप परिवर्तित होता रहता है। रेत के टीबे तथा उर्मिचिन्ह इन मैदानों की विशेषता होती है। इस प्रकार के मैदान अफ्रीका के सहारा, रूसी तुर्किस्तान के कुम, उत्तरी-मध्य नेब्रास्का (संयुक्त राज्य अमेरिका) व थार मरुस्थलों में पाए जाते हैं।

पवन अपने साथ सैकड़ों किलोमीटर दूर तक रेत के लघु कणों को उड़ा कर ले जाती है। पवन का वेग कम हो जाने पर वह इनको निक्षेपित कर देता है। मध्य एशिया के गोबी मरुस्थल से पवन मिट्टी को उड़ाकर चीन तक ले जाती है। चीन के उत्तरी प्रान्त शेन्सी में लोयस मिट्टी से बना मैदान इसका उदाहरण है। परतविहीन लोयस मिट्टी का यह मैदान अत्यन्त उपजाऊ है, इसकी गहराई 300 मीटर के लगभग है। चीन के अतिरिक्त रूसी तुर्किस्तान तथा मिसीसिपी नदी के किनार भी लोयस के मैदान स्थित हैं।

नदी या हिमानी द्वारा लाई तलछट झीलों में निक्षेपित होती रहती है। कालान्तर में झीलें पट जाती हैं तथा जल सूख जाता है। इस प्रकार झीलों के स्थान पर उपजाऊ मिट्टी के समतल मैदान बन जाते हैं। इस मैदान में मिट्टी एवं बालू की परत पृथक-पृथक
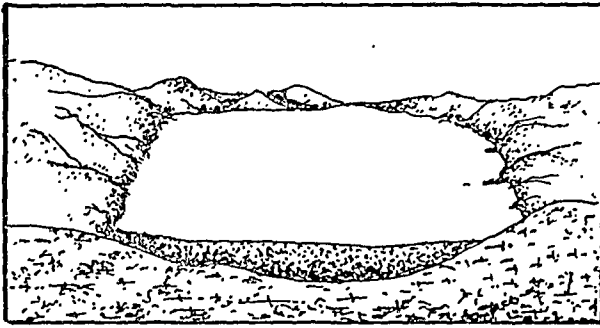
चित्र 10·12 झीलकृत मैदान

विद्यमान रहती है। भारत में काश्मीर की घाटी, उत्तरी पश्चिमी यूरोप, अमेरिका में लेक अगासिज का मैदान, ओन्टेरियों का दक्षिणी भाग, शिकागो का मैदान इस प्रकार बने हैं।

ज्वालामुखी के दरारी उद्गार के कारण लावा निकल कर सैकड़ों वर्ग किमी. क्षेत्र में निक्षेपित हो जाता है। लावा और राख के जमने से ऊँची-नीची भूमि समतल हो जाती
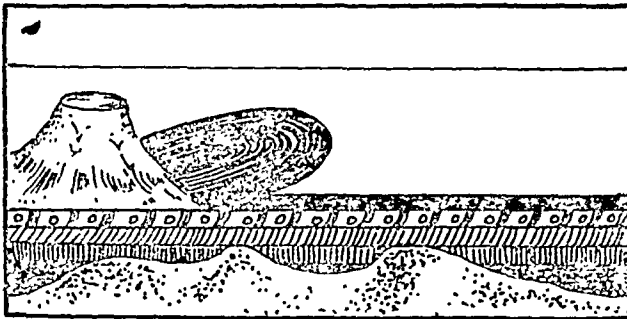
चित्र 10·13 लावा का मैदान

है जो मैदान का रूप ले लेती है। यह मैदान बड़े उपजाऊ होते हैं। इटली में नेपिल्स का मैदान, विसूवियस ज्वालामुखी की देन है। दक्षिणी भारत का पठार, जापान, इटली तथा पश्चिमी द्वीप समूह संयुक्त राज्य अमेरिका का वाशिंगटन क्षेत्र में लावा के अनेक मैदान पाए जाते हैं।

उथले समुद्री तटों के निकट ज्वारीय तरंगें तथा धाराएँ तलछट निक्षेपित करती रहती हैं। कालान्तर में समुद्र का यह उथला भाग रेत, मिट्टी. कीचड़, वनस्पति आदि से पट जाता है तथा मैदान का रूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार के मैदान नीदरलैंड, जर्मनी, डेनमार्क, मैक्सिको की खाड़ी के तट पर पाए जाते हैं।
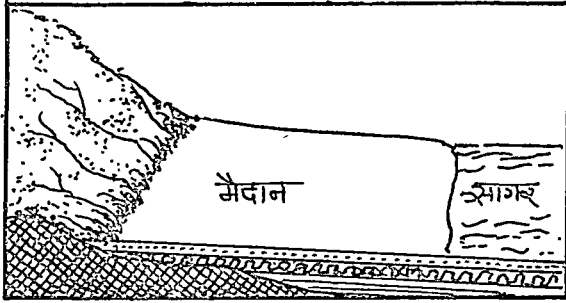
चित्र 10·14 तटवर्ती मैदान

अपरदनात्मक मैदान (Erosional Plains)—धरातल पर परिवर्तन लाने बाह्य बल जैसे जल, हिमानी तथा पवन अपरदन द्वारा मैदनों का निर्माण करते हैं। अपरदनात्मक मैदानों को ध्वंसात्मक मैदान भी कहते हैं। अपरदनात्मक बलों के आधार पर इनको वर्गीकृत किया गया है।

नदी जब अपनी निरंतर अपरदन क्रिया के फलस्वरूप कालान्तर में पर्वतों और पठारों को निम्न स्तर या आधार तल तक ले आती है, तो समप्राय मैदान का निर्माण हो जाता है।

अपरदन की प्रथम अवस्था में सागर सतह से ऊँचा होने के कारण मैदानों में नदियों का तीव्र प्रवाह होता है जिसके कारण नदी संकरी एवं गहरी घाटियाँ बनाती है। जल प्रवाह से मैदान के स्थान पर कट जाने से भूमि अनुपयोगी हो जाती है जिसे उत्खात भूमि (खादर) की संज्ञा दी गई है।

मध्यावस्था तथा अन्तिम अवस्था में नदी की घाटी अधिक चौड़ी और विस्तृत हो जाती है। मैदान का निर्माण नदी की क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) तथा अपक्षय (Weathering) के कारण होता है तथा अपरदन का तलछट मैदान पर बिछ जाता है।

यदि कठोर एवं कोमल परतदार शैलों के झुके हुए स्तर एक दूसरे से मिले हुए हों तो अपरदन के कारण कठोर शैल की अपेक्षा कोमल शैल शीघ्र कट जायगी। अत: कठोर शैलों की श्रेणी लम्बे तथा संकरे कटक के रूप में खड़ी रह जाती है। इस प्रकार कठोर शैलों की श्रेणी का ढाल मैदान के भीतरी भाग में तीव्र और बाहर की ओर झुकावदार होता है। इस प्रकार के मैदान लन्दन तथा परिस बेसिन इसके उदाहरण हैं।

समप्राय मैदानों में भारत का अरावली भूभाग, रूस का मध्यवर्ती भाग, मिसीसिपी की ऊपरी घाटी, पूर्वी इंगलैण्ड, अमेजन बेसिन का दक्षिणी भाग मुख्य है।

चूना, खड़िया, डोलोमाइट या अन्य घुलनशील शैलें भूभिगत जल की निरन्तर क्रिया से घुलती रहती हैं। कालान्तर में धरातल के नीचे विशाल कन्दराओं का निर्माण हो जाता है। विस्तार अधिक होने के कारण कन्दराओं की छतें गिर जाती हैं। घुलन क्रिया से

अनेक विस्तृत खड्डे आपस में मिल जाते हैं। अपरदन की अन्तिम अवस्था में प्रवाह-प्रणाली सतह पर पहुँच जाती है तथा एक ऊबड़-खाबड़ तथा तरंगित मैदान का निर्माण हो जाता है। चूने के इस मैदान को कार्स्ट मैदान कहते हैं। इस मैदान में यत्र-तत्र चट्टानों के अवशेष तथा टीले दिखाई देते हैं। युगोस्लाविया में कार्स्ट प्रदेश, दक्षिणी फ्रांस में कासेस और उत्तरी अमेरिका में फ्लोरिडा तथा यूकाटन तथा भारत में चित्रकूट और अल्मोड़ा के पास विस्तत चूने शैल के मैदान हैं।
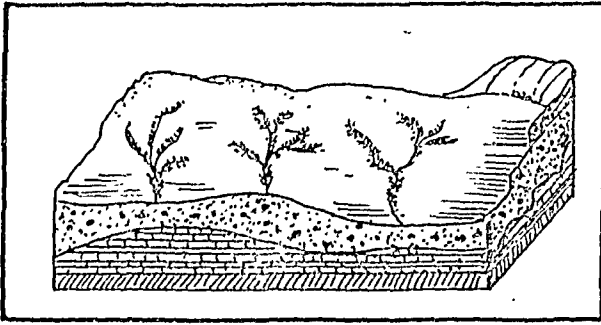
चित्र 10·15 कार्स्ट मैदान

एक ओर गतिमान हिमानी भूमि के ऊँचे भागों को घिस-घिस कर समतल कर देती है। दूसरी ओर अपरदन से प्राप्त तलछट निम्न भागों में निक्षेपित हो जाता है। इस प्रकार हिमानी के दोहरे कार्य से एक ऊबड़-खाबड़ मैदान की रचना हो जाती है। गोलाकार पहाड़ियाँ, चौड़ी घाटियाँ छोटे-छोटे टीले, झील व दलदल हिमानीघर्षित मैदान की विशेषताऐं हैं। इस प्रकार के मैदान कनाडा, फिनलैण्ड तथा स्वीडन मे पाए जाते हैं।

रासायनिक एवं यांत्रिक अपक्षय के कारण मरुस्थलीय भागों की शैलें विघटित तथा वियोजित होकर ढीली हो जाती हैं। तीव्रगामी पवन विघटित शैलों के कण सैकड़ों किलो मीटर उड़ाकर ले जाता है। यह क्रिया निरन्तर सैकड़ों वर्षों तक चलती रहती है। अन्त में शैल घिस-घिस कर मैदान में परिवर्तित हो जाते हैं। सहारा मरुस्थल के रेग, सेरिर तथा हमादा पवन अपरदित मैदान हैं। नीचे भूभागों से वर्षा का जल अस्थाई रूप से एकत्रित हो जाता है। इस प्रकार मैदान प्लाया तथा अस्थाई झील को प्लाया झील कहते हैं। जब पानी भाप बनकर उड़ जाता है तो मैदान की ऊपरी सतह पर नमक की पपड़ी सी जम जाती है।

निक्षेपात्मक तथा अपरदनात्मक मैदानों के अतिरिक्त रचनात्मक या पटलविरूपणी मैदान भी होते हैं। ये मैदान भूगर्भिक हलचलों के अन्तर्गत महादेशीय संचलन के कारण मग्न तट के उनमज्जन के फलस्वरूप निर्मित होते हैं। इस प्रकार के मैदानों को उत्थित तटीय मैदान कहते हैं। भूगर्भिक हलचलों के कारण मग्नतट के किनारे का भाग उत्थित होकर तटीय मैदान में परिर्तित हो जाता है। नदियों द्वारा लाए तलछट के निक्षेप तथा किसी सीमा तक सागरीय निक्षेप के कारण मग्नतट सामान्यतया लगभग समतल स्थिति में रहता है अतः उत्थित होने पर यह समतल तटीय मैदान दृष्टिगोचर होता है। यदि तट के निकट पर्वत विद्यमान होते हैं तो यह मैदान संकरा होता है। किन्तु इसके विपरीत यदि किनारे पर मैदानी भाग है तो ये मैदान चौड़े और अधिक समतल होते हैं। इस प्रकार के मैदानों में छिछली झीलें और दलदल पाया जाता है तथा बालू और कांप की समानान्तर

और लहरदार पट्टियाँ होती हैं। भारत में सौराष्ट्र का तटीय मैदान, मैक्सिको की खाड़ी तथा एटलाण्टिक महासागर का तटीय मैदान, बेल्जियम, हॉलैंड और जर्मनी के तटीय मैदान तथा अफ्रीका के गिनी तट का मैदान ऐसे ही मैदान हैं।

धरातलीय आकार के अनुसार मैदानों का वर्गीकरण

मैदानों के धरातलीय आकारों में बहुत अन्तर पाया जाता है। अतः इनकी बनावट और ऊँचाई के आधार पर इन्हें वर्गीकृत किया गया है।

(क) **समतल मैदान** चौरस होते हैं। इनके निम्नतम तथा उच्चतम भागों का अन्तर लगभग 15 मीटर होता है।

(ख) **तरंगित मैदान** तरंगित मैदान का धरातल असमान होता है। इनमें उतार तथा चढ़ाव बहुत होता है। इनमें निम्नतम तथा उच्चतम भागों का अन्तर 15 मीटर से 45 मीटर के मध्य होता है।

(ग) **लहरदार मैदान** विषम धरातलीय बनावट के होते हैं। इन मैदानों के निम्नतम भागों की ऊँचाई 45 मीटर तथा उच्चतम भाग की ऊँचाई 90 मीटर तक होती है। ऊँचाई और नीचाई में अधिक अन्तर होने के साथ-साथ इस प्रकार के मैदानों के धरातल पर स्थान-स्थान पर गोलाकार टीले फैले हुए मिलते हैं।

(घ) **विच्छेदित मैदान**—ये अत्यन्त कटे-फटे होते हैं। इनका धरातल ऊबड़-खाबड़ होता है। इनमें निम्नतम तथा उच्चतम भाग क्रमशः 90 मीटर तथा 150 मीटर होते हैं अर्थात् नीचे और ऊँचे भागों के मध्य 60 मीटर का अन्तर पाया जाता है।

स्थिति के अनुसार भी मैदानों का वर्गीकरण किया जाता है। इन मैदानों को दो भागों में बांटा जा सकता है। महाद्वीपीय मैदान जैसे—गंगा नदी का मैदान, संयुक्त राज्य अमेरिका का ग्रेट प्लेन, यूरोप का मैदान, चीन का मैदान आदि और तटीय मैदान, जैसे—भारत का कारोमण्डल तट, सौराष्ट्र तट, मलाबार तट, मैक्सिको की खाड़ी का मैदान, अफ्रीका का गिनी तट आदि।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Finch, Trewartha, Robinson, Hammond, Elements of Geography (McGraw Hill Book Co., New York).
2. Holmes, A. (1966), Principles of Physical Geology (Eng. Language Book Society, London).
3. Lobeck, A. K. (1939), Geomorphology (McGraw Hill Book Co., Inc., New York).
4. Monkhouse, F. J. (1962), Principles of Physical Geography (Uni. of London Press, London).
5. Salisbury, R. D. (1967), Physiography, Hindi Translation, (Laxmi Narain Agrawal, Hospital Road, Agra).
6. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography (Wiley International Edition, New York).
7. Worcester, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology (D. Van Nostrand Co. Ltd., Toronto, New York).

11

ज्वालामुखी
[Volcanoes]

भूतल पर प्राकृतिक परिवर्तनकारी दो भूगर्भिक बलों में से ज्वालामुखी एक प्रमुख बल है। इसके विस्फोट से कुछ ही समय में धरातल के दुर्बल एवं अस्थिर भागों में कभी-कभी भयानक गर्जना के साथ पृथ्वी फटकर आग उगलने लगती है। जापान व इटली में आए दिन ये घटनाएँ घटित होती रहती हैं। भूवैज्ञानिकों के अनुसार ज्वालामुखी क्रिया एक प्राकृतिक घटना है जिसका वैज्ञानिक आधार है।

ज्वालामुखी क्रिया (Volcanic Activities)

ज्वालामुखी एक संधि या दरार है जो पृथ्वी के अंतराल को वाह्य भाग से जोड़ती है। भूपटल के अस्थिर और दुर्बल भागों में भ्रंश क्रिया सक्रिय रहती है। इन भ्रंशों में से भूगर्भ का अत्यन्त तप्त लावा, कीचड़, राख, भाप और अनेकों प्रकार की गैसें समय-समय पर वाहर निकलती रहती हैं। ये सभी पदार्थ मेग्मा के अंश हैं। जिस मार्ग से मैग्मा वाहर निकलता है उसके मुख को ज्वालामुखी या विवर कहते हैं।

ज्वालामुखी की ऐसी सभी प्रक्रियाएँ जो मैग्मा को धरातल पर लाने से सम्वन्धित है, ज्वालामुखी क्रिया कहलाती हैं। तप्त मैग्मा का भूपटल में प्रवेश तथा धरातल से वाहरी प्रवाह को ज्वालामुखी क्रिया कहते हैं। ज्वालामुखी एक ऐसे शंकुआकार का पर्वत है जिसमें से आग और धुआं निकलता रहता है, जैसे इटली का विसूवियस पर्वत। किन्तु ज्वालामुखी और ज्वालामुखी पर्वत में अन्तर है। ज्वालामुखी एक कीप आकार का छिद्र या दरार है ज्वालामुखी पर्वत उस छिद्र या विवर से निकले हुए पदार्थों के निक्षेप से वनता है।

भूगर्भ से धरापटल की ओर आंतरिक व वाह्य ज्वालामुखी क्रियायें होती हैं। आन्तरिक क्रिया में भूगर्भ अधोभाग का तप्त लावा ज्वालामुखी क्रिया द्वारा ऊपर की ओर गतिशील होता ही है किन्तु धरातल तक पहुँचने से पहले ही बीच में ही ठण्डा होकर ठोस हो जाता है जिससे लावा में मिश्रित पदार्थों के आधार पर उसके भिन्न-भिन्न रूप वन जाते हैं। वाह्य क्रिया में भूगर्भ के विभिन्न तप्त पदार्थ ज्वालामुखी से वाहर निकल कर उसके चारों ओर निक्षेपित हो जाते हैं जिससे शंकुओं की रचना होती है। इससे उष्ण जल-स्रोत, उष्णोत्स, पंक-प्रवाह, धुआँरे आदि वन जाते हैं।

ज्वालामुखी के वृत्ताकार छिद्र या विवर का सम्बन्ध ज्वालामुखी नली द्वारा भूगर्भ के अधोभाग से रहता है जिससे तप्त पदार्थ बाहर निकलते हैं। ज्वालामुखी से निकले पदार्थों का विवर के चारों ओर निक्षेप हो जाने से शंकु या टीले की रचना होती है। अधिक निक्षेप होने पर ज्वालामुखी पर्वत का रूप भी ले लेते हैं। कई बार ज्वालामुखी से निसृत पदार्थ
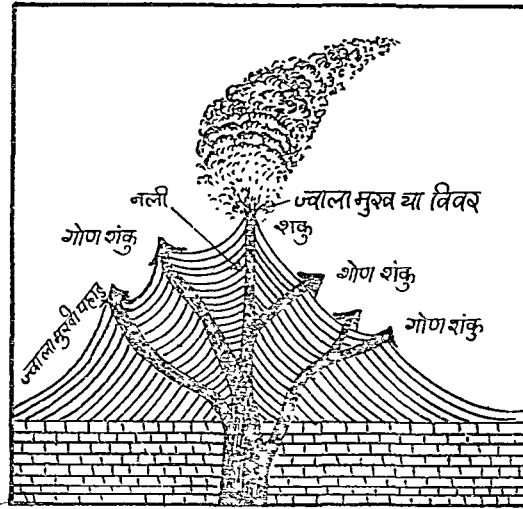
चित्र 11·1 ज्वालामुखी का पार्श्व चित्र

पुन: विवर में गिरता रहता है जिससे ज्वालामुखी का मुख्य द्वार बन्द हो जाता है। इस स्थिति में लावा बाहर निकलने के लिए दूसरा मार्ग फोड़ लेता है।

पहले यह धारणा थी कि ज्वालामुखी से आग की लपटें निकलती हैं परन्तु यह सत्य नहीं है। ज्वालामुखी से निसृत गैसों पर विवर में विद्यमान अंगारे की भाँति लाल धधकते हुए लावा का प्रतिबिम्ब पड़ने से ऐसा आभास होता है कि विवर में से आग की लपटें निकल रही हैं। इसी तरह ज्वालामुखी से निसृत तप्त लावा तथा अन्य शैलखण्ड आदि भी दूर से आग की लपटों का आभास देते हैं, वास्तव में ज्वालामुखी से आग की लपटें कभी नहीं निकलती। यदि भूगर्भ में एकत्रित अतिरिक्त शक्ति का ज्वालामुखी विस्फोट द्वारा समय-समय पर ह्रास न हो तो सम्भवत: पृथ्वी के बड़े भूभाग के फटने से विनाशकारी प्रलय हो सकता है। इसी से विद्वानों ने ज्वालामुखी को प्रकृति का सुरक्षा वाल्व माना है। जिस तरह भाप से चलने वाले इन्जन के बायलर में सुरक्षा वाल्व आवश्यकता से अधिक वाष्प को बाहर निकालता रहती है और बॉयलर को फटने से बचा लेती है ठीक वही कार्य पृथ्वी के लिए ज्वालामुखी करते हैं।

ज्वालामुखी के उद्‌भेदन से पूर्व गड़गड़ाहट की ध्वनि सुनाई देती है, पृथ्वी में कम्पन प्रारम्भ हो जाता है। गड़गड़ाहट की आवाज के अधिकाधिक तीव्र होने के साथ भूकम्प के धक्के उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। निकट के तापमान में वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है, धरातल नीचे को धंसने लगता है, कुओं का जल सूख जाता है जलस्रोतों का प्रवाह समाप्त हो जाता है। कई बार कुओं में कीचड़ या गन्दा पानी आने लगता है। सागरों में जल ऊपर-नीचे

होने लगता है। तापक्रम बढ़ जाने के कारण पहाड़ों की बर्फ पिघलने लगती है। कभी-कभी ऐसे सभी चिन्हों के प्रकट होने पर भी ज्वालामुखी विस्फोट नहीं होता और कभी-कभी उद्भेदन बिना किसी सूचना के अकस्मात हो जाता है।

ज्वालामुखी के उद्भेदन का निश्चित समय नहीं आंका जा सकता और न यह जाना जा सकता है कि दो उद्गारों के बीच कितने समय का अंतर होगा। परन्तु पूर्व सूचनाओं के आधार पर विस्फोट के लगभग समय का अनुमान अवश्य हो जाता है। कुछ विद्वानों ने ज्वालामुखी क्रिया को निश्चित चक्रों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

ज्वालामुखी उद्गार

ज्वालामुखी का उद्भेदन भूगर्भ की भौतिक एवं रासायनिक रचनाओं पर आधारित है। इसके अतिरिक्त भूगर्भिक हलचलों जैसे पर्वत एवं महाद्वीपीय निर्माणकारी घटनाओं के कारण पृथ्वी पर उत्पन्न संकुचन एवं तनाव के कारण भूगर्भिक शैलों में भ्रंशन का ज्वालामुखी क्रिया से निकट का सम्बन्ध है।

पृथ्वी पर ज्वालामुखी पर्वतों के वितरण का अध्ययन करने से विदित होता है कि ये पृथ्वी के कमजोर एवं अस्थिर भागों पर स्थित हैं—जैसे प्रशान्त महासागर के तटीय भाग, पूर्वी एवं पश्चिमी द्वीप समूह, एल्यूसियन, हवाई तथा जापान द्वीप समूह, आइसलैण्ड, एण्डीज पर्वत शृंखला आदि।

ज्वालामुखी से भूगर्भ में विद्यमान गैसों और जलवाष्प के निस्सरण के कारण मुख्यः विस्फोट होता है। ज्वालामुखी से निसृत गैसों में भाप 80 से 95 प्रतिशत रहती है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि ज्वालामुखी विस्फोट में जलवाष्प सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिसका स्रोत भूगर्भ के तप्त भाग में है। यद्यपि धरातल से लगभग 32 किलोमीटर की गहराई में ऊपरी अत्यधिक दबाव के कारण सभी शैल-रन्ध्र व दरारें बन्द हो जाती हैं, किन्तु भूगर्भिक हलचलों के कारण पृथ्वी के आन्तरिक भाग की शैलों में भ्रंशन हो जाता है जिसके कारण सागर या स्थल के अधोभाग का जल दरार के माध्यम से सुगमता से भूगर्भ के तप्त भाग में पहुँच कर वाष्प में परिवर्तित हो जाता है। जलवाष्प के अत्यधिक प्रसार तथा हल्के होने के कारण यह तीव्रता से भूगर्भ की दरार को और भी अधिक निसृत करता हुआ धरातल की परत को तोड़ कर बाहर निकल जाता है। मुख्य नोदक शक्ति होने से उसके साथ भूगर्भ का पिघला अन्य पदार्थ भी बाहर उफन आता है।

भूगर्भ में जलवाष्प के अतिरिक्त हाइड्रोजन, सल्फर एवं कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा भी अन्य गैसों से अधिक होती है जो अधिक प्रसारशील हैं। जब मैग्मा के साथ चूने की शैल घुल जाती हैं तो कार्बन-डाइ-आक्साइड अत्यधिक होती है जिसका प्रचण्ड दबाव ज्वालामुखी विस्फोट में सहायक होता है।

ज्वालामुखी से निष्कासित तप्त पदार्थ यह सिद्ध करते हैं कि भूगर्भ में उच्च ताप विद्यमान है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि पृथ्वी सूर्य का ही अंग है जो ऊपर से ठण्डी हो गई है परन्तु भूगर्भ अभी भी तप्त है। इसके अतिरिक्त भूगर्भ में रेडियो-सक्रिय पदार्थों के विघटन से भी ताप संचय होता रहता है। कालान्तर में यह ताप इतना अधिक संचित हो जाता है कि भूगर्भ की शैल पिघल जाती हैं। पृथ्वी के संकुचन एवं रासायनिक प्रतिक्रिया के कारण भी ताप में वृद्धि होती रहती है।

ज्वालामुखी निक्षेप से पता चलता है कि उद्गारों के साथ बैसाल्ट शैलों की प्रधानता रहती है जोकि 90 से 95 प्रतिशत तक होती है। धरातल से लगभग 54 किलोमीटर गहराई पर बैसाल्टशैल की एक मोटी परत है जो भूकेन्द्र को घेरे हुए है। यह परत महासागरों के नीचे पतली तथा महाद्वीपों के नीचे मोटी है अतः गहरे महासागरों में ही अधिकांश ज्वालामुखी पाये जाते हैं। बैसाल्ट भूगर्भ में सदैव द्रव अवस्था में रहता है, किन्तु अत्यधिक दाब के कारण शैल साधारणतः ठोस अवस्था में ही रहती हैं। भूगर्भिक हलचलों से शैलो में भ्रंशन होकर दाब कम हो जाती है। फलस्वरूप शैलों का द्रवणांक कम हो जाता है तथा आंतरिक ताप बढ़ कर शैलों को पिघला देता है। द्रवित शैल का आयतन ठोस की अपेक्षा अधिक होने से वह अधिक स्थान घेरने की चेष्टा में दरारों या विदरों के द्वारा ऊपर को चढ़ता हुआ विस्फोट के साथ बाहर फट पड़ता है।

ज्वालामुखी पर्वत का निर्माण भूगर्भिक पदार्थों के निक्षेप से होता है। प्रत्येक लावा विस्फोट के साथ पर्वत पर निक्षेप की परत चढ़ती जाती है, यह देखा गया है कि ज्वालामुखी पर्वत पर सबसे ऊपरी या आख़िरी परत बैसाल्ट शैल की ही बनी होती है इससे भी यह सिद्ध होता है कि ज्वालामुखी पदार्थ का मुख्य स्रोत भूगर्भ में लगभग 54 किलोमीटर की गहराई में बैसाल्ट शैल की मोटी परत ही है।

भूगर्भ से लावा धरातल की ओर दो कारणों से ऊपर उठता है। एक तो दाब से मुक्ति मिलने पर ज्वालामुखी की विदर में अपना मार्ग प्रशस्त कर लेता है और दाब कम होते ही ठोस शैल तरलावस्था में परिवर्तित हो जाता है तथा उनका प्रसार ज्वालामुखी उद्गार की ओर प्रारम्भ होने लगता है। दूसरा यह कि तप्त तथा तरल लावा में विभिन्न गैसें मिश्रित होकर उसको और भी तरल कर देती हैं तथा भ्रंश के माध्यम से लावा को बाहर फेंकने में और भी सहायक होती हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार केन्द्रीय उद्गारों में लावा का स्रोत बैसाल्टिक अधःस्तर न होकर भूगर्भ में कुछ संचित निक्षेप हैं। भूगर्भिक हलचलों के कारण भ्रंशन से कुछ शैल विभंग हो इनतक पहुँच जाते हैं और दाब कम होने से लावा और भी तरल होकर ऊपर की ओर निष्कासित होने लगता है।

कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार वलित पर्वतों के क्षेत्रों में बैथोलिथ शैल का मैग्मा ऊपर उठने के साथ दूसरे शैलों को भी पिघलाकर अपने में मिश्रित कर लेता है जिससे उसके रासायनिक संघटन में परिवर्तन आ जाता है जो लावा संवहन में सहायक होता है।

ज्वालामुखियों का वर्गीकरण दो तथ्यों—इनके उद्भेदन व सक्रियता के आधार पर किया गया है ज्वालामुखी का उद्भेदन भूपटल की संरचना एवं भूगर्भ से पदार्थों को ऊपर फेंकने की दाब शक्ति पर आधारित है। भूपटल की संरचना तथा भूगर्भ के तप्त पदार्थों में विभिन्नता पाई जाती है। अतः ज्वालामुखी उद्भेदन भी कई प्रकार के होते हैं जिनकी विस्फोटक प्रक्रिया तथा निष्कासित पदार्थों में भिन्नता पाई जाती है।

कुछ ज्वालामुखी निरन्तर सक्रिय बने रहते हैं जबकि कुछ ज्वालामुखी उद्भेदन के तुरन्त बाद शान्त तो हो जाते हैं किन्तु कुछ अवकाश के पश्चात् पुनः अपनी सक्रितया प्रारम्भ कर देते हैं इनको प्रसुप्त ज्वालामुखी कहते हैं। ऐसे ज्वालामुखी भी होते हैं जो उद्भेदन के पश्चात शान्त होकर फिर कभी क्रियाशील नहीं होते तथा सदा के लिए ठण्डे पड़ जाते हैं।

ज्वालामुखियों का वर्गीकरण
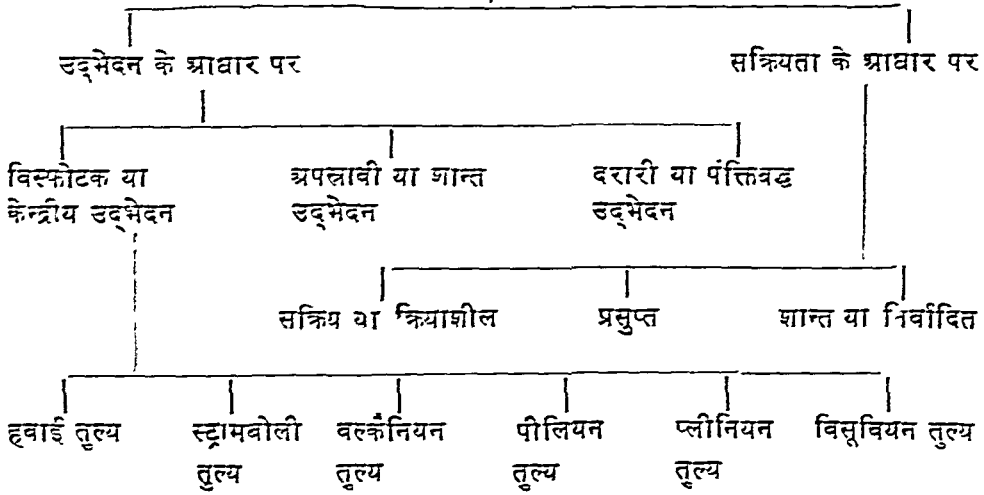
ज्वालामुखी उद्भेदन के रूप

(1) विस्फोटक या केन्द्रीय उद्भेदन—यदि ज्वालामुखी उद्गार प्रचण्ड विस्फोट व गड़गड़ाहट की ध्वनि तथा कम्पन के साथ किसी एक केन्द्रीय मुख से होता है तो उसे विस्फोटक या केन्द्रीय उद्भेदन कहते हैं। इस प्रकार के उद्भेदन में गैसों के प्रचण्ड दबाव के कारण शैलों के नुकीले टुकड़े तथा लावा ज्वालामुख से तीव्र गति से निकल कर ऊपर की ओर छिटक जाते हैं जिससे विभिन्न शिलाखण्डों की बौछार प्रारम्भ हो जाती है। देखते ही देखते आकाश में काले-काले बादल छा जाते हैं तथा बड़ा भयानक दृश्य उपस्थित हो जाता है। लावा की मात्रा कम होने पर गैसें, राख और ठोस शिलाखण्डों को लेकर
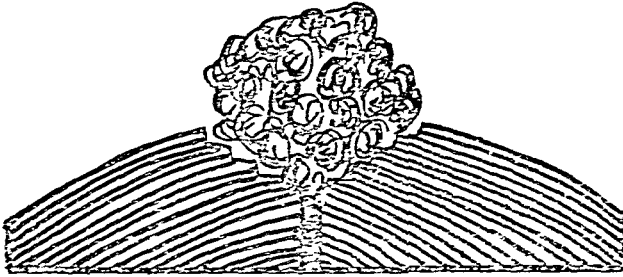
चित्र 11·2 हवाई तुल्य

कर्ण भेदी ध्वनि करती हुई बाहर तीव्र गति से निकलती हैं। गैसों की शक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह शंकु का कुछ भाग भी तोड़ कर वायु में उछाल देती हैं। इस प्रकार का भीषण ज्वालामुखी विस्फोट सन् 1983 में क्राकाटोपा टापू पर हुआ था जिसके कारण संपूर्ण टापू वायु में उड़ गया था। इस टापू की धूल आकाश में छा जाने से अंधेरा हो गया था तथा प्रचंड पवन के साथ इस धूल ने भी पृथ्वी की तीन परिक्रमा की थीं। इस प्रकार के उद्गार एटना (सिसली), विसूवियस (इटली), फ्यूजीयोमा (जापान), वालकन (लिपारी

द्वीप-समूह) में भी हुए हैं। इतने भीषण होते हुए भी इस प्रकार के उद्भेदनों से कोई महत्त्वपूर्ण भू-आकारों की रचना नहीं हो पाती। यह विध्वंसक अधिक होते हैं क्योंकि विस्फोट के अतिरिक्त इनसे भूकंप भी आते हैं।
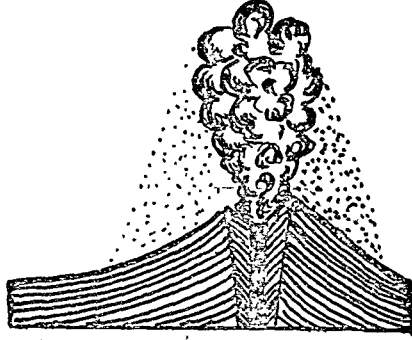
चित्र 11·3 स्ट्रोमबोलियनतुल्य

संसार में उद्गार एवं निष्कासित पदार्थों की भिन्नता लिये अनेक प्रकार के ज्वालामुखी देखे जाते हैं। ए. लेक्रोइस्क ने उद्गार के स्वभाव के आधार पर तथा कॉटन ने निष्कासित पदार्थ के आधार पर ज्वालामुखियों का वर्गीकरण किया है। परन्तु उद्गार का स्वभाव और निष्कासित पदार्थ एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि निष्कासित पदार्थ की भिन्नता के कारण उद्गार का स्वभाव निर्धारित होता है।

हवाई ज्वालामुखी का उद्गार शान्तिपूर्वक होता है क्योंकि इसमें लावा पतला होता है तथा गैसें धीरे से लावा से पृथक होकर धरातल पर आ जाती हैं। शान्त उद्भेदन के कारण निकलने वाले विखण्डित पदार्थ नगण्य होते हैं। उद्गार के समय छोटे-छोटे लाल शिलाखण्ड ऊपर आकाश में उछल जाते हैं जो केशों की भाँति लाल लकीर कर देते हैं जिनको
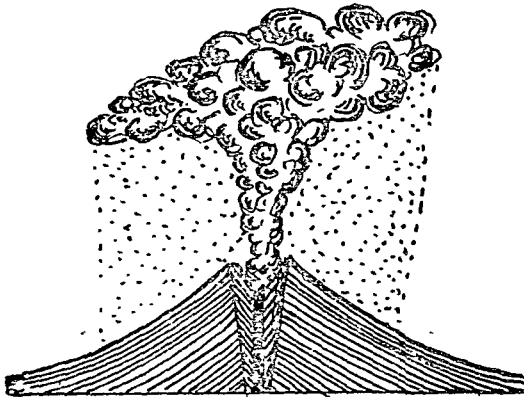
चित्र 11·4 वलकेनियन तुल्य

हवाई द्वीप निवासी अग्निदेवी की केश राशि समझते हैं। इस प्रकार के ज्वालामुखी हवाई द्वीप पर पाए जाते हैं इसलिए इनको हवाईतुल्य ज्वालामुखी की संज्ञा दी गई है।

स्ट्रामबोली ज्वालामुखी लावा हवाई तुल्य ज्वालामुखी से अधिक गाढ़ा होता है इसलिए अवरोध होने के कारण कभी-कभी गैसें विस्फोटक रूप से बाहर आती हैं। तरल

लावा के अतिरिक्त ज्वालामुखी राख, अंगार, गोलाश्म आदि भी उद्गार के साथ निकलते हैं जो उछल कर पुनः ज्वालामुख में गिर जाते हैं। इसमें धुआँ नहीं निकलता। स्ट्राम्बोली ज्वालामुखी भूमध्यसागर स्थित सिसली द्वीप के उत्तर में लिपेरी द्वीप पर स्थित है।
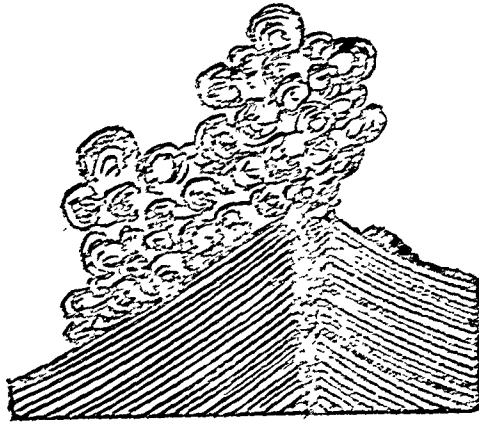
चित्र 11·5 पीलियन तुल्य

वलकैनियन ज्वालामुखी लिपेरी द्वीप पर ही स्ट्राम्बोली के पास स्थित है। इससे निष्कासित लावा इतना अधिक चिपचिपा एवं लसदार होता है कि उद्गार के साथ ही वह ज्वालामुख पर जमकर उसके उद्गार को कुछ समय के लिए बन्द कर देता है। परिणामस्वरूप रुकी हुई गैसों का वेग अधिक तीव्र हो जाता है और वह पुनः भीषण विस्फोट के साथ अवरोध को उड़ा देता है जिसके कारण आकाश में गैसें फैलकर छाते के रूप में आच्छादित हो जाती हैं। प्रत्येक उद्गार के पश्चात् मुख बन्द हो जाता है और बाद का उद्गार उसी पपड़ी को तोड़ कर होता है।

पीलियन ज्वालामुखियों का उद्भेदन अत्यन्त तीव्र और विस्फोटक होता है। इसमें निष्कासित लावा अत्यन्त गाढ़ा, चिपचिपा तथा लसदार होता है जो उद्गार के समय
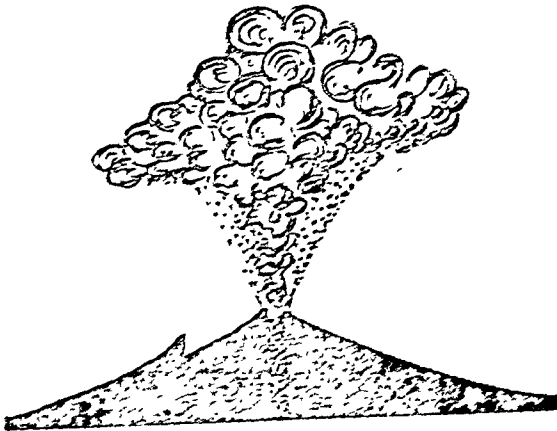
चित्र 11·6 प्लिनियन तुल्य

ही ज्वालामुख में कठोर परत के रूप में जम जाता है जिसे अन्दर से गैसें भयंकर विस्फोट के साथ तोड़ देती हैं। प्रज्वलित गैसों के कारण ज्वालामुखीय मेघ प्रकाश से चमक उठते

हैं। इस प्रकार के उद्भेदन में निष्कासित लावा एवं अन्य पदार्थ दूसरे उद्भेदनों से अधिक निकलता है। पश्चिमी द्वीप समूह के मार्टिनिक द्वीप पर पीली पर्वत के विस्फोट के कारण इसको पीलियन जाना जाता है। इसी प्रकार का क्राकाटोआ ज्वालामुखी जावा एवं सुमात्रा के मध्य सुण्डा जलडमरूमध्य में स्थित है।

प्लिनियन ज्वालामुखी वलकैनियाई प्रकार के होते हैं किन्तु इनसे निकलने वाली गैसों का वेग वलकैनियाई से अधिक होता है। परिणामतः निष्कासित पदार्थ आकाश में अधिक ऊँचाई तक पहुँच जाता है। गैस एवं वाष्प पहले गोभी के फूल और बाद में गोलाकार बादल के रूप में परिणित हो जाती है। सर्वप्रथम प्लिनी ने विसूवियस में हुए उद्भेदन का पर्यवेक्षण किया था और यह उन्हीं के नाम से जाना जाता है।
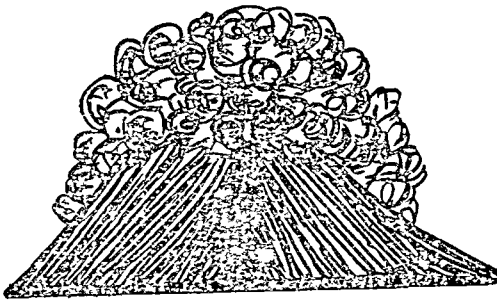
चित्र 11·7 विसूवियन तुल्य

विसूवियन ज्वालामुखी अत्यन्त अल्प अवधि तक सक्रिय रह कर दीर्घ अवधि तक सुप्त रहते हैं और जब भी सक्रिय होते हैं तो भीषण विस्फोट के साथ लावा एवं प्रचुर मात्रा में गैस बाहर निकालते हैं। प्रज्वलित गैस अपने साथ प्रचुर मात्रा में राख एवं ज्वालामुख क्षिप्त पदार्थ ऊपर ले जाकर विस्तृत क्षेत्र में छितरा देती है। गैस, वाष्प एवं धूल के गोभी के फूल जैसे बादल बन जाते हैं। इस प्रकार का उद्भेदन सुप्रसिद्ध विसूवियस ज्वालामुखी में हुआ था, इसीलिए उसी के नाम से इसको जाना जाता है।

(2) अपस्रावी या शान्त उद्भेदन—इस प्रकार के उद्भेदन भी भूपलट पर अल्प मात्रा में पाए जाते हैं जो बिना किसी गर्जना या भूकम्प के अत्यन्त शान्ति के साथ घटित होते हैं। धरातल पर कुछ ही स्थानों पर दूध के उफान की तरह लावा उबल-उबल कर ज्वालामुखी या लम्बवत दरार से झाग की भाँति निकलता रहता है। इस प्रकार के उद्भेदनों में गैस की कमी रहने के कारण भीषण विस्फोट नहीं होते परन्तु लावा के साथ धुआँ अवश्य निकलता रहता है। विस्फोटक न होने के कारण लावा निकल-निकल कर शनैः-शनैः ऊपर की ओर जमकर गुम्बद का रूप धारण कर लेता है। हवाई द्वीप, सिसली, आइसलैण्ड आदि में इस प्रकार के ज्वालामुखी मिलते हैं।

(3) दारारी या रेखीय उद्भेदन—इस प्रकार के उद्भेदन में लावा, राख तथा गैस उबल-उबल कर एक मुख से न निकलकर गहरी दरार या पंक्तिबद्ध सहस्रों छिद्रों से निकलते हैं। दरारी उद्भेदनों में भीषणता नहीं होती क्योंकि इनमें गैस की मात्रा अति

अल्प होती है। इस प्रकार के उद्भेदन में लावा की मात्रा अधिक होने के कारण वह दरार से निकलकर चारों ओर फैल जाता है तथा ठण्डा होने पर कठोर परतों के रूप में जम जाता है। केन्द्रीय उद्भेदन की तुलना में दरारी उद्भेदन भूपटल पर बहुत ही कम हुए हैं। निकट अतीत में आइसलैण्ड द्वीप का दरारी उद्भेदन एक उदाहरण है। सन् 1783 में वहाँ अचानक लगभग 18 किमी. लम्बी गहरी दरार की रचना हो गई थी जिसके फलस्वरूप समीपवर्ती 350 वर्ग किमी. क्षेत्र में लावा-प्रवाह के कारण एक मोटी परत जम गई। संयुक्त राज्य अमेरिका में वाशिंगटन तथा ऑरेगन राज्यों में लगभग चालीस लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में लावा की लगभग 123 मीटर मोटी परत जमी हुई है जो दरारी उद्भेदन का एक ज्वलन्त प्रमाण है। इसके अतिरिक्त भारत का पठारी भाग, फ्रांस, स्काटलैण्ड का पश्चिमी भाग, ग्रीनलैण्ड आनील के पठारी भाग दरारी उद्भेदनों के अन्य उदाहरण हैं। नवकल्प पर्वत निर्माणकारी हलचलों के साथ-साथ दरारी उद्भेदन भी हुए।

दरारी उद्भेदन में लावा की समान बैसाल्टिक रचना से यह विदित होता है कि लावा भूगर्भ के सीमा (Sima) क्षेत्र से सीधा दरार से निकलता रहता है।

ज्वालामुखी के आयुक्रम में भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ पायी जाती हैं। समयावधि के आधार पर उन्हें तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है :

सक्रिय या क्रियाशील ज्वालामुखी में सदा उद्भेदन होता रहता है। ये चैतन्य, सक्रिय या क्रियाशील ज्वालामुखी कहलाते हैं। संसार में इस प्रकार के 500 ज्वालामुखी हैं जिनमें समय-समय पर उद्भेदन होता रहता है। सिसली का एटना व स्ट्रामबोली तथा इक्वेडर का कोटोपेक्सी प्रमुख सक्रिय ज्वालामुखी हैं। स्ट्रामबोली सदा प्रकाशवान रहने के कारण 'भूमध्य सागर का प्रकाश स्तम्भ' कहलाता है।

प्रसुप्त ज्वालामुखी—ज्वालामुखी दीर्घकाल तक शांत रहने के पश्चात् अकस्मात् पुन: भड़कने वाले प्रसुप्त ज्वालामुखी कहलाते हैं। इनके अचानक विस्फोट के कारण अपार धन और जन की हानि होती है। सन् 79 ईस्वी में इटली के विसूवियस ज्वालामुखी उद्गार पोम्पिआई (Pompean) और हरकुलेनियम (Herculaneum) नगर पूर्णतया नष्ट हो गए थे। इसी प्रकार इसके सन् 1631, 1803, 1906 तथा 1931 के उद्भेदनों के कारण भी अत्यन्त हानि हुई। इक्वेडर का चिम्बोराजो और चिली का अकांकागुआ प्रसुप्त ज्वालामुखियों के और उदाहरण हैं।

शान्त या निर्वासित ज्वालामुखी की क्रिया सदा के लिये समाप्त हो जाती है। इनकी दरारों में कठोर लावा या अन्य भूगर्भिक पदार्थ जम जाता है जिससे इनका मुख सदा के लिए बन्द हो जाता है तथा यह ठण्डे हो जाते हैं। कालान्तर में ज्वालामुख में पानी भर जाता है जिससे झील बन जाती है। बरमा का पोपा तथा ईरान का कोहे-सुल्तान इसी तरह के मृत ज्वालामुखी हैं।

ज्वालामुखी उद्गार से निष्कासित पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं—गैसीय, तरल एवं ठोस।

गैसें हलकी होने के कारण ज्वालामुखी विस्फोट के साथ सर्वप्रथम धरातल पर आती हैं। गैसमय पदार्थों में कार्बन-डाइ-आक्साइड, गन्धक, हाइड्रोजन, नाइट्रिक एसिड, अमोनियम क्लोराइड, आर्गम, जलवाष्प आदि हैं। कभी-कभी हाइड्रोजन की मात्रा अधिक होने के

कारण उद्गारों में लपट भी दिखाई देती है। उद्गार के पश्चात् तेज वर्षा होती है और ज्वालामुखी से जलवाष्प काफी मात्रा में निकलता है। कुल निसृत गैसों में 80 से 90 प्रतिशत जलवाष्प होता है जो उच्च ताप के कारण बनता है।
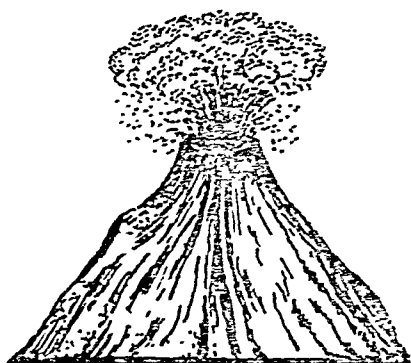
चित्र 11·8 सक्रिय ज्वालामुखी
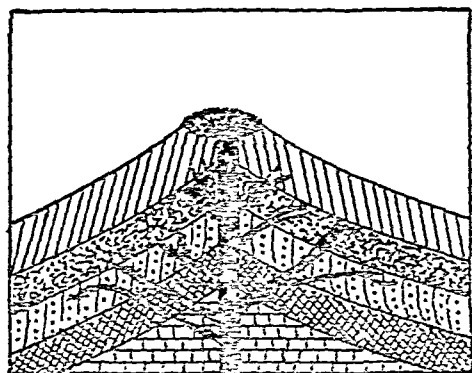
चित्र 11·9 शान्त ज्वालामुखी

ज्वालामुखी से लावा और कीचड़ तरल रूप में निकलते हैं। जो पदार्थ मुखगर्त से निकलकर धरातल पर फैल जाता है उसे लावा कहते हैं। लावा में सिलिका की मात्रा भिन्न-भिन्न रूप से मिली रहती है। जिस लावा में सिलिका की मात्रा अधिक होती है वह सिलिक या अम्ल और जिसमें सिलिका कम मत्रा में होती है वह अल्प सिलिक या क्षारीय लावा कहलाता है। अम्ल लावा में सिलिका की मात्रा लगभग 75 से 80 प्रतिशत होती है तथा 20 प्रतिशत अन्य खनिजें जैसे ऐलुमिनियम, सोडियम, मैगनेशियम आदि होती है। सिलिका की अधिक मात्रा होने के कारण अम्ल लावा शीघ्र जम जाता है जबकि क्षारीय या अल्पसिलिक लावा देरी से जमता है अत· दूर तक वहता हुआ चला जाता है तथा नम्र ढाल बनाता है। इसमें सिलिका की मात्रा 20 से 40 प्रतिशत होती है।

ज्वालामुखी से निसृत ठोस पदार्थों में धूल के महीन कणों से लेकर सैकड़ों किलोग्राम भारी शिलाखण्ड तक शामिल होते हैं, जिनमें 'अंगार', 'राख' या धूल राख के मिश्रण वाले खंड बन्दूक की गोली की भाँति के टुकड़े 'लैपिली', छोटी मटर के दाने के समान टुकड़े 'स्कोरिया' अथवा झाँवा तथा स्कोरिया से बड़े आकार के 'संकोणाश्म' या ब्रेसिया कहलाते हैं। प्यूमिस पदार्थ पानी से भी हल्का होने के कारण जल पर तैरता रहता है। गैसों के प्रसार के कारण शिलाखण्ड टूट-टूट कर आकाश में उड़ जाते हैं तथा गोलाकार या अण्डाकार रूप में धरातल पर गिरते हैं जिन्हें ज्वालामुखी बम की संज्ञा दी जाती है।

ज्वालामुखी द्वारा भू-आकार

ज्वालामुखी की आंतरिक एवं वाह्य क्रियाओं से निम्न भू-आकारों का निर्माण होता है—

अन्तर्भेदी भूआकार—भूगर्भ की गहराइयों से उठती मैग्मा शक्ति क्षीण होने के कारण धरातल की पपड़ी को तोड़कर बाहर आने में असमर्थ हो जाती है तो लावा भूगर्भ में ही दरारों में भरकर ठण्डा हो जाता है तथा नाना प्रकार के भू-आकारों का निर्माण करता है। जिनका वर्णन आग्नेय शैलों के अन्तर्गत किया जा चुका है।

बाह्य या निःस्त्रावी—उद्भेदन से भूगर्भ के पदार्थ धरातल पर जमकर विभिन्न ऊपर उठे भू-आकारों का रूप ले लेते हैं। इन भू-आकृतियों को बाह्य या निःस्त्रावी भू-आकार कहते हैं। ये कई स्वरूपों में पाये जाते हैं।
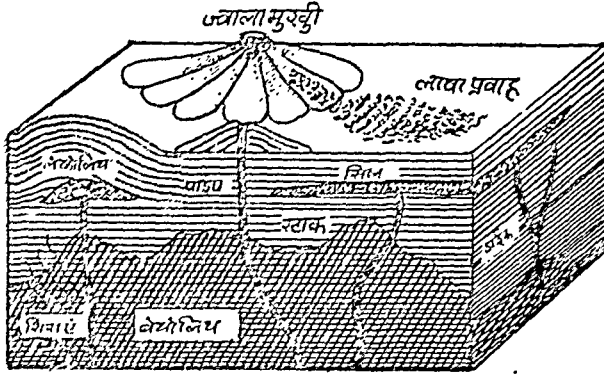
चित्र-11 10 अन्तर्वेधी भू-आकार

उत्थित भू-आकार—ज्वालामुखी उद्गारों से विभिन्न प्रकार की शंकुओं से रचित होते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि इनकी संरचना ज्वालामुखी की विवर के आस-पास निसृत पदार्थों के जमा होने से बने शंकुओं तथा भूगर्भीय हलचलों से भू-भागों के फोड़े की तरह उठ जाने से होती है।

ज्वालामुखी पर्वतों की आकृति शंकु जैसी होती है, जो भिन्न-भिन्न आकार के होते हैं। यह भिन्नता उद्भेदन के समय निकलने वाले पदार्थों के गुणों तथा लावा की रासायनिक संरचना के अन्तर पर निर्भर करती है। आकृति, विस्तार और रचना के आधार पर इन शंकुओं का वर्गीकरण किया गया है।

लावा से निर्मित शंकु पदार्थ की द्रवणशीलता अम्लिक और अल्पसिलिक या पैठिक होती है।
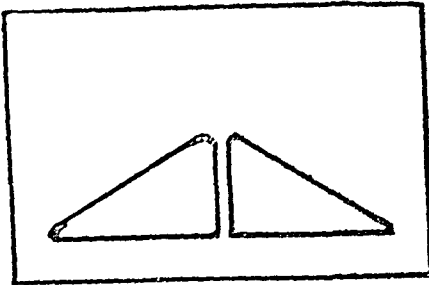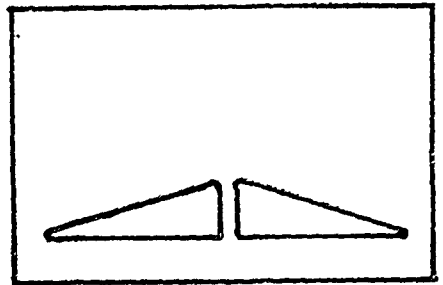
चित्र 11·11 आम्लिक लावा शंकु चित्र 11·12 अल्पसिलिक लावा शंकु

अम्लिक या अधिसिलिक लावा गाढ़ा लसदार होने से जल्दी ही ठण्डा हो जाता है। इसलिए इसका प्रवाह मन्द होता है। अतः ऐसे शंकु का विस्तार कम और ढाल तीव्र होता है।

अल्पसिलिक या पैठिक लावा शंकु में लावा सिलिका की मात्रा कम होने से देर से ठंडा होता है। पतला होने के कारण यह दूर तक फैलता जाता है। अतः इससे बना शंकु बहुत विस्तृत तथा कम ढाल का होता है।

चित्र 11·13 सिण्डर शंकु

सिडर शंकु में ज्वालामुखी के विस्फोटीय उद्भेदन के कारण राख तथा शिलाखण्ड प्रचुर मात्रा में निकलकर विवर के चारों ओर जम जाते है। इनमें राख की मात्रा अत्यधिक होती है जिससे सिडर शंकु के ढाल नतोदर होते हैं। साधारणतया इस प्रकार के शंकुओं का ढाल 30° से 40° तक होता है, यदि निष्कासित पदार्थों में शिलाखण्डों की मात्रा अधिक होती है तो इनका ढाल 40° से 45° तक हो जाता है तथा अपरदन के पश्चात् भी सैकड़ों वर्षों तक यह अपने मौलिक रूप को बनाये रखते हैं। फिलीपीन के लुजोन द्वीप का कैमिग्विन, मेक्सिको का जोरल्लो, दक्षिणी अमेरिका के सान साल्वेडोर का माउन्ट इजाल्को, इटली का माउन्ट नोवो तथा एटना व उत्तरी अमेरिका के राष्ट्रीय पार्क का लेसेन जैसे ज्वालामुखियों की शंकु सिण्डर शंकु हैं। वर्षा से राख बहकर पर्वत के निचले ढालों पर पंखों की तरह फैल जाती है।
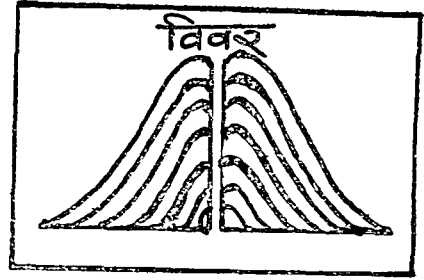
मिश्रित शंकु ज्वालामुखी से निष्कासित कई तरह के पदार्थ से बने होते हैं। इनका आधार तो लावा होता है पर उसके ऊपर क्रमशः अन्य पदार्थों की परतें जमती जाती हैं, इसीलिए इसको परतदार शंकु के नाम से भी जाना जाता है। इनका कोण लगभग 35° होता है ये अन्य सभी शंकुओं से ऊँचे होते हैं। संसार के अधिकांश ऊँचे, सुडौल तथा विशाल आकार के ज्वालामुखी मिश्रित शंकुओं के हैं। जापान का फ्यूजीयामा, फिलीपीन का मेयान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का शस्ता, रेनियर तथा हुड आदि मिश्रित शंकुओं के बने हैं।
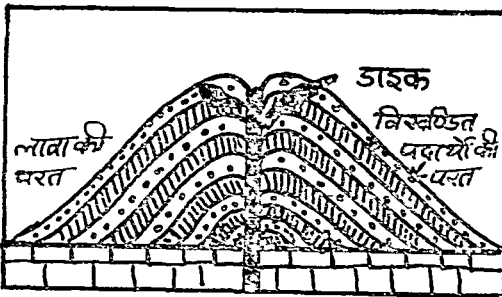
चित्र 11·14 मिश्रित शंकु

लावालव शंकु—इन शंकुओं की संरचना केन्द्रीय या दरारी उद्गारों के स्थान पर होती है। लावा निकलते समय उसमें गैस रह जाती है जो बुलबुलों के रूप में फूटने से

बाहर आती है तथा इस प्रकार धरातल पर लावा के अव्यवस्थित शंकु बन जाते हैं। इनकी ऊँचाई कुछ मीटर ही होती है।

परजीवी या आश्रित शंकु—प्रायः मिश्रित शंकु हैं जिनकी संरचना कठोर नहीं होती और लावा के धक्कों से पार्श्व में फूटती जाती है जिससे लावा बाहर आकर एक गौण
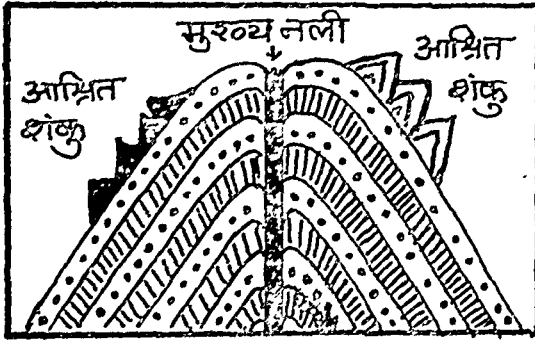
चित्र 11·15 परजीवी या आश्रित शंकु

शंकु का रूप ले लेता है। ऐसे सिसली के एटना, संयुक्त राज्य अमेरिका के माउण्ट शास्ता पर कई आश्रित शंकु बने हुए हैं।

जब किसी भीषण विस्फोट से ज्वालामुखी का मुखगर्त टूट जाता है तो काल्डेरा लावा शंकु बन जाता है। मुखगर्त के अत्यधिक विस्तार के कारण इसमें नवीन शंकु, जिसे एडवेटिव
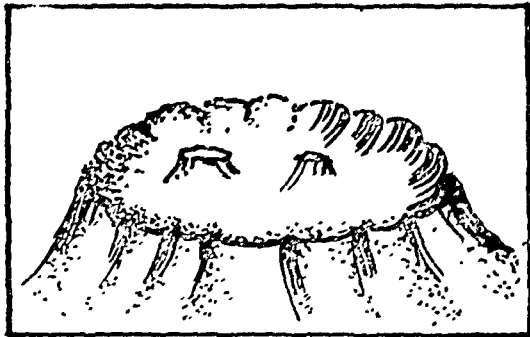
चित्र 11·16 काल्डेरा शंकु

लावा शंकु कहते हैं, का निर्माण हो जाता है। हवाई द्वीप का काल्डेरा, जापान का आसो, अलास्का का कटमई आदि विख्यात काल्डेरा लावा शंकु हैं।

शील्ड शंकु आकार में पठार की भांति इसकी रचना ज्वालामुखगर्त के चारों ओर वैसाल्टिक लावा के समान एकत्रित होने से होती है। लावा के अधिक विस्तार में फैलने से इसकी ऊँचाई अधिक नहीं होती। मोनालुआ शील्ड शंकु की ऊँचाई 4101 मीटर और ढाल 20° है। इसके अतिरिक्त हवाई द्वीप में भी कई शील्ड शंकु हैं।

ज्वालामुखी विवर के समीप लसदार अधिसिलिक मैग्मा एकत्र होकर गुम्वदाकार शंकु की रचना करता है। इसमें पहले से एकत्रित मैग्मा की क्रमशः परत पर परत चढ़ती जाती हैं जिससे गुम्वद जैसा आकार बढ़ता जाता है। ये तीन तरह के होते हैं।

लावा के जमाव से जब ज्वालामुखी विवर भर जाता है तो उसे डाट कहते हैं। कालान्तर में उसका आकार बढ़कर गुम्बद का रूप ले लेता है। केलीफोर्निया की लासन शंकु ऐसा ही डाट गुम्बद है।

जब लावा में सिलिका की मात्रा अधिक होती है तो वह गाढ़ा और अधिक लसदार होता है। यह भूगर्भ में ही विवर में जम जाता है। जब नीचे का लावा ऊपर उठने की चेष्टा करता है तो यह गुम्बद शनैः-शनैः ऊपर की ओर उठता है तथा इसका आकार भी बढ़ता जाता है। अरब सागर स्थिति सार कुआई रियूनियन आन्तरिक गुम्बद शंकु हैं।

बाह्य गुम्बद पैठिक लावा द्वारा बने होते हैं। ये गुम्बद पैठिक लावा शंकु या शील्ड शंकु के ही परिवर्धित स्वरूप हैं। हवाई द्वीप के मौनालोआ तथा किलाउआ बाह्य गुम्बदनुमा शंकु हैं।
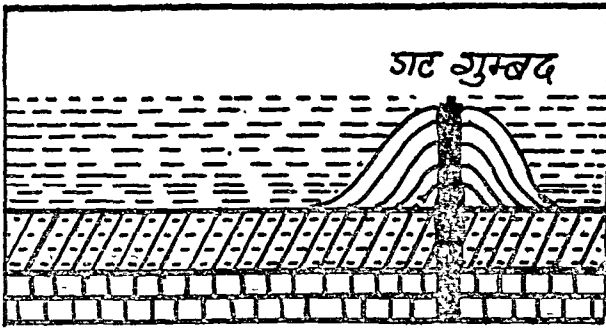
चित्र 11·17 ज्वालामुखी डाट या प्लग

अल्पसिलिक लावा भू-पृष्ठ पर दूर तक बह कर पठार और मैदानों को जन्म देता है। भारत में दक्कन का पठार लावा से बना है। इसका क्षेत्रफल 5 लाख वर्ग किलोमीटर
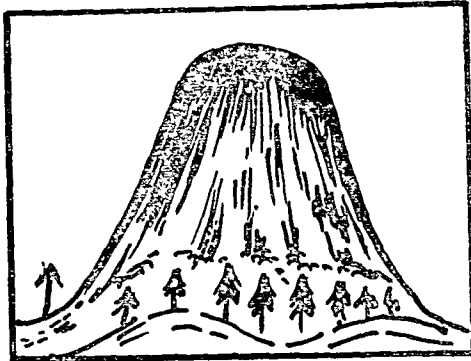
चित्र 11·18 गुम्बद (डेविल्स टावर)

से भी अधिक है तथा लावा की अधिकतम मोटाई 1500 मीटर तक है। इसी प्रकार उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका में कोलम्बिया, अफ्रीका का ड्रेकनबर्ग, दक्षिणी अमेरिका का पराना पठार लावा से बने हुए है।

ज्वालामुखी से निसृत राख विस्तृत क्षेत्र में जम जाती है। यह बड़ी उपजाऊ होती है। इटली में विसूवियस ज्वालामुखी से निकली राख से नेपल्स नगर के निकट उपजाऊ मैदान बन गया था। संयुक्त राज्य अमेरिका का 'वाशिंगटन क्षेत्र' और भारत का काली मिट्टी का क्षेत्र लावा निर्मित मैदान हैं। लावा निर्मित पठार एवं मैदानों में बहुत कुछ समानता होती है। अन्तर केवल ऊंचाई तथा घाटियों की गहराई का होता है। ऐसे पठार अपेक्षाकृत ऊँचे होते हैं तथा इनकी घाटियाँ गहरी होती हैं।

गेसर, धूम्र छिद्र तथा पंक ज्वालामुखी ज्वालामुखी के गौण रूप हैं।

गेसर गर्म जल स्रोत होते हैं जिनसे गर्म जल की फुआरें तथा ताप तेजी से निकलती रहती हैं। ज्वालामुखी क्षेत्रों में भूगर्भ के तप्त जल और वाष्प को बाहर निकलने की दरार मिल जाती है तथा यह क्रिया अविरल रूप से चलती रहती है। उष्ण जल के साथ कहीं-कहीं अनेक प्रकार के खनिज बाहर आकर जम जाते हैं। गेसर का वर्णन भूमिगत जल के अध्याय में किया गया है।

धुआँरे अथवा धूम्र छिद्र ऐसे छिद्र हैं जिनमें से गैस तथा भाप निकलती हैं। जब ज्वालामुखी से तरल एवं ठोस पदार्थों का निकलना बन्द हो जाता है तब भी मुख गर्तों एवं शंकुओं के पार्श्वों की दीवारों से लगातार भाप एवं गैसें निकलती रहती हैं। धुआँरे ज्वालामुखी की सक्रियता के अन्तिम चरण हैं।

धुआँरे का विस्तृत क्षेत्र अलास्का में कटमई ज्वालामुखी के कई वर्ग किलोमीटर घाटी के क्षेत्र में फैला हुआ है। इस घाटी को 'दस सहस्र धूम्र घाटी' कहते हैं।

गेसर एवं गर्म जल स्रोत की अपेक्षा धुआँरों से निसृत वाष्प का तापमान अधिक होता है। अगर इसमें लकड़ी की पतली शहतीर डाली जाय तो तुरन्त जल उठती है। धुआँरों के साथ, कार्बन-डाइ-आक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, हाइड्रोजन सल्फाइड, नाइट्रोजन, एमोनिया आदि गैसें एवं खनिज, जिनमें गन्धक की मात्रा अधिक होती है, निकला करते हैं। जिन धुआँरों से गन्धक प्रचुर मात्रा में निकलता है वे 'गन्धकीय धुआँरे' या सल्फातारा कहलाते हैं। इटली में नेपल्स के निकट एक ऐसा ही धुआँरा है। अलास्का की 'दस सहस्र धूम्र घाटी', ईरान का 'कोहे सुल्तान धुआँरा' तथा न्यूजीलैण्ड की प्लेण्टी की खाड़ी में 'व्हाइट टापू का धुआँरा' प्रसिद्ध हैं। इटली तथा कैलीफोर्निया में धुआँरों से बिजली पैदा की जाती है।

गर्म जल स्रोतों के प्रदेश में तप्त जल के साथ भूगर्भ से पङ्क भी बाहर निकलकर जमती रहती है। पङ्क ज्वालामुखी की रचना कीचड़ एवं मिट्टी से होती है। विभिन्न रासायनिक पदार्थों एवं खनिजों के सम्मिश्रण से पङ्क विभिन्न रंगों में होती है, इसलिए इन गर्म जल स्रोतों को लोग 'रंग गर्त' या 'पङ्क गर्त' कहते हैं। जब इन स्रोतों में जल का अभाव हो जाता है तो पानी में गन्दलापन बढ़ने लगता है तथा पाषाणों का शिलाचूर्ण इनमें मिश्रित होता रहता है। यह गन्दला पानी धीरे-धीरे कीचड़ का रूप ले लेता है। दिन-प्रतिदिन कीचड़ गाढ़ी होती जाती है तथा सूखकर कड़ी पपड़ी का रूप ले लेती है और स्रोत का मुख बन्द कर देती है। जबकि अन्दर ही अन्दर भाप का वेग बढ़ता रहता है, परिणामस्वरूप वह एक दिन पपड़ी को तोड़कर बाहर निकल जाता है। वाष्प के साथ-साथ कीचड़ और शिलाखण्ड भी बाहर आ जाते हैं। इस प्रकार के जल स्रोत 'पङ्क ज्वालामुखी' कहलाते हैं। बर्मा के अराकान तट तथा इरावदी घाटी में एवं बलोचिस्तान में मकरान तट पर ऐसे पङ्क ज्वालामुखी मिलते हैं।
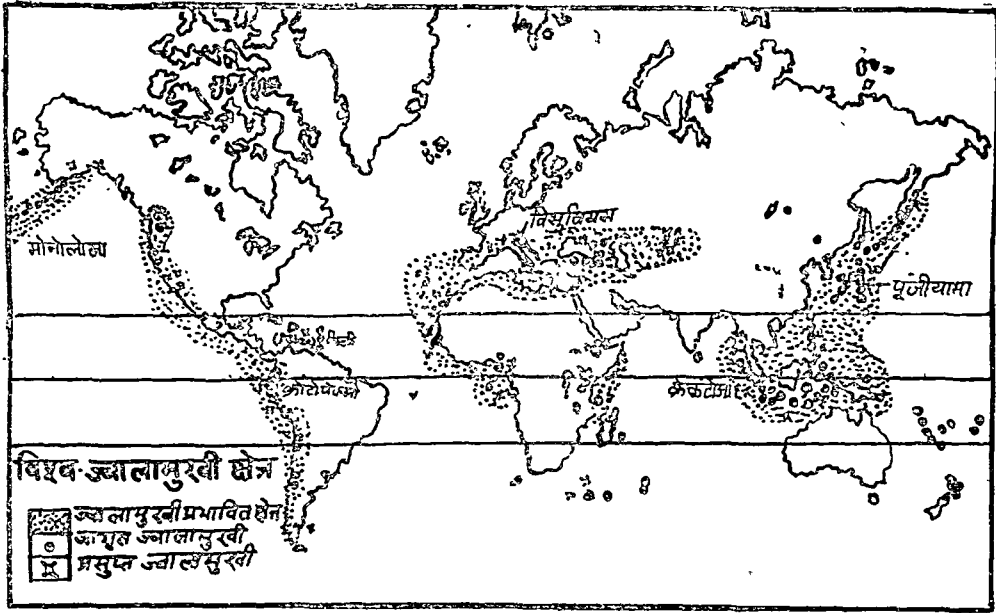
चित्र 11·19 विश्व-ज्वालामुखी क्षेत्र

ज्वालामुखी के वितरण के दो विशेष क्रम हैं। अधिकांश में ये समुद्र तटों, टापुओं तथा नवीन मोड़दार पर्वत-क्षेत्रों में मिलते हैं।

परि-प्रशान्त महासागर की तटवर्ती ज्वालामुखी पेटी प्रशान्त महासागर में स्थित द्वीपों तथा उसके चारों ओर स्थल के तटवर्ती भागों में फैली हुई है। ज्वालामुखी के इस घेरे को प्रशान्त महासागर का अग्निवृत कहते हैं। यह पेटी अण्टार्कटिका से आरम्भ होकर ऐण्डीज, रॉकीज, अलास्का, पूर्वी एशिया और पूर्वी द्वीप समूह होती हुई आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व तक जाती है। होम्स के अनुसार विश्व के दो तिहाई प्रसुप्त ज्वालामुखी इसी क्षेत्र में स्थित हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Billard, F M. (1962), Volcanoes : In history, in theory, in eruption (University of Texas Press, Austin).
2. Colneman, S. N. (1946), Volcanoes, Old and New (The John Day Co., New York).
3. Cotton, C. A. (1944), Volcanoes as Landscape Forms, (Whitcombe and Tombs, New Zealand).
4. Dury, G. H. (1959), The Face of the Earth (Penguen Books).
5. Longwell, C. R., Flint, R. F. (1962), Introduction to Physical Geo-logy (John Wiley and Sons, New York).
6. Monkhouse, F.J. (1954), Principles of Physical Geography (London University Press, London).
7. Holmes. A. (1959), Principles of Physical Geology (Thomas Nelson and Sons Ltd., London).
8. Tyrrell, G. W. (1931), Volcanoes (Home Uni. Library, London).

———

12

भूकम्प एवं भूकम्पीय विज्ञान
[Earthquakes and Seismology]

सामान्य परिचय--पृथ्वी की अन्तर्जात शक्तियों में भूकम्प एक महत्वपूर्ण घटना है जिसके कारण भूपटल पर अकस्मात् परिवर्तन होते हैं। *भूकम्प का अर्थ है पृथ्वी का कम्पन।* कभी-कभी भूगर्भिक हलचलों के कारण भूपटल का निश्चित भाग अकस्मात् ही कम्पित हो उठता है, जोर के धक्के लगते हैं और जनजीवन नष्ट हो जाता है। साधारणतया भूकम्प के समय पृथ्वी में गड़गड़ाहट की ध्वनि सुनाई देती है जिसे भूकम्प ध्वनि कहते हैं। टार तथा मार्टिन के अनुसार पृथ्वी के किसी न किसी भाग में यदा-कदा भूकम्प आते ही रहते हैं। विश्व में प्रति 3 मिनट में एक भूकम्प आता है तथा औसतन प्रति 15 दिन के अन्तर में एक बड़ा भूकम्प आता है।

सैलिसबरी के अनुसार पृथ्वी की अनायास आन्तरिक हलचलों के कारण भूपटल के किसी क्षेत्र के आकस्मिक कम्पन को भूकम्प कहते हैं।

प्राचीन काल में भूकम्प को दैवी घटना माना जाता रहा परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों का मत सर्वथा भिन्न है।

भूकम्प के मुख्य कारण

प्राकृतिक कारणों में विवर्तनिक प्रमुख है। भूगर्भ में कई प्रकार की घटनाएँ होती हैं जैसे—महाद्वीपीय व पर्वत निर्माणकारी घटनाएँ, पृथ्वी का संकुचन आदि। इन घटनाओं के कारण भूपटल की शैलों में तनाव तथा सम्पीड़न की स्थिति पैदा हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप भ्रंशीकरण की किया होती है। भ्रंश के शैलों में दरार पड़ जाती है। दरार फटने पर धरातल की शैलें दरार के अनुसार ऊपर या नीचे चढ़ जाती हैं या फिर स्थानान्तरित हो जाती हैं। इस टूट-फूट के फलस्वरूप निकटवर्ती क्षेत्र में कम्पन उत्पन्न हो जाता है। सन् 1934 में बिहार और 15 अगस्त सन् 1950 में असम में इसी प्रकार के भूकम्प आए थे। भ्रंशन के स्थान पर भूकम्प की तीव्रता अधिक होती है जो दूरी के साथ-साथ कम होती जाती है।

विवर्तनिक या टेक्टोनिक भूकम्प पृथ्वी की पपड़ी की संरचना सम्बन्धी स्थलाकृतियों से सम्बद्ध है। ऐसे भूकम्प विश्व के नवीन मोड़दार पर्वत-मालाओं के क्षेत्रों में आते है जहाँ पर अभी भी भूगर्भीय शैलों का समुचित सन्तुलन नहीं हो पाया है। पृथ्वी के ऐसे

भाग दुर्बल क्षेत्र कहलाते हैं। इन स्थानों पर प्रकृति विवर्तनिकों के माध्यम से कुछ न कुछ निर्माण कार्य अर्थात् स्थलाकृतियों में परिवर्तन करती रहती है।

भूकम्प के मुख्य एवं गौण कारणों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है :
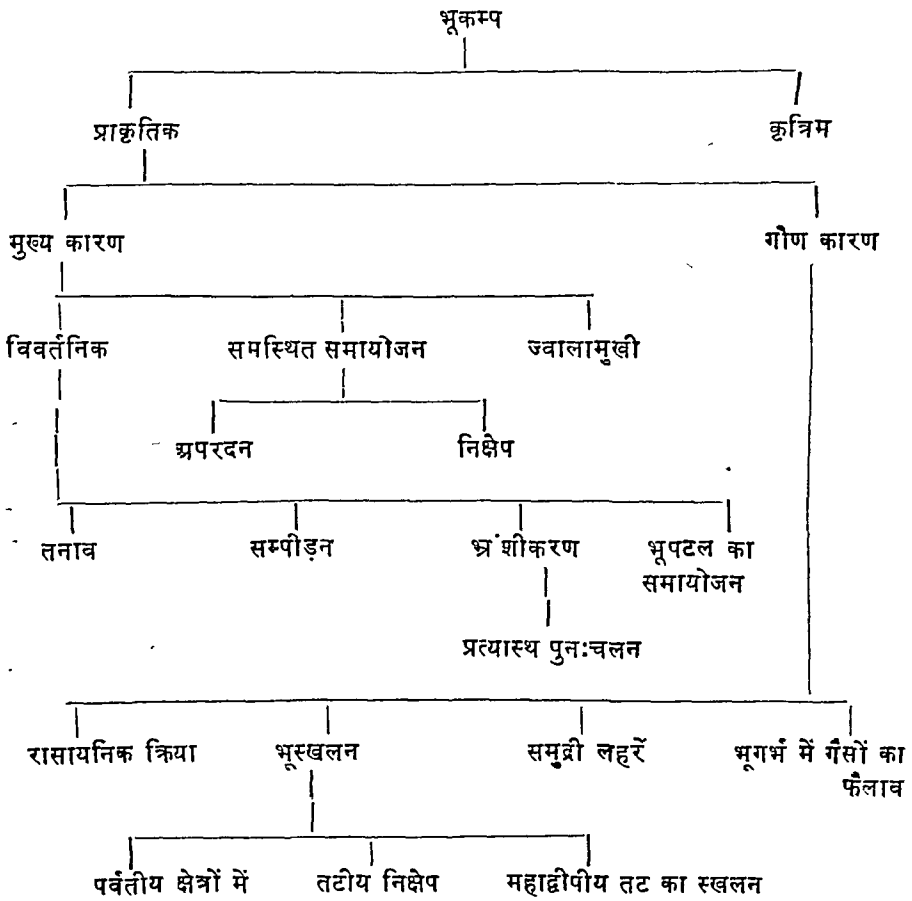
अमरीकी भूगर्भवेत्ता एफ. एन. रीड के अनुसार भूगर्भ की चट्टानों में लचीलापन होने के कारण उनमें बढ़ने और घटने का गुण है। प्रत्यास्थ पुनःचलन चट्टानों में भ्रंशीकरण के कारण होता है। ऊपर से अधिक भार के कारण भूगर्भ की चट्टानों में तनाव पैदा हो जाता है। तनाव की सीमा से अधिक दबाव के कारण चट्टानें ठीक उसी प्रकार टूट जाती हैं जिस प्रकार रबर अत्यधिक खींचने से टूट जाती है। इस भ्रंश-क्रिया के फलस्वरूप चट्टान के टूटे हुए दोनों भाग एक दूसरे से विपरीत दिशा में खिसक कर पुनः अपने मूल स्थान पर आने लगते हैं। दरारों के संघर्षण की इस प्रक्रिया से भूकम्प उत्पन्न होते हैं। भूभ्रंश पर आधारित ऐसे भूकम्प प्रत्यास्थ पुनःचलन भूकंप कहलाते हैं।

भ्रंश क्षेत्रों में विवर्तनिक भूकम्प कम गहराई पर ही मिलते हैं। किन्तु दूसरे भूकम्पों की अपेक्षाकृत इनकी तीव्रता अधिक होती है। सन् 1906 में सेन फ्रांसिसको में भ्रंश के

कारण ही सेन एण्ड्रियास घाटी का निर्माण हुआ। कहीं-कहीं भ्रंश के दोनों छोरों की दूरी $6\frac{1}{4}$ मीटर तक हो गई विवर्तनिक के इस भ्रंश की लम्बाई 800 किमी. थी।

भूगर्भ से विकिरण एवं ज्वालामुखी क्रियाओं द्वारा ताप ह्रास होता रहता है। ताप ह्रास के कारण पृथ्वी का आन्तरिक भाग संकुचित होता है। कालान्तर में आन्तरिक
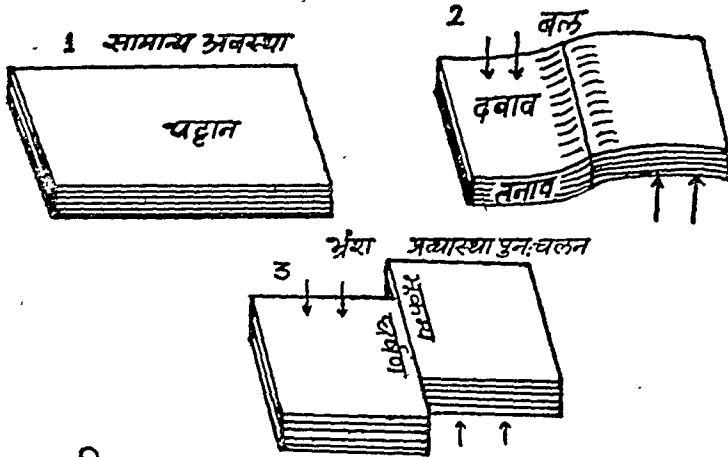
चित्र 12.1 प्रत्यास्थ पुनः चलन के अनुसार भूकम्प

भाग सिकुड़ कर छोटा हो जाता है जिसके फलस्वरूप पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। किन्तु पपड़ी तुरन्त आन्तरिक भाग से सम्पर्क या समायोजन स्थापित कर लेती है। इस समायोजन के प्रक्रिया-काल में पृथ्वी कंपन होता है।

भूपटल का समायोजन

भूतल पर विविध भूआकार मिलते हैं। ऊँचे पर्वतों के निकट या तो गहरी घाटियाँ स्थित हैं या सागर हिलोरें लेता है। प्रकृति के विभिन्न साधन जैसे नदी, हिमनदी, वायु आदि पर्वतों और महाद्वीपों से अपरदन द्वारा प्राप्त सामग्री सागरों की तली में निक्षेपित करते रहते हैं। निक्षेप के कारण क्रमशः सागरों की तली पर भार उनकी भार वहन सीमा से अधिक हो जाता है। किन्तु दूसरी ओर अपरदन के कारण पर्वतों का भार कम हो जाता है जिससे असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप सागर तलों के भारी भाग दबाव के कारण नीचे धंस जाते हैं और पर्वतों के अपरदित भाग पुनः ऊँचे उठ जाते हैं। इस क्रिया से पृथ्वी का सम्बन्धित भाग हिल उठता है तथा भूकम्प के धक्के अनुभव होते हैं। समस्थिति समायोजन से सम्बन्धित भूकम्प नवीन मोड़दार पर्वतों के प्रदेशों में अधिक उत्पन्न होते हैं। इनमें पर्वत श्रृंखलाएँ उस समय तक कम्पित होती रहती हैं जबतक कि वहाँ पुनः सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता। सन्तुलन मूलक भूकम्प विस्तृत क्षेत्र को तो अवश्य प्रभावित करते हैं परन्तु विवर्तनिक भूकम्पों की तुलना में यह कम विनाशकारी होते है। वैज्ञानिकों के अनुसार इस प्रकार के भूकम्प का केन्द्र भूगर्भ में लगभग 60 किमी. की गहराई पर होता है।

भूगर्भ में जब मैग्मा या शैलमूल को धरातल पर आने के लिए सुगम मार्ग नहीं मिलता, तब अत्यधिक दबाव के कारण भूगर्भ की शैलों को तोड़ता हुआ अत्यन्त तीव्र वेग से

बाहर आता है। इस प्रक्रिया से भीषण विस्फोट होता है जिससे आसपास का क्षेत्र कम्पित हो उठता है। ज्वालामुखी क्रिया से उत्पन्न भूकम्पों का प्रभाव ज्वालामुखी के चारों ओर सीमित क्षेत्र में ही होता है। भूकम्प का वेग तथा क्षेत्र की विशालता ज्वालामुखी विस्फोट के वेग पर आधारित रहते हैं। सक्रिय ज्वालामुखी क्षेत्रों में भूकम्प के आघात प्रायः अनुभव होते रहते हैं जैसे प्रशान्त महासागर के किनारे के द्वीपों और महाद्वीपों में। सन् 1883 में क्राकाटाओ (Krakatoa) द्वीप में भीषण विस्फोट के कारण प्रचण्ड भूकम्प आया था। 160 किमी. दूर बेटाविया (जावा) नगर में मकानों की खिड़कियों के काँच टूट गये थे तथा समुद्र की लहरें 12 800 किमी. दूर दक्षिणी अमेरिका के केप हार्न तट से जा टकराई थीं।

गौण कारण

चूना शैल के क्षेत्रों में भूमिगत जल रासायनिक क्रिया द्वारा कन्दराओं का निर्माण कर लेता है। अधोभौमिक जल में कार्बन-डाई-आक्साइड के अतिरिक्त भूगर्भ में विद्यमान अन्य गैसें भी समाविष्ट हो जाती हैं जो चूने की शैलों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं फलस्वरूप चूने की शैलें भूमिगत जल में सरलता से घुल जाती हैं। चूने की सरन्ध्र शैल घुलनशीलता के कारण कन्दराओं या गुफाओं का रूप ले लेती हैं। जब इन कन्दराओं की छत अनायास ही गिर जाती हैं तो समीपस्थ क्षेत्र कम्पित हो उठता है। यूगोस्लाविया के चूना शैल क्षेत्र में इस प्रकार के भूकम्प अनुभव किये जाते हैं।

पर्वतीय क्षेत्रों में तीखे ढलावों पर विशाल शिलाखण्डों के टूट कर गिरने तथा हिमनद के मार्ग में तीव्र ढाल के स्थान पर हिम-शैलों के टूट कर गिरने से समीपस्थ क्षेत्रों में कम्पन हो उठता है। सागर तटीय भागों में ऊँची कगार के अनायास ही टूटकर गिर जाने से आस-पास के भागों में भूकम्प का अनुभव होता है। महाद्वीपीय मग्नतट का तीव्र ढाल वाला अग्रिम भाग अकस्मात् ही टूटकर समुद्र में फिसल जाता है तो सामान्य भूकम्प का अनुभव होता है। इस प्रकार के भूकम्प अधिकतर प्रशान्त महासागर के मग्नतट स्थित द्वीपों में आते हैं। सागर तटों पर लहरों के अत्यन्त वेग से टकराने से उत्पन्न दाब से सीमित क्षेत्र में भूकम्प आते हैं।

तेज दौड़ती हुई रेल, बमों के विस्फोट, खानों और सुरंगों की खुदाई के लिए बारूद के विस्फोट आदि से भी आसपास के क्षेत्रों में कम्पन हो जाता है।

गुटनबर्ग और रिटचर ने गहराई पर होने वाले पातालीय भूकम्पों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि भूगर्भ में गहराइयों पर भूकम्प के धक्कों के उद्‌गम की क्रियाविधि समान होती है। भूकम्पों को उनके प्रघात की सघनता के अनुसार तीन भागों में बांटा गया है :

(1) **साधारण भूकम्प**—ऐसे भूकम्पों का प्रघात 48 किमी. या उससे कम गहराई पर उत्पन्न होता है।

(2) **मध्यम भूकम्प**—इनका प्रघात 72 से 256 किमी. के बीच सघन होता है।

(3) **गहरे भूकम्प**—इनका प्रघात 240 से 672 किमी. की गहराई के मध्य उत्पन्न होते हैं।

स्थिति के आधार पर भूकम्प स्थलीय तथा सामुद्रिक होते हैं।

स्थलीय भूकम्पों का उद्गम स्थान धरातल के स्थल भाग में ही रहता है। यदि उद्गम स्थान सागर तट के निकट हो तो भूकम्प की हलचल स्थलीय भाग तक ही सीमित न रहकर सागर में भी होती है।

सागरीय भूकम्पों का उद्गम सागर की तली के नीचे होता है। सागर तल में उत्पन्न होने वाले भूकम्पों के कारण वहाँ विशाल गर्तों का निर्माण हो जाता है। इससे विशाल लहरें उठती हैं जो कभी-कभी 9 से 16 मीटर ऊँची और 160 किमी. तक लम्बी होती हैं और इनकी गति 480 किमी. से 800 किमी. प्रति घण्टा तक होती है। इन दैत्याकार उत्ताल तरंगों के कारण नाव व छोटे-छोटे जलयान डूब जाते हैं। समुद्र में पड़े तार (Cables) और प्रकाश स्तम्भ टूट जाते हैं। जापान में इस प्रकार की भयंकर तरंगों को सुनामिस कहा जाता है। सन् 1896 में जापान के निकट टस्कारोरा गर्त में उत्पन्न भूकम्प के कारण तीन प्रलयंकारी सुनामिस बड़ी तीव्र गति से जापान के तट से टकराकर 20,000 व्यक्तियों और 12,000 मकानों को नष्ट कर डाला।

भूकम्प के विनाशकारी प्रभाव—भूकम्प से जनजीवन की भारी क्षति होती है। भूकम्प प्रभावित क्षेत्रों में प्रायः दिन विनाशलीला का तांडव होता रहता है, मकान ढह जाते हैं, रेल-पथ और सड़कें टूट जाती हैं, बाँधों व नहरों में दरारें पड़ जाती हैं, नदियां अवरुद्ध व वनस्पति नष्ट हो जाती है। खेतों-खलिहानों में पिघला लावा व राख फैल जाती है। समुद्रों में जलयान व नावें डूब जाती हैं।

भूकम्प से सागर में नये द्वीप जन्म लेते हैं। सागर तटों की दरारों में खाड़ियां बन जाती हैं, झीलों का निर्माण होता है, अपक्षय क्रिया से चट्टानें चूर्ण हो जाती हैं, गन्धकीय स्रोत या खनिज ऊपर आ जाते हैं।

भूकम्प कब आता है इसकी भविष्यवाणी की जाने लगी है। रूसी वैज्ञानिकों के अनुसार पी (प्राथमिक) व एस (गौण) तरंगें जिनकी गति एक सी स्थिर रहती है अचानक घटकर पुनः स्थिर होने लगती हैं तभी भूकम्प आता है।

भूकम्प आने के पूर्व समुद्र, झीलों व नदियों का जल मटमैला हो जाता है। कुओं में पानी व कीचड़ की मात्रा बढ़ जाती है। कुओं के जल में रेडियो सक्रिय गैस रेडान की मात्रा अधिक हो जाती है। गर्म जल के स्रोत सूख जाते हैं, पशु-पक्षियों व सर्पों आदि का व्यवहार असामान्य हो जाता है। चीन में सन् 1975 में भूकम्पीय अधिकेन्द्र के क्षेत्रों से उपरोक्त आधारों के प्रकट होते ही लोगों को सुरक्षित स्थानों पर समय रहते पहुंचा दिया गया जबकि बाद में भूकम्प से 90,000 मकान नष्ट हो गये।

चित्र न.4 भूकम्प लेखी (Seismograph)
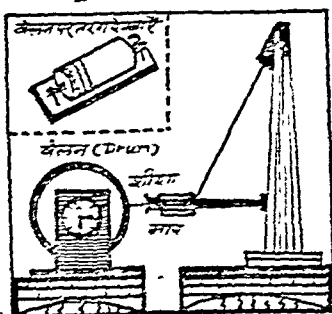
भूकम्पीय तरंगों का मापन सिसमोलोजिक यन्त्र से किया जाता है। एक यन्त्र में पेण्डुलम की तरह के भार से सुईनुमा कलम जुड़ी रहती है जो घूमते बेलनाकार कागज पर कम्पन को रेखाओं में अंकित करती है जिससे भूकम्प केन्द्र की दिशा व दूरी ज्ञात हो जाती है। परिष्कृत यन्त्र में सुई के स्थान पर प्रकाश व कागज के बदले फोटो कागज प्रयुक्त किया जाता है। ये यन्त्र अत्यन्त संवेदनशील होते हैं।

उच्च कोटि के भूकम्प लेखी में सुई के स्थान पर शीशा लगा रहता है जिसके द्वारा प्रकाश किरणें बेलन पर गिरती हैं। बेलन पर सादा कागज के स्थान पर फोटोग्राफिक कागज लगा रहता है जिस पर प्रकाश किरणों द्वारा टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं का चित्र अंकित होता है। यह रेखाचित्र भूकम्पीय तरंगों के स्वभाव एवं वेग को प्रदर्शित करता है। इन्हीं रेखाओं द्वारा भूकम्प के उद्गम स्थान की भूकम्प-लेखी स्टेशन से दूरी तथा तरंगों की दिशा का बोध होता है।

मैसलवेन के अनुसार, "भूकम्प भूपटल की 'कम्पन या तरंग' है जो धरातल के नीचे अथवा ऊपर चट्टानों के लचीलेपन या गुरुत्वाकर्षण की समस्थिति के क्षणिक अव्यवस्थित होने पर उत्पन्न होती है।"

भूकम्पमापी यन्त्र के अध्ययन के आधार पर भूकम्प-केन्द्रों और भूकम्पीय लहरों से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त किया जाता है। भूकम्प के उत्पत्ति स्थान को 'भूकम्प उद्गम केन्द्र' कहते हैं जहां से सभी दिशाओं में कम्पन फैल जाता है। उद्गम स्थान के ठीक लम्बवत दूरी पर जहां भू-पृष्ठ पर सर्वप्रथम कम्पन अनुभव किया जाता है भूकम्प अधिकेन्द्र कहलाता है।

चित्र-12.5 भूकम्प के अधिकेन्द्र से तरंगो का प्रसार क्रम.

अधिकेन्द्र पर भूकम्प का प्रभाव सर्वाधिक पड़ता है तथा दूरी के अनुपात में कम होता जाता है। इस केन्द्र से भूकम्पीय तरंगें धरातल पर ठीक उसी प्रकार चलती हैं जैसे जल के ऊपर लहरें। अधिकेन्द्र से भूकम्पीय तरंगें चारों ओर फैल जाती हैं। भूकम्प आने के पूर्व और पश्चात् हलकी तरंगों का आभास होता है।

अधिकांश भूकम्पों का उद्गम केन्द्र पृथ्वी के धरातल से 60 किमी. गहराई पर आंका जाता है परन्तु 30 प्रतिशत भूकम्पों के केन्द्र 720 किमी. की गहराई पर मिलते हैं।
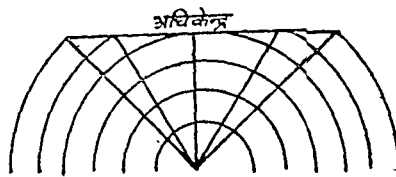
चित्र-12.6 भूकम्प के उद्गम एवं अधिकेन्द्र

गहरे उद्गम केन्द्र वाले भूकम्प मुख्यतः प्रशान्त महासागर के चारों ओर तथा कहीं-कहीं नवीन वलित पर्वत आल्प्स तथा हिमालय-क्षेत्र में पाये जाते हैं।
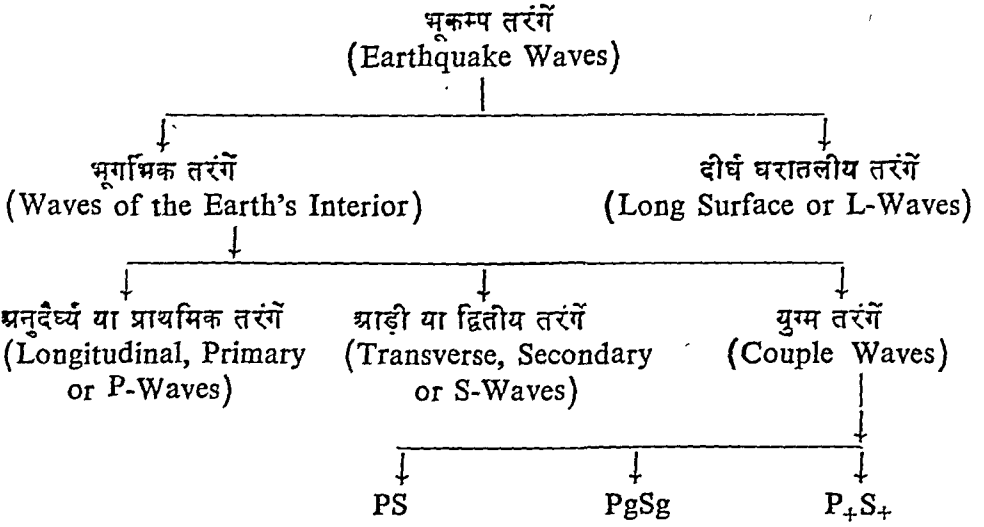
भूगर्भिक तरंगें भूकम्प के उद्‌गम स्थान से प्रारम्भ होकर भूगर्भ में होती हुई धरातल तक पहुँचती हैं। परमाणुओं की गति के आधार पर इन तरंगों को दो भागों में विभाजित किया गया है।

सर्वप्रथम अनुदैर्घ्य तरंगों का आभास होता है। इनको प्राथमिक तरंग भी कहते हैं। अनुदैर्ध्य तरंगें चट्टानी कणों के दवाव या सम्पीड़न के कारण उत्पन्न होती है इसलिए इसको
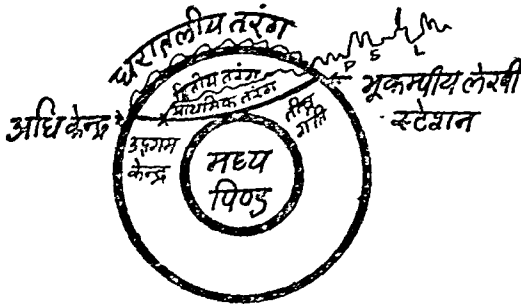
चित्र-12·7 भूकम्प तरंगे

सम्पीड़न तरंग भी कहते हैं। ये तरंगें ध्वनि तरंगों के सदृश होती हैं। इनमें चट्टानों के अणुओं का कम्पन तरंगों की दिशा में आगे-पीछे होता है। यह सर्वाधिक तीव्र गति से चलती
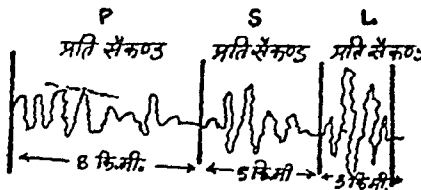
चित्र-12.8 भूकम्पीय तरंगो का भूकम्प अभिलेख पर अंकन

हैं किन्तु इसकी गति चट्टानों की सघनता पर आधारित रहती है। साधारणतया इनकी गति लगभग 8 किमी. प्रति सैकण्ड होती है। केवल P तरंग ही पृथ्वी के मध्य पिण्ड में होती हुई

एक छोर से दूसरे छोर तक केवल 21 मिनट में ध्रुवीय स्थान पर पहुंच जाती है। तीव्र गति के कारण ये तरंगें धरातल पर सर्वप्रथम पहुंचती हैं।

एस तरंगों में चट्टानों के अणुओं का कम्पन तरंग के लम्बवत होता है, इसलिए इन्हें आड़ी या अनुप्रस्थ तरंग कहते हैं। आड़ी तरंगों में अणुओं का कम्पन ठीक वैसे ही होता

चित्र-12.9 P तथा S तरंगों में अणुओं की गति
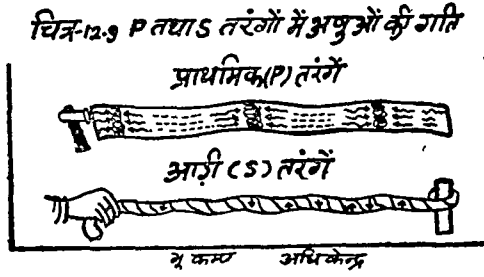
है जैसे तनी हुई रस्सी के एक ओर से झटका देने पर उसमें अणु ऊपर-नीचे तरंग की दिशा में समकोण पर हिलते हैं। इन तरंगों को द्वितीय तरंगें इसलिए भी कहते हैं कि ये प्राथमिक तरंगों के तुरन्त बाद में आती हैं। यह प्राथमिक तरंग से अधिक तीव्र होती है, इसलिए
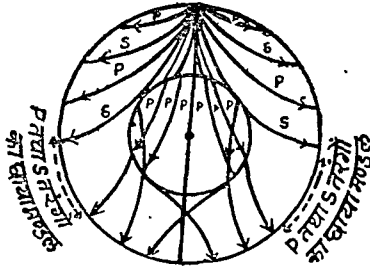
चित्र-12.10 भूगर्भ में भूकम्पीय तरंगों का पथ

इसे विध्वंसक तरंग भी कहते हैं। औसतन इसकी गति 5 किमी. प्रति सैकण्ड होती है। यह तरंग तरल पदार्थ से होकर नहीं गुजर पाती इसीलिए सागरीय भागों में विलीन हो जाती है। ये तरंगें पृथ्वी के केन्द्रीय पिण्ड से भी नहीं गुजर पातीं और अपना पथ परिवर्तन कर देती हैं।

P,S तथा L तरंगों के अतिरिक्त तरंग युग्मों का भी पता लगाया है। इस प्रकार के PS, Pg Sg तथा P_* S_* तीन प्रकार के युग्मों का वैज्ञानिक ने पता लगाया है।

अधिक गहराई में न जाकर Pg Sg युग्म का भ्रमण मुख्यत: पृथ्वी की ऊपरी परत तक ही सीमित रहता है। Pg तदंग की गति 5·4 तथा Sg की गति 3.3 किमी. प्रति सैकण्ड होती हैं।

PS तरंगें पृथ्वी के मध्य पिण्ड में भी प्रवेश कर जाती हैं। गहराई और चट्टानों के घनत्व के साथ-साथ इनकी गति बढ़ती जाती है। पृथ्वी के आन्तरिक भाग में 2900 किमी. की गहराई पर P तरंग की गति 13 और S तरंग की गति 7 किमी. प्रति सैकण्ड हो जाती है।

P_* S_* तरंगें PS तथा Pg Sg तरंगों के भ्रमण भाग के बीच गतिशील पाई जाती हैं। P_+ तरंग की गति 7 किमी. तथा S_+ की गति 4 किमी. प्रति सैकण्ड होती है।

पृथ्वी की आन्तरिक रचना में विभिन्नता होने के कारण तरंगों के मार्ग तथा गतियों में भी भिन्नता पाई जाती है। जहाँ चट्टानों के घनत्व में अन्तर आ जाता है वहाँ तरंगों के मार्ग में झुकाव आ जाता है। तरंगों की गति चट्टानों के घनत्व पर आधारित रहती है। तरंगें जैसे-जैसे पृथ्वी के आन्तरिक भाग में प्रवेश करती हैं अधिक घनत्व के कारण उनकी गति भी तेज होती जाती है।

पृथ्वी के आन्तरिक भाग में चलने वाली प्राथमिक आड़ी तथा धरातलीय तरंगों की गतियां भिन्न-भिन्न गहराइयों में अलग-अलग होती हैं।

सारणी 1
प्राथमिक तथा आड़ी तरंगों की गति
(प्रति सैकण्ड किलोमीटर में)

भिन्न-भिन्न गहराई	प्राथमिक तरंग	आड़ी तरंग	धरातलीय तरंग
धरातल या उसके निकट	5.4	3.3	3.0
मध्यवर्ती भाग	7.8 से 8	4.4 से 5	—
गहरे भूगर्भ में	8 से अधिक	$3\frac{1}{2}$ से 4	—

जैफ्रीज के अनुसार 400 किमी. की गहराई पर P तथा S तरंगों के वेग में यकायक वृद्धि हो जाती है गहरे भूगर्भीय भागों में इसकी गति में ह्रास होना आरम्भ हो जाता है। लेहमेन के अनुसार P तरंग की अपेक्षा S तरंग के वेग में अधिक मात्रा में ह्रास होता है। पृथ्वी के क्रोड़ में P तरंग तो प्रवेश कर जाती है परन्तु S तरंग मुड़कर उसके पास से निकल जाती है।

धरातलीय तरंगों का भ्रमण पथ धरातल पर ही होता है। ये तरंगें सर्वाधिक दूरी तय करती हुई अधिकेन्द्र पर सबसे बाद में पहुंचती हैं इसलिए इनको लम्बी तरंग की संज्ञा भी दी जाती है। ये तरंगें जल में होकर तो गुजर जाती हैं परन्तु अधिक गहराई पर जाकर विलीन हो जाती हैं। इनका प्रभाव जल और थल दोनों पर ही होता है। इनकी औसत गति 3 किमी. प्रति सैकण्ड होती है परन्तु कम गति होते हुए भी यह अत्यन्त विनाशकारी होती हैं। इनके अणुओं की गति आड़ी होती है। यह धरातल पर उसी प्रकार चलती हैं जैसे किसी जलाशय में पत्थर फेंकने से जल में तरंग पैदा हो जाती हैं।

भूकम्पलेखी यन्त्र द्वारा अंकित तरंगों की प्रकृति, गति, उदगम स्थान, भूकम्प आने का समय तथा प्रभावित क्षेत्रों के विषय में जानकारी मिलती है। भारत तथा विश्व के अन्य बड़े नगरों और भूकम्प प्रभावित क्षेत्रों में भूकम्पमापी यन्त्र स्थापित कर दिये गये हैं। इन्हीं

सारणी 2

भूकम्पीय तरंगों का संक्षिप्त विवरण

प्रतीक	तरंग का नाम	औसत गति प्रति सेकण्ड	अणुओं की गति या वेग	प्रभाव	विशेषता
P	प्राथमिक या सम्पीड़न तरंग	8–13	दबाव के कारण ध्वनि तरंग की भांति आगे पीछे	कम विनाशकारी	तीव्र गति, ठोस व तरल पदार्थ एवं गैसों में भी प्रवेश कर जाती है मध्य पिण्ड में प्रवेश कर जाती है।
S	द्वितीय आड़ी या कर्तन तरंग	5–7	ऊपर नीचे ठीक उसी प्रकार जैसे तनी हुई रस्सी को झटकने से तरंग की दिशा में लम्बवत गति होती है।	मध्यम विनाशकारी	तरल पदार्थ में लुप्त हो जाती है, केवल ठोस पदार्थ में पाई जाती है। मध्य पिण्ड में प्रवेश नहीं कर पाती।
L	लम्बी या धरातलीय तरंग	4–5	जलाशय में पत्थर फेंकने पर उठती तरंग की भांति	अत्यधिक विनाशकारी	तरल एवं ठोस दोनों ही पदार्थों में पाई जाती है। जल में भी प्रवेश कर जाती है। सर्वाधिक मन्द गति।

यन्त्रों की सहायता से भूकम्प के आने का समय विदित हो जाता है। जिन स्थानों पर भूकम्प अनुभव किया जाता है उसके समय को मानचित्र पर अंकित कर लिया जाता है तथा उन्हें रेखा द्वारा जोड़ दिया जाता है। ऐसी रेखाएँ जो भूकम्प आने के समान समय वाले स्थानों को जोड़ती हैं सह-भूकम्प रेखायें कहलाती हैं। यह रेखा दीर्घ वृत्ताकार होती हैं। दीर्घ वृत्त का केन्द्र ही भूकम्प का उद्गम स्थान होता है। भूकम्प का समय निर्धारित करने के अतिरिक्त प्रघात तथा क्षति के आधार पर भी रेखाएँ खींची जाती हैं। भूकम्प द्वारा समान प्रघात व क्षति वाले स्थानों को जोड़ने वाली रेखा भूकम्य समाघात रेखाएँ कहलाती हैं। ये रेखायें भी वृत्ताकार होती हैं।

भूकम्प प्रायः पृथ्वी के दुर्बल तथा अस्थिर भागों में ही आते हैं। प्रसिद्ध भूकम्पविद् काउन्ट डी मांटेसस डी वैलोर ने विश्व भूकम्पों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि "अधिकांश भूकम्प नवीन मोड़दार पर्वतों के सहारे फैले हुए अस्थिर प्रदेशों के उच्चावचन में भारी अन्तर वाले क्षेत्रों में पाये जाते हैं।" डटन के अनुसार पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीप समूह जहाँ दो महाद्वीपीय और दो महासागरीय द्रोणियां मिलती हैं भूकम्पों के विशिष्ट क्षेत्र हैं।

अत्यधिक भूकम्प वाले क्षेत्र यूरोप के दक्षिण तथा एशिया के मध्य स्थलीय भाग से होकर पश्चिम से पूर्व दिशा की ओर फैली हुई हैं। उसे यूरोप तथा एशिया के नवीन वलित पर्वत क्षेत्रों की पेटी भी कहा जाता है। इस क्षेत्र में अभी भी अस्थिरता की व्यवस्था बनी हुई है, इसलिए इस पेटी में अधिकांशतः सन्तुलन मूलक तथा भ्रंश मूलक भूकम्प आते रहते हैं। विश्व के लगभग 21 प्रतिशत भूकम्प इसी क्षेत्र में आते हैं।

संसार के लमभग 68 प्रतिशत भूकम्प प्रशान्त महासागर के दोनों तटीय भागों में आते हैं। यहाँ भूकम्प के लिए तीन प्रमुख दशाएँ सहायक हैं—गहरे सागर और ऊँचे भागों के संगम स्थल के कारण उच्चावचन में भारी अन्तर, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के

चित्र 12.11 भूकम्पों का विश्व वितरण
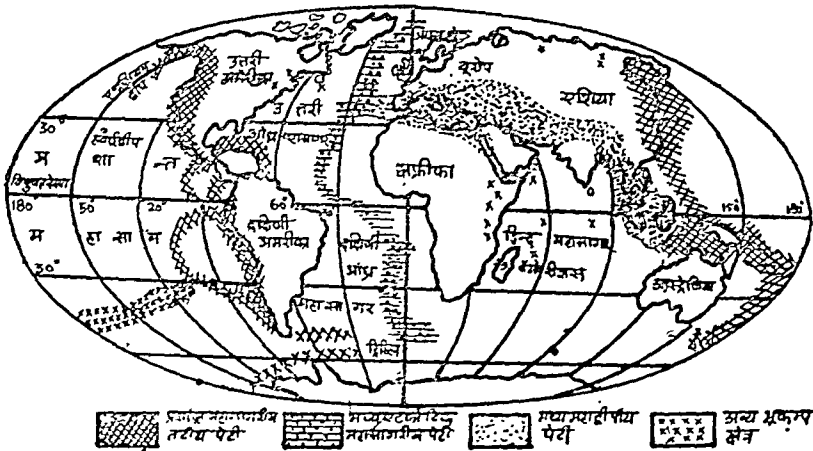
पश्चिमी किनारे पर उत्तर से दक्षिण की ओर फैले क्रमशः राकीज व एण्डीज की नवीन वलित पर्वत श्रृंखलायें तथा ज्वालामुखी क्षेत्र।

इसी तरह एशिया के पूर्वी भाग में प्रशान्त महासागरीय तटीय पेटी उत्तर में कमश्चटका से प्रारम्भ होकर तटीय भागों को सम्मिलित करती हुई क्यूराइल, जापान व फिलीपाइन द्वीपों को घेरती हुई इण्डोनेशिया तक पहुँचती है। अनुमानतया जापान में प्रति वर्ष 1500 छोटे और बड़े भूकम्प आते हैं। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर के द्वीपों में भी भूकम्प अनुभव किये जाते हैं।

विश्व में भूकम्पों से प्रभावित अन्य क्षेत्र भी हैं जैसे पूर्वी अफ्रीका की विभ्रंश घाटी. अरब प्रायद्वीप के दक्षिण में हिन्द महासागर के द्वीप जो मॉरीशस तक फैले हुए हैं, संयुक्त राज्य अमेरिका का उत्तरी-पूर्वी भाग आदि।

विश्व के अत्यन्त प्राचीन एवं दृढ़ भू-खण्ड भूकम्पों के प्रभाव से प्रायः मुक्त हैं। ये भाग हैं—गोंडवानालैण्ड के अंश जैसे दक्षिणी भारत का पठार, अफ्रीका ब्राजील का पठार और आस्ट्रेलिया का अधिकांश क्षेत्र। इसी प्रकार प्राचीन अंगारालैण्ड उत्तरी सोवियत संघ शान का पठारी भाग, ग्रीनलैण्ड, कनाडा एवं संयुक्त राज्य अमेरिका का अधिकांश भाग।

भारत के भूकम्प क्षेत्र

भारत में विविध भू-रचना के कारण दुर्बल क्षेत्रों में अधिक और कठोर पठारी भाग में कम भूकम्प आते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार उत्तरी भारत में भूकम्प के मुख्य क्षेत्र पूर्व से पश्चिम 3000 किमी. लम्बाई तथा 500 किमी चौड़ाई में फैला हुआ है। कम प्रघात वाले भूकम्पों को छोड़कर यहां 9 वर्षों में एक जोरदार भूकम्प अवश्य आता है। भूरचना तथा
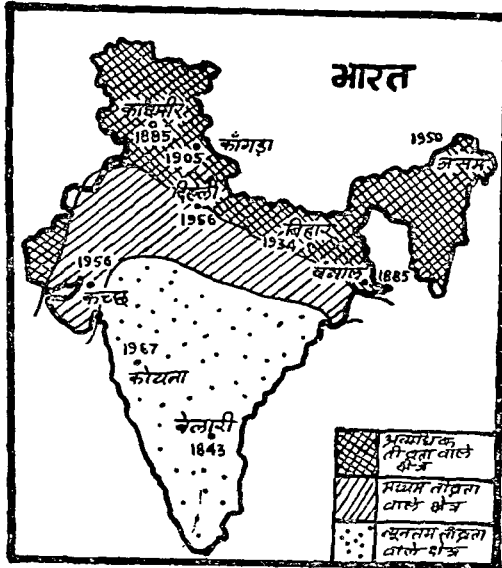
चित्र 12.12 भूकम्पों से प्रभावित भारत के तीन क्षेत्र

भूकम्पों की आवृत्ति एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए आवृत्ति के आधार पर भारत को तीन मुख्य क्षेत्रों में—अत्यधिक आवृत्ति एवं तीव्रता वाले, सामान्य या मध्यम आवृत्ति एवं तीव्रता वाले, न्यूनतम आवृत्ति एवं तीव्रता वाले क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है।

अत्यधिक आवृत्ति एवं तीव्रता वाले क्षेत्र में हिमालय (मुख्यतया असम की पहाड़ियां) और कच्छ का क्षेत्र सम्मिलित है। इस क्षेत्र में भूकम्पों की आवृत्ति 8 से लेकर 10 तथा उससे भी अधिक है। इस क्षेत्र के कुछ विनाशकारी भूकम्प इस प्रकार हैं। यह अत्यधिक सक्रिय भूकम्प क्षेत्र है। वैज्ञानिकों का मत है कि भारत के दक्षिणी पठार के उत्तर की ओर दबाव से हिमालय हिल उठता है। इन 3 स्थलों में ही भारतीय प्रायद्वीप के सुदृढ़ अन्तरीन त्रिशूल की भांति हिमालय को वेध रहे हैं। पूर्व में गारो-मिकिर पहाड़ियां एक 'शूल' है तो मध्य में अरावली पर्वत श्रेणी का भूमिगत, प्रच्छन्न विस्तार हिमालय को वेध रही है। पश्चिम में पंजाब की नदियों की रेतों में बना भाग हिमालय को धकेल रहा है। भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग के वी. के. कृष्णास्वामी का कहना है कि सक्रिय भ्रंशों के सहारे औसतन 1 या 2 सेन्टीमीटर प्रति वर्ष धरती खिसक रही है जिससे भूकम्प आते हैं।

सामान्य या मध्यम आवृत्ति एवं तीव्रता वाले क्षेत्र हिमालय और दक्षिणी पठार के मध्य गंगा, सतलज का मैदानी भाग, गुजरात (काठियावाड़), मध्य प्रदेश तथा दक्षिण के पूर्वी घाट और तटीय भाग में फैले हुए हैं। इस क्षेत्र में भूकम्पों की आवृत्ति 5 से 8 तक है। ये भूकम्प भूस्खलन, तलछट के निक्षेप की पूर्ति तथा जल प्रवाह से रेतों के संतान से होते हैं।

न्यूनतम आवृत्ति एवं तीव्रता वाले क्षेत्र गोण्डवाना भूखण्ड का कठोर दक्षिणी पठारी भाग है जिसमें यदा-कदा बहुत ही सामान्य तीव्रता के भूकम्प आते हैं। इस क्षेत्र में भूकम्पों की आवृत्ति 1 से 5 तक है। क्षेत्र के कोयना के भूकम्प ने वैज्ञानिकों के इस मत पर कि भारत का दृढ़ दक्षिणी पठारी भाग भूकम्पों से अछूता है, विवाद पैदा कर दिया है।
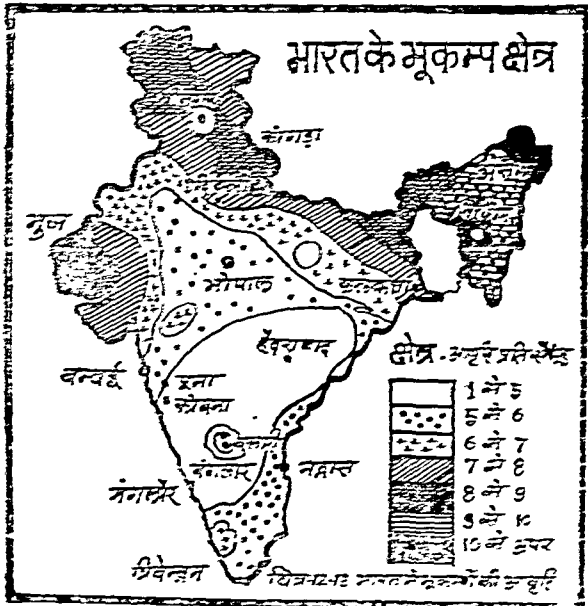
भूकम्प वैज्ञानिकों, भूगर्भवेत्ताओं एवं इन्जीनियरों ने भूकम्पों की आवृत्ति के आधार पर भारत को 7 क्षेत्रों में बांटा है।

क्षेत्र 0 से लेकर 4 तक घटित भूकम्प बहुत हल्के प्रभाव के होते हैं जिनके कम्पन का आभास भी कम होता है। यदा-कदा कभी कोई मध्यम तीव्रता का भूकम्प आ भी जाय तो हानि नाम मात्र की होती है। इन्हें सुरक्षित भूचाल भी कह सकते हैं।

विश्व के कुछ प्रसिद्ध भूकम्प एवं उनसे हुई हानियां

वर्ष	स्थान	मृतक संख्या	प्रभावित क्षेत्र वर्ग किमी. में	हानियां
11 अक्टूबर, 1737	कलकत्ता	3,00,000		कलकत्ता नगर के हजारों मकान नष्ट हो गये तथा लाखों व्यक्ति बेघरबार हो गये।
1755	लिस्बन (पुर्तगाल)	60,000		40 फीट ऊंची जल तरंग ने लिस्बन नगर को नष्ट कर दिया।
16 जून, 1819	कच्छ	2,000	4,500	4500 वर्ग किमी क्षेत्र धंसने से समुद्र बन गया, भुज नगर नष्ट हो गया। 1300 किमी लम्बी भूमि में दरार पड़ गई।
1883	काकाटाओ (इण्डोनेशिया)	36,000		120 फीट ऊँची जल तरंग से जावा तथा सुमात्रा के अनेक तटीय नगर नष्ट हो गये।
30 मई, 1885	श्रीनगर	3,000	2,60,000	श्रीनगर तथा पास के गांव के हजारों घर नष्ट हो गये तथा यातायात व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई।
4 अप्रैल, 1905	कांगड़ा	20,000	12,90,000	कांगड़ा, धर्मशाला तथा निकटवर्ती गाँव क्षतिग्रस्त हो गये तथा सारा पंजाब हिल उठा।
1920	कांसू (चीन)	2,00,000	2,60,000	लोयस मिट्टी के क्षेत्र में भूस्खलन के कारण हजारों गांव क्षतिग्रस्त हुए या नष्ट हो गये और लाखों व्यक्ति बेघरबार हो गये।

अप्रेल 1923	टोकियो (जापान)	1,40,000		सगामी खाड़ी का भाग 1000 फीट से 1500 फीट नीचे धंस गया तथा 5,00,000 घर भयंकर आग तथा आघातों से नष्ट हो गये ।
15 जनवरी, 1934	बिहार	10,000	49,40,000	मुंगेर, सीतामढ़ी, पटना, मुजफ्फरनगर, मधुबनी आदि को भारी क्षति हुई ।
31 मई, 1935	क्वेटा	35,000	2,60,000	क्वेटा तथा समीप के अधिकांश गांव क्षतिग्रस्त हो गये । यातायात तथा संचार व्यवस्था ठप हो गई ।
15 अगस्त, 1950	असम	2,000	39,520	नदियों के मार्ग अवरुद्ध हो गये 770 वर्ग किमी. क्षेत्र जलमग्न हो गया । लखीमपुर, जोरहट, डिब्रूगढ़ आदि नगरों के मकान क्षतिग्रस्त हो गये । यातायात व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई
1956	अंजार (कच्छ)			अंजार नगर नष्ट हो गया तथा हजारों व्यक्ति बेघरबार हो गये ।
1960	चिली (द. अमेरिका)	1,000		15,000 व्यक्ति घायल हुए तथा 50,000 बेघरबार हो गये अनेक नगर नष्ट हो गये ।
1960	अगादीर (मोरक्को)	10,000		अगादीर नगर नष्ट हो गया तथा 40,000 व्यक्ति बेघरबार हो गये ।
11 दिसम्बर, 1967	कोयना (महाराष्ट्र)	200		2000 से अधिक घायल हुए, 12,000 बेघरबार हो गये व कोयना नगर में 80 प्रतिशत घर नष्ट

वर्ष	स्थान	मृतक संख्या	प्रभावित क्षेत्र वर्ग किलोमीटर में	हानियां
				हो गये। पूना, बम्बई, सूरत आदि नगरों में क्षति हुई।
दिसम्बर, 1975	गिलगित (पाकिस्तान अधिकृत काश्मीर)	100		वतारिस गांव में हजारों घर नष्ट हो गये तथा यातायात व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई।
मई, 1976	इटली	12,000		उत्तरी पूर्वी इटली के अनेक गांव पूर्णतः नष्ट हो गये तथा छः नगर क्षतिग्रस्त हो गये।
26 जून, 1976	अंतारा (इण्डोनेशिया)	9,000	3,000	15 गांव पूर्णतः नष्ट हो गये, क्षेत्र की 75 प्रतिशत फसल बर्बाद हो गई, 19,000 व्यक्ति बेघरबार हो गये तथा भयंकर भूस्खलन से हजारों व्यक्ति मारे गये।
जुलाई, 1976	ताशकन्द (सोवियत मध्य एशिया)	6,55,237		सैकड़ों गांव नष्ट हो गये तथा 79,000 लोग गम्भीर रूप से घायल हुए।
28 जुलाई, 1981	केरमान प्रान्त (ईरान)	3,000	गोलबाग तथा केरमान नगर	40,000 जनसंख्या के गोलबाग गांव का दो तिहाई भाग नष्ट हो गया। केरमान नगर के कुछ मकानों को क्षति पहुँची। 500 से अधिक लोग घायल हो गये।
13 दिस., 1982	यमन (अरब गण राज्य)	700	उत्तरी यमन	3000 लोग घायल हो गये। उत्तरी यमन के 77 गांव नष्ट हो गये तथा धामर प्रान्त के 6 गांव को क्षति पहुंची।

विश्व में सन् 1976 का वर्ष भीषण भूकम्पों का वर्ष रहा है। जिनमें वेटमाला, इटली, ताशकन्द, गिनी, इण्डोनेशिया, फिलीपीन, न्यूगिनी, तांगशान व बैंजिग में जन धन का भारी विनाश हुआ।

क्षेत्र 5 में मध्यम प्रकार के भूकम्प आते हैं जिसके फलस्वरूप धन और जन की हानि होती है। भूमि फट जाती है पक्के मकान ढह जाते हैं।

क्षेत्र 6 में अधिक तीव्रता के भूकम्प आते हैं जिनके कारण इस भूभाग में विनाश लीला का दृश्य उपस्थित हो जाता है। पर्वत हिल जाते हैं, नदियां अपना मार्ग बदल देती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Bullery, K. E. (1954), Seismology (Methuen and Co. Ltd., London). (1963), An Introduction to the Theory of Seismology, (Cambridge University Press, London).
2. Byerly, P. (1942), Seismology (Prentice Hall, London).
3. Eiby, G. A., (1957), Earthquakes (F. Muller Ltd., London).
4. Guttenberg, B. and Ritcher C. F. (1954), Seismity of the Earth and Associated Phenomena (Oxford University Press, London).
5. Heck, N. H. (1936), Earthquakes (Princeton University Press, London).
6. Lobeck, A. K. (1939), Geomorphology (McGraw Hill, New York).
7. Thornbury, W.D. (1958), Principles of Geomorphology (New York : Wiley).
8. Von Engeln, O.D. (1953), Geomorphology (Macmillan, New York).
9. Worcester, P.G. (1948), A Text Book of Geomorphology (Nostrand Co. New York).

13

भूतल पर परिवर्तनकारी बाह्य बल
[Exogenetic Forces bringing Changes on the Face of the Earth]

जैसे ही पृथ्वी के आंतरिक बल धरातल के कुछ भागों को उठाकर नवीवन भू-आकारों को जन्म देते हैं, वैसे ही बाह्य बल उन भू-आकारों को काट-छांटकर परिवर्तन प्रारम्भ कर देते हैं। प्रकृति अनन्त काल से भूतल को संवारती-बिगाड़ती रही है। निर्माण और विध्वंस का यह अनूठा दोहरा कार्य एक साथ चल रहा है। प्रकृति इन सभी शक्तियों को, जो भूपटल के परिवर्तन में सतत संलग्न हैं, अनाच्छादन या अनावृत्तीकरण (Denudation) की संज्ञा दी गई है।
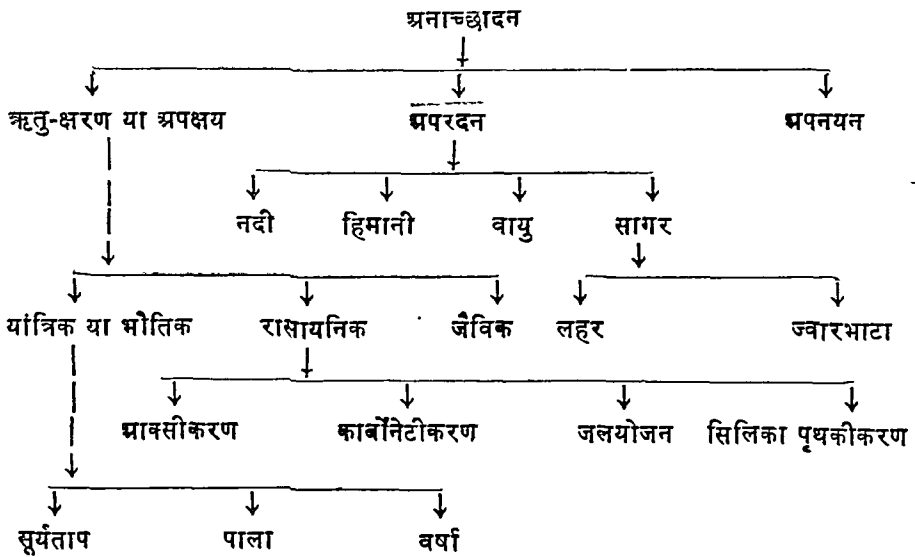
भूतल पर परिवर्तन लाने वाली अनाच्छादन क्रिया मुख्यत: दो बलों—स्थायी तथा गतिशील द्वारा सम्पन्न होती है।

(1) स्थायी क्रिया—यह क्रिया शैलों को स्थानीय रूप से बिना स्थानांतरित किये क्षय या विखण्डित तथा वियोजित करती रहती है। यह क्रिया शैलों के आगे के ह्रास और विनाश के लिए अन्य साधनों के कार्य को सरल बना देती है।

(2) गतिशील क्रिया—उपरोक्त शक्तियों द्वारा वियोजित शैलों को गतिशील क्रियाएं न केवल तोड़-फोड़ ही देती हैं अपितु उनके शिलाचूर्ण को मूल स्थान से दूर कर देती हैं। इस कार्य को मुख्यतः वायु, नदी तथा हिमानी सम्पन्न करती हैं। धरातल, स्थल मण्डल, जलमण्डल और वायुमण्डल का संगम है अतः वायु और जल की कई प्रतिक्रियाएं पृथ्वी के ठोस भाग में परिवर्तन लाती हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि अनाच्छादन या अनावृत्तीकरण, अपक्षय तथा अपरदन स्थायी एवं गतिशील क्रियाओं का योग है।

सागर अपरदन द्वारा स्थल भाग को पार्श्ववत् काटता रहता है जबकि अन्य शक्तियां धरातल पर लम्बवत् व क्षैतिज कटाव किया करती हैं। इसी प्रकार यान्त्रिक, रासायनिक और तापीय शक्तियों द्वारा धरातल पर परिवर्तन का क्रम चलता रहता है। इसके अतिरिक्त पौधे तथा जीव-जन्तु भी भूतल को अपनी क्रियाओं द्वारा प्रभावित करते रहते हैं।

अपक्षय शैलों के विघटन तथा वियोजन की क्रिया से शैलों के जोड़ खुले रह जाते हैं तथा वह ढीली, विदीर्ण और असंयत होकर अपने ही स्थान पर बिखर जाते हैं। अपक्षय में ऋतुओं के तत्त्वों जैसे ताप, आर्द्रता, वर्षा, पाला आदि की प्रमुख भूमिका रहती है। इन तत्त्वों की क्रिया अत्यन्त मन्द तथा स्थिर गति से सम्पन्न होती है तथा शैलों के शिलाचूर्ण का स्थानान्तरण नहीं होता।

चित्र 131 शैलों का विघटन

अपक्षय ताप, जल, वायु तथा प्राणियों का कार्य है जिसके द्वारा यांत्रिक तथा रासायनिक परिवर्तनों से शैलों में टूट-फूट होती रहती है।
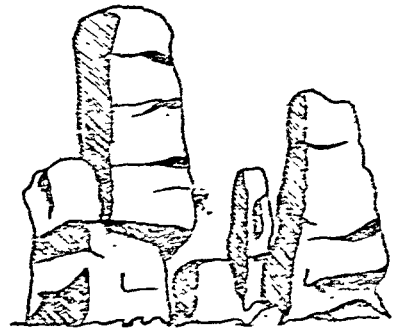
शैलों की रचना उनके अपक्षय को प्रभावित करती है। बारीक दानों वाले शैल खुरदरे एवं मोटे दानों वाले शैल की अपेक्षा विलम्ब से क्षय हो जाती है। इसी प्रकार सन्धियों और दरारों द्वारा पारगत शैल, दृढ़ एवं अपारगत शैल की अपेक्षा शीघ्रता से विघटित हो जाती है। ठण्डे एवं शुष्क प्रदेशों की तुलना में उष्ण एवं आर्द्र प्रदेशों में शैल शीघ्रता से क्षय हो जाती है। शिलाओं की स्थलाकृति भी उनके अपक्षय पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती है। खड़े ढालों पर द्रुत गति से आवरण क्षय होता है क्योंकि शैल प्रायः नग्न अवस्था में ही रहती है तथा विघटित होकर गुरुत्वाकर्षण के कारण ढाल से नीचे सरक जाती है, जिसे भू-विसर्पण कहते हैं। किन्तु मैदानों में ठोस शैल प्रायः आवरण शैल के नीचे दबी रहने के कारण अपक्षय से किसी सीमा तक सुरक्षित रहती है। घुलनशील चूना शैल अघुलनशील ग्रेनाइट की अपेक्षा शीघ्र क्षय हो जाती है।

विषम जलवायु अपक्षय के लिए अनुकूल होती है। वनस्पति व मिट्टी आवरण शैलों की रक्षा करती हैं इसलिए वनस्पति से ढकी शैलों की अपेक्षा खुली चट्टानों पर

अपक्षय का अधिक प्रभाव पड़ता है। अपक्षय भौतिक तथा रासायनिक क्रिया द्वारा होता है।

सूर्यताप के कारण शैलें गर्म होकर फैल जाती हैं जबकि रात्रि में ताप-विकिरण द्वारा ठण्डी होकर सिकुड़ जाती हैं। शैलों के फैलने और सिकुड़ने के निरन्तर क्रम से उनमें टूट-फूट होने लगती है। मरुस्थलों में तापांतर अधिक होने के कारण शैलों में तनाव एवं संकुचन की क्रिया सर्वदा चलती रहती है जिसके कारण उनमें दरारें पड़ जाती हैं। समय के साथ ये दरारें क्रमशः बढ़ती जाती हैं और अन्त में शैलें खण्ड-खण्ड हो जाती हैं। जब

चित्र 13.3 पिण्ड विघटन
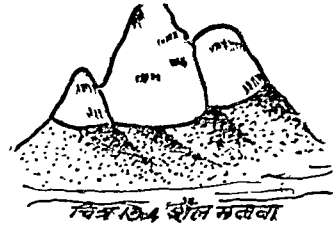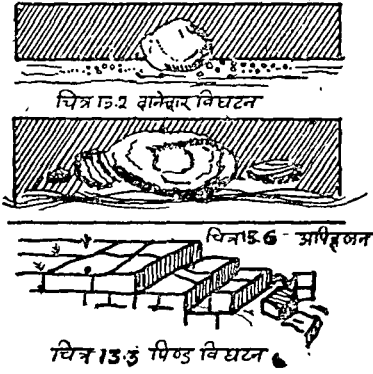
शैलों के बड़े-बड़े खण्ड एक दूसरे से प्रथक हो जाते हैं तो इस क्रिया को पिण्ड विघटन कहते हैं। नाइजीरिया तथा मोजम्बिक में इस प्रकार के गुम्बदाकार पिण्ड मिलते हैं। तापान्तर के कारण बड़े दानेदार शैल विखण्डित होकर और बिखर जाते हैं। इस क्रिया को दानेदार विघटन कहते हैं। गुरुत्वाकर्षण के कारण शिलाचूर्ण पहाड़ी ढालों के नीचे एकत्रित हो जाता है।

शीत ऋतु अथवा शीत प्रदेशों में रात्रि के समय वायुमण्डल की आर्द्रता पाले का रूप ग्रहण कर लेती है। यह पाला शैलों की दरारों में भरे जल को हिम में परिवर्तित कर देता है। जब जल हिम में परिवर्तित होता है तो प्रतिवर्ग सेन्टीमीटर पर 140 कि.ग्रा. का दबाव डालता है तथा उसके परिमाण में 10% की वृद्धि हो जाती है। बार-बर की क्रिया से शैलों की दरार चौड़ी होती जाती है तथा कालान्तर में शैल टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाते हैं।

चित्र 13.5 जल के हिम में परिणति से दरारों का चौड़ा होना
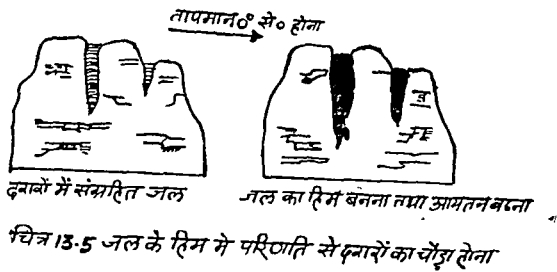
उष्ण-आर्द्र प्रदेशों में उच्च तापमान के कारण शैल तप्त होकर फैल जाती है परन्तु वर्षा गिरने से वह अकस्मात् ठण्डी होकर सिकुड़ जाती हैं। इस प्रकार की क्रिया से कठोर

से कठोर शैल विखण्डित हो जाती है। वर्षा का पानी शैलों की दरारों में एकत्रित हो जाता है तथा पाला पड़ने पर हिम में परिवर्तित हो जाता है।

मरुस्थलीय, अर्धमरुस्थलीय एवं मानसूनी प्रदेशों में वायु तथा ताप की सम्मिलित क्रिया द्वारा भी शैलों का विघटन होता है। ताप शैलों की दरारों को चौड़ा करता है जबकि

गोलाश्म का अपदलन के कारण टूटना   उसी गोलाश्म का अनुभाग दृश्य
चित्र 13.6 अपदलन क्रिया
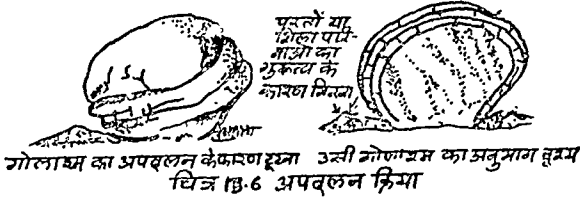
रेत भरी आंधियों से शैलों की कमजोर परतें अलग हो जाती हैं। इस क्रिया को अपदलन कहते हैं। अपदलन की गति बड़ी धीमी होती है।

अनावृत्तीकरण के कारण जब ऊपर की शैल विखण्डित होकर बिखर जाती है तो नीचे की शैल दाब मुक्त हो जाती है जिसके कारण उनका भौतिक प्रसार होता है। प्रसार की इस प्रक्रिया में शैलों की नवीन सन्धें बन जाती हैं जो भावी विखण्डन में सहायक होती हैं। कैलीफोर्निया की यशोमाइट घाटी (Yosemite valley) में बड़े-बड़े गुम्बद-नुमा शैल इसके उदाहरण हैं।

गर्म एवं आर्द्र भूभागों में रासायनिक अपक्षय या ऋतु-क्षरण अधिक तीव्रता से होता है। इन प्रदेशों में वायु की निचली परत में आक्सीजन और कार्बन-डाईआक्साइड गैसें तथा जलकणों की मात्रा अधिक रहती है। गैसों के साथ जल शैलों की दरारों में प्रवेश कर रासायनिक क्रिया प्रारम्भ कर देता है, घुलनशील शैलों को घोल देता है तथा अन्य शैल गल और सड़ जाती हैं तथा दूसरा रूप ले लेती हैं। रासायनिक अपक्षय के कारण मौलिक खनिजों का रूप गौण खनिजों में परिवर्तित हो जाता है। रासायनिक अपक्षय के चार रूप हैं—आक्सीकरण, कार्बनीकरण, जलयोजन, सीलिका पृथक्कीकरण।

आक्सीकरण क्रिया को जारण क्रिया भी कहते हैं। आक्सीजन गैस युक्त वायु एवं जल लोह अंश प्रधान शैलों को शीघ्र प्रभावित करते हैं जिसके परिणामस्वरूप लोह मिश्रित शैल के कण आक्साइड में परिवर्तित हो जाते हैं। आक्साइडों का आयतन बढ़ने से शैलों में तनाव उत्पन्न हो जाता है और वे विखण्डित हो जाती हैं। वर्षा ऋतु में लोहे पर जंग लग जाती है तथा लोहा कमजोर होकर ध्वस्त हो जाता है। आक्सीजन गैस लोह-मिश्रित शैल को फैरिक यौगिक में बदल देती है परिणामस्वरूप वह लाल रंग के हेमेटाइट लोहे में परिवर्तित हो जाता है। यह क्रिया आर्द्र प्रदेशों में अधिक पाई जाती है। जब आक्सीकरण की क्रिया के साथ जलयोजन की क्रिया भी सम्मिलित हो जाती है तो फेरिक कम्पाउण्ड से लीमोनाइट लोहे की उत्पत्ति होती है तथा आयरन आक्साइड से पीले रंग की मिट्टी बनती है।

कार्बन-डाइ-आक्साइड गैस जल के साथ मिल कर शैलों में कार्बनिक अम्ल का निर्माण करती है। यह अम्ल अपनी रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा शैलों के खनिज को कार्बोनेट में परिवर्तित कर देता है। लोहे के सल्फाइड तथा पाइराइट लोहे के कार्बोनेट

तथा गंधकीय अम्ल में बदल जाते हैं। चूने का शैल केलशियम-बाई-कार्वोनेट में बदल जाता है। कार्बोनेट अत्यन्त घुलनशील होते हैं। दक्षिणी भारत में लेटराइट तथा यूगोस्लेविया की टेरारोजा मिट्टी का निर्माण कार्बनीकरण की क्रिया द्वारा हुआ है।

जलयोजन शैलों में विद्यमान खनिज जल को अवशोषित कर लेते हैं जिससे उनका *आयतन बढ़ जाता है। आयतन के बढ़ने से शैलों में तनाव पैदा हो जाता है,* फलस्वरूप वह विघटित हो जाती हैं। इस क्रिया का फेल्सपार खनिज पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है जो कैओलिन (Kaolin) मिट्टी में परिवर्तित हो जाती है। फेल्सपार थोड़ी-बहुत मात्रा में सभी शैलों में पाया जाता है इसलिए इस क्रिया का व्यापक प्रभाव होता है। जबलपुर के समीप विन्ध्याचल की पहाड़ियों में कैओलिन का निर्माण इसी प्रकार हुआ है। इसी प्रकार जलयोजन के प्रभाव से केलशियम सल्फेट शैलखड़ी में परिवर्तित हो जाते हैं। अभ्रकयुक्त शैल भी जलयोजन क्रिया से टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाता है।

सिलिका पृथक्कीकरण क्रिया से शैलों में मिश्रित सिलिका की मात्रा घुल-घुलकर कम हो जाती है। सिलिका शैल कणों को संघटित रखती है परन्तु इसके कम हो जाने या समाप्त हो जाने से शैल दुर्बल होकर खंडित हो जाती हैं। आग्नेय शैलों में इसकी मात्रा थोड़ी-बहुत होती ही है किन्तु ग्रेनाइट शैल में इसकी मात्रा सर्वाधिक पाई जाती है। आग्नेय शैलों में अम्ल शैलों की अपेक्षा सिलिका पृथक्कीकरण की क्रिया अधिक तीव्र होती है।

जैविक अपक्षय की क्रिया में वनस्पति, जीव-जन्तु अधिक सक्रिय होते हैं। वृक्ष एवं पौधों की बारीक जड़ें शैलों में प्रवेश कर जब फूलती हैं तो उनके बन्धन ढीले कर देती हैं। कालान्तर में ये शैल-सन्धियाँ इतनी चौड़ी हो जाती हैं कि शैलों के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। *गली-सड़ी वनस्पति से पानी में ऐसी गैसें मिल जाती हैं जो ऋतु-अपक्षय की क्रिया को* और तीव्र कर देती हैं। पौधों और पत्तियों के सड़ने से कार्बन-डाईआक्साइड का निर्माण होता है जिसके कारण विखण्डन क्रिया और तीव्र हो जाती है। उष्ण तथा आर्द्र जलवायु में ऋतु-अपक्षय की जैविक क्रिया अधिक प्रभावी होती है।

जीव-जन्तु (Animals)—भूमिगत जीवजन्तु अपने निवास के लिए शैलों में बिल बना लेते हैं या खोदकर उसे निर्बल कर देते हैं जिससे भी शैलों का विखण्डन होता रहता है। मनुष्य भी अनन्त काल से शैलों का विखण्डन करता चला आरहा है। आधुनिक काल में यह विखण्डन बांध निर्माण, लम्बी-लम्बी सुरंगों एवं विशाल व गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के निर्माण के लिए बारूद के सहयोग से शैलों की तोड़-फोड़ कर किया जा रहा है।

चित्र 13.7 वनस्पति द्वारा शैलों की संधियों का चौड़ा होना।
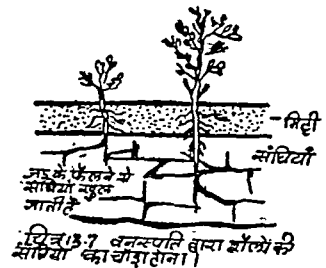
अपरदन (Erosion)—धरातल पर परिवर्तनकारी गतिशील बाह्य शक्तियाँ, जैसे प्रवाही नदी, हिमनद, वायु और सागर द्वारा जो विनाश क्रिया सम्पन्न होती है, उसे अपरदन

की संज्ञा दी गई है। प्रकृति की स्थायी क्रियाएँ शैलों को उनके मौलिक स्थान पर ही दुर्बल बना कर विखण्डित कर देती हैं जबकि अपरदन की गतिशील क्रियाएँ उन विखण्डित शैलों को और भी अधिक शैल चूर्ण में परिवर्तित कर देती हैं। गतिशील शक्तियों के वेग से शैलों के खण्ड व कण आपस में टकरा-टकरा कर टूटते-फूटते रहते हैं। शैलों का विखण्डित पदार्थ गुरुत्वाकर्षण तथा गतिशील बलों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरित कर दिया जाता है।
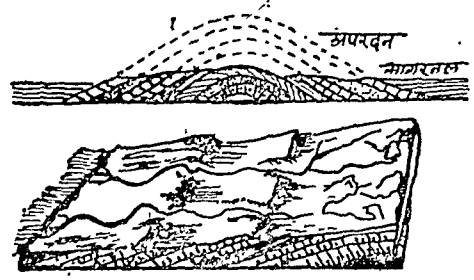
चित्र 13.8 अपरदन तथा परिवहन

प्राकृतिक शक्तियों द्वारा, धरातल का विघटन, जिनमें समुद्र, नदी और वर्षा जल सबसे महत्त्वपूर्ण है। हिम के रूप में बर्फ, पाला, पिघली बर्फ और वायु अपरदन की प्रक्रिया में सहायता देते हैं।

मूसलाधार वर्षा के समय जल के वेग से मुलायम शैल तथा कठोर शैलों के सूक्ष्म कण एक दूसरे से रगड़ खाते हुए तेज बहाव में बह जाते हैं। यह क्रिया तेज ढलानों पर अधिक होती है। तेज बहती हुई नदियों में या बाढ़ के समय भी बड़ी तेजी से बहाकर लाये गये पदार्थ पानी के वेग के कारण तल और तटों से टकराकर तथा आपसी संघर्षण के कारण टूटते और घिसते रहते हैं। इसी प्रकार हिमानी के पिघले जल में भी यह क्रिया मन्द गति से होती है। सागर की लहरें और ज्वार-भाटा भी सागर तटों पर जलीय क्रिया द्वारा नाना प्रकार की भू-आकृतियों को जन्म देते हैं।

प्रवाही नदी द्वारा रासायनिक अपरदन को ही संक्षारण की संज्ञा दी जाती है। नदी जल की घुलन-शक्ति जल में मिश्रित नाना प्रकार के लवण, कार्बन-डाई-ऑक्साइड तथा अन्य गैसों से और भी बढ़ जाती है।

अपघर्षण की क्रिया नदी, हिमानी और वायु तीनों ही बलों द्वारा सम्पन्न होती है, किन्तु नदी इस क्रिया को दो अन्य बलों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से करती है। नदी अपने साथ कई प्रकार के गोलाश्म, कंकड़, शैल खण्ड, बालू तथा अन्य मलवा लेकर चलती है। ये सभी पदार्थ नदी के तल तथा किनारों के क्रमशः लम्बवत तथा क्षैतिज या समानांतर टकराव से अपघर्षण करते रहते हैं जिससे नदी की घाटी गहरी और चौड़ी होती रहती है। सागरीय लहरों, हिमानी और वायु द्वारा भी ऐसी क्रिया सम्पन्न होती है। धूल भरी वायु के थपेड़े जब कठोर शैलों से टकराते हैं तो रेगमाल का कार्य करती हुई उन शैलों को गोलाकार और चिकना बना देती हैं। मरुस्थलों में ऐसी भू-आकृतियां पाई जाती हैं।

वेग से बहती हुई नदी के साथ कठोर शैलों के छोटे-छोटे टुकड़े आपस में टकराकर और भी छोटे होते जाते हैं और अन्त में इतने महीन हो जाते हैं कि इनको जल सुगमता से अपने साथ बहा ले जाता है। मरुस्थलों में वेगवती वायु के साथ बारीक धूल-कण ऊपर उठ जाते हैं और मोटे कण धरातल पर उड़ते हुए एक दूसरे से टकराकर और भी सूक्ष्म होते जाते हैं। इस प्रकार के ह्रास तो संनिघर्षण कहते हैं।

तीव्र गति से बहता पवन अपने साथ बालू, रेत और मिट्टी के कणों को उड़ाकर चलता है। अपदलन के कारण शैलों की परत ढीली हो जाती हैं जिन्हें वायु उखाड़कर उड़ा ले जाती है। इस क्रिया के निरन्तर पुनरावृत्ति से शैल विखण्डित होती रहती हैं।

अपरदन एवं परिवहन की क्रिया धरातल पर इतना अधिक परिवर्तन कर देते हैं कि प्राय: स्थल की मूल आकृति का पहचानना कठिन हो जाता है। अनाच्छादन की सम्मिलित क्रिया ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों को विखण्डित अथवा तोड़-फोड़ कर पठारों में परिर्थनित कर देती है जो कालान्तर में पथरीले मैदानों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त नाना प्रकार की स्थलाकृतियां बनती और बिगड़ती रहती हैं। परिवहन क्रिया एक स्थान के मलवे को दूसरे स्थान पर ले जाती है जहां वह निक्षेपित होता रहता है। समय के साथ जहां एक स्थान का धरातल नीचा होता है तो दूसरी ओर निक्षेपण के कारण ऊंचा उठ जाता है इस प्रकार विध्वंस और सृजन कार्य निरन्तर चलता रहता है।

अनाच्छादन का महत्व

शैलों के क्षय होने से मिट्टी की रचना होती है जो खेती-बाड़ी में काम आती है। मिट्टी मानव के भरण-पोषण और आर्थिक विकास के लिए वरदान है। अपरदन और परिवहन की क्रियास्वरूप मैदानों की रचना होती है। अनाच्छादन की क्रिया से बहुत से खनिज घुलकर बहते जल द्वारा एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त भूमिगत खनिज भी ऊपर के शैल आवरण के हटने से दृष्टिगोचर होने लगते हैं जिन्हें सुगमता से खोदा जा सकता है। अपरदन की क्रिया से ऊबड़-खाबड़ भूमि समतल हो जाती है। पर्वतीय क्षेत्रों में भू-स्खलन से झीलों का निर्माण होता है। हिमानी द्वारा विखण्डित मलवे के इकट्ठा होने पर हिमोढ़ों की रचना होती है।

अपरदन चक्र

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में अमरीकी भूगोलवेत्ता डेविस ने अपरदन-चक्र की विचारधारा को जन्म दिया कि भूतल का ऐतिहासिक जीवन क्रम होता है जो श्रेणीबद्ध चक्रीय रूप में निरन्तर रहता है। जैसे ही आन्तरिक बल धरातलीय भाग को ऊपर उभार कर पर्वतों को जन्म देते हैं, वैसे ही बहिर्जात बल उनको समतल बनाने में संलग्न हो जाते हैं। इस प्रकार सृजन, अपक्षय, अपरदन और निक्षेप का कार्य सतत् चलता रहता है तथा पर्वत विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं में से गुजरते हुए अन्त में अपने भौतिक रूप को ग्रहण कर लेते हैं।

नवीन उत्थित धरातलीय भागों को युवा, प्रौढ़ तथा वृद्धावस्था के क्रमिक परिवर्तनों की अवस्था से गुजरने की प्रक्रिया को अपरदन-चक्र कहते हैं। भौगोलिक चक्र, समय की वह अवधि है जिसके अन्तर्गत एक उत्थित भू खण्ड अपरदन की प्रक्रिया द्वारा आकृतिहीन समतल मैदान में परिवर्तित हो जाता है। भू-आकृतिक-चक्र वह स्थलाकृति होती है जो अपरदन चक्र के समय विभिन्न अवस्थाओं में निर्मित होती है।

भौगोलिक चक्र द्वारा भू-पटल का सृजन करने में शैलों की संरचना, बहिर्जात बलों की प्रक्रिया तथा क्रमबद्ध अवस्थाओं का विशेष प्रभाव पड़ता है। समय के साथ स्थल विखण्डित होकर विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं से गुजरता है। यह कार्य विशेष रूप से नदियों द्वारा सम्पन्न होता है जिसको सामान्य अपरदन चक्र की संज्ञा दी गई है।

डेविस के अनुसार "भू-स्वरूप संरचना, प्रक्रम तथा अवधि का कार्य है।"

संरचना का तात्पर्य एक प्रदेश या स्थल-खण्ड पर पाये जाने वाले स्थल-रूपों से नहीं है। स्थल-खण्ड मैदान, पठार, पर्वत आदि हो सकते हैं परन्तु इनकी संरचना में रासायनिक तत्त्वों और विभिन्न खनिजों का मिश्रण मूलतः अपरदन चक्र के क्रम को निर्धारित करता है। शैलों की संरचना, मुलायम, कठोर, घुलनशील, अघुलनशील, प्रवेश्य अथवा अप्रवेश्य हो सकती है। कठोर, अघुलनशील तथा अप्रवेश्य शैलों से निर्मित स्थल-खण्ड मुलायम, घुलनशील तथा प्रवेश्य शैलों से निर्मित स्थल-खण्ड की अपेक्षा अपने अपरदन-चक्र को पूरा करने में अधिक समय लेगा। किसी सीमा तक प्रदेश की जलवायु भी संरचना पर प्रभाव डालती है।

भू-स्वरूप या स्थल-रूपों के विकास तथा निर्माण को स्थल-खण्ड की संरचना नियंत्रित करती है। जिस प्रकार की संरचना होगी उसी प्रकार के स्थल-रूप का निर्माण होगा। थॉर्नबरी ने स्थल-रूपों के विकास में संरचना को ही मुख्य कारक बतलाया है कि स्थल-रूपों के विकास में नियन्त्रण करने वाली मुख्यतः भू-वैज्ञानिक संरचना है जो परावर्तित भी होती है।

अपरदन-चक्र के दो कारकों अर्थात् प्रक्रम और अवस्था की तुलना में किसी प्रदेश के भू-आकारों के विकास में वहाँ की संरचना का कार्य और प्रभाव उतना अधिक दिखाई नहीं देता, परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि भू-आकारों के निर्माण में संरचना का हाथ मुख्य है।

स्थल के मौलिक आकार को परिवर्तित करने में प्रक्रम अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कारक है। यदि स्थल रूपों पर संरचना की छाप रहती है तो प्रक्रम अर्थात् नदी, हिमानी, वायु, सागर तरंगें तथा भूमिगत जल द्वारा उनका विकास और निर्माण होता है। जैसा प्रदेश होता है उसी प्रकार के प्राकृतिक साधन मिल जाते हैं। मैदानी भागों में नदी, उच्च तथा बर्फीले प्रदेशों में हिमनद, मरुस्थल में वायु, सागर तटों पर सागरीय तरंगें तथा चूना प्रधान प्रदेशों में भूमिगत जल का कार्य प्रमुख है। प्रक्रम विध्वंसकारी तथा निर्माणकारी दोनों ही होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रक्रम किसी सीमा तक ही अपना कार्य करते हैं जिस तरह नदी स्थल को सागर-तल तक ही काट सकती है।

साधारणतः अवधि से समय का भ्रम होता है किन्तु यहाँ इसका तात्पर्य प्रक्रम द्वारा एक निश्चित संरचना के स्थल-खण्ड पर कितना कार्य सम्पन्न हुआ है अर्थात् वह भू-खण्ड विकास की किस अवस्था तक पहुँच चुका है। प्रक्रमों द्वारा विभिन्न संरचना के स्थल-खंडों का निर्माण तीव्र गति से शीघ्र अथवा विलम्ब से भी होता है। डेविस के अनुसार अवधि तीन तरह की होती है—युवावस्था, प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था। युवावस्था में नदी द्वारा निम्न कटाव तीव्र गति से होता है तथा घाटी गहरी होती जाती है। इस अवस्था में नदी पूरे यौवन पर होती है। प्रौढ़ावस्था में पार्श्विक कटाव अधिक होता है। इस अवस्था में सर्वाधिक उच्चावच्च पाये जाते हैं। वृद्धावस्था में नदी का वेग नगण्य रह जाता है तथा समप्राय मैदान का निर्माण होता है। डेविस ने भौगोलिक चक्र की समाप्ति का प्रमुख लक्षण समप्राय मैदान बतलाया है। समप्राय मैदान अपरदन के आधार तल तक पहुँच कर निम्न समतल भाग में परिवर्तित हो जाता है जिसमें यत्र-तत्र कुछ छोटे-छोटे भू-खण्ड अवशिष्ट रह जाते हैं।
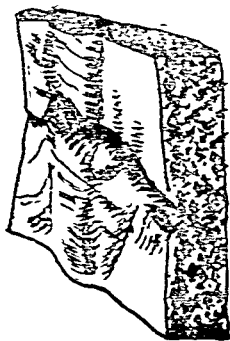
चित्र 13.1 नदी की अवस्थाएँ

यह अवस्था भू-खण्ड की संरचना तथा प्रक्रम की क्रिया का प्रतिफल है अतः तीनों अवस्थाओं के अन्तर का बोध कठिन है। शक्तिशाली प्रक्रमों से प्रभावित मुलायम संरचना वाला स्थल युवा एवं प्रौढ़ावस्थाओं को क्रमशः शीघ्र पार करता हुआ वृद्धावस्था में प्रवेश कर जाता है जबकि इसके विपरीत कठोर संरचना और मन्द गति से कार्यरत प्रक्रम वाला भू-भाग आवश्यकता से अधिक समय तक युवा और प्रौढ़ावस्थाओं में रह सकता है। अगर अपरदन के साथ-साथ किसी विशेष स्थल-खण्ड का उत्थान हो रहा है तो युवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक पहुंचना सरलता से नहीं होता। यदि अपरदन और उत्थान की गति समान है तो उस भू-भाग में इन अवस्थाओं को प्राप्त करना कठिन या असम्भव सा है। पेन्क ने ऐसी स्थिति को असामान्य नहीं मानकर साधारण की संज्ञा दी है।

डेविस ने अपरदनचक्र की अवस्थाओं को समय की अवधि में बांधा है। वरसेस्टर भी डेविस के मत से सहमत हैं किन्तु अन्य विद्वान स्थल स्वरूपों के विकास की अवस्थाओं को समय के आधार पर विभाजित न करके उनकी अवस्थाओं के लक्षणों पर अधिक बल देते हैं। उनके अनुसार किसी स्थलाकृति की अवस्था को देख कर उसके निर्माण में लगे समय का बोध अत्यन्त कठिन है। किसी स्थलाकृति की अवस्था के समय का बोध उसी अवस्था में सम्भव है जबकि अपरदन के समय धरातल पर परिवर्तन लाने वाली सभी परिस्थितियां समान गति से चलें तथा पृथ्वी पर परिवर्तन लाने वाली अन्य आंतरिक शक्तियां शान्त रहें। किन्तु ऐसी स्थिति स्वाभाविक नहीं इसलिए ऐसे किसी भू-आकार के समय का बोध कठिन है।

डेविस के अनुसार किसी भी धरातलीय भाग के सागर तल से उत्थान की क्रिया के पश्चात् अपरदन प्रारम्भ होता है। अतः धरातलीय आकृति का निर्माण पहले होता है और अपरदन उसके पश्चात।

डेविस के अपरदन चक्र की धारणा को निम्न वक्र रेखाचित्र द्वारा समझा जा सकता है। रेखाचित्र 13.10 में क ख रेखा सागर तल को प्रदर्शित करती है। विन्दु रेखा क अ तथा क ब उत्थान सीमा को दिखलाती है। विन्दु अ ऊँचे भूभागों की ओर ब विन्दु निचले भू-भागों की औसत ऊँचाई के द्योतक हैं। अ और ब विन्दुओं के मध्य की दूरी पृष्ठीय अन्तर प्र शित करती है। अ तथा ब विन्दुओं से आगे ठोस वक्र रेखाएँ अपरदन की गति बतलाती हैं। रेखाचित्र के अध्ययन से विदित होगा कि प्रारम्भिक अवस्था में ऊँचे भू-भागों की अपेक्षा निचले भू-भागों अथवा घाटियों के तल शीघ्रता से अपरदित होकर घटते जाते हैं जैसा कि
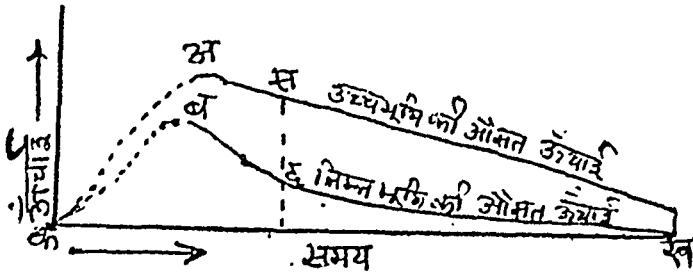
चित्र 13.10 डेविस के अनुसार अपरदन की प्रक्रिया

ब द वक्र से स्पष्ट होता है। अपरदन के प्रारम्भ में उच्चतम तथा न्यूनतम औसत ऊँचाइयों का अन्तर अ ब था वह आगे चलकर बढ़ता गया जिसको स द द्वारा प्रदर्शित किया गया

है । प्रौढ़ावस्था में यह अन्तर अधिकतम होकर धरातल असमतल हो जाता हैं । इस अवस्था में लम्बवत क्षयावरण की गति मन्द हो जाती है तथा श्रेणियों के शिखर एवं प्रदेशों का कटाव घाटियों की अपेक्षा शीघ्र होने लगता है । फलतः उच्च भूमि और निम्न भूमि की औसत ऊँचाई का मध्य अन्तर घटने लगता है तथा वृद्धावस्था की इस स्थिति में दोनों वक्र रेखायें एक दूसरे के निकट आने लगती हैं ।

प्रथम अवस्था में उत्थान की क्रिया बिन्दु क से बिन्दु अ और बिन्दु ब तक चलती है । इस समय अपरदन नगण्य रहता है ।

द्वितीय अवस्था में उत्थान समाप्त हो जाता है । उच्चभूमि या ऊपरी वक्र पर अपरदन नहीं होता, निम्न भूमि पर लम्बवत् कटाव होता है । धरातल की असमानता बढ़ती जाती है और यह स्थिति युवावस्था की द्योतक है ।

तृतीय अवस्था में दोनों वक्रों पर अपरदन होता है । लम्बवत कटाव की अपेक्षा क्षैतिज कटाव अधिक होता है । ऊपरी वक्र पर निचले वक्र की अपेक्षा अधिक कटाव होता है जिसके कारण ऊपरी वक्र शीघ्रता से झुकता हुआ निचले वक्र को छूने लगता है । उच्चावच्च प्रायः समाप्त हो जाते हैं । अन्त में दोनों वक्र रेखाएँ मिल जाती हैं । स्थल खण्ड अपने आधार-तल को प्राप्त हो जाते हैं तथा समतल भू-भाग में परिवर्तित हो जाते हैं । केवल कहीं कुछ प्रतिरोधी शैलें दिखाई देती हैं ।

डेविस का मत है कि पहले धरातल का उत्थान होता है और तत्पश्चात् अपरदन प्रारम्भ होता है । जबकि पैंक के अनुसार जैसे ही भू-भाग समुद्र की सतह से ऊपर उठता है उस पर अपरदन प्रारम्भ हो जाता है । अर्थात् अपरदन की क्रिया पूर्ण उत्थान की क्रिया की प्रतीक्षा नहीं करती । पैंक ने डेविस की युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था की भी आलोचना की है । उनके अनुसार स्थलरूप उत्थान की प्रावस्था एवं उत्थान क्रम तथा निम्नीकरण के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रतिफल है न कि अवस्था का । पैंक के अनुसार अन्तर्जात तथा बहिर्जात बलों का समायोजन महत्त्वपूर्ण है । अपरदन काल में उत्थान की क्रिया आवश्यक है । पैंक के अनुसार एक आकृति विहीन भूखण्ड उत्थान द्वारा गुम्बदाकार बन जाता है ।
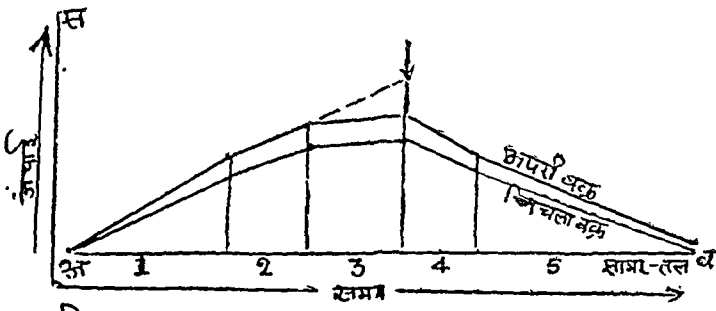
चित्र 13.11 पैंक की अपरदन-चक्र सम्बन्धी धारणा

पैंक की अपरदन-चक्र सम्बन्धी धारणा को उपरोक्त रेखाचित्र 13.11 द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है ।

अ ब रेखा अपरदन-चक्र का समय व आधार-तल तथा अ स रेखा स्थल खण्ड की ऊँचाई प्रदर्शित करती है। ऊपरी वक्र रेखा तथा निचली वक्र रेखा का मध्य अंतर विभिन्न अवस्थाओं के उच्चावच्च की मात्रा को दिखाता है। समस्त चक्र को पाँच विभिन्न अवस्थाओं में विभक्त किया गया है। अ स्थान पर उत्थान के साथ ही अपरदन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस स्थिति में उत्थान के बदलते हुए क्रम के साथ अपरदन समायोजन किया करता है अर्थात् उत्थान का अनुसरण करता है।

प्रथम स्थिति में अपरदन की अपेक्षा उत्थान की गति तीव्र है परन्तु दोनों ही वक्रों पर अपरदन समान रूप से सम्पन्न होता है। धरातल के उत्थान के साथ नदी घाटियाँ गहरी होती जाती हैं तथा पृष्ठीय अन्तर भी साथ-साथ बढ़ता जाता है। घाटियों के मध्य उठी हुई भूमि दोआब चौरस होती है।

दूसरी अवस्था में उत्थान और अपरदन की गति में अन्तर बहुत कम हो जाता है। इस अवस्था में नदी घाटी के लम्बवत कटाव के साथ-साथ क्षैतिज कटाव भी शीघ्र होने लगता है जिसके फलस्वरूप नदी घाटी चौड़ी होती जाती है। दोआब की चोटियां ऊँची होती जाती हैं। क्योंकि उत्थान अपरदन की अपेक्षा कुछ अधिक होता है अतः निरपेक्ष ऊँचाई बढ़ती जाती है।

तृतीय अवस्था में उत्थान तथा अपरदन की क्रिया समान रहती है, अतः ऊँचे तथा निम्न भूभागों की औसत ऊँचाई स्थिर रहती है। पृष्ठीय अन्तर भी स्थिर हो जाता है तथा उच्चावच्च भी अपरिवर्तित रहता है। यह स्थिति उत्थान की अन्तिम दशा होती है। आल्पस तथा हिमालय जैसे समान ऊँचाई वाले प्रदेशों के मध्यवर्ती भागों में उद्गम काल के अन्तिम समय में यही अवस्था रही होगी।

चतुर्थ अवस्था में उत्थान की गति में शिथिलता आ जाती है जबकि अपरदन की क्रिया निरन्तर उसी गति से जारी रहती है। फलतः घाटियों का क्षैतिज तथा लम्बवत कटाव होता जाता है। एक ओर निरपेक्ष ऊँचाई कम होती जाती है किंतु दूसरी ओर उच्चावच्चों के बनने से क्रम अब भी स्थिर रहता है क्योंकि दोनों वक्रों पर कटाव समान रहता है। इस दशा में भी वक्र रेखा प्रायः एक दूसरे के समानान्तर रहती हैं।

पंचम अवस्था अपरदन चक्र की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में उत्थान समाप्त हो जाता है तथा घाटियों का लम्बवत कटाव मन्द पड़ जाता है। परन्तु क्षैतिज कटाव में तीव्रता आने से नदियों की चौड़ाई का विस्तार होता रहता है। दोआब के पर्वतनुमा, उभरे एवं नुकीले कटकों का तीव्र गति से क्षैतिज अपरदन होने के कारण उनका आकार घिसकर गोल हो जाता है। क्षैतिज अपरदन की गति तीव्र होने के कारण निम्न वक्र की अपेक्षा ऊपरी वक्र का पतन होने लगता है। ऊंचाई और उच्चावच्चों के निरन्तर ह्रास के कारण स्थल-खण्ड आकृतिविहीन निम्न भाग में परिवर्तित हो जाता है।

डेविस तथा पैंक का शोध क्षेत्र पृथक-पृथक था। एक का सम्बन्ध अमेरिकी भूभाग से था तो दूसरे का मध्य यूरोपीय क्षेत्र। ऐसी स्थिति में मत भिन्नता स्वाभाविक ही है।

डेविस के अनुसार स्थल-खण्ड के उत्थान के पश्चात अपरदन प्रारम्भ होता है। उत्थान तीव्र गति तथा समान रूप से होता है। उत्थान अल्प समय में शीघ्रता से हो जाता

है। स्थलाकृति, संरचना, प्रक्रम तथा अवस्थाओं का परिणाम है। अपरदन-चक्र तीन अवस्थाओं—युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था से गुजर कर पूर्ण होता है। प्रथम अवस्था में अपरदन नहीं होता। अपरदन-चक्र का आरम्भ संरचनात्मक दृष्टि से विभिन्न इकाईयों पर होता है। ढलानों को प्रमुख स्थान नहीं दिया गया है। उच्चावच्च परिवर्तन की स्थिति मे चलते हैं और स्थल-खण्ड की अन्तिम अवस्था समक्रय मैदान में परिणित होती है।

पैंक के अनुसार उत्थान और अपरदन साथ-साथ चलते हैं। उत्थान की गति असमान होती है। उत्थान के समय की अवधि लम्बी होती है। स्थलाकृति उत्थान तथा अपरदन के क्रम के आपसी सम्बन्ध का परिणाम है। अवस्थाओं का उल्लेख न कर दशाओं पर जोर दिया है। अपरदन हर अवस्था में होता है। चक्र का प्रारम्भ आकृतिविहीन गुम्बदाकार स्थल-खण्ड पर होता है। ढलानों को प्रमुख स्थान दिया है। उच्चावच्च दूसरी, तीसरी व चौथी दशाओं में स्थिर रहते हैं और स्थलखण्ड की अन्तिम इण्ड्रम्प मैदान हैं।

उपरोक्त तुलनात्मक विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि पैंक ने अपने अध्ययन क्षेत्र के सन्दर्भ में डेविस की विचारधारा में सुधार कर अपनी पृथक विचारधारा प्रस्तुत की है जो अपेक्षाकृत अधिक तर्क संगत है।

अपरदन चक्र में बाधायें

सामान्यतः अपरदन-चक्र पूर्ण होने से पहले ही परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण अधूरा रह जाता है। चक्र की किसी न किसी अवस्था में कोई व्यवधान उपस्थित हो जाता है जिससे वह असंतुलित होकर नई अवस्था में प्रवेश कर लेता है। पृथ्वी की अस्थिरता व आंतरिक बलों के सक्रिय होने से चक्र में बाधा उपस्थित करते हैं। जैसे भूकंप, ज्वालामुखी आदि से भूमि में नत, वलन तथा भ्रंश पड़ जाते हैं व ढाल की प्रवणता पर प्रभाव पड़ता है तथा बहते हुए जल का वेग अधिक होने से अपरदन तीव्र हो जाता है तथा चक्र अवस्थाओं में व्यवधान पैदा हो जाता है। थल तथा सागरीय तल के ऊँचे नीचे होने से भी तलहटी में परिवर्तन आ जाने से प्रक्रम की क्रिया बढ़ जाती है। जब तलछट का निक्षेप अधिक होता है तो ऐसी स्थिति में पुनर्युवन की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार स्थल-खण्ड का अवतलन होता है तो चक्र की अगली अवस्था शीघ्र आ जाती है तथा वह शीघ्रतापूर्वक प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत यदि स्थल-खण्ड का उत्थान हो जाता है तो प्रौढ़ा या वृद्धावस्था से चक्र यौवनावस्था में प्रवेश कर जाता है तथा अपरदन कार्य शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है। प्राकृतिक दशाएँ सदा समान नहीं रहतीं, उनमें कोई न कोई परिवर्तन आता रहता है। इसीलिए प्रायः बाधा वाले चक्र ही अधिक सम्भव होते हैं। साधारणतः एक चक्र समाप्त नहीं होता कि दूसरा प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार पहले चक्र की स्थलाकृतियों के निर्माणकाल में ही द्वितीय अवस्था की स्थलाकृतियों का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है और इस प्रकार बहु-चक्रीय स्थलाकृतियों का विकास हो जाता है। अगर उत्थान और अपरदन-चक्र की क्रमिक रूप से अनेकानेक पुनरावृत्ति होती है तो इस प्रकार के चक्र को क्रमिक अपरदन चक्र कहते हैं। यदि जलवायु के परिवर्तन के कारण स्थल के रूपों में परिवर्तन आता है तो इसे जलवायु घटित घटना की संज्ञा दी जाती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Birkeland, Peter W. (1974), Pedology, Weathering and Geomorphology (Oxford University Press, New York).
2. Crickmay, C. H. (1833), The Later Stage of Cycle of Erosion (Geological Magazin), pp. 140-155.
3. Blackwelder, E. (1925), Exfoliation as a phase of rock weathering, Jour. Geol., 33 pp. 793-806.
4. Davis, W. M. (1923), The Scheme of Erosion Cycle, Jour. Geol. 31, pp. 10-25.
5. Emmons, Allison, Stauffer, Theil (1960), Geology (McGraw Hill Book Co., Inc., New York).
6. Goldish, S. S. (1938), A Study in Rock Weathering, J. of Geology, 46, pp. 15-58.
7. Holmes, A. (1966), Principles of Physical Geology (English Language Book Society), pp. 517-522.
8. Johnson, D.W. (1932), Streams and their significance, Journal of Geology, 40, pp. 481-497.
9. Lobeck, A. K. (1939), Geomorphology (McGraw Hill Book Co., Inc., New York), pp. 164-169.
10. Sparks, B. W. (1963), 'The Davisian Geographical Cycle,' Geomorphology (Longmans, London), pp. 7-21.
11. Thornbury, W. D. (1958), Principles of Geomorpholoy (John Wiley and Sons, Inc., New York).
12. Von Engeln, O.D. (1953), Geomorphology (Macmillan, New York).
13. Wooldridge, S. W. and Morgan, R. S. (1959), An Outline of Geomorphology (Longmans, London), pp. 159-172.
14. Worcester, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology (D. Van Nostrand Co., Inc., New York), pp. 172-174 & 193-200.

———

14

प्रवाही जल की भूमिका
[The Work of Running Water]

धरातल को प्रभावित करने वाले बलों में प्रवाही जल अथवा नदियों की प्रमुख भूमिका है। मरुस्थली भागों तथा हिमाच्छादित प्रदेशों के अतिरिक्त नदियों द्वारा विभिन्न स्थलों का निर्माण सर्वाधिक होता है। वर्षा के जल की कुछ मात्रा भूमि में समा जाती है, कुछ वाष्प बनकर उड़ जाती है और शेष जल धरातल पर गुरुत्वाकर्षण के कारण स्वाभाविक रूप से बहने लगता है। वर्षा और हिमानियों के पिघलने से प्राप्त जल नद व नदियां प्रवाहित होती हैं। पहाड़ों से निकलकर नदी मैदानों में बहती हुई समुद्र में विलीन हो जाती है। मोन्कहाउस के अनुसार "नदी वह बहता हुआ जलधारा है जो अपने उद्गम स्थान अर्थात् झरना, स्रोत, झील, हिमानी के छोर से बहकर सागर में खुलते मुहाने तक पहुँचता है।"

नदी की प्रवाह गति को भूमि का ढाल नियन्त्रित करता है। पहाड़ी भागों में नदी की गति तीव्र होती है अतः वह अपने मार्ग में आने वाले सभी अवरोधों को काटती, छाँटती और घिसती हुई आगे बढ़ती जाती है। पहाड़ी ढालों पर नदी शैल खण्ड, कंकड़-पत्थर तथा अन्य मलवा बहाती हुई तीव्र गति से नीचे उतरती है। खण्ड आपस में टकराकर छोटे होते जाते हैं जिन्हें बहाकर नदी दूर मैदानी भागों में ले जाकर निक्षेपित कर देती है क्योंकि वहां नदी की गति मन्द हो जाती है और उसमें तलछट बहाने की शक्ति नहीं रह जाती। इस प्रकार तीन क्रियाओं—कटाव, बहाव तथा जमाव—द्वारा भूतल पर परिवर्तन लाती है। नदी की इन तीन क्रियाओं को अपरदन, परिवहन तथा निक्षेपण कहते हैं।

नदी की तीनों क्रियाओं में से अपरदन क्रिया सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। धरातल पर स्थलाकृतियों के निर्माण में यह कार्य उल्लेखनीय है। अन्य बहिर्जात बलों की तुलना में प्रवाही जल निरन्तर क्रियान्वित रहता है, इससे दोआबों का क्रमिक परिवर्तन होता रहता है। तथा मौलिक धरातल उस समय तक (कटकर) नीचा होता रहता है जब तक कि वह समतल मैदान न बन जाय तथा जब तक नदी का पुनर्युवन वर्तमान चक्र में कोई बाधा उपस्थित कर, दूसरे चक्र का सूत्रपात न कर दे। बड़ी-बड़ी मुख्य नदियां अपनी सहायक नदियों द्वारा विस्तृत क्षेत्र को प्रभावित कर अपरदन द्वारा समतल बना देती हैं। संसार की वृहत मैदानी घाटियों का निर्माण नदियों द्वारा अपरदनात्मक क्रिया द्वारा ही हुआ है।

नदी अपनी अपरदन क्रिया को तीन प्रकार से सम्पन्न करती है—पहली क्रिया द्वारा कुछ घुलनशील शैल, जैसे लवण शैल, जिप्सम, चूना पत्थर आदि जल में घुल जाते हैं जिनको नदी अपने साथ बहा ले जाती है। जल के वेग के कारण नदी की तली तथा पार्श्व की शैलों के जोड़ ढीले हो जाते हैं तथा उखड़कर नदी के साथ बह जाते हैं। इस क्रिया को **जलीय क्रिया** कहते हैं। जल भार से शैल घिस कर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। बहते हुए शैल कण नदी के स्थिर शैल कणों से टकराकर उनको उखाड़ कर तोड़ देते हैं तथा स्वयं भी टूट जाते हैं। इस क्रिया को **अपघर्षण** कहते हैं। जल के साथ तैरते तथा घिसटते हुए शैल कण आपस में टकराकर टूटते-फूटते रहते हैं। इस क्रिया को **संनिघर्षण** कहते हैं। अपरदन क्रिया में अपक्षय क्रिया भी सहायक होती है।

नदी द्वारा अपरदन को मुख्यत: चार तथ्य प्रभावित करते हैं—

(1) नदी में जितनी जल की मात्रा होगी उसमें उतनी ही जलीय क्रिया होगी। नदी में भार ले जाने की क्षमता अधिक होगी तो निक्षेप की अपेक्षा अपरदन क्रिया अधिक होगी। वर्षा काल में अपरदन की गति तेज हो जाती है।

(2) नदी का वेग जल की मात्रा तथा नदी के ढाल पर निर्भर करता है। जल की अधिक मात्रा तथा तीव्र ढाल अपरदन की क्रिया को तेज कर देते हैं तथा इसके विपरीत मंद गति में स्थिति में अपरदन शिथिल होता जाता है।

(3) नदी का जल भार तीन प्रकार का होता है—जल में घुले पदार्थ, जल में तैरते अथवा निलम्बित तत्त्व तथा जल में प्रवाहमान भार जो बड़े-बड़े कंकड़-पत्थरों के रूप में पहाड़ों के ढाल पर नदी की तली को तोड़ता-फोड़ता तथा आपस में टकराता हुआ आगे बढ़ता है। अगर नदी में जल भार नहीं है या वहनयोग्य क्षमता से अधिक है तो इस स्थिति में अपरदन अत्यन्त मन्द गति से होगा। नदी द्वारा अपरदन उसके भार के अनुपात में होता है। यदि नदी का वेग दुगुना हो तो उसकी भार वहन शक्ति 64 गुनी होगी।

(4) नदी तल के शैलों की संरचना तथा प्रकृति भी अपरदन को प्रभावित करते हैं। यदि शैल कठोर हैं तो अपरदन कम और यदि कोमल हैं तो यह अधिक होगा। इसके अतिरिक्त नदी तल शैलों में दरारें व सन्धियां भी अपरदन की गति को तीव्र कर देती हैं। नदी का कार्य भी सदा एक जैसा नहीं होता क्योंकि वर्षा भिन्न-भिन्न समयों में होती है। नदी तल में विभिन्न प्रकार की शैलों की संरचना में असमानता तथा बहते हुए जल में भंवरों के कारण अपरदन क्रिया में जल का पूरा प्रभाव नहीं पड़ पाता। इस प्रकार नदी द्वारा अपरदन कार्य का समय, शैलों की संरचना तथा स्थान के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।

नदी घाटी का विकास तीन प्रकार से होता है—घाटी का गहरा होना, अर्थात् लम्बवत अपरदन, घाटी का चौड़ा होना अर्थात् क्षैतिज या पार्श्ववर्ती अपरदन तथा घाटी का लम्बा होना या शीर्ष कटाव।

पहाड़ी भागों में तीव्र ढालों के कारण नदी वेग से प्रवाहित होती है जिससे शिला-खण्ड और कंकड़-पत्थर द्रुत वेग से नदी की तली पर घिसटते और टकराते अर्थात् अपघर्षण करते हुए आगे बढ़ते हैं और घाटी गहरी होती जाती है। इससे नदी घाटी का लम्बवत अपरदन होता है। तीव्र वेग से बहते हुए कौणिक पत्थर के टुकड़े भंवर के रूप में चक्कर

काटते हुए घाटी की तली में खड्डे कर देते हैं जिसे जलगर्तिका कहते हैं। दक्षिणी भारत में *महाबलेश्वर के निकट कृष्णा नदी ने 600 मीटर गहरी घाटी का निर्माण किया है।* सिन्धु नदी हिमालय को काटकर 5666.6 मीटर गहरी घाटी से होकर बहती है।
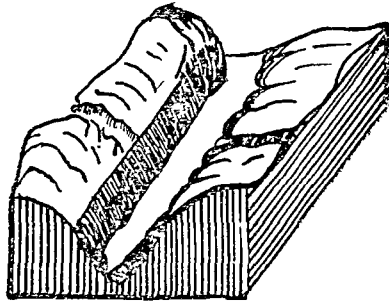
चित्र-14.1 नदी घाटी का गहरा होना

प्रौढ़ावस्था में नदी का गहरा होना कम हो जाता है तथा वहां क्षैतिज अपरदन सक्रिय हो जाता है। यह क्रिया मैदानी भागों में अधिक होती है जहां नदी का वेग कम हो

चित्र 14.2 नदी घाटी का चौड़ा होना

जाता है। समय के साथ-साथ नदी का आवाह क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, फलस्वरूप जल की मात्रा और भार अधिक होता जाता है। नदी का बहता जल घाटी के दोनों किनारों के
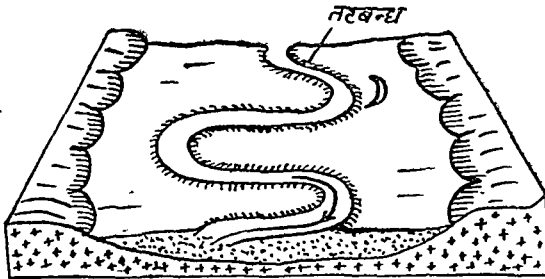
चित्र 14 3 नदी घाटी का चौड़ा होना

निचले भाग को अपघर्षण एवं जलीय क्रिया द्वारा काट देता है। इस अधःकर्तन की क्रिया से पार्श्व की चट्टानों में कटाव का निर्माण हो जाता है जिससे ऊपरी किनारे टूट-टूट कर गिरते रहते हैं। इस तरह के अपरदन को अवपातन कहते हैं।

अप्रवाह क्षेत्र में वर्षा के कारण नदी घाटी के किनारों की खड़ी दीवारें जल से नम हो जाती हैं तथा चट्टानों के कण ढीले होकर अलग-अलग होते जाते हैं। गुरुत्वाकर्षण के कारण ये नीचे खिसक कर जल के साथ बह जाते हैं। चट्टानों के छोटे-छोटे टुकड़े और मिट्टी के ढाल की ओर खिसकने की क्रिया को **'सोलीफ्लक्शन'** कहते हैं। जो ऐसे स्थानों

पर भी होती है जहां नदी का जल नहीं पहुँच पाता और इस प्रकार नदी की घाटी चौड़ी होती जाती है।

नदी जल बिना किसी अन्य साधन के अर्थात् पदार्थ के किनारों को धोता हुआ चलता है जिससे घाटी के दोनों ओर के किनारे शक्तिहीन होकर शनैः-शनैः कटते रहते हैं और घाटी चौड़ी होती जाती है। प्रवाह क्षेत्र में वर्षा के कारण पानी घाटी के ढाल की ओर
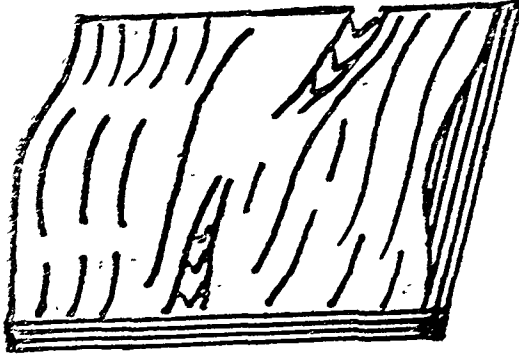
चित्र 14.4. नदी घाटी का अभिशीर्ष कटाव

तीव्र गति से बहता हुआ अवनलिकाओं की रचना करता है। मुख्य नदी में सहायक नदियों के संगम स्थान पर घाटी के किनारों पर दोनों ओर से प्रहार होता है अतः किनारे टूट कर गिर जाते हैं और घाटी चौड़ी हो जाती है। संक्षेप में जैसे-जैसे नदी-तल समवक्र का रूप
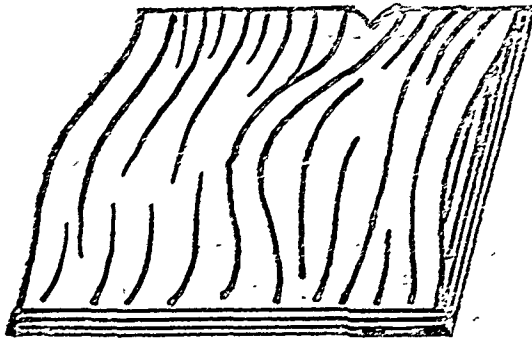
चित्र 14.5 नदी घाटी का मिलन

ग्रहण करता है पार्श्व अपक्षरण की क्रिया तीव्र होती जाती है तथा घाटी चौड़ी होती जाती है।

नदी घाटी तीन प्रकार की प्रक्रियाओं द्वारा लम्बी होती है :

(1) भारी वर्षा के समय पहाड़ी भागों में जलहरियों का निर्माण हो जाता है। यह जलहरियां प्रत्येक वर्षा में शनैः-शनैः दोनों छोरों को काटती रहती हैं। कटाव की यह क्रिया के अभिशीर्ष अपरदन अपने शीर्ष को काटते रहते हैं। एक समय ऐसा आता है कि

निरन्तर कटाव के कारण नदियों के शीर्ष एक दूसरे से मिल जाते हैं और एक नदी दूसरी का अपहरण कर लेती है, और इस प्रकार घाटी लम्बी हो जाती है।

(2) मैदानी भागों में नदी की गति मन्द होने से अपरदन-शक्ति क्षीण हो जाती है तथा वह मार्ग में आये अपरोध को हटाने में असमर्थ होती है, फलस्वरूप यह अवरोधों से

चित्र-14.6 विभाजक पर बनती घाटियां

बचकर बल खाती हुई आगे बढ़ जाती है। इस प्रकार नदी में घुमावदार मार्ग बनता रहता है जिसे विसर्पण कहते हैं। विसर्पण के विकास से घाटी लम्बी हो जाती है।

(3) नदी की अन्तिम अवस्था में उसका वेग इतना मन्द हो जाता है कि वह अपरदन के स्थान पर निक्षेप प्रारम्भ कर देती है। यह स्थिति नदी के मुहाने पर अधिक देखी जाती
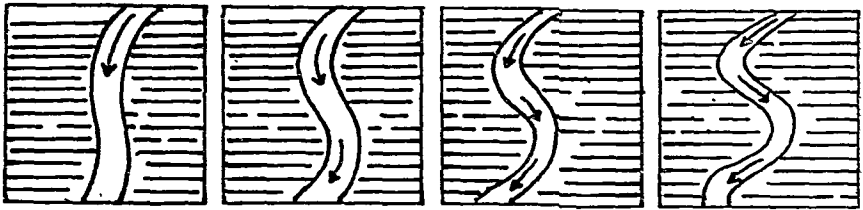
चित्र-14.7. घाटी का लम्बा होना

है। शनैः-शनैः नदी मार्ग में तलछट जमा होती जाती है जिससे नदी का मार्ग लम्बा हो जाता है।

नदी घाटी की परिच्छेदिकाओं का रूप बहाव क्षेत्र की शैलों की संरचना पर बहुत कुछ आधारित रहता है। परिच्छेदिकाएँ दो प्रकार की होती हैं—अनुप्रस्थ परिच्छेदिका तथा दीर्घ परिच्छेदिका।

अनुप्रस्थ परिच्छेदिका का आकार और रूप नदी के प्रवाह क्षेत्र की संरचना निर्धारित करते हैं। यदि नदी कठोर शैल वाले क्षेत्र में होकर बहती है तो उसकी घाटी संकीर्ण तथा प्रपाती ढाल वाली होगी जिसको महाखड्ड कहते हैं उत्तरी अमेरिका में कोलोरेडो नदी की ग्राण्ड केनयन 1828 मीटर से भी अधिक गहरी और 8 से 18 किलोमीटर चौड़ी है। इसके विपरीत यदि नदी कोमल शैलों की संरचना वाले प्रदेश में बहती है तो घाटी खुली और चौड़ी होगी। यदि अप्रवाह क्षेत्र में एक स्थल खण्ड मुलायम और दूसरा कठोर शैलों से निर्मित हो तो घाटी का खुला और विस्तृत तथा गहरा और संकीर्ण रूप विकसित हो जाता है।

मैदानों की अपेक्षा पर्वतीय भागों में सरित प्रवाह तीव्र होने के कारण घाटी का लम्बवत अपरदन शीघ्र होता है, और घाटी गहरी हो जाती है तथा इसका आकार अंग्रेजी के शब्द V के समान होता है। प्रारम्भिक अवस्था में V आकार घाटी की रचना संकरी होती है परन्तु समय के साथ तथा मैदानी भागों में यह घाटी चौड़ी हो जाती है।

घाटी के दोनों ओर के ढालों की भू-संरचना घाटी के आकार को नियंत्रित करती है। यदि नदी के किनारों पर शैलों की क्रमशः कठोर और मुलायम परतें हैं तो मुलायम परत शीघ्र कट जाती है जबकि कठोर प्रतिरोधी शैलों की परत से शैल सोपानों का विकास होता है और सीढ़ीनुमा घाटी का निर्माण होता है जिसे घाटी सोपान भी कहते हैं। कभी-कभी यह सोपान घाटी के एक ही किनारे पर होते हैं जबकि दूसरी ओर का ढाल सपाट
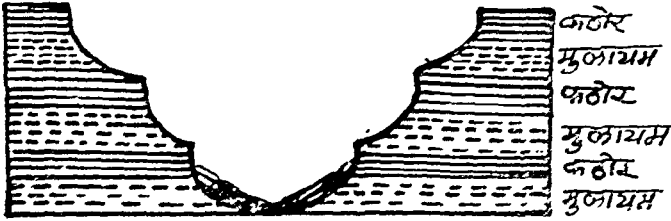
चित्र 14.8 शैल सोपान

रहता है। यदि एक ओर मुलायम और दूसरी ओर कठोर शैलें हों तो मुलायम शैल साधारण ढाल का निर्माण और दूसरी ओर के कठोर शैलों वाला ढाल तीव्र होगा।
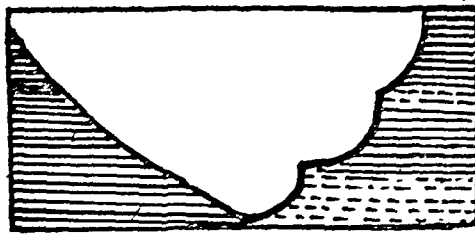
चित्र 14.9 असमान अनुप्रस्थ परिच्छेदिका

भ्रंशन की क्रिया से घाटी के पार्श्वों में असमानता आ जाती है तथा घाटी का आकार विकृत हो जायेगा।
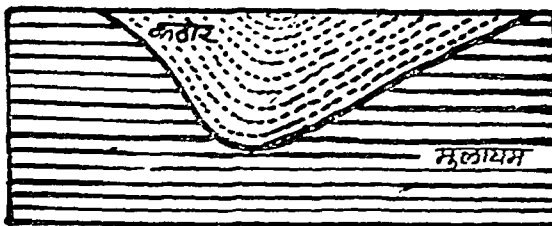
चित्र 14.10 विकृति आकार की V घाटी

दीर्घ परिच्छेदिका नदी के लम्बाई वाले ढाल की अवस्था प्रदर्शित करती है। नदी के लम्बे ढाल तली के शैलों की संरचना निर्धारित करते हैं। नदी शीर्ष से मुहाने तक अवतल ढाल का निर्माण करती है। प्राकृतिक रूप से नदी सदा समान संरचना वाले क्षेत्रों से

नहीं बहती। इसके मार्ग में कभी कोमल भाग तो कभी कठोर शैल आते रहते हैं। कोमल शैल शीघ्र कटकर द्रुतवाह का निर्माण करते हैं। जब कोमल भाग कट जाता है तो कठोर भाग ऊपर रह जाता है। ऐसे ऊँचे भाग से जल नीचे गिरने लगता है और इस प्रकार जल-प्रपात की रचना होजाती है। भ्रंश क्रिया द्वारा जब कोई भाग अन्य भागों की अपेक्षा नीचा अथवा ऊँचा हो जाता है तो उस अवस्था में भी जलप्रपात बनता है। शैलों की संरचना की विभिन्नता के कारण नदी के मार्ग में झीलों का अस्थायी निर्माण भी हो जाता है।

नदी सदा ऐसे वक्र का निर्माण करने में सतत संलग्न रहती है जिससे वह सुगमता से भार का परिवहन कर सके।

इस प्रकार नदी उद्गम–स्थान से मुहाने तक सीधी रेखा में न बहकर एक निष्कोण वक्र का विस्तार कर लेती है। नदियाँ सदैव अपने अपरदन की अन्तिम सीमा को आधार तल के अनुसार बनाती हैं जो सागर तल होता है। जब नदी द्वारा धरातल इतना काट दिया जाता है कि वह प्रत्यक्ष रूप से समतल दृष्टिगोचर हो तो उसे नदी का चरम स्तर कहत हैं। केवल मुहाने पर ही चरम स्तर रहता है। ऊपरी भाग में नदी अपने चरम स्तर तक नहीं पहुँच पाती क्योंकि इस भाग में नदी सदा भार का परिवहन करती रहती है जो किसी न किसी भाग में निक्षेपित होता रहता है जिसको नदी पुन: अपरदन कर देती है इस प्रकार नदी के जीवनकाल में ऐसा समय कभी नहीं आता जब उसका भार, जल की मात्रा एवं गति इस प्रकार संतुलित हो जाय कि अपरदन और निक्षेपण नहीं हो।

नदी की परिवहन शक्ति एवं उसके द्वारा ढोएं जाने वाले भार के मध्य पूर्ण संतुलन की स्थिति को क्रमबद्धता कहते हैं। यदि इस प्रकार की अवस्था नदी के उद्गम से मुहाने तक मिलती है तो नदी क्रमबद्ध या प्रवणित नदी कहलाती है। नदी की प्रवणता या क्रमबद्ध मार्ग उसके ढाल की प्रवणता जल की मात्रा, वेग और भार के समायोजन पर आधारित रहता है।

नदी में भार कम होता है तो उसकी परिवहन तथा अपरदन शक्ति बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति को जबकि निक्षेप की तुलना में अपरदन अधिक होता ., निम्नीकरण की अवस्था या अवनतावस्था कहते हैं। इसके विपरीत यदि नदी में परिवहन शक्ति से अधिक भार हो
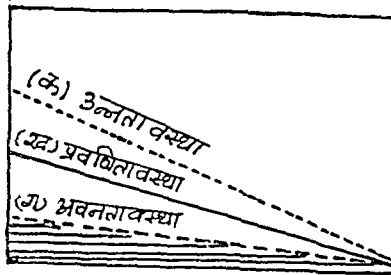
चित्र 14·11 नदी घाटी की अवस्थाएँ

तो अपरदन की अपेक्षा निक्षेप अधिक होता है। इस स्थिति को अधिवृद्धि की अवस्था उन्नतावस्था कहते हैं। यदि नदी द्वारा अपरदन और निक्षेप की क्रिया सन्तुलित हो अर्थात् दोनों ही क्रियाएँ समान हों तो इस स्थिति को प्रवणितावस्था की संज्ञा दी जाती है।

प्रारम्भ में नदी की उत्पत्ति एक जलहरी के रूप में होती है। वर्षा का जल पर्वतीय प्रदेशों के खड्डों में भर जाता है तथा वह तीव्र गति से ढाल की ओर बहना प्रारम्भ कर देता है जिससे जलहरी की रचना होती है। प्रतिवर्ष वर्षा और हिम के पिघलने के कारण जलहरी उपघाटी का रूप ग्रहण कर लेती है जो कालान्तर में घाटी में परिवर्तित हो जाती है। ढाल पर अनेक जलहरियां जन्म लेती हैं। छोटी जलहरियां बड़ी में विलीन होकर नदी का रूप ले लेती हैं। इस प्रकार मुख्य जलहरी, मुख्य नदी का रूप ले लेती हैं।

बारह मास बहने वाली जलधाराओं को स्थायी नदियाँ कहते हैं। स्थायी नदियों का उद्गम झील अथवा हिम क्षेत्र होता है जहाँ से इनमें निरन्तर जल की पूर्ति होती रहती है। इसके अतिरिक्त यदि नदी अपनी घाटी को भूमिगत जल-स्तर के नीचे तक काट देती है तो भूमिगत जल लगातार घाटी में रिसता रहता है और गंगा, यमुना, सिन्धु की तरह अनवरत बहती रहती हैं।

अस्थायी नदियाँ वे होती हैं जो वर्ष में कुछ समय के लिए ही बहती हैं तथा शेष समय में सूखी रहती हैं। ये नदियाँ जहाँ-जहाँ सामयिक वर्षा या हिमपात होता है, मिलती हैं। लम्बे सूखे की अवधि में जबकि भूमिगत जल-तल नीचे चला जाता है तो स्थायी नदियां भी आंतरायिक नदियों का रूप ले लेती हैं।

मीन्जर के अनुसार जो नदियाँ एक माह भी नहीं बहतीं उन्हें अल्पकालिक कहते हैं। ऐसी नदियों का जीवनचक्र वर्षा के साथ चलता है। ये अर्द्धशुष्क एवं मरुस्थलीय प्रदेशों में पायी जाती हैं। राजस्थान में ऐसी कई नदियाँ हैं।

नदी सदा एक घाटी के रूप में अपना मार्ग प्रशस्त करती है तथा समय के साथ घाटी विविध रूप ले लेती है। धरातल की संरचना भी किसी नदी घाटी के रूप को निर्धारित करती है। प्रमुख नदी के विकास के साथ-साथ उसकी अनेकों सहायक नदियों का विकास भी होता है। अतः किसी नदी घाटी के सम्पूर्ण विकास और उसकी सहायक और उपसहायक धाराओं के समूह को **अपवाह प्रणाली** या **नदी प्रणाली** कहते हैं।

विभिन्न अपवाह प्रणालियों के विकास के पीछे धरातल की असमान संरचना एक मुख्य कारण है। जिनमें अन्य कई परिस्थितियाँ भी सहायक होती हैं जैसे—चट्टानों की स्थिति, शैलों की सरन्ध्रता, जल की मात्रा, जलवायु तथा ढाल की प्रकृति भी अपवाह प्रणालियों के विकास में विभिन्नता उत्पन्न करते हैं। इन विभिन्नताओं के आधार पर ही इन्हें वर्गीकृत किया जाता है।

अनुवर्ती धाराएँ सागर तल से उठे हुए नव सृजित भू-भाग के ढलान का अनुसरण करती हैं। प्रारम्भ में धाराओं का प्रवाह ढाल के अनुरूप होता है। अर्थात् धरातल की बनावट ही अनुवर्ती नदियों के प्रवाह-पथ को निर्धारित करती है। दक्षिणी भारत के प्रायद्वीप तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के एटलाण्टिक तथा खाड़ी तट का अपवाह-तन्त्र इसके उदाहरण हैं।

अनुवर्ती नदी की घाटी के दोनों ओर वर्षा के कारण परवर्ती नदियां जन्म लेती हैं। ये मुख्य नदी के दांई और बांई ओर से समकोण पर मिलती हैं। अनुवर्ती नदियां अभिनति से और परवर्ती नदियां अपनति से बहती हैं अतः परवर्ती नदियां अपनी घाटी को गहरा

बनाती हैं तथा तिरछी होती हैं। भूमिगत सन्धि एवं विदरों के अनुकूल बहने वाली नदियां भी परवर्ती नदियाँ कहलाती हैं। इनमें चीन की हूनहो नदी की सहायक नदियों की अपवाह प्रणाली प्रमुख है।

अनुवर्ती नदी की दिशा में बहने वाली छोटे-छोटे नवीन नदी-नाले नवानुवर्ती नदियाँ कहलाती हैं। इनका विकास अनुवर्ती तथा परवर्ती अपवाह तन्त्र के विकास के पश्चात् निम्न तल पर होता है। इन्हें उपअनुवर्ती धाराएँ भी कहते हैं। प्रायः ये परवर्ती नदियों में जाकर मिलते हैं।

प्रत्यानुवर्ती नदी अनुवर्ती नदी के विपरीत दिशा में बहती हुई परवर्ती नदी में मिलती है। यह वर्षा ऋतु में तीव्र गति से बहती है तथा आकार में छोटी होती है। यह अनुवर्ती नदी के समानन्तर बहती हुई परवर्ती नदी पर प्रायः समकोण बनाती हुई उसकी
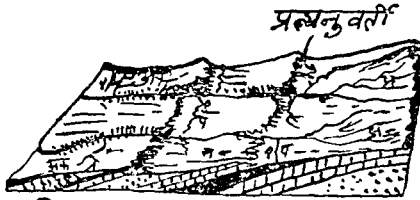
चित्र 14.12 अपवाह तन्त्र
अ- अनुवर्ती, प- परवर्ती
न- नवनुवर्ती अक्र- अक्रमवर्ती

सहायक नदी बन जाती है। इस प्रकार की अपवाह प्रणाली सागर तटीय मैदानों में प्रायः देखने को मिलती है। ये नदियाँ छोटी होती हैं किन्तु इनके बहाव की प्रखरता अधिक होती है।

अक्रमवर्ती धाराएं स्वतन्त्र व अनियन्त्रित छोटी-छोटी धारायें हैं जो धरातल की संरचना और ढाल से प्रभावित नहीं होती हैं। ये किसी भी दिशा में स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित हो सकती हैं जैसे, न्यूजीलैंड की वांगानुई तथा पूर्वी इटली के तटीय मैदान की अनेक नदियों का अपवाह तन्त्र।

अननुवर्ती अपवाह प्रणाली के अन्तर्गत अननुवर्ती नदियाँ भूमिगत संरचना के विपरीत प्रवाहित होती हैं। ऐसी स्थिति उस समय आती है जब भूमिगत शैलों के ऊपर निक्षेप हो जाता है। इस प्रकार का निक्षेपित ऊपरी आवरण ही अननुवर्ती नदियों की प्रवाह प्रणाली को निर्धारित करता है। अननुवर्ती अपवाह पूर्ववर्ती तथा अध्यारोपित होता है।

जब किसी पहले से बहती हुई नदी के मार्ग या घाटी में भौतिक बलों के कारण स्थानीय उत्थान हो जाता है तो वह नदी उत्थित भाग को काट कर अपने पूर्व मार्ग का ही अनुसरण करेगी। पूर्ववर्ती नदी की घाटी में भौतिक शक्तियों द्वारा स्थानीय परिवर्तन, जैसे वलन, भ्रंशन या उत्थान पूर्व निर्मित अपवाह में परिवर्तन लाने में असमर्थ रहते हैं। ऐसी नदियाँ और उनके प्रवाह मार्ग समीपवर्ती भूमि के ढलान से भिन्न होते हैं।

पूर्ववर्ती नदी के मध्य भाग में संकरी घाटी होती है। भारत में बहने वाली सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, सतलज और तिस्ता आदि नदियाँ पूर्ववर्ती नदियां हैं। हिमालय पर्वत शृंखला के निर्माण से पूर्व ये सभी नदियां उत्तर से दक्षिण की ओर प्रवाहित होती थीं। हिमालय के उत्थान के साथ-साथ इन नदियों ने अपनी अपरदन की गति को भी लगभग समान रखा जिसके कारण हिमालय इनके मार्ग में अवरोध उपस्थित नहीं कर सका। हिमालय को जिस स्थान पर ये नदियां हिमालय को पार करती हैं वहां इनकी घाटियां अत्यन्त गहरी, संकरी और तीव्र ढाल वाली हैं।

अध्यारोपित या पूर्वारोपित अपवाह प्रणाली ऐसे स्थल खण्ड पर विकसित होती हैं जहां विभिन्न संरचना वाली भूमिगत शैलें ऊपरी निक्षेपण आवरण अर्थात् परतदार शैलों के नीचे दबी रहती हैं। नदी ऊपरी आवरण शैल पर अपनी घाटी का निर्माण कर लेती है। शनैः-शनैः अपने ऊपरी आवरण को काटकर नदी भूमिगत शैल पर भी घाटी का पहले की भांति ही निर्माण करने लगती है अर्थात् ऊपरी आवरण शैल पर निर्मित घाटी का निचली भिन्न संरचना वाली शैलों पर घाटी का अरोपण कर दिया जाता है। इस प्रकार अध्यारोपित अपवाह में तलहटी की भिन्न संरचना वाली शैल पूर्व निर्मित घाटी या प्रवाह को परिवर्तित करने में असमर्थ रहती है। उत्तरी अमेरिका और इंगलैण्ड के झील प्रदेश की नदियां तथा राजस्थान में चम्बल और बनास अध्यारोपित अपवाह के अच्छे उदाहरण हैं।

जब नदियां किसी सागर में न गिर कर किसी झील में गिरती हैं तो इस तरह के अपवाह अन्तःस्थलीय अपवाह कहलाते हैं। इन नदियों का समुद्र से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह समस्त क्षेत्र जिसमें होकर इस प्रकार की नदियाँ बहती हैं अतःस्थलीय अपवाह क्षेत्र कहलाता है। यूरोप में कैस्पियन सागर, एशिया में अरल सागर तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के यूटाहा तथा नेवेडा अतःस्थलीय अपवाह क्षेत्र के उदाहरण हैं।
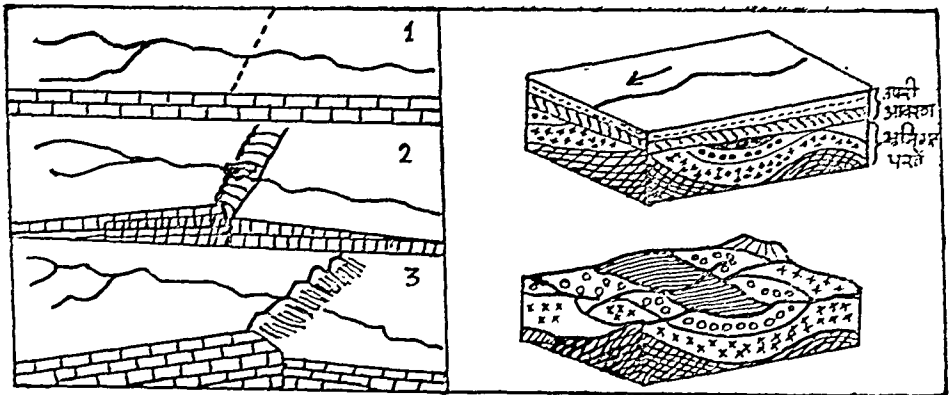
चित्र 14.13 पूर्ववर्ती अपवाह   चित्र-14.14 अध्यारोपित अपवाह

भूमिगत नदियां पारगत तथा रन्ध्रयुक्त शैलों से निर्मित धरातलीय क्षेत्रों में होती हैं। चूने के प्रदेश इनके लिए आदर्श परिस्थितियां प्रस्तुत करते हैं। इन प्रदेशों में वर्षा का जल भूतल में प्रवेश कर जाता है तथा भूमिगत जलधाराओं का विकास करता है। ये भूमिगत नदियां कहीं-कहीं दिखाई भी देती हैं और कहीं अदृश्य हो जाती हैं। वर्षा का जल

सुरंगों और कन्दराओं का निर्माण करता है और नदियां अपरदन तथा निक्षेप का दोनों ही कार्य सम्पन्न करती है। **यूगोस्लेविया के चनू के प्रदेश** भूमिगत नदियो से भरे हैं।

जब कोई नदी अपने अपवाह क्षेत्र को उद्गम की ओर बढ़ाती हुई किसी दूसरी छोटी न दी के उद्गम से जा मिलती है तथा उसका समस्त जल अपनी ओर प्रवाहित कर लेती है तो इसे नदी अपहरण कहते हैं। नदी अपहरण की क्रिया जल विभाजक पर होती है। जल-विभाजक के दोनों ओर की नदियां शीर्ष कटाव करती रहती हैं और अन्त में बड़ी नदी छोटी को अपने में मिला लेती है। जलविभाजक के जिस ओर अधिक वर्षा होती है उस ओर नदी प्रखर होती है तथा अपरदन तीव्र होता है। जलविभाजक शनैः-शनैः पीछे हटता जाता है और अन्त में दोनो नदियों के बीच का अवरोध समाप्त हो जाता है। अपहरणकारी नदी को दस्यु नदी और अपहरण क्रिया को नदी अपहरण कहते हैं। जिस छोटी नदी का जल बड़ी नदी हड़प लेती है उसे **हरित या रुंडित नदी** कहते हैं। रुंडित नदी का जल तथा विस्तार भी घट जाता है। इस प्रकार की नदी को **अनुपन्न नदी** कहते हैं। जिस स्थान पर नदी अपहरण की क्रिया होती है उस स्थान के ठीक नीचे एक शुष्क और खुला स्थान रह जाता है जिसे **पवन-छिद्र** कहते है। इस स्थान पर अपहरण मोड़ भी परलक्षित होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के **ब्लैक हिल्स में बेली फोर्शी** नदी द्वारा **लिटिल मिसौरी** नदी की एक सहायक नदी का अपहरण इसका उदाहरण है।

फिलिप्सन ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि जल-विभाजक का एकांकी अपरदन नदी के अपवाह क्षेत्र में कठोर शैलों का होना, उत्थापन की यान्त्रिक क्रियायें, हिम व ज्वालामुखी के कार्य एवं भूमि-स्खलन भी नदी अपहरण के कारण हो सकते हैं। अमेरिकी भू-वैज्ञानिक डब्लू. ओ. क्रासवी ने नदी अपहरण के बारे मे दो मत व्यक्त किये है। एक तो ऊपर वाली नदी का जल नीचे वाली नदी में अकस्मात् बहने लगता है। दूसरा भूमि के नीचे अपहरित नदी का जल दूसरी नदी में प्रवाहित होने लगता है।

मुख्य नदी जब अपनी सहायक और उपसहायक नदियो के साथ बहती है तो उस क्षेत्र की संरचना, स्थलाकृति जलवायु. तात्कालिक भूगर्भिक क्रिया आदि उसके प्रवाह मार्ग को नियन्त्रित करते हैं। यह तत्त्व भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न पाए जाते हैं अतः प्रवाह तन्त्र भी विभिन्न प्रकार से विकसित होता है। इस प्रकार की अपवाह व्यवस्था नाना प्रकार के प्रवाह-प्रतिरूपों को जन्म देती है।

जालीनुमा प्रतिरूप की **स्वभावोत्भूत प्रवाह-प्रणाली** जालीनुमा होती है। इस प्रणाली में जलधाराएं प्राकृतिक ढाल का अनुसरण करती हैं। इनके प्रवाह मार्ग में परिवर्तन ढाल के परिवर्तन के अनुसार होता है। इस प्रकार का प्ररूप ऐसे स्थल पर विकसित होता है जहाँ कोमल तथा कठोर शैल साथ-साथ मिलते हैं। सहायक एवं उप सहायक नदियां मुख्य नदी से समकोण पर मिलती हैं। लोबेक के अनुसार इस प्रकार के प्ररूप को परवर्ती, प्रत्यानुवर्ती एवं नवानुवर्ती नदियां नियन्त्रित करती हैं। स्वभावोत्भूत जलधाराओं का विकास उत्थित गुम्बद, नवीन पर्वत, ऊँचे उठे तटीय मैदान तथा वलित पर्वतों के ऊपर होता है। हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों में इस प्रकार के जालीनुमा प्रतिरूप मिलते हैं।

समान संरचना वाले भू-भाग पर जहां सहायक नदियां भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर मुख्य नदी में मिलती हैं द्रुमाकृतिक प्रतिरूप विकसित होता है। वृक्ष की शाखाओं

और उपशाखाओं की भांति छोटी-बड़ी नदियां चारों ओर फैली रहती हैं। इसीलिए इसे वृक्ष के आकार वाला प्रतिरूप भी कहा गया है। साधारणतः सहायक नदियां मुख्य नदी से
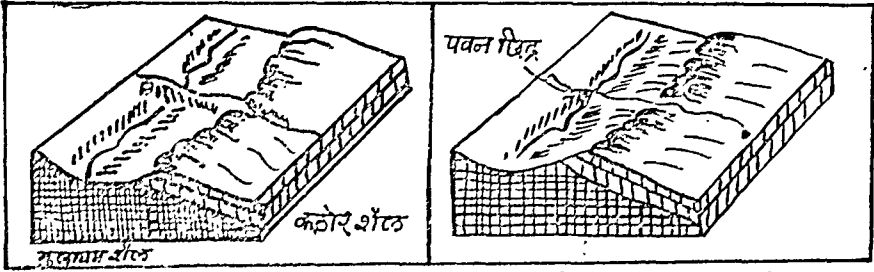
चित्र 14.15 नदी अपहरण से पूर्व की अवस्था चित्र 14.16 नदी अपहरण के पश्चात की अवस्था

लघुकोण पर मिलती हैं। इसलिये इस प्रतिरूप की आकृति पिच्छाकार अथवा पंख जैसी भी कही गई है—गंगा, गोदावरी, न्यूजीलैण्ड की वांगानुई आदि नदियां इस प्रतिरूप के मुख्य उदाहरण हैं।

आयताकार प्रतिरूप में सहायक नदियां मुख्य नदी से समकोण पर मिलती हैं। नदियों के संगम का कोण चट्टानों की सन्धियों के स्वभाव द्वारा निर्धारित होता है। जिस

जालीनुमा प्ररूप द्रुमाकृतिक प्ररूप

अ-अनुवर्ती
प-परवर्ती
प्र-प्रत्यनुवर्ती
न-नवानुवर्ती

अनुप्रस्थ नदी
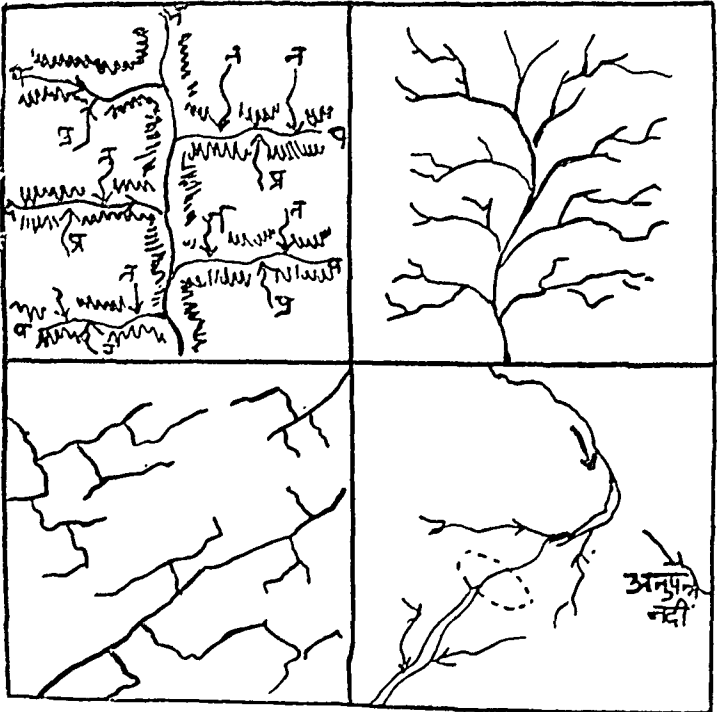
आयताकार प्ररूप कटकौर प्ररूप

चित्र 14.17 अपवाह प्ररूप

स्थान पर जोड़ अथवा सन्धियां आयताकार होती हैं वहां इस प्रकार का प्रतिरूप विकसित

होता है। भारत में इस प्रकार के प्रतिरूप का अभाव है जबकि नार्वे के तट तथा उत्तरी न्यूयार्क क्षेत्र में इसके कई उदाहरण मिलते है।

कंटकीय प्रतिरूप—ऐसे प्रदेश में जहाँ सहायक नदी मुख्य नदी के प्रवाह के विपरीत दिशा से आकर मिलती है विकसित होता है। इस प्रतिरूप को अंकुड़ीनुमा प्रतिरूप भी कहते हैं क्योंकि ऐसे अंकुड़े नदियों में उनके शीर्ष के पास होते हैं जहां पर नदी अपहरण होता है। अपहृत नदी की सहायक नदियां जो बड़ी नदी की सहायक नदी हो जाती हैं, अपनी पूर्व दिशा की ओर ही प्रवाहित होती हैं। इसलिए इनकी दिशा मुख्य नदी की दिशाके विपरीत होती है जिसके कारण कंटकीय प्रतिरूप विकसित होता है। सिन्धु तथा ब्रह्मपुत्र नदियों के ऊपरी भाग में सहायक नदियां मुख्य नदी की विपरीत दिशा में बहती हैं।
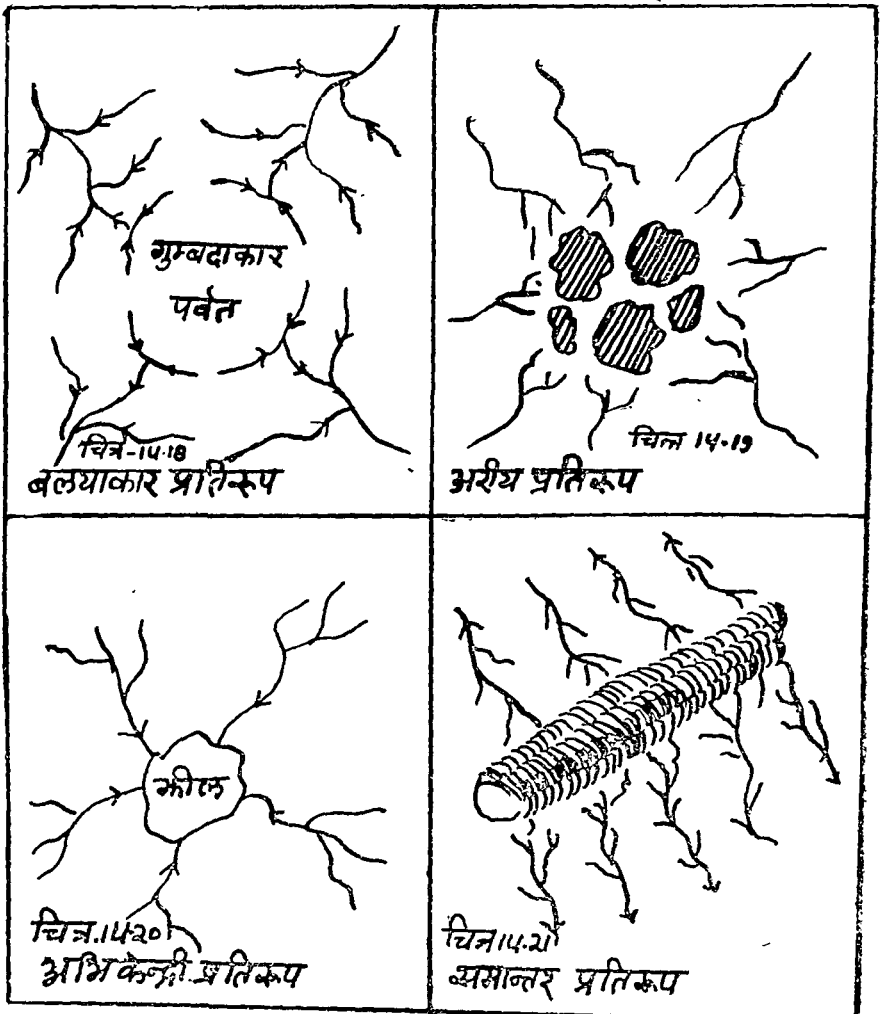
वलयाकार प्रतिरूप—कोमल और कठोर शैलों से निर्मित यदि अंशोत्थ पर्वत का पर्याप्त अनाच्छादन हो चुका है तो अनुवर्ती नदियों की सहायक परवर्ती नदियों का कोमल

शैलों के परत पर वलयाकार प्रतिरूप का विकास हो जाता है। ये नदियां गुम्वदीय पर्वत का चक्कर लगाती हुई वृत्ताकार रूप में वहती हैं। इस प्रकार की नदियां संरचना के साथ समायोजित हो जाती हैं। इंगलैण्ड के वेल्ड प्रदेश तथा संयुक्त राज्य ग्रमेरिका के व्लैक हिल्स के ग्रनाच्छादित गुम्वदों पर इस तरह का प्रतिरूप मिलता है।

जो नदियां गुम्वादाकार पर्वतों के केन्द्रीय स्थान से निकलकर चारों ग्रोर वहती हैं वे केन्द्र-त्यागी या ग्ररीय प्रवाह प्रतिरूप की संरचना करती हैं। ऐसे प्रवाह के लिए ग्रावश्यक दशायें गुम्वदाकार पर्वत या ज्वालामुखी शंकुग्रों में पाई जाती हैं। नदियाँ ढालों का ग्रनुसरण करती हुई पहिए के ग्रारों या वृत्त के ग्रर्धव्यासों के समान होती हैं इसीलिए इसे ग्ररीय प्ररूप की संज्ञा दी गई है। भारत में **नीलगिरि पहाड़ियों ग्रौर सौराष्ट्र, श्रीलंका, उत्तरी ग्रमेरिका, फ्रांस के मध्य पठार** ग्रादि में ऐसे कई प्रतिरूप हैं।

ऐसे भू-भाग में जहाँ चारों ग्रोर की भूमि ऊँची हो ग्रौर मध्य में झील ग्रथवा ग्रन्तः स्थलीय सागर हो तो ग्रभिकेन्द्री नदी प्रवाह प्रतिरूप देखने को मिलता है। इस प्रकार के ग्रपवाह को ग्रन्तः स्थलीय ग्रपवाह भी कहते हैं। इन नदियों का समुद्र से कोई सम्पर्क नहीं रहता। वह समस्त क्षेत्र जिसमें होकर नदियाँ वहती हैं ग्रन्तःस्थलीय ग्रपवाह क्षेत्र कहलाता है। तिव्वत ग्रौर लद्दाख के पठारी भागों में यूरोप में **कैस्पियन सागर**, एशिया में **ग्ररल सागर**, संयुक्त राज्य ग्रमेरिका में **यूटाहा** तथा नेवेडा के विशाल ग्रन्तःस्थलीय क्षेत्रों में ग्रभिकेन्द्री प्रवाह प्रतिरूप मिलते हैं।

वृहत् लम्वी पर्वत-श्रेणियों में समानांतर प्रतिरूप पाया जाता है, ऐसे प्रदेशों में नदियाँ समान ऊँचाई से निकलती हैं तथा लगभग समान दूरी पर समान्तर वहती हैं। इसलिए इस प्रकार की प्रवाह प्रणाली को समान्तर प्रतिरूप की संज्ञा दी है। **लघु हिमालय से भारत के उत्तरी मैदान में उतरने वाली नदियां** समानान्तर ग्रपवाह प्रतिरूप का वनाती हैं। समुद्र तटीय भागों में भी इस प्रकार की प्रणाली का विकास होता है।

परिवहन

ग्रपरदन क्रिया से वनी तलछट को नदी द्वारा स्थानान्तरण क्रिया को परिवहन कहते हैं। नदियों द्वारा ग्रपरदन से प्राप्त पदार्थों के ग्रतिरिक्त ग्रपक्षय द्वारा विघटित एवं वियोजित पदार्थों, भूमि-स्खलन, ग्रवपात हिमानी तथा भूमि-सर्पण द्वारा भी पदार्थ नदी में मिश्रित होते रहते हैं जिनका वह परिवहन करती है। नदी की परिवहन शक्ति को ढोए जाने वाले भार का ग्राकार ग्रौर मात्रा तथा नदी का वेग प्रभावित करता है। भार तीन तरह का होता है—जल में घुला हुग्रा, तैरता हुग्रा तथा तलहटी पर घिसटता तथा लुढ़कता हुग्रा। नदी का वेग भी तीन वातों पर ग्राधारित रहता है। नदी की घाटी के ढाल की प्रवणता, घाटी का ग्राकार ग्रौर स्वरूप तथा जल की मात्रा। गिलवर्ट ने नदी के वेग ग्रौर नदी की परिवहन शक्ति के वीच के सम्वन्धों के ग्राधार पर एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसे गिलवर्ट का **'छटी शक्ति का सिद्धान्त'** कहते हैं। इसके ग्रनुसार यदि नदी का वेग दुगुना हो जाय तो नदी की परिवहन शक्ति 64 गुना हो जाती है।

परिवहन शक्ति $=$ (नदी का वेग)^{6} सूत्र द्वारा इसे सिद्ध करता है।

नदियां भार को चार प्रकार से ढोती हैं—मिट्टी के वारीक कण गाद के रूप में

जल में घुल कर बहते हैं। उत्परिवर्तन विधि द्वारा शैलों के छोटे-छोटे टुकड़े नदी की तलहटी पर उछल-उछल कर मन्द गति से चलते हैं। जब शैल कण शिलाओं से टूट कर पानी में गिरते हैं तो प्लवनशीलता के कारण उनके भार में कमी आ जाती है तथा वह कुछ दूर तक पानी में लटके हुए आगे बह जाते हैं। शैलों के बड़े-बड़े टुकड़े जल के वेग और गुरुत्वाकर्षण के कारण नदी की तलहटी पर घिसटते तथा लुढ़कते रहते हैं।

नदियों द्वारा ढोये जाने वाले पदार्थों की मात्रा बहुत होती है। उदाहरणार्थ गंगा प्रतिवर्ष नौ हजार टन और ब्रह्मपुत्र तथा सिन्धु क्रमशः दस हजार टन पदार्थ प्रतिवर्ष बहा ले जाती हैं।

नदी अपने जीवन काल में अनेक अवस्थाओं से गुजरती है। नदी की अवस्था का उसके प्रवाह क्षेत्र के आकार से कोई सम्बन्ध नहीं होता। नदी स्वयं अपनी कार्य प्रणाली द्वारा अपनी अवस्था निर्धारित करती है। अपरदन चक्र के आधार पर प्रो. डेविस ने नदी को तीन अवस्थाओं में बाँटा है—(1) युवावस्था, (2) प्रौढ़ावस्था तथा (3) वृद्धावस्था।

(1) युवावस्था (Youthful stage)—युवावस्था में तीव्र ढाल के कारण नदी पूरे वेग से अपने मार्ग की रुकावटों को तोड़-फोड़ कर अपनी घाटी के निर्माण में लगी रहती है। इस अवस्था में अपरदन तथा परिवहन चरम सीमा पर होता है जिसके फलस्वरूप अनेक स्थलाकृतियों का निर्माण होता है, जैसे संकरी घाटी, कन्दरा, प्रपाती खड्ड, द्रुतवाह, जल प्रपात, जलज गर्तिका, अवनमित कुण्ड आदि।

(2) प्रौढ़ावस्था (Mature stage)—मैदानी भाग में नदी प्रौढ़ावस्था में होती है। जब नदी पहाड़ी भाग से उतर कर मैदानी भाग में पहुंचती है अथवा कालान्तर में घाटी का पूर्ण विकास हो जाने पर ढाल की तीव्रता कम हो जाती है, फलतः नदी का वेग भी कम हो जाता है। नदी की यौवनावस्था की चंचलता तथा तीव्रता प्रौढ़ावस्था में परिवर्तित हो जाती है। इस अवस्था में पार्श्विक अपरदन अधिक होने के कारण घाटी चौड़ी हो जाती है। इस अवस्था में नदी की अपरदन अथवा निक्षेप क्रिया उसके जल की मात्रा, ढाल एवं सामग्री के अनुपात पर आधारित होती है। यदि जल के अनुपात में सामग्री कम होती है तो अपरदन तथा इसके विपरीत स्थिति में निक्षेप होता है।

प्रौढ़ावस्था में नदी (1) संरचनात्मक सोपान, (2) नदी वेदिकाएँ, (3) समप्राय मैदान, (4) जलोढ़ पंख, (5) जलोढ़ शंकु, (6) नदी विसर्प, (7) चाप झील, (8) बाढ़ का मैदान आदि की रचना करती है।

(3) वृद्धावस्था (Old stage)—वृद्धावस्था में भू-पृष्ठीय असमानताएं समाप्त हो जाती हैं तथा मुहाने से पूर्व नदी की गति बहुत मन्द हो जाती है। इस अवस्था में अपरदन के स्थान पर निक्षेपात्मक कार्य अधिक होता है अतः नदी में घुले तलछट का निक्षेप प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था में नदी प्राकृतिक तटबन्ध, समप्राय मैदान, मोनैडनौक, क्वेस्टा, डेल्टा आदि का निर्माण करती है।

नदी अपरदन चक्र में उपरोक्त अवस्थाएं अनुकूल परिस्थितियों में ही सम्भव हैं। कभी-कभी परिस्थितियां प्रतिकूल भी हो सकती है जिसके परिणामस्वरूप नदी की अवस्थाओं के क्रम में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है जैसे प्रौढ़ावस्था में युवावस्था तथा वृद्धावस्था में प्रौढ़ावस्था के चिन्ह दृष्टिगोचर हो सकते है।

अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियां
(Landforms Produced By Erosion)

लम्बी अवधि के अपरदन के फलस्वरूप नदियां अपनी घाटी एवं समीपस्थ क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थलाकृतियों का निर्माण करती हैं। नदी की भौतिक अपरदन शक्ति, उसके जल की मात्रा, वेग, ढाल, भार की मात्रा एवं शैलों की संरचना पर निर्भर करती है।

घाटी का निर्माण—नदी में जल की अधिक मात्रा तथा तीव्र ढाल लम्बवत अपरदन को गति प्रदान करता है। अतः नदी की तेज धारा पर्वत को उसी प्रकार काटने लगती है जैसे लकड़ी को आरी काटती है। तीव्र लम्बवत अपरदन के कारण घाटी अत्यन्त गहरी हो जाती है तथा दोनों ओर प्रपाती ढालों का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार शनैः-शनैः संकरी घाटी सैकड़ों मीटर गहरी हो जाती है। इस प्रकार की संकरी तथा गहरी घाटी को **संकीर्ण द्रोणी** (Gorge) नाम से सम्बोधित करते हैं। यदि घाटी अत्यधिक गहरी और संकरी होती है तो उसे प्रपाती खड्ड (Canyon) कहते हैं।
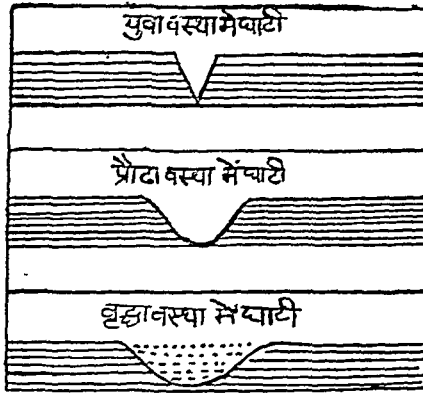
चित्र 14.22 नदी घाटी का विकास

1. **संकीर्ण द्रोणी या गार्ज**—प्रारम्भिक अवस्था में जिस समय नदी द्रुत वेग से बहती है तो पार्श्विक अपरदन की अपेक्षा लम्बवत अपरदन अधिक होता है जिसके फलस्वरूप अत्यन्त तीव्र ढाल वाली संकरी तथा गहरी घाटी का निर्माण हो जाता है जिसको **संकीर्ण द्रोणी** कहते हैं। इसका निर्माण कठोर शैलों वाले क्षेत्र में अधिक होता है। सतुलज नदी ने भाखड़ा स्थान पर संकीर्ण द्रोणी का निर्माण किया है जहाँ भाखड़ा बाँध बनाया गया है। हिमालय पर्वत पर गिलगित के समीप सिन्धु नदी द्वारा 5666.6 मीटर गहरी संकीर्ण द्रोणी का निर्माण किया है। इसी प्रकार ब्रह्मपुत्र, अलकनन्दा, कोसी और सतलुज ने भी पहाड़ी भागों में संकीर्ण द्रोणियाँ निर्मित की हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में आरकान्सास नदी (Arkansas river) द्वारा निर्मित **रायल गार्ज** (Royal Gorge) जगत प्रसिद्ध है।

2. **प्रपाती खड्ड**—यह संकीर्ण द्रोणी का ही विकसित रूप है। इसके निर्माण में कुछ विशेष परिस्थितियों का होना आवश्यक है, जैसे—(1) न्यून वृष्टि वाले प्रदेशों में जहाँ सहायक नदियां बहुत कम मात्रा में मुख्य नदी से आकर मिलती हों, (2) नदी तीव्र वेग से बहती हो, (3) नदी का उद्गम वर्षा वाले या हिमाच्छादित प्रदेश में हो जिससे नदी को

निरंतर जल मिलता रहे, (4) शैलों के आड़े प्रसार वाला पठारी या कठोर शैल वाला पहाड़ी भाग हो तथा (5) नदी में जल की मात्रा के अनुपात में इतना भार हो कि वह अपरदन कर सके। संयुक्त राज्य अमेरिका के एरिजोना प्रान्त (Arizona state) में कोलोरेडो नदी (Colorado river) द्वारा निर्मित 1828 मीटर गहरा ग्रान्ड कैनियन (Grand Canyon) विश्व विख्यात है। इसी प्रकार यलोस्टोन नदी (Yellowstone river) ने भी अति सुन्दर प्रपाती खड्ड का निर्माण किया है जोकि 30 मीटर गहरा है। दक्षिणी भारत में कृष्णा नदी ने 600 मीटर गहरे प्रपाती खड्ड का निर्माण किया है।
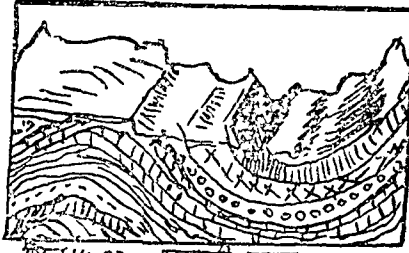
चित्र 15.23 प्रपाती खड्ड

3. द्रुतवाह (Rapids)—नदी जब कठोर तथा मुलायम शैलों के ऊपर होकर बहती है तब नीचे की मुलायम शैल शीघ्र कटकर बह जाती हैं तथा कठोर शैल अपेक्षाकृत कम कटती हैं। अतः नदी तल के नीचे की ओर झुके स्तरों (Inclined strata) में असमानता उत्पन्न हो जाती है। जल जब असमतल नदी तल पर कहीं मन्द और कहीं तीव्र गति से बहता है। नदी के इस प्रकार असमान गति के प्रवाह को द्रुतवाह कहते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों में द्रुतवाह जलप्रपात बनने की प्रथम अवस्था है। कभी-कभी विपरीत परिस्थितियों में जलप्रपात द्रुतवाह में परिणित हो जाते हैं, शनैः-शनैः जलप्रपात की ऊँचाई कम होती जाती है और अन्त में वह द्रुतवाह का आकार ग्रहण कर लेता है। मिस्र की नील नदी के दक्षिणी भाग में अनेकों द्रुतवाह दृष्टिगोचर होते है।

4. जलप्रपात (Water falls)—पहाड़ी या पठारी भागों में जब नदी के मार्ग में किसी स्थान पर कठोर प्रतिरोधी और उसके नीचे सुगमता से क्षय होने वाली मुलायम शैल क्रमवार बिछी हों तो अनेकों प्रकार के प्रपात उत्पन्न हो जाते हैं। जल कठोर चट्टानों से गिरता हुआ नीचे की कोमल चट्टानों को निरन्तर काटता रहता है। अन्त में नीचे की मुलायम शैलें अपरदित होकर बह जाती हैं और ऊपर की कठोर प्रतिरोधी चट्टान लटकती रह जाती हैं जिसके ऊपर से जल गिरता रहता है जिसे जलप्रपात कहते हैं; भारत मे नर्बदा नदी का प्रपात महत्त्वपूर्ण है। गिरते हुए जल द्वारा नीचे गहरे गर्त (Despression) बन जाते हैं जिन्हें प्लंज पूल(Plunge Pool) कहते हैं। इसप्रकार के वृद्दाकार गर्त को पॉट होल (Pot Hole) की संज्ञा दी गई है।

द्रुतवाह और प्रपात नदी द्वारा निर्मित अस्थायी स्थलाकृतियां हैं। यह नदी की युवावस्था के परिचायक हैं क्योंकि इस अवस्था में नदी अपने चरम-स्तर से बहुत ऊपर होती है। कालान्तर में नदी अपने चरम-स्तर को प्राप्त कर लेती है जोकि उसका लक्ष है तथा द्रुतवाह और प्रपात कटकर समाप्त हो जाते हैं। सीढ़ीनुमा आकार के असमान धरातल पर

क्रमवार प्रपातों को क्रम प्रपात (Cascade) कहते हैं। यदि प्रपात में जल की अत्यधिक मात्रा होती है तो उसे महाजल प्रपात (Cataract) कहते हैं।
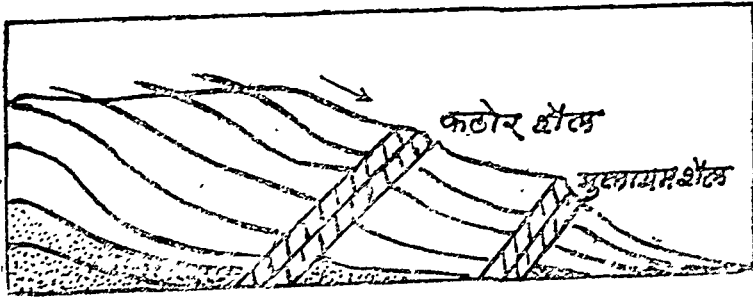
चित्र 14·24 द्रुतवाह

5. जलज गर्तिका (Pot holes)—नदी के तेज वहते हुए जल के साथ पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े भी तीव्र गति से नदी तल पर ठीक उसी भांति चक्कर लगाते हैं जैसे वढ़ई अपने वर्मा से लकड़ी में छेद करता है। जहाँ मुलायम शैल होते हैं वहाँ जल भँवर के साथ यह टुकड़े छेदक या घर्षक यंत्र (Grinding tools) का काम करते हैं तथा नदी के तल में छिद्र कर देते हैं। शनैः-शनैः यह छिद्र वड़ा हो जाता है जिसे **जलज गर्तिका** की संज्ञा दी गई है। जलज गर्तिका कठोर शैलों में भी वनती है तथा अधिक टिकाऊ होती है।

6. अपनमित कुण्ड (Plunge pools)—जलज गर्तिका के वृहद् रूप को ही अवनमित कुण्ड कहते हैं। जब कठोर शैल के वड़े-वड़े टुकड़े कोमल शैल की परत पर जलप्रवाह के साथ तेजी से गिरते हैं तो गहरा और वड़े आकार के गर्त का निर्माण कर लेते हैं नदी में भँवर के कारण इनका आकार और भी वड़ा हो जाता है। इस प्रकार जलज गर्तिका से अधिक व्यास व अधिक गहराई वाले विशाल खड्ड को अवनमित कुण्ड की संज्ञा दी गई है। जलप्रपात के गिरने के स्थान पर इनका निर्माण स्वाभाविक है।
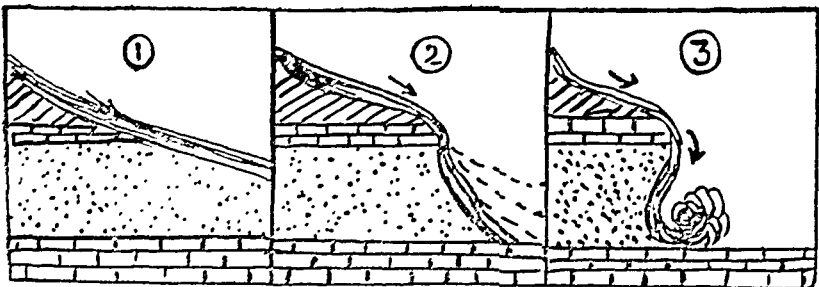
चित्र 14·25 जल प्रपात के निर्माण की अवस्थाएं

प्रपातों के प्रकार

चट्टानों की संरचना, उनकी स्थिति तथा आवरणक्षय की विभिन्नता के कारण अनेकों प्रकार के प्रपात निर्मित हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के प्रपातों का निर्माण अग्र-लिखित अवस्थाओं में होता है—

1. अनुगामी प्रपात (Consequent falls)—सरिता के प्रवाहित होने से पूर्व ही यदि उसके मार्ग में यदि कोई खड़ा उतार (Steep descont) या खड़ी चट्टान (Cliff) विद्यमान हो तो सरिता के प्रारम्भ होकर वहाँ पहुँचते ही प्रपात निर्मित हो जाता है। इस प्रकार

चित्र 14·26 जल प्रपात की शैलों का क्रम

के प्रपात धरातल की असमानतों के कारण बनते हैं, अतः इनको **अनुगामी प्रपात** के नाम से सम्बोधित किया जाता है। **नियाग्रा प्रपात** (Niagara fall) इसका उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

2. उत्तरगामी प्रपात (Subsequent falls)—शैलों की संरचना की असमानता के कारण सरिता अपरदन द्वारा अपने प्रवाह क्षेत्र के धरातल में असमानता उत्पन्न कर देती है। फलतः ऐसे विसंगत तल के स्थान पर प्रपात का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार के प्रपात को **उत्तरगामी प्रपात** कहते है। उत्तरी अमेरिका के एप्लेशियन पर्वत से पूर्व की ओर गिरने वाले प्रपात इसी प्रकार के हैं। यह **प्रपात रेखा** (Fall line) के नाम से विश्वविख्यात है।

3. शैल-शिखरी प्रपात (Cap Rock fall)—ऐसे क्षेत्र में जहाँ कठोर और कोमल चट्टानों की परतें एक दूसरे के समानान्तर **अनुप्रस्थ स्थिति** (Horizontal position)
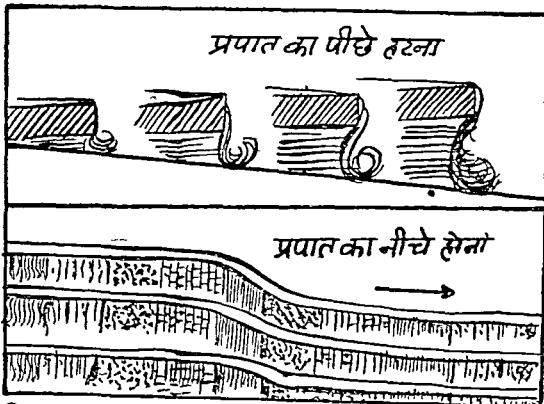
चित्र 14·27 प्रपातों का पीछे तथा नीचे होना

में बिछी होती हैं तो कठोर चट्टान के सिरे पर सरिता द्वारा प्रपात का निर्माण कर लिया जाता है। कोमल चट्टानें कटती जाती हैं तथा जहाँ जल गिरता है वहाँ एक गढ्ढा बन

जाता है। जल की बौछार के कारण कोमल चट्टानें नम होकर अपरदित होती जाती हैं। यह क्रिया मूलोच्छेदन क्रिया (Sapping action) कहलाती है। इस क्रिया से कोमल चट्टान कटकर पीछे होती जाती है जिस पर कुछ समय तक तो कठोर चट्टान लटकती सी रहती है। किन्तु अन्त में यह आधार रहित शिला टूट कर अवनमन कुण्ड (Plunge pool) में गिर जाती है और इस प्रकार प्रपात पीछे हटता जाता है जिसे प्रतिसारी प्रपात (Recessional Fall) कहते हैं। नियाग्रा प्रपात अपने मूल स्थान से अब तक लगभग 11 किमी. पीछे हट चुका है।

4. लम्बवत, रोध प्रपात (Vertical Barrier Fall)—ऐसे क्षेत्र में जहां कठोर और कोमल चट्टानें क्रमवार लम्बवत स्थिति में एक दूसरे के सहारे खड़ी पाई जाती हैं।
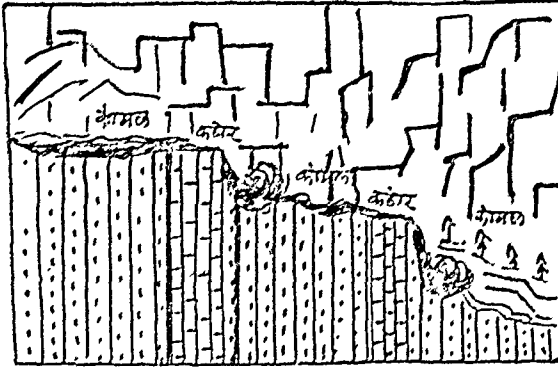
चित्र 14.28 लम्बवत खड़ी चट्टानों के क्षेत्र में प्रपात

नदी प्रपात का निर्माण कर लेती है, कोमल चट्टानी भाग कट-कटकर नीचा होता जाता है तथा प्रपात की ऊँचाई बढ़ती जाती है। शनैः-शनैः कठोर चट्टानी भाग भी कालान्तर में कट-कटकर नीचा होता जाता है और अन्त में प्रपात लुप्त हो जाता है। इस प्रकार से बने अनेकों प्रपात संयुक्त राज्य अमेरिका के यलोस्टोन पार्क (Yellowstone Park) में देखने को मिलते हैं।
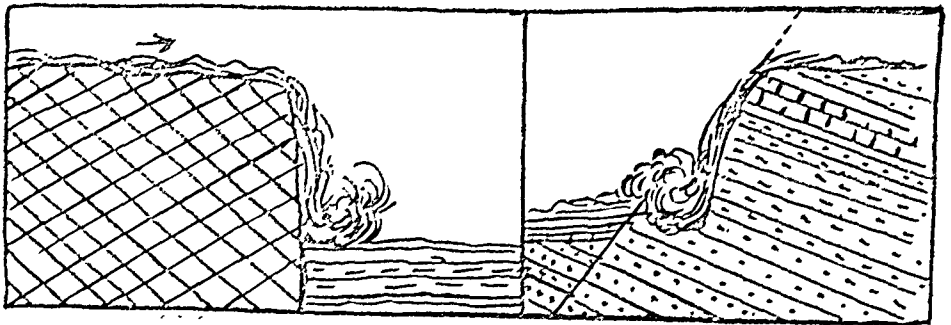
चित्र 14.29 पठार के किनारे निर्मित प्रपात   चित्र 14.30 स्तर भ्रंश चट्टानों में प्रपात

5. पठारी प्रपात (Plateau Falls)—जहां पठारी प्रपाती ढाल से नदियां मैदानी भागों में उतरती हैं वहां प्रपात की रचना हो जाती है जैसे अफ्रीका में कांगो नदी पठार से उतरते समय लिविंगस्टन प्रपात (Livingston Fall) का निर्माण करती है।

6. भ्रंश प्रपात (Fault Fall)—नदी के मार्ग में स्तर भ्रंश क्षेत्रों में ऊपरी कठोर एवं प्रतिरोधी चट्टानों के ऊपर से नदी अपेक्षाकृत कम कठोर चट्टानी भाग पर कगार भ्रंश (Fault Scrap) के सहारे ऊँचाई से नीचे गिरकर प्रपात का निर्माण करती है। जेम्बेजी नदी (River Zembesi) द्वारा निर्मित 'विक्टोरिया प्रपात' (Victoria Fall) तथा रांची की सुवर्ण रेखा नदी पर 'हुण्डरू प्रपात' स्तर भ्रंश के कारण ही निर्मित हुए हैं।

7. सहायक नदी द्वारा निर्मित प्रपात—यदि मुख्य नदी का ढाल उसकी सहायक नदी की अपेक्षा अधिक होता है तो मुख्य नदी अपनी सहायक नदी के सहयोग से अपने ढाल को और भी तीव्र कर लेती है, फलस्वरूप मुख्य नदी की घाटी, सहायक नदी की घाटी से नीची हो जाती है तथा ऐसे विसंगत या प्रतिकूल संगम (Discordant Junction) के स्थान पर प्रपात बन जाता है।

8. सरिता अपहरण के कारण प्रपात (Fall due to rivers capture)—ऐसे स्थान पर जहां एक नदी अपने शीर्ष-अपरदन के कारण ऊंचाई पर बहने वाली अन्य नदी का अपहरण कर लेती है तो अपहृत नदी अधिक ऊंचाई से अपहरणकर्ता नदी से मिलती है तथा प्रपात का निर्माण करती है। काट्स्किल पठार (Catskill Plateau) के पूर्वी ढाल पर काटरस्किल क्रीक नदी (Kaaterskill Creek River) ने पठार के ऊपर बहने वाली शोहरी क्रीक (Sehoharie Creek) नदी की सहायक नदियों का अपहरण कर 'हेन्स प्रपात' (Haines Fall)' तथा 'काटरस्किल प्रपात' का निर्माण किया है।

9 हिमानी की लटकती घाटी द्वारा प्रपात (Fall due to glacial hanging valley)—हिम-प्रभावित क्षेत्रों में अधिक हिमाच्छादन होने के कारण हिमानी की मुख्य घाटी सहायक हिमानियों की घाटी से अपेक्षाकृत अधिक गहरी हो जाती है जिसके फलस्वरूप विसंगत तल उत्पन्न हो जाता है। हिम के पिघलने के पश्चात् सहायक हिमानी की घाटी लटकती घाटी बन जाती है जिसके द्वारा आने वाली नदी का जल मुख्य घाटी में प्रपात के रूप में गिरता है। इस क्रिया द्वारा बने 'योसेमाइट घाटी' (Yosemite Valley) में अनेक लटकती घाटी तथा प्रपात देखने को मिलते हैं।

10. सागर तरंग द्वारा निर्मित प्रपात (Fall due to sea waves)—तटवर्ती भागों में जहां समुद्री तरंगों का वेग अधिक होता है वहाँ भृगुओ (Cliff) का निर्माण हो जाता है। यदि ऐसे स्थान पर कोई नदी सागर मे गिरती है तो वह प्रपात के रूप में ही गिरती है।

11. नदी मार्ग में अवरोध के कारण उत्पन्न प्रपात (Fall due to blocking of river course)—नदी मार्ग में (1) भू-स्खलन (Land slide), (2) लावा अपवाह (Lawa flow) तथा (3) हिमोढ़ के निक्षेप (Marainic deposit) के कारण नदी मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है जिनको पार करते समय नदियां प्रपातों की रचना करती है।

12. उत्थान के कारण प्रपात (Fall due to upliftment)—ऐसे स्थान पर जहाँ नदी के मार्ग में स्थानीय उत्थान हो जाता है तो अकस्मात विसंगत तल के उत्पन्न होने से

जल प्रपात का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार के प्रपात नदी द्वारा अपरदन के कारण शीघ्र ही लुप्त हो जाते हैं।
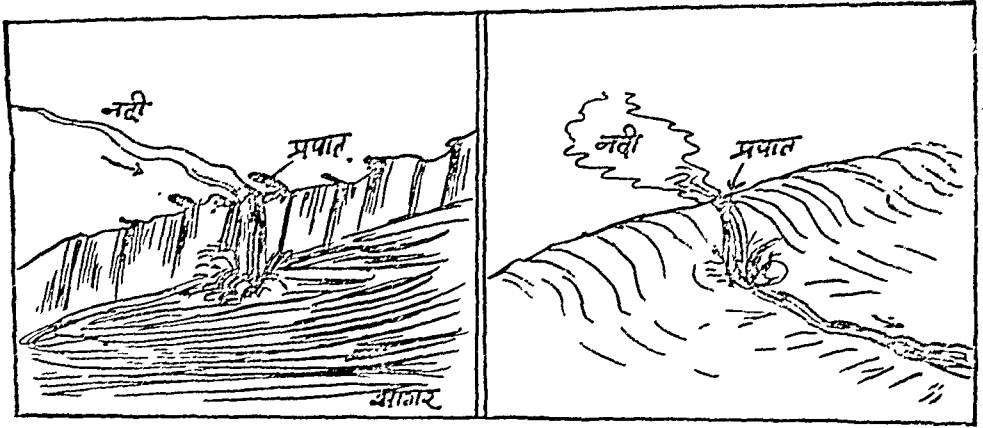
चित्र 14.31 भ्रंश एवं प्रपात चित्र 14.32 उत्थान एवं प्रपात

13. निकपोइण्ट प्रपात (Nickpoint Fall)—नदियों द्वारा क्रमबद्ध वक्र (Graded Curve) के निर्माण के पश्चात् यदि सागर तल पहले से नीचा हो जाता है तो नदियों के निचले भाग में नवोन्मेष आ जाता है, फलस्वरूप नदियों की अपरदन शक्ति बढ़ जाती है क्योंकि नदी सदा सागरतल के अनुसार ही क्रमबद्ध वक्र का निर्माण करती है। इस
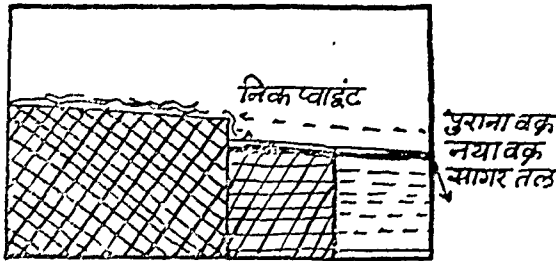
चित्र 14.33 निक प्वाइंट द्वारा निर्मित प्रपात

प्रकार जहां पुराना एवं नया वक्र मिलते हैं वहां ढाल में अन्तर आने से नदी प्रपात का निर्माण करती है। इस स्थान को 'निकपोइण्ट' कहते हैं। निकपोइण्ट सदा पीछे हटता हुआ समाप्त हो जाता है तथा प्रपात लुप्त हो जाता है।

प्रपातों का लुप्त होना (Disappearance of Falls)

सरिताओं की क्रमबद्ध अवस्था (Graded stage) प्राप्त होने से पूर्व ही प्रपात दृष्टिगोचर होते हैं। प्राकृतिक रूप से सरिता सदा अपने तल को समान करने की चेष्टा करती रहती है जब तक कि वह अपने आधार तल को प्राप्त न कर ले। परन्तु पृथ्वी की अस्थिरता के कारण सम्भवतः ऐसी स्थिति नहीं आती कि सरिता क्रमबद्ध अवस्था को प्राप्त कर सके अतः प्रपातों का निर्माण होता रहता है तथा समय के साथ लुप्त होते रहते हैं। प्रपात दो प्रकार से लुप्त होते हैं—(i) प्रपातों का क्षैतिज रूप से पीछे हटना तथा (*ii*) प्रपातों का लम्बवत रूप से अपरदित होकर नीचे होना।

संरचनात्मक सोपान (Structural benches)

नदी के प्रवाह क्षेत्र में यदि कठोर और कोमल शैलों की परत क्रमवार क्षैतिज अवस्था में बिछी हो तो नदी कठोर चट्टानों की परत की अपेक्षा कोमल परत का अपरदन शीघ्र करेगी। इस प्रकार असमान अपरदन के कारण नदी के दोनों ओर सोपानाकार सीढ़ियों का का निर्माण हो जाता है। यह सोपान (Benches) नदी वेदिकाओं (River terraces) से अलग होते हैं क्योंकि नदी वेदिकाओं के निर्माण में शैलों की कठोरता एवं कोमलता से अधिक सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए इस प्रकार की रचना को संरचनात्मक सोपान (Structural benches) कहते हैं।

नदी वेदिकाएँ (River terraces)

नदी वेदिकाएँ नदी घाटी के दोनों ओर सीढ़ीनुमा आकार की होती हैं। सबसे ऊपर की वेदिका नदी के प्रारम्भिक तल को प्रदर्शित करती है। दूसरे शब्दों में यह प्रारम्भिक बाढ़ की परिचायक है। काटन महोदय के अनुसार नदी वेदिकाएँ नदी के नवोन्मेष या पुनर्युवन का ही परिणाम है। किसी कारण नवोन्मेष आने मे नदी में निम्न कटाव की शक्ति बढ़ जाती है जिसके कारण घाटी का गहरा होना प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार पुरानी एवं चौड़ी घाटी में एक नवीन तथा सँकरी घाटी का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। बाढ़ के समय नदी पहली वेदिका से नीचे दूसरी वेदिका का निर्माण कर लेती है तथा क्षैतिज अपरदन
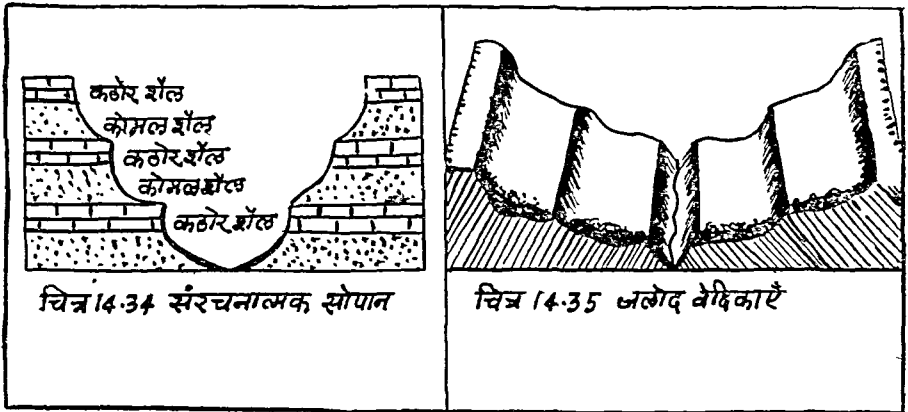
चित्र 14·34 संरचनात्मक सोपान

चित्र 14·35 जलोढ़ वेदिकाएँ

द्वारा वेदिका को चौड़ा कर लेती है। इस प्रकार अनेकों वेदिकाओं का निर्माण हो जाता है। गिलबर्ट महोदय के अनुसार वेदिकाएँ नदी के अपरदन के कारण बनती हैं परन्तु दूसरे विद्वानों के अनुसार इनका निर्माण निक्षेप के कारण होता है। सच तो यह है कि वेदिकाएँ निक्षेप और अपरदन दोनों के सम्मिलित कार्य का परिणाम है। जब वेदिकाओं पर जलोढ़, बजरी आदि का निक्षेप हो जाता है तो उन्हें जलोढ़ वेदिका की संज्ञा दी जाती है।

नदी निक्षेप द्वारा स्थलाकृतियों का विकास

पहाड़ी भाग से नीचे उतर कर मैदानी भाग ढाल मन्द होने के साथ-साथ नदी की तीव्रता कम हो जाती है। ढाल मन्द होने के कारण नदी द्वारा सामग्री ढोने की शक्ति कम हो जाती है, और यदि जल की मात्रा के अनुपात में समाग्री अधिक हो तो निक्षेप कार्य

प्रारम्भ हो जाता है जिसके कारण जलोढ़ पंख तथा शंकु, घुमावदार मार्ग अथवा विसर्पण, चाप झील, प्राकृतिक तटबन्ध, जलोढ़ मिट्टी के मैदान, बाढ़ का मैदान, डेल्टा आदि का निर्माण हो जाता है।

जलोढ़ पंख (Alluvial fans)

गिरपद पर पहुँचकर नदी अपनी गति मन्द कर देती है जिसके परिणामस्वरूप नदी द्वारा ढोये जाने वाली मोटी बजरी, बालू, कंकड़, पत्थर, शिलाखण्ड आदि के पंख आकार में ऊँचे ढेर के रूप में इकट्ठा कर देती है तथा नदी आगे बढ़ जाती है। इनकी आकृति पंख की भाँति होती है। इन जलोढ़ पंखों में बारीक कणों का निक्षेप पंख के किनारे तथा बड़े कणों का निक्षेप ढाल के पास होता है।

जलोढ़ शंकु (Alluvial cone)

जलोढ़ शंकु एवं जलोढ़ पंख में विशेष अन्तर नहीं होता। जलोढ़ शंकु का ढाल जलोढ़ पंख की अपेक्षा अधिक होता है। शंकु के निर्माण के लिये जल की कमी तथा अधिक सामग्री की आवश्यकता होती है जबकि पंखों के निर्माण में जल की मात्रा सामग्री के अनुपात में अधिक होती है तथा पर्वतीय ढाल भी अधिक तीव्र होता है।
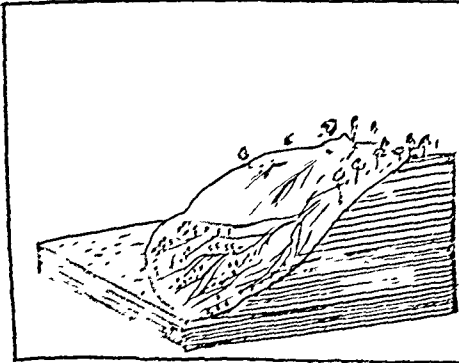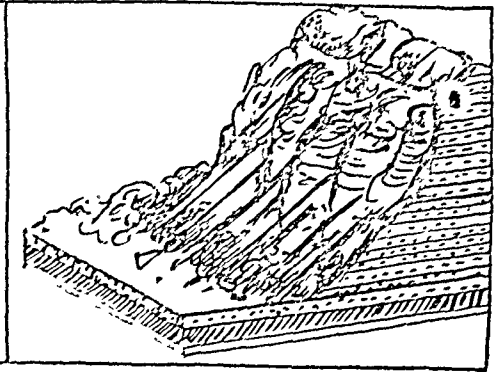
चित्र 14.36 जलोढ़ पंख   चित्र 14.37 जलोढ़ शंकु

नदी विसर्प (River meanders)

मन्द गति होने के कारण प्रौढ़ नदी मैदानी मार्ग में लम्बवत अपरदन की अपेक्षा क्षैतिज अपरदन अधिक करती है। उसकी शक्ति क्षीण हो जाने के कारण वह मार्ग में आये हुए अवरोधों को हटाने में असमर्थ हो जाती है, अतः मार्ग की रुकावट से हटकर नदी मोड़ लेकर साँप की भाँति लहर खाती हुई आगे बढ़ जाती है जिससे उसका मार्ग सर्पाकार हो जाता है। तुर्की की मियण्डर नदी में इस प्रकार के विसर्प पाये जाते हैं इसलिए इनको मियण्डर (Meanders) की संज्ञा दी गई है। विसर्प के प्रत्येक मोड़ में दो किनारे होते हैं— एक अवतल ढाल तथा दूसरा उत्तल ढाल का होता है। धारा की सीधी टक्कर होने के कारण अवतल ढाल के किनारे पर अपरदन के कारण अधोतल ढाल बन जाता है तथा क्लिफ या कूट का निर्माण हो जाता है। उत्तल ढाल वाले किनारे पर अपरदन न होकर निक्षेप होता है इसलिए यह मन्द ढाल वाला होता है। इस किनारे को स्कन्ध ढाल कहते हैं। विसर्प की ग्रीवा के दोनों तट अपवाह के सम्मुख होने के कारण कटते रहते हैं तथा विसर्प का आकार

बढ़कर अर्द्धवृत्ताकार और कभी-कभी वृत्ताकार हो जाता है। विसर्प ग्रीवा संकरी होती जाती है तथा कालान्तर में नदी को बहने के लिए सीधा मार्ग मिल जाता है। विसर्प द्वारा छोड़ा हुआ भाग **चाप झील** (Oxbow Lake) बन जाती है।

हालांकि नदी सीधा मार्ग प्राप्त कर लेती है किन्तु भूमि के ढलान में कमी के कारण विसर्पों का विकास होता रहता है। यदि नदी के मार्ग में भूमि का उत्थान हो जाय तो
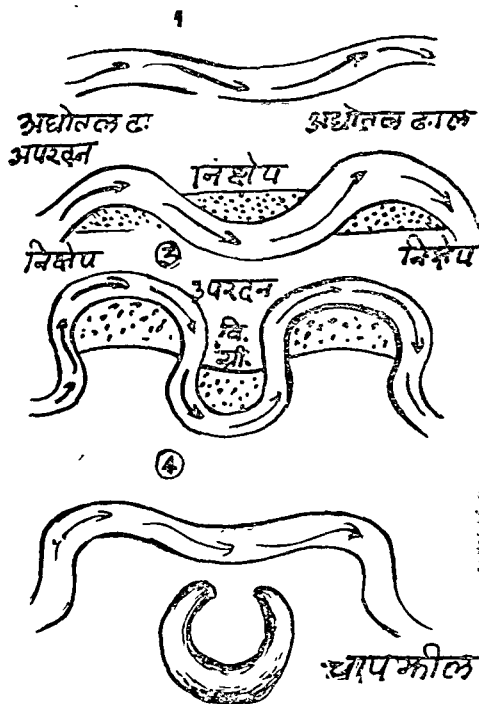
चित्र 14·38 विसर्प का विकास एवं चाप झील

ऐसी दशा में विसर्प अपनी घाटी को अधिक गहरा बना लेते हैं। इस प्रकार के गहरे कटे हुए विसर्पों को अधःकर्तित विसर्प कहते हैं जैसा कि चित्र 39 में प्रदर्शित किया गया है।

प्राकृतिक तटबन्ध (Natural lavees)

मुहाने के समीप पहुँचते-पहुँचते नदी का ढाल अत्यन्त साधारण हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप नदी के वेग में शिथिलता आ जाती है। इस अवस्था में नदी अपरदन के स्थान पर पर्याप्त मात्रा में निक्षेप प्रारम्भ कर देती है। शनैः-शनैः नदी के दोनों तटों पर निक्षेप के कारण लम्बे-लम्बे बन्धों का निर्माण हो जाता है जो कि निम्न ऊँचाई वाले कटक की भाँति होते हैं। इस प्रकार के तटबन्धों को **प्राकृतिक तटबन्ध** की संज्ञा दी गई है। तटबन्धों की सामान्य ऊँचाई 10 मीटर से नीचे ही होती है। साधारणतः तटबन्ध नदी के जल को नियन्त्रित रखते हैं किन्तु बाढ़ के समय यह टूट कर समीपवर्ती क्षेत्र में भयानक बाढ़ ला देते हैं। बाढ़ के पश्चात नदी अपना मार्ग बदल देती है क्योंकि घाटी का तल पहले ही समीपवर्ती क्षेत्र से ऊँचा होता है। चीन की ह्वांगहो नदी इसी प्रकार मार्ग बदलकर जन

और धन की अपार हानि पहुँचाती रहती है। इसी कारण इसको चीन का शोक कहा जाता है। भारत में हुगली, ब्रह्मपुत्र, दामोदर, कोसी आदि नदियाँ बाढ़ द्वारा विनाश के लिए भली प्रकार जानी जाती हैं।

चित्र 14.39 अधःकर्तित विसर्प
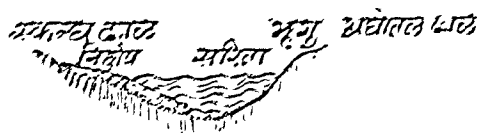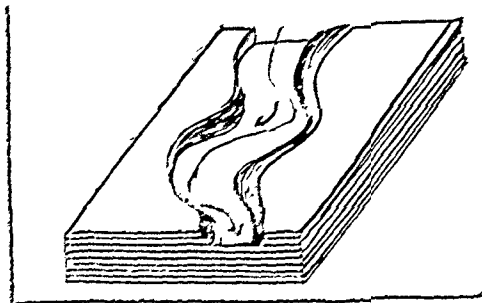
चित्र 14.40 विसर्प का काट

जलोढ़ मिट्टी के मैदान (Alluvial plains)

बाढ़ के समय जल की मात्रा अधिक होने के कारण जल किनारों को लाँघकर मैदानी भागों में फैल जाता है। पानी में घुली बारीक मिट्टी शनैः-शनैः मैदानी भागों में जमा हो जाती है तथा बाढ़ का पानी मिट्टी की बारीक तह छोड़कर उतर जाता है। नदियों द्वारा
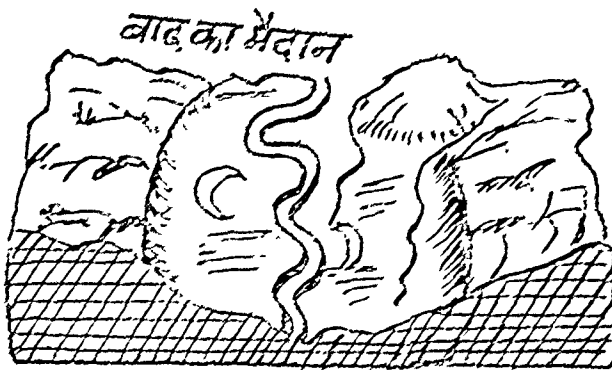
चित्र 14.41 बाढ़ का मैदान

लायी हुई मिट्टी से निर्मित मैदान जलोढ़ मिट्टी के मैदान कहलाते हैं। इस प्रकार के मैदानों का विकास निक्षेपण द्वारा होता है अतः इनको बाढ़ का मैदान भी कहते हैं। भारत में गंगा, ब्रह्मपुत्र, दामोदर, कोसी आदि नदियों ने जलोढ़ मिट्टी के मैदानों का विकास किया है।
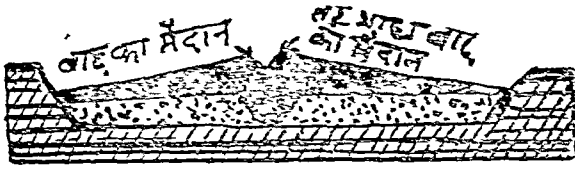
चित्र 14.42 बाढ़ का मैदान एवं तटबन्ध

समप्राय मैदान

नदी जब क्षैतिज अपरदन द्वारा अपने प्रवाह क्षेत्र की असमानताऐं दूर कर देती है तो समप्राय मैदान का निर्माण होता है। अपरदन कार्य निम्न स्तर पर पहुँच जाता है। समप्राय मैदान डेविस के अपरदन चक्र की अन्तिम अवस्था है। समप्राय मैदान के निर्माण में अपरदन एवं निक्षेप दोनों का ही हाथ होता है।

मौनेडनॉक तथा क्वेस्टा

समप्राय मैदान के निर्माण की अवस्था में कोमल शैल पूर्ण रूपसे घिस जाते हैं जबकि कठोर शैल अर्द्ध अपघर्षित अवस्था में उभरे हुए टीले के आकार में खड़े रह जाते हैं। इस प्रकार के टीलों को मौनेडनॉक कहा जाता है। यह समप्राय सपाट मैदान में द्वीप की भांति दृष्टिगोचर होते हैं। अपघर्षण के पश्चात शेष उभरे हुए शिलाखण्ड जिनका साधारण ढाल नदी के मुहाने की ओर तथा तीव्र ढाल उद्गम की ओर होता है, क्वेस्टा कहलाते हैं।

डेल्टा (Delta)

मुहाने के समीप पहुँचते-पहुँचते नदी की गति इतनी शिथिल हो जाती है कि वह अपरदन के स्थान पर निक्षेप करना प्रारम्भ कर देती है अतः नदी में मिला तलछट जमा होकर त्रिभुजाकार रूप ले लेता है जिसके बीच में होकर नदी की छोटी-छोटी धाराएं प्रवाहित होती हैं। इस प्रकार की त्रिभुजाकार भू-आकृति को डेल्टा कहते हैं। सर्वप्रथम यूनानियों ने नील नदी के मुहाने पर बने तिकोनी आकार की भू-आकृति को डेल्टा शब्द की संज्ञा दी थी।

डेल्टा के निर्माण के लिए निम्नलिखित परिस्थितियों का होना आवश्यक है—

(1) नदी का मार्ग लम्बा और आकार बड़ा होना चाहिए। ऐसी अवस्था में ही नदी दूर से अपने साथ अधिक पदार्थ या तलछट लाकर मुहाने पर निक्षेप करेगी।

(2) मुहाने के समीप नदी का वेग अत्यन्त मन्द होना चाहिये जिससे उसमें परिवहन की क्षमता न होकर निक्षेप क्रिया अधिक हो।

(3) मुहाने पर ज्वार-भाटा एवं सागरीय लहरों का शान्त रहना आवश्यक है अन्यथा तलछट को वेगवती लहरें अपने साथ वहा ले जायेंगीं और डेल्टा का निर्माण नहीं हो पायेगा।

(4) नदी का उद्गम पर्वतों में होना चाहिए जिससे नदी पर्याप्त मात्रा में तलछट वहा कर ला सके।

(5) नदी के मार्ग में कोई बड़ी झील नहीं होनी चाहिए, अन्यथा नदी की सामग्री झील ही में विसर्जित हो जायेगी और सागर में डेल्टा का निर्माण नहीं पायेगा।

(6) सागरीय तट तथा पेंटे का स्थायी होना भी आवश्यक है, अन्यथा सागरीतट या पेंटे के निमज्जन (Submergence) के साथ निक्षेपित पदार्थ नीचे चला जायेगा और नदी डेल्टा के निर्माण से वंचित रह जायेगी।

डेल्टा के प्रकार (Types of Delta)

संरचना तथा आकार की विभिन्नता के कारण डेल्टा कई प्रकार के होते हैं, जैसे (1) चापाकार डेल्टा, (2) पंजाकार डेल्टा, (3) ज्वारनद डेल्टा, (4) रुण्डित डेल्टा तथा (5) पालियुक्त डेल्टा। इसी प्रकार विस्तार के अनुसार डेल्टा दो प्रकार के होते हैं, जैसे प्रगतिशील डेल्टा तथा अवरोधित डेल्टा।

(1) चापाकार डेल्टा (Arcuate Delta)

चापाकार डेल्टा का विकास उस समय होता है जबकि नदी द्वारा बीच में निक्षेप अधिक मात्रा में तथा दोनों ओर कम मात्रा में होता है। इसलिए इसका आकार धनुषाकार या अर्द्धवृत्ताकार हो जाता है। नदी की शाखाएं एवं प्रशाखाएं स्वच्छन्दता से बहती हुई अनेकों बार अपने प्रवाह के मार्ग को बदलती रहती हैं क्योंकि निक्षेप कोमल तथा पारगम्य कंकड़, पत्थर एवं रेत से होता है जोकि अवरोध रहित होते हैं। गंगा, सिन्धु, इरावदी, नील आदि नदियों के डेल्टा इस प्रकार के अच्छे उदाहरण हैं।

(2) पक्षी-पंजाकार डेल्टा (Bird-foot Delta)

इस प्रकार के डेल्टा का निर्माण नदी जल में घुले बारीक कण एवं रंध्रहीन (non porous) पदार्थों के निक्षेप से करती है। कभी-कभी तलछट में चूना भी मिश्रित होता है। अतः इस प्रकार का ठोस पदार्थ नदी तल में जमकर उसके प्रवाह का मार्ग प्रशस्त करता है। नदी अपनी शाखाओं के साथ सागर में दूर तक बहती हुई निक्षेप करती
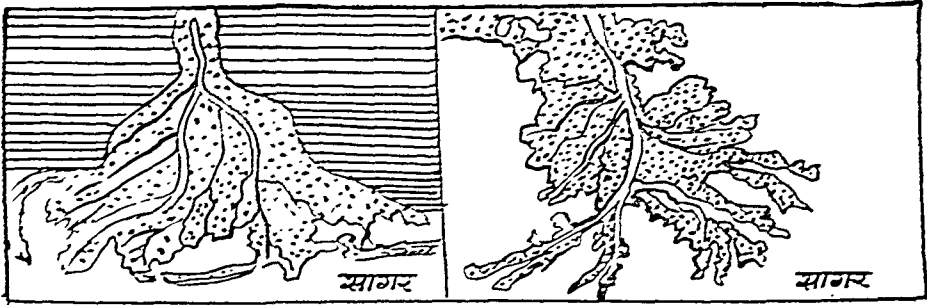
चित्र 14.43 नील नदी का चापाकार डेल्टा चित्र 14.44 अपंजाकार डेल्टा

रहती है जिसका आकार पक्षी के पैरों के पंजे जैसा हो जाता है, अतः इसको पक्षी-पंजाकार डेल्टा की संज्ञा दी गयी है। यह मनुष्य के हाथ की अंगुलियों जैसा भी प्रतीत होता है इसलिए इसे अंगुल्याकार डेल्टा भी कहते हैं। मिसीसिपी नदी का डेल्टा इसका सुन्दर उदाहरण है।

(3) ज्वारनद मुखी डेल्टा (Estuarine Delta)

नदी एस्चुअरी में गिरकर सागरीय तल में निरन्तर निक्षेप करती रहती है। दूसरी ओर समुद्री ज्वार द्वारा भी घाटी में निक्षेप होता है फलस्वरूप दोनों ओर से भराव के

कारण एक लम्बे एवं संकरे डेल्टा का निर्माण होता है। नदी अपनी शाखाओं सहित निक्षेपित तल के ऊपर से बहती है जिसके कारण दल-दल तथा शलाकाओं (Submerged Bars) का विकास भी हो जाता है। भारत में नर्मदा तथा ताप्ती संयुक्त राज्य अमेरिका
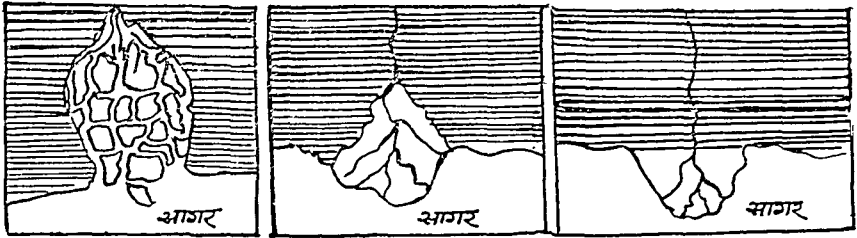
चित्र 14.45 ज्वारनद डेल्टा चित्र 14.46 पालियुक्ताकार डेल्टा चित्र 14.47 खण्डित डेल्टा

में हडसन, रूस में ओब आदि नदियों के डेल्टा इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार के डेल्टा सुरक्षित होते हैं।

(4) खण्डित डेल्टा (Truncated Delta)

कभी-कभी सागरीय लहरें नदी द्वारा निर्मित डेल्टा को काट-छाँटकर भग्नाकार या आकारहीन कर देती हैं। इस प्रकार के डेल्टा को **खण्डित डेल्टा** की संज्ञा दी गई है।

(5) क्षीणाकार डेल्टा (Lobate Delta)

जब नदी की अनेक शाखायें डेल्टाओं का पृथक-पृथक निर्माण करती हैं तो नदी की मुख्य शाखा द्वारा निर्मित डेल्टा का विस्तार रुक जाता है। इसलिए इसको **क्षीणाकार डेल्टा** कहते हैं तथा इसकी शाखाओं द्वारा निर्मित डेल्टाओं को **पालियुक्ताकार** डेल्टा कहते हैं, क्योंकि इनका आकार लोब (पालि) अर्थात् कान जैसा होता है।

उपर्युक्त डेल्टाओं के अतिरिक्त यदि डेल्टा का निर्माण निरन्तर होता रहता है तो उसे विकसित या **प्रगतिशील डेल्टा** (Growing Delta) कहते हैं। यदि डेल्टा का विस्तार रुक जाता है तो वह **अवरोधित डेल्टा** (Blocked Delta) कहलाता है और यदि नदी डेल्टा को छोड़कर कहीं दूसरे स्थान पर डेल्टा का निर्माण कर लेती है तो ऐसी अवस्था में त्यागे हुए डेल्टा को **परित्यक्त डेल्टा** (Abandoned Delta) की संज्ञा दी गई है। ह्वांगहो नदी ने अपने पूर्व निर्मित डेल्टा को त्याग कर दूसरे डेल्टा का निर्माण किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Bryan, Kirk (1940), The Retreat of Slopes, Assoc. Am. Geographers Annuls, Vol. 30, pp. 254–268.
2. Chorley, R. J. (1971), Introduction to Fluvial Processes (Methuen & Co., London), pp. 218.
3. Cotton, C. A. (1941), Landscape as Developed by the Processes of Normal Erosion (Cambridge University Press).
4. Emmons, Allison, Stauffer and Theil (1960), Geology, 'Gradation by Running Water' (McGraw Hill Book Co., Inc., New York), pp. 192-202.

5. Holmes, A. (1966), Principles of Physical Geology (English Language Book Society), Chapter XIX, pp. 556–618.
6. Houston Geological Society (1966), Deltas in their geologic frame work, Houston, Texsas, pp. 251.
7. Lobeck, A. K. (1939), Geomorphology (McGraw Hill Book Co., Inc.. New York), pp. 161–182.
8. Longwell, C. R. and Flint, R. F. (1962), Introduction to Physical Geology, 'Running Water' (John Wiley and Sons, New York), pp. 153-176.
9. MacKin, J. H. (1948), Concept of the graded river, Geol. Soc. Am. Bulliton, 59, 463-512.
10. Monkhouse, F. J. (1962), Principles of Physical Geography, Rivers and River Systems (University of London Press Ltd.), pp. 105-153.
11. Spark, B. W. (1961), Geomorphology, Chapter 2, 5 & 6 (Longmans Green and Co., London).
12. Strahler, A. N. (1974), Physical Geography, 4th ed., Chapter 25 'Land forms made by Running Water', (John Wiley and Sons, Inc., New York). pp. 413-436.
13. Thornbury, W. D. (1954), Principles of Geomorphology (John Wiley and Sons, New York), Chapter V, pp. 120-130.
14. Wooldridge, S. W. & Morgan, R.N. (1963), An Outline of Geomorphology, Chapter 13 and 14 (Longmans Green & Co., London).
15. Worcester, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology, Chapter VII (D. Von Nostrand Co. Inc., New York), pp. 140-214.
16. Von Engeln, O. D. (1956), Geomorphology (The Macmillan Co., New York), pp. 106-132.

15

पवन का कार्य
[The Work of Wind]

पवन का कार्य तथा मरुस्थलीय स्थलाकृतियां

सामान्य परिचय—अनाच्छादन के साधनों में पवन का कार्य मरुस्थली भागों में महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार आर्द्र प्रदेशों में प्रभावित जल और उच्च अक्षांशीय तथा पर्वती प्रदेशों में गतिमान हिम राशियों का कार्य प्रभावशाली होता है, ठीक उसी प्रकार शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क तथा वनस्पतिविहीन प्रदेशों में पवन का कार्य उल्लेखनीय है। शुष्क प्रदेशों में 25 सेमी. से कम तथा अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में 25 से 50 सेमी के मध्य वर्षा होती है। वर्षा के अतिरिक्त उच्च तापमान, वाष्पीकरण की तीव्रता एवं वनस्पति का अभाव भी मरुस्थलों के विकास में सहायक होते हैं। प्लीस्टोसीन हिम युग के पश्चात् संसार का तापमान ऊँचा होने के कारण मरुस्थलों का प्रसार हुआ है। सहारा अपनी सीमाओं को लांघ कर भूमध्य सागर के तटीय भाग तक पहुंच गया है जोकि कभी रोम राज्य का अन्न भण्डार कहलाता था।

धरातल के लगभग 1/3 भाग में मरुस्थल फैले हुए हैं और यदि ग्रीनलैण्ड तथा एन्टार्कटिक के हिमाच्छादित भागों को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो यह अनुपात 2/5 हो जाता है। वर्तमान में आस्ट्रेलिया के कुल क्षेत्रफल के 43% भाग में, अफ्रीका के 40% भाग में, एशिया के 23% भाग में तथा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में 10% से कम भागों में मरुस्थल फैले हुए हैं। इसके अतिरिक्त यूरोप में कैस्पियन सागर के समीप थोड़े से भाग में शुष्क मरुस्थल विस्तृत है।

मरुस्थलों का वर्गीकरण

मरुस्थलों के वर्गीकरण के लिए स्थिति, वायुमण्डलीय दशा जैसे–तापमान, उच्च वायुदाब व वर्षा की विभिन्नता, पवन का रुख तथा धरातल के ऊच्चावचों और संरचना का बहुत बड़ा योगदान है। वायुमण्डलीय दशा तथा स्थिति के आधार पर मरुस्थलों को तीन भागों में विभक्त किया गया है–(1) ध्रुवीय मरुस्थल, (2) मध्य अक्षांशीय मरुस्थल तथा (3) निम्न अक्षांशीय मरुस्थल।

(1) ध्रुवीय मरुस्थल (Polar deserts)

ध्रुवीय मरुस्थल पृथ्वी के उच्च अक्षांशीय प्रदेशों में पाए जाते हैं जहाँ तापमान सदा हिमांक से नीचा रहता है और उच्च वायुदाब बना रहता है। इन प्रदेशों में जल हिम के रूप में मिलता है तथा वर्षभर धरातल हिमाच्छादित रहता है। यहाँ तापमान हिमांक से नीचे होने के कारण वायु शुष्क रहती है तथा जो आर्द्रता पौधों के उगने के लिए चाहिए वह बर्फ के रूप में जमी रहती है। इस प्रकार के आर्द्रताविहीन वातावरण को **भौतिकवादी शुष्कता** (Physiological drought) की संज्ञा दी गई है। ध्रुवीय मरुस्थल ठण्डे मरुस्थल कहलाते हैं जोकि ग्रीनलैण्ड एवं एण्टार्कटिका दोनों के 1,30,00,000 वर्ग किलोमीटर अर्थात स्थल मण्डल के 8.5 प्रतिशत भाग में फैले हुए हैं। इन मरुस्थलों में पवन का कार्य महत्वहीन है क्योंकि स्थायी हिमावरण के कारण धरातल पवन की क्रिया से वंचित रहता है। यहाँ हिमानी का कार्य ही महत्वपूर्ण है।

(2) मध्य अक्षांशीय मरुस्थल (Mid-latitude deserts)

महाद्वीपों के मध्य अक्षांशीय प्रदेशों के आन्तरिक भागों में समुद्र का प्रभाव नगण्य हो जाता है। समुद्री आर्द्र पवनें हजारों किलोमीटर का रास्ता पार कर यहाँ पहुंचते-पहुंचते शुष्क हो जाती हैं। महाद्वीपों के भीतरी भागों में वार्षिक तापमान में भी विषमता पाई जाती है। यहाँ गर्मियों में ऊँचा तथा शीत ऋतु में नीचा तापमान रहता है जोकि मरुस्थल के विकास में सहायक होता है। मध्य एशिया के **तकला मकान** (Takla Makan) तथा **गोबी** (Gobi) मरुस्थल सागर से दूर होने के अतिरिक्त उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण की ओर से ऊँचे पर्वतों से घिरे हुए हैं जिसके कारण ये समुद्री आर्द्र पवनों के प्रभाव से वंचित रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे स्थानों पर जोकि समुद्र से अधिक दूर नहीं हैं, किन्तु उच्च पर्वतों के वृष्टिछाया प्रदेशों में स्थित हैं, मरुस्थल पाए जाते हैं; जैसे—उत्तरी अमेरिका में **नेवेदा, उटाह, कोलोरेडो और एरीजोना**, द. अमेरिका में दक्षिणी **अर्जेन्टाइना** का मरुस्थल तथा मरुस्थल सीयरा नेवेदा। धरातलीय बनावट के कारण इन मरुस्थलों का विकास हुआ है। अतः ये **धरातलीय मरुस्थल** (Topographic deserts) कहलाते हैं।

(3) निम्न अक्षांशीय मरुस्थल (Low-latitude deserts)

निम्न अक्षांशीय मरुस्थलों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(i) उष्ण व्यापारिक पवनों के प्रदेशों के मरुस्थल तथा (ii) तटीय मरुस्थल।

(i) **उष्ण व्यापारिक पवनों के प्रदेशों के मरुस्थल**—भूमध्य रेखा के दोनों ओर 15° से 30° अक्षांशों के मध्य उपोष्ण उच्चदाब कटिबन्ध स्थित है जहाँ वायु सदा ऊपर से नीचे की ओर उतरती रहती है। जैसे-जैसे वायु नीचे की ओर आती है इसका तापमान ऊँचा होता जाता है तथा इसमें आर्द्रता रखने की क्षमता बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप वायु की सापेक्षिक आर्द्रता घट जाती है जिसके कारण वायु गर्म तथा शुष्क हो जाती है जोकि वर्षाविहीन है। इसके अतिरिक्त इस प्रदेश में गर्म और शुष्क व्यापारिक पवनें सदा स्थल से समुद्र की ओर चला करती हैं जिसके कारण ये आर्द्रता से वंचित रह जाती हैं तथा मरुस्थल के विकास में सहायक होती हैं। इन प्रदेशों में वर्षा 25 सेमी. से कम होती है तथा ग्रीष्म में उच्च तापमान रहता है। इस प्रकार के मरुस्थल सहारा (अफ्रीका), अरेबियन (अरब), थार (भारत) तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया हैं।

(ii) **तटीय मरुस्थल** (Coastal deserts)—महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर 15° से 30° अक्षांशों के मध्य ग्रीष्म ऋतु का तापमान लगभग 18° सेग्रे. रहता है। यहाँ अपतट वायु, तटीय ठण्डी जलधाराओं तथा उच्च पर्वतों के कारण मरुस्थल पाए जाते हैं, जैसे अटाकामा (चिली-पीरू) तथा कालाहारी मरुस्थल (द. अफ्रीका)।

स्थिति एवं जलवायु के अतिरिक्त धरातल की संरचना के आधार पर मरुस्थलों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया गया है :

(1) अर्ग (Erg), (2) रेग (Reg), (3) हमादा (Hamada), (4) चट्टानी शीर्ष तथा (5) कैनियन की भांति घाटियों से विच्छेदित मरुस्थलीय पठार (Plateaus desert crossed by Canyon like valleys.)

(1) **अर्ग**—यह रेतीले तथा वास्तविक मरुस्थल कहलाते हैं। शुष्कता की अधिकता के कारण इनमें रेत का विशाल सागर लहराता है। सहारा में इस प्रकार के मरुस्थल को अर्ग तथा तुर्किस्तान में कोम (Koum) नामों से सम्बोधित करते हैं।

(2) रेग—रेग पठगीला मरुस्थल (Strong desert) होता है। इनमें चिकनी एवं कोणात्मक बजरी सारे क्षेत्र पर बिखरी रहती है। इसके अतिरिक्त कंकड़-पत्थर, शिलाचूर्ण व रेत प्रचुर मात्रा में फैले रहते हैं। इस प्रकार के मरुस्थल को अलजीरिया में रेग तथा लीबिया में और मिस्र में सेरिर (Serir) कहते हैं।

चित्र 15। संसार के ठंडे एवं गर्म मरुस्थल
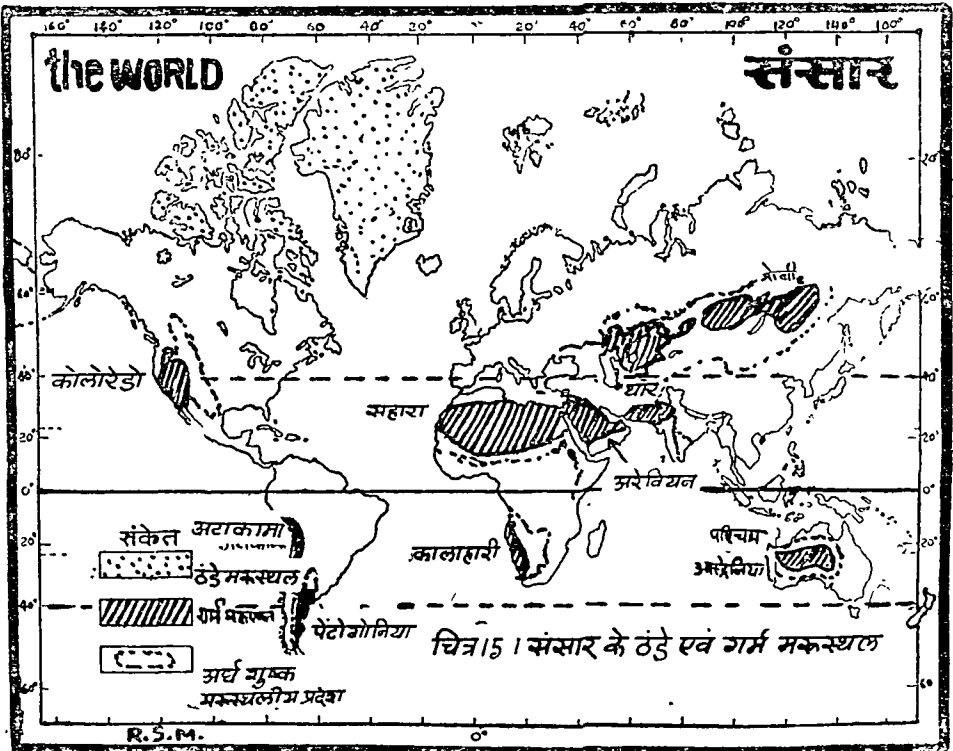
(3) हमादा—हमादा मरुस्थल पूर्ण रूप से चट्टानी होते हैं जिनमें रेत का अभाव होता है। नग्न चट्टानों पर शुष्कता और वायु के कार्य के कारण विभिन्न प्रकार की भू-

आकृतियों का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार के मरुस्थल की आधार शिलाओं पर असमान सतह का विकास हो जाता है। सहारा में इस प्रकार के मरुस्थल को हमादा कहते हैं। पश्चिमी आस्ट्रेलिया तथा गोबी (मंगोलिया) में भी इस प्रकार के मरुस्थल पाए जाते हैं।

(4) **चट्टानी शीर्ष मरुस्थल**—इस प्रकार के मरुस्थलों में प्रस्तरों की तेज धार की शीर्ष युक्त खड़े ढाल वाली श्रेणियां पाई जाती हैं। ये श्रेणियां मरुस्थल की एक विशिष्ट भू-आकृति है। मध्य सहारा में टिबेस्टी (Tibesti) तथा अहागार (Ahaggar), ईजिप्ट में साइनाइ (Sinai) की श्रेणियां, पश्चिमी अरब एवं बिलोचिस्तान की श्रेणियां वास्तविक चट्टानी शीर्ष मरुस्थलों के सुन्दर उदाहरण हैं।

(5) **कैनियन की भांति घाटियों से विरदित पठारी मरुस्थल**—विरदित पठारी मरुस्थलों के निर्माण में पवन के अतिरिक्त मूसलाधार वर्षा का महत्वपूर्ण योगदान है। यह मिथ्यापूर्ण धारणा है कि मरुस्थलों में वर्षा नहीं होती। वर्षा अनेकों वर्ष पश्चात् रुक-रुक कर होती है, किन्तु इतनी तीव्र और मूसलाधार कि कुछ ही समय में बाढ़ का दृश्य उपस्थित हो जाता है। परिणामस्वरूप शक्तिशाली धाराएँ असंगठित मिट्टी, बालू एवं बजरी को बहा ले जाती हैं। क्षेत्र के शुष्क होने पर पवन की अपरदनात्मक क्रिया में तीव्रता आ जाती है तथा शुष्क धाराओं की तली और भी गहरी हो जाती है। इस प्रक्रिया की सैकड़ों वर्षों तक पुनरावृत्ति के फलस्वरूप पठारी भागों में अवर्गित (Ungraded) एवं असमान प्रपाती ढाल की घाटियों का निर्माण हो जाता है जोकि कैनियन की भांति दृष्टिगोचर होती हैं। अरब में इस प्रकार की घाटियों को वादी (Wadi) कहते हैं। इनमें जलोढ़, नमक के निक्षेप तथा झीलों की सूखी तली पर शुष्क अवशेष बिखरे दिखाई देते हैं। इस प्रकार के पठारी मरुस्थल अरब तथा उत्तरी अमेरिका के कोलोरेडो क्षेत्र में मिलते हैं।
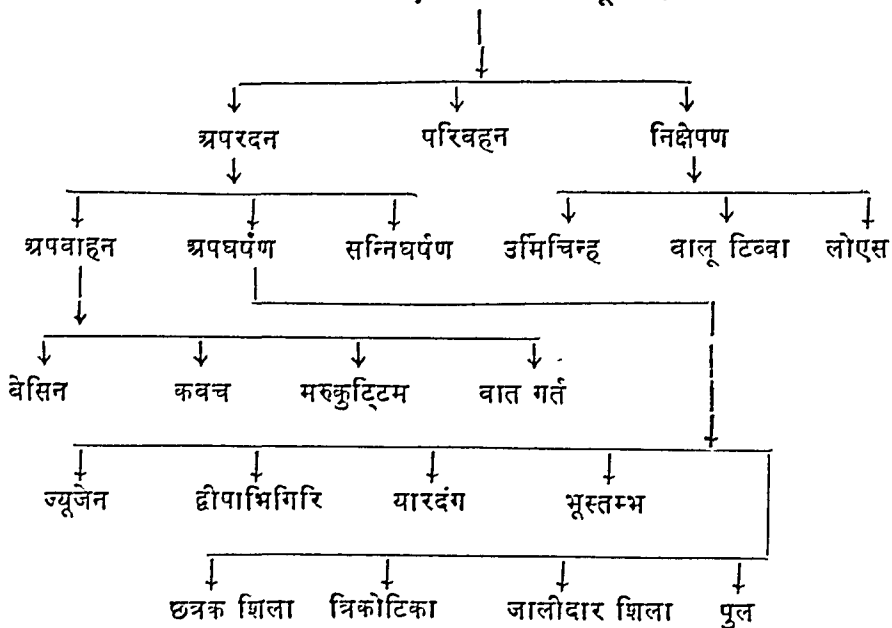
पवन का कार्य

अनाच्छादन के अन्य कारकों की भाँति पवन भी मुख्य रूप से तीन कार्य सम्पन्न करती है :

(1) शैलों का अपरदन

(2) अपरदित पदार्थ का परिवहन

(3) ढोए हुए पदार्थ का निक्षेपण।

पवन द्वारा भौतिक अपरदन–अब से कुछ समय पूर्व लेखकों में पवन के अपरदनात्मक कार्य को बढ़ा-चढ़ा कर बताने की प्रकृति थी किन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि पवन के अतिरिक्त मरुस्थलों में भू-आकृतियों के विकास में वर्षा का भी योगदान है।

मरुस्थलों में रासायनिक अपरदन की अपेक्षा भौतिक अपरदन अधिक प्रभावशाली होता है जिसके फलस्वरूप विभिन्न भू-आकारों का निर्माण होता है।

पवन द्वारा अनाच्छादन की क्रिया निम्न बातों पर निर्भर करती है :

(1) पवन का वेग, (2) बालू कणो की मात्रा एवं आकार, (3) चट्टानो की संरचना एवं बनावट तथा (4) जलवायु एवं मौसमीक्षरण।

(1) **पवन का वेग**—पवन की गति जितनी अधिक होगी उसमें बालू-कण उठाने की उतनी ही अधिक क्षमता होगी। पवन की न तो अकेली तीव्र गति और न अकेली बालू की मात्रा अपरदन का कार्य कर सकते है। अतः अपरदन के लिए दोनो का ही का योग आवश्यक है। वास्तव में अपरदन के लिए पवन का वेग तथा उसमें मिश्रित बालू-कण एक दूसरे के पूरक है।

(2) **बालूकणों की मात्रा एवं आकार**—पवन में मिश्रित बालूकणों की मात्रा तथा आकारो का अपरदन से गहरा सम्बन्ध है। पवन मे मिश्रित बालू कणो की मात्रा ऊँचाई के साथ घटती जाती है। अतः धरातल के निकट बालू से सुसज्जित पवन ऊँचे भागों की अपेक्षा अधिक अपरदन कर सकती है। पवन के वेग के अनुपात में बालूकणों की मात्रा का महत्त्व है। अर्थात् किसी निश्चित वेग पर पवन बालूकणों की निश्चित मात्रा को लेकर आगे बढ़ सकती है तथा उससे अधिक मात्रा के हो जाने या वेग कम हो जाने की स्थिति में पवन बालू कणों को गिरा निक्षेपित कर देगी। यह अनुमान लगया गया है कि प्रति एक घन किलोमीटर में 875 मीट्रिकटन रेत को लेकर तूफान के रूप में पवन हजारो किलोमीटर का सफर कर सकती है।

अपरदन क्रिया पर बालूकणों के आकार का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। बड़े आकार के कण धरातल के निकट अधिक मात्रा में अपरदन करते हैं जबकि छोटे कण ऊँचाई पर क्रियाशील रहते हैं। अतः ऊँचे भागों में नीचे के भागों की अपेक्षा कम अपरदन होता है। पुराने मन्दिरों या महलों के स्तम्भों को देखने से विदित होता है कि उनके निचले भाग में ऊपरी भाग की अपेक्षा अधिक अपरदन होता है। जहाँ छोटा सा शैल-खण्ड मैदान की सतह से ऊपर निकला होता है वहाँ पवन उसके आधार को शीघ्र अपरदित कर देती है। फलतः विशाल शैलखण्ड पतले स्तम्भ पर आधारित दिखाई देता है। इस प्रकार की आकृति को **पदस्थल शैल** (Pedestal rock) संज्ञा दी गई है।

(3) चट्टानों की संरचना एवं बनावट—चट्टानों की संरचना एवं बनावट का पवन द्वारा अपरदन क्रिया से गहरा सम्बन्ध है। कठोर चट्टानों की अपेक्षा कोमल तथा रन्ध्रयुक्त चट्टानों पर पवन की अपरदन क्रिया शीघ्र सम्पन्न होती है। इसी प्रकार ढीली तथा सन्धियुक्त चट्टानों पर भी अपरदन शीघ्र होता है। लीबिया के दक्षिणी के भाग में चूने की कोमल चट्टानों को पवन ने घिसकर चिकना और नालीदार बना दिया है। चूने की चट्टानों की तुलना में बालुका चट्टानों पर अपेक्षाकृत अपरदन का अधिक प्रभाव पड़ता है। लीबिया के उत्तरी भाग में पवन ने बालुका चट्टानों को अपरदित कर धरातल को ऊबड़-खाबड़ बना दिया है। राजस्थान की मध्य अरावली श्रेणियों में पवन मुख्य की ओर दक्षिण-पश्चिम से आने वाले बालूमय पवन ने नाग के फन के समान आकृति का निर्माण किया है। अजमेर नगर के निकट नाग पहाड़ इसका सुन्दर उदाहरण है।

(4) जलवायु तथा मौसमीक्षरण—ठण्डे एवं आर्द्र प्रदेशों की तुलना में शुष्क तथा गर्म जलवायु के प्रदेशों में पवन का कार्य अधिक प्रभावशाली होता है। वनस्पतिविहीन नग्न चट्टानों पर दैनिक एवं वार्षिक तापान्तर का तीव्र प्रभाव होता है। दिन में सूर्य ताप के कारण चट्टानें फैल जाती हैं तथा रात्रि में ताप के विकिरण के कारण सिकुड़ जाती हैं। इस प्रकार की निरन्तर क्रिया के फलस्वरूप वृहत् शिलाखण्ड टूट कर बिखर जाते हैं। यह प्रक्रिया टूटे हुए छोटे शिलाखण्डों पर भी होती है और अन्त में बालू के कणों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार तापमान की दैनिक और वार्षिक विषमताएँ वायु को विराट विखण्डन कार्य सम्पन्न करने में सहयोग प्रदान करती हैं। इसके अतिरिक्त शीतकाल में रात्रि के समय सन्धि युक्त चट्टानों में तापमान हिमांक तक गिर जाने से जल बर्फ में परिवर्तित हो जाता है। जल की अपेक्षा बर्फ का आयतन अधिक होता है जिसके फलस्वरूप सन्धियाँ अधिक चौड़ी हो जाती हैं। इस क्रिया की सैकड़ों वर्ष तक पुनरावृत्ति के कारण अन्त में चट्टानें विखण्डित हो जाती हैं। इस प्रकार एक ओर जलवायु की विषमता और मौसमीक्षरण का कार्य सम्पन्न होता है तो दूसरी ओर विदीर्ण चट्टानी कणों को पवन उड़ा कर अपना कार्य सम्पन्न करती रहती है।

उपर्युक्त तत्त्व अपरदन में सहयोग प्रदान करते हैं किन्तु पवन द्वारा भौतिक अपरदन तीन प्रकार से सम्पन्न होता है—(1) अपवाहन, (2) अपघर्षण तथा (3) सनिघर्षण।

(1) अपवाहन—डिफ्लेशन 'लैटिन शब्द' डिफ्लेयर से बना है जिसका अर्थ उड़ा ले जाने से है। तीव्र गति से चलती हुई पवन का उत्थापक बल इतना शक्तिशाली होता है कि वह धूल-कणों को सैकड़ों मीटर उठाकर हजारों किलोमीटर तक ले जाती है। यह परीक्षण किया गया है कि एक मीटर प्रति सैकण्ड ऊपर उठने वाली पवन 0.1 एम. एम. व्यास के धूल कणों को सरलतापूर्वक ऊपर उठा ले जाती है। इसी प्रकार 3 मीटर प्रति सैकण्ड ऊपर उठने वाली और 48 किमी. प्रति घंटा की गति से चलने वाली पवन 1 एम. एम. व्यास के धूल कणों को सरलता से अपवाहित कर देती है। जे. ए. उदेन के के अनुसार पश्चिमी अमेरिका में प्रतिवर्ष पवन 850 मिलियन (85 करोड़) टन धूल 2304 किमी. दूर तक अपवाहित कर देता है। सर फ्लिंडरस पैट्री के अनुसार 2,600 वर्षों के अन्तराल में पवन ने नील नदी के डेल्टा की $2\frac{1}{2}$ मीटर (8 फीट) गहरी सतह अपवाहित कर दी है। यह अनुमान लगाया गया है कि 500 किमी. व्यास की आँधी 90 मिलियन मीट्रिक टन रेत

को लेजाकर 30 मीटर ऊँचा और 3 किमी. के आधार की पहाड़ी का निर्माण कर सकती है।

पवन सहारा के लाल धूल के कण अपवाहित कर इटली, द. फ्रान्स और कभी-कभी दक्षिणी इंगलैण्ड तक ले जाती है जहाँ वर्षा के समय यह कण जल की बूदों में मिश्रित होकर लाल जल के रूप में बरसते हैं। यूरोप के निवासी इस प्रकार की वर्षा को **'रक्त वर्षा'** के नाम से पुकारते हैं।

अपवाहन द्वारा निम्नलिखत भू-आकारों का निर्माण होता है—

(i) **अपवाहन बेसिन**—बड़े मरुस्थलों में वनस्पतिविहीन असंगठित मिट्टी तथा भुरभुरी (Friable) शैल के क्षेत्रों में पवन की सैकड़ों वर्षों तक निरन्तर अपवाहन क्रिया द्वारा मरुस्थलों के सीमित एवं स्थानीय क्षेत्रों में उथला एवं लम्बा गर्त बन जाता है जिसे **अपवाहन बेसिन** की संज्ञा दी गई है। इसका आकार थाल की भांति होता है। अतः इसको थाला भी कहते हैं। इस प्रकार के बेसिन मरुस्थलों के उन स्थानों पर निर्मित होते हैं जहाँ भूमिगत जल विद्यमान होता है। जब गर्त भूमिगत जल-तल की गहराई तक पहुँच जाता है तो पवन की अपवाहन क्रिया समाप्त हो जाती है क्योंकि नम मिट्टी या धूल को पवन उड़ा नहीं सकती। इस प्रकार के बेसिन पूर्वी केलीफोर्निया, एरीजोना तथा न्यू मैक्सिको के पर्वतों से घिरे मरुस्थली क्षेत्रों में मिलते हैं। पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका का **धूलभरा कटोरा'** (Dust bowl) इसी प्रकार का गर्त है। कालाहारी के 'पेंस' (pans) तथा ईजिप्ट और लीबिया के मरुद्यानों (Oases) का निर्माण अपक्षरण (Ablation) के कारण ही हुआ है। कैरो (Cairo) के पश्चिमी भाग में जराबुब (Jarabub) तक इस प्रकार के गर्तों की एक शृंखलासी है जिनके तल समुद्र तल से भी नीचे हैं। इनमें से **कतारा गर्त** (Qattara depression) 127 6 मीटर (420 फीट) गरहा है।

(ii) **वात गर्त**—मरुस्थलों में बालुका स्तूप (Sand dunes) के ऊपर पवन की अपवाहन क्रिया से निर्मित छोटे आकार के गर्त को **वात गर्त** (Blow out) कहते हैं। बालुका स्तूपों के जिन स्थानों पर पशुओं के खुरों से घास की जडें तक कुचल कर नष्ट हो जाती हैं पवन अपवाहन द्वारा छोटी गर्तों का निर्माण कर देती हैं। ऐसे खुले चट्टानी क्षेत्रों में भी जहां शैल मौसमीक्षरण के कारण विदीर्ण और असगठित हो रहे हैं, वात गर्त पाये जाते हैं।

(iii) **अपवाहन कवच**—अपवाहन क्रिया के समय तीव्र गति से चलती पवन रेत और बालू के हल्के कणों को तो उड़ाकर दूर ले जाती है। किन्तु भारी बजरी, कंकड़-पत्थर आदि उसी स्थान पर लुढ़कते हुए स्थिर हो जाते हैं। कालान्तर में इनकी मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि ये मिलकर पर्वत के रूप में धरातल पर बिछ जाते हैं। इस पर्त के कारण पवन धरातल पर अपवाहन क्रिया सम्पन्न नहीं कर पाती तथा नीचे की भूमि सुरक्षित रहती है। इसी बजरी, कंकड़-पत्थर आदि की पर्त को **अपव.हन कवच** (Deflatin Armour) की संज्ञा दी गई है।

(iv) **मरुस्थली फर्श**—अपवाहन कवच के निर्माण के पश्चात् भी कंकड़-पत्थरों के बीच में से शेष धूल, बालू, मिट्टी आदि निकलती रहती है। कालान्तर में जब बीच के ये शेष पदार्थ निकल जाते हैं तो कंकड़ तथा पत्थर एक दूसरे के समीप आकर आपस में सट

जाते हैं। इस प्रकार धरातल पर इनका फर्श-सा बिछ जाता है। इसको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति ने इन कंकड़, पत्थर और बजरी को कूट-कूट कर फर्श का निर्माण किया हो। अत: इस प्रकार के फर्श को मरुस्थली फर्श या मरुकुट्टिम (Desert pavement) के नाम से पुकारते हैं।

(2) **अपघर्षण** (Abrasion)—बालूकणों से लदी तथा तीव्र गति से बहती पवन अपने मार्ग में आने वाली चट्टानों को ठीक उसी प्रकार रगड़ती है जैसे लकड़ी को रेगमाल। बालूकण ही पवन के उपकरण होते हैं जोकि चट्टानों पर प्रहार कर उन्हें घिसकर चिकना कर देते हैं। ब्लैकवेल्डर (Blackwelder, 1928) के अनुसार पवन चट्टानों पर (अ) पोलिश कर, खड्डा बनाकर, (ब) नाली बनाकर, व (स) उनको रूप प्रदान कर और स्फटीकरण (Faceting) के द्वारा अपघर्षण की अभिव्यक्ति करती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के बालूकण चट्टानों पर विभिन्न प्रकार का अपघर्षण कर उन्हें नाना प्रकार के रूप प्रदान करते हैं। मिस्र में स्फिक्स (Sphinx) के मुँह तथा छाती को पवन ने अपघर्षण क्रिया द्वारा घिस दिया है। मरुस्थलीय प्रदेशों में टेलीफोन के खम्भे बालू तथा रेत की भार से शीघ्र घिस जाते हैं।

(3) **संनिघर्षण** (Attrition)—वायु द्वारा उठाए और उड़ाए गये धूल-कण आपस में टकराकर खण्डित होते हैं। इस प्रकार की निरन्तर क्रिया के फलस्वरूप बालू-कण और भी छोटे, गोल और चिकने हो जाते हैं। वायु का जितना तीव्र वेग होगा बालू-कण भी उतनी ही तीव्रता से आपस में टकराकर खण्डित और छोटे होते जायेंगे तथा साथ ही साथ चट्टानों से भी टकरा कर खण्डित होते रहते हैं।

उपरोक्त तीन क्रियाओं द्वारा पवन मरुस्थलीय तथा अर्धमरुस्थलीय भागों में विभिन्न प्रकार की स्थलाकृतियों का विकास करती रहती है।

अपरदन द्वारा स्थलाकृतियां

छत्रक शिला—तीव्र गति से चलने वाली पवन के साथ धूल के बारीक कण ऊपर उठ जाते हैं जबकि मोटे कण धरातल के समीप ही उड़ते हैं। मरुस्थल में ऊँची उठी हुई चट्टानों अथवा शिलाओं के निचले भाग में बालू के मोटे कणों द्वारा अपरदन शीघ्र सम्पन्न
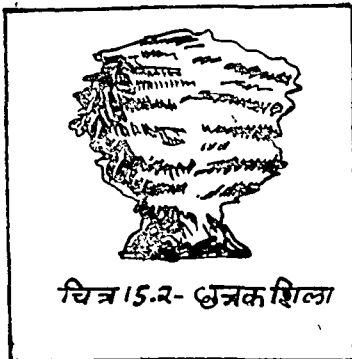
चित्र 15.2- छत्रक शिला
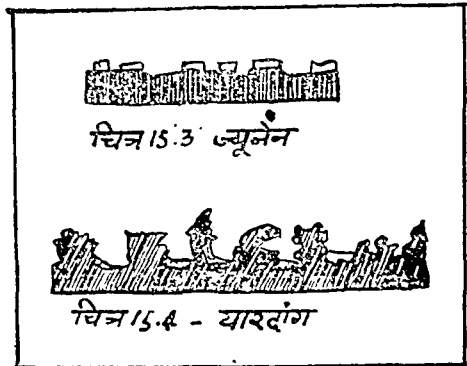
चित्र 15.3 ज्यूजेन

चित्र 15.4 - यारदांग

होता है, जबकि शिला के ऊपरी भाग में बारीक धूलकण उतने प्रभावशाली सिद्ध नहीं होते। फलत: शिला का ऊपरी भाग कम अपरदित होता है जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर में

एक छतरी या कुकुरमुता (Mushroom) के आकार का भू-आकार विकसित हो जाता है जिसे छत्रक शिला (Mushroom rock) की संज्ञा दी गई है। सहारा मरुस्थल में इस प्रकार की भू-आकृति को गारा (Gara) कहते हैं।

ज्यूजेन (Zeugen)

मरुस्थलों में जहाँ कठोर और कोमल चट्टानें क्षैतिज रूप से एक दूसरे के ऊपर समानान्तर परतों में पाई जाती हैं वहाँ ज्यूजेन नाम की स्थलाकृति का निर्माण होता है। चट्टानों के विदर जोकि दैनिक ताणान्तर के कारण कुछ चौड़े हो जाते हैं, पवन द्वारा अपरदन क्रिया से और भी गहरे एवं चौड़े कर दिए जाते हैं। कोमल चट्टानी भाग को पवन तीव्रता से काट देती है जबकि कठोर भाग अपेक्षाकृत कम कट पाते हैं। कठोर चट्टानों के बीच घाटियाँ सी बन जाती हैं। इस प्रकार कठोर चट्टानों का अवशिष्ट भाग कोमल चट्टानों के ऊपर टोपी या ढक्कनदार दबात की भाँति प्रतीत होता है।

यह स्थलाकृति असमान और अनियमित अपरदन के फलस्वरूप निर्मित होती है, जिसके कारण ज्यूजेन भू-आकृति का निर्माण होता है। ज्यूजेन 30 से 45 मीटर तक ऊँची होती है। यह भू-आकृति भी पवन के अपघर्षण का प्रतिफल है जोकि खुरचाव (Etching), नाली निर्माण (Grooving) तथा अवखनन (Down Cutting) की क्रियाओं द्वारा ग्रेनाइट की चट्टानों में बहुधा बन जाती है। जोधपुर (राजस्थान) के पास ग्रेनाइट की एक ज्यूजेन भू-आकृति स्थित है।

यारदांग (Yardangs)

मरुस्थलों में जहाँ कहीं कठोर और कोमल चट्टानों की पट्टियां प्रचलित वायु के अनुरूप लम्बवत (Longitudinal) या आड़ी (Transverse) खड़ी होती हैं वहाँ ग्रेनाइट की कठोर चट्टानों की अपेक्षा बालुका शैलों का अपरदन अधिक तीव्र गति से होता है। शनैः-शनैः पवन अपनी घर्षण क्रिया से कठोर शैलों के मध्य निर्मित नालियों के ऊपरी भाग को तेज धार और नुकीली आकृति का बना देती है। इस प्रकार की रचना को 'यारदांग' (Yardangs) कहते हैं। इनके खड़े ढालों की ऊँचाई 9 से 36 मीटर और कटकों की चौड़ाई 6 से 37 मीटर तक होती है। सेवेन हेडिन (Saven Hadin) ने तुर्किस्तान के मरुस्थल में पवन के घिसाव द्वारा इस प्रकार की भू-आकृति को सर्वप्रथम यारदांग नाम दिया था।

यारदांग की भू-आकृति में खड्डा बन जाता है, जोकि वर्षा के पानी से भर जाता है तथा वह छोटी-छोटी झीलों का रूप ले लेता है। अफ्रीका में लीबिया के मरुस्थल में इस प्रकार के अनेक गर्त देखने को मिलते हैं।

द्वीपाभगिरि

मरुस्थलों में कहीं-कहीं कोमल शैलों के मध्य कठोर ग्रेनाइट की चट्टानें पाई जाती हैं। पवन इस ग्रेनाइट की कठोर चट्टान के आस-पास की कोमल शैलों को अपरदित कर देती है। परिणामस्वरूप कठोर चट्टानों के अवशेष पिरेमिड या गुम्बदाकार टीलों के रूप में दिखाई देने लगते हैं। पवन इन टीलों के ढालों को अपघर्षण एवं अपवाहन की मन्द क्रियाओं द्वारा तीव्र एवं चिकना बना देती है। जर्मन भूगर्भवेत्ताओं ने कालाहारी मरुस्थल में पाए

जाने वाले ऐसे पहाड़ी टीलों को 'इन्सेलबर्ग' के नाम से सम्बोधित किया है। जर्मन भाषा में इन्सेलबर्ग का अर्थ विस्तृत सागर में द्वीप से है, और यह सच भी है कि गुम्बदाकार टीले मरुस्थलीय रेत के सागर में द्वीप की भाँति ही प्रतीत होते हैं, इसलिए इनको द्वीपाभगिरि भी कहते हैं। भारत में रायचूर (कर्नाटक) के पास कूर घाट में इस प्रकार के टीले मिलते हैं। इसके अतिरिक्त यह नाईजीरिया तथा युगाण्डा में भी मिलते हैं।

भूस्तम्भ अथवा शैल स्तम्भ

ऐसे मरुस्थलीय भू-भागों में जहाँ असंगठित रचना वाली शैलों की लम्बवत परत के ऊपर कठोर शैल की परत बिछी रहती है भूस्तम्भों का निर्माण हो जाता है। पवन तथा जल के संयुक्त प्रभाव से नीचे की असंगठित शैलों का अपरदन हो जाता है तथा जहाँ ऊपर कठोर शैल बिछी रहती है उसके नीचे का भाग जल से सुरक्षित रह जाता है। इस प्रकार एक ऊँचे स्तम्भ का निर्माण हो जाता है, जिसके ऊपर कठोर, शिला-खण्ड विद्यमान रहता है। भूस्तम्भों को शैल स्तम्भ भी कहते हैं।

चित्र3. द्वीपाभगिरि टीले
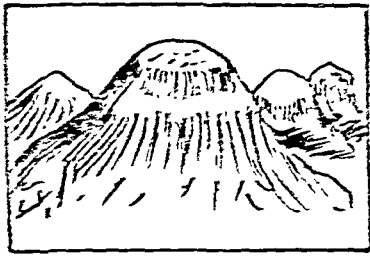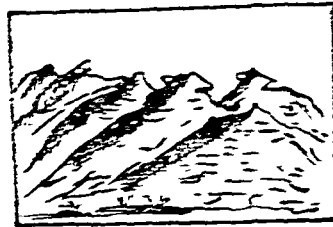
चित्र 15-6 अपरदन के पश्चात गुम्बदाकार टीलों की आकृति

त्रिकोटिका या त्रिकोणात्मक शिला

मरुस्थलीय प्रदेशों में पहाड़ या पठारी भागों के निकट बहुत सी छोटी-छोटी शिलायें बिखरी पड़ी रहती हैं। बालू से लदी हुई वायु इन शिलाओं पर दिशा बदल-बदल कर तीन ओर से प्रहार करती रहती है जिसके कारण इन शिलाखण्डों में गहरी खरोंचें पड़ जाती

चित्र-15.1 – भूस्तम्भ
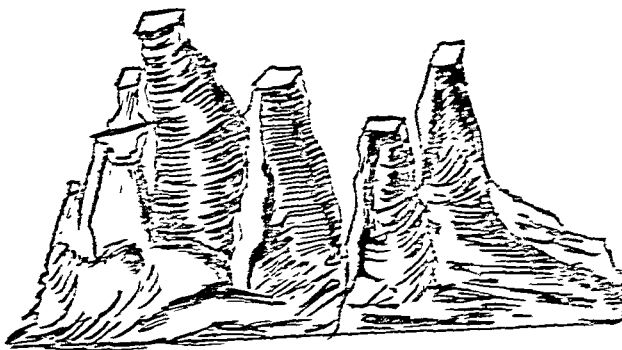
हैं। अपघर्षण की निरंतर क्रिया के फलस्वरूप शिलाखण्डों का आकार त्रिकोणात्मक हो जाता है जिनके शीर्ष प्रखर एवं नुकीले हो जाते हैं। तीन पार्श्व होने के कारण इनको त्रिकोटिका या त्रिकोणात्मक शिला अथवा त्रिपहल कहते हैं।

जालीदार शिला

मरुस्थलों में ऐसी अनेक शिलाएँ मिलती हैं जिनकी संरचना कठोर एवं कोमल पदार्थों के कणों से होती है। बालू युक्त पवन इस प्रकार की शिलाओं में से कोमल कणों को शीघ्र अपरदित कर शिला में आर-पार छेद कर देती है, फलस्वरूप कठोर शिला का शेष भाग जाली के आकार का रह जाता है। इस प्रकार की आकृति को 'जालीदार शिला' कहते हैं। उत्तरी अमेरिका के रॉकी पर्वतीय प्रदेश में बालुका प्रस्तर की अनेकों जालीदार शिलाएँ देखने को मिलती हैं।

चित्र 15.9 जालीदार शिला

पुल

मरुस्थलों में रंध्रयुक्त शैलों में धूल कण युक्त पवन के निरंतर प्रहार से आर-पार एक खिड़की सी निर्मित हो जाती है। कालान्तर में यह खिडकी पवन की अपरदन क्रिया द्वारा शनैः-शनैः बड़े आकार का कटान हो जाता है। अन्त में कोमल शैल पूर्णतः अपरदित हो जाती है और उसके स्थान पर एक मेहराव का निर्माण हो जाता है। इस मेहराव के ऊपर कठोर शैल की परत पुल के आकार की दिखाई देती है।

पालिश—बालू युक्त पवन अपघर्षण क्रिया द्वारा चट्टानों पर रेगमाल का काम करती है जिसके कारण वह चमक उठती है। ग्रेनाइट या क्वार्टजाइट की चट्टानों पर यह चमक विशेष रूप से अधिक होती है। इस प्रकार की चमक को पालिश कहते हैं।

खाँचे—पवन में उपस्थित बालूकण चट्टानों पर निरंतर प्रहार करते रहते हैं। पवन की परिवर्तित दिशा के कारण उस पर लम्बी लकीरनुमा खाँचे बन जाते हैं। ये खांचे आपस में समानान्तर होते हैं।

पवन द्वारा परिवहन

द्रुतगति से प्रवाहित पवन में अपूर्ण शक्ति होती है। पवन में लटके धूल के हल्के कण निलम्बित अवस्था में ही स्थानान्तरित होते हैं। पवन द्वारा उठाया गया पदार्थ सैकड़ों किलोमीटर दूर तक स्थानान्तरित कर दिया जाता है। अमरीकी विद्वान आर. ए. बगनोल्ड के अनुसार पवन तीन प्रकार से बालू को परिवाहित करती है—

(1) पवन में लटक कर अथवा निलम्बित अवस्था में,

(2) पवन द्वारा आगे-पीछे ढकेला जाना अथवा उत्परिवर्तन तथा

(3) पृष्ठीय विसर्पण।

तीव्रगामी पवन न केवल हल्के धूल कणों को बल्कि छोटी-छोटी रोड़ियों तथा बजरी तक को उड़ा ले जाती है। हल्के धूल कण निलम्बित अवस्था में तथा भारी कण धरातल पर लुढ़कते हुए आगे को बढ़ते हैं। वायु के वेग एवं परिवाहित किए हुए पदार्थ में अनुपातिक सम्बन्ध है। कुछ विद्वानों के अनुसार 1255 घन मी. (3 घन फुट) पवन में 1 औंस धूल कण विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार 1 घन किलोमीटर में 2,500 टन से भी अधिक धूल कण रहते हैं। सहारा मरुस्थल से पवन द्वारा उड़ाई गई धूल दक्षिणी यूरोप तक और

गोबी के मरुस्थल की धूल उत्तरी चीन में जाकर लोएस के रूप में निक्षेपित होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के व्योमिंग प्रदेश में 14 किमी. लम्बा, 5 किमी. चौड़ा और 9 किमी. गहरा एक गर्त है जिसमें से लगभग 10 अरब मीट्रिक टन बालू तथा धूल-कणों के परिवहन का अनुमान है। वायु के अपवाहन द्वारा नील नदी की घाटी में सागर तल से 134 मीटर (400 फीट) गहरा कतारा गर्त निर्मित कर दिया गया है। न्यू मेक्सिको तथा टैक्सास में अन्तरपर्वतीय मैदान, जिन्हें वहाँ बाल्सन के नाम से सम्बोधित करते हैं पवन द्वारा अपवाहन के कारण निर्मित हुए हैं। टी. एच. हालैण्ड तथा क्रिस्टि के अनुमान के अनुसार प्रतिवर्ष लगभग 1,32,080 मी. टन नमक के कण पवन द्वारा ग्रीष्म ऋतु में कच्छ की खाड़ी से राजस्थान की ओर परिवाहित कर दिये जाते हैं। विस्तृत क्षेत्र पर फैले ये कण यदा-कदा वर्षा द्वारा लवण-पटलों में एकत्रित कर दिए जाते हैं। सूक्ष्म में कह सकते हैं कि पवन की परिवाहन शक्ति अपार है।

पवन द्वारा निक्षेपात्मक तथा रचनात्मक कार्य

धूलकणों के सज्जित पवन की गति जैसे ही मन्द पड़ती है वैसे ही वह उपयुक्त समय व स्थान पर अपने भार को छोड़ना प्रारम्भ कर देती है। पवन धूल के भारी कणों को समीप और हल्के कणों को दूर तक ले जाकर निक्षेपित कर देती है। निक्षेप दो प्रकार का होता है—(1) अस्थायी तथा (2) स्थायी। अस्थायी निक्षेप पवन के तीव्र थपेड़ों द्वारा आगे को बढ़ जाता है। स्थायी निक्षेप को वायूढ़ निक्षेप कहते हैं। पवन द्वारा रचनात्मक कार्य का सुन्दर उदाहरण उ. चीन का लोयस जमाव है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकार की भू-आकृतियों का निर्माण होता है। समुद्र तटों अथवा झीलों के समीप बालूकणों के निरन्तर निक्षेपण तथा आर्द्रता के कारण बालू की परत पर परत जम जाती है जोकि कालान्तर में कठोर होकर बालुका प्रस्तर का रूप ले लेती है। वायु का निक्षेपात्मक कार्य सर्वव्यापी है। वायु द्वारा धूल कण पृथ्वी के किसी भी स्थान पर ले जाये जा सकते हैं।

पवन के रचनात्मक कार्य

पवन द्वारा बालू या धूल के निक्षेप से रचनात्मक कार्य सम्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की भू-आकृतियो का निर्माण तथा विकास होता है। भू-आकारों की रचना तथा विकास के लिए कुछ आवश्यक दशाएँ अनिवार्य हैं जोकि निम्न प्रकार हैं—

(1) बालू की पर्याप्त मात्रा

निक्षेप द्वारा निर्मित भू-आकारों के लिए बालू या रेत का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना एक अनिवार्य तथ्य है। पथरीले मरुस्थलों की अपेक्षा रेतीले मरुस्थलों में जैसे सहारा, कालाहारी, यूटाह, अरब और थार में पवन द्वारा निक्षेपण के फलस्वरूप रचनात्मक भू-आकारों का निर्माण अधिक मात्रा में होता है।

(2) पवन की गति एवं दिशा

मरुस्थलों में वेगवती पवन में धूल कण उठाने की महान शक्ति होती है। प्रचण्ड वेग से चलने वाली आँधियां अपने साथ लाखों टन धूल उड़ाकर एक स्थान से सैकड़ों किलोमीटर दूर दूसरे स्थान पर निक्षेपित कर देती हैं। मन्द और तीव्र गति से चलने वाली

पवन द्वारा विभिन्न प्रकार के भू-आकारों का निर्माण होता है। पवन की दिशा का भी भू-आकारों से गहरा सम्बन्ध है। निरन्तर एक ही दिशा में चलने वाली पवन द्वारा निर्मित भू-आकार चारों ओर दिशाहीन बहने वाली पवन की अपेक्षा भिन्न होगा। इसी प्रकार यदि पवन की दिशा सागर की ओर है तो अधिकांश बालू या धूल सागर में गिरकर लुप्त हो जायेगी और इस प्रकार भू-आकार का निर्माण सम्भव नहीं हो पायगा।

(3) पवन के मार्ग में अवरोध

भू-आकारों के निर्माण के लिए धूल से लदी पवन के मार्ग में अवरोध होना नितान्त आवश्यक है। बालू का संचय अवरोध-स्वरूप ही होता है। ऊँची चट्टानें, वृक्ष, झाड़ियाँ, सूखे पेड़ के अवशेष, टीला, मकान आदि अवरोध का कार्य करते हैं। कभी-कभी छोटे-छोटे कंकड़ व पत्थर तथा मरे हुए जानवर भी पवन के मार्ग में अवरोध बन जाते हैं।

अरब के मरुस्थल में कारवान के मुसाफिर तथा ऊँट आंधी आने पर रेत के जमाव से बचने के लिए उल्टे लेट जाते हैं जिससे कि वे आंधी के मार्ग में अवरोधक न बन सकें।

(4) बालू संचय के लिए उपयुक्त स्थल

पवन की गति मन्द होते ही बालू का संचय प्रारम्भ हो जाता है। अतः बालुका स्तूप के निर्माण के लिए विस्तृत तथा अवरोधयुक्त क्षेत्र होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जल संतृप्त की सीमा अधिक गहरी होनी चाहिए अन्यथा स्तूप का निर्माण सम्भव नहीं होगा।
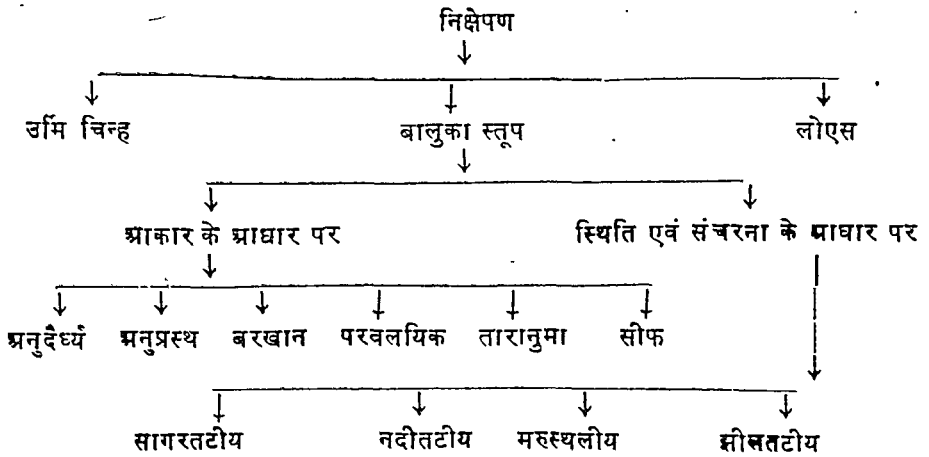
पवन की गति मन्द होते ही अथवा मार्ग में कोई अवरोध आते ही वह परवाहित पदार्थ निक्षेपित करना प्रारम्भ कर देती है जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की स्थलाकृतियों का निर्माण होता है।

उर्मिचिन्ह—अत्यन्त मन्द गति से बहती हुई पवन द्वारा मरुस्थलीय, सागर तटीय एवं नदी के तटीय भागों में फैली हुई बालू पर समुद्र की तरंगों की भांति ऊर्मिचिन्ह बन जाते हैं। ये लहरदार समानान्तर उठी हुई बालू की लाइन जैसी होती हैं जिनकी ऊंचाई

दो या तीन सेन्टीमीटर होती है। विस्तृत मरुस्थलों में सैकड़ों किलोमीटर क्षेत्र में फैली हुई ऊर्मिचिन्हों की स्थलाकृति अत्यन्त मनोहारी होती है। दूर से देखने पर ये समुद्री तरंगों जैसी प्रतीत होती हैं।
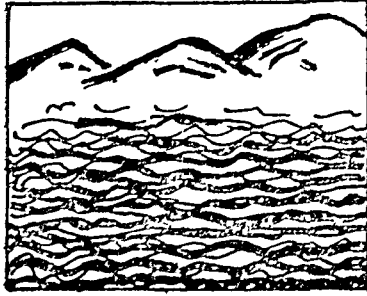
चित्र 15.10 ऊर्मि चिन्ह

वालुका स्तूप—वायु द्वारा निक्षेपित रेत के टीले या कटक को जिसका शीर्ष या निश्चित चोटी हो, बालुका स्तूप कहते हैं। मरुस्थलों में इनकी आकृति एवं स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। इनका आकार वायु की गति, रेत की मात्रा, मार्ग की बाधा एवं स्थान के स्वभाव पर आधारित रहता है। ये विभिन्न आकार और प्रकार के होते हैं, किन्तु साधारणतः प्रत्येक प्रकार के बालुका स्तूपों का पवनाभमुख भाग लम्बा एवं मन्द ढाल का होता है। किसी वालुका स्तूप की कटक छोटी तो किसी की लम्बी, किसी की सीधी तो किसी की वक्राकार होती है। कहीं पर ये पूर्ण स्तूपाकार तो कहीं पर अर्द्ध-चन्द्राकार आकृति के होते हैं। जिन भागों में वायु की दिशा निश्चित नहीं होती वहां इनका आकार भी निश्चित नहीं होता। बैगनोल्ड (R. A. Bagnold, 1933) के अनुसार "स्तूप रेत के गतिशील ढेर होते हैं जिनका अस्तित्व धरातल के आकार तथा वायु के स्थायी अवरोधों से स्वतन्त्र होता है। हांलाकि बैगनोल्ड स्तूपों को गतिशील मानते हैं किन्तु कुछ स्थायी स्तूप भी होते हैं जिन पर वनस्पति का आवरण छा जाता है तथा इनकी निचली परत कठोर हो जाती हैं।

वालुका स्तूपों की विशालता बालू की मात्रा तथा वायु की गति पर आधारित है। जिन मरुस्थलों में वालू प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है तथा वायु की गति तीव्र है वहां इनकी साधारण ऊंचाई 30 मीटर के लगभग होती है।

सहारा मरुस्थल में 180 मीटर तक ऊंचे वालुका स्तूप मिलते हैं। कुछ स्तूप 3 किलोमीटर तक लम्बे होते हैं। बालुका स्तूप दो प्रकार के होते हैं—(1) स्थायी तथा (2) अस्थायी। स्थायी वालुका स्तूपों पर वनस्पति उग आती है तथा इन पर कृषि भी सम्भव होती है, किन्तु अस्थायी स्तूप वायु की गति तथा दिशा के अनुसार अपना स्थान परिवर्तन करते रहते हैं। इसलिए इनको **चंचल स्तूप** कहते हैं।

आकार के आधार पर बालुका स्तूपों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है—

(क) अनुदैर्घ्य या समानान्तर बालुका स्तूप

वायु द्वारा निक्षेपित वालू जब वायु की दिशा के समानान्तर लम्बी श्रेणियों के रूप

में एकत्रित हो जाती है तो इस प्रकार की आकृति वाले टीले को अनुदैर्घ्य बालुका स्तूप (Longitudinal dune) कहते हैं। मरुस्थलों में यह दांत जैसी आकृति की पहाड़ियों के रूप में कई किलोमीटर लम्बी कतार में फैले रहते हैं। इनकी कटक 10 से 15 मी. ऊंची होती है तथा ये 40 से 80 किमी. लम्बाई में फैले रहते हैं। इनके परस्पर की दूरी 0.4 से 2.4 किमी. होती है। ऐसे शुष्क भागों में जहाँ घास बाधक हो या बारीक कणों की बालू या रेत कम होती है और वायु की गति तीव्र होती है, इस प्रकार के स्तूपों का निर्माण हो जाता है। अनुदैर्घ्य बालुका स्तूप पश्चिमी आस्ट्रेलिया के बहुत बड़े भाग में तथा भारत के थार मरुस्थलों में पाए जाते है। यह प्रायः स्थायी होते हैं। इनके ढालों पर वनस्पति का आवरण छा जाने पर यह पूर्ण स्थायित्व प्राप्त कर लेते हैं। थार (भारत) मरुस्थल के दक्षिण भाग में अनुदैर्घ्य बालुका स्तूप पाए जाते हैं।
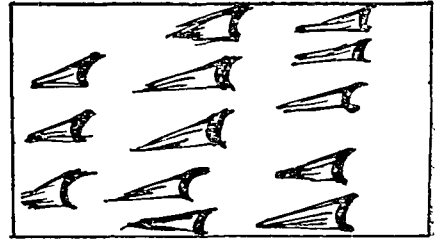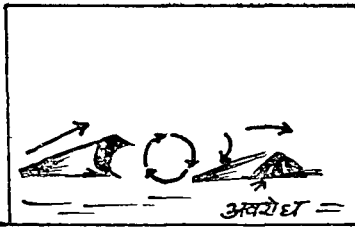
चित्र-15.11 चित्र अनुदैर्ध्य बालुका स्तूप का निर्माण

चित्र 15.11 (ख) अनुदैर्ध्य बालुका स्तूपों का समूह
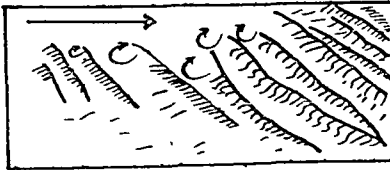
चित्र 15.12 अनुप्रस्थ बालुका स्तूप

चित्र-15.13 बरखान

(ख) अनुप्रस्थ बालुका स्तूप

अनुप्रस्थ अथवा आड़े बालुका स्तूपों की रचना गहरे बालू के क्षेत्रों में मन्द पवन द्वारा होती है। पवन द्वारा निरन्तर एक ही दिशा में चलने के कारण इनका निर्माण होता है। यह पवन की दिशा के लम्बवत होते हैं। इनका वायु-अभिमुख ढाल मन्द एवं उन्नतोदर होता है जबकि विपरीत दिशा में तीव्र और नतोदर होता है। यह उर्मिचिन्हों के ही वृहद् रूप होते हैं। छोटे आकार तथा अस्थायी अनुप्रस्थ बालुका स्तूप बड़े ही चंचल होते हैं जोकि वायु की दिशा में ही भागे-फिरते हैं। भारत के थार मरुस्थल के उत्तरी भाग में अनुप्रस्थ बालुका स्तूप मिलते हैं।

बरखान

आर्ध चन्द्राकार स्तूपों को बरखान की संज्ञा दी गई है। बरखान (Burkhan) शब्द तुर्किस्तान के मरुस्थल से लिया गया है। बरखान अनुदैर्घ्य एवं अनुप्रस्थ दोनों ही प्रकार के स्तूपों की विशेषता लिये हुए होते हैं। यह पवन की दिशा के लम्बवत पाये जाते हैं, किन्तु शिखर वायु की दिशा के समानान्तर रहता है। जब बाधा बहुत स्थायी होती है तो वायु

की विपरीत दिशा में इनके दोनों किनारों पर बालू के सींग से निकल आते हैं क्योंकि किनारे बाधारहित होते हैं और वायु इनको आगे बढ़ा देती है। बरखान 80 मीटर तक ऊँचे और कई किलोमीटर लम्बे होते हैं।

पवन की दिशा में बरखान का ढाल मन्द (5° से 12°) तथा उन्नतोदर होता है जब कि विपरीत दिशा में तीव्र (35°) और नतोदर होता है। पवन अभिमुख दिशा को खिसकने वाली दिशा कहते हैं। पवन अभिमुख दिशा में पवन की भँवर स्तूप में खोह बना लेती है। पवन के प्रहारों से यदि ये स्तूप मुक्त रहें तो स्थायी रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार की भू-आकृति को स्थिर बालुका स्तूप कहते हैं।

बरखान प्रायः झुण्ड में मिलते हैं किन्तु यदा-कदा एकाकी पहाड़ी के रूप में भी मिलते हैं। कहीं-कहीं क्रमानुसार एक ही कतार में कहीं-कहीं बिना क्रम के भी अनियमित रूप से फैले रहते हैं। बिना क्रम के फैले बरखानों के मध्य रास्ता पाना अत्यन्त कठिन होता है। सहारा में बरखानों की समानान्तर कतारों के मध्य इस प्रकार के मार्ग को गासी कहते हैं। बरखान तुर्किस्तान, ईरान और सहारा के सीमित क्षेत्रों में अधिकांश रूप से मिलते हैं।

परवलयिक बालुका स्तूप

परवलयिक बालुका स्तूप तटीय भागों के उन स्थानों पर जहाँ वनस्पति का अभाव हो तथा वात गर्त स्थित हो, विकसित होते हैं। ये वातगर्तों के किनारे पवन की विपरीत दिशा में तीव्रगामी पवन द्वारा निर्मित होते हैं। ये परवलय (Parabola) के आकार के होते हैं। इनका वक्र बरखान की विपरीत दिशा अर्थात् पवनानुमुख की ओर होता है तथा पवन विमुख ढाल उन्नतोदर होता है। ये तीव्रगामी होते हैं तथा गति करते समय इनके श्रृंग आपस में समानान्तर रहते हैं। श्रृंग मोड़ आने पर इतने समीप आ जाते हैं कि इनका आकार स्त्रियों की हेयर पिन (Hair Pin) की भाँति दिखाई देता है। ये तट से आन्तरस्थलीय भागों की ओर पलायन करते हैं, जैसे फ्रान्स तथा पश्चिमी डेनमार्क। इसी प्रकार के बालुका स्तूप मंगोलिया के तारिम बेसिन में भी पाए जाते हैं।

तारानुमा बालुका स्तूप

तारानुमा बालुका स्तूप पिरेमिड (Pyramid) के आकार के होते हैं जिनके आधार पर केन्द्र से चारों ओर कटकें विकीर्ण होती हैं। आधार पर ये तारे की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। इनका निर्माण पवन की परिवर्तित दिशा के कारण होता है। इनकी ऊँचाई लगभग 90 मीटर होती है तथा ये स्थायी होते हैं। स्थायी होने के कारण मरुस्थल में ये यात्रियों का मार्ग दर्शन करते हैं।

सीफ

अनुदैर्घ्य आकार के कई किलोमीटर लम्बाई में विस्तृत बालुका स्तूप सीफ कहलाते हैं। ये छोटे चन्द्रकार स्तूपों की सम्मिलित रेखाओं पर प्रचलित पवन की दिशा में निर्मित होते हैं। छोटे स्तूपों के मध्य पवन कीपाकार दिशा में प्रवाहित होती हुई इनकी पुच्छों को तो उड़ा ले जाती है तथा कटकों को पीछे छोड़ देती है, और इस प्रकार सीफ स्तूपों का निर्माण होता है। इनकी कटकों का ढाल तीव्र होता है तथा ये चाक की धार की भाँति तेज होते हैं। इनका पार्श्विक ढाल अरबी तलवार की भाँति दिखाई देता है। इनकी कटकों

पर गर्तों और चोटियों का क्रम सा होता है। दूर से देखने पर ये शिखर वृहत आरे की भाँति दिखाई देते हैं। ईरान में इनकी ऊँचाई लगभग 200 मी. तथा ईजिप्ट में 100 मी. होती
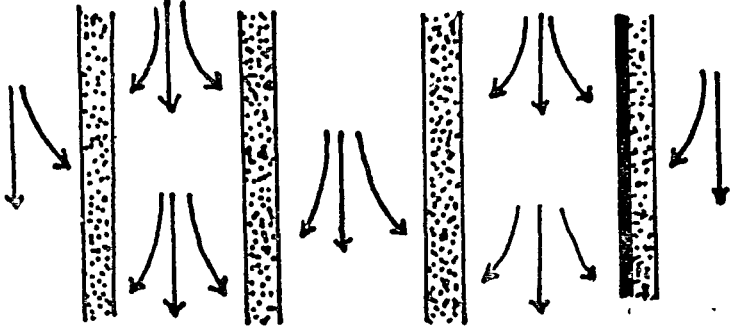
चित्र 15.14 सीफ बालूका स्तूप की उत्पत्ति

है। कतारा वार्त के दक्षिण पूर्व में सीफों का एक क्रम सा बना हुआ है। इसके अतिरिक्त सीफ अरब के मरुस्थल में भी पाए जाते हैं।
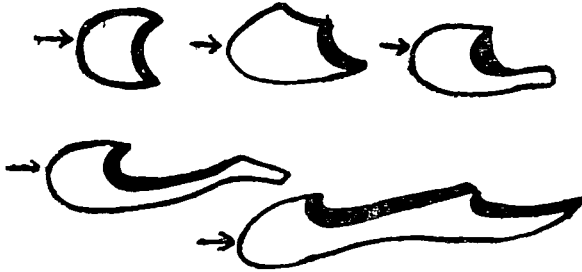
चित्र-15.15 सीफ का विकास

स्थिति के अनुसार बालुका स्तूपों का वर्गीकरण

यह आवश्यक नहीं कि बालुका स्तूप केवल मरुस्थलों में ही पाए जाते हैं। मरुस्थलों के अतिरिक्त ये सागर तटीय भागों में नदियों और झीलों के किनारे भी पाए जाते हैं। होम्स के अनुसार इनकी स्थिति मरुस्थलों के अतिरिक्त सागर तथा झीलों के किनारे होती है।

(1) सागर तटीय स्तूप

तटीय स्तूप के विकास के लिए निम्न दशाएं आवश्यक हैं :

(क) तटीय भाग में बालू की प्रचुरता

(ख) तट की ओर पवन की दिशा

(ग) सागर का जलतल तट से नीचा होना

(घ) अवरोध का पाया जाना।

तटीय प्रदेशों में बालुका स्तूप आकार में छोटे और कम विकसित होते हैं क्योंकि तटीय प्रदेशों में बालू प्रचुर मात्रा में नहीं पाई जाती। यदि बालू की मात्रा कम हो और साथ ही पवन की गति भी मन्द हो तो इस दशा में स्तूपों का विकास नहीं हो पाता जैसा कि

दक्षिणी-पश्चिमी फ्रान्स के तटीय प्रदेशों में देखा जाता है। भारत के पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही तटों पर बालुका स्तूप मिलते हैं। मलाबार तट पर अनुदैर्ध्य स्तूप पाए जाते हैं जोकि तीव्रगामी वायु द्वारा निर्मित होते हैं किन्तु थार के मरुस्थल में वायु का वेग कम होने के कारण ये अनुप्रस्थ बन जाते हैं। हालैण्ड, बेल्जियम, डेनमार्क, उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट आदि के तटीय भागों में इस प्रकार के स्तूप पाए जाते हैं। ये साधारण ऊँचाई के स्तूप होते हैं। ये सक्रिय तथा गतिवान स्तूप होते हैं।

(2) झील तटीय बालुका स्तूप

संसार की वृहत झीलों के किनारे जहाँ बालू प्रचुर मात्रा में मिलती हो, छोटे आकार के बालुका स्तूप पाए जाते हैं। जो दशाएँ सागर तटीय स्तूपों के लिए आवश्यक हैं लगभग वही दशाएँ झील के किनारे स्तूपों के विकास के लिए अनिवार्य हैं। झीलों के किनारे आर्द्र जलवायु के कारण स्तूपों पर वनस्पति उग आती है। उत्तरी अमेरिका की सुपीरियर तथा मिशीगन झीलों के तट पर प्रचिलित पछुवा पवन के कारण बालुका स्तूपों का निर्माण होता रहता है।

(3) मरुस्थलीय स्तूप

स्थल मण्डल के $\frac{1}{5}$ भाग में मरुस्थल फैले हुए हैं तथा मरुस्थलों के $\frac{1}{5}$ भाग ऐसे हैं जोकि सदा बालू या रेत से ढके रहते हैं। इन्हीं भागों में मरुस्थलीय बालुका स्तूप अधिकांश मात्रा में पाए जाते हैं। तटीय प्रदेशों की तुलना में मरुस्थलीय स्तूप वृहत् होते हैं तथा अपनी अलग विशेषता लिए होते हैं। ये अधिकांश मात्रा में वनस्पति विहीन होते हैं। सहारा, अरब, थार, पश्चिमी आस्ट्रेलिया, अटाकामा, कोलोरेडो, नेवेदा आदि सभी मरुस्थलों में बालुका स्तूप हजारों वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में विस्तृत हैं।

(4) नदी तटीय स्तूप

उपरोक्त बालुका स्तूपों के अतिरिक्त नदी के तटीय भागों में भी बालुका स्तूपों का निर्माण हो जाता है। कभी-कभी नदी की धारा की स्थिति परिवर्तित हो जाती है। ऐसी दशा में नदी की घाटी में स्तूपों का विकास हो जाता है। इस प्रकार के स्तूप बहुधा शुष्क एवं अर्ध शुष्क भागों में जहाँ नदियाँ बहती हैं निर्मित हो जाते हैं। किन्तु ये स्तूप अत्यन्त अल्प आयु के होते हैं क्योंकि बाढ़ के समय नदी इनको बहा ले जाती है तथा क्षेत्र को समतल कर देती है।

बालुका स्तूपों का स्थानान्तरण

मरुस्थलों में अधिकांश बालुका स्तूप अस्थायी होते हैं जोकि वायु की दिशा में शनैः-शनैः अग्रसित होते हैं। इनका स्थानान्तरण अत्यन्त क्रमिक होता है। इनके ऊपर से उड़ती हुई पवन अपने सम्मुख वाले मन्द ढाल से बालू कण उड़ाकर विपरीत में डाल देती है। इस प्रकार स्तूपों का पवनाभिमुख भाग पीछे हटता जाता है तथा विपरीत भाग मन्द गति से आगे बढ़ता जाता है। इसी भाँति स्तूपों का शिखर भी आगे बढ़ता जाता है, और अन्त में समस्त स्तूप ही आगे को पलायन कर जाता है। यह क्रिया इतनी मन्द गति से होती है कि स्तूप का बढ़ना प्रतीत नहीं होता। तीव्रगामी पवन के क्षेत्र में बड़े स्तूप प्रति वर्ष लगभग 6 से 8 मीटर जबकि छोटे स्तूप 15 से 30 मीटर आगे बढ़ जाते हैं। इनकी गति पवन के

वेग एवं बालू की प्राप्त मात्रा पर निर्भर करती है तथा भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होती है।

बालुका स्तूपो के स्थानान्तरण के साथ-साथ इनके आकार में भी परिवर्तन आता है। यदि वायु वेग समान रहता है तो स्तूपों का आकार अपरिवर्तित रहता है किन्तु वायु वेग कम होने पर बालू की मात्रा कम हो जाती है तथा पलायन के साथ-साथ स्तूपों की ऊँचाई कम होती जाती है। इसके विपरीत यदि वायु वेग बढ़ जाता है और बालू की मात्रा भी बढ़ जाती है तो इस दिशा में स्तूपों का आकार और गति बढ़ती जाती है।

बालुका स्तूप जलधाराओं की बाढ़ की भाँति आगे बढ़कर विनाश करते जाते हैं। विनाश के सन्दर्भ में इन दोनों में केवल इतना अन्तर है कि बाढ़ की तुलना में बालुका स्तूपों के रूप में मरुस्थल अत्यन्त मन्द गति से आगे बढ़ता है। आगे बढ़ते हुए स्तूप खेत, मैदान, जंगल, मकान व गाँव तक ढक लेते है। फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय प्रदेशों में समुद्रतट की ओर से बढ़ने वाले बालुका स्तूपों ने अनेकों बार खेती नष्ट कर दी है। राजस्थान के शेखावाटी क्षेत्र में कई स्थानों पर ऐसे अनेक मकान देखने को मिलते हैं जोकि बालू से ढके हुए हैं।

भारतवर्ष में थार का मरुस्थल दक्षिणी-पश्चिमी मानसून द्वारा बालुका स्तूपों के पलायन के कारण राजस्थान में पूरब की ओर मन्द गति से बढ़ रहा है। रन के कछ, तटीय
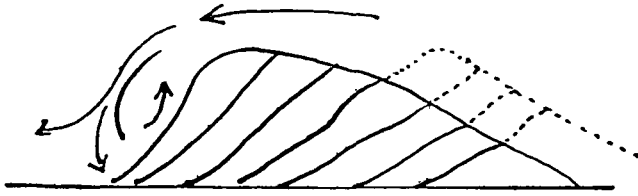
चित्र 15.16. बालूका स्तूप का स्थानान्तरण तथा विकास

भागों और पश्चिमी थार के क्षेत्रों से बहावलपुर (पाकिस्तान) तथा फीरोजपुर (पंजाब) की ओर से प्रतिवर्ष लगभग 1/2 मील की गति से राजस्थान के पूर्वी भाग की ओर तथा पूर्वी पंजाब की ओर बढ़ रहा है।
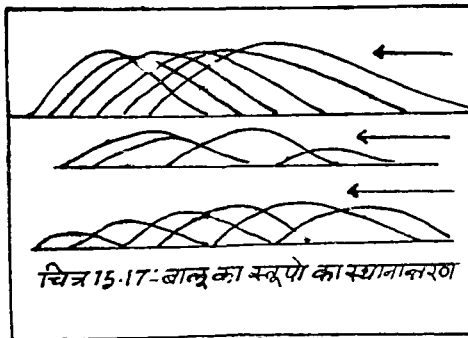
चित्र 15.17: बालू का स्तूपों का स्थानान्तरण

लोएस

मरुस्थलों की सीमा के पार बड़ी मात्रा में वायु द्वारा उड़ाकर ले जाने वाली अति

सूक्ष्म कणीय धूल के वृहत् निक्षेप को लोएस नाम से सम्बोधित करते हैं। सर्वप्रथम जर्मन भूगर्भवेत्ता रिच्थोफेन ने उत्तरी-पश्चिमी चीन के विस्तृत क्षेत्र में फैली पीली, भुरीभुरी तथा रसन्ध्र बालू की चादर का अध्ययन किया था। लोएस का नाम जर्मनी के अलसास प्रान्त के लोएस (Loess) गाँव के नाम के आधार पर पड़ा। उत्तर-पश्चिमी चीन में यह 6,50,000 वर्ग किमी. क्षेत्र में लगभग 90 से 300 मीटर गहराई तक पाई जाती है। यह यहां समुद्रतल से 2500 मीटर ऊँचाई तक मिलती है। चीन का लोएस बेसिन इस मिट्टी के निक्षेप के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहां पिछले हजारों वर्षों से इसके निक्षेप और दाब के कारण लोएस भुरभुरी न रहकर कुछ ठोस हो गई है जोकि मानव बसाव के लिए उपयुक्त है। चीन की पीली नदी (Yellow river) तथा पीत सागर (Yellow Sea) लोएस के निक्षेप के कारण ही पीले दिखाई देते हैं। चीन में लोएस कृषि के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

लोएस हल्के पीले व हल्के भूरे रंग की होती है जिसके कण बालू के कणों से छोटे किन्तु मृत्तिका के कणों से बड़े होते हैं। स्पर्श करने में यह चिकनी और कोमल होती है तथा जल में सुगमता से घुल जाती है। लोएस परतहीन ढेर के रूप में पाई जाती है। भुरभुरी होने के कारण इसमें जल द्वारा शीघ्र कटाव हो जाता है जिससे इसमें गहरी तीव्र ढाल की घाटियां और नालियां बन जाती हैं। इसमें जल सोखने की अपार क्षमता होती है।

यद्यपि लोएस का निक्षेप आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड में भी पाया जाता है, किन्तु अधिकांश निक्षेप उत्तरी गोलार्द्ध में ही मिलता है। चीन के अतिरिक्त लोएस यूरोप में राइन और रोन की घाटी तथा काला सागर के उत्तरी भाग, दक्षिणी अमेरिका में अर्जेन्टाइना तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में मिसीसिपी बेसिन के पश्चमी भागों में पाई जाती है।

लोएस के स्रोतों के बारे में दो क्षेत्रों की सम्भावना व्यक्त की गई है—(1) मरुस्थलीय लोएस तथा (2) हिमानी लोएस।

(1) मरुस्थलीय लोएस

उत्तरी-पश्चिमी चीन में मध्य एशिया के गोबी, खामी तथा जुगांर मरुस्थलों से उड़ाकर लाई हुई बारीक धूल से लोएस के विस्तृत प्रदेशों की रचना हुई। शीत ऋतु में मध्य एशिया से चीन की ओर धूल भरी हवाएँ चलती हैं जोकि अपने साथ मरुस्थलीय भागों की लोएस ले जाकर उत्तरी-पश्चिमी चीन में निक्षेपित करती रहती हैं।

(2) हिमानी लोएस

उत्तरी अमेरिका एवं यूरोप की लोएस का स्रोत मरुस्थल न होकर हिमयुग के बारीक निक्षेप हैं। अन्तर या पश्च हिमयुग में शुष्कता बढ़ गई थी। उन्हीं युगों में हिमनद्य निक्षेप शुष्क घाटियों में जमा हो गए। पवन ने इनको अपवाहन कर दूर-दूर तक बिखेर दिया। मिसीसिपी नदी घाटी में लोएस का निक्षेप 30 मीटर गहराई तक मिलता है। यूरोप में पश्चिमी व पूर्वी जर्मनी, फ्रांस और बेलजियम तक पाई जाती है। यहां पवन के अतिरिक्त बहते हुए जल ने लोएस को पुनः निक्षेपित कर दिया है।

अवक्षेप के पवन की विपरीत दिशा में लोएस क्षेत्र इस बात को सिद्ध करते हैं कि हिमयुग में वहां कभी हिम चादर फैली होगी। हिम चादर के पिघलने के पश्चात् वहां

चित्र 15.18 संसार के लोएस क्षेत्र

निक्षेपित तलछट को जल द्वारा परिवहन कर दिया गया। उसी तलछट के सूक्ष्म कणों को वायु ने अपवाहन कर दूर-दूर तक फैला दिया।
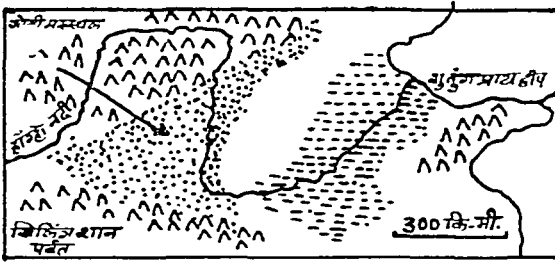
चित्र 15.19 उत्तरी चीन का लोएस क्षेत्र

अन्य प्रमुख स्थलाकार

अर्ध मरुस्थलीय प्रदेशों में जहां वर्षा 38 सेमी. होती है वहां वनस्पति रहित अभेद्य शैलों में जल की थोड़ी मात्रा अल्पकाल तक किन्तु स्वच्छन्द रूप से नालो के रूप में तीव्र गति से बहती है। थोड़े समय के लिए भयानक बाढ़ आ जाती है जिसके कारण मिट्टी का कटाव तथा निक्षेप दोनों ही क्रियाएँ साथ-साथ होती हैं जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के स्थलरूपों की रचना हो जाती है।

उत्खात स्थल

जल के भौतिक एवं रासायनिक कार्य, तुषारपात तथा वायु द्वारा अपरदन के कारण धरातल में गहरी-गहरी नालियों के रूप में कटाव पैदा हो जाते हैं जिसको उत्खात स्थल के नाम से पुकारते हैं क्योंकि यह किसी भी प्रकार के उपयोग की भूमि नहीं रह जाती। उत्तर प्रदेश (भारत) में इनको खादर कहते है। चम्बल नदी के खादर उत्खात स्थल के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी राज्यों में अनेक उत्खात स्थल मिलते हैं। उत्तरी अमेरिका के प्रारम्भिक आप्रवासी को डकोटा तथा उससे मिले

राज्यों में विस्तृत क्षेत्र को पार करने में अत्यन्त कठिनाई हुई थी, इसलिए ऐसी स्थलाकृति का नाम 'बैड लैण्ड' रख दिया।

मरुबेसिन या बोलसोन

पर्वतों से घिरे मरुस्थलीय बेसिन को 'बोल्सोन' शब्द से सम्बोधित किया गया है। स्पेनिश भाषा में 'बोल्सोन' का अर्थ पर्वतों से घिरे हुए आन्तरिक जल-प्रवाह क्षेत्र से है। मैक्सिको तथा एरीजोना में अस्थाई झीलों और खड्डों को 'बोल्सोन' तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्य भागों में प्लाया या सेलिनास नाम से सम्बोधित किया जाता है। उत्तरी अफ्रीका में इनको शोटस (Shotts) कहते हैं। मरुबेसिन में प्रायः खारी पानी की झीलें मिलती हैं जिनमें खनिज नमक तथा जिप्सम के निक्षेप मिलते हैं। झीलों का जल वाष्पीकरण के कारण सूख जाता है तथा मरुबेसिन में नमक की एक पतली परत जमी रह जाती है। यदि नदियाँ इसको पार कर लेती हैं तो यह अर्ब मरुबेसिन कहलाता है।

क्षारीय मैदान

मरुस्थलीय प्रदेशों में बालू, चीका तथा लवण के मिश्रित घोल से निर्मित समतल मैदान 'क्षारीय मैदान' कहलाता है। इस मैदान का विकास मरुबेसिन के मध्यवर्ती क्षेत्रों में होता है। साधारण वर्षा होते ही जल कई वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैल जाता है। कुछ जल तो रिस कर नीचे चला जाता है तथा शेष अपने पीछे क्षार की परत छोड़कर वाष्पीकरण द्वारा विलीन हो जाता है। इस प्रकार क्षारीय मैदानों का निर्माण होता है। लवण प्रचुर मात्रा में होने के कारण इसको लवण कक्ष या सेलीना (Salina) कहते हैं। यह लवण श्वेत तथा चमकीले रंग का होता है। नमक के अतिरिक्त सोडा और सुहागा भी इन क्षारीय मैदानों से प्राप्त होता है। क्षारीय मैदान संयुक्त राज्य अमेरिका के उटाह राज्यों में ग्रेट लेक के दक्षिण में, अटाकामा मरुस्थल तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया में पाए जाते हैं।

बजादा और पेडिमेन्ट

मरुस्थलीय एवं अर्ध मरुस्थलीय प्रदेशों में पर्वतों के मध्य स्थित ढालू मैदानों को बजादा तथा पेडिमेन्ट नाम से सम्बोधित किया जाता है। दूर से देखने में यह समान रूप और आकार के दिखाई देते हैं, किन्तु निर्माण की दृष्टि से यह एक दूसरे से विपरीत हैं। बजादा निक्षेप द्वारा तथा पेडिमेन्ट अपरदन के फलस्वरूप निर्मित होते हैं।

बजादा पर्वतों के ढाल से मैदान की ओर एक विस्तृत जलोढ़ पंख की भाँति फैला होता है। पर्वतों के निकट इसका ढाल अधिक (8° से 10°) तथा क्षरीय मैदान के समीप (1°) रह जाता है। पर्वतों से आने वाला जल इसको अधिक ढालू बना देता है। क्षारीय मैदान के समीप इसका ढाल समान न होकर ऊँचा-नीचा होता है। इसलिए सारा ही बजादा ऊबड़-खाबड़ सा प्रतीत होता है। इसके तलछट बड़े ही अव्यवस्थित रूप से निक्षेपित होते हैं। इसकी समानता नदियों द्वारा निर्मित प्राकृतिक बांध से की जा सकती है। पर्वतों से बहकर जल 'बजादा' के असंगठित तथा कोमल भागों में प्रवेश कर जाता है तथा भूमिगत बहता हुआ क्षारीय मैदान में एकत्रित हो जाता है। क्षारीय मैदान में जल क्षार छोड़कर वाष्पीकरण

हो जाता है। बजादा मैदानों के ऊपर मोटी जलोढ़ मिट्टी का निक्षेप होता है। विस्तार में ये बहुत से जलोढ़ पंखों के मिलने से बनते हैं।
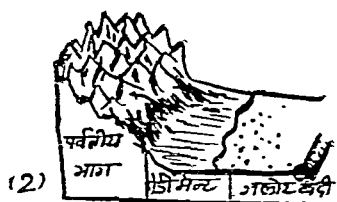
चित्र 15 20 पेडिमेन्ट की उत्पत्ति

पेडिमेन्ट

सर्व प्रथम गिलबर्ट (Gilbert) महोदय ने संयुक्त राज्य अमेरिका में उटाह (Utah) में हेनरी पर्वत का अध्ययन करते समय पेडिमेन्ट की भू-आकृति को देखा था। शुष्क एवं अर्ध शुष्क प्रदेशों में चट्टानों की मन्द ढाल वाली वेदिका जिन पर रेत की पतली परत बिछी रहती है तथा जो उच्च भागों के पदों से दूर तक फैले होते हैं, पेडिमेन्ट कहलाते हैं पर्वतों का ऊपरी ढाल तीव्र (37°) तथा नीचे का ढाल अकस्मात कम (7°) होता है। पेडीमेन्ट का निर्माण निचले ढाल पर होता है। पेडिमेन्ट का निर्माण अपरदन की क्रिया से होता है। यह बजादा की अपेक्षा अधिक समतल होते हैं। इनकी उत्पत्ति बाढ़ के समय तलछट से लदी नदियों के पार्श्विक अपरदन तथा मुख्य नदी के मार्ग के बदलने के फलस्वरूप तलछट के निक्षेप से होती है। पेडिमेन्ट के निर्माण के बारे में विद्वानों में मतभेद है। इसकी उन्नतोदर आकृति को देखकर यह ज्ञात होता है कि इनका विकास नदी के अपरदन तथा अपक्षय द्वारा 'पर्वतों के प्रतिसार' के फलस्वरूप हुआ है। कुछ विद्वान इसे प्रौढ़ावस्था का प्रतीक मानते हैं। इस प्रकार के आकार की प्राप्ति पर्वतों के पर्याप्त अपरदन के फलस्वरूप होती है। पेडिमेन्ट की उत्पत्ति के संबंध में लासन, ब्राइन, डेविस, ब्लैकवेल्डर, जानसन आदि विद्वानों का कार्य सराहनीय है।

गंभीर खड्ड—मरुस्थलीय प्रदेशों में साधारण वर्षा होते ही पर्वतों के ढाल से वर्षा का जल तीव्रगति से बहता हुआ नीचे आता है। यह जल पर्वत पदीय भागों में बड़े वेग से गिरता है जिसके कारण भुरभुरी और मुलायम मिट्टी में अत्यन्त गहरे खड्ड निर्मित हो जाते हैं। यह खड्ड पर्वतों के किनारे देखने को मिलते हैं। मरुस्थलीय प्रदेशों में गंभीर खड्ड अधिक समय तक अपने अस्तित्व को बनाये रखते हैं, जबकि आर्द्र प्रदेशों में यह भू-आकार अस्थायी होते हैं।

मरुस्थलों में अपरदन चक्र

संसार में जिस वस्तु का जन्म होता है, वह विकास की चरम सीमा तक पहुँच कर अपरदित होना प्रारम्भ होती है। इस विचार के अनुसार सर्वप्रथम अमेरिकन विशेषज्ञ डब्लू, एम. डेविस (1905) ने शुष्क प्रदेशों में अपरदन द्वारा रचित भूआकृतियों का एक सैद्धान्तिक पत्र प्रस्तुत किया था। किन्तु व्यावहारिक रूप में चक्र के अनुसार मरुस्थलों में भू-आकृतियों का निर्माण केवल वायु द्वारा ही नहीं होता, इसमें जल का भी सहयोग होता है। अत: अर्ध शुष्क प्रदेशों में विकास की अवस्था देखी जाती है जहाँ कुछ सीमा तक जल का भी योगदान है। डेविस के अनुसार सभी स्थल रूप विकास के पश्चात बाह्य समतल मापक शक्तियों के प्रभाव से बाल्य तथा युवावस्था से गुजरते हुए वृद्धावस्था में आधार तल प्राप्त कर लेते हैं तथा उसके पश्चात समतलप्राय मैदान का रूप ग्रहण कर लेते हैं। अफ्रीकन विद्वान एल. सी. किंग ने समतलप्राय से असहमति दिखाते हुए उसके स्थान पर पदस्थली की धारणा प्रस्तुत की है जोकि मरुस्थलों के अपरदन चक्र के सम्बन्ध में अधिक मान्य है। उनके अनुसार अपरदन चक्र की प्रारम्भिक अवस्था में नदियों का मुख्य कार्य होता है तथा अन्तिम अवस्था में शैलपद के आपस में मिलने से पदस्थली की रचना होती है। इसमें सन्देह नहीं कि मरुस्थलों के अपरदन चक्र में पवन ही प्रमुख कारक है, किन्तु साथ ही जल के सहयोग को हम अनदेखा नहीं कर सकते। शुष्क जलवायु के कारण मरुस्थलों में रासायनिक अपरदन की अपेक्षा भौतिक अपरदन अधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रारम्भिक अवस्था

प्रारम्भिक अवस्था में मरुस्थलीय भाग उत्थान की अवस्था में होता है। अत: धरातलीय भूगर्भिक आकारों की प्रधानता रहती है। छोटी-छोटी अनुवर्ती सरिताओं का विकास प्रारम्भ हो जाता है जिनका आधार तल भिन्न-भिन्न होता है। आगे चलकर नदियाँ सूख जाती हैं तथा पवन उनकी शुष्क घाटियों में अपरदन प्रारम्भ कर देती है। पहाड़ों के मध्य कहीं-कहीं क्षारीय बेसिन में जल भरने से 'प्लाया' नामक झीलों का निर्माण होता है। उच्च भूमि निम्न होना प्रारम्भ हो जाती है। इस अवस्था के अन्तिम चरण में भूमि वनस्पतिविहीन हो जाती है तथा नग्न शैलों पर वायु पूरी शक्ति से प्रभावित हो जाती है।

युवावस्था

युवावस्था में नदियाँ तथा वायु दोनों ही उच्च भागों को अपरदित कर निम्न भागों में निक्षेप प्रारम्भ कर देती हैं जिसके कारण उच्च भूमि निम्न होने लगती है तथा घाटियाँ तलछट से भर जाती हैं। अतः भूमि पीछे हटकर पदस्थली की रचना को स्थान देती है। ऊबड़-खाबड़ धरातल समतल होने लगता है। स्थानीय आधार तल समाप्त हो जाता है तथा तलछट का निक्षेप समाप्त हो जाता है। नदी के उद्गम स्थानों पर पर्वतों के खण्डित शैलों से 'शिला पंखों' का निर्माण होता है जिन पर जलोढ़ मिट्टियों का निक्षेप हो जाता है। बालुका स्तूपों का निर्माण हो जाता है जोकि एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित होने लगते हैं। उत्तरी अमेरिका के नेवेदा मरुस्थल में इस प्रकार की स्थिति पाई जाती है।

प्रौढ़ावस्था

प्रौढ़ावस्था में घाटियों के शीर्ष कटाव एवं भराव के कारण निम्न भूमि के क्षेत्र परस्पर मिलने लगते हैं। जल की अपेक्षा वायु का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

अपवाहन चरम सीमा पर होता है। ऊँचे भू-भागों के अपरदन के कारण उत्खात भू-दृश्य का विकास होता है। ऊँचे बेसिनों के कटाव व निचलों के भराव के कारण एक विशिष्ट अपवाह प्रणाली का विकास होता है। विभिन्न जलोढ़ पखों के संयोग से बजादा का निर्माण होता है। आकस्मिक बाढ़ों के कारण जलोढ़ पंखों में गहरी घाटियों का निर्माण हो जाता है जिन्हें अरब में वादी और उत्तरी अमेरिका में वाशेज कहते हैं। समस्त समतल मैदान में बालुका स्तूपों की कतार फैल जाती है। उच्च भागों के अपरदन स्वरूप विभिन्न प्रकार की भू-आकृतियो का निर्माण होता है।

वृद्धावस्था

अपरदन की अन्तिम अवस्था में जल का कार्य नगण्य होता है तथा वायु ही प्रमुख कारक होती है। वायु द्वारा अपवाहन से धूल और बालू दूर-दूर तक स्थानान्तरित कर दी
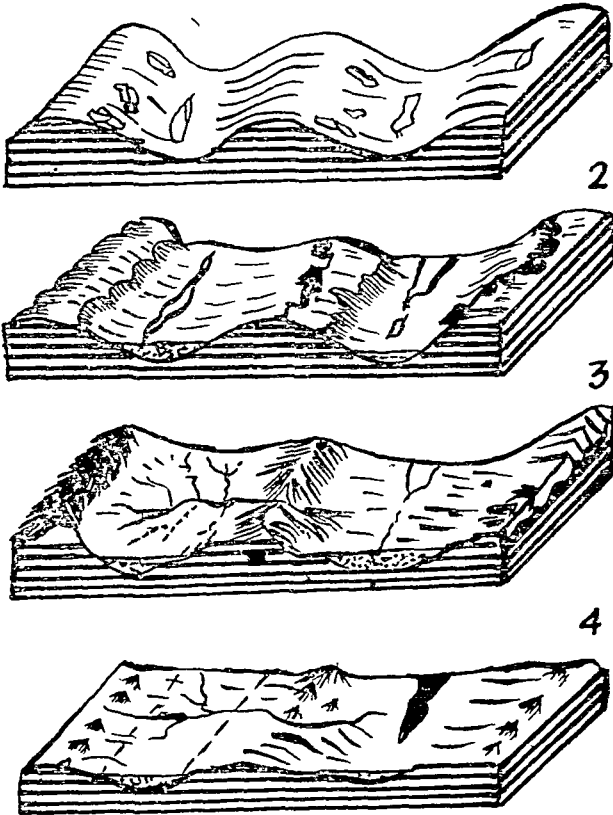
चित्र-15.21-शुष्क मरुस्थलीय क्षेत्र में अपरदन-चक्र की अवस्था 1 प्रारंभिक अवस्था 2-युवावस्था, 3-प्रौढ़ावस्था तथा 4-वृद्धावस्था

जाती है। शैल पद तथा द्वापभिगिरि स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होते है। वात गर्त तथा बालुका स्तूपों से मरुस्थल भर जाता है। वायु द्वारा अपरदन की अन्तिम सीमा भूमिगत जल

स्तर द्वारा निर्धारित होती है, जब भूमिगत जल धरातल पर आने लगता है तो वायु का कार्य पूर्णतया समाप्त हो जाता है। उत्तरी-पश्चिमी एरिज़ोना (उ. अमेरिका) में मरुस्थल अपरदन चक्र की अन्तिम अवस्था में है।

मरुस्थलीय प्रदेशों में पुनर्नवीनीकरण

वृद्धावस्था से पूर्व मरुस्थलों में अपरदन एवं निक्षेप में सन्तुलन रहता है, किन्तु इसमें बाधा आने पर अपरदन क्रिया पुनः तीव्र हो जाती है। अर्थात् इसमें नव जीवन संचार होने लगता है। इस क्रिया को **मरुस्थलीय** पुनर्नवीनीकरण कहते हैं। यह क्रिया दो बातों पर निर्भर करती है—(1) जलवायु में परिवर्तन तथा (2) पटलविरूपण।

(1) **जलवायु में परिवर्तन**—तापमान में वृद्धि के कारण अधिक शुष्कता आने से वायु को अपरदन करने में सुविधा मिलती है। इसके अतिरिक्त अधिक या बहुत कम वर्षा से भी अपरदन की क्रिया पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। वर्षा अधिक होने से बाढ़ आएगी। जलोढ़ पंख, बादियों, बजादा, प्लाया झीलों आदि का पुनः निर्माण होगा। वर्षा कम होने से शुष्कता में वृद्धि होगी तथा बालुका स्तूपों का अधिक निर्माण होगा।

(2) **पटलविरूपण**—मरुस्थलीय क्षेत्र के उत्थान होने के फलस्वरूप अपरदन अधिक शीघ्र होना प्रारम्भ हो जाता है। घाटियां, वादियां गहरी होने लगती हैं तथा अपरदन चक्र युवावस्था में आ जाता है। इसी प्रकार धरातल के अवतलन के कारण भी अपरदन में तीव्रता आ जाती है। अपरदन चक्र युवावस्था से वृद्धावस्था की ओर द्रुति गति से अग्रसित होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Bagnold, R. A. (1941), The Physics of Blown Sand and Desert Dunes (Methuen and Co. Ltd., London).
2. Cotton, C. A. (1942), Climatic Accidents, (Whitecombe and Tombs Ltd., Wellington).
   Cooke, R. V. and Andrew, W. (1973), Geomorphology in Deserts (B. T. Batsford Ltd., London).
3. Emmons, Allison, Stauffer, etc. (1960), Geology, Wind as Agent of Gradation (McGraw Hill Co., New York).
4. Engeln, O. D. Von (1949), Geomorphology, (The Macmillan Co., New York).
5. Holmes, A. H. (1959), Principles of Physical Geology (Thomas Nelson and Sons Ltd., London).
6. Longwell, C. R., Flint, R. F. (1962), An Introduction to Physical Geology (John Wiley, New York).
7. Monkhouse, F. J. (1955), The Principles of Physical Geography (University of London Press Ltd., London).

8. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography, 4th ed. (Wiley International Edition, New York).
9. Thornbury, W.D. (1954), Principles of Geomorphology (John Wiley and Sons, Inc., New York).
10. Worcester, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology (D. Van Nostrand Co., New York).
11. Wooldridge, S. W. and Morgan, R. S. (1959), An Outline of Geomorphology (Longmans Green & Co., London).

———

16

हिमानी का कार्य
[The Work of Glacier]

सामान्य परिचय

भू-पृष्ठ पर परिवर्तन लाने वाले बलों में हिमानी का भी अपना महत्व है। पृथ्वी के स्थलाकृतिक आकारों के अध्ययन से विदित होता है कि अब से 10 से 15 हजार वर्ष पूर्व तक हिम युग में धरातल का 30% भाग 2 किमी. मोटी हिम चादर के नीचे ढका हुआ था। वर्तमान में समस्त हिमानियों के क्षेत्रफल का (जो कि पृथ्वी का 10वां भाग है) 85% एन्टार्कटिका, 10% ग्रीनलैण्ड तथा शेष 5% भाग अन्य उच्च पर्वतीय क्षेत्रों में विस्तृत है।

पी. जी. वोरसैस्टर के अनुसार वर्तमान हिमानियों का अध्ययन, जो कि अपने आप में महत्वपूर्ण है, हमको प्लीस्टोसीन हिमावरण के बारे में, जो कि हाल ही में था, समझाने में सहायता करता है। वह हिमावरण धरातल पर करोड़ों वर्गमील क्षेत्र पर वर्तमान स्थलाकृति से लिए उत्तरदायी है। उस काल में हिमानियों के कार्य अधिक महत्वपूर्ण रहे होंगे। वे विशालकाय हिमानियां हिमयुग की समाप्ति पर अपने पीछे विभिन्न प्रकार के भू-आकारों को अवशेष के रूप में छोड़ गई हैं, जिनका अध्ययन, धरातल के परिवर्तन के संदर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। "नदियों की भांति हिमानी हिम समूह के रूप में, हिम रेखा के ऊपर, हिमक्षेत्रों (Snow Field) से गुरुत्व के कारण नीचे की ओर धीमी गति से प्रवाहित होती है।"

हिम रेखा—"उच्च पर्वतीय तथा उच्च अक्षांशीय क्षेत्रों में ऐसी अन्तिम सीमा जहां तक सदा हिम जमी रहती है, हिम रेखा कहलाती है।" स्थायी हिम रेखा उस सीमा को प्रदर्शित करती है जहां शीत ऋतु की एकत्रित हिम को ग्रीष्म ऋतु पिघलाकर क्षति करने पर भी हटाने में असमर्थ रहती है। हिमरेखा ऊंचे अक्षांशों में कम ऊंचाई पर तथा निचले अक्षांशों में अधिक ऊँचाई पर पाई जाती है। एक ही अक्षांश में हिम रेखा जलवायु और ऊँचाई पर निर्भर करती है। हिम रेखा की स्थिति केवल अक्षांश के कारण ही नहीं होती। क्योंकि यह हिम की सम्पूर्ति तथा क्षति के अनुपात को प्रतिबिम्बित करती है, अत: उसकी स्थानीय ऊंचाई हिमपात, भूमि की बनावट, अनावरण (Exposure) आदि के कारण भिन्न-भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त हिम रेखा जलवायु की विभिन्नता, भूमध्यरेखा से दूरी तथा

समुद्रतल से ऊँचाई पर निर्भर करती है। हिमपात शुष्क प्रदेशों की तुलना में आर्द्र प्रदेशों में अधिक होता है। हिमालय पर्वत के उत्तरी भाग में दक्षिणी भाग की तुलना में हिमरेखा लगभग 600 मीटर ऊँची है। हिमालय का दक्षिणी भाग दक्षिणी पश्चिमी मानसून के कारण उत्तरी भाग की अपेक्षा अधिक आर्द्र है। "भूमि की बनावट" भी हिम रेखा को प्रभावित करती है। ऊबड़-खाबड़ ढाल की तुलना में साधारण तथा नम्र ढाल पर हिम रेखा नीची होती है। इसी प्रकार अनावरण और हिम रेखा के मध्य निकट सम्बन्ध है। आल्प्स पर्वत के उत्तरी ढाल की अपेक्षा सूर्यताप और अनावरण के कारण दक्षिणी ढाल पर हिम रेखा 305 से 610 मीटर नीची रहती है। आल्प्स पर्वत का उत्तरी ढाल छाया में रहता है जबकि दक्षिणी ढाल सूर्य की ओर खुला हुआ है। साधारणतः भूमध्य रेखा से उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की ओर हिम रेखा की ऊंचाई घटती जाती है। भूमध्य रेखा पर हिम रेखा समुद्रतल से 5000 से 6000 मीटर, हिमालय में 4000 मीटर, आल्प्स तथा पिरेनीज पर्वतो पर 2500 से 3000 मीटर, नार्वे 1250 मीटर तथा ग्रीनलैण्ड में 0 मीटर ऊंची पाई जाती हैं।
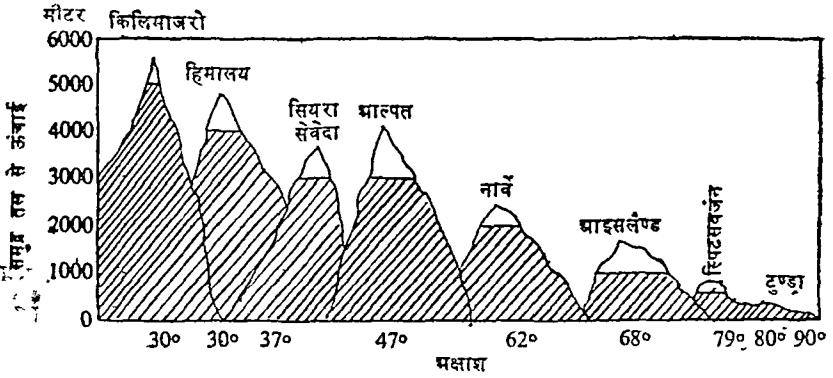
16.1 हिमरेखा

हिम क्षेत्र तथा कणहिम या नेवे (Snow Field and Neve)

हिम रेखा से ऊपर तापमान हिमांक से नीचा रहता है। अतः अवक्षेप सदा हिम कणों के रूप में होता है। यह हिमकण एकत्रित होकर हिम क्षेत्र का निर्माण करते हैं। प्रारम्भ में हिमकण अत्यन्त कोमल होते हैं किन्तु अन्त में अत्यन्त कठोर होकर बर्फ (Ice) में परिवर्तित हो जाते हैं। नेवे हिम तथा बर्फ की मध्यावस्था होती है। नेवे के कणो में वायु विद्यमान रहती है जबकि बर्फ में वायु नहीं होती। "ऊपर के परत के दाब तथा पिघलने और जमने की सहायता से नीचे की परत शनैः-शनैः मध्यावस्था में परिवर्तित हो जाती है जिसे 'नेवे' या 'फर्न' कहते है जिनमें से वायु छोटी कोशिकाओं से दाब के कारण बाहर निकल जाती है तथा कुल पिण्ड बर्फ के ठोस कणो में परिवर्तित हो जाता है।" बर्फ जमे हुए पानी की भांति नहीं होता क्योंकि इसके कणों के मध्य वायु रहती है। अतः समस्त पिण्ड की रचना बर्फ के सफेद तथा ठोस बारीक कणों से होती है जिसे फ्रेंच भाषा में नेवे तथा जर्मन भाषा में 'फर्न' कहते हैं। नेवे हिमानी घाटी के मुख पर एकत्रित हो जाते हैं। हिमानी की गति और दाब के कारण यह ठोस बर्फ में परिणत होकर हिमानी का रूप ले लेते हैं।

यदि हिम क्षेत्र में हिम के भाप बनकर उड़ने या पिघल कर जल के रूप में बहने की मात्रा से अधिक हिमपात होता है तथा हिम को बाहर जाने का कोई मार्ग नहीं मिलता तो अतिरिक्त बर्फ दो प्रकार से बाहर जाने का मार्ग बना लेता है, जैसे (1) विशाल अवधावों (Avalanches) के रूप में टूटकर तीव्र वेग से नीचे को खिसकना तथा (2) निरन्तर बर्फ का नदी या हिमानी (Glacier) के रूप में नीचे की ओर खिसकते रहना।

हिमानी की उत्पत्ति—हिमानी की उत्पत्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

(1) तापमान का कम होना, (1) हिम की पर्याप्त मात्रा तथा (3) तीव्र ढाल। तापमान निम्न होने के कारण बर्फ ठोस रूप में रहेगा जिसके कारण हिम की पर्याप्त मात्रा नीचे को दबाव डालेगी तथा हिमानी तीव्र ढाल पर खिसकना प्रारम्भ कर देगी। हिमानी जब स्थल से खिसककर समुद्र में पहुँचती है तो हिमानी के टूटे हुए विशाल हिमखण्ड जल में तैरने लगते हैं जिनका 9/10 भाग जलमग्न तथा 1/10 भाग जल से ऊपर रहता है। इन हिमखण्डों को हिम शिलाएँ (Icebergs) कहते हैं।

हिमानी के प्रकार (Types of Glaciers)

(1) पर्वतीय या घाटी हिमानी (Mountain or Valley Glacier)—हिमानी सदा पर्वतों पर पूर्व निर्मित घाटियों का मार्ग अपनाती है। दो ऊँची चोटियों के मध्य चौड़ी घाटी में स्थायी रूप से हिम क्षेत्र बन जाता है जो कि हिम रेखा से ऊपर होता है। घाटी हिमानी बर्फ की नदी होती है जिसका अग्रिम भाग जीभ की आकृति का होता है। इसका ऊपरी भाग चौड़ा तथा निचला भाग संकरा होता है। हिमानी बर्फ का समूह होता है जो कि हिम क्षेत्र से जहां यह उत्पन्न होता है, गुरुत्वाकर्षण के कारण नीचे की ओर बहने लगती है। इस प्रकार की हिमानी आकार में छोटी किन्तु भू-आकारों के निर्माण में अग्रणी होती हैं। आल्प्स, अल्टाई, तियनशान एवं हिमालय पर्वतों में घाटी हिमानी सर्वाधिक पाई जाती है।

घाटी हिमानी दो प्रकार की होती हैं—(क) समानान्तर या अनुदैर्घ्य तथा (ख) आड़ी या अनुप्रस्थ।

(क) **समानान्तर हिमानी** पर्वतों के मध्य घाटी में श्रेणियों के समानान्तर लम्बाई में चलती हैं।

(ख) **आड़ी हिमानी** पर्वतों के मध्य घाटी में लम्बवत् रूप से चलती हैं।

हिमालय पर्वत की मुख्य हिमानियाँ अग्रांकित सारणी में दी गयी हैं—

सारणी

प्रदेश का नाम	हिमानी का नाम	लम्बाई (किमी.)	प्रकार
सिक्किम	जेमू	26	अनुप्रस्थ
	कंचनजंगा	16	,,
काश्मीर	रूपल	16	,,
	रूनदून	19	अनुदैर्घ्य
	पुनमा	17	अनुप्रस्थ
	रिमो	40	अनुदैर्घ्य
कुमायूँ	मीलाम	19	,,
	केदारनाथ	14.5	अनुप्रस्थ
	गंगोत्री	26	,,
	कोसा	11	,,
कराकोरम	बियाफो	62.7	अनुदैर्घ्य
	हिस्पार	61	,,
	बालटोरो	50	,,
	सियाचेन	72	,,
	बटूरा	58	,,

पर्वतीय हिमानियों को उनके विस्तार एवं स्थिति के आधार पर भी वर्गीकृत किया किया गया है—

(i) **वृक्षाकार हिमानी** (Dendritic Glacier)—वृक्ष के आकृति की छोटी नदियों की घाटियों में बहने वाली हिमानी वृक्षाकार कहलाती है।

(ii) **केन्द्रत्यागी या विकिरणकारी हिमानी** (Radiating Glacier)—जब एक बड़ी हिमानी से अनेक छोटी-छोटी हिमानियाँ निकलकर चारों ओर फैल जाती हैं तो वह केन्द्रत्यागी हिमानी कहलाती है।

(iii) **ज्वारीय हिमानी** (Tidal Glacier)—स्थिति के आधार पर जब कोई हिमानी समुद्र तक पहुंच कर ज्वार का स्पर्श करती है तो उसे ज्वारीय हिमानी कहते हैं।

(2) **गिरिपद हिमानी** (Piedmont Glacier)—पर्वतीय प्रदेशों में अनेक घाटी हिमानियाँ ढलानों से नीचे उतरकर पर्वतपद या तली पर एक दूसरे से मिलकर एक बड़े आकार की हिमानी की रचना करती हैं। इनका क्षेत्रफल 1500 वर्ग किमी. से अधिक होता है। इस प्रकार की विस्तृत आकार की हिमानी को "गिरिपद हिमानी" कहते हैं। इस प्रकार की हिमानी अलास्का में बहुत पाई जाती हैं जिनमें से 'मेलास्पिना' (Malaspina) हिमानी उल्लेखनीय है।

(3) **महाद्वीपीय हिमानी** (Continental Glacier)— हिम के उस विस्तृत तथा मोटे आवरण को जो किसी विशाल क्षेत्र को ढक लेता है महाद्वीपीय हिमानी या हिमचादर (Ice-sheet) कहते हैं। वर्तमान में एन्टार्कटिका में 125 लाख वर्ग किमी. और ग्रीनलैण्ड में 17 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में हिम चादर फैली हुई हैं। पृथ्वी के इतिहास में ऐसे अनेक युग आए जिनमें पृथ्वी का अधिकांश भाग हिमाच्छादित था। सबसे बाद वाले इस प्रकार के युग को 'प्लीस्टोसीन हिम युग' कहते हैं। इस युग में कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, उ यूरोप तथा ब्रिटिश द्वीप समूह हिम के मोटे आवरण के नीचे ढके हुए थे। कहीं-कहीं इसकी मोटाई 1600 मी. तक थी। "वर्तमान में स्थित बर्फ के समूह क्वाटरनरी हिमानीकरण (Quaternery Glaciation) की विस्तृत हिम चादर के प्रत्यक्ष परावर्तन की दशा को प्रदर्शित करते हैं।"

(4) **हिम टोपियाँ** (Ice Caps)– कुछ विद्वान हिम टोपियों को लघु महाद्वीपीय हिमानियों के रूप में मानते हैं किन्तु इसके विपरीत दूसरे विद्वान पर्वतों की चोटियों पर फैली हिम चादर को हिम टोपियां मानते हैं। लेखक दूसरे विचार से सहमत हैं। हिम टोपियाँ ऊँचे पर्वतीय भागों में पाई जाती हैं जहां से गुरुत्वाकर्षण के कारण हिम ढलानों से खिसक कर हिमानियों का निर्माण करती हैं।

तापमान के आधार पर हिमानियों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—

(i) शीतोष्ण हिमानियां तथा (ii) ध्रुवीय हिमानियाँ।

(i) **शीतोष्ण हिमानियों** को गर्म हिमानियाँ भी कहते हैं, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु में ये पिघलने के तापमान तक पहुँच जाती हैं जोकि शीत ऋतु में हिमांक से नीचे रहता है।

(ii) **ध्रुवीय या ठण्डी हिमानियों** का तापमान सदा हिमांक से नीचे रहता है।

हिमानी की गति—उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक वैज्ञानिकों को हिमानी की गति के बारे में ज्ञान नहीं था। सन् 1827 में सर्वप्रथम स्विटजरलैण्ड के निवासी प्रो. ह्यूजी (Hugi) ने अपने परीक्षण द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि हिमानी गतिशील होती है। उन्होने आल्प्स पर्वत की आर नामक हिमानी पर एक कुटिया बनाई। जब कुटिया को 14 वर्ष पश्चात देखा गया तो वह अपने मौलिक स्थान से 1500 मीटर आगे जा चुकी थी। इस
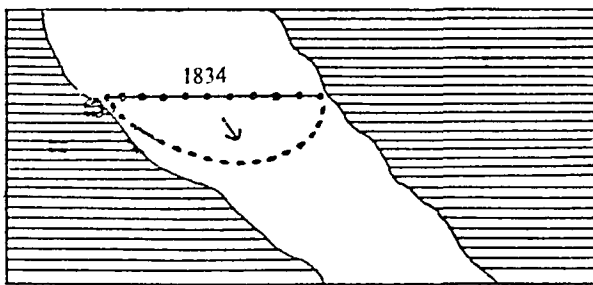
16.2 हिमानी की गति
(लुई एगासिज के अनुसार)

प्रकार ह्यूजी ने इस परीक्षण के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि आर हिमानी प्रतिदिन प्राय: 30.48 से.मी. की दर से आगे बढ़ी। इसी प्रकार सन् 1834 में स्विटजरलैण्ड के ही दूसरे विद्वान लुई एगासिज (Louis Aggassiz) ने अपने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया

कि हिमानी किनारों की अपेक्षा मध्य में और तली की अपेक्षा सतह पर अधिक गति से चलती है। एगासिज ने हिमानी की सतह पर एक किनारे से दूसरे किनारे तक आर-पार खूँटे गाढ़ दिए। कुछ समय पश्चात देखा कि खूटों की सीधी रेखा वक्राकार हो गई। अर्थात बीच के खूंटे किनारों के खूंटो की अपेक्षा घाटी के ढाल की ओर कुछ आगे को बढ गये। इस परीक्षण से यह तथ्य उजागर हुआ कि किनारों और तली पर रगड़ कर चलने के कारण हिमानी की गति कुछ मन्द हो गई।

हिमानी की गति निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है:—

1. **हिम की मात्रा**—हिमानी में हिम की जितनी अधिक मात्रा होती है, उसकी गति उतनी ही अधिक होती है। अर्थात् मोटे आवरण वाली हिमानी में दबाव अधिक होगा जोकि उसकी गति को बढ़ावा देगा।

2. **हिमानी का विस्तार**—थोड़े विस्तार और छोटी हिमानियों की अपेक्षा अधिक विस्तार की हिमानी की गति तीव्र होती है। अतः ग्रीनलैण्ड की विशाल हिमानियां आल्प्स पर्वत की छोटे विस्तार की हिमानियो की अपेक्षा द्रुतगामनी होती है। हिमानी का आकार तथा विस्तार उसकी पूर्व निर्मित-घाटी और बर्फ की मात्रा पर निर्भर करता है।

3. **भू-आकृति**—हिमानी की गति ऊबड़-खाबड़ भू-पृष्ठ की अपेक्षा अवरोध रहित सपाट भू-पृष्ठ पर सुगम होती है।

4. **घाटी का ढाल**—घाटी के ढाल और हिमानी की गति का अटूट सम्बन्ध है। ढाल जितना अधिक होगा हिमानी की उतनी ही अधिक गति होगी। इस प्रकार की गति को
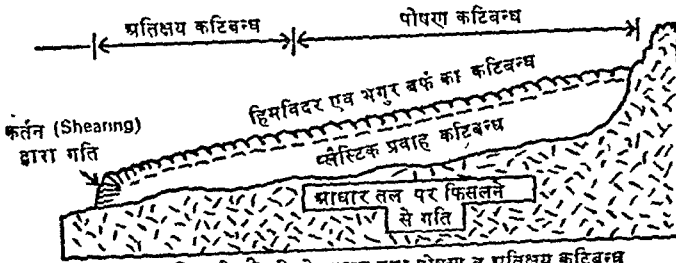
16.3 हिमानी की गति के प्रकार तथा पोषण व अतिक्षय कटिबन्ध (जुडसन के आधार पर)

गुरुत्व बहाव (Gravity Flow) कहते हैं। यदि ढाल ऊँचा-नीचा अर्थात् अवरोध पूर्ण होता है तो हिमानी को भूमि काटकर आगे बढ़ना पड़ता है जिसके कारण गति मद हो जाती है। इस प्रकार के बहाव को अवरोधी बहाव (Obstructed gravity flow) कहते है।

5. **तापमान**—जब हिम का तापमान हिमांक के आसपास होता है तो हिमानी की गति तीव्र हो जाती है, किन्तु इसके विपरीत यदि तापमान हिमांक से अधिक नीचे चला जाता है तो गति मंद हो जाती है। अतः शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में हिमानियों की गति दुगुनी तथा तिगुनी तक हो जाती है।

हिमानी-प्रवाह के प्रकार

(अ) गुरुत्वाकर्षण पर आधारित प्रवाह

1. **पुनर्हिमायन** (Regelation)—ऊपरी दाब के कारण हिमानी की निचली परत का तापमान हिमांक बिन्दु से ऊँचा हो जाता है जिसके कारण स्थानीय रूप से बर्फ पिघलने

लगती है। दो परतों के मध्य जल स्नेहक द्रव (Lubricating fluid) का कार्य करता है जिसके फलस्वरूप हिम कण आगे को खिसकने लगते हैं।

2. **स्तरीय प्रवाह** (Laminar Flow)—हिम-राशि के ऊपरी दाब के कारण निचली परत पर ढाल की ओर धक्का लगने से ऊपरी परत आगे को खिसकने लगती है। भ्रंश तलों के सहारे हिम का प्रसार अधिक होता है जोकि परतों को सरकाने में अधिक सहायक होता है।

3. **प्लैस्टिक विरूपण** (Plastic Deformation)—अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ है कि अन्तः परमाणवीय बल (Inter-atomic force) के कारण बर्फ सुघट्य (Plastic) हो जाता है। सुघट्य होने के फलस्वरूप बर्फ में विरूपण प्रारम्भ हो जाता है जिसके कारण उसमें गति का आविर्भाव होता है।

4. **अन्तराकणिक गति** (Inter-granular Ttanslation)—हिम-कण यांत्रिक इकाइयों (Mechanical units) की भांति व्यवहार करते हैं। अतः यह सीसे की गोलियों की भांति एक दूसरे पर फिसलने लगते हैं। यह क्रिया तीन अवस्थाओं में अधिक होती है—(i) ऊपरी क्षेत्र में हिम की अधिकता, (ii) हिमानी घाटी का संकरा होना तथा (iii) तीव्र ढाल का होना।

5. **अणुओं की पुनर्व्यवस्था** (Molicular re-arrangement)—'हिमानी को ठोस बहाव के रूप में लेना चाहिए जिसमें गति अणुओं के पुनर्व्यवस्थित होने के कारण होती है न कि द्रव बहाव के कारण जिसमें अणु अव्यवस्थित ढंग से आगे बढ़ते हैं।"

6. **कर्तन** (Shearing)—प्रतिबल (Stress) के कारण नत विभंग समतलों (Incined fracture plane) पर हिमानी की परतों के फिसलने की क्रिया को कर्तन कहते हैं। यह क्रिया हिमानी के अग्रमुख पर सम्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप हिमानी का प्रवाह होता है।

उपरोक्त सभी विधियों के प्रवाह में गुरुत्वाकर्पण शक्ति कार्य करती है, किन्तु इनके अतिरिक्त एक और भी प्रकार का प्रवाह है जोकि गुरुत्वाकर्षण शक्ति से मुक्त है। इसको बहिर्वेधी प्रवाह कहते हैं।

(ब) **बहिर्वेधी प्रवाह** (Extrusion Flow)

निम्न भूमि पर धरातल का ढाल नगण्य होता है, जहाँ गुरुत्वाकर्षण के कारण हिमानी का प्रवाह सम्भव नहीं होता। किन्तु फिर भी हिमानियों में गति पाई जाती है। इस गति के लिए बहिर्वेधन ही उत्तरदायी है। जब हिम-परतें असमान्य रूप से मोटी हो जाती हैं तो हिम स्वयं के भार के कारण सिरे की परतों को आगे धकेलने लगता है। हिमानियों का बहिर्वेधी प्रवाह ग्रीनलैण्ड की हिम चादर से निकलने वाली हिमानियों में मिलता है। इस प्रकार के प्रवाह में प्लैस्टिक विरूपण विधि भी सहायक होती है।

हिमानियों का पीछे हटना

तापमान हिमांक से ऊँचा होते ही हिमानी की बर्फ पिघलना तथा वाष्पीकरण होना प्रारम्भ हो जाती है। अतः हिमानी का तुण्ड या अग्रमुख क्षय होने लगता है जिससे ऐसा

प्रतीत होता है कि हिमानी पीछे की ओर हट रही है। इस क्रिया को अपक्षरण (Ablation) कहते हैं। इसके अतिरिक्त क्षय की अपेक्षा ऊपर से हिम के संभरण में कमी आ जाने से भी हिमानी पीछे सरकने लगती है।

सामान्यत: हिमानी की दैनिक गति 30.5 सेमी. होती है, किन्तु ग्रीनलैण्ड की हिमानियां ग्रीष्म ऋतु में प्रतिदिन 18.3 मीटर की दर से चलती हैं। एन्टार्कटिका की "मर दी ग्लास" (Mer de Glace) हिमानी प्रतिदिन 61.0 सेमी. तथा विश्व की सबसे बड़ी "बियर्डमोर हिमानी" (Beardmore glacier of Antarctica) प्रतिदिन 91.5 सेमी. की दर से गति करती है। हिमालय की हिमानियों की गति की दर पार्श्वों में 7 से 13 सेमी. तथा मध्य में 20 से 30 सेमी. प्रतिदिन है। बाल्टोरो हिमानी प्रतिदिन 1.75 सेमी. तथा जेमो हिमानी 22.5 सेमी. की दर से गति करती हैं।

हिमानी की आयु (Age of Glacier)

हिमानी की आयु दो बातों पर निर्भर करती है–(i) तापमान तथा (ii) हिम का संभरण।

(i) **तापमान**—यदि तापमान हिमांक से नीचे रहता है तो हिमपात निरंतर होता रहेगा जिसके फलस्वरूप हिमानी की कालावधि बढ़ जाती है। किन्तु तापमान के हिमांक से ऊँचा होने की स्थिति में हिमानी का पिघलना और वाष्पीकरण होना प्रारम्भ हो जाता है जिसके कारण हिमानी पीछे हटती हुई अन्त में समाप्त हो जाती है।

(ii) **हिम का संभरण**—हिमानी के दीर्घ जीवन के लिए हिम की निरंतर प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है। हिमानी के क्षय की अपेक्षा यदि हिम की प्राप्ति कम होती है तो हिमानी की आयु कम हो जाती है। अतः हिमानी की लम्बी आयु के लिए हिम के क्षय और संभरण में सन्तुलन होना नितान्त आवश्यक है।

तापमान एवं हिम की प्राप्ति जलवायु पर निर्भर करती है, इसीलिए जलवायु के परिवर्तन के साथ-साथ हिमानियों के विस्तार, गति एवं कार्यकाल में अन्तर आता है। वर्तमान युग में तापमान के कुछ ऊँचा होने के कारण हिमानियों के तुण्ड पीछे की ओर हट रहे हैं। यद्यपि सन् 1858 से पूर्व ये आगे की ओर बढ़ रहे थे किन्तु ऐसा देखा गया है कि सभी हिमानियां एक साथ आगे बढ़ती हैं और साथ ही साथ पीछे हटती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हिमानियों के अस्तित्व को नियन्त्रित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति जलवायु है।

हिमानियां नदियों की भांति अधिक दूर तक प्रवाहित नहीं होतीं तथा अन्त में पिघलकर समाप्त हो जाती हैं। ध्रुव प्रदेशों की हिमानियां टूट-टूट कर हिम खण्डों (Icebergs) में परिवर्तित हो जाती हैं। ऊँचे प्रदेशों की हिमानियाँ पिघलकर नदियों और झीलों को जन्म देती हैं। कुछ हिम गर्मियों में भाप बनकर उड़ जाता है और इस प्रकार शनैः-शनैः हिमानी का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

हिमानी का रूप (Form of Glacier)

शीतकाल में हिमानी की सतह प्रायः सपाट होती है, किन्तु ग्रीष्मकाल में इसमें असमानता पैदा हो जाती है। हिमानी की बर्फ दानेदार तथा लचकदार होती है, इसलिए

दबाव पड़ते ही वह फैल जाती है और खिचाव के कारण फट जाती है। जब हिमानी ऊबड़-खाबड़ ढाल या घाटी के मोड़ से होकर गुजरती है तो उसके एक सिरे पर भिचाव तथा दूसरे सिरे पर खिचाव पड़ता है। खिचाव के कारण हिमानी में दरारें (Crevasses) पड़ जाती हैं। इसीलिए हिमानी की ऊपरी सतह पर बहुत सी दरारें होती हैं। यह दरारें प्रायः संकरी और उथली होती हैं। यह ऐसे स्थान पर अधिक होती हैं जहाँ वर्फ के नीचे तली में उभार अर्थात उन्नतोदर (Convex) ढाल होता है। हिमानी में एक दूसरे प्रकार की विशाल दरार होती है जिसको हिमविदर या बर्गश्रुण्ड (Bergschrund) कहते हैं। हिमविदर हिमानी के शीर्ष में संलग्न पहाड़ी से वर्फ के खिचकर अलग हो जाने के परिणामस्वरूप होती है। हिमानी की सतह पर कठोर शैल की उपस्थित बेलनाकार छिद्र पैदा कर देती है। कठोर शैल का तापमान वर्फ की अपेक्षा अधिक होता है, अतः वह हिमानी की सतह को पिघलाता हुआ नीचे की ओर चला जाता है। इसमें धूल व हिम चूर्ण होता है, अतः इस प्रकार के छिद्र को धूल कूप (Dust-Well) कहते हैं। हिमानी की बर्फ में भिन्न-भिन्न तहें होती हैं। इन तहों को शेयरिंग प्लेन (Sharing plane) कहते हैं। हिमानी इन्हीं तहों के सहारे आगे को खिसकती है।

यदि हिमानी के मार्ग में उसकी मोटाई से अधिक कोई नुकीला या उभरा कठोर भू-भाग आ जाता है, तो वह भू-भाग हिमानी के ऊपर निकला रहता है। इस प्रकार के भू-भाग को जिसके चारों ओर वर्फ होती है, नूनाटक (Nunatak) कहते हैं। चारों ओर से घिसने के कारण नूनाटक अन्त में समाप्त हो जाते हैं। यह वर्फ के मध्य द्वीप के समान दृष्टिगोचर होते हैं।

ग्रीष्मकाल में तापमान ऊँचा होने के कारण हिमानी का पिघलना प्रारम्भ होता है जिसके कारण हिमानी के दायें-बायें या अन्तिम किनारे पर जल बहकर छोटे-छोटे खड्डों में भर जाता है जिससे झीलों का निर्माण होता है। हिमानी घाटी में जिन पात्रों में जल भर जाता है उन्हें जल गर्त या फोसे (Fosse) की संज्ञा दी गई है।

हिमानी परिच्छेदिकाएं (Profiles of a Glacier)

हिम द्वारा निरन्तर घिसाव के कारण हिमानी अपनी घाटी को अंग्रेजी के अक्षर
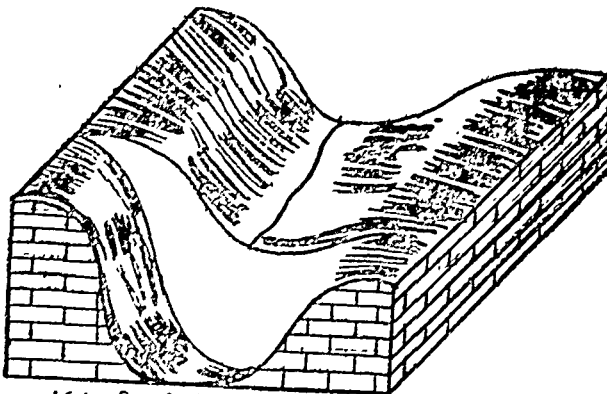
16.4 हिमानी की अनुप्रस्थ तथा दीर्घ परिच्छेदिकाएं

'यू' आकार (U-shaped) घाटी में परिणत कर लेती है। घाटी की 'अनुप्रस्थ परिच्छेदिका'

(Cross profile) में दोनों ओर के किनारे खड़े दिखाई देते हैं तथा तली समतल हो जाती है। हिमानी द्वारा अपरदन में अन्तर के परिणामस्वरूप 'दीर्घ परिच्छेदिका' (Long profile) में सीढ़ीनुमा ढाल उत्पन्न हो जाता है।

हिमानी के कार्य
(The Work of Glacier)

हिमानी का कार्यक्षेत्र उच्च पर्वतीय प्रदेशों तथा उच्च अक्षांशो में जहाँ तापमान हिमांक के लगभग होता है, सीमित रहता है। नदी की तुलना में हिमानी का कार्य मन्द गति से चलता है, किन्तु नदी की भांति इसके भी तीन प्रमुख कार्य होते हैं—1. अपरदन (Erosion), 2. परिवहन (Transportation) तथा 3. निक्षेप (Deposition)।

(1) हिमनद द्वारा अपरदन (Glacial Erosion)

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक वैज्ञानिकों को हिमानी के अपरदनात्मक कार्य के बारे में कोई ज्ञान नहीं था जिसके अनेक कारण थे। उनमें से मुख्य कारण यह है कि हिमानी का कार्यक्षेत्र उच्च पर्वतीय तथा ध्रुवों तक ही सीमित है जहां मानव बड़ी कठिनाइयों से पहुंच पाता है। सन् 1837 में एगासिज ने प्रथम बार आल्पस पर्वतों की ऊपरी और निचली घाटियों का अध्ययन किया। अध्ययन के मध्य उन्होंने देखा कि निचली घाटियों में पड़े हुए शिलाखण्डों के निशान ऊपरी घाटी के शिलाखण्डों के निशानों से मेल खाते हैं। एगासिज के इस निष्कर्ष ने हिमानियो के कार्यों के अध्ययन का द्वार खोल दिया।

हिमानी का निर्माण बर्फ, शिलाचूर्ण तथा शिलाखण्डों के मिश्रण से होता है। अतः शुद्ध हिम की अपेक्षा हिमानी में अपरदन करने की अधिक क्षमता आ जाती है। शिलाचूर्ण एवं शिलाखण्ड तथा ठोस बर्फ अपरदन के यन्त्र होते हैं जिनकी सहायता से हिमानी अपने पार्श्व की दीवारों एवं तली का अपरदन करती रहती है। घाटी की दीवारें एवं तली घिसकर चिकनी (Smooth) हो जाती है। अग्रगामी हिमानी पार्श्व की दीवारों और तली पर कई प्रकार की धारियाँ (Starins) डाल देती है। इस प्रकार अपघर्षण (Abrasion) की क्रिया सम्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त उत्पाटन (Plucking) द्वारा हिमानी विशाल शिलाखण्डों को तोड़कर अपने साथ बहा ले जाती है। इस प्रकार अपरदन की क्रिया अपघर्षण एवं उत्पाटन द्वारा सम्पन्न होती है।

हिमानी अपरदन का नियम (Law of Glacial Erosion)

बहुत समय तक विद्वानों का यह मत रहा कि हिमानी द्वारा भूमि की केवल रक्षा होती है। इस विचार को हीम (Hiem) ने 1885 में प्रतिपादित किया जो कि 'रक्षात्मक विचार (Protectionist View) के नाम से जाना जाता है। किन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि हिमानी द्वारा अपरदन होता है। इस विचार के मुख्य प्रवर्तक हेस, (Hess 1919) महोदय हैं। बालू और शिलाखण्डों से मिश्रित हिमानी घाटी की घिसाई उसी प्रकार करती है जैसे रेगमाल (Sand paper) से लकड़ी को घिसा जाता है। इस मत को 'अपरदनात्मक विचार' (Erosionist View) कहा गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गतिहीन हिमचादर (Ice sheet) भूमि की रक्षा करती है, किन्तु हिमानी में गति का संचार होते ही अपरदन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

हिमानी घाटी की तली असमान होती है अतः अपरदन की क्रिया भी स्थान-स्थान पर असमान होती है। असमान तली वाले भाग में समान तली वाले भाग की अपेक्षा अधिक अपरदन होता है। हिमानी उत्तरोत्तर ढाल (Convex slope) के दोनों ओर अधिक अपरदन करती है जबकि नतोदर ढाल (Concave slope) पर न्यूनतम अपरदन होता है। तीव्र ढाल वाले स्थानों पर तनाव के कारण हिमानी में दरार पड़ जाती है। इस तथ्य के आधार पर दी मार्तोनी (De Martoune) महोदय ने एक नियम निर्धारित किया जिसको 'हिमानीय अपरदन का नियम' (Law of Glacial Erosion) कहा गया है जो कि इस प्रकार है—"यदि हिमानी की तली का ढाल समान नहीं है, जो कि एक तथ्य है, तो दरार क्षेत्र के दोनों ओर, ऊपर और नीचे सर्वाधिक अपरदन होता है।"
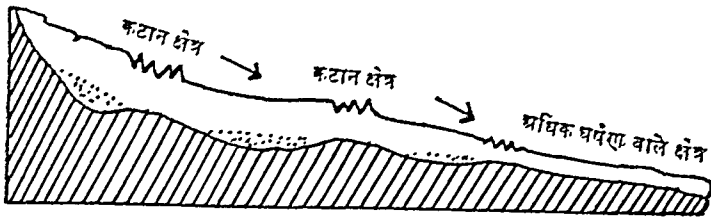
16.5 डी. मार्टोनी द्वारा हिमघर्षण सिद्धान्त

अग्रमुख (Snout) की ओर हिमानी द्वारा घर्षण कम होता जाता है तथा स्नाउट पर समाप्त हो जाता है। हिमानी क्षेत्र में केवल हिमानी द्वारा ही घर्षण नहीं होता अपितु हिमानी के पिघले हुए जल द्वारा भी अपरदन होता है। जीन्स ब्रून्स (Jeans Brunes) महोदय ने हिमानी के जल से अपरदनात्मक कार्य का विस्तृत वर्णन किया है।

हिमानी का कार्य तथा सम्बन्धित स्थलाकृतियां
(Work of Glacier and its associated Landforms)

हिमानी का अपरदनात्मक कार्य (Erosional Work of Glacier)

पर्वतीय प्रदेशों में जब हिमानी आगे बढ़ती है तो अपने विशाल आकार, बोझ अथवा दबाव के कारण घाटी को काटती और खुरचती हुई खिसकती रहती है जिसके परिणाम-स्वरूप विभिन्न प्रकार की भू-आकृतियों का निर्माण होता है जो कि निम्न प्रकार हैं—

(1) यू आकार की घाटी (U-Shaped Valley)

हिमानी सदा पूर्व निर्मित घाटी में ही बहती है। ठोस होने के कारण यह अंग्रेजी के अक्षर 'V' आकार की घाटी को ही काटकर अपने अनुरूप बना लेती है। घाटी का मुंह चौड़ा और किनारे लगभग लम्बवत होते हैं। इस प्रकार घाटी का रूप अंग्रेजी के अक्षर U के आकार के समान हो जाता है। घाटी का विकास, शैलों की आकृति, उनके गुण और हिमानी की विकास अवस्था पर निर्भर करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की योसेमाइट घाटी (Yosemite Valley) 'U' आकार की घाटी का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। टिण्डल (Tyndall) महोदय के अनुसार U-आकार की घाटी का निर्माण पूर्णरूप से हिमानी द्वारा ही होता है जिसमें जल का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं। किन्तु अन्य विद्वान इस मत से सहमत नहीं। उनके अनुसार 'U' आकार की घाटियां पहले नदियों अथवा जल द्वारा निर्मित होती हैं जो कि हिमानी द्वारा 'U' आकार में विकसित करदी जाती है।

(2) **निलम्बी घाटी**

मुख्य घाटी में प्रवाहित होने वाली हिमानियों की अपरदन शक्ति सहायक हिमानियों की अपेक्षा अधिक होती है। अतः हिमानी मुख्य घाटी की तली को काट-छांट कर अधिक चौड़ा और गहरा कर लेती है। तापमान के बढ़ जाने के कारण जब हिमानियाँ पिघल जाती हैं तो सहायक घाटी की तली अर्थात् दोनों घाटियों के संगम स्थल मुख्य घाटी की तली से कुछ ऊँचे रह जाते हैं। जब नदियां बहती होंगीं तो सहायक नदी मुख्य नदी में जल प्रपात (Waterfall) के रूप में गिरती होगी। इस प्रकार की सहायक घाटियों को निलम्बी या लटकती घाटी (Hanging Valley) की संज्ञा दी गई है क्योंकि मुख्य घाटी में खड़े होकर देखा जाय तो ऊपर की ओर सहायक घाटी लटकती सी प्रतीत होती है। उत्तरी वेल्स में निलम्बी घाटियों का एक क्रम सा बना हुआ है। केलीफोर्निया की योसेमाइट (Yosemite) घाटी तथा सिक्किम हिमालय की तिस्ता नदी की घाटी जो कि राथोंग चू (Rathong Chu) नदी की घाटी की पुरानी सहायक नदी से 600 मीटर ऊँची है निलम्बी घाटियों के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।
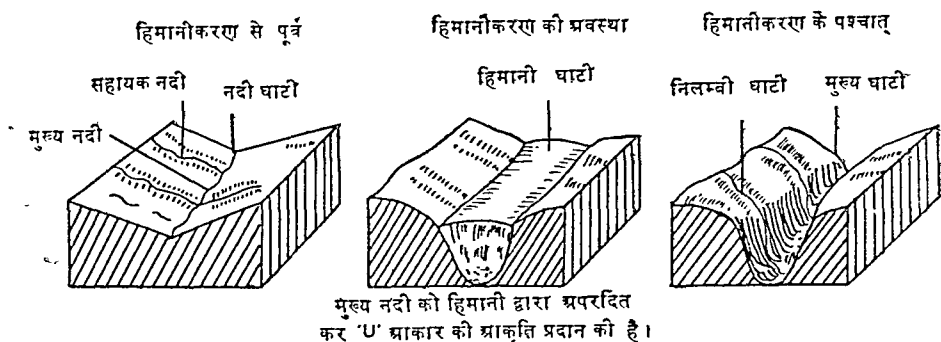
16.6 हिमानी द्वारा 'U' आकार की मुख्य एवं निलम्बी घाटियों के निर्माण की अवस्थाएं

(3) **हिमागार या हिमज गह्वर (Cirque)**

हिमानी के उद्गम स्थान पर निर्मित आराम कुर्सी की भांति विशाल अर्द्धगोलाकार गर्त हिमागार कहलाता है। यह गर्त तीन ओर खड़े ढालों के कगारों से घिरा रहता है तथा एक ओर खुला रहता है जिसमें से होकर हिमानी आगे अग्रसित होती हैं। इन गर्तों को भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। फ्रान्स में 'सर्क' (Cirque), स्काटलैण्ड में 'कोरी' (Corrie), वेल्स में 'काम' (Cwm), जर्मनी में 'कार' (Kar) तथा स्केण्डिनेविया में बोटनाइड केडेल (Botnaid Kjedel) कहते हैं। हिमागार में से हिमानी उसी प्रकार निकलती है जिस प्रकार नदी झील में से निकलती है।

सर्क की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। जॉनसन (D. W. Johnson 1904) महोदय ने सर्क के निर्माण के लिए 'बर्गश्रुण्ड सिद्धान्त' (Bergschrund Theory) का प्रतिपादन किया जो कि आगे चलकर लेविस (W. V. Lewis, 1938–40) ने उनके विचारों में संशोधन किया। लेविस के अनुसार बर्गश्रुण्ड के अतिरिक्त भी अधिक ऊंचाई पर हिमागार पाये जाते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि इनकी उत्पत्ति बर्गश्रुण्ड के अलावा दूसरे कारणों से भी होती है। लेविस के अनुसार पर्वतीय ढालों पर गिरी हुई हिम ग्रीष्म

काल में पिघल जाती है तथा जल शनैः-शनैः रिस कर संधों और दरारों में भर जाता है। यही जल शीत काल में जम जाता है जिसके कारण आयतन में वृद्धि हो जाती है। अतः दरारें चौड़ी हो जाती हैं तथा शैलों पर दबाव पड़ने से वह टूट जाती हैं। यह क्रिया निरंतर दीर्घकाल तक चलती रहती है जिसके परिणामस्वरूप प्रारम्भ का छोटा सा गर्त विशाल

16.7 बर्ग श्रुण्ड, सर्क एव हिमविदर

हिमागार का रूप ले लेता है। अतः हिमागार के निर्माण में तापमान के बार-बार ऊँचा और नीचा होने तथा जल के बार-बार बर्फ में परिणत होने की अपरदनात्मक क्रिया का महत्वपूर्ण योगदान है। जब हिमागार की बर्फ पिघल जाती है तो उसमें जल भरा रह जाता है जिसे टार्न कहते हैं।

(4) गिरिश्रृंग (Horn)

समान ऊँचाई वाले दो या अधिक हिमागारों के पृष्ठभाग में निरन्तर कटाव होने के कारण उनके मध्य अन्त में नुकीली व संकीर्ण श्रेणी का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार की चोटी की आकृति सींग के समान होने के कारण इसे *गिरिश्रृंग या हार्न के नाम से सम्बोधित* करते हैं। स्विटजरलैण्ड के आल्प्स पर्वत श्रेणी में इस प्रकार के अनेक हार्न पाए जाते हैं जिनमें से 'मैटर हार्न' (Matter Horn) सुप्रसिद्ध है।
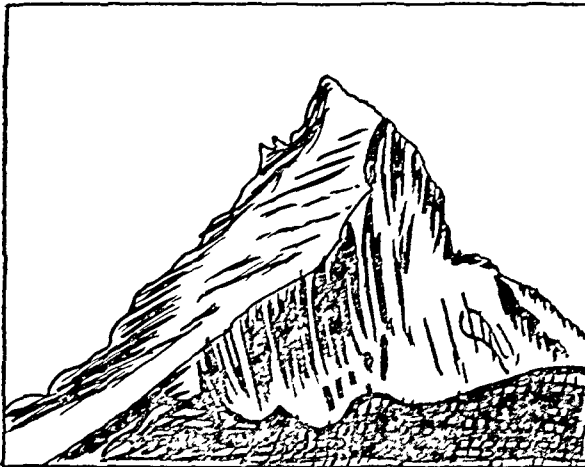
16.8 गिरी श्रृंग (मेटर हार्न)

(5) कोल (Col)

हिमागार में निरन्तर अपरदन होने के फलस्वरूप श्रृंग समाप्त हो जाता है तथा पर्वत के आर-पार मार्ग खुल जाता है जिसे 'कोल' कहते हैं। कोल को पहाड़ी दर्रा भी कहते हैं। रॉकीज पर्वत श्रेणी में कनेडियन पैसफिक रेल मार्ग में अनेक कोल मिलते हैं।

(6) तीक्ष्ण कटक (Arete)

जब किसी पहाड़ी के पार्श्वों पर हिमागार विकसित होने लगते हैं तो उनके मध्य की दीवार का ऊपरी भाग अत्यन्त नुकीला होने लगता है। इसकी आकृति कंघी या आरे (Saw) के दाँतों के समान हो जाती है इसलिए इसको 'कंकती कटक' (Combridge) कहते हैं। जब इसकी धार और तेज हो जाती है तो इस प्रकार की आकृति को 'तीक्ष्ण कटक' अथवा तेज धार वाली कटक (Sharp edged ridge) अरेत या एरेटी कहते हैं। हिमालय, आल्प्स, रॉकीज तथा एण्डीज पर्वत श्रृंखलाओं में अनेकों तीक्ष्ण कटक दृष्टिगोचर होते हैं।
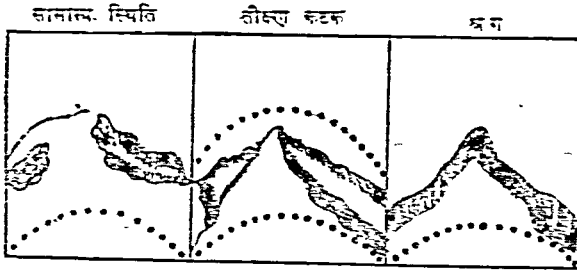
16.9 कंकती तथा तीक्ष्ण कटक एवं शृंग
(गिरी शृंग उत्पन्न होने की अवस्था)

(7) हिमानी पात्र (Glacial Trough)

गतिशील हिमानी की कोमल तली में फंसे विशाल तथा कठोर शैल उसको स्थानीय रूप से अपरदित कर देते हैं जिसके कारण हिमानी पात्रों का निर्माण होता है। हिमानी के पिघल जाने पर 'हिमानी पात्र' हिमागार के निचले भागों में देखे जाते हैं। निरन्तर अपरदन के कारण हिमानी पात्र हिमानी सोपान (Glacial steps) में परिवर्तित हो जाते हैं। जब बर्फ पिघल जाती है तो इनमें पानी भर जाता है। इस प्रकार की झीलों को 'पेटर नास्टर' (Peternoster lakes) कहते हैं।

(8) विशाल हिम सोपान (Giant Glacial Staircase)

गतिशील हिमानी मार्ग में स्थित कोमल शैलों को कठोर शैलों की अपेक्षा शीघ्र काटती जाती है। कालान्तर में विशाल सीढ़ियों की रचना हो जाती है। इस प्रकार की आकृति को 'दैत्याकार सोपान' (Giant staircase) या 'विशाल हिम सोपान' कहते हैं।
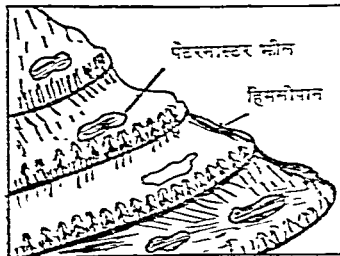
16.10 हिमसोपान व पेटरनास्टर झील

एक सीढ़ी दूसरी से कई सौ मीटर ऊँची होती है। प्रत्येक सीढ़ी पर प्रायः कई किलोमीटर लम्बे हिमानी पात्र पाये जाते हैं जोकि इस प्रकार की सीढ़ियों के निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

(9) मेषशिला या रॉश मूटोने (Sheep rock or Roche Mountonee)

साधारणतः हिमानी अपने मार्ग में पड़ने वाले अवरोधों को काटती तथा हटाती हुई चलती है किन्तु जहां कोई ऊँचा और कठोर शिलाखण्ड मार्ग में आ जाता है तो हिमानी उसको क्रमागत रेगमाल की भाँति घिसने लगती है। सम्मुख वाले ढाल पर चढ़ते समय हिमानी अत्यधिक घर्षण होने के कारण उसको चिकना और गोल आकार प्रदान करती है। इसके विपरीत दूसरी ओर उतरते समय हिमानी का भू-पृष्ठ से कम घर्षण होता है। अतः इस ओर
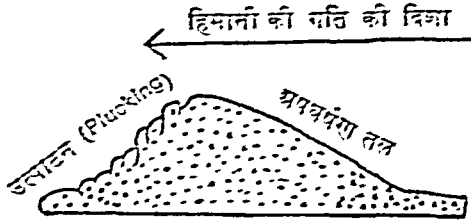
16.11 भेड़ पीठ शैल

तीव्र ढाल होता है। दूर से देखने पर यह शिलाएँ भेड़ की पीठ के आकार की दृष्टिगोचर होती हैं। इस प्रकार की शिलाओं को 'रॉश मूटोने' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। फ्रेंच भाषा में रॉश मूटोने का अर्थ भेड़ के आकार की शैल से होता है। आल्प्स पर्वत में डोलोमाइट की शैलों के घिस जाने से रॉश मूटोने का विकास हुआ है। केनेडियन शील्ड तथा फिनलैण्ड के पर्वती प्रदेशों में अनेकों मेष शिलाएँ देखने को मिलती हैं।

(10) शृंग एवं पुच्छ (Crag and Tail)

जिस दिशा से हिमानी आती है उस ओर घाटी में स्थित बेसाल्ट या ज्वालामुखी प्लग (Volcanic Plug) के ऊपर जमे कोमल शैलों को हिमानी अपरदित कर देती है तथा इस
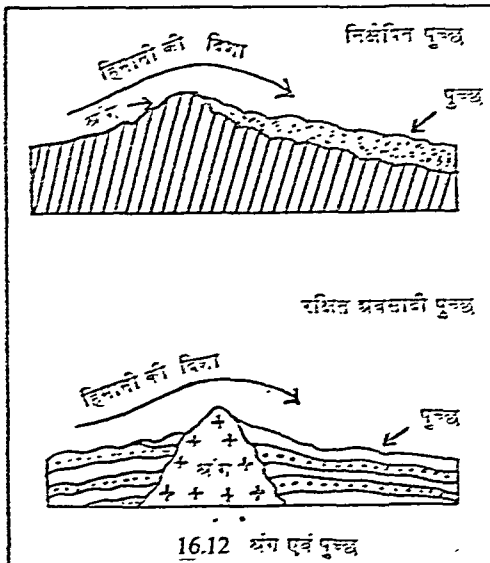
16.12 शृंग एवं पुच्छ

शिलाचूर्ण को विमुख ढाल की ओर निक्षेपित कर देती है। इस प्रकार हिमानी के सामने वाला ढाल तीव्र हो जाता है किन्तु विपरीत दिशा में लम्बी पूँछ के रूप में असंगठित शिला

चूर्ण निक्षेपित हो जाता है। इस प्रकार हिमानी के अभिमुख (Front) वाले ढाल की ओर बना भू आकार शृंग तथा दूसरी ओर पुच्छ (Crag and Tail Topography) कहलाता है।

(11) फियोर्ड (Fiord)

लम्बी, संकरी एवं खड़े ढाल वाली खाड़ियाँ जोकि भीतरी भाग में कई शाखाओं में बँट जाती हैं, फियोर्ड कहलाती हैं। फियोर्ड की आकृति 'U' आकार की घाटी के समान होती है। ये पर्वतीय तटों पर 50° से 70° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के मध्य शीतोष्ण कटिबन्धों में पाए जाते हैं जिससे विदित होता है कि इनका निर्माण हिमानी की अपरदन
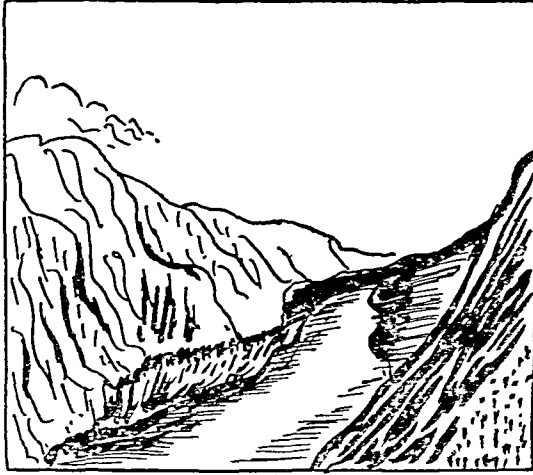
16.13 फियोर्ड (Milford Sound, Neuzealand)

क्रिया द्वारा सम्पन्न हुआ है। विद्वानों का सामान्य मत है कि हिमानियों द्वारा कटे-फटे क्षेत्र का आंशिक रूप से जलमग्न भाग फियोर्ड कहलाता है। किन्तु फियोर्ड के निर्माण के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं।

फियोर्ड निर्माण के बारे में (1) अवतलन तथा (2) अपरदन पर आधारित दो मत प्रचलित हैं :

(1) अवतलन (Submergence)—इस मत के अनुसार फियोर्ड तट का निर्माण हिमानी घाटी के अवतलन के फलस्वरूप हुआ है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'U' आकार की घाटियों का निर्माण हिमानी द्वारा पूर्व में सागर-तल के ऊपर हुआ। तदन्तर ये घाटियाँ अवतलन के कारण जलमग्न हो गईं जिसके परिणामस्वरूप फियोर्ड तटों का निर्माण हुआ। किन्तु कुछ फियोर्ड की गहराई 1200 मीटर से भी अधिक पाई गई है। अतः यह मत संदिग्ध सा प्रतीत होता है कि अवतलन इतनी गहराई तक हुआ होगा।

(2) अपरदन—अधिकांश विद्वान हिमानी घाठियों के सागर तल के नीचे अपरदन के कारण फियोर्ड तटो के निर्माण में विश्वास रखते हैं। हिम युग में ज्यों-ज्यों सागर तल नीचा होता गया त्यो-त्यों हिमानी अपनी घाटियों को गहरा करती गई। फियोर्ड के मुहाने की गहराई उसके आन्तरिक भाग की गहराई की अपेक्षा कम होती है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि हिम युग में सागर-तल नीचे होने के कारण हिमानी का अग्रमुख

पिघल गया किन्तु हिमानी के उद्‌गम के. समीप हिम की मोटाई और गति में तीव्रता आने के कारण अपरदन अपेक्षाकृत अधिक तेजी से हुआ। परिणामस्वरूप घाटी का पिछला भाग अधिक गहरा हो गया। हिमयुग की समाप्ति पर सागर-तल ऊँचा होने के कारण जब घाटी जल-मग्न हो गई उस समय भी वृहत हिम शिलाओं के किनारे से बार-बार टकराने के कारण भी अपरदन अनवरत रूप से चलता रहा और घाटी और भी गहरी होती गई। इस प्रकार फियोर्ड में गहरा जल मिलता है तथा सहायक लटकती हुई घाटियों के रूप में अनेक शाखाएँ मिलती हैं।

उपरोक्त दोनों मतों के अतिरिक्त भी एक यह भी अल्प मत है कि फियोर्ड की उत्पत्ति विवर्तनिक क्रिया के कारण दरारी घाटियों में हुई। किन्तु इस मत को मान्यता प्राप्त नहीं है।

संसार में फियोर्ड मुख्य रूप से उत्तरी गोलार्द्ध में नार्वे, स्वीडन, अलास्का, ग्रीनलैण्ड, ब्रिटिश कोलम्बिया, लेब्राडोर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में चिली तथा न्यूजीलैण्ड में मिलते हैं।

हिमानी की परिवहन क्रिया (Transportational Work of Glacier)

अपरदन के अन्य कारकों की भाँति हिमानी अपरदित पदार्थ को विभिन्न प्रकार से एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाती है किन्तु मन्द गति के कारण यह कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता। हिमानी अपने साथ कंकड़-पत्थर, शिलाचूर्ण आदि लेकर आगे बढ़ती है। हिमानी की परिवहन शक्ति का प्रमाण हमें इन शिलाखण्डों से मिलता है जो अपने मूल स्थान से सैकड़ों किलोमीटर दूर विजातीय शिलाखण्डों के रूप में पड़े मिलते हैं। नदी की अपेक्षा हिमानी में अधिक भार के शिलाखण्डों को ले जाने की शक्ति होती है। नदी में पदार्थ घोल के रूप में या लटककर चलता है जबकि हिमानी अपने ऊपर या बर्फ में समाविष्ट पदार्थ को लेकर आगे बढ़ती है।

हिमानी के नीचे जलधाराएँ बहती हैं जिनके साथ भी मिट्टी, बालू, छोटे-छोटे कंकड़-पत्थर आदि बहते रहते हैं। ये सभी पदार्थ हिमानी की तली को खरोंचते रहते हैं। हिमानी द्वारा बहाए हुए समस्त पदार्थ को गोलाश्म (Till) कहते हैं। गोलाश्म, स्तरहीन, आकारहीन तथा असंगठित मिश्रित पदार्थ होता है जिसमें मिट्टी के सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल शिलाखण्ड तक मिले रहते हैं। गोलाश्म हिमनदोढ़ (Glacial Drift) तथा उससे बने हिमोढ़ (oraine) का संगठित रूप होता है। हिमानी द्वारा परिवहन के लिए विभिन्न प्रकार के पदार्थ पहाड़ी ढालों, हिम-प्रपातों, घाटी के किनारों तथा तल और वायु द्वारा प्राप्त होते हैं।

हिमानी द्वारा निक्षेपात्मक कार्य
(Depositional Work of Glacier)

हिमानी द्वारा परिवाहित पदार्थ जैसे मृतिका, बालू, बजरी, कंकड़, पत्थर, शिलाखण्ड, शिलाचूर्ण आदि हिमानी के विभिन्न भागों में निक्षेपित हो जाते हैं। निक्षेपित पदार्थों में हिमाढ़, 'हिमनदोढ गिरि या ड्रमलिन' (Drumlin), 'विस्थापित शिलाखण्ड' (Eroratic

Blocks), 'गोलाश्म मृत्तिका' (Boulder Clay), 'मृदकटक' (Esker), 'ककत गिरि या केम' (Kame) आदि उल्लेखनीय हैं।
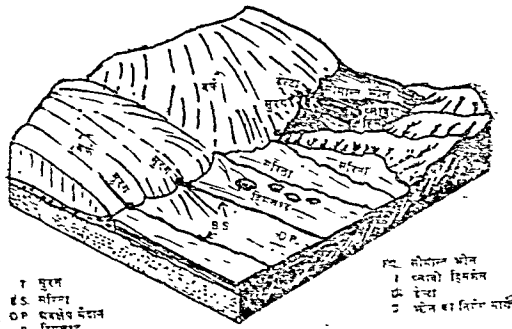
16 चि (क) हिमानी द्वारा निक्षेपजनित भूआकार (स्थिर हिमानी के समय) (स्ट्रेलर के अनुसार)
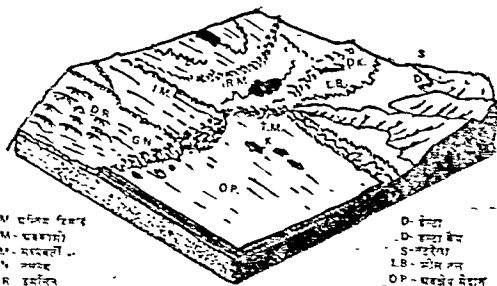
16.14 हिमानी द्वारा निक्षेपजनित भूआकार (हिमानी के पश्चात्) (स्ट्रेलर के अनुसार)

1. हिमोढ़

हिमानी द्वारा निक्षेपित पदार्थों से निर्मित भू-आकारों में सबसे महत्वपूर्ण आकृति हिमोढ़ की है। हिमानी द्वारा निक्षेपित पदार्थ को हिमोढ़ कहते हैं। हिमानी जब पिघलने लगती है तो उसकी परिवाहन शक्ति समाप्त हो जाती है। परिणामस्वरूप परिवाहित पदार्थ कुछ तो उसके पार्श्ववर्ती भागों में, कुछ तली पर तथा शेष अग्रमुख के स्थान पर निक्षेपित हो जाता है। वास्तव में हिमोढ़ गोलाश्म के निक्षेप से बने भू-आकार होते हैं। किन्तु गोलाश्म के विपरीत हिमोढ़ों में पदार्थ बिखराव व असंगठित न होकर व्यवस्थित रूप से लम्बे-लम्बे कटकों की आकृति में निक्षेपित होता है। इनकी लम्बाई कई किलोमीटर और ऊँचाई लगभग 30 मीटर या उससे भी अधिक होती है। हिम की मात्रा में वृद्धि और कमी के साथ-साथ हिमानियाँ क्रमशः आगे बढ़ने और पीछे हटने लगती हैं, जिसके फलस्वरूप एक से अधिक हिमोढ़ों का निर्माण होता है। निक्षेपित स्थान अथवा स्थिति के आधार पर हिमोढ़ों को चार भागों में विभक्त किया गया है—(क) पार्श्ववर्ती, (ख) मध्यवर्ती, (ग) तलस्थ तथा (घ) अन्तिम हिमोढ़।

(क) पार्श्ववर्ती हिमोढ़ (Lateral moraines)

पिघलती हुई हिमानी घाटी में अपने पार्श्वों पर पदार्थ छोड़ती जाती है। इसी लम्बाकार निक्षेपित पदार्थ की कटक को पार्श्ववर्ती हिमोढ़ कहते हैं। यह घाटी के समानान्तर

लम्बाकार रूप में खड़ी दिखाई देती है। घाटी की ओर इसका ढाल एक समान तथा चिकना होता है। कहीं-कहीं दो या तीन हिमोढ़ की कटक समानान्तर रूप से भी खड़ी दिखाई देती हैं। दूसरी हिमोढ़ों की तुलना में पार्श्ववर्ती हिमोढ़ की ऊँचाई अधिक होती है। अलास्का में इनकी ऊँचाई 335 मीटर तक पाई जाती है।

(ख) मध्यवर्ती हिमोढ़ (Medial moraines)

जहाँ दो हिमानियाँ मिलती हैं वहाँ उनके पार्श्व भी परस्पर मिल जाते हैं। इस प्रकार संगम स्थल पर दोनों हिमानियों के भीतरी किनारों के पार्श्वीय हिमोढ़ मिलकर एक हो जाते हैं। दोनों हिमोढ़ों के मध्य में निक्षेपित पदार्थ को मध्यवर्ती हिमोढ़ कहते हैं। प्रायः मध्यवर्ती हिमोढ़ों की पहचान कठिन होती है। किन्तु जहाँ इनका पूर्ण विकास हो जाता है, वहाँ यह घाटी के मध्य में संकीर्ण कटक के रूप में हिमनी की प्रवाह दिशा में लम्बाकार रूप में फैली होती हैं।

(ग) तलस्थ हिमोढ़ (Ground moraines)

हिमानी की तली में बिखरे हुए शिलाखण्ड हिमानी की गति और भार के कारण शिलाचूर्ण में परिवर्तित हो जाते हैं। यह बारीक पदार्थ घाटी की तली की विदरों एवं छिद्रों में जम जाता है। इसके अतिरिक्त जब हिमानी का कोई भाग पिघलने लगता है तो हिमानी अतिरिक्त भार छोड़ती जाती है। हिमानी के पूर्ण रूप से पिघलने पर तली का निक्षेप ढेर के रूप में दिखाई देने लगता है। तलस्थ हिमोढ़ में बारीक रेत से लेकर बड़े-बड़े शिलाखण्ड तक मिले रहते हैं। यह पदार्थ कटक के रूप में न रहकर अपोढ़ की हल्की चादर के रूप में तली को ढक लेता है। इसकी सतह समान तथा ढाल सामान्य होता है। तलस्थ हिमोढ़ लगातार न फैली होकर छोटे-छोटे टीलों के रूप में पाई जाती है। यह टीले अनेक गर्तों द्वारा पृथक-पृथक होते हैं। इस प्रकार की स्थलाकृति को **'नाब तथा बेसिन'** (Knob and Basin Topography) कहते हैं। तलस्थ हिमोढ़ों में असंख्य छोटी-छोटी झीलें पाई जाती हैं। पार्श्ववर्ती हिमोढ़ की तुलना में तलस्थ हिमोढ़ नीची होती है।

(घ) अन्तिम हिमोढ़ (Terminal moraines)

हिमानी अपने अन्तिम छोर पर पिघलकर जल के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अतः उसकी परिवहन शक्ति पूर्णरूप से समाप्त हो जाती है। ऐसी दशा में हिमानी द्वारा ढोया हुआ पदार्थ अन्तिम स्थान पर छूट कर निक्षेपित हो जाता है। हिमानी के अन्तिम छोर पर निक्षेपित इस प्रकार के अपोढ़ की मोटी राशि को अन्तिम हिमोढ़ कहते है। यह हिमोढ़ श्रेणियों के रूप में मिलती है जिनकी लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई भिन्न-भिन्न होती हैं। इनका ऊपरी भाग असमान और ऊबड़-खाबड़ होता है। इसके तल पर असंख्य छोटे-छोटे गर्त, पहाड़ियाँ तथा कटक होते हैं। इनकी ऊँचाई लगभग 30 मीटर होती है। उत्तरी जर्मनी में इस प्रकार की अनेक अन्तिम हिमोढ़ पाई जाती हैं। कभी-कभी हिमानी अन्तिम हिमोढ़ को निक्षेपित कर विभिन्न अवस्थाओं में पीछे हटती हैं। ऐसा दशा में अनेक समानान्तर हिमोढ़ बन जाती हैं, जिन्हें पश्चगामी हिमोढ़ (Recessional moraines) कहते हैं। पश्चगामी हिमोढ़ की आकृति नवचन्द्र के समान होती है। जहाँ इन हिमोढ़ों के मध्य केटली नुमा गर्त मिलते हैं उन्हें **केटली हिमोढ़** (Kettle moraines) कहते हैं। हिमोढ़ों के मध्य

ओखलीनुमा गर्तों में पानी भर जाता है और कहीं टीले दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार के भू-आकार को 'टीले एवं गर्त स्थलाकृति' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

16.15 हिमोढ़

16.16 ड्रमलिन या हिमान दोढ गिरि
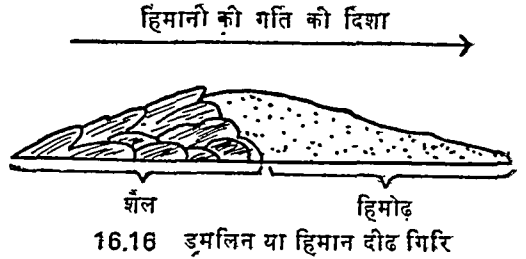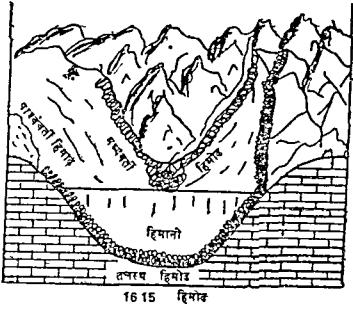
2. हिमनदोढ़ गिरि या ड्रमलिन (Drumlins)

हिमनदोढ़ गिरि तलस्थ हिमोढ़ का ही एक विशिष्ट भू-आकार है। इनका निर्माण अन्तिम हिमोढ़ तथा झीलों के मध्य हिमानी द्वारा परिवाहित गोलाश्म मृतिका से होता है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर रेत और कंकड़ों के अण्डाकार टीलो के निक्षेप को ही हिमनदोढ़ गिरि की संज्ञा दी गई है। यह हिमानी की समानान्तर दिशा में लम्बाकार रूप से फैले होते हैं। साधारणत: इनकी ऊँचाई 6 से 37 मीटर तथा लम्बाई $\frac{3}{4}$ से $2\frac{1}{2}$ किलोमीटर के मध्य पाई जाती है। इन टीलों का ढाल हिमानी के सम्मुख वाले भाग में तीव्र एवं असमान तथा विपरीत दिशा मे साधारण एवं चिकना होता है। बीच में ऊँचे तथा दोनों ओर ढाल होने के कारण यह पास से देखने में उल्टी नौकाओं की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु दूर से देखने में हिमनदोढ़ गिरि प्रदेश टोकरी में रखे अण्डों की भाँति प्रतीत होते हैं। अतः इस प्रकार की भू-आकृति को **'अण्डों की टोकरी की स्थलाकृति'** (Basket of Eggs Topography) की संज्ञा दी गई है। हिमनदोढ़ गिरि संयुक्त राज्य अमेरिका, स्काटलैण्ड की मध्यवर्ती घाटी, उत्तरी आयरलैण्ड, मध्य आल्प्स आदि में अधिक मात्रा में पाए जाते हैं।

16.17 अण्डो की टोकरी की एयालाकृति

हिमनदोढ़गिरि की रचना के सम्बन्ध में दो विचारधाराएं प्रचलित हैं। एक के अनुसार पीछे हटती हुई हिमानी के पुनः आगे बढ़ने के कारण इनका निर्माण होता है। दोबारा आगे बढ़ती हुई हिमानी पश्चगामी हिमोढ़ को घिसकर उल्टी नौकाओं का रूप प्रदान कर देती है। दूसरी धारणा के अनुसार जब प्रथम बार हिमानी आगे बढ़ती है तो अपनी तली में स्थान-स्थान पर अपोढ़ एकत्रित करती जाती है। किन्तु जब पीछे हटती है तो उसी एकत्रित टीलेनुमा ढेर को घिसकर हिमनदोढ़ों की आकृति में परिवर्तित कर देती है।

3. विजातीय शिलाखण्ड

हिमानी अपने साथ ग्रेनाइट के विशाल शिलाखण्ड घसीट कर ले आती है। जहाँ हिमानी पिघलने लगती है वहाँ इनको ऐसे स्थान पर छोड़ देती है जहाँ की मूल शैलों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार के विभिन्न आकार के शिलाखण्ड विजातीय शिलाखण्ड कहलाते हैं। हिमानी की रगड़ से ये शिलाखण्ड चिकने एवं सपाट हो जाते हैं। इनकी चिकनी सतह पर खरोंच की समानान्तर धारियां पड़ जाती हैं जिनके आधार पर हिमानी की गति की दिशा का बोध होता है।
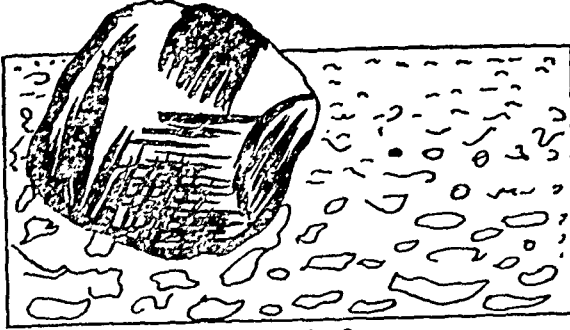
16.18 विजातीय शिला खण्ड

4. बोल्डर मृत्तिका

"हिमानीकृत निक्षेप का मुख्य पदार्थ बोल्डर मृत्तिका (जिसे कभी-कभी टिल भी कहते हैं) होती है। यह शब्द, मृत्तिका तथा बालू प्रधान परतहीन ढेर के आधार-द्रव्य के लिए जिसमें सभी आकार एवं प्रकार के पत्थर मिले रहते हैं, प्रयोग में लाया जाता है।" हिमानी द्वारा परिवाहित मृत्तिका एवं शिलाचूर्ण के साथ बड़े-बड़े शिलाखण्ड भी मिले रहते हैं। इन शिलाखण्डो को हिमानी अपनी अपरदन क्रिया द्वारा गोल कर देती है। इस प्रकार के मृत्तिका, बालू और विभिन्न आकार-प्रकार के अस्तरित मिश्रित हिमोढ़-निक्षेप को बोल्डर मृत्तिका की संज्ञा दी गई है।

5. हिमानी-जलोढ़ निक्षेप (Fluvioglacial Deposits)

हिमानी के निचले भाग में ऊपर का दाब पड़ने तथा भूमि के सम्पर्क में आने से तापमान बढ़ जाता है। हिमानी के नीचे बर्फ पिघलकर अनेक छोटी-छोटी जलधाराओं को जन्म देता है। यह जलधाराएँ गर्मी की ऋतु में तीव्रगामी हो जाती हैं तथा हिमानी के अग्रमुख (Snout) से बहकर मैदानी भाग में पहुंचती हैं। यह जलधाराएँ हिमानी के नीचे एकत्रित अपोढ़ का अपरदन कर के पदार्थों को आगे बहा ले जाती हैं। जहां इनका वेग कम हो जाता है वहां यह छोटे-छोटे कंकड़ तथा पत्थरों को निक्षेपित कर देती हैं। किन्तु बारीक पदार्थ जैसे बालू बजरी आदि को और भी आगे ले जाती हैं। यह छोटी-छोटी सरिताएं अन्तिम हिमोढ़ को काटती हुई अपरदित हल्के पदार्थ को अपने साथ ले जाकर आगे मैदान में निक्षेपित कर देती हैं जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की भू-आकृतियों का निर्माण होता है।

6. हिमानी अवक्षेप मैदान (Glacial Outwash Plain)

अन्तिम हिमोढ़ अथवा हिमचादरों के बाह्य किनारों से आये हिम-जल द्वारा निर्मित

मैदान को अपक्षेप मैदान (Outwash Plain) कहते हैं। हिमानी के पिघलने के फलस्वरूप हिम-जल अन्तिम हिमोढ़ को काटकर क्रमानुसार भारी तथा हल्के पदार्थों को घाटी से आगे चादरवत् फैला देता है। हिमोढ़ के समीप तथा तीव्र ढाल वाले भागों में तीव्रगामी जल बड़े शिलाखण्डों को बहा ले जाता है जोकि कुछ आगे जाकर जम जाते हैं, किन्तु बारीक पदार्थ ढाल के निचले भाग तक पहुँच कर एकत्रित हो जाता है। इस प्रकार पंखामुखा मैदान बन जाता है जिसे अवक्षेप मैदान की संज्ञा दी गई है। जल सूखने पर यह मैदान बन जाता है। कनाडा का प्रेयरी प्रदेश अवक्षेप मैदान का सुन्दर उदाहरण है।

कभी-कभी पूर्व निर्मित हिमानी घाटी में हिम जल द्वारा विशेष भराव हो जाने से एक लम्बाकार भू-आकृति की रचना हो जाती है जिसे वेलीट्रेन (Valley Train) कहते हैं।

1619 हिमानी अवक्षेप मैदान
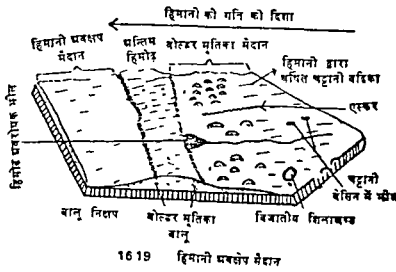
7. मृदकटक या एस्कर (Esker)

हिमानियों के अन्दर से पिघलने के कारण प्राकृतिक सुरंग बन जाती है जिसमें ऊपरी भाग का पिघला जल बहता रहता है। हिमानी की इसी लम्बी एवं खोखली सुरंग में बहने वाली जलधाराओं द्वारा मृदकटक की रचना होती है। सुरंग में जलधाराएँ अपने साथ कंकड़ पत्थर, शिलाखण्ड, बालू, बजरी आदि बहाकर ले जाती हैं। पर्वतीय भागों में हिमानी का प्रवाह घुमावदार रहता है। इसके अतिरिक्त भी जलधाराओं का वेग कम होने के कारण वह बड़े अवरोधों से बचकर सर्पाकार मार्ग बनाती हुई चलती हैं। अतः इन जलधाराओं द्वारा निक्षेपित पदार्थ भी सर्पाकार अर्थात् लम्बा तथा घुमावदार होता है। इस प्रकार "हिमानी की प्रवाह दिशा में बनी एक लम्बी, लहारदार, संकीर्ण एवं चिकने तल वाली श्रेणी ही मृदकटक कहलाती है।" यह 40 से 50 मीटर ऊँची तथा 8 से 32 किलोमीटर लम्बी होती है जिसका ऊपरी भाग इतना संकीर्ण होता है कि इस पर पगडण्डी भी नहीं बन सकती। एस्कर का निर्माण लम्बाई में निरन्तर न होकर पृथक-पृथक होता है। यह फिनलैण्ड तथा स्वीडन में अधिकांश मात्रा मे पाई जाती हैं।

8. मृदकटक पंखा या डेल्टा (Esker Delta)

हिमानी द्वारा निर्मित नदी जोकि हिमानी के खोखले भाग में बहती हुई अपने साथ अधिकांश मात्रा में बालू और मिट्टी बहा लाती है, हिमानी के अग्रमुख अथवा सुरंग के द्वार पर निक्षेपित कर देती है। कुछ समय के लिए नदी में अवरोध हो जाता है किन्तु सुरंग में से जल का निरन्तर प्रवाह बना रहता है। अतः नदी अनेक शाखाओं में विभक्त होकर पहले से जमी हुई मिट्टी में अपना मार्ग प्रशस्त कर लेती है। इस प्रकार की रचना को 'एस्कर डेल्टा' या 'मृदकटक पंखा' कहते हैं।

9. मणिकामय मृदकटक या बीडेड एस्कर (Beaded Esker)

हिमानी की सुरंग में बहने वाली नदी के मार्ग में यदि कोई बाधा उपस्थित हो जाती हैं तो सुरंग में आवश्यकता से अधिक पदार्थ निक्षेपित हो जाता है जोकि टीला जैसा प्रतीत
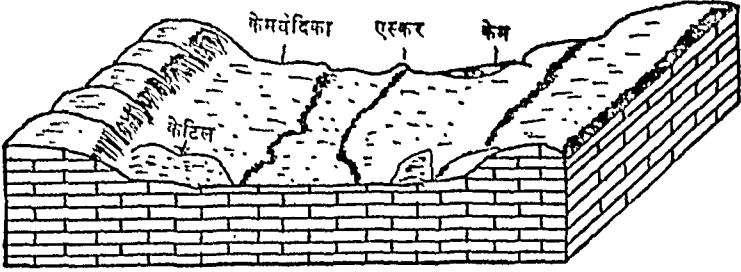
16.20 हिमानी निक्षेप द्वारा भू-आकार
केमवेदिका (Kamo Torraco), केटिल (Kottlo), केम तथा एस्कर

होता है। कुछ समय पश्चात नदी अपना मार्ग ढूँढ़कर आगे बढ़ जाती है। इस क्रिया की अनेक स्थानों पर पुनरावृत्ति होती है अतः मृदकटक के मार्ग में इस प्रकार के अनेक ऊँचे टीले ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे किसी धागे में दाने या मणियाँ पिरोयी गई हों। इस प्रकार की भू-आकृति को 'मणिकामय मृदकटक' या 'बीडेड एस्कर' कहते हैं।
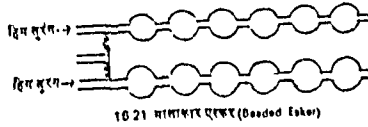
16.21 मालाकार एस्कर (Beaded Esker)

10. कंकत गिरि या केम (Kame)

हिमानी से निकलने वाली जलधाराएं अन्तिम हिमोढ़ से आगे बाधा उपस्थित होने के कारण बारीक पदार्थ जैसे बालू, रेत तथा बजरी ऊँचे-नीचे गोलाकार टीलों के रूप में निक्षेपित कर देती हैं। इन टीलों की ऊँचाई 30 से 45 मीटर तक होती है। यह हिमानी की अन्तिम सीमा का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार के टीलों को कंकत गिरि अथवा केम (Kames or Knobs) कहते हैं। स्काटलैण्ड में ड्रिफ्ट रिज (Drift Ridge) कंकत गिरि का एक सुन्दर उदाहरण है।

11. जलज गर्तिका (Kettle Hole)

जलज गर्तिका हिमानी निर्मित एक विशेष प्रकार की छोटी सी झील होती है जिसका निर्माण हिम के बड़े-बड़े टुकड़ों के भूमि में दब कर पिघल जाने से होता है। इन गर्तों में जल भर जाता है या फिर दबी हुई पीट (Peat) पाई जाती है। उत्तरी अमेरिका के प्रेरी प्रदेशों में इस प्रकार के अनेकों गर्त मिलते हैं जिनको 'केटल होल' कहते हैं। इनका व्यास कुछ मीटर से 1.5 किलोमीटर तक होता है।

जलज गर्तिका में निक्षेप की क्रिया मुख्य होती है जिसके कारण छोटे-छोटे टीलों का निर्माण हो जाता है। इन टीलों को 'हमक' (Hummock) की संज्ञा दी गई है। हिम नदित प्रदेश में जलज गर्तिका एवं हमक के अनेकों उदाहरण मिलते हैं।

हिमनदित प्रदेशों में अपरदन-चक्र (Cycle of Erosion in Glaciated Regions)

नदी द्वारा प्रभावित प्रदेशो में अपरदन चक्र की भांति हिमनदित प्रदेशों में भी अपरदन चक्र को देखा गया है। किन्तु यह नदी की अपेक्षा अधिक जटिल होता है। इसके
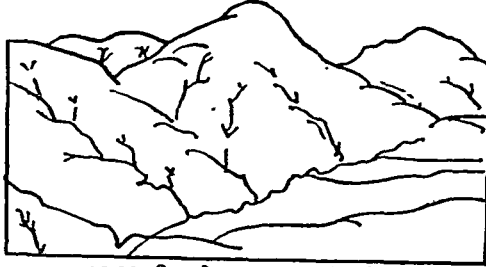
16.22 हिमानी द्वारा अपरदन से पूर्व

अतिरिक्त हिमाच्छादित प्रदेशों के दुर्गम स्थानों में अपरदन चक्र के अध्ययन में भी कुछ कठिनाइयां होती है। हिमानी द्वारा अपरदन कुछ निश्चित सुसंगठित अवस्थाओं से होकर गुजरता है जोकि निम्न प्रकार है :

तरुणावस्था (Youthful stage)—तरुण अथवा युवावस्था में अपरदनचक्र का श्रीगणेश होता है। इस अवस्था में छोटे-छोटे 'हिमागार' या 'हिमानी पात्रों' का निर्माण होता है। हिमागार के विस्तार के साथ 'अरेत या कंकती कटक' तथा गिरि श्रृंगों की रचना होती
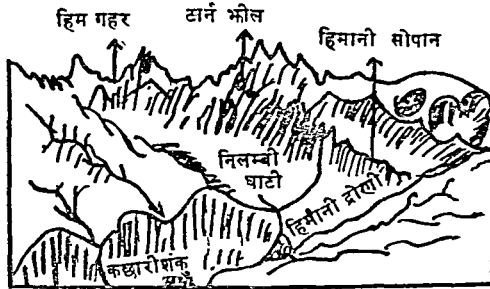
16.23 तरुणावस्था

है। दर्रों तथा 'हिमानी सोपानों' का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था में मुख्य घाटी की अनेक सहायक निलम्बी घाटियां होती हैं जोकि कम ऊंची पाई जाती हैं।

प्रौढ़ावस्था (mature stage)—इस अवस्था में अपरदन अपनी चरम सीमा पर
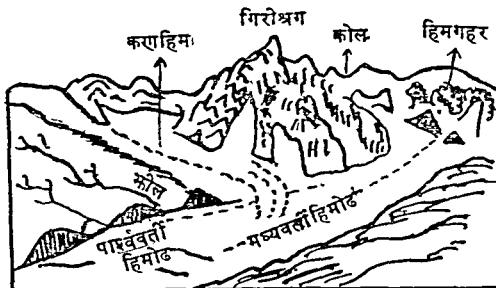
16.24 प्रौढ़ावस्था

होता है। हिमागारों का विस्तार हो जाता है तथा पर्वत श्रेणियों से खिसक कर अनेक हिमानियाँ एक स्थान पर मिलकर बड़ी-बड़ी ट्रंक हिमानियों (Trunk Glaciers) का निर्माण

करती हैं। निलम्बी घाटियों का तेजी से विकास होता है गिरिश्रृंग एवं अरेत पूर्ण विकसित हो जाते हैं। नुनाटिक (Nunatic) (हिमावरण से ऊपर निकली चोटियाँ) स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगते हैं। हिमानी पात्र व हिमानी सोपानों का पूर्ण विकास हो जाता है। सोपानों पर पेटर नास्टर झीलों का निर्माण हो जाता है। संक्षिप्त में प्रौढ़ावस्था की अवस्था में सभी स्थलाकृतियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। जब हिमागार पूर्ण रूप से अपरदित हो जाता है उस समय प्रौढ़ावस्था का अन्त हो जाता है। काल के विकास के साथ-साथ प्रौढ़ावस्था का अवसान प्रारम्भ हो जाता है।

वृद्धावस्था (Old stage)—इस अवस्था में ऊँचे पर्वतीय भाग हिमानी द्वारा अपरदित होकर नीचे हो जाते हैं। ऊँची श्रेणियों के स्थान पर तीक्ष्ण कटक दृष्टिगोचर होते हैं। विभिन्न प्रकार की हिमोढ़ों की रचना हो जाती है। निचले भागों में तलछट भर जाता है तथा हिमानी प्रभावित समस्त क्षेत्र समतल होने लगता है जिसको सपाटीकरण (Equiplanation) की संज्ञा दी गई है। अपोढ अर्थात टिल का निक्षेप हो जाने से मैदान समतल

16.25 वृद्धावस्था

दृष्टिगोचर होने लगता है। हिमानी पिघलकर पीछे हटने लगती है तथा खड्डों में पानी भर जाने से अनेक झीलों का निर्माण हो जाता है। जगह-जगह पर दलदल दिखाई देने लगते हैं।

हिमनदित प्रदेशों की धरातलीय विशेषताएँ
(Surface Characteristics of Glacialed Regions)

हिमानियों से प्रभावित प्रदेशों की भूमि में हिमानी पूर्व धरातल की अपेक्षा भिन्न प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इन प्रदेशों के उच्चावच्च व अपवाह प्रणाली में मूलचूल परिवर्तन आ जाता है।

धरातल

हिमानियों से अप्रभावित धरातल के विपरीत हिमानी प्रभावित प्रदेशों में भाँति-भाँति के कंकड़-पत्थर व शिलाखण्ड पाये जाते हैं। इन पदार्थों का उस प्रदेश की भौतिक संरचना से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह पदार्थ हिमानियों द्वारा सैकड़ों किलोमीटर दूर से बहाकर अन्य स्थानों पर निक्षेपित कर दिया जाता है जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण भू-आकार ही परिवर्तित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त हिमनदित प्रदेश अन्य प्रदेशों की भाँति विखण्डित तथा विच्छेदित भी नहीं होते। हिम-निक्षेपण के कारण निचले भाग भर जाते हैं जिसके फलस्वरूप धरातल समतल हो जाता है।

हिमघर्षण के कारण पहाड़ियाँ चिकनी और सुडौल हो जाती हैं। हिमानी द्वारा अपरदन कार्य प्राय: उच्च पर्वतीय प्रदेशो तक ही सीमित रहता है। इन भागों में वह सभी प्रकार की भू-आकृतियाँ पाई जाती हैं जोकि पिछले पृष्ठों मे हिमानी के अपरदन कार्य के अन्तर्गत वर्णित की गई हैं।

अपवाह

हिमनदित प्रदेशों में पुरानी अपवाह प्रणाली के स्थान पर नई प्रवाह प्रणाली जन्म लेती है। समस्त प्रदेश में नई सरिताएं, जलप्रपात, झीलें एवं दलदल उत्पन्न हो जाते हैं जिनका पुरानी प्रवाह प्रणाली से कोई सम्बन्ध नहीं होता। हिमनदित क्षेत्रों में जहाँ अपोढ़ के धरातल पर नवीन अपवाह स्थापित हो गया है वहाँ पूर्व हिमनदित अपवाह की नदियों के स्थानीय मोड़ों का सामान्यतः उत्तरजीवित रहना एक व्यापक लक्षण है, जोकि पूर्वारोपित अपवाह की एक विशिष्ट अवस्था है।

हिमयुग (Ice Age)—धरातल पर वर्तमान में भी ऐसे चिन्ह मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि अब से 10 या 15 हजार वर्ष पूर्व तक पृथ्वी का अधिकांश भाग हिमावरण के नीचे था। धरातल पर जितने समय बर्फ जमी रही उस काल को 'हिमयुग' कहते हैं। सर्वप्रथम लुई एगासिज (Louis Agassiz, 1840) ने हिमयुग के अस्तित्व को प्रमाणित किया। इसके पश्चात अन्य विद्वानों ने हिमयुग के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये।

विद्वानों ने पृथ्वी पर दो महान हिमयुगों के अस्तित्व को स्वीकार किया है—

(1) पर्मो कार्बोनिफेरस हिमयुग (Permo-Carboniferous Ice Age) तथा

(2) प्लीस्टोसीन हिमयुग (Pleistocene Ice Age)

पर्मो कार्बोनिफेरस हिमयुग अत्यन्त प्राचीन होने के कारण उसके बारे में हमारा ज्ञान सीमित है। किन्तु प्लीस्टोसीन हिमयुग की समाप्ति को केवल 10,000 वर्ष हुए हैं। अतः इस युग के हिमाच्छादित धरातलीय भागों में वर्तमान में भी हिमानी द्वारा अपरदन एवं निक्षेप के प्रमुख चिन्ह पाए जाते हैं।

ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे विदित होता है कि हिमपर्त कई बार उत्तर से दक्षिण को आगे बढ़ी और कई बार पुनः उत्तर की ओर पीछे हटी। आगे बढ़ने तथा पीछे हटने के मध्य के समय को **अन्तर्हिमावस्था** (Interglacial stage) कहते हैं। एगासिज के अनुसार प्लीस्टोसीन हिमपर्त का चार बार प्रसार हुआ जिनको उसने **गुंज** (Gunz), **मिण्डल** (Mindel), रिस (Riss) तथा वुर्म (Wurm) नामो से सम्बोधित किया है। गुंज तथा मिण्डल के मध्य 75,000 वर्ष, मिण्डल तथा रिस के मध्य 3,00,000 वर्ष और रिस तथा वुर्म के मध्य 75,000 वर्ष की अन्तर्हिमावस्थाएँ थीं। वर्तमान में हम वुर्म के पश्चात अन्तर्हिमावस्था में रह रहे हैं:

यूरोप की हिम प्रसार की अवस्थाऐं उत्तरी अमेरिका की हिम प्रसार की अवस्थाओं से मेल खाती हैं जोकि अग्रांकित सारणी में दी हुई है।

सारणी

यूरोप की अवस्थाएँ (एल्पस)	उत्तरी अमेरिका की अवस्थाएँ (उत्तरी मध्य संयुक्त राज्य)
1. वुर्म हिमनदीय अवस्था रिस-वर्म अन्तर्हिमावस्था	1. विस्कोंसिन हिमनदीय (Wiscousin glacial) सांगामन अन्तर्हिमावस्था (Sangaman inter-glacial)
2. रिस हिमनदीय अवस्था मिण्डल-रिस अन्तर्हिमावस्था	2. इलीनोयन हिमनदीय (Illınoian galcial) यारमाउथ अन्तर्हिमावस्था (Yarmouth interglacial)
3. मिण्डल हिमनदीय अवस्था गुंज-मिण्डल अन्तर्हिमावस्था	3. कांसन हिमनदीय (Kansan glacial) अफ्टोनियन अन्तर्हिमावस्था (Aftonian interglacial)
4. गुंज हिमनदीय अवस्था	4. नेब्रास्कन हिमनदीय (Nebraskan glacial)

उपरोक्त तालिका से विदित होता है कि प्लीस्टोसीन हिमयुग की समाप्ति तक यूरोप एवं उत्तरी अमेरिका में हिमावरण का चार बार प्रसार तथा चार बार निवर्तन (Retreat) हो चुका था। ग्रीनलैण्ड तथा एन्टार्कटिका के वर्तमान हिमावरण प्लीस्टोसीन हिम युग के प्रतीक हैं। आज भी पृथ्वी के कुल क्षेत्रफल का 20 प्रतिशत भाग हिमाच्छादित है।
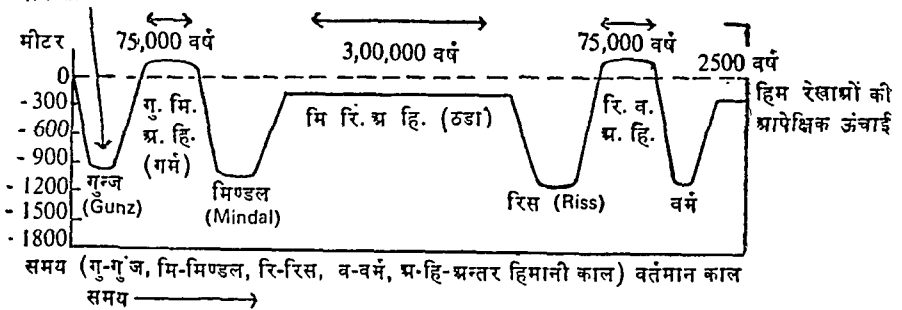
16.26 हिमयुग एवं अन्तर हिमयुग काल (होम्स के आधार पर)

प्लीस्टोसीन हिमयुग में लगभग 5 करोड़ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र अर्थात् स्थल भाग का लगभग 30 प्रतिशत हिमाच्छादित था। अर्थात् वर्तमान हिमावरण के तीन गुने क्षेत्र पर बर्फ का आवरण था। प्लीस्टोसीन हिम युग में उत्तरी अमेरिका का 1,03,60,000; यूरोप का 51,80,000 तथा साइबेरिया का 38,85,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र हिमाच्छादित था। वर्तमान में भी ग्रीनलैण्ड का 1,55,40,000 तथा अन्टार्कटिका का 1,29,50,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र हिमाच्छादित है। गणना के अनुसार प्लीस्टोसीन हिमयुग में 1,80,00,000 घन किलोमीटर आपतन जल हिम के रूप में विद्यमान था। यदि उस हिमचादर को वर्तमान सागरों पर फैला दी जाय तो सागर की सतह पर 50 मीटर मोटी पानी की परत दिखाई देगी।

प्लीस्टोसीन हिमयुग के पश्चात आज से लगभग 10,000 वर्ष पूर्व होलोसीन काल या पोस्ट या प्लीस्टोसीन काल अन्तर्हिम काल (Inter Glacial Period) के रूप में प्रारम्भ हुआ जिसमें हम रह रहे हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भविष्य

16.27 हिमयुग में हिमावरण का प्रसार (आर. एफ. फ्लिन्ट के अनुसार)

में जलवायु गर्म या शीतल होगी। प्लीस्टोसीन हिमकाल के हिमावरण के विस्तार के प्रमाण जोकि निम्नलिखित हैं आज भी देखने को मिलते हैं।

(1) मध्य यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में विदेशीय शिलाखण्ड पाए जाते हैं जोकि अपनी जन्मदाता चट्टानों से हजारों किलोमीटर दूर बिखरे पड़े हैं। यह पदार्थ हिमावरण के प्रसार के साथ लाया गया तथा निर्वतन के समय पीछे छूट गया। इसके अतिरिक्त ड्रमलिन, मृदकटक आदि हिमानीकरण के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

(2) यूरोप के उत्तरी मैदान में हिमानियों द्वारा निर्मित हिमोढ़ पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में भी अनेक हिमोढ़ कटक देखने को मिलते हैं।

(3) आल्प्स तथा उसके निम्न प्रदेशों की शैलों को हिमानी ने अपरदन द्वारा घिस कर गोलाकार कर दिया है। इन्हीं प्रदेशों में 'U' आकार की घाटियां, सर्क लटकती घाटियां आदि दिखाई देती हैं।

(4) जर्मनी, पोलैण्ड, नार्वे आदि यूरोपीय देशों में हिमानी अवक्षेप मैदान पाए जाते हैं जोकि हिमयुग के अस्तित्व को प्रदर्शित करते हैं।

(5) उत्तरी अमेरिका की पांच बड़ी झीलों का निर्माण हिमयुग में ही हुआ। इसके अतिरिक्त फिनलैण्ड में हिमानी निर्मित अनेक झीलें पाई जाती हैं। अतः फिनलैण्ड को 'झीलों की वाटिका' (Garden of Lakes) कहा जाता है।

(6) सागर तल में उत्थान और अवतलन के प्रमाण मिले हैं। अधिकतम हिमाच्छादन के समय सागर तल में 100 से 116 मीटर गिरावट आई। सागर तल के नीचे हो जाने पर सागरीय लहरों ने अपरदन द्वारा विस्तृत तरंग-अपरदित चबूतरों (Wave-cut-platforms) की रचना की। हिमयुग के पश्चात् जब बर्फ पिघली तो सागर तल में वृद्धि होने से ये चबूतरे जलमग्न हो गए। पिछले 10,000 वर्षों में जब से हिम चादर का पिघलना प्रारम्भ हुआ सागर-तल में लगभग 75 मीटर की वृद्धि हुई है।

हिमालय पर्वत के अनेक स्थानों पर विस्तृत हिमानीकरण के संकेत पाए गए हैं। हिमालय की वर्तमान हिमानियां प्लीस्टोसीन युग की अवशेष हैं। काश्मीर के हरमुख पर्वत (Haramukh mountain), ऊपरी चिनाव घाटी में पेंगी पर्वत व लिडर घाटी तथा परि पंजाल पर्वत पर समुद्रतल से क्रमश: 1,675 मीटर, 2300 मीटर तथा 2000 मीटर की ऊँचाइयों पर अन्तिम हिमोढ़ के ढेर पाए जाते हैं।

हिमयुग एवं जलवायु--यह तथ्य है कि पिछले समय में जलवायु परिवर्तन के कारण हिम चादर का प्रसार तथा निवर्तन हुए। यद्यपि हिम युगों की चक्रीय व्यवस्था को मानने में कुछ विद्वानों को आपत्ति है, किन्तु कैम्ब्रियन युग से पहले से लेकर प्लीस्टोसीन युग तक हिमावरण का अस्तित्व प्रमाणित हो चुका है। जलवायु परिवर्तन के कारण पृथ्वी पर तापमान में उतार तथा चढ़ाव आता रहा है। जब भी तापमान असाधारण रूप से कम हुआ अर्थात् हिमांक से नीचा गया उसी समय हिम चादरों का प्रसार हुआ तथा तापमान के हिमांक से ऊपर होने पर उनका निर्माण हुआ। अतीत में जलवायु परिवर्तन के प्रमाण वर्तमान में अनेकों स्थानों पर मिलते हैं, जोकि निम्नलिखित हैं :

प्लीस्टोसीन हिमयुग की शैलों में पाए जाने वाले जीवाश्म का अध्ययन यह प्रकट करता है कि समय-समय पर जलवायु कभी ठण्डी और कभी गर्म रही होगी। हिमयुग में आर्कटिक प्रदेश की लोमड़ियां सर्दी बढ़ जाने के कारण दक्षिणी फ्रांस के अपेक्षाकृत उच्च तापीय प्रदेशों में पाई गयीं। इसी प्रकार अन्तर्हिमावस्था में जब जलवायु अपेक्षाकृत गर्म थी, उस समय दरयाई घोड़े इंगलैण्ड तक पाए जाते थे। प्लीस्टोसीन हिमयुग में विश्व का तापमान इतना नीचा हो गया कि मध्यजीवी महाकल्प के भीमकाय डायनोसर समाप्त हो गए।

विद्वानों ने जलवायु परिवर्तन के सम्बन्ध में अनेक विचार प्रस्तुत किए हैं जोकि अग्रलिखित हैं :

1. ध्रुवों का स्थानान्तरण (Change in the position of Poles)

कुछ विद्वानों के अनुसार उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव समय-समय पर स्थान परिवर्तन करते रहे हैं जिसके फलस्वरूप जलवायु कटिबन्धों में भी परिवर्तन आता रहा है। इन विद्वानों का मत है कि नवजीवी महाकल्प के प्रारम्भ तथा अर्थात् इयोसीन युग तक उत्तरी ध्रुव आर्कटिक सागर में न होकर अलास्का में था। यह अलास्का से ग्रीनलैण्ड और ग्रीनलैण्डसे वर्तमान स्थान पर पहुँचा। इसी प्रकार दक्षिणी ध्रुव इयोसीन युग तक एण्टार्कटिका तक नहीं पहुँच पाया था। किन्तु विद्वान यह सिद्ध नहीं कर पाए कि ध्रुवों के स्थानान्तरण में कौन सी शक्ति कार्यरत थी जिसके फलस्वरूप यह परिवर्तन हुए।

2. महाद्वीपीय विस्थापन

वैगनर महोदय का महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त (Continental Drift Theory) इस बात का द्योतक है कि ध्रुवों एवं महाद्वीपों की स्थिति पिछले भूगर्भिक महाकल्पों में परिवर्तनशील रही है। वैगनर के अनुसार कारबनीफैरस काल में अफ्रीका, भारत तथा गोण्डवाना के भू-भागों पर हिमावरण का विस्तार हो गया था। किन्तु आज तक महाद्वीपीय विस्थापन के लिए उपयुक्त शक्ति की खोज नहीं की जा सकी। अतः यह सिद्धान्त हिमानीकरण की समस्या का समाधान नहीं कर पाया।

3. वायुमण्डल की रचना में अन्तर (Change in the Constitution of Atmoshpere)

(अ) वायुमण्डल में कार्बन डाइ-आक्साइड की कमी

कुछ विद्वानों ने पृथ्वी का तापमान गिरने का कारण वायुमण्डल में कार्बन-डाइ-आक्साइड (Carbon-Dioxide) गैस का कम होना बताया है। यह गैस पृथ्वी के ताप को आकाश में विलीन होने से रोकती है। इसके कम हो जाने के फलस्वरूप हिमयुगों का सूत्रपात हो जाता है। टी. सी. चैम्बरलिन (T. C. Chamberlin) इस मत के प्रबल समर्थक हैं। किन्तु डब्लू. जे. हम्फ्री (W. J. Humphrey 1920) नामक विद्वान के अनुसार यदि वायुमण्डल में 40 से 100 प्रतिशत कार्बन-डाइ-आक्साइड की मात्रा बढ़ जाय तो ताप में कोई अन्तर नहीं आता। हाँ, यदि दूसरे कारणों के साथ कार्बन-डाइ-आक्साइड की मात्रा में पर्याप्त कमी आ जाय तो हिमयुग का आविर्भाव हो सकता है।

(ब) वायुमण्डल में ज्वालामुखी राख की अधिकता

भीषण ज्वालामुखी उद्गारों से राख के बादल आकाश में छा जाते हैं। राख के यह बादल सूर्यताप किरणों को परावर्तित कर देते हैं जिससे पृथ्वी का तापमान गिर जाता है। यह सत्य है कि कार्बनीफैरस तथा प्लीस्टोसीन कल्पों में भीषण ज्वालामुखी विस्फोट हुए। किन्तु फिर भी हिम युगों और ज्वालामुखी क्रियाओं के कालों में भूगर्भिक इतिहास में कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। यदि ज्वालामुखी विस्फोट को हिमावरण का मुख्य कारण माना जाय तो प्लीस्टोसीन हिम युग में हिमचादर के निवर्तन के समय ज्वालामुखी विस्फोटों की अनुपस्थित होनी चाहिए और प्रसार के समय भीषण विस्फोट होने चाहिए, किन्तु भूगर्भिक इतिहास से ऐसा प्रतीत नहीं होता।

4. सौयिक विकरण में परिवर्तन

कुछ विद्वानों के अनुसार सूर्य के धब्बे (Sun-Spots) तथा सौयिक विकरण में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब इन धब्बों की मात्रा सर्वाधिक होती है तो सौर विकरण में पर्याप्त

कमी आ जाती है। अतः पृथ्वी का तापमान गिर जाता है और हिमयुग का आगमन होता है। सूर्य के धब्बों का चक्र 11 वर्ष माना गया है। किन्तु हिमयुगों में हजारों वर्षों का अन्तर पाया जाता है। हम्फ्री महोदय के अनुसार जब वायुमण्डल में धूल की मोटी परत फैल जाती है तो सौर विकिरण में कमी आ जाती है जिससे हिमयुग प्रारम्भ होता है, किन्तु धूल की चादर हट जाने से अन्तर्हिमकाल (Interglacial Period) प्रारम्भ होता है। सिम्पसन (George Simpson 1938) महोदय ने सौर विकिरण की चक्रीय व्यवस्था का उल्लेख किया है। उनके अनुसार एक निश्चित समय के पश्चात सौर ताप में ह्रास तथा वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप हिमचादर का प्रसार होता है और उसके बाद अन्तर्हिमकाल आता है।

5. पर्वत निर्माणकारी घटनाएँ

कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि पर्वत निर्माणकारी घटनाओं के पश्चात हिमयुगों का सूत्रपात होता है। विवर्तनिक हलचलों (Diastrophison) से पूर्व पृथ्वी का ताप इतना बढ़ जाता है जिसके फलस्वरूप भूगर्भिक लावा अधिक तरल हो जाता है। पृथ्वी का ऊपरी पटल लावा में डूबने लगता है और उसी के साथ भू-पृष्ठ के कमजोर भागों में मोड़ पड़ जाते हैं। इस क्रिया के कारण पृथ्वी का ताप गिरने लगता है। लावा फिर से गाढ़ा होने लगता है और भू-पृष्ठ फिर से ऊपर उठ जाता है। भू-पृष्ठ के ऊपर उठने से तापमान और भी गिरने लगता है तथा हिमयुगों का आगमन प्रारम्भ हो जाता है।

सौर्यिक विकिरण में कमी तथा भूमि के उत्थान दोनों ही के मिश्रित प्रभाव के कारण हिमयुग के आगमन के सम्बन्ध में सौर्यिक-स्थलाकृति सिद्धान्त (Solar-Topographic Theory) प्रचलित है।

6. पृथ्वी के अक्ष का पुरस्सरण

पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करती है। परिक्रमा करते हुए पृथ्वी अपनी निश्चित कक्ष (Orbit) से हट जाती है जिसके कारण वह कभी सूर्य के समीप और कभी दूर हो जाती है। इसके अतिरिक्त स्वयं पृथ्वी की अक्ष (Axis) कक्षातल (Plane of Orbit) के लम्ब की परिक्रमा करती है इसे पृथ्वी के अक्ष का पुरस्सरण कहते हैं। इस क्रिया से पृथ्वी के अक्ष के झुकाव में परिवर्तन आ जाता है। पृथ्वी के अक्ष द्वारा कक्षातल के अक्ष की परिक्रमा 26000 वर्ष में पूरी करली जाती है। इस प्रकार प्रत्येक 13000 वर्ष पश्चात पृथ्वी की सूर्य से अधिकतम दूरी होती है। इस गणना के अनुसार प्रत्येक 13000 वर्ष पश्चात हिमयुग का आगमन होना चाहिए, किन्तु इसका प्रमाण प्राप्त नहीं किया जा सका।

7. सागरीय गर्म धाराओं के मार्ग में अवरोध

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि जब ध्रुवों की ओर बहने वाली गर्म जलधाराओं के मार्ग में अवरोध आ जाता है तो उनका प्रभाव क्षेत्र ध्रुवों से दूर हो जाता है। अतः ध्रुव क्षेत्रों का तापमान गिर जाता है तथा हिमावरण का विस्तार हो जाता है। इस मत के अनुसार जब अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी भारत, स्थल सेतुओं (Land baidges) के द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे, गर्म जलधाराओं के मार्ग में अवरोध आने के कारण वह दक्षिण की ओर प्रवाहित नहीं हो सकी। फलस्वरूप अण्टार्कटिका में समता से अधिक हिम

संचय हो गया जिसके कारण हिमचादर का प्रसार उत्तर की ओर प्रारम्भ हो गया। इस मत के अनुसार कार्बनीफैरस हिमानीकरण (Carboniferous Glaciation) की समस्या का निदान हो जाता है किन्तु अन्य हिम कालों के बारे में यह विचार मान्य नहीं है।

अन्त में यही सारांश निकलता है कि उपरोक्त वर्णित किसी एक कारण के फलस्वरूप हिमकालों के आगमन तथा अवसान की समस्या का हल नहीं निकलता। यह सम्भावना की जा सकती है कि एक से अधिक कारणों के आकस्मिक रूप से मिल जाने से हिमकालों का आविर्भाव हो सकता है। येल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर आर. एफ. फ्लिन्ट (Prof. R. F. Flint) के अनुसार ऐसे समय में जबकि पृथ्वी सूर्य से न्यूनतम ताप ग्रहण करती है, यदि पृथ्वी के विभिन्न भागों की ऊँचाई भी बढ़ जाय तो हिम के अत्यधिक संग्रह के कारण हिमयुग का आविर्भाव हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Agassiz, Louis (1840), Studies on Glaciers, Neuchatel (trans. and ed by A. V. Corozzi (Hafner Publishing Co , Inc., New York, 1967).
2. Cotton, C. A. (1942), Climate accidents in landscape maping, (Whitecombe and Tombs, Christ Church, N. Z.) p. 354.
3. Embleton, Clifford and Cuchlaine A. M. King (1968), Glacial and Periglacial Geomorphology (Edward Arnold Ltd., London).
4. Flint, R. F. (1947), Glacial Geology and Pleistocene Epoch (John Wiley and Sons, Inc., New York).
5. Flint, R. F. (1971), Glacial and Quaternary Geology (John Wiley & Sons, Inc., New York).
6. Hobbs. W. H. (1911), The Characteristics of Existing Glaciers (New York).
7. Holmes, A. (1949), Principles of Physical Geology (Thomas Nelson and Sons, London).
8. Monkhouse, F. J. (1962), Principles of Physical Geography (Uni of London Press, London).
9. Paterson, W. S. B. (1969), The Physics of Glaciers (Pergamon Press, Oxford).
10. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography (John Wiley and Sons, Inc., New York).
11. Sharp, R. P. (1960), Glaciers (University of Oregon Press, Eugene).
12. Schultz, G. (1963), Glaciers and the Ice Age (Holt Rinehart and Winston, New York).
13. Wooldridge, S. W. and Morgan, R. S. (1963), Geomorphology (Longmans Green and Co., London).

17

भूमिगत जल
[Underground Water]

भूगर्भीय जल का कार्य

धरातल के नीचे पारगम्य शैलों के छिद्रों तथा दरारों में एकत्रित-जल भूगर्भीय या भूमिगत जल कहलाता है। पृथ्वी की ऊपरी सतह नीची होने के कारण इसको अधस्तरी जल की संज्ञा भी दी जाती है। कुआ, गेसर, जलस्रोत आदि भूमिगत जल के प्रमाण हैं। स्लीचर के अनुसार धरातल के नीचे भूगर्भी जल की मात्रा इतनी विद्यमान है कि यदि उसको धरातल के ऊपर लाया जाय तो 1000 से 1200 मीटर ऊँची पानी की परत बन जायेगी। अन्य अनुमानों के आधार पर यह परत 300 मीटर तक होगी।

भूगर्भी जल तीन स्रोतों से प्राप्त होता है। भूमिगत परतदार शैलों के निर्माण के समय से ही विद्यमान जल को सहजात जल कहते हैं। पारगम्य स्तरों में एकत्रित जल
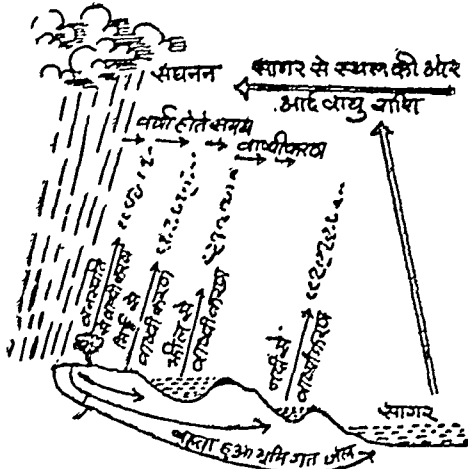
चित्र 17·1 जल चक्र (Hydrologic Cycle) जल का वाष्पीकरण द्वारा वायुमण्डल में जाना तथा पुनः सागर में लौटना

अपारगम्य शैलों से घिरा रहकर सुरक्षित रहता है तथा भू उत्थान के समय भूमिगत जल से मिल जाता है।

जल की कुछ मात्रा ज्वालामुखी क्रिया से प्राप्त होती है। वाष्पीय पदार्थ घनीभूत होकर जल में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार के भूमिगत जल को जुविनाइल या मैगमा जल कहते हैं। किन्तु यह दोनों प्रकार के जल स्रोत आकाशीय जल स्रोत की अपेक्षा बहुत कम हैं जोकि वर्षा एवं हिम के पिघलने से सतही जल प्राप्त होता है। भूधरातल पर बहने वाला जल रिस कर नीचे अपारगम्य शैलों की सतह पर पहुँच कर एकत्रित हो जाता है। आकाशीय जल को उल्का जल भी कहते हैं।

वर्षा के जल की कुछ मात्रा बहकर नदी व तालाबों आदि में मिल जाती है। इस जल को तत्क्षण-वाह जल कहते हैं। जल की कुछ मात्रा वाष्पीकरण द्वारा वायुमण्डल में पुनः लौट आती है तथा शेष भाग धरातल में रिसकर नीचे पारगम्य शैलों में एकत्रित हो जाता है जिसे भूमिगत जल कहते हैं। भूमिगत जल को जमा होने में विलम्ब हो जाता है, इसलिए इसे विलम्बित वाह-जल की संज्ञा दी गई है।

भूमिगत जल की मात्रा को प्रभावित करने वाले कारक

भूमिगत जल की मात्रा निम्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न पाई जाती है :

स्थलाकृति—जल तत्काल अधिक ढाल वाली भूमि पर बह जायेगा जबकि समतल भूमि पर वाह्यजल की मात्रा कम होगी, जहाँ उसको धरातल में प्रवेश पाने का अधिक अवसर तथा समय मिलेगा।

शैलों की संरचना—पारगम्य शैलों में, जैसे—बजरी, बालू, चूना शैल, दरारयुक्त बालुकाश्म आदि में जल प्रवेश कर जाता है, जबकि अपारगम्य या अप्रवेश्य शैलों में, जैसे—मिट्टी, अपघटित पीट, आग्नेय शैल, संयोजित अवसादी शैलों में जल प्रवेश नहीं कर सकता अतः शैलों की संरध्रता तथा पारगम्यता भूमिगत जल की मात्रा को प्रभावित करते हैं।

जलवायु—जलवायु भी भूमिगत जल की मात्रा को प्रभावित करता है—(1) आर्द्र जलवायु वाले क्षेत्रों में जहाँ वर्षा अधिक होती है तथा वाष्पीकरण कम होता है आकाशीय जल भूमि में प्रवेश कर जाता है, किन्तु शुष्क प्रदेशों में वाष्पीकरण की मात्रा अधिक होने से जल भूमि में प्रवेश न पाकर वाष्प के रूप में पुनः वायुमण्डल में मिल जाता है।

वनस्पति की मात्रा—वनस्पति की सघनता धरातल पर बहने वाले जल को रोक लेती है जिसके कारण अधिक समय मिलने के कारण जल शनैः-शनैः भूमि में प्रवेश पा जाता है।

भूमिगत जल सतत् गतिमान रहता है। यदि किसी कुएँ से सम्पूर्ण जल निकाल लिया जाय तो शीघ्र ही उसमें उतना ही जल पुनः भर जायेगा। यह तथ्य सिद्ध करता है कि भूमिगत जल गतिमान है। यह देखा गया है कि कम वर्षा वाले क्षेत्रों में भी कभी-कभी भूमिगत जल की अधिक मात्रा पायी जाती है क्योंकि एक स्थान पर होने वाली वर्षा का जल भूमिगत जल के रूप में प्रवाहित होकर दूसरे स्थान पर जा सकता है। उदाहरणार्थ रॉकीज पर्वतों में होने वाली वर्षा के जल की कुछ मात्रा भूमिगत जल के रूप में मध्यवर्ती बड़े मैदान तक पहुँच जाती है।

भूमिगत जल-तल

धरातल के नीचे विभिन्न गहराइयों में जल भण्डार विद्यमान हैं। भूमि में जहाँ सदैव जल की प्रचुर मात्रा मिलती है उस जल की ऊपरी सतह को संतृप्त सीमा या भूमिगत जल-तल कहते हैं। जल संतृप्त शैलों की सीमा दो प्रकार की होती है—स्थायी तथा अस्थायी

सीमा। स्थायी सीमा पर पारगम्य शैल सदा जल से परिपूर्ण रहते हैं जबकि अस्थायी सीमा पर जल केवल वर्षा ऋतु में ही पाया जाता हैं। साधारण परिस्थितियों में भूमिगत जल लगभग 100 मीटर गहराई तक पाया जाता है। किन्तु विशेष परिस्थितियों में यह सीमा 1000 मीटर की गहराई तक पायी जाती है। एक ही प्रदेश में शैलों की संरचना की विभिन्नताओं के कारण यदि जल-तल भी स्थान-स्थान पर असमान हो तो इसे स्थानीय जल-तल कहते हैं तथा इसके विपरीत यदि प्रदेश भर में फैले हुए भूमिगत जल-तल का स्तर समान हो तो उसे "प्रादेशिक जल-तल कहते हैं। यदि दो अप्रवेश्य शैलों की परत के मध्य शुष्क क्षेत्र हो तथा दोनों परतों के ऊपर और नीचे संतृप्त क्षेत्र हो तो ऊपरी क्षेत्र को लटकता भूमिगत जल-तल या दुःस्थिति जल-तल कहते हैं।

भूमिगत जल के क्षेत्र

भूमिगत जल के विभिन्न क्षेत्र हैं। धरातल के नीचे ऐसा क्षेत्र जहाँ पारगम्य शैलों द्वारा जल रिसकर नीचे चला जाता है असंतृप्त क्षेत्र कहलाता है। धरातल पर पौधे जल की कुछ मात्रा सोख लेते हैं तथा शेष जल रिसकर नीचे चला जाता है। इस क्षेत्र का जल वाष्पीकरण होकर और कुछ वाष्पोत्सर्जन द्वारा वायुमण्डल में मिल जाता है। ऐसे भू-भागों के नीचे जहाँ झीलें या दलदल होते हैं असंतृप्त क्षेत्र नहीं मिलता है।

दीर्घकालीन वर्षा के पश्चात् असंतृप्त क्षेत्र के नीचे शैल जल से परिपूर्ण हो जाते हैं, किन्तु शुष्क ऋतु में जल-तल की रेखा नीचे खिसक जाती है। इस प्रकार के क्षेत्र आन्तरायिक संतृप्त क्षेत्र कहलाते हैं। आन्तरायिक क्षेत्र के नीचे शैल जल से परिपूर्ण या लबालब रहते हैं। इस क्षेत्र का जल-तल अपरिवर्तनशील रहता है। इसकी गहराई धरातल की संरचना एवं जलवायु पर आधारित रहती है। घाटी की ओर इस क्षेत्र की सीमा कम हो जाती है क्योंकि घाटी की ओर बहाव सुगम होता है।
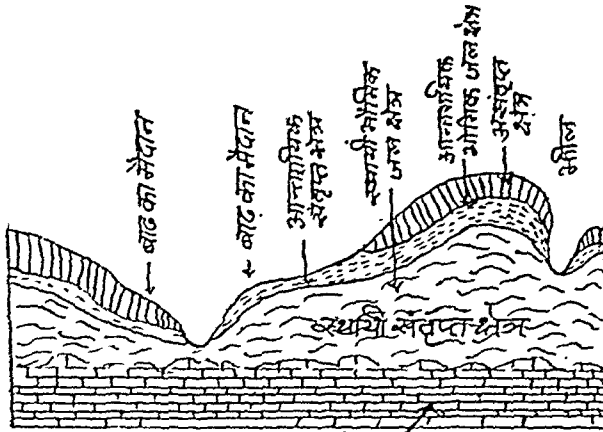
चित्र 172 भूमिगत जल तल एवं जल क्षेत्र

धरातल से लगभग 16 किलोमीटर की गहराई पर ऊपरी दाब के कारण पारगम्य शैलों के रंध्र एवं छिद्र बन्द हो जाते हैं तथा भूमिगत जल इस गहराई से नीचे नहीं जाने पाता। इस क्षेत्र को शैल-प्रवाह क्षेत्र की संज्ञा दी गई है।

उप-भौमिक जल क्षेत्र

धरातल एवं भूमिगत जल-तल के मध्य विद्यमान जल को उप-भौमिक जल की संज्ञा दी गई है। उप-भौमिक जल के क्षेत्र में वायु प्रवेश कर जाती है इसलिए इसको वातन क्षेत्र भी कहते हैं। वातन क्षेत्र तीन भागों में विभक्त रहता है।
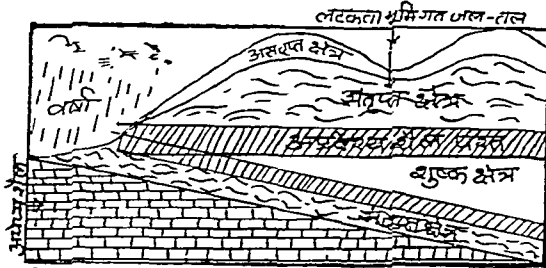
चित्र 17 3 लटकता भूमिगत जल-तल (Perched underground water table)

धरातल के निकट कुछ गहराई पर मिट्टी में आर्द्रता पायी जाती है जो वनस्पति एवं पेड़-पौधों द्वारा प्राप्त होती है। शुष्क प्रदेशों में आर्द्रता की कुछ मात्रा वाष्पीकरण के रूप में वायुमण्डल में मिल जाती है।
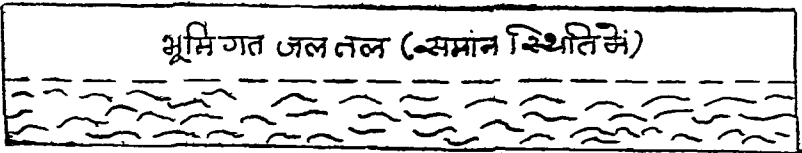
चित्र 17·4 वर्षा न होने के समय भूमिगत जल तल (प्रादेशिक जल तल)

भूमि आर्द्रता क्षेत्र के ठीक नीचे मध्यवर्ती क्षेत्र पाया जाता है जिसका अस्तित्व अनिश्चित होता है और कहीं-कहीं तो यह होता भी नहीं। धरातल पर अधिक वर्षा या हिम के पिघलने के कारण इस भाग में कुछ जल की मात्रा पहुँच जाती है।
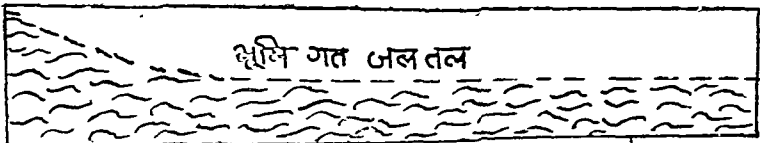
चित्र 17·5 एक ओर वर्षा होते समय भूमिगत जल-तल (स्थानीय जल तल)

केशिका प्रक्रिया या सूक्ष्म नाली क्रिया द्वारा जल ऊपर आकर्षित होकर भूमि आर्द्रता क्षेत्र के ऊपर के कुछ भाग तक पहुँच जाता है। इस भाग को केशिका अंचल भी कहते हैं। केशिका अंचल भौम जलस्तर के ऊपर कुछ सेमी. से लेकर साधारणत: दो मीटर तक पाई जाती है। प्राय: बालुका शैलों में केशिका अंचल मिलता है।
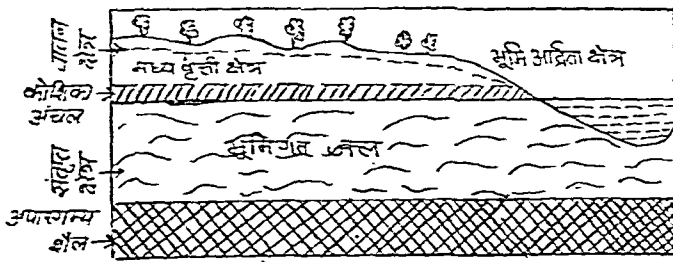
चित्र 17·6 भूमि गत जल के संतृप्त क्षेत्र एवं वातन क्षेत्र

भूमिगत जल की गतिशीलता

भूमिगत जल उस समय तक स्थिर रहता है जब तक उसको प्रवाहित होने के लिए मार्ग न मिले। साधारणतः भूमिगत जल धरातल की तुलना में मन्द गति से निम्न क्षेत्र की ओर प्रवाहित होता रहता है। शैलों के कणों के घर्षण एवं केशिका प्रक्रिया के कारण इसकी गति मन्द हो जाती है। यह जल गुरुत्वाकर्षण तथा आणविक आकर्षण के कारण गतिशील रहता है। नियमानुसार जल निम्न क्षेत्र की ओर बहता है किन्तु विशेष परि-स्थितियों में विपरीत प्रवाह भी होता है। द्रवचालित क्रिया तथा कोशिका प्रक्रिया के कारण जल ऊपर की ओर प्रवाहित होता है। नीचे के जलस्तर से जलवाष्प बनकर शैलों के अन्दर की वायु जल से मिल जाता है। इस प्रकार आर्द्र वायु का ऊपर को विसरण होता है। भूमिगत संवाहन क्रिया द्वारा भी ऊपर को आता है। अतः उप-भौमिक जल को गतिशील या चलित जल की संज्ञा दी गई।

कूप

धरातल तथा उपभूमि को खोदकर भूमिगत संतृप्त सीमा तक बनाए गए विवर या छिद्र को कूप कहते हैं। आर्थर होम्स के अनुसार कूप ऐसे छिद्र-मात्र हैं जो भूमि के अन्दर उस गहराई तक खोदे जाते हैं जहाँ जल से परिपूर्ण सरन्ध्र शैल मिलती है। स्थायी भूमिगत जल-तल से अधिक गहरे कूपों में जल सदा विद्यमान रहता है। अस्थायी जल-तल की सीमा
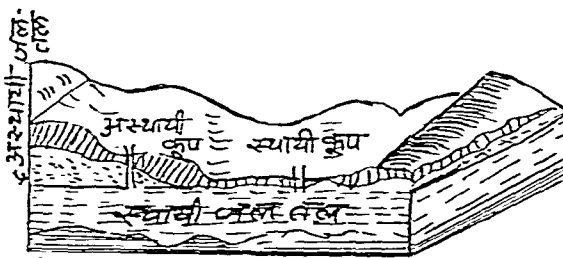
चित्र 17·7 स्थायी एवं अस्थायी कूप

में परिवर्तन के साथ-साथ छिछले कूपों का जल-तल भी ऊपर-नीचे होता रहता है। इसके अतिरिक्त जल-तल की सीमा वर्षा एवं शैल स्वभाव से प्रभावित होती है। यह सीमा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पृथक-पृथक होती है। छिछले कूपों का जल प्रायः दूषित हो जाता है और वर्षा के अभाव में यह सूख भी जाते हैं। कूपों में प्रायः खनिज पदार्थ मिलते हैं किन्तु कुछ खनिज तत्त्वों के आधिक्य से कूपों का जल खराब हो जाता है। कूप मैदानी भागों में अधिक सुविधापूर्वक निर्मित कर लिये जाते हैं। भारत के उत्तरी मैदान में लाखों की संख्या में कूप विद्यमान हैं जिनसे सिंचाई की जाती है।

पाताल तोड़ कूप

पाताल तोड़ कूप के नाम से ही इनकी गहराई का आभास होता है। इन्हें उत्स्रुत कूप भी कहते हैं। उत्स्रुत कूप का तात्पर्य ऐसे कूपों से है जिनसे अधिक गहराई का जलभृत शैलों पर द्रवस्थैतिक दाब के कारण स्वतः धरातल की ओर आप्लावित होता है। इनके निर्माण के लिए कुछ परिस्थितियों का होना आवश्यक है।

सरन्ध्र शैल अर्थात् जलभृत शैल की पत्त दो अपारगम्य शैलों की परत के मध्य झुकी हुई अथवा अभिनति के रूप में हो। सरन्ध्र शैल की परत के किनारे अपारगम्य शैलों के परत के एक या दोनों ओर खुले हों जिससे उनके द्वारा जल रिसकर नीचे केन्द्र में एकत्रित हो सके। सरन्ध्र शैल की परत के किनारों पर अर्थात् आवाह क्षेत्र मेंप्र चुर वर्षा का होना आवश्यक है जिससे जल की पूर्ति सम्भव हो सके।

आवाह क्षेत्र जितना ऊँचा तथा विस्तृत होगा उतनी ही मात्रा तथा दाब के साथ जल द्रवस्थैतिक दाब के कारण ऊपर की ओर तीव्र गति से प्रवाहित होगा।
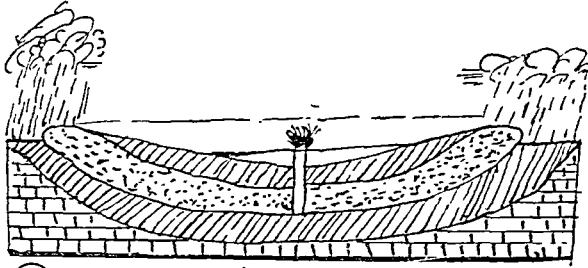
चित्र 17·8 पातल तोड़ कूप (Artisain Well)

सर्वप्रथम 12वीं शताब्दी में अफ्रीका के फ्रांसीसी प्रदेश आरटाइस में पाताल तोड़ कुआ बनाया गया, इसलिए इनका नाम आरटिसियाई कूआ पड़ा। इस प्रकार के कूप प्रायः मरुस्थलों में जल प्राप्त करने के स्रोत होते हैं। संसार में पाताल तोड़ कुओं का
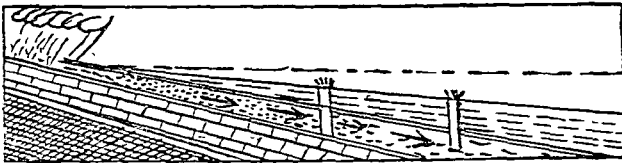
चित्र 17·9 झुकी हुई शैल परत में पाताल तोड कूप

सबसे बड़ा क्षेत्र आस्ट्रेलिया में पाया जाता है जो लगभग 96,000 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में क्वींसलैण्ड, न्यूसाउथवेल्स तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया में फैला हुआ है। यहां 9000 पाताल तोड़ कुए हैं जो 1500 से 1800 मीटर तक गहरे हैं। इन कूपों से मरुस्थलों में मरु-उद्यान की रचना होती है।

स्रोत

प्राकृतिक रूप से भूमिगत जल के धरातल पर स्वतः निकलने को जल स्रोत कहते हैं। स्रोत में से जल तीव्र गति से निकलता है या धीमी गति से रिसता रहता है। जहाँ

अपारगम्य शैल परत के ऊपर पारगम्य शैल परत बिछी हो तथा उसका ढाल घाटी की ओर या पहाड़ी ढलान की ओर हो तो किनारे के सन्धि-स्थल पर स्रोत का निर्माण हो जाता है। पहाड़ी भागों में जहाँ जल-तल रेखा पर्याप्त ऊंचाई पर होती है वहाँ सदा जल बहता रहता है। इस प्रकार के स्रोत स्थायी होते हैं परन्तु यदि वर्षा ऋतु में जल बहता है और शेष-

चित्र 17·10 मरुस्थल में मरु उद्यान
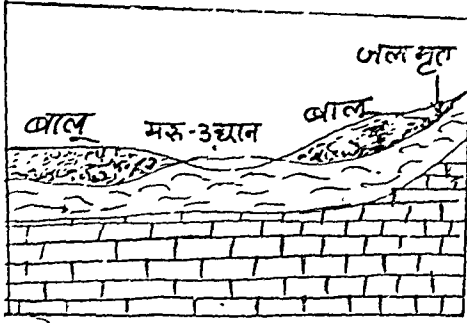
चित्र 17·11 सम्पर्क स्रोत

समय में बन्द हो जाता है वह अस्थायी स्रोत कहलाता है। भू-गर्भिक संरचना के आधार पर स्रोत निम्न प्रकार के होते हैं—पारगम्य तथा अपारगम्य शैल परतों के मिलन स्थल पर निर्मित स्रोत सम्पर्क स्रोत कहलाते हैं। इन्हें गुरुत्व स्रोत भी कहते हैं।

भ्रंशन के फलस्वरूप जब प्रवेश्य शैल की परत अप्रवेश्य शैल परत के सामने आ जाती है तो भ्रंशन रेखा के सहारे स्रोत का निर्माण हो जाता है। ऐसे स्रोतों को भ्रंश स्रोत या संरचनात्मक स्रोत कहते हैं।
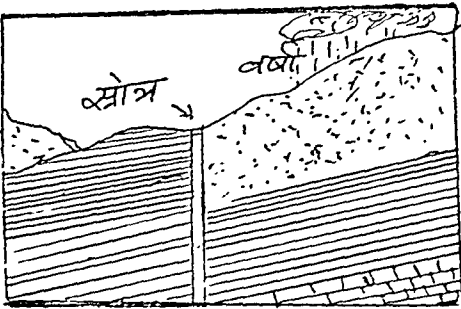
चित्र 17·12 भ्रंश स्रोत
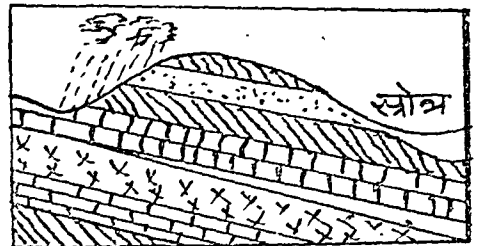
चित्र 17·13 उत्स्रुत स्रोत

दो अप्रवेश्य शैल परतों के मध्य प्रवेश्य शैल परत, जो जल से परिपूर्ण होता है, विद्यमान होती है तथा प्राकृतिक रूप से ऊपर की अप्रवेश्य शैल में दरार हो जाती है तो द्रवचालित दाब के कारण जल स्वतः ही बाहर निकलने लगता है। इस प्रकार के स्रोत को उत्स्रुत स्रोत कहते हैं। उत्स्रुत स्रोत और उत्स्रुत कूप में केवल इतना अन्तर है कि पहला प्राकृतिक है जबकि दूसरा मानवकृत।

चूना शैल प्रदेशों में वर्षा का जल चूने की शैलों के दरारों से या उसमें से रिसकर कन्दराओं में स्रोत के रूप में प्रकट होता है। जब धरातल के किसी झुके हुए भाग में ये कन्दराएँ बन जाती हैं तो वहाँ स्रोत का निर्माण होता है। फ्रांस में रोन नदी का फोन्टेन

डी वेयूक्लूसी इस प्रकार के स्रोतों का उदाहरण है। ऐसे स्रोत को वेयूक्लूसियर्स स्रोत भी कहते हैं।
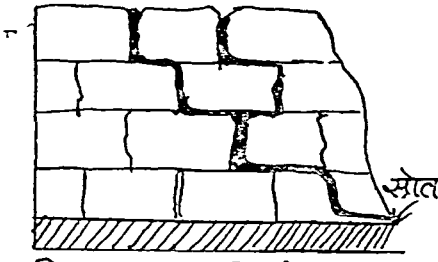
चित्र 17·14 कार्स्ट स्रोत
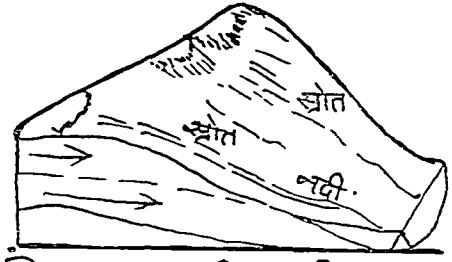
चित्र 17·15 दरारी या सन्धि स्रोत

जहाँ झुकी हुई अपारगम्य शैलों की दरारें या सन्धियां धरातल के ऊपर खुलती हैं तो इनमें एकत्रित वर्षा का जल स्रोत के रूप में बहने लगता है। इस प्रकार के स्रोत को दरारी या सन्धि स्रोत कहते हैं। स्काई द्वीप में अनेक क्युइलिन्स इस प्रकार के सन्धि स्रोत हैं।

चाक या चूने की शैलों के प्रदेशों में उच्च भूमि के नमन ढाल की ओर कहीं-कहीं अप्रवेश्य शैलों के सहारे नतिपाद स्रोत पाए जाते हैं। काट्सवाल्ड के पूर्वी किनारे पर इस प्रकार के स्रोत पाये जाते हैं।

कगार पाद स्रोत चाक या चूने के प्रदेश में प्रवेश्य शैलों के कगारों के निचले भाग में अधिकांश संख्या में पाए जाते हैं। काट्सवाल्ड के पश्चिमी किनारे पर अनेकों कगार-पाद स्रोत मिलते हैं जहाँ स्रोतों की रेखा के सहारे-सहारे अनेकों गाँव बसे हुए हैं।

जहाँ प्रवेश्य शैलों के मध्य अप्रवेश्य शैल के बांध धरातल से ऊपर निकल आते हैं तो प्रवेश्य और अप्रवेश्य शैलों के मिलन स्थल पर स्रोत का निर्माण हो जाता है। इसे डाइक स्रोत कहते हैं।
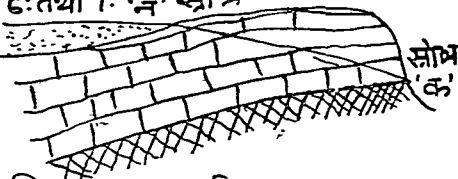
चित्र 17·16 'न' नतिपाद तथा 'क' कगार पाद स्रोत प्रदर्शित करते हैं
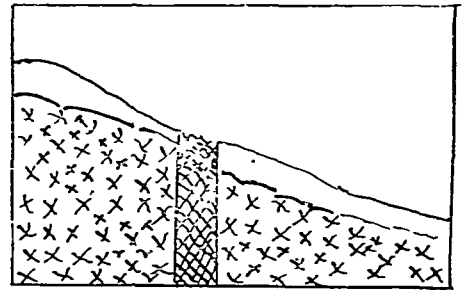
चित्र 17·17 डाइक स्रोत

खनिज एवं औषधीय स्रोत

सभी स्रोतों में कुछ न कुछ मात्रा में खनिज तत्त्व मिले रहते हैं किन्तु इनकी मात्रा यदि साधारण या अनुपात से अधिक होती है तो इस प्रकार के स्रोत खनिज स्रोत कहलाते हैं। कहीं-कहीं यह खनिज पदार्थ अपने स्वाद रंग और गंध में विशेषता रखते हैं। जिन स्रोतों में बीमारियों को दूर करने की क्षमता होती है वह **औषधीय स्रोत** कहलाते हैं, जैसे गन्धकीय

व गैसयुक्त स्रोत। संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणी डाकोटा, आरकंसास और कार्ल्सबाद (बोहेमिया), भारत में सहस्त्रधारा, छिन्दवाड़ा, तिलस्मा एवं अतारी के स्रोत प्रसिद्ध हैं।

जल के तापमान के आधार पर के ठण्डे और उष्ण जल के स्रोत होते हैं।

कम गहराई से निकलने वाला जल यदि धरातलीय जल की अपेक्षा ठण्डा होता है तो वह ठण्डा जल स्रोत कहलाता है। इस प्रकार के स्रोतों में वर्षा के जल की बाहुल्यता होती है।

उष्ण जल के स्रोत साधारणतः ज्वालामुखी क्षेत्र में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भू गर्भ में अधिक गहराई पर शैलों में कायान्तरण क्रिया के फलस्वरूप भी अधिक ताप और भाप की मात्रा उत्पन्न हो जाती है जो भूमिगत जल से मिलकर इसे गर्म कर देती है। उष्ण जल के स्रोत ठण्डे जल के स्रोतों की अपेक्षा कम पाए जाते हैं।

ऐसे गर्म जल की प्राकृतिक फुहारें जो रुक-रुक कर चलती हैं उष्णोत्स कहलाते हैं। इन्हें सविराम उद्भेदी उष्ण स्रोत भी कहते हैं। अधिकांश ये ज्वालामुखी क्षेत्रों में मिलते हैं। कुछ में उद्भेदन नियमित अन्तर से तथा कुछ में अनियमित रूप से होता है। अमेरिका में यलोस्टोन नेशनल पार्क का ओल्ड फेथफुल अपनी नियमितता के लिए प्रसिद्ध है। इसमें लगभग एक घन्टे ($66\frac{1}{2}$ मिनट) के अन्तराल में जल फुव्वारे के रूप में 30 से 60 मीटर तक उछलता है। इस प्रकार के उष्णोत्स आइसलैण्ड एवं न्यूजीलैण्ड में भी पाए जाते हैं।

उष्णोत्स की दरार या नली में, जो भूगर्भ में अधिक गहराई तक जाती है, प्रवेश्य शैलों से रिस-रिस कर जल भर जाता है। भूगर्भ की गहराइयों में तापमान 100° से. से अधिक होने के कारण जल गर्म होकर भाप बन जाता है और ऊपरी ठण्डे जल को तीव्रता से निष्कासित कर देता है। नली इतनी संकरी और गहरी होती है कि इसमें संवाहनीय धाराएँ नहीं बन पातीं अन्यथा नली का सभी जल समान तापमान का होने से इसमें भाप के द्वारा विस्फोटक शक्ति हो जाय। उष्णोत्स की नली में जल के भरने और भाप के बनकर निकलने की क्रिया बार-बार नियमित या अनियमित रूप से होती रहती है। यह बुनसन
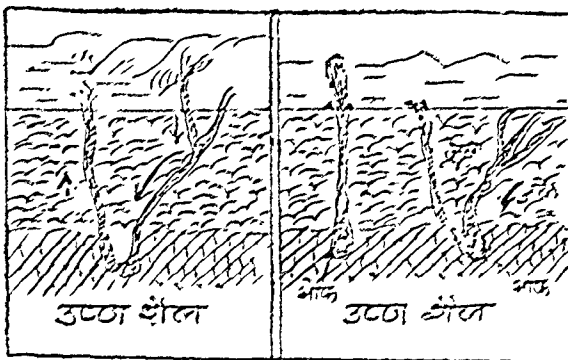
चित्र 17.18 [illegible] उष्णोत्स

चित्र 17.19 बुनसन के अनुसार उष्णोत्स

सिद्धांत कहलाता है जिसमें रुक-रुक कर जल उष्णोत्स से निकलता रहता है। इस दशा में पारगम्य शैलों से रिस कर या फिर दूसरी नली से जो उष्णोत्स की नली से नीची होती है

जल मुख्य नली में भर जाने पर गर्म हो जाता है। किन्तु मीटियारिक उष्णोत्स की नली से दूसरी नली जिसके द्वारा वर्षा तथा हिम जल उसमें एकत्रित होता है ऊंचे स्थान पर स्थित होती है जिसके कारण जल प्रवाह जारी रहता है।

कुछ असमान जल स्रोत भी होते हैं जिनके उद्‌गार तथा विराम का समय निश्चित नहीं होता। इन्हें अविश्यनीय गेसर कहते हैं, जैसे न्यूजीलैण्ड की वायमांगू गेसर।

चूना शैल क्षेत्रों में भूमिगत जल की क्रिया

चूने की शैल, डोलोमाइट, सेलखड़ी, खड़िया, शैल लवण आदि के क्षेत्रों में भूमिगत जल की क्षयात्मक तथा निक्षेपण क्रिया के फलस्वरूप नानाप्रकार की स्थलाकृतियों का निर्माण होता है। इन प्रदेशों में क्षयात्मक कार्य भूमिगत जल की घुलन क्रिया द्वारा ही सम्पन्न होता है। चूने के आदर्श प्रदेश यूगोस्लाविया में एड्रियाटिक सागर के किनारे 724 किमी. लम्बाई तथा 160 किमी. चौड़ाई में सागर तल से लगभग 2,500 मीटर ऊँचाई पर फैला हुआ है। इसको कार्स्ट प्रदेश के नाम से जाना जाता है। कार्स्ट शब्द यूगोस्लाव भाषा के 'क्रास' शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ चूने के प्रदेश से है। फ्रांस में इसे 'कौमे' कहते हैं। यूगोस्लाविया के अतिरिक्त संसार में ग्रीस, स्पेनिश अण्डालूसिया, उत्तरी पोर्टोरिको, पश्चिमी क्यूबा, संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणी इण्डियाना, वर्जीनिया, टेनेसी, मध्यवर्ती फ्लोरिडा तथा दक्षिणी इंगलैण्ड आदि में कार्स्ट क्षेत्र पाये जाते हैं।

चूने के प्रदेश में भूमिगत जल का कार्य उसी अवस्था में अधिकाधिक सम्पन्न हो सकता है जबकि पृष्ठीय धरातल पर चूने की शैल हो अथवा वे कम गहराई पर स्थित हों। इनमें संकरी सन्धियां हों तथा घनत्व भी अधिक हो अन्यथा एक ही वर्षा में घुल कर बहने अथवा पानी को सीधे नीचे जाने का खुला मार्ग मिल जाता है। चूने के प्रदेश में सामान्य वर्षा होनी चाहिए तथा वहाँ नदी का होना भी अनिवार्य है जिसके द्वारा जल प्राप्त होता रहे और स्थलाकृतियों का निर्माण भी होता रहे।

चूने की शैल को घोलने में कार्बन-डाइ-आक्साइड मुख्य कार्य करती है जो वायुमण्डल में वर्षा के जल में घुल जाती है। वर्षा का जल जब चूने की शैल पर गिरता है तो उनके विदरों या छिद्रों में होकर भूमि में प्रवेश कर घुलन क्रिया द्वारा विभिन्न प्रकार की स्थलाकृतियों का निर्माण करता है। चूने की शैलों द्वारा वर्षा का जल सोख लिया जाता है जिससे उनके आवरण पर घुलन क्रिया द्वारा लाल अथवा भूरी मिट्टी का निर्माण होता है जिसको 'टेरा रोसा' कहते हैं। टेरा रोसा का निर्माण सामान्य ढाल वाले भाग पर होता है जहाँ जल की पूर्ण प्रतिक्रिया सम्भव होती है। तीव्र ढाल वाले भागों में यह मिट्टी नहीं मिलती। प्रायः यह मिट्टी भूमिगत शैलों पर आवरण के रूप में फैली रहती है।

वर्षा का जल भूपटल की डोलोमाइट शैलों को घोल कर उसमें प्रवेश कर जाता है फलस्वरूप शैलो की सन्धियां चौड़ी हो जाती हैं और धरातल नुकीला एवं कटावदार हो जाता है। ऐसी स्थलाकृति को अवकूट कहते हैं। फ्रांस में लैपीज, जर्मनी में कारेन, ब्रिटेन में क्लिट एवं ग्राइक तथा सर्विया में इन्हें बोगाज कहते हैं। जे. स्वीजिक के अनुसार अवकूट को रचना के लिए धरातल आवरण रहित साधारण ढाल वाला होना चाहिए। घुलन क्रिया के कारण सन्धियों का विस्तार हो जाने से अनेक छिद्र बन जाते हैं, इन्हें घोलरन्ध्र (घोलछिद्र) कहते हैं। यह कीपाकार आकृति के होते हैं तथा 10 मीटर तक गहरे होते हैं।

घोल क्रिया द्वारा घोलरन्ध्र कालान्तर में इतने चौड़े और गहरे हो जाते हैं कि इनमें नदियाँ भी विलीन हो जाती हैं इसलिए इन्हें विलय या विलयन छिद्र की संज्ञा दी जाती है। यह भी कीपाकार किन्तु घोलरन्ध्र से बड़ी आकृति के होते हैं। जब विलयन छिद्र का ऊपरी
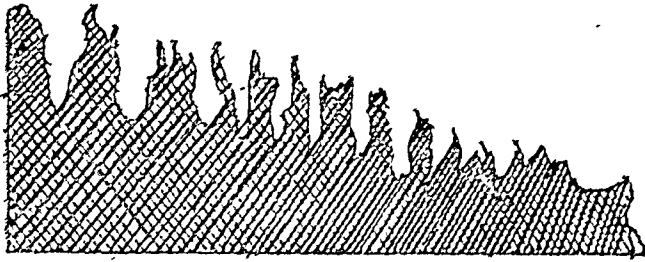
चित्र 17-20 अवकूट

भाग अकस्मात् नीचे धँस जाता है तो छिद्र का विस्तार बढ़ जाता है इस प्रकार के विस्तृत गड्ढे को डोलाइन या कुण्ड कहा जाता है। इनका आकार गोल अथवा अण्डाकार होता है।
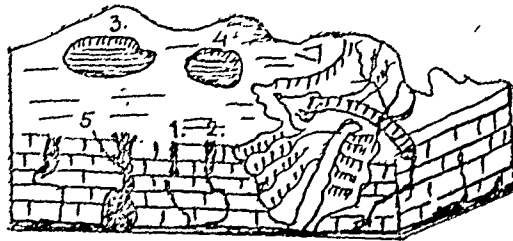
चित्र 17·21 (1) घोल रन्ध्र (2) विलयन छिद्र
(3) डोलाइन (4) प्राकृतिक पुल (5) पोनोर

लम्बाकार छिद्र या सुरंग जो विलयन छिद्र को भूमिगत कन्दरा से जोड़ता है, पोनोर कहलाता है। सर्बिया में पोनोर का अर्थ लम्बी सुरंग से होता है। फ्रांस में इसे अवेन्स नाम से जाना जाता है।

बहुत से विलयन छिद्रों या डोलाइन का ऊपरी भाग भूमिगत जल के घुलन के कारण ध्वस्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप एक वृहदाकार छिद्र का निर्माण होता है। छिद्र का ऊपरी भाग खुला होने के कारण इसके द्वारा भूमिगत जल के द्वारा निर्मित स्थलाकृतियों को देखा जा सकता है, इसलिए इस प्रकार के गर्त को 'कार्स्ट खिड़की' कहा जाता है।

भूमिगत जल की प्रक्रिया के कारण बहुत से डोलाइन एक दूसरे से मिलकर एक वृहद गर्त का निर्माण करते हैं। इस प्रकार के विस्तृत गर्त को सकुण्ड की संज्ञा प्रदान की गई है। सकुण्ड की दीवारें लगभग सीधी होती हैं। यह एक किलोमीटर व्यास तक के होते हैं। प्राय: इसमें नदियाँ लुप्त हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप उनका धरातल सूख जाता है जिसको शुष्क घाटी कहते हैं।

सकुण्ड से अधिक विस्तृत गर्त राजकुण्ड कहलाता हैं। राजकुण्ड सकुण्ड से मिलता-जुलता होता है परन्तु दोनों की उत्पत्ति में अन्तर होता है। सकुण्ड बहुत से डोलाइनों के मिलने से बनता है जबकि राजकुण्ड का निर्माण भूमिगत शैलों में भ्रंश होने या फिर अवतलन के कारण होता है। राजकुण्ड की दीवारें खड़ी होती हैं तथा यह लम्बाकार गर्त के रूप में होता है। इसका क्षेत्रफल कई वर्ग किलोमीटर में होता है, पश्चिमी बालकन प्रायद्वीप में 64 किलोमीटर लम्बा तथा 5 से 11 किलोमीटर चौड़ा राजकुण्ड है जो लिवनो पोल्जे के नाम से प्रसिद्ध है।
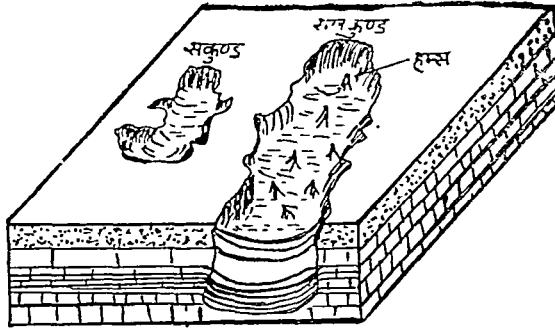
चित्र 17·22 सकुण्ड, राजकुण्ड तथा हम्स

डोलाइन के तल में भूमि के अधिक संतृप्त होने के कारण जल भर जाता है। इस प्रकार के जलाशय को कार्स्ट झील के नाम से पुकारते हैं।

यूवाला तथा पोल्जे के धरातल पर कहीं-कहीं कठोर चूना शैलों अथवा अन्य अघुलनशील शैलों के अवशेष छोटे-छोटे टीलों के रूप में खड़े रह जाते हैं जिनको यूगोस्लाविया में हम्स की संज्ञा दी गई है तथा पश्चिमी द्वीप समूह में इनको पेपिन हिल' के नाम से पुकारते हैं।

कंदराओं के अंशत: गिर जाने से प्राकृतिक पुल का निर्माण होता है। इस प्रकार घाटी के आरपार फैली हुई चट्टान को प्राकृतिक पुल कहते हैं। वर्जीनिया में प्राकृतिक पुल का निर्माण जल के स्राव के कारण हुआ है जो तल से 93 मीटर ऊँचा है। संयुक्त राज्य अमेरिका के यूटा राज्य में एक 83 मीटर चौड़ा प्राकृतिक पुल संसार का सबसे बड़ा पुल है।

भूमिगत जल की घुलन क्रिया के कारण भूमि के अन्दर चूना शैल घुनकर बह जाता है तथा खोखला स्थान शेष रह जाता है जो कन्दरा कहलाता है। कन्दराओं में प्राय: जल टपकता रहता है और कहीं-कही यह सूखी भी दिखाई देती हैं। केन्टुकी प्रान्त की मैमथ कन्दरा 48.2 किलोमीटर लम्बी है।

चूने के प्रदेश में सर्वत्र घोल छिद्र फैले रहते हैं जिसके कारण नदी को आगे बढ़ने में कठिनाई होती है। नदी का जल छिद्रों या विदरों से होकर नीचे चला जाता है इन्हें धंसती निवेशिकाएँ कहते हैं। जल नीचे पहुँच कर कन्दराओं का निर्माण करता है। कुछ दूर तक नदी दिखाई देती है तथा किसी-किसी स्थान पर अदृश्य हो जाती है। दक्षिणी इण्डियाना प्रान्त की लॉस्ट रिवर 13 किमी. की दूरी तक अदृश्य रूप में सतह के नीचे बहती है।

चूने के प्रदेश में नदी अति शीघ्र घाटी का निर्माण कर लेती है किन्तु जब उसका जल छिद्रों और विदरों से होकर नीचे चला जाता है तो पूर्व निर्मित घाटी शुष्क पड़ी रह जाती है जिसे ब्लाइन्ड वेली के नाम से जाना जाता है। बाढ़ के दिनों में जब छिद्र भर
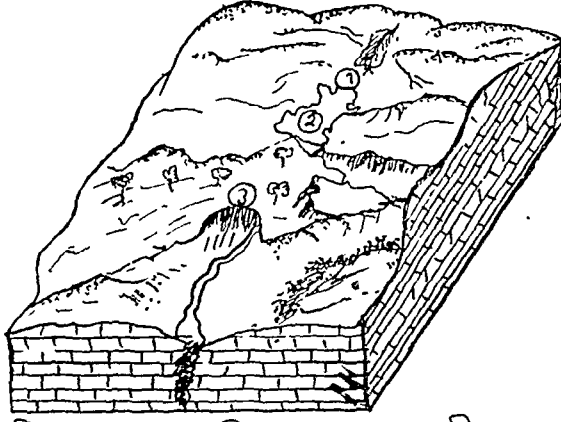
चित्र 1723 (1) प्राकृतिक पुल (2) शुष्क घाटी (3) कन्दरा

जाते हैं तो अल्पकाल के लिए घाटी में जल दिखाई देने लगता है अन्यथा यह शुष्क ही रहती है।

भूमिगत जल का परिवहन कार्य

भूमिगत जल अनेकों प्रकार के खनिज पदार्थों को घुलाकर बहा ले जाता है। कभी-कभी यह पदार्थ समुद्र अथवा झील तक भी पहुँच जाते हैं। किन्तु प्राय: अधिकांश भाग भूमि के नीचे ही निक्षेपित हो जाते हैं जिसके कारण नाना प्रकार की आकृतियाँ निर्मित हो जाती हैं। खनिजों की मात्रा अधिक होने के कारण जल की परिवहन शक्ति क्षीण हो जाती है क्योंकि खनिज लवणों के छिद्रों में जम जाने से शैल संरन्ध्र होते हुए भी पारगम्यता के गुण से वंचित रह जाता है।

भूमिगत जल में सामान्यत: कैलशियम कार्बोनेट, मैग्नेशियम, लोहा एवं सिलिका का घोल अधिकांश रूप में मिश्रित रहता है जिससे जल भारी होने के कारण निक्षेपण कार्य सम्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप अनेकों स्थलाकृतियों का निर्माण होता है। भूमिगत जल द्वारा निक्षेपण कार्य प्रारम्भ करने के लिए कुछ परिस्थितियाँ आवश्यक हैं, जैसे वाष्पीकरण जो तापमान की वृद्धि के कारण होता है।

तापमान में कमी के कारण जल खनिज पदार्थों को छोड़ देता है जो निक्षेपित हो जाते हैं। कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा घट जाने से भी निक्षेपण कार्य शीघ्र होता है।

दाब की कमी के कारण भी निक्षेपण शीघ्र होता है, मार्ग में चट्टानों के अवरोध के कारण भी परिवहन शक्ति क्षीण हो जाती है तथा निक्षेपण प्रारम्भ हो जाता है तथा अनेकों गैसों और रासायनिक प्रक्रियाओं के कारण भी निक्षेपण कार्य शीघ्र और सरलता से हो जाता है।

निक्षेप द्वारा निर्मित भू-आकृतियां

कहीं-कहीं भूमिगत जल एक ही स्थान पर स्थानान्तरण व निक्षेपण का कार्य सम्पन्न

करता है। इस प्रकार अनेकों खनिजों के मिलने से आन्तरिक प्रतिक्रिया होती है जिससे खनिज तत्वों में भारी परिवर्तन आ जाता है। इसका उदाहरण दबे हुए पेड़ के तनों और पौधे हैं जो आकृति के बिगड़े बिना ही अश्म की भाँति हो जाते हैं। ऐसे वृक्ष को काष्टाश्म या पाषाण या पेट्रीफाइड वृक्ष कहते हैं। इस प्रकार के पाषाण वृक्ष बर्मा, क्वीन्सलैण्ड, यलोस्टोन पार्क आदि में अधिकता से पाए जाते हैं।

भूमिगत जल एक ओर तो शैलों को घोलकर रन्ध्र तथा दरारों का निर्माण करता है तो दूसरी ओर निक्षेपण द्वारा इनको अधिक संहत बना देता है। धरातल के निकट आवरणक्षय के कारण शैलों की रन्ध्रता बढ़ती है जबकि अत्यधिक गहराई पर भेद्य शैल भी भूमिगत जल द्वारा निक्षेपण के कारण सुसंहत बन जाते हैं।

भूमिगत जल निक्षेपण द्वारा सन्धिस्थल पर दरारों को पाट कर शैल को सुदृढ़ बना देता है। इस प्रकार बजरी संश्लेषण के कारण सम्पीडाश्म में परिवर्तित हो जाती है।

जब किसी विशेष खनिज या जीवाश्म को केन्द्र मानकर निक्षेपण का स्थानीकरण होता है तो इस क्रिया को संग्रन्थन कहते हैं जिसके कारण पिण्डवत स्थलाकृति का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ चूने के प्रदेश में चर्ट तथा सिलिका प्रदेश में फ्लिट। भारत में कंकड़ की रचना भी संग्रन्थन के कारण ही होती है जिसमें ठोस सिलिका कणों के चारों ओर कैल्शियम कार्बोनेट का निक्षेपण होता है।

कहीं-कहीं शैलों के मध्य रिक्त स्थानों में भूमिगत जल में घुले रासायनिक द्रव्यों का निक्षेपण होता है जो पिण्डों व ग्रन्थिकाओं के आकार का होता है। उदाहरणार्थ सिलिका के परतों में निक्षेपित पदार्थ ऐगेट का रूप ग्रहण कर लेता है जो सिलिका के कणों के शीर्ष केन्द्र की ओर व्यवस्थित रहते हैं जिससे कण कंघी के दांतों की संरचना होती है। इस प्रकार की आकृति को रन्ध्र ग्रन्थिका कहते हैं।

भूमिगत जल के घोल में विभिन्न प्रकार के खनिज मिश्रित रहते हैं जो पृथक-पृथक रूप से रन्ध्रों एवं दरारों में निक्षेपित होकर खनिज शिराओं का निर्माण करते हैं जैसे केलसाइट और क्वार्टजाइट की शिराएँ। कई बहुमूल्य धातुएँ जैसे, सोना, चाँदी, सीसा, जस्ता, टिन, ताँबा आदि खनिज शिराओं का निर्माण करती हैं।

चूना प्रदेशों में गुफाओं की छत से चूनायुक्त घोल का जल बूंदों के रूप में टपकता रहता है। गुफाओं में तेज तापमान होने के कारण तीव्र वाष्पीकरण होता है जिसके फलस्वरूप जल चूने का अंश छोड़कर शीघ्र लुप्त हो जाता है। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है और चूना संग्रहित होकर कालान्तर में गुफा की छत से नीचे की ओर लटकते स्तम्भ के रूप में निर्मित हो जाता है जिसे अश्चुताश्म या आकाशीय स्तम्भ कहते हैं। यह नीचे से नुकीले, पतले तथा लम्बे आकार के होते हैं।

गुफा की छत से चूनायुक्त पानी का कुछ अंश फर्श पर गिरता है। जल वाष्प बन कर लुप्त हो जाता है तथा फर्श पर चूना संग्रहित होकर कालान्तर में एक स्तम्भ के रूप में खड़ा हो जाता है जिसे निश्चुताश्म या पातालीय स्तम्भ कहते हैं। यह छोटे किन्तु मोटे होते हैं।

खड़िया प्रधान प्रदेश में सिलिका द्वारा निर्मित स्तम्भों को फ्लिण्ट तथा चूना प्रधान प्रदेश में सिलिका द्वारा निर्मित स्तम्भों को चर्ट कहते हैं। जल की प्रतिक्रिया के कारण

डेविस डब्ल्यू. एम. ने कार्स्ट प्रदेश में अपरदन चक्र को कम महत्व दिया है। उनके अनुसार चूने के प्रदेश में उत्पन्न होने वाली स्थलाकृति के लक्षण नदी अपरदन चक्र की प्रौढ़ावस्था की एक 'विशेष परिस्थिति' है। किन्तु अधिकांश भू-वैज्ञानिकों ने कार्स्ट प्रदेश में
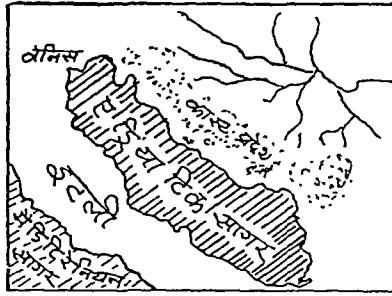
चित्र 17 26 एड्रियाटिक सागर के किनारे कार्स्ट प्रदेश

अपरदन चक्र की सम्भावनाओं के पक्ष में सहमति प्रकट की है। यद्यपि कार्स्ट प्रदेश में अपरदन चक्र का निरीक्षण एवं विश्लेषण सुगम नहीं है। इस दिशा में जोवान स्वीजिक का कार्य सराहनीय है। डब्ल्यू. सैण्डर्स के अनुसार स्वीजिक ने कार्स्ट-चक्र को चार अवस्थाओं— युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, पूर्ण प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था में बांटा है।

1. युवावस्था—इस अवस्था में सर्वप्रथम पृष्ठीय अपवाह का विकास होता है। शनैः शनैः पृष्ठीय जल रिस-रिस कर धरातल के नीचे भूमिगत जल का रूप धारण कर लेता है
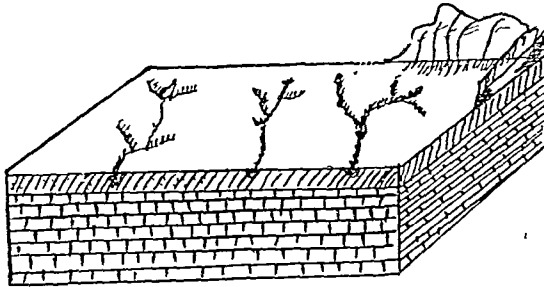
चित्र 17·27 युवावस्था (लोबेक के आधार पर)

जिसकी प्रवाह क्रिया से अवकूट, घोल तथा विलियन छिद्र तथा अनेक प्रकार के कुण्डों तथा कन्दराओं का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है।
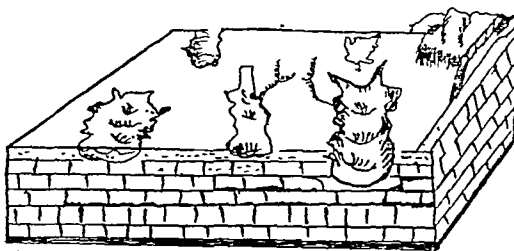
चित्र 17 28 प्रौढ़ावस्था (लोबेक के आधार पर)

2. प्रौढ़ावस्था—प्रौढ़ावस्था में पृष्ठीय जल थोड़ी दूर बहकर धंसती निवेशिकाओं में बहने लगता है और अन्त में विलियन छिद्र में प्रवेश कर जाता है। इस अवस्था में अन्धी

घाटियों और कन्दराओं का निर्माण होता है । इस अवस्था में कार्स्ट प्रदेश में स्थलाकृतियों का सर्वाधिक विकास होता है ।

3. पूर्ण प्रौढ़ावस्था—इस अवस्था में ऊँचे भागों का अपरदन प्रारम्भ हो जाता है तथा पृष्ठीय ऊंचाईयां कम होने लगती हैं । प्रौढ़ावस्था में निर्मित कार्स्ट स्थलरूपों का इस अवस्था में विनाश प्रारम्भ हो जाता है, कन्दराओं की छतों का कुछ भाग धंस जाता है,
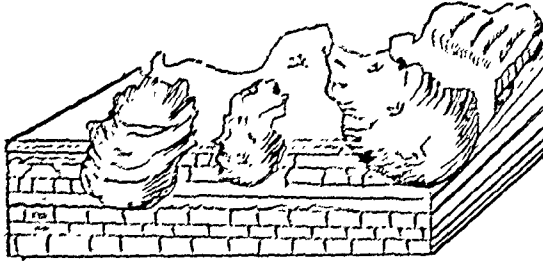
चित्र 17·29 पूर्ण प्रौढ़ावस्था (लोबेक के आधार पर)

जिससे कार्स्ट खिड़की का निर्माण होता है जिनमें से भूमिगत जलधाराओं को देखा जा सकता है । इस अवस्था में सकुण्ड, राजकुण्ड और हम्स का निर्माण होता है तथा स्थलखण्ड समप्राय मैदान का रूप लेने लगता है ।

4. जीर्णावस्था—जीर्णावस्था कार्स्ट प्रदेश के अपरदन चक्र की अन्तिम अवस्था है । स्थलखण्ड अपरदित होकर आधार तल तक पहुँच जाता है । धंसती निवेणिकाएं एवं अन्धी
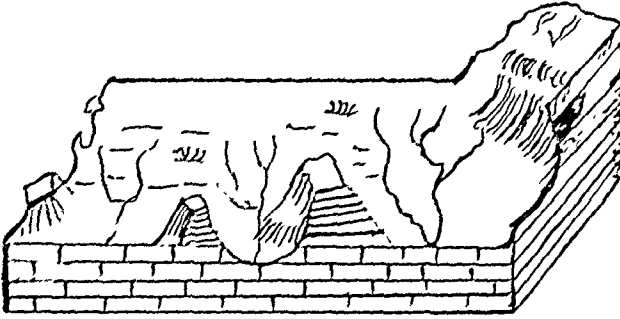
चित्र 17·30 वृद्धावस्था (लोबेक के आधार पर)

घाटियां समाप्त हो जाती हैं । भूमिगत जलधाराएँ सतह पर प्रवाहित होने लगती हैं जहां-तहां चूने के शैलों के कुछ अवशिष्ट भाग हम्स के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं ।

कार्स्ट अपरदन चक्र में कुछ अपवाद भी हैं । यह आवश्यक नहीं कि कार्स्ट प्रदेश में चारों अवस्थाएँ एक के बाद दूसरी क्रमवार गुजरें । युवावस्था के तुरन्त बाद जीर्णावस्था भी आ सकती है । इसी प्रकार यह भी जरूरी नहीं कि समस्त कार्स्ट प्रदेश में एक ही अवस्था विद्यमान हो । प्रदेश के एक भाग में युवावस्था है तो दूसरे में प्रौढ़ावस्था और तीसरे भाग में जीर्णावस्था हो सकती है । इस प्रकार प्रदेश के विभिन्न भागों में एक ही समय में विभिन्न अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं । जीर्णावस्था में अकस्मात् युवावस्था के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगते हैं जब भूमिगत जल को पृष्ठ की निचली परतों में नवीन चूने की परतें मिल जाती हैं ।

स्वीजिक के अनुसार पूर्णतया विकसित कार्स्ट प्रदेश में जल राशि के तीन क्षेत्र होते हैं। भूतल के नीचे के क्षेत्र में छोटी-छोटी जलधाराएँ और गर्त होते हैं। वर्षा काल में इनके द्वारा थोड़ा जल नीचे पहुँचता है, अन्यथा यह क्षेत्र शुष्क रहता है।

धरातल के नीचे पहले क्षेत्र से सटा दूसरा क्षेत्र होता है जो कभी शुष्क और कभी आर्द्र रहता है। इसमें बनी कन्दराओं एवं धाराओं में पानी भरा रहता है, किन्तु कभी-कभी सूख भी जाता है।

सबसे नीचे तीसरे क्षेत्र में अभेद्य शैलों की सतह पर जलराशि का स्थायी भण्डार रहता है। यहाँ पर बहने वाली धाराएँ एवं जलाशय पानी से सदैव भरे रहते हैं।

संसार के हर देश में चूने के भू-भाग पाये जाते हैं। कुछ उल्लेखनीय हैं चूना क्षेत्र निम्न हैं :

यूगोस्लाविया में एड्रियाटिक सागर के किनारे 724 किमी. लम्बा, 80 से 160 किमी. चौड़ा और 2500 मीटर ऊँचा 'कार्स्ट प्रदेश' है जो अपनी भू-आकृतियों के लिए विश्वविख्यात है।

मध्य फ्रांस का पठारी भाग चूना प्रदेश तथा भू आकृतियों के लिए महत्वपूर्ण है। इसका दक्षिणी ढाल भूमिगत जल की क्रिया के कारण अनेक खण्डों में विभक्त हो गया है।

इंग्लैण्ड के सफेद चूने से निर्मित चाक प्रदेश में थोड़ी सी मात्रा में चिकनी मिट्टी तथा रेत का मिश्रण पाया जाता है। किन्तु यह अपनी कन्दराओं, घोल रन्ध्रों, सकुण्ड, मिट्टी भरी नालियों तथा शुष्क घाटियों के लिए प्रसिद्ध है।

मैक्सिको में युकाटन के तटीय प्रदेश में चूना शैल की नीची पहाड़ियां हैं। शैलों की दरारों से रिसकर सम्पूर्ण जल बह जाता है जिसके कारण यहाँ नदियाँ नहीं पाई जातीं। घोलरन्ध्र प्राकृतिक कुओं का काम करते हैं। इन्हें यहाँ 'सीनोट' नाम से सम्बोधित करते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी-पूर्वी तट पर फ्लोरिडा एक प्रायद्वीप है जिसके मध्य में चूना प्रदेश फैला हुआ है। यह युकाटन प्रदेश से मिलता-जुलता है। इसके अतिरिक्त केन्चुकी, वर्जीनिया, टेनेसी तथा इण्डियाना राज्यों में चूने के प्रदेश फैले पड़े हैं।

दक्षिणी आस्ट्रेलिया में क्युन्सलैण्ड का नलारबर मैदान युकाटन प्रदेश से मिलता-जुलता है किन्तु अपेक्षाकृत शुष्क होने के कारण नदियों से वंचित है।

एशिया में उत्तरी मलेशिया, द. प. चीन, इन्डोनेशिया में चूना के प्रदेश पाये जाते हैं किन्तु इनमें भूमिगत जल से निर्मित पूर्ण स्थलाकृतियाँ नहीं पाई जातीं।

दक्षिणी भारत में सतपुड़ा, विन्ध्याचल तथा अरावली में और कर्नूल जिले में चूना क्षेत्र पाये जते हैं। इसी प्रकार उत्तरी भारत में जम्मू कश्मीर, कांगड़ा घाटी तथा हिमालय, असम और पंजाब में चूना के क्षेत्र मिलते हैं किन्तु यह आदर्श चूना क्षेत्र नहीं हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Bunnett, R. B. (1967), Physical Geography in Diagrams (Longmans Green and Co. Ltd., London).
2. Cotton, C. A. (1948), Landscape (Cambridge Uni. Press, London).

3. Engeln, Von. O. D. (1949), Geomorphology (Macmillan Co.)
4. Holmes, A. (1966), Principles of Physical Geology, (English Language Book Society).
5. Lobeck, A. K. (1939), Geomorphology (McGraw Hill Book Co. Inc., New York).
6. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography (John Wiley and Sons, Inc., New York).
7. Sweeting, Marjorie, M. (1973), Karst Landforms (Columbia University Press, New York).
8. Todd, D. K. (1959), Ground Water Hydraulogy (John Wiley and Sons, New York).
9. Tolman, C. F, (1937), Ground Water (McGraw Hill Co. New York).
10. Worcester, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology (D. Van Nostrand Co., Inc., New York, London).

———

18

महासागरीय जल का कार्य
[The Work of Ocean Water]

महासागरीय जल का कार्य
(The Work of Ocean Water)

सामान्य परिचय—धरातल पर परिवर्तनकारकों में सागर जल का महत्वपूर्ण स्थान है। यों तो सागर का कार्य क्षेत्र जल और थल के तट तक ही सीमित है, किन्तु पृथ्वी का तीन-चौथाई भाग सागरों द्वारा घिरा हुआ है। अतः तट रेखाओं की लम्बाई को देखते हुए धरातल का विस्तृत भाग सागर के सम्पर्क में आता है। समुद्र अपनी तरंगों, ज्वारीय तरंगों, धाराओं आदि से अपरदन तथा निक्षेप द्वारा तटों पर परिवर्तन लाता है, जिसके फलस्वरूप अनेकों स्थलाकृतियों का निर्माण होता रहता है।

सर्वप्रथम भूगर्भशास्त्री रैमसे तथा रिचथोफेन ने सागरीय अपघर्षण के महत्व पर जोर दिया। रैमसे ने वेल्स तथा इंगलैण्ड के दक्षिणी-पश्चिमी ऊँचे तटीय भागों में मैदानों का कारण सागरीय अपघर्षण बताया। रिचथोफेन ने फियोर्ड-तट तथा रिया तट का अन्तर समझाया। स्टीअर्स तथा लेविस ने इंगलैण्ड के तटीय भागों पर सागरीय तरंगों द्वारा की गई प्रतिक्रिया के बारे में विस्तृत जानकारी दी है।

सन् 1911 में इंगलैण्ड के राजकीय आयोग की रिपोर्ट में लिखा है कि 35 वर्षों के अन्तराल में इंगलैण्ड की 233 वर्ग किमी. (90 वर्ग मील) भूमि समुद्र ने अपरदन द्वारा आत्मसात करली है। आज से 90 सहस्र वर्ष पूर्व के मानचित्र के आधार पर इंगलैण्ड की यूरोप से स्थल सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार दक्षिणी भारत तथा श्रीलंका के मध्य अनेकों छोटे-छोटे द्वीपों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कभी दोनों स्थल-सेतु द्वारा जुड़े हुए होंगे। यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि सागर वर्तमान गति से अपरदन करता रहा तो दीर्घ अवधि में यूरोप को सागर आत्मसात कर लेंगे।

सागरीय तरंगें

सागरीय तरंगों की रचना कई कारणों से होती है, किन्तु इन सभी में वायु सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वायु से सागरीय जल पर घर्षण द्वारा तरंगों की रचना होती है। तरंग का शीर्ष तथा दो निकटतम शीर्षों के मध्य का गर्त द्रोणिका कहलाते हैं। शीर्ष तथा नितल के मध्य का लम्बवत अन्तर तरंग की ऊँचाई होती है। दो संलग्न शीर्षों के मध्य का क्षैतिज

अन्तर तरंग की लम्बाई कहलाती है। दो क्रमबद्ध शीर्षों अथवा द्रोणिकाओं को पार करने में जितना समय लगता है वह तरंग-अवधि माना जाता है। तरंग के आगे बढ़ने की गति को तरंग-वेग कहते हैं। जिस जल स्तर पर होकर तरंग आगे बढ़ती है वह क्षेत्र वातोर्मि कहलाता है। तरंग की ऊँचाई न केवल तरंग वेग अपितु जल के उस सभी क्षेत्र जिस पर होकर वायु बहती है, निर्धारित करते हैं, यही वातोर्मि क्षेत्र कहलाता है।

तरंगों का वर्गीकरण उनके जल प्रवाह के आधार पर किया गया है। तरंगें कई प्रकार की होती हैं, किन्तु इनमें दोलन तरंगें तथा स्थानान्तरणी तरंगें मुख्य हैं।

दोलन तरंगों के साथ जल आगे को गतिशील न होकर अपने स्थान पर ही चक्राकार रूप में गति करता है। जल की गति आगे-पीछे तथा ऊपर-नीचे होती रहती है। तरंग शीर्ष पर जल कणों की गति आगे की ओर द्रोणिका में पीछे, अग्र भाग में ऊपर तथा पृष्ठ भाग में नीचे की ओर होती है इस तरंग में जल की गति चक्राकार रूप में होती है।
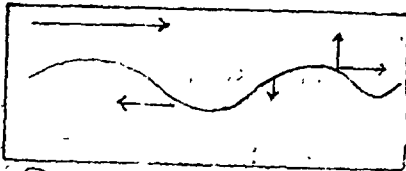
चित्र 18·1 तरंग में जल की दिशा
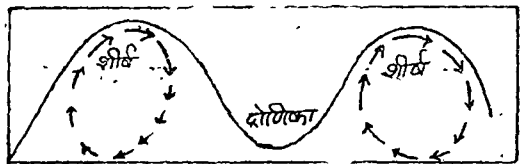
चित्र 18·2 तरंग में जल की चक्राकार गति

स्थानान्तरणी तरंग को श्रृंगी तरंग भी कहा जाता है। इसमें जल की गति तरंग की संचरण दिशा की ओर होती है। तरंग की समस्त गहराई का जल तरंग की दिशा में ही गतिशील होता है। अतः दोलन तरंगों की अपेक्षा स्थानान्तरणी तरंगों का अपरदनात्मक कार्य अधिक प्रभावशाली होता है।

चित्र 18·3 सागरीय तरंग

तरंगों की गति उनकी लम्बाई तथा जल की गहराई पर आधारित होती है। तरंग की लम्बाई की तुलना में, यदि जल गहरा होता है तो तरंग की गति उसकी लम्बाई पर निर्भर रहती है। इसके विपरीत यदि जल की गहराई तरंग की लम्बाई से आधी से भी कम होती है तो तरंग की गति जल की गहराई पर आधारित रहती है। ज्यों-ज्यों तरंग तट की ओर बढ़ती है त्यों-त्यों जल की गहराई कम हो जाती है, फलतः तरंग का निचला भाग तली से रगड़ खाना प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार तरंग की लम्बाई उसके शीर्ष की ऊँचाई के अनुपात में कम हो जाती है तथा वह टूटकर आगे तट से टकराती है। इस टूटी तरंग को अवनमन सर्फ, ब्रेकर या उद्धावन या स्वाश कहते हैं। अवनमित तरंग अत्यन्त शक्तिशाली होती है। अतः यह तटों का अपरदन करने में अधिक सक्षम होती है।

अवनमित तरंग अपने पीछे आने वाली तरंग के नीचे से होकर पीछे लौटती है। इस प्रकार के तरंग प्रवाह को अधः प्रवाह कहते हैं। अधः प्रवाह अपने साथ अपरदित तलछट बहाकर सागर में ले जाती है। अतः यह तरंग निक्षेपात्मक कार्य में बाधक होती है।

जब सागरीय तरंगें वायु के वेग से तट से तिरछी टकराती हैं तो जल तट से टक्कर खाकर उसके समानान्तर प्रवाहित होता है। इस प्रकार के प्रवाह को वेलांचली धारा कहते हैं। यह धारा तट रेखा में परिवर्तन करने में महत्वपूर्ण योगदान देती है। इसके अतिरिक्त ज्वारीय तरंगें तथा सुनामिस तरंगें भी अपरदन के मुख्य कारक हैं।
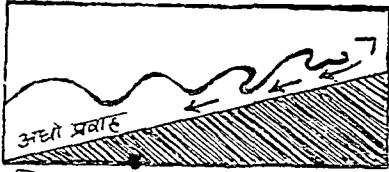
चित्र-18·4 तरंग का अवनयन तथा अधो प्रवाह

चित्र 18·5 वेलाचली धारा (Littoral Current) एवं सागरीय धारा (Ocean Waves)

समुद्री तट व वीचि

सामान्यतः समुद्रीतट तथा वीचि को एक दूसरे का पर्यायवाची समझा जाता है किन्तु उनकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। सागरीय जल की ज्वार के समय की सीमा तथा महाद्वीपीय चट्टानों के मध्य का शुष्क भू-भाग तट कहलाता है। इस भू-भाग में केवल भीषण तूफानों या भूकम्पों के समय ही जल पहुँच पाता है। तट की सीमा से आगे सागरीय किनारा प्रारम्भ होता है जो महाद्वीपीय ढाल के उथले भाग तक फैला होता है। सागरीय वीचि को तीन भागों में बाँटा गया है :

सागर की ओर जल की अन्तिम सीमा एवं उच्च ज्वार के समय जल की सीमा के मध्य भाग को पृष्ठ वीचि कहते हैं। इस भाग में तरंगें वीचि के रूप में पहुँच कर टूटती हैं। यहाँ जल सदा नहीं रहता. अग्रिम छोर उच्च तथा निम्न ज्वार तलों के मध्य फैला होता है। यहाँ सागरीय जल सदा विद्यमान रहता है। बाहरी या सुदूर छोर निम्न ज्वार तल एवं उछले महाद्वीपीय ढाल के मध्य फैला होता है। यहाँ दोलन तरंगें अपने पूरे वेग पर होती हैं तथा इस स्थान से उनकी गति में ह्रास होना प्रारम्भ होता है। चित्र 6 में तट तथा वीचि के भाग प्रदर्शित किये गये हैं। महासागर के किनारे अस्थाई रूप से तलछट के निक्षेप को पुलिन कहते हैं।
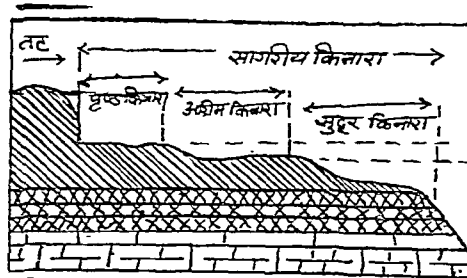
चित्र 18·6 सागरीय तट एवं किनारे के भाग

सागरीय अपरदन

सागरीय अपरदन का कार्य मूल रूप से अवनमित तरंगों तथा स्थानान्तरणीय तरंगों द्वारा सम्पन्न होता है, किन्तु इसके अतिरिक्त तूफानी तरंगें तथा सुनामिस तरंगें भी अपरदन

में सहयोग करती हैं। अपरदन का कार्य जलीय क्रिया, अपघर्षण, संनिघर्षण व रसायनिक क्रियायें करती हैं।

अत्यधिक वेग से टकराती हुई सागरीय तरंगें तटों की शैलों की दरारों तथा सन्धियों में प्रवेश कर जाती हैं। जल के दाब के कारण शैलों में सम्पीड़न होता है। सामान्यतः तरंगों का जलदाब 4 टन प्रतिवर्ग मीटर होता है। जॉनसन ने स्काटलैण्ड के तट पर डायनोमोमीटर द्वारा प्रतिवर्ग फुट पर 6000 पौण्ड जल दाब अंकित किया था। तूफानी तरंगों के समय यह दाब 60,000 प्रति वर्गमीटर हो जाता है। इस तीव्र दाब के कारण 100 टन से भी अधिक भार के शिला-खण्ड टूट कर तट से दूर पहुँच जाते हैं।

महासागर की वेगवती तरंगें विभिन्न आकार-प्रकार के शैलखण्डों के साथ तट से टकराती रहती हैं जिसके फलस्वरूप निरन्तर अपरदन होता रहता है। इस क्रिया को अपघर्षण कहते हैं। तूफानी तरंगों के कारण कटाव गहरा होता जाता है और अन्त में एक समय ऐसा आता है, जबकि कटाव के ऊपरी शैल असन्तुलित होकर ढह जाते हैं। इस प्रकार चट्टानें शनैः-शनैः पीछे हटती जाती हैं।

तरंगों में विद्यमान शैल तट से टकराने के अतिरिक्त स्वयं भी आपस में टकराकर खण्डित होकर गोलाकार, छोटे एवं अत्यन्त महीन हो जाते हैं।

यदि तट घुलनशील शैलों से निर्मित हैं तो रासायनिक क्रिया द्वारा सुगमता से घुल जाता है। डोलोमाइट, चूना शैल आदि घुलनशील होते हैं। इसके अतिरिक्त तटीय शैलों में दरार तथा सन्धियाँ अधिक होने से रासायनिक अपरदन अपेक्षाकृत अधिक और शीघ्र होता है।

सागरीय अपरदन को प्रभावित करने वाली दशायें

तरंगों की शक्ति उसके वातोर्मि क्षेत्र, भार, सागर की गहराई तथा वायु की गति पर आधारित रहती है। वातोर्मिक्षेत्र जितना विस्तृत तथा खुला होगा तरंगें उतनी ही शक्तिशाली होंगीं। उत्तरी सागरों में दक्षिणी जल गोलार्द्ध की अपेक्षा तरंगों में अधिक शक्ति रहती है। तरंगों में जितना सन्तुलित भार अर्थात् बजरी, बट्टे, बालू, कंकड़ आदि होंगे, तरंग उतनी अधिक शक्तिशाली होगी। गहरे सागर में तरंगों की गति अपेक्षाकृत अधिक होती है। वायु तरंग की जन्मदाता है। अतः वायु की गति से तरंग सीधी प्रभावित होती है।

उच्च महासागर की तरंगों के दबाव के अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात हुआ कि ग्रीष्म ऋतु में तरंगों की भार वहन शक्ति, 3,400 किलोग्राम प्रति वर्ग मीटर होती है। शीत ऋतु में चक्रवातों के कारण यह शक्ति 33,000 किलोग्राम तक हो जाती है। यह सिद्ध करता है कि वायु ही तरंगों को शक्ति प्रदान करती है।

साधारणतः खुले सागर में तरंगों की ऊँचाई 1.5 मीटर से 4.5 मी. तथा लम्बाई 90 मी. के लगभग होती है। किन्तु भारी तूफानों के समय इनकी ऊँचाई 9 से 15 मीटर तक तथा लम्बाई 212 से 305 मी. तक हो जाती है। सामुद्रिक भूकम्पों एवं ज्वालामुखी विस्फोटों के समय उत्पन्न भीषण तरंग—जिसे सुनामिस की संज्ञा दी गई है कि ऊँचाई 41 मी. तथा लम्बाई 450 मी. तक हो जाती है। इसका वेग 100 किमी. प्रति घंटा तक होता है। सुनामिस तरंग अत्यन्त विनाशकारी होती है। लम्बी तथा लम्बी अवधि की

तरंग अत्यधिक वेगवती होती है, इसका अपरदनात्मक कार्य अपेक्षाकृत अधिक होता है।

तटीय भाग की संरचना व बनावट

तट शैलों की संरचना तथा बनावट उनकी अपरदन की मात्रा को सीधा प्रभावित करते हैं। कोमल परतदार अबद्धकणों तथा असंगठित शैल कठोर आग्नेय तथा रूपान्तरित शैलों की अपेक्षा शीघ्र अपरदित होते हैं। इसी तरह अधिक दरार व संधियों वाली शैल पर अपरदन का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत कठोर शैलों में तरंगों का लम्बी अवधि तक अदृश्य रूप से अपरदन कार्य होता रहता है। तरंग छोटे-मोटे कंकड़ पत्थरों के द्वारा शैलों को रेगमाल की तरह रगड़ती रहती हैं।

तटवर्ती शैलों की रचना-विधि- तथा अपरदन का सीधा सम्बन्ध है। यदि तट की शैलों का नमन तथा ढलान सागर की ओर है तो तट शीघ्र अपरदित हो जायेगा। शैलों के निचले भाग में थोड़े से अपरदन से ऊपरी शैलों का आधार समाप्त होने से वह नीचे गिरते रहते हैं। इसके विपरीत यदि शैलों का नमन तट की ओर है तो अपरदन कठिनाई से होगा। चित्र 7 में सागर की ओर तथा चित्र 8 में तट की ओर शैलों के नमन प्रदर्शित किए गये हैं।

चित्र 18·7 तटीय शैलों का सागर की ओर नमन (DIP)
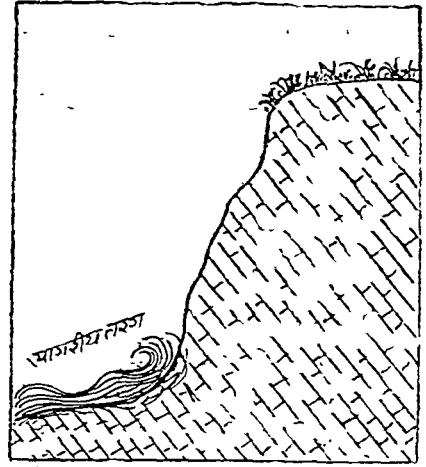
चित्र 18·8 तटीय शैलों का तट की ओर नमन (DIP)

यदि सुदूर किनारा अधिक गहरा है तथा तट का ढाल खड़ा हो तो इस स्थिति में तरंगों का जल पीछे की ओर परावर्तित हो जाता है फलतः तरंगों की अपरदन शक्ति क्षीण हो जाती है। इसके विपरीत उथले जल के किनारे तथा मन्द ढाल के तट पर तरंगों का प्रहार तीव्र होता है तथा अपरदन कार्य भी तेजी से चलता है।

यदि तरंग अपरदनात्मक संसाधनों जैसे कंकड़, पत्थर, शिलाखण्ड, बजरी आदि से सज्जित है तो उसका अपरदनात्मक प्रभाव तलछट रहित तरंग की अपेक्षा अधिक होगा।

आर्द्र प्रदेशों में जहाँ वर्षा अधिक होती है अपरदन तेजी से होता है। ऐसी जलवायु में वर्षा तट को ऊपर से और सागर नीचे से काटता रहता है। इस प्रकार के दोहरे अपरदन से शैल शीघ्र छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

जीव-जन्तु एवं वनस्पति भी शैलों को विदरित कर देते हैं जिससे तरंगों का अपरदन कार्य सरल हो जाता है।

यदि तरंग तट से सीधी टकराती है तो वह पूरी शक्ति से प्रहार करती है, किन्तु वह यदि तिरछी दिशा से प्रहार करती है तो उसकी शक्ति कम हो जाती है जिससे अपरदन भी क्षीण होता है।

स्थलाकृतियों का अपरदन

तरंग तट पर सतत् प्रहार करती रहती है जिसके परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की भू-आकृतियों का निर्माण होता है।

तटीय शैलों की असमान संरचना व आकार तट के रूप को निर्धारित करते हैं। यदि तट समान प्रकृति के शैलों से निर्मित हैं तो तरंगों द्वारा तट में नगण्य असमानता पैदा होगी तथा स्थलाकृतियों का अभाव होगा। किन्तु इसके विपरीत यदि तट असमान शैलों से निर्मित है अर्थात् कोमल तथा कठोर शैलों से बना है तो तरंग कोमल शैलों के कठोर शैलों की अपेक्षा शीघ्र अपरदित कर स्थलाकृतियों का निर्माण करेंगी जिससे तट रेखा असमान हो जायेगी। कोमल शैलों के अपरदन के फलस्वरूप छोटी-छोटी खाड़ियां तथा अन्तः प्रविष्ट आकृति का निर्माण होगा जैसे दक्षिणी-पश्चिमी आयरलैण्ड की खाड़ियां हैं। इसके विपरीत यदि शैल कठोर प्रकृति के हैं तो अपेक्षाकृत मन्द अपरदन के कारण वह बाहर को निकली रह जायेगी तथा अन्तरीप का निर्माण करेगी।

ऊँचे तटवर्ती क्षेत्रों में सागरीय अपरदन के कारण ढाल तीव्र हो जाता है। इस खड़े ढाल पर तरंगों का प्रभाव शैल आधार की निचली ओर होता है। तरंग शनैः-शनैः आधार में खांचे या दांतों का निर्माण कर देती है। खांचों का विस्तार तट की ओर अधिक होने से ऊपर का भाग लटकता सा प्रतीत होता है और अन्त में आधारहीन होकर गिरता रहता है तथा तट की ओर खिसकता जाता है। इस प्रकार तटों पर खड़े ढालों का निर्माण होता है, जिन्हें भृगु कहते हैं।
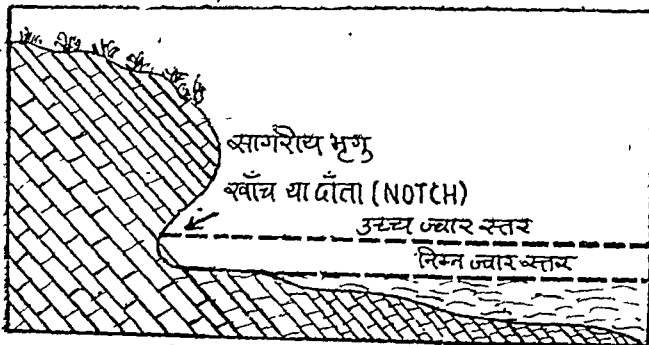
चित्र 18·9 सागरीय भृगु

भृगु का आकार शैलों की संरचना तथा बनावट पर निर्भर करता है, जैसे सागर की ओर नमन वाली शैलों से निर्मित भृगु तट की ओर नमन वाली शैलों से भिन्न होगी। इसी प्रकार लम्बाकार परतों वाली शैलों की तुलना में क्षैतिज शैलों से निर्मित भृगु भिन्न होगी।

ऋतु अपरदन भृगु के निर्माण में योग देता है। भृगु केवल कठोर शैलों से ही नहीं अपितु कोमल शैलों से भी निर्मित होते हैं। डोरसेट, पूर्वीकेण्ट तथा वाइट द्वीप मे डोलोमाइट तथा चाक से निर्मित भृगु इसके उदाहरण हैं। स्तर भ्रंश से भी भृगु बनते हैं। स्काटलैण्ड के तट पर इस प्रकार के भृगु पाये जाते हैं।

कहीं-कहीं तट के समानान्तर क्रमश: कठोर तथा कोमल शैलों की परतें फैली रहती हैं। ऐसी स्थिति में तरंगो का जल कठोर शैलों की दरारों एवं सन्धियों में प्रवेश कर जाता है। कठोर शैलों के पृष्ठ स्थित कोमल शैलों को जल अन्दर ही अन्दर अपरदित कर उन्हें खोखला करता रहता है। ऐसी जलगत क्रिया से कोमल शैलों में बड़े अण्डाकार आकार के छिद्रों का निर्माण होता है जिन्हें लघु निवेशिका कहते हैं। कालान्तर में अण्डाकार कटाव की शेष भूमि भी अपरदित हो जाती है और केवल कठोर शैल ही शेष रह जाते हैं। इस प्रकार के छोटे-छोटे टापुओं वाली भू-आकृति को शीर्ष-स्थल कहते हैं।
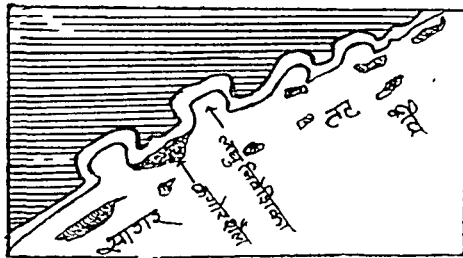
चित्र 18·10 -लघु निवेशिका (COVE) तथा द्वीप

तटीय कन्दरा एवं उससे सम्बन्धित भू-आकार

यदि किसी कठोर तटीय कगार के निचले भाग में किसी स्थान पर कोमल शैल हों तथा शैलों में सन्धियों का पूर्ण विकास हो, तो सागरीय तरंगों का जल इन सन्धियों में प्रवेश कर कोमल शैलों को अपरदित करता रहेगा। प्रारम्भ में कोमल शैलों के स्थान पर एक छिद्र का निर्माण होगा। प्रचण्ड वेग वाली तरंगें इस छिद्र में प्रवेश कर जायेंगीं तथा जल दाब के कारण छिद्र में विद्यमान वायु सिकुड़कर शैलों को कमजोर कर तोड़ती रहेगी। जब तरंग लौटती है तो वायु जलदाब से मुक्त हो जायेगी तथा फैलेगी। बार-बार की इस प्रक्रिया से शैलों का विखण्डन हो जाता है तथा कन्दरा या गुहा का निर्माण हो जाता है।

जब तरंग जल कन्दरा में प्रवेश करता है तो उसमें पहले से ही विद्यमान वायु पर अत्यधिक जल दाब पड़ता है, जिससे वायु बाहर निकलने का प्रयास करती है। इस प्रयास में वह शैलों की सन्धियों को फाड़कर गुहा की छत में छिद्र बना लेती है। इस छिद्र को **वात छिद्र** कहते हैं। ऐसे छिद्र सैकड़ों मीटर लम्बे होते है। तीव्र ज्वार या तूफानी तरंगों के समय इन छिद्र में से सीटी बजाती हुई पानी की फुआर निकलती हैं। ऐसे छिद्रों को **टोंटीदार तूर्य** कहते हैं।

इंगलैण्ड के वाइट द्वीप के किनारे इस प्रकार के छिद्र देखने को मिलते हैं। (चित्र 11)।

तरंगों का जलदाब एवं वायु की सम्पीडन शक्ति कन्दरा को तट की ओर अग्रसित करती जाती है। कालान्तर में कन्दरा की छत गिर जाती है। ऐसी स्थिति में लम्बी

तथा संकरी खाड़ियों का निर्माण होता है। स्काटलैण्ड तथा फेरो द्वीप में छत रहित कन्दराओं को ज्यो कहते हैं। ज्यो को एक संकरी निवेशिका या छोटी खाड़ी भी कहा जाता है।

कहीं-कहीं तटवर्ती लम्बवत् शैलों का अग्रिम भाग समुद्र की ओर फैला होता है। यदि लम्बवत् शैलों के मध्यवर्ती भाग में कोमल शैलों का भाग स्थित हो तो तरंगों के दैनिक प्रहार के कारण मध्य का कोमल भाग अपरदित हो जाता है। प्रारम्भ में इन शैलों में एक आर-पार छिद्र हो जाता है जो तरंगों के निरन्तर प्रहारों से शनैः-शनैः मेहराब का आकार ग्रहण कर लेता है। डोरसेट की डर्डिल डोर मेहराब इसका उदाहरण है।

चित्र 18·11 – तटीय कन्दरा और तरंग घात-छिद्र

चित्र 18·12 – समुद्री मेहराब तथा स्टैक
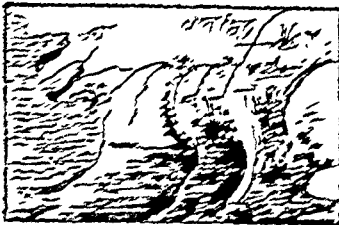
किसी मेहराब पर तरंगों के निरन्तर प्रहारों से उसकी छत टूट कर गिर जाती है। इस प्रकार शैल का एक भाग मुख्य भू-भाग से पृथक् हो जाता है। इस प्रकार के एकल भू-आकार को अलग स्तम्भ कहते हैं। अलग स्तम्भ का निर्माण उस स्थिति में भी होता होता है जब शीर्षस्थल के अग्रिम भाग के चारों ओर की कोमल शैलें अपरदित हो जाती हैं तथा मध्य का कठोर भाग स्तम्भ के रूप में खड़ा रह जाता है। अलग स्तम्भों का आकार शैलों की रचना पर आधारित है। साधारणतः स्तम्भ अस्थायी होते हैं। अलग स्तम्भ दूर से देखने पर चिमनी की भाँति प्रतीत होते हैं इसलिए इनको चिमनी शैल या स्कैरी भी कहते हैं। वाइट द्वीप समूह के तटीय पश्चिमी किनारों पर बड़े सुईयों के आकार के अलग स्तम्भ इसके उदाहरण हैं।

तरंगों के सतत प्रहार से समुद्री भृगु शनैः-शनैः पीछे हटते जाते हैं तथा अपरदित पदार्थ वेलांचली धाराओं द्वारा बहाकर ले जाया जाता है। इस प्रकार कालान्तर में एक

चित्र 18·13 – तट वेदिका
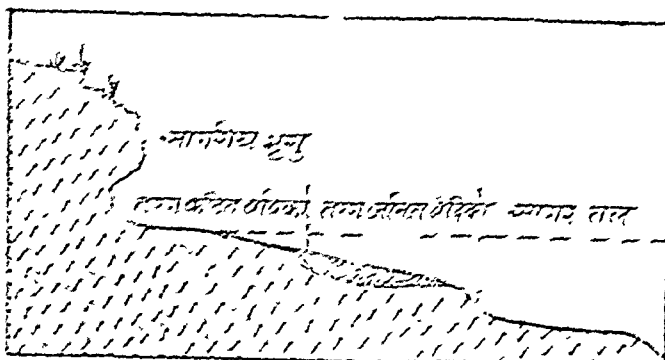
चौरस वेदी की रचना हो जाती है जिसे तरंगघर्षित वेदिका कहते हैं। इस वेदिका का सागर की ओर मन्द ढाल होता है। पश्चिमी नार्वे का स्ट्रैण्ड फ्लैट इसका उदाहरण है।

कहीं-कहीं तटीय भाग पर शैलों की क्रमशः कठोर तथा कोमल परत क्षैतिज रूप में बिछी रहती हैं। तरगें अपरदन करती हुई कोमल शैलों को कठोर शैलों को अपेक्षाकृत शीघ्र काट देती हैं। कालान्तर में तरंगों के समानान्तर-अपरदन के कारण एक के ऊपर दूसरी छोटी-छोटी वेदिकाओं की रचना हो जाती है। इस प्रकार की सीढ़ानुमा रचना को अपतटीय सोपान की संज्ञा दी गई है।
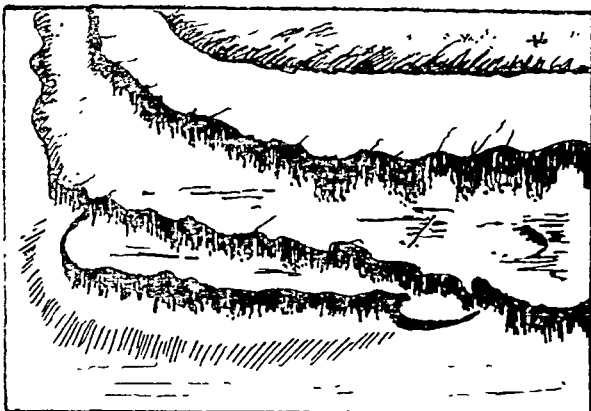
चित्र 18·14 तरंग घर्षित सोपान (Wave-Cut terrace)

अपरदन एवं निक्षेप की सतत् प्रक्रियाओं से तटीय पार्श्विका का सन्तुलन स्थापित होता है। यदि तट की ओर के स्थल भाग में तीव्र ढाल है तो तरंगें उसको शीघ्रता से अपरदित कर मन्द ढाल में परिवर्तित कर देती हैं। अपरदित तलछट तरंगों द्वारा सागर की ओर उस समय तक निक्षेपित किया जाता है जब तक कि सन्तुलित पार्श्विका स्थापित नहीं हो जाती। इस प्रकार स्थलीय भाग से अपरदित पदार्थ की मात्रा तथा सागर की जाती ओर निक्षेप की मात्रा के बराबर होने पर सन्तुलन की अवस्था स्थापित
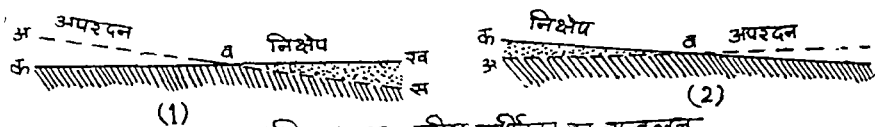
चित्र 18·15 - तटीय पार्श्विका का सन्तुलन
(आर्थर होम्स के अनुसार)

हो जाती है। इसके विपरीति यदि तटीय भाग की ओर मन्द ढाल हो तो तरंगें सागरीय भाग की ओर अपरदन कर तटीय भाग में अपरदित पदार्थ उस समय तक निक्षेपित करती रहेंगीं जब तक कि अपरदित पदार्थ तथा निक्षेपित पदार्थ की मात्रा में सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता। दोनों ही परिस्थितियों में समुद्र का तटीय एवं अपतटीय धरातल अपरदन एवं निक्षेप दोनों ही क्रियाओं द्वारा सन्तुलित अवस्था को प्राप्त होता है।

चित्र 15 (1) में **अ ब** तटीय तीव्रढाल पर अपरदन तथा **ब स** अपतटीय ढाल पर निक्षेप उस समय तक होता रहेगा जब तक दोनों ही **क ख** की सन्तुलित पार्श्विका के

रूप नहीं ले लेती। इसके विपरीत चित्र 15(2) में **व स** अपतटीय ढाल पर अपरदन तथा **अ व** तटीय भाग पर निक्षेप उस समय तक होता रहेगा जब तक कि तटीय पार्श्विका **क ख** सन्तुलित अवस्था को प्राप्त नहीं हो जाती।

समुद्री तरंगें, वेलांचली धाराएँ, तीव्र अध:प्रवाह, तटीय धाराएँ, वायु आदि सागरीय परिवहन के मुख्य साधन हैं। वायु का कार्य तट तक ही सीमित रहता है। खुले तटों पर निम्न ज्वार के समय बालू के ढेरों को, वायु स्थल की ओर ढकेलती है। सागरीय परिवहन दो रूपों में सम्पन्न होता है—तट की ओर के परिवहन को अपतट परिवहन तथा तट से दूर सागर की ओर के परिवहन को अनुप्रस्थ परिवहन कहते हैं। कभी परिवहन तट के समीप तो कभी सागर की ओर होता है।

अपरदित पदार्थ का परिवहन साधारणत: सागर की ओर अधिक होता है। परिवहन तीन बातों पर आधारित रहता है—तट का ढाल, तलछट के कणों का आकार तथा परिवहन का वेग। साधारणत: बड़े आकार तथा अधिक घनत्व के शैल-कण तट के निकट ही रह जाते हैं क्योंकि परिवहन के साधन इतने सक्षम नहीं होते कि उनको गहरे सागर तक ले जायें। इसके विपरीत अपेक्षाकृत सूक्ष्म तथा कम घनत्व के कण सागर की गहराइयों तक पहुंचा दिये जाते हैं। कुछ मात्रा में घुलनशील अपरदित पदार्थों को सागर आत्मसात कर लेता है।

परिवहनित पदार्थों का निक्षेपण या तो तटों के निकट होता है या फिर, सागर के अन्दर जिसके फलस्वरूप सागर द्वारा रचनात्मक कार्य सम्पन्न होता है। तलछटीय पदार्थों के क्रमगत निक्षेपण से तटों के निकटवर्ती भागों में विभिन्न भू-आकृतियों का निर्माण होता है क्योंकि अधिकांश पदार्थ ज्वार की निचली सीमा तक ही निक्षेपित हो जाता है। तट से सागर की ओर क्रमवार पहले भारी फिर हलके तथा उनसे भी हलके छोटे और कम घनत्व के कण बिछ जाते हैं। इसी प्रकार परत के ऊपर परत बिछती रहती है जो कालान्तर में अवसादी शैलों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। उच्च तथा निम्न ज्वार के मध्य बड़े-बड़े शिलाखण्ड तथा मोटी बालू निक्षेपित हो जाती है। उच्च ज्वार रेखा ऊपर बालू वायु द्वारा एकत्रित की जाती है तथा निम्न ज्वार व 100 फैदम गहराई की सीमा के मध्य अत्यन्त बारीक बालू और 100 फैदम सीमा से आगे स्थल जात सामग्री से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की मिट्टी निक्षेपित होती है।

तरंगों द्वारा अपरदित पदार्थ का कुछ भाग तो गहरे सागर में समाविष्ट हो जाता है तथा अधिकांश तलछट उथले तटीय भाग पर निक्षेपित रह जाता है। शनै:-शनै: निक्षेपित पदार्थ एक वेदिका का रूप ग्रहण कर लेता है। यह तरंग निर्मित वेदिका कहलाती है। प्राय: यह वेदिका जलमग्न ही रहती है, किन्तु अत्यन्त निम्न ज्वार के समय इसका ऊपरी भाग दृष्टिगोचर होता है (चित्र 13)।

पुलिन की रचना सागर तथा स्थल दोनों से ही प्राप्य पदार्थों से होती हैं। अधिकांश पदार्थ नदी द्वारा, भू-स्खलन, भृगु के अपक्षय आदि द्वारा स्थल जात तथा कुछ मात्रा में सागर से भी प्राप्त होता है। अपरदित पदार्थ शनै:-शनै: तट के निकट ही निक्षेपित होता जाता है जिसके फलस्वरूप तट का यह भाग उथला होता जाता है। जलमग्न तट का यही उथला भाग पुलिन कहलाता है। पुलिन निम्न ज्वार तथा तूफानी तरंगों के मध्य के

निक्षेपित पदार्थों से निर्मित जलमग्न भाग है। पुलिन की आकृति अर्द्धचन्द्राकार होती है। भारी तथा मोटे पदार्थ तट की ओर तथा अपेक्षाकृत छोटे और हलके पदार्थ समुद्र की ओर होते हैं। भारत में पुरी का पुलिन तथा केलीफोर्निया का पुलिन प्रसिद्ध है। आकृति के अनुसार पुलिन कई प्रकार के होते हैं जैसे कस्प-पुलिन, लघु-पुलिन, रोधी पुलिन आदि।

सागरीय भाग में गोलाश्म, बजरी तथा बालू का इस प्रकार निक्षेपण होता है, कि बीच-बीच में पतले-पतले कटकों का निर्माण हो जाता है। यह कटक समुद्र की ओर निकले रहते हैं तथा इनके मध्य की दूरी प्रायः समान होती है। इन्हीं जल से बाहर निकले हुए कटकों को शिखर पुलिन कहते हैं।

चट्टानी तटों में तरंग निर्मित खाड़ियों तथा कटावों के चारों ओर खण्डित शैलों कंकड़, रोड़ी आदि के निक्षेप के कारण छोटे आकार के पुलिन की रचना हो जाती है जिसे लघु-पुलिन कहते हैं। लघु-पुलिन का निर्माण प्रायः पीछे हटते तट पर होता है, संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यू जर्सी राज्य में इनके उदाहरण मिलते हैं।

खाड़ी के शीर्ष भाग पर निर्मित पुलिन को **खाड़ी शीर्ष पुलिन** कहते हैं।

जब पुलिन की संरचना उथले सागर तट के समानान्तर होती है तो वह रोधी-पुलिन कहलाती है। जब पुलिन का निर्माण केवल बालू से ही होता है तो वह **बालू-भित्ति** कहलाती है। भारत के पश्चिमी तट पर इस प्रकार की बालू-भित्ति के उदाहरण मिलते हैं। महाद्वीपीय तट तथा रोधी-पुलिन के मध्य समुद्र से पृथक लम्बे जलाशय को अनूप कहते हैं। भारत के पूर्वी किनारे पर चिल्का झील इसी प्रकार की अनूप है।

कहीं-कहीं तरंग घर्षित वेदिका या कटे-फटे समुद्री तटों की अपेक्षाकृत गहरे समुद्री भागों में तरंगों एवं धाराओं द्वारा अपरदित पदार्थ लम्बवत् रूप में निक्षेपित हो जाता है। शनैः-शनैः यह निक्षेप कटक या बाँध के रूप में समुद्र की सतह से ऊपर उठ जाता है। ऐसे निक्षेपों को रोधिका कहते हैं। रोधिका तट के समीप, उससे दूर, तट के संलग्न या समानान्तर किसी भी प्रकार की हो सकती है। रोधिका प्रायः जल-मग्न रहती हैं। उच्च ज्वार के समय तो पूर्णतः जलमग्न हो ही जाती है, किन्तु बाधक रोधिका या रोध कभी जलमग्न नहीं होते। रोधिका एवं बाधक रोधिकाओं में अपतट रोधिका, भूजिह्वा शंकु, अनूप मुख्य हैं।

अपतट रोधिका का निर्माण प्रायः तटीय धाराओं अथवा अन्य कारकों की मिली-जुली प्रक्रिया के द्वारा तट के समानान्तर होता है। यह तट से दूर खुले सागर में शिला-खण्डों अथवा रेत से निर्मित एक लम्बाकार भित्ति की भाँति खड़ी दिखाई देती है। यह नदी के मुहाने तथा खाड़ी के आर-पार भी निर्मित हो जाती है। अपतट रोधिका के पीछे प्रायः दलदल, पंक क्षेत्र तथा अनूप आदि का विकास हो जाता है (चित्र 16)। दक्षिण-पश्चिमी अमेरिका में अपतट रोधिकाओं के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। प्रारम्भ में यह रोधिकाएँ तट से दूर थीं किन्तु कालान्तर में यह तट के समीप आ गई हैं और दलदल तथा अनूपों को घेरे हुए हैं जो कि वहाँ **साउण्ड** कहलाते हैं। दक्षिण की ओर यह तट के और भी निकट आ गई हैं। फ्लोरिडा में पाम पुलिन तथा मियामी पुलिन हैं।

ऐसे आकार की रोधिका जिसका एक सिरा तट से जुड़ा हो तथा दूसरा खुले सागर की ओर अथवा नदी के मुहाने में आगे बढ़ा हुआ हो भू-जिह्वा कहलाती है। इसकी संरचना

बालू अथवा शिलाखण्डों से होता है। तरंगों के तिरछे प्रहार के कारण जब भू-जिह्वा का सागर की ओर वाला सिरा मुड़ जाता है तो इसे अंकुश या शंकु नाम से सम्बोधित करते
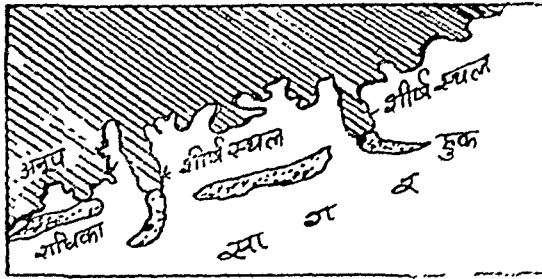
चित्र 18·16 अपतट रोधिका (Off Shore Bar) हुक एवं अनूप

हैं। जब एक भू-जिह्वा में एक से अधिक शंकु हो जाते हैं तो इनको बहुमुखी शंकु कहते हैं।
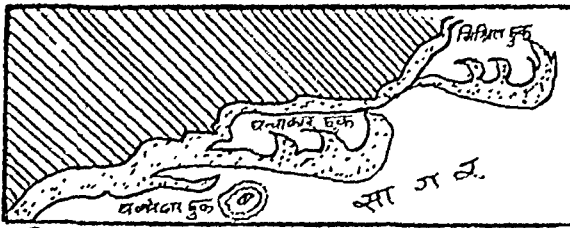
चित्र 18·17· मिश्रित, घन्वाकार एवं छल्लेदार हुकें
(Compound, Loop and Looped Bars.)

जब किसी भू-जिह्वा का लम्बाई में विकास होते-होते खाड़ी के दूसरे तट तक हो जाता है तो यह खाड़ी रोधिका कहलाती है। इसी तरह यदि किसी शंकु का सागर की ओर वाले किनारे का विकास होते-होते यदि वह तट से जुड़ जाय तो इस रोधिका को छल्ला कहते हैं। जब रोधिका किसी द्वीप को चारों ओर से घेर लेती है तो उसे छल्लेदार रोधिका कहते हैं।

कभी-कभी रोधिका विकास के फलस्वरूप दो द्वीप अथवा एक द्वीप मुख्य स्थल से मिल जाते हैं। इस प्रकार की रोधिका को भित्ति रोधिका या टोम्बोलो कहते हैं। जब
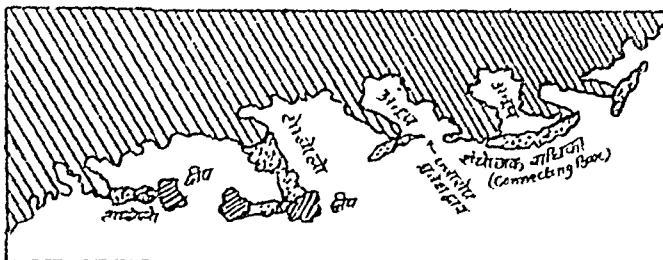
चित्र 18·18 संयोजक रोधिका (Connecting Bar), टोम्बोलो (Tombolo) तथा अनूप (Lagoon)

रोधिका दो शीर्ष स्थलों को आपस में जोड़ देती है तो उसे संयोजक रोधिका कहते हैं।

अनूप—तरंगों, तटीय धाराओं अथवा नदी द्वारा निक्षेपित पदार्थों से तट के अधिक निकट एक रोधिका की रचना हो जाती है। यह रोधिका प्रायः बालू से निर्मित होती है। इस रोधिका के पीछे एक उथला जलाशय सागर से पृथक बन जाता है। ऐसे उथले हुए जल की झील अनूप कहलाती है। भारत से पूर्वी तट पर चिल्का झील,-तथा केरल तट पर अनेकों अनूप हैं।
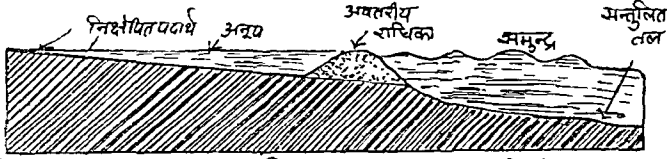
चित्र 18-19 अनूप का काट चित्र (Cross section of a Lagoon)

समुद्री तट रेखाओं तथा तटों का वर्गीकरण—तट रेखाओं तथा तटों के बारे में भू-विज्ञानी एक मत नहीं हैं। कई इन दोनों को अलग-अलग मानते हैं तो कोई इनमें भेद नहीं मानते। सच तो यह है कि तट तथा तट रेखाओं में इतना सूक्ष्म अन्तर है कि इनका पृथक-पृथक वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन है। सुविधा के लिए इन दोनों को एक ही रूप में लिया जाता रहा है।

समुद्री किनारा या तट रेखा का वर्गीकरण अत्यन्त जटिल है, क्योंकि सागर-तल सुनिश्चित तथा स्थिर नहीं है। यह सदा उन्मज्जन तथा निमज्जन के कारण बदलता रहता है, जिससे जल-तल में परिवर्तन आता रहता है। जल-तल का तट से सीधा सम्बन्ध है क्योंकि जल-तल ही किनारे को निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त तटों की भिन्न-भिन्न संरचना तथा तरंगों व लहरों का भी तटों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता रहता है। ऊँचे-नीचे तट के निमज्जन के कारण किनारा अधिक कटा-छटा होता है तथा वह युवावस्था के लक्षण प्रदर्शित करेगा। इसके विपरीत यदि किनारा निकट अतीत में ही उन्मग्न हुआ है तो वह सीधा और सपाट होगा। यदि किनारे पर पर्याप्त अपरदन हुआ है तो वह प्रौढ़ावस्था के लक्षण प्रदर्शित करेगा। अत: किनारों के वर्गीकरण की इस जटिलता को सरल बनाने के लिए डा. डब्ल्यू. जॉनसन ने किनारों का **अनुवंशिक वर्गीकरण** (Genetic Classification) प्रस्तुत किया। जॉनसन ने किनारों को 4 भागों में वर्गीकृत किया है–निमग्न किनारे, उन्मग्न किनारे, तटस्थ अथवा उदासीन किनारे तथा मिश्रित किनारे।

अवतलन अथवा जल-तल के ऊँचा होने के कारण जब स्थल का तटीय भाग जलमग्न हो जाता है तो उसे निमग्न तटरेखा कहते हैं। हिमयुग में हिम चादर के अतिरिक्त भार के कारण स्थल भाग कुछ नीचे बैठ गया था। हिमचादर के पिघलने पर अतिरिक्त जल की प्राप्ति से सागर का जल-तल उठ गया था जिससे किनारे के स्थलीय भाग जलमग्न हो गये थे। जॉनसन के अनुसार निमग्न तट रेखाएँ चार उप विभागों में विभिक्त की गई हैं—रिया तट रेखा, फियोर्ड तटरेखा, डालमेशियन तटरेखा तथा हैफ तटरेखा।

रिया तट रेखा नदियों की घाटियों के समुद्र में जलमग्न होने के कारण बनता है, जल-तल के ऊँचा होने अथवा किनारे के स्थलीय भाग के अवतलन के फलस्वरूप समुद्र तिलक आकृति की नदी घाटियों में प्रवेश कर जाता है। यह घाटियाँ खाड़ियों में परिवर्तित

हो जाती हैं। यह खाड़ियाँ तट की ओर संकरी और उथली तथा सागर की ओर चौड़ी होती हैं। रिया किनारा कटा-फटा होता है। इसमें पर्वतों की दिशा किनारे से तिरछे अथवा लम्बवत होती है। उत्तरी-पश्चिमी स्पेन तथा दक्षिणी-पश्चिमी आयरलैण्ड में रिया तट मिलते हैं।

चित्र 18·20 रिया तट (Ria Coast)

समुद्र में डूबी U आकार की घाटियाँ जहाँ पहले कभी हिमानियाँ बहती रही हैं, फियोर्ड किनारा कहलाता है। ऐसे किनारे प्रतापी ढाल के होते हैं, तथा खाड़ियाँ लम्बी व संकरी होती हैं। यह रिया तट से भी अधिक कटा-फटा होता है। इसके किनारे पर हिमोढ़ द्वारा रचे द्वीप विद्यमान रहते हैं। फियोर्ड किनारों में पर्वतों की दिशा तिरछी अथवा लम्बवत् होती हैं। स्काटलैण्ड, नार्वे एवं ग्रीनलैण्ड के किनारे इसके उदाहरण हैं।

चित्र 18·21- फियोर्ड तट (Fiord Coast)

डाल्मेशियायी तट का निर्माण पर्वतों की दो समानान्तर श्रेणियों के मध्य के भाग के जलमग्न होने के कारण होता है। ये श्रेणियाँ किनारे के साथ-साथ समानान्तर दिशा में फैली होती हैं। समुद्र की ओर वाले पर्वत के निचले भाग जलमग्न रहते हैं जबकि ऊँचे भाग द्वीपों के रूप में जल से ऊपर दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों पर्वत श्रेणियों के मध्य एक लम्बी और संकरी घाटी का निर्माण हो जाता है। यूगोस्लाविया में एड्रियाटिक सागर का तट डाल्मेशियाई तट के नाम से जाना जाता है। एड्रियाटिक सागर के किनारे के स्थलीय भागों में आज भी अवतलन के चिन्ह पाये जाते हैं।

हैफ तट हिमानीकरण के उत्तरार्द्ध में नवीन शैलों के मन्द ढाल के असमान धरातल जो हिमानी द्वारा तलछट से आच्छादित थे—के अवतलन के कारण बने। शुष्क मरुस्थली तटवर्ती किनारों पर तरंगें, लहरें तथा नदियाँ शनैः-शनैः रेत और बालू के ढेर लगा देती हैं। यह बालू के टीले तट के सामानान्तर कई भित्तियों की बाधक रोधिकाओं के रूप में खड़े हो जाते हैं। इन बालू की पट्टियों के मध्य अनूपों का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार की झीलों को जर्मन भाषा में हैफ कहते हैं। जर्मनी का उत्तरी समुद्री तट हैफ के नाम से पुकारा जाता है। अन्त में ये झीलें वायु द्वारा लाई मिट्टी से भर जाती हैं तथा समतल मैदान का रूप ग्रहण कर लेती हैं, जैसाकि फ्रांस में गोरेन के दक्षिण में तट से कुछ दूर, बालू के टीलों की शृंखला सी दिखाई देती है। इसी प्रकार हालैण्ड के उत्तरी समुद्र-तट पर स्थित बालू के बने द्वीप हैं। इन तट रेखाओं के पीछे उपजाऊ विस्तृत मैदान पाए जाते हैं।
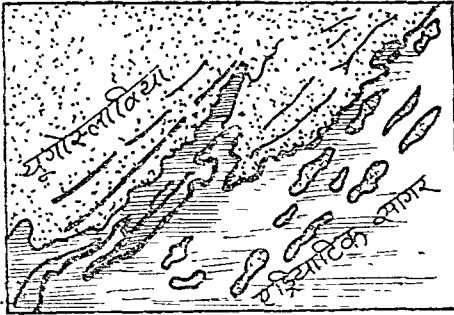
चित्र 18·22 डालमेशियन तट (Dalmation Coast)

चित्र 18·23- हैफ तट (Half Coast)

उन्मग्न तटरेखाओं का आविर्भाव समुद्र तली के उत्थान अथवा समुद्र की सतह के नीचे होने के कारणों पर आधारित है। दोनों ही अवस्थाओं में जलमग्न तट जल के स्तर से ऊपर उठ जाता है जहाँ तटीय भागों के स्थल खण्ड उन्मग्न हो जाते हैं वहाँ भू-खण्ड जल-तल से ऊपर उठ जाता है। इसी तरह जब सागर के जल-तल में उतार आता है तो सागर की तली दृष्टिगोचर होने लगती है जैसे हिम युग में समुद्रों में जल की कमी के कारण जलमग्न तट दृष्टिगोचर होने लगे थे।

नवनिर्मित उन्मग्न तट लगभग समतल रहता है क्योंकि महाद्वीपीय मग्न तट पर नदियाँ निक्षेप करती रहती हैं। इस उन्मग्न तटीय मैदान की समुद्र से मिलने वाली सीमा को उन्मग्न तट रेखा कहते हैं। उन्मग्न तट जल से 30 से 50 मीटर की ऊँचाई तक उठे होते हैं जिनकी प्रारम्भिक विशेषताएँ महाद्वीपीय मग्नतट की विशेषताओं पर निर्भर रहती हैं।

ऐसे तटों पर भृगु, अनूप, बालुका स्तूप, अपतट रोधिकाएँ, सागरीय विवर आदि बने होते हैं। वर्तमान में एक ओर महाद्वीपीय हिमानियों के पिघलने से समुद्रतल में निरन्तर वृद्धि हो रही है, किन्तु दूसरी ओर हिम के पिघलने के कारण इन स्थानों का भार भी कम हो रहा है। अतः सन्तुलन को बनाये रखने के लिए हिमानियों के भार से कुछ मात्रा में मुक्त-स्थल खण्डों का उत्थान समुद्र तल की अपेक्षा अधिक हो रहा है। जैसे—कनाडा का उत्तरी तट तथा स्केण्डिनेविया।

तटस्थ सागरीय तट रेखा पर न तो उन्मज्जन और नहीं निमज्जन आदि किसी भी प्रकार के लक्षण दिखाई देते हैं। वास्तव में इनका निर्माण स्वतन्त्र रूप से होता है। इस प्रकार की तट रेखा डेल्टा, जलोढ़ मैदान, ज्वालामुखी तथा प्रवाल भित्ति के किनारे होती हैं। इस प्रकार की तट रेखा निक्षेप द्वारा बनती हैं। इनमें हिमनद अपक्षय तट रेखा तथा भ्रंश किनारों को भी सम्मिलित किया जा सकता है।
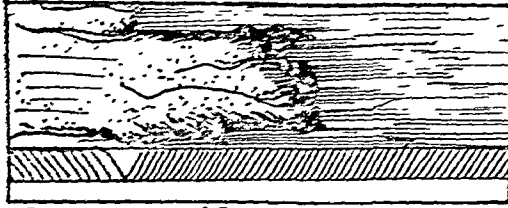
चित्र 18.24 डेल्टाई किनारा (तटस्थ तट)
(Neutural Shore Line)

जिन किनारों पर उन्मज्जन तथा निमज्जन दोनों ही लक्षण मिलते हैं वे मिश्रित या संश्लिष्ट तट रेखाएँ कहलाती हैं। अभिनूतन हिमयुग में हिमचादर के भार के कारण समुद्री तटों का निमज्जन हुआ। तत्पश्चात् हिमयुग के उत्तरार्द्ध में हिमचादर का पिघलना प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप तटों का भार कम हो गया। भार कम होने के कारण पुनः उन्मज्जन प्रारम्भ हुआ। अतः मिश्रित तट रेखा निमज्जन तथा उन्मज्जन की दोहरी प्रक्रिया का प्रतिफल है। नार्वे तथा स्वीडन के तटों पर दोनों ही लक्षण दिखाई देते हैं।

चित्र 18.25 मिश्रित किनारा (Compound Shore-Lines)

जलमग्न तट रेखाओं पर अपरदन चक्र

महासागरीय तटों के निमज्जन अथवा सागरीय तल के उन्मज्जन के कारण महाद्वीपों के तट जलमग्न हो जाते हैं। इस तरह की जलमग्न तट रेखा अधिक कटी-फटी होती है क्योंकि अपरदन चक्र से पूर्व इनका आकार अत्यन्त असमान होता है। जलमग्न तट के उदाहरण रिया तथा फियोर्ड तट हैं जो क्रमशः नदी घाटी और हिमानी घाटी के निमज्जन के कारण निर्मित होते हैं। इन तटों का प्रारम्भिक रूप अत्यन्त कटा-फटा होता है। तटों की शैल रचना के कारण कुछ असमानता अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु प्रायः समान प्रकृति के किनारे असमान नहीं हुआ करते।

अपरदन चक्र को चार अवस्थाओं:—शैशव, युवा, प्रौढ़ और जीर्णावस्था में विभक्त किया गया है।

शैशव अवस्था में किनारा अत्यन्त ऊबड़-खाबड़ होता है। नदी तथा हिमानियों की

जलमग्न घाटियों के किनारे की उभरी श्रेणियाँ दूर तक फैली दिखाई देती हैं। उनके आगे द्वीप होते हैं जो निमज्जन से पूर्व कभी महाद्वीप के ही अभिन्न अंग रहे होते हैं।

चित्र 18·26 प्रारम्भिक अवस्था

तट के जलमग्न होने के साथ-साथ समुद्री तरंगें अपनी अपरदन क्रिया प्रारम्भ कर देती हैं। तट की कोमल शैल कठोर शैल की अपेक्षा शीघ्र अपरदित हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप किनारा अत्यन्त कटा-फटा हो जाता है। इसके अतिरिक्त असमान अपरदन के कारण भी किनारे पर असमानताएँ हो जाती हैं। युवावस्था में समुद्री लघु निवेशिकायें, कन्दराएँ, शीर्ष स्थल, महराब, अलग्न स्तम्भ, तरंग घर्षित वेदिका, पुलिन, अनूप, रोधिकाएँ, भू-चिह्ना शंकु, टोम्बोलो आदि का निर्माण हो जाता है। इस अवस्था में भृगु पूर्ण विकसित रूप ले लेती हैं।

चित्र 18·27 युवावस्था का प्रथम चरण

प्रौढ़ावस्था में अपक्षय तथा अपरदन की निरन्तर क्रिया के कारण भृगु पीछे हटती जाती है। युवावस्था के भू-आकारों को शनैः-शनैः सागर आत्मसात कर लेता है। अपरदन तथा निक्षेप में पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाता है। अतः सन्तुलित परिच्छेदिका का विकास हो जाता है। ज्वारीय तरंगें रोधिकाओं को तोड़कर अनेक स्थानों से अनूप तक प्रवेश मार्ग बना लेती हैं। स्थलजात अपरदित पदार्थों के अत्यधिक निक्षेप के कारण अनूप भर जाती हैं तथा इनके स्थान पर दल-दल वन जाते हैं। शीर्ष स्थलों के अपरदन के फलस्वरूप किनारा कुछ सीमा तक सीधा हो जाता है। खाड़ियाँ पीछे हट जाती हैं। उनके मुख पर एक किनारे से दूसरे किनारे तक बाधक श्रेणियाँ फैल जाती हैं। अतः खाड़ियाँ समुद्र से पृथक हो जाती है। इन खाड़ियों में महाद्वीपीय अपरदित पदार्थ निक्षेपित होकर इनको अन्त में भर देता है।

प्रौढ़ावस्था में युवावस्था की अपेक्षा समस्त किनारे का कटाव होता है। यह आवश्यक नहीं कि अपरदन की गति हर स्थान पर समान हो क्योंकि इसको शैलों की संरचना भी

प्रभावित करती है। प्रौढ़ावस्था के अन्तिम चरण में सभी स्थलाकृतियाँ लोप हो जाती हैं तथा किनारा प्राय: स्पष्ट सा दिखाई देता है। दक्षिणी इटली का सुदूर पश्चिमी तट तथा दक्षिणी पूर्वी इंगलैण्ड के किनारे इसके उदाहरण हैं।

वूलरिज तथा मारगन के अनुसार प्रौढ़ावस्था में निचले किनारों का भराव हो जाता है। यह उन्नतावस्था भी कहलाती है। ऊँचे उठे भागों का कटाव होता रहता है। यह क्रिया किनारे की अवनतावस्था कहलाती है। उन्नतावस्था तथा अवनतावस्था का कार्य क्रमश: थोड़े-थोड़े समय पश्चात होता रहता है। दोनों ही क्रियाओं का लक्ष्य प्रवणितावस्था को प्राप्त करना रहता है।

चित्र 18·28-तरुणावस्था का पूर्ण विकास

जीर्णावस्था वाले तट पृथ्वी पर विरले ही हैं, क्योंकि इस अवस्था में पहुँचते-पहुँचते कोई ऐसी घटना घटित हो जाती है कि अपरदन चक्र के पूरा होने से पहले ही बाधाएँ उपस्थित होने लगती हैं। जैसे किनारे का उन्मज्जन या निमज्जन होना। जीर्णावस्था को प्राप्त करते-करते भी युवावस्था के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं। अत: इस अवस्था को मात्र सैद्धांतिक रूप में ही ग्रहण किया जाता है। इस अवस्था में अपरदन समाप्त हो जाता है तथा तट और किनारों के उच्चवच्च अत्यन्त निम्न हो जाते हैं। किनारा स्पष्ट तथा सीधी रेखा में दिखाई देने लगता है। ढाल बहुत ही कम हो जाता है। वर्तमान में इस प्रकार के किनारे के उपयुक्त उदाहरण प्राप्त नहीं हैं। इसका प्रमुख कारण पटलविरूपणकारी संचलन है, जिसके फलस्वरूप निमज्जन तथा उन्मज्जन दोनों होते रहते हैं तथा किनारा बनता-बिगड़ता रहता है तथा जीर्णावस्था को बहुत ही कम प्राप्त कर पाता है
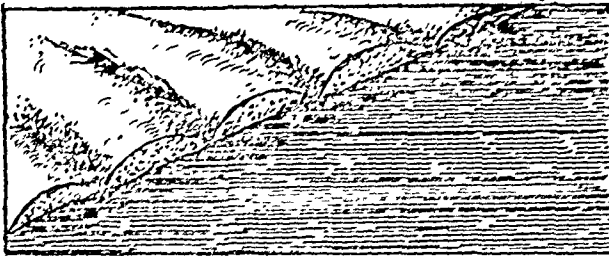
चित्र 18·29 - प्रौढ़ावस्था

उन्मग्न किनारे को भी चार अवस्थाओं शैशव, युवा, प्रौढ़ व जीर्णावस्था में विभाजित किया जाता है।

उन्मग्न तट रेखाओं की प्रारम्भिक अवस्था सुदूर किनारे के ढाल पर निर्भर करती है। उत्थान के कारण सुदूर किनारे का ढाल ही सही अर्थों में तट रेखा बन जाता है। तट रेखा का आकार असमान होता है। इसके पीछे मन्द ढाल वाला तटीय मैदान होता है। मन्द ढाल वाले सुदूर किनारों पर जल की गहराई बहुत कम होती है। उन्मज्जन से पूर्ण नदी युवावस्था को प्राप्त कर लेती है, इसलिए उन्मग्न तट रेखा पर स्थलाकृति सम्बन्धी विषम विन्यास मिलता है। उन्मज्जन से कुछ स्थलखण्ड जल से ऊपर आ जाते हैं जिसके कारण नदियों की लम्बाई बढ़ जाती है। अतः वह नई घाटी का निर्माण प्रारम्भ कर देती है।

तट रेखा के उत्थान से तरंगें तट रेखा तक पूर्ण वेग से नहीं पहुँच पातीं। उनके स्थान पर छोटी-छोटी निर्बल तरंगें नीचे भृगु का निर्माण करती हैं। तट की शैलों में खांचे या दाँते बना लेती हैं। इस प्रकार के खरोंचे गये भृगु को निप कहते हैं। अतः सागरीय रोधिकायें जैसे ही उभर कर जल से ऊपर आती हैं, अपरदन चक्र प्रारम्भ हो जाता है।
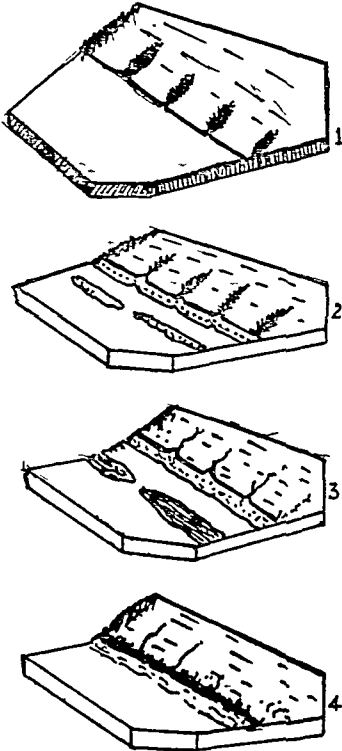
चित्र 18-30
1. प्रारम्भिक अवस्था
2 तरुणावस्था
3. तरुणावस्था का अन्तिम चरण
4 प्रौढ़ावस्था

तरुणावस्था में अर्ध विकसित या लम्बाकार भृगु तथा अपतट रोधिकाओं का विकास होता है। प्रारम्भ में उन्मग्न रोधिकाएँ पृथक-पृथक होती हैं किन्तु बाद में निकटवर्ती समुद्र से प्राप्त तलछट के कारण यह आपस में मिलकर क्रमवद्ध हो जाती हैं। निप तट-रेखा तथा रोधिकाओं के मध्य अनूप का निर्माण हो जाता है। शनैः-शनैः अपतट रोधिका अधिक विस्तृत हो जाती है। अंत में इन पर बालुका स्तूपों या रेत के टीलों की रचना हो जाती है। पूर्ण विकसित रोधिकाएँ एवं बालुका स्तूप किनारे को तरंगों के प्रहार से बचाते रहते हैं चित्र 29.2। अतः रोधिका के तटीय भाग की ओर अपरदन के स्थान पर निक्षेप प्रारम्भ हो जाता है। तरंगें अपतट रोधिकाओं के सागरवर्ती किनारे को काटकर तेज ढाल बना देती हैं। रोधिकाओं के दूसरे तटवर्ती किनारे की ओर निरन्तर निक्षेपण होता रहता है। अतः तटवर्ती रोधिकाएँ स्थल की ओर खिसकती जाती हैं। रोधिकाओं के लगातार-पीछे हटने और निरन्तर निक्षेप के कारण अनूप संकरी तथा उथली होती जाती हैं और अन्त में भर जाती हैं एवं दलदली हो जाती है। तरुणावस्था के अन्तिम चरण में यह सभी लक्षण देखने को मिलते हैं।

प्रौढ़ावस्था में रोधिकाएँ, अनूप, दलदल, निप आदि सभी मुख्यतः अपरदन तथा कुछ सीमा तक निक्षेप के कारण समाप्त हो जाते हैं। रोधिकारहित किनारों पर तरंगों को

अपरदन करने की छूट मिल जाती है। अतः तरंगें जलमग्न तटीय मैदान को तरंग आधार तक काट देती हैं। तरंग आधार वह स्थान होता है जहाँ से अपरदित पदार्थ परिवहित नहीं हो सकता। यहाँ तट तथा किनारे की असमानताएं समाप्त हो जाती हैं। प्रारम्भिक तथा प्रौढ़ावस्था में केवल इतना अन्तर रह जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था में मन्द ढाल के कारण किनारे पर जल छिछला होता है और प्रौढ़ावस्था में यह गहराई अधिक हो जाती है।

प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था की दशाएँ प्रायः समान ही होती हैं। इस अवस्था में भी किनारा सपाट होता है तथा जल की गहराई अधिक होती है। अपरदन के कारण तट शनैः-शनैः पीछे हटता जाता है तथा अपरदित पदार्थ को तरंगें सागर में ले जाकर निक्षेपित कर देती हैं। सच तो यह है कि जीर्णावस्था वास्तव में देखने को बहुत ही कम मिलती है। अतः इसे भी सैद्धांतिक रूप में ही ग्रहण किया गया है। इस अवस्था में पहुँचने के लिये किनारों को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इस अवस्था के प्रारम्भिक चरण में ही उत्थान या अपतलन के कारण जीर्णावस्था में ही पुनः युवावस्था के लक्षण दिखाई देने लगते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Cotton, C. A., (1945), Geomorphology (John Wiley and Sons, New York).
2. Engeln, O. D. Von (1949), Geomorphology (The Macmillan Co., New York).
3. Evans, O.F. (1942), The Origin of Spits, Bars and related structures, J. Geography, 50 : pp. 846-865.
4. Guilcher, Andre (1958), Coastal and Submarine Morphology (Methuen and Co., London).
5. Johnson, D. W. (1919), Shore Processess and Shoreline Development (John Wiley and Sons, New York).
6. Kuenen, Ph. H. (1950), Marine Geology (John Wiley and Sons, New York).
7. King, C. A. N. (1969), Oceanography for Geographers (Edward Arnold, Publishers, Ltd., London).
8. Lobeck, A. K. (1939), Geomorphology (McGraw Hill Book Co., Inc., New York).
9. Sparks, B. W. (1963), Geomorphology (Longmans, London).
10. Strahler, A. N. (1959), Physical Geography (John Wiley and Sons, Inc., New York).
11. Streers, J. A. (1953), The Sea Coast (Cambridge Uni., London).
12. Thornbury, W.D. (1954), Principles of Geomorphology (John Wiley and Sons, Inc., New York).
13. Worcester, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology (D. Van Nostrand Co., New York).

19

झीलें
[Lakes]

झीलें

धरातल पर बने वे सभी छोटे और बढ़े खड्डे जो अस्थायी या स्थायी रूप से जल-युक्त होते हैं, झील कहलाते हैं। साधारण बोलचाल में गाँव के समीप छोटे जलभरे गड्ढों को विस्तार के आधार पर पोखर या तलैया, उससे बड़ों को तालाब या ताल, उससे बड़े को सरोवर या झील और सबसे विस्तृत जलाशय को सागर, काला सागर, कैस्पियन सागर, अरल सागर अदि कहते हैं। किन्तु भौगोलिक भाषा में हम सभी प्रकार के आकार, विस्तार एवं गहराई वाले जलाशयों को, जो चारों ओर से थल से घिरे रहते हैं 'झील' कहते हैं। सैलिसबरी के अनुसार "झील शब्द का प्रयोग कभी-कभी किसी नदी के चौड़े भागों के लिए भी होता है। जल के उन भण्डारों के लिए भी होता है जो समुद्र तटों के समीप होते हैं चाहे उनका तल समुद्र-तल के बराबर क्यों न हो, और उन जलराशियों के लिए भी होता है जिनका सागर से सीधा सम्वन्ध होता है।" मोंकहाउस के अनुसार झील पृथ्वी के धरातल में एक छोटा या बड़ा खड्डा है जिसमें पानी भरा रहता है।

धरातल का लगभग 1.8 प्रतिशत क्षेत्र झीलों के अन्तर्गत है। साधारणतः झीलें समुद्र-तल से विभिन्न ऊँचाइयों पर पाई जाती हैं। 3926 मीटर ऊँची स्थित टीटीकाका झील (द. अमेरिका) संसार की सबसे ऊँची झील है। किन्तु कुछ झीलें समुद्र तल से नीचे भी पाई जाती हैं जैसे मृतसागर, कैस्पियन सागर तथा साल्ट लेक (उ. अमेरिका) समुद्रतल से क्रमशः 396 मी. 26मी. तथा 75.8 मी. नीचे स्थित हैं। उ. एशिया के अतिरिक्त उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप में अधिकांश झीलें निम्न अक्षांशों की अपेक्षा उच्च अक्षांशों में पाई जाती हैं। स्थिति के अनुसार अधिकांश झीलें महाद्वीपों के अन्दर पाई जाती हैं। झीलों के अस्तित्व पर जलवायु एवं ऋतुओं का भी प्रभाव होता है, जैसे अधिकांश झीलें आर्द्र और हिमानी प्रदेशों में मिलती हैं। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में भी अस्थायी रूप से बहुत सी झीलें अस्तित्व में आ जाती हैं।

झीलों के विस्तार, गहराई और समुद्रतल से ऊँचाई की स्थिति में भी बहुत असमानता रहती है।

विश्व की महत्त्वपूर्ण झीलें

झीलों का नाम	क्षेत्रफल (वर्गकिमी. में)	गहराई (मीटरों में)	समुद्र-सतह से ऊँचाई (मीटरों में)	विशेषता
कैस्पियन सागर (यूरेशिया)	4,42,000	960	—26	क्षेत्रफल में सबसे बड़ी
सुपीरियर (उत्तरी अमेरिका)	81,120	302	180	मीठे पानी की सबसे बड़ी झील
विक्टोरिया नियाजा (पूर्वी अमेरिका)	67,600	72	1140	
अरल (एशिया)	65,130	360	48	
मिशीगन (उत्तरी अमेरिका)	58,500	260	174	
ह्यूरन (उत्तरी अमेरिका)	58,032	210	174	
न्यासा (पूर्वी मध्य अफ्रीका)	36,920	690	450	
बैकाल (साइबेरिया)	33,800	1685	510	सर्वाधिक गहरी
टाँगानीका (पूर्वी मध्य अफ्रीका)	31,200	630	840	
ग्रेट बीयर (उत्तरी अमेरिका)	29,120	81	117	
ईरी (उत्तरी अमेरिका)	25,800	60	172	
विनीपेग (उत्तरी अमेरिका)	25,750	21	213	
बालकश (मध्य एशिया)	22,360	24	270	
ओण्टोरियो (उत्तरी अमेरिका)	18,820	220	74	
टीटीकाका (बोलीविया)	8,320	210	3750	सर्वोच्च स्थित
मृत सागर (जोर्डन)	936	390	−380	समुद्र-सतह से सबसे नीची तथा सबसेअधिकखारी

क्षेत्रफल की दृष्टि से कैस्पियन सागर विश्व की सबसे बड़ी झील है। सुपीरियर संसार की सबसे बड़ी मीठे पानी की झील है तथा गहराई में बैकाल और सर्वोच्च स्थिति में टीटी

काका अग्रणी झीलों में हैं। मृत सागर संसार में समुद्र की सतह से सबसे नीची खारे पानी की झील है।

चित्र 19.1 - झीलों का विश्व वितरण
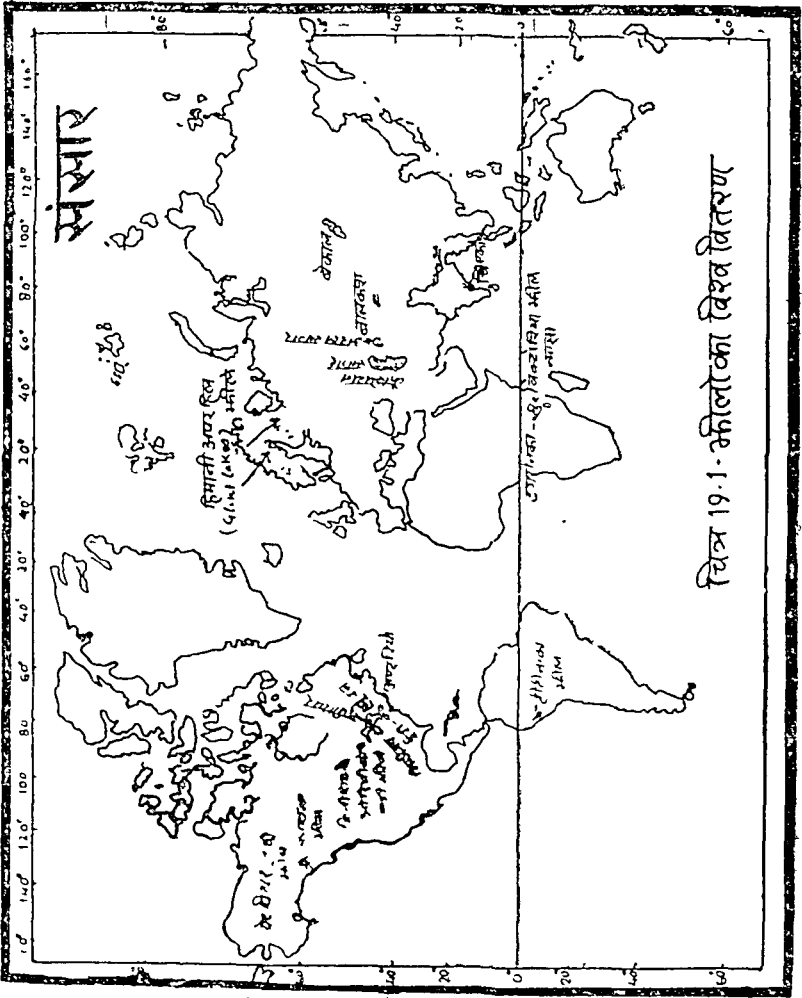
झीलों की उत्पति के लिए विशेष रूप से तीन बातें नितान्त आवश्यक हैं—

(1) झील के निर्माण के लिए अभेद्य शैलों से निर्मित अवनमन या गर्त होना चाहिए जो जल के निकास मार्ग से नीचा हो जिससे उसमें जल संचय हो सके। यदि झील की तलहटी भेद्य तथा कोमल शैलों से बनी है तो जल कोमल शैलों में से रिसकर भूमि में समा जायेगा और झील कुछ काल पश्चात् लुप्त हो जायेगी।

(2) अवनमन या तली में जल की पूर्ति या सम्भरण वर्षा, नदी, हिमानी, भूमिगत जल आदि से ही होता है। झील का अस्तित्व उसी दशा में बना रहेगा जब तक कि उसमें जल है अन्यथा जलहीन तली केवल गर्त ही कहलायेगी। झील के अस्तित्व में आते ही वाष्पीकरण प्रारम्भ हो जाता है। अतः वर्षा न होने, नदी के सूखने तथा हिमानी के समाप्त होने की स्थिति में झील का जल सूखता रहता है और अन्त में रह जाता है एक सूखा खड्डा जो खेती-बाड़ी के लिए अत्यन्त उपजाऊ और उपयोगी होता है।

(3) यदि भूमिगत जल की जल-रेखा नीचे चली जायेगी तो झील का जल भी जल-रेखा के साथ-साथ नीचे चला जायेगा और अन्त में झील लुप्त हो जायगी।
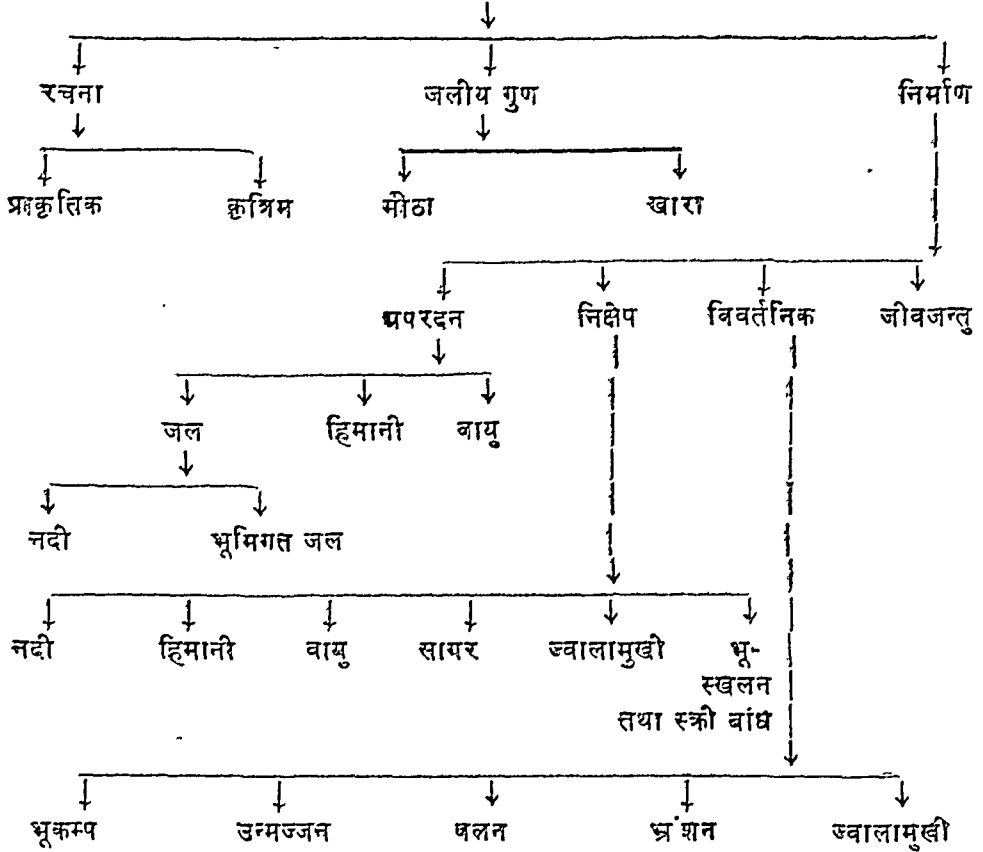
रचना या बनावट के आधार पर झील दो प्रकार की होती हैं—प्राकृतिक तथा कृत्रिम। प्राकृतिक झीलों का निर्माण प्रकृति द्वारा ही होता है। भूगर्भिक हलचलों, अपरदन, निक्षेप या ज्वालामुख पर लावा के मध्य बनी झीलें प्राकृतिक झीलें कहलाती हैं, जैसे महाराष्ट्र में लोनार झील।

मनुष्य अपने उपयोग के लिए पानी के जलाशय बना लेता है, जैसे बाढ़ से बचने के लिए बाँध, सिंचाई तथा जल विद्युत के लिए बने जलाशय। अतः भाखरा बाँध की गोविन्द सागर झील, उदयपुर की राजसमन्द व जयसमन्द झीलें, कृष्ण राजा सागर, गांधी सागर आदि बाँध भारत की कृत्रिम झीलों के उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त आसवान बांध हैमिल्टन बांध (आस्ट्रेलिया), बाउल्डर तथा ग्राण्ड कूली (यू. एस. ए.) झीलें संसार की अन्य महत्त्वपूर्ण कृत्रिम झीलें हैं।

ताजे व मीठे पानी की झीलों में जल का सम्भरण पानी और विसर्जन व प्रवाह सतत बना रहता है जिसके कारण वाष्पीकरण का कोई प्रभाव नहीं होता तथा झील का जल सदा ताजा व मीठा बना रहता है, जैसे—डल तथा वूलर झीलें।

खारे पानी की झीलों में प्रवाहित जल का आगमन व निगमन लगभग नहीं होता। ये झीलें कुछ तो वाष्पीकरण तथा कुछ तलीय खनिजों के गुणो के कारण खारे पानी की बन जाती हैं। नदियाँ खनिजों को बहाकर झीलों में डाल देती हैं किन्तु खनिज युक्त पानी झील से बाहर प्रवाहित न हो कर उसका वाष्पीकरण हो जाता है जिसके कारण जल में कई प्रकार के लवण जैसे सोडियम क्लोराइड, मैग्नेशियम सल्फेट, मैग्नेशियम क्लोराइड, सोडियम कार्बोनेट आदि एकत्रित हो जाते हैं तथा जल खारी हो जाता है। साँभर, मृतसागर तथा कैस्पियन सागर और ग्रेट साल्ट लेक झीलें खारे पानी की झील हैं।

उत्पत्ति के आधार पर भी झीलों का वर्गीकरण कर सकते हैं। अपरदित झीलें हिमनदन, घोल तथा वायु की क्रिया द्वारा बनती हैं। निक्षेपित या बाँध द्वारा झीलों का निर्माण भू-स्खलन, नदी द्वारा निक्षेप, डेल्टा निक्षेप, तटीय रोधिकाओं, हिमोढ़, बर्फ के बाँध, वनस्पति द्वारा बाँध तथा केलकेरियस बाँध द्वारा होता है। बनावट के आधार पर झील संवलन, अधः भ्रंशन और ज्वालामुखी क्रिया द्वारा बनती हैं तथा इनमें तली या बेसिन झील, भ्रंश घाटी तथा विवर झील सम्मिलित होती हैं।

अपरदन के साधनों द्वारा धरातल के भाग घर्षित हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप अवनमन बन जाते हैं जिनमें पानी भर जाता है। इस प्रकार से निर्मित झीलों को अपरदित झील कहते हैं।

नदियाँ अपने मार्ग में आये पदार्थों व कोमल शैलों को अपरदित कर तथा घोलकर अवनमन बना लेती है। इस प्रकार की नदीकृत झीलें अस्थायी या अल्पकालिक होती है।

(i) **धनुषाकार या गोखुर झीलें**—मैदान में बहती हुई नदी क्षैतिज अपरदन करती है जिसके कारण नदी के मार्ग में मोड़ या विसर्प बन जाते हैं, जब मोड़ अधिक हो जाता है तो नदी उसको छोड़कर सीधा मार्ग अपनाती है। नदी के सरल प्रवाह द्वारा विसर्प के दोनों मुख निक्षेपण द्वारा बन्द हो जाते है। कालान्तर में मोड़दार भाग धनुषाकार या गोखुर झील का रूप ले लेता है। काश्मीर में झेलम द्वारा निर्मित वूलर झील तथा उत्तरी अमेरिका में मिसिसपी नदी के किनारे ऐसी अनेकों झीलें स्थित हैं जिन्हें **बायोस** कहते हैं। ब्रिटेन में गोखुर झील को **मृत झील** नाम से सम्बोधित करते हैं।
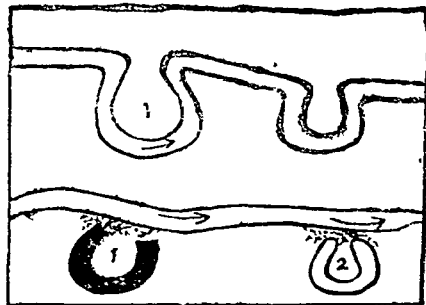
चित्र 19 2 धनुषाकार या गोखुर झील

(ii) **प्रवन कुण्ड झीलें** (Plunge Pool Lakes)—ऊँचाई से गिरते विशाल जल प्रपातों के रूप में नदी अपने साथ लाए हुए तलछट तथा जल के वेग से तलहटी में

छोटा-सा खड्डा कर लेती है जिसे **जलगर्तिका** (Pot hole) कहते हैं। शनैः-शनैः प्रपात के पीछे हटने के साथ-साथ जलगर्तिका का आकार बड़ा होता जाता है जिसे अवनकुण्ड (Plunge Pool) झील की संज्ञा दी गई है। मिर्जापुर (भारत) में टांडा प्रपात द्वारा निर्मित अवनकुण्ड झील इसका सुन्दर उदाहरण है।

(iii) **तश्तरीनुमा झीलें** (Saucer Lakes)—तश्तरी के आकार की झीलों का निर्माण नदी की बाढ़ के समय होता है। बाढ़ के समय नदी अपने किनारे से ऊपर बहती है जिससे मुख्य नदी के बांध तथा उसके समानान्तर बहने वाली नदी के बाँध के बीच जल भर जाता है जो कि तश्तरी के आकार का दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार की झीलें अस्थायी हुआ करती हैं। भारत में **गंगा के दोआब** में तथा **मिनीसोटा नदी** (अमेरिका) के किनारे तश्तरीनुमा अनेकों झीलों का निर्माण हो गया है।

(ब) **भूमिगत जल द्वारा निर्मित झीलें**—चूने के शैल वाले प्रदेशों में नदी अथवा वर्षा का जल शैलों की दरारों में प्रवेश करता हुआ नीचे के शैलों को घोलता रहता है। इस प्रकार विलयन (Solution) द्वारा प्रारम्भ में छोटी-छोटी गर्तिकाओं का निर्माण हो जाता है जो कि घोल रंध्र या सिन्क होल (Sink hole) कहलाते हैं। शनैः-शनैः घोल रंध्रों का नीचे से आकार बड़ा हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप बनी कन्दराओं की छत
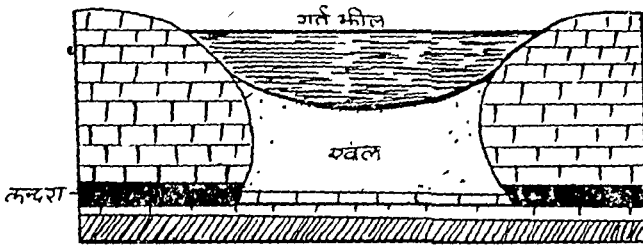
चित्र 19 3 भूमिगत जल द्वारा निर्मित झील

नीचे गिर जाती है। इस प्रकार एक वृहत खड्डे का निर्माण होता है जो कि पानी के भर जाने के कारण झील का रूप ले लेता है। कार्स्ट क्षेत्रों (Karst Regions) में इस प्रकार की अनेको झीलें देखने को मिलती हैं। **युगोस्लाविया के कार्स्ट क्षेत्र में** जिर्कनिज झील (Zirknitz Lake), संयुक्त राज्य अमेरिका के **फ्लोरिडा, यूकाटन, केन्टुकी** आदि क्षेत्र ऐसी झीलों के सुन्दर उदाहरण हैं।

हिमानी द्वारा अपरदन से भी कई झीलों की रचना हुई है—हिमानी अपने
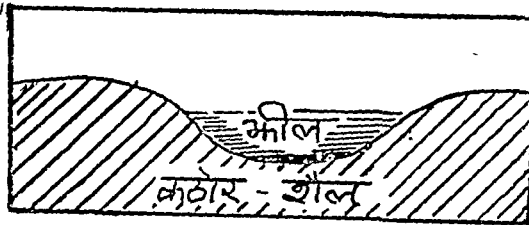
चित्र 19·4 -पाषाण पात्र झील

घर्षण द्वारा मार्ग में स्थित कोमल चट्टानों को अपरदित कर देती है। हिमानी की अपरदित तलहटी में खड्डे बन जाते हैं। हिमानी के पिघलने पर इन खड्डों में पानी भर जाता

है जिन्हें हिमानी घोषित-पाषाण पात्र झील कहते हैं। उत्तरी अमेरिका तथा उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में इस प्रकार की अनेकों झीलें देखने को मिलती हैं। कनाडा की ग्रेट बीयर तथा फिनलैण्ड की ओनेगा झीलें इसके उदाहरण हैं।

हिमानी जब हिम सोपानों पर उतरती है तो सीढ़ियों पर खड्डों का निर्माण कर देती है जो कि हिमानी के पिघलने पर पानी से भर जाते हैं तथा पेटरनोस्टर झीलों में परिणित हो जाते हैं। आल्प्स पर्वत के ढालों पर इस प्रकार की अनेकों झीलें पाई जाती हैं सोपानों के साथ क्रियानुसार पेटरनोस्टर झीलें भी सीढ़ीनुमा होती हैं तथा देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि ये झीलें किसी माला में पिरोई हुई हैं।

ऊँचे पहाड़ी भागों में हिम घर्षण द्वारा हिमानी के उद्गम स्थान पर आराम कुर्सी के आकार का अवनमन बन जाता है। इसके पेंदे का ढाल पर्वत की दीवार की ओर होता है। हिमानी के पिघलने पर यह खड्डा जल से भर जाता है जिसे टार्न या सर्क झील की
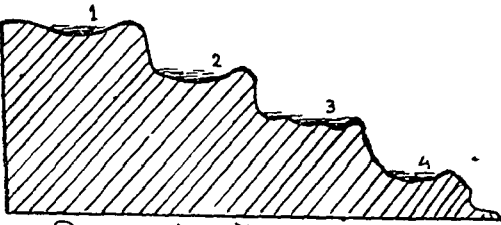
चित्र 19·5 पेटरनॉस्टर झीलें
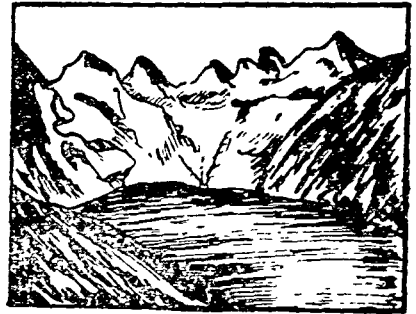
चित्र 19·6-टार्न झील

संज्ञा दी जाती है। इनमें पेय जल सदा भरा रहता है। कोलोरडो की बास झील तथा भारत की **नैनीताल** झील इसी प्रकार से निर्मित झीलें हैं। आकार में ये प्रायः छोटी होती हैं।

संकरे मार्ग से प्रवाहित हिमानी की गति अपेक्षाकृत तीव्र हो जाती है। फलतः संकरा निकास घर्षण से चिकना तथा गहरा हो जाता है। घिसाव के कारण चट्टानों में चमक पैदा हो जाती है। हिमानी के पिघलने पर यह खड्डे पानी से भर जाते हैं। स्वीडन टोर्नेट्रास्क (Tornetrask) झील इसी प्रकार की है।

वायु अपरदन द्वारा झीलें—मरुस्थलीय तथा वनस्पतिविहीन प्रदेशों में अनियमित तापमान क्षयीकरण में तीव्रता लाता है जिसके कारण शैल ढीली होकर बिखर जाती हैं। प्रचण्ड आंधियां, अपघर्षण और उड़ाव द्वारा मरुस्थलीय धरातल में खड्डे बन जाते हैं। यह खड्डे या अवनमन प्रचण्ड वृष्टि के समय जल से भर जाते हैं तथा झीलों का रूप ले लेते हैं। ये झीलें बहुधा छोटे आकार की छिछली एवं अस्थायी होती हैं। इन्हें **प्लाया झील** के नाम से जाना जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी वृहत बेसिन में नेवाडा तथा उटाह में प्लाया झीलों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

नदी, हिमानी, वायु, सागर, ज्वालामुखी लावा तथा भू-स्खलन के द्वारा अपरदित पदार्थ यत्र-तत्र निक्षेपित हो जाता है। इन निक्षेपित पदार्थों द्वारा झीलों के निर्माण के लिए स्थान बन जाता है जिनसे जल भरने से निक्षेपित जनित झीलों का निर्माण होता है।

नदी द्वारा निक्षेप के परिणामस्वरूप तीन प्रकार की झीलें बनती हैं। नदी के
अपरदन द्वारा पर्वतों से बहाकर लाये पदार्थ मैदानों तक आते-आते अपनी वहनीय शक्ति खो
देते हैं जिसके फलस्वरूप यह पदार्थ निक्षेपित होने लगते हैं। इस प्रकार नदी के मार्ग में
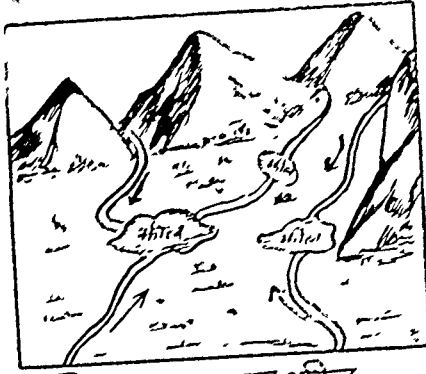
चित्र 10 - प्लाया झील

पहले बड़े और फिर छोटे कणों का जमाव हो जाता है। पहाड़ी ढालों के मूल पर नदी द्वारा
लाये पदार्थ का पंखे के आकार सा जमाव हो जाता है। जलोढ़ पंख द्वारा नदी की धारा
का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप अस्थायी झील का निर्माण होता है।
पूर्वी कैलिफोर्निया की ओवन्स झील तथा टुलारे झील सहायक नदियों द्वारा मुख्य नदी में
जलोढ़ पंख द्वारा बहाव में अवरोध उत्पन्न होने के कारण निर्मित हुई हैं। काश्मीर की
रैंगकांग तथा सोमोरिरी झीलें भी इस प्रकार की झीलों के उदाहरण हैं। पर्वत और मैदान
के संगम-स्थल अर्थात् पर्वत पद पर स्थित होने के कारण इनको गिरिपद झीलें भी
कहते हैं।

जंगली भागों से बहती नदी अपने साथ बड़े-बड़े पेड़, लकड़ी के लट्ठे तथा घास-फूस
ले लेती है। जब वृक्ष नदी की धारा में आड़े रूप में स्थिर हो जाते हैं तो नदी द्वारा तलछट
भी अवरुद्ध हो जाता है जिसके कारण नदी के ओर-छोर एक अस्थायी प्राकृतिक बाँध का
निर्माण हो जाता है। इस बाँध के पीछे नदी का जल भी अवरुद्ध होकर एक झील का
निर्माण कर लेता है। यह झील पहाड़ी प्रदेशों में बनती हैं तथा अकस्मात बाँध के टूट
जाने पर निचले भागों में भयंकर बाढ़ आ जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका की लाल नदी
तथा अफ्रीका की श्वेत नदी की घाटियों में इस प्रकार की अस्थायी झीलें बन जाती हैं।
अगस्त सन् 1950 में ब्रह्मपुत्र नदी में इसी प्रकार की झील बन गई थी।

नदी के बाढ़कृत मैदान प्रायः असमान धरातल के होते हैं। नदी द्वारा काँप मिट्टी
कहीं निक्षेपित हो जाती है, तो कहीं खड्डे बन जाते हैं जिनमें पानी भर जाता है इन्हें
बाढ़ मैदान की झीलें कहते हैं। यह झील प्रायः उथली एवं छोटी होती हैं। उत्तरी अमेरिका
की मोरीपास झील इसका उदाहरण है। भारत में गंगा के किनारे बाढ़ के पश्चात् ऐसी
अनेकों अस्थायी झीलों का निर्माण हो जाता है।

बहुधा सहायक नदी अपने साथ लाए तलछट को मुख्य नदी के संगम स्थल पर छोड़
देती हैं। मुख्य नदी का प्रवाह इस तलछट को बहाकर ले जाने में असमर्थ होता है। अतः
सहायक नदी द्वारा निक्षेपित पदार्थों से मुख्य नदी के मार्ग में अवरोध पैदा हो जाता है
जिसके परिणामस्वरूप झील का निर्माण हो जाता है। उत्तरी अमेरिका की मिसिसिपी नदी

की सहायक चिप्पेवा नदी के संगम स्थल पर निर्मित **पेपिन झील**, काश्मीर की **पेंगकांग झील** तथा सोमोरिरी झील संगम झीलों के सुन्दर उदाहरण हैं।

बड़ी नदियाँ सागर में मिलते समय अपने तलछट को डेल्टा के आकार में निक्षेपित कर देती हैं। डेल्टा में नदी की छोटी-छोटी धाराएँ बहने लगती हैं तथा उनकी शाखाएँ प्राकृतिक बाँधों से घिर जाती हैं। ऐसी नदी की दो शाखाओं के मध्य नीचा भाग रह जाता है, जिसमें पानी भर जाने के कारण झील का निर्माण होता है। इस तरह से निर्मित नील नदी के डेल्टा की झीलें **'मायेह'**, मिसीसिपी नदी के डेल्टा की झीलें **'बेवोन'**, गंगानदी की डेल्टा झीलें 'बील' तथा सिन्ध नदी की डेल्टा झीलें 'मंचर' हैं। कृष्ण एवं गोदावरी नदियों के डेल्टाओं में निर्मित **कोलेयर** झील तथा नील नदी की **मेन्जाला** झील डेल्टाई झीलों के उदाहरण हैं।

हिमानी द्वारा निक्षेप के फलस्वरूप भी अधिकांश झीलों का निर्माण होता है। हिमानी घर्षण द्वारा अपने साथ तलछट की अपार राशि ले आती है जिसे वह हिमोढ़ों के रूप में निक्षेपित कर देती है। यह हिमोढ़ बाँध का काम करते हैं, इनके पीछे हिमानी का पिघला
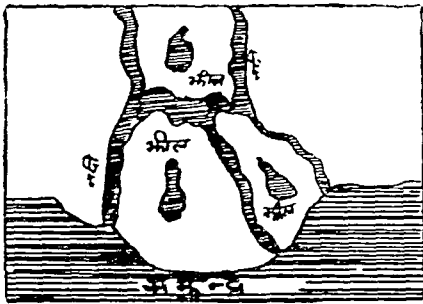
चित्र 19-8 डेल्टा झील
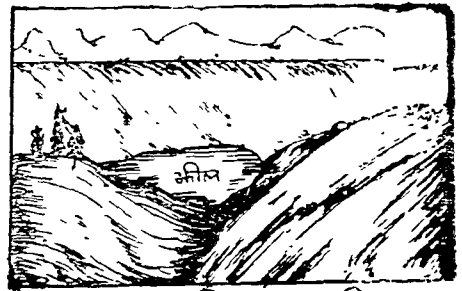
चित्र 19-9 हिम बान्ध झील

हुआ जल भर जाता है जिसके फलस्वरूप झीलों का निर्माण हो जाता है। हिमानी द्वारा अवरोध तथा कई प्रकार के निक्षेपित हिमोढ़ों से झीलें निर्मित हो जाती हैं।

हिमानी जब किसी बहते जल प्रवाह अथवा नदी के मार्ग में अवरोधक के रूप में आ जाती है तो एकत्रित तथा रुके हुए जल के कारण झील का निर्माण होता है। इस स्थिति में हिमानी नदी घाटी में बाँध का कार्य करती है। स्विट्जरलैण्ड की **'मारजेलेन सी'** तथा उत्तरी अमेरिका की **एगासीज** झील हिम बाँध झीलों के उदाहरण हैं। हिमानी के पिघलने से एगासीज झील तो समाप्त हो गई किन्तु उसके अवशेष आज भी उपस्थित हैं। उत्तरी अमेरिका में वेनीपेग तथा वड्स झीलें आज भी मौजूद हैं। इसी प्रकार ग्रीनलैण्ड की हिम टोपी के किनारे पर फियोर्ड में 16 से लेकर 32 किलोमीटर लम्बी बहुत सी हिम बाँध झीलें कतार में बनी हुई हैं।

हिमानी घाटी में हिमोढ़ों के निक्षेप से अवरोध उपस्थित हो जाता है। हिमानी जब पिघलती है तो हिमोढ़ों के पीछे झीलों का निर्माण हो जाता है। हिमानी द्वारा निक्षेपित हिमोढ़ कई प्रकार के होते हैं।

जो तलछट हिमानी अपनी तली में निक्षेपित करती है उसे तलस्थ हिमोढ़ कहते हैं। तलस्थ हिमोढ़ अत्यन्त असमान धरातल की होती हैं। अतः ऊँचे-नीचे ढेरों के मध्य अनेक

गर्त या बेसिन बन जाते हैं। हिमानी के पिघलने पर यह अवनमन जल से भर जाते हैं जो तलस्थ हिमोढ़-झील कहलाते हैं। यह झील आकार में छोटी तथा कम गहराई की होती है। प्लीस्टोसीन हिमानीकरण से प्रभावित क्षेत्रों में इस प्रकार की हजारों झीलें मिलती हैं। भारत में पीर पंचाल कुमायूँ, तथा काश्मीर में तलस्थ हिमोढ़ प्रचुर मात्रा में हैं। ब्रिटिश द्वीप समूह में इस प्रकार की अधिकांश झीलें पंकीली मिट्टी से भर गई हैं, किन्तु उत्तरी-पूर्वी जर्मनी, स्केण्डीनेविया, साइबेरिया, उत्तरी अमेरिका में तलस्थ हिमोढ़ झीलें आज भी विद्यमान हैं।
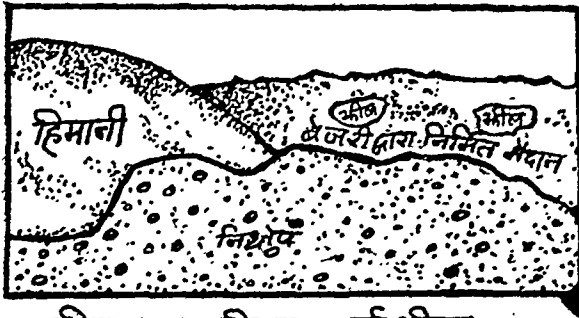
चित्र 19·10-हिमजल गर्त झील

यदि हिमानी क्रमिक रूप से पीछे को हटती है तो एक के बाद एक अन्तस्थ हिमोढ़ का निर्माण होता है। हिमानी के अग्रभाग पर टिल के निक्षेपण से बने भू-आकार को अन्तस्थ, अन्तिम या अग्रान्तस्थ हिमोढ़ कहते हैं। प्रत्येक अग्रान्तस्थ हिमोढ़ को हिमानी के पिघलने की अवस्था को प्रकट करती है। इन हिमोढ़ों के मध्य जल भर जाने से झीलों का निर्माण होता है। कोलोरेडो (संयुक्त राज्य अमेरिका) की ग्राण्ड लेक अन्तिम हिमोढ़ झील का एक उदाहरण है। यह 2.5 किलोमीटर लम्बी और 85 मीटर चौड़ी है।

पार्श्विक हिमोढ़ झीलों का निर्माण दो तरह से होता है—जब लम्बी हिमानी घाटी में अनेकों सहायक घाटियाँ निर्मित हो जाती हैं और इन सहायक घाटियों की हिमानी मुख्य घाटी तक पहुँचने से पूर्व ही पिघलने लगती है तो मुख्य घाटी के पार्श्विक हिमोढ़ से सहायक घाटी का मुख अवरुद्ध हो जाता है। फलस्वरूप सहायक घाटियों में झीलों का अस्थायी रूप से निर्माण होता है।

अधिक विशाल हिमानी अपनी घाटी के दोनों पार्श्वों को काटकर चौड़ा कर लेती है, और कालान्तर में घाटी के पार्श्वों से कुछ हटकर पार्श्विक हिमोढ़ का निक्षेप कर देती है। इस प्रकार घाटी की दीवार और पार्श्विक हिमोढ़ के मध्य रिक्त स्थान रह जाता है। यदि इस स्थान पर अनुप्रस्थ रूप से निक्षेपण हो जाय तो झील का निर्माण हो जाता है। किन्तु ऐसे दोनों ही तरह से निर्मित झीलें बहुत कम देखने में आती हैं। उत्तरी अमेरिका की पैचेन झील इसका उदाहरण है।

जब दो हिमानियाँ मिलती हैं तो उनके भीतरी पार्श्विक हिमोढ़ मिलकर मध्यवर्ती या मध्यस्थ हिमोढ़ की रचना करते हैं। किन्तु मध्यवर्ती हिमोढ़ के पीछे द्रोणी की रचना हो जाती है। इसी द्रोणी में जल संग्रह से झीलों का निर्माण होता है।
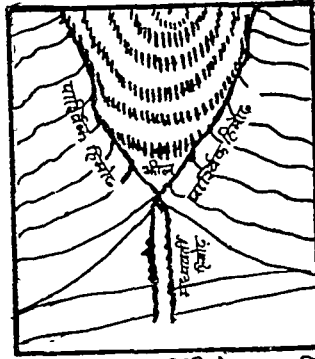
चित्र 19·11 मध्यवर्ती हिमोढ़ द्वारा निर्मित झील

वायु अपने साथ लाखों टन बालू लेकर उड़ती है जिसको मरुस्थलीय भागों में बालुका स्तूपों के रूप में निक्षेपित कर देती है। अतः धरातल असमान हो जाता है और इसमें जल भर जाने से झीलों का निर्माण होता है।

चित्र 19 12 (अ) बालुका स्तूप द्वारा निर्मित झील

चित्र 19 12 'ब' बालुका स्तूप द्वारा निर्मित झील

बालुका स्तूपों से घिरी हुई भूमि में वर्षा का जल अस्थायी रूप से भर जाता है जिससे झीलों का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त बालुकास्तूप नदी के प्रवाह को अवरुद्ध कर झीलों का निर्माण कर देते हैं। मुख्य नदी के तटवर्ती क्षेत्रों में सहायक सरिताओं के

भागों में बालुका स्तूप जलप्रवाह को रोककर झीलों को जन्म देते हैं। ऐसी झीलें अधिकांशतः मुख्य नदी के किनारे पाई जाती हैं। इण्डियाना राज्य के ड्यून पार्क में बालुका स्तूप के बीच जल भरने से अनेक छोटी-छोटी झीलों का निर्माण हुआ है।

सागरीय निक्षेप द्वारा निर्मित झीलें

सागरीय लहरें कटे-फटे तट के समीप अथवा खाड़ी के मुख के पास मिट्टी, रेत, कंकड़, पत्थर आदि प्रचुर मात्रा में एकत्रित कर देती हैं। इस प्रकार समुद्री लहरों द्वारा तट के पास एक गोल शंकु सा बन जाता है। लहरों के निरन्तर थपेड़ों से सागरीय निक्षेप द्वारा यह अर्द्धचन्द्राकार श्रेणी खाड़ी के मुख को अवरुद्ध कर देती है। इस प्रकार सागर और तट के मध्य बनी यह दीवार खाड़ी को समुद्र से पृथक कर देती है। इस तरह बनी झीलों को शंकु (लगून) झील कहते हैं।

चित्र 19.13 अ सागर द्वारा निक्षेपित झील
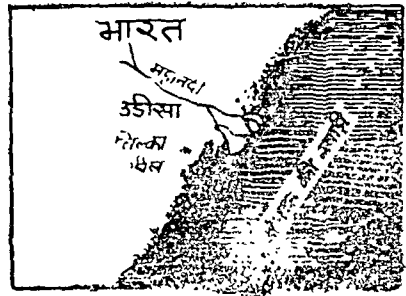
चित्र 19.13 ब सागर द्वारा निक्षेपित झील

लावा अवरोधी झीलें

कभी-कभी लावा बहकर नदी घाटी में निक्षेपित हो जाता है। फलस्वरूप नदी का प्रवाह रुक जाता है जिसके कारण झीलों का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार की झीलों को 'कौली झील' कहते हैं। कैलीफोर्नियाँ में 'स्नैग' तथा जार्डन की घाटी में 'टिबरिया' नाम की झीलें इसी प्रकार निर्मित हुई हैं। अबीसीनिया की 'टीना' और मध्य अमेरिका की 'निकारागुआ' झीलें भी नदी में लावा द्वारा अवरोध से बनी झीलें हैं। कभी-कभी लावा कटे-फटे सागर के तट के समीप इस प्रकार बहकर निक्षेपित हो जाता है कि समुद्र का कुछ भाग भी झील का रूप ले लेता है। मैदान या पठार में लावा निक्षेप के असमान वितरण के फलस्वरूप भी कहीं-कहीं जल पात्रों का निर्माण हो जाता है जिनमें जल भरने के कारण झीलों का आविर्भाव हो जाता है। प्रायद्वीपीय भारत में इस प्रकार की अनेक झीलें देखने को मिलती हैं।

पर्वतीय क्षेत्रों में भूस्खलन के परिणामस्वरूप नदी घाटी या गहरे खड्डों में जल प्रवाह के रुक जाने से भी झीलों का निर्माण हो जाता है। किन्तु ऐसी झीलें प्रायः अस्थायी हुआ करती हैं। प्रचुर जलराशि के एकत्रित होने के कारण भूस्खलन द्वारा यह अस्थायी बाँध टूट जाता है जिससे नदी के निचले भागों में बाढ़ आ जाती है। सन् 1893 में गंगा की सहायक अलकनन्दा नदी की सहायक नदी गोहाना के मध्य भूस्खलन से एक बाँध बन चला था जिसके कारण 'गोहाना झील' का निर्माण हुआ। सन् 1970 में गोहाना झील के

जल के प्रचण्ड दबाव के कारण वह प्राकृतिक बांध टूट गया और गढ़वाल जिले में भयंकर बाढ़ आ गई। गोहाना झील लोप हो गई और नदी पुनः अपने पूर्ण मार्ग पर बहने लगी।

पहाड़ी की ऊबड़-खाबड़ चोटियों के ढलुए भागों से नीचे गिरने वाले पत्थरों से नीचे की नदी घाटी जब अवरुद्ध हो जाती है तो झीलों का निर्माण हो जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में 'हैलवेलीन' के पार्श्वों पर अवस्थित 'ह्वार्ड टार्न' तथा 'स्नोडन पर्वत' पर स्थित फीनान फ्रेच नाम की झीलें स्क्री बांध द्वारा ही निर्मित हैं।

भूगर्भिक उथल-पुथल के कारण धरातल पर क्षैतिज तथा लम्बवत संचलन होता है जिसके परिणामस्वरूप वलन तथा भ्रंशन होते हैं। अतः भूपटल का एक भाग नीचे धंस जाता है तथा दूसरा भाग ऊपर उठ आता है। इस प्रकार अवतलित भागों में विभ्रंश-घाटियों तथा विशाल द्रोणियों का विकास हो जाता है और इनमें जल भर जाने से विवर्तनिक झीलों का निर्माण होता है।

प्रचण्ड भूकम्प के कारण कभी-कभी धरातल में द्रोणी निर्मित हो जाती है जिसमें पानी भर जाने से झील का निर्माण होता है। इस प्रकार की अल्पजीवी झीलों को 'एफीमरल' झीलें कहते हैं। सन् 1911 में संयुक्त राज्य अमेरिका में भूकम्प के कारण पश्चिमी टेनेसी प्रान्त में 20 किलोमीटर लम्बी 'रीलफुट' नाम की झील का निर्माण हो गया
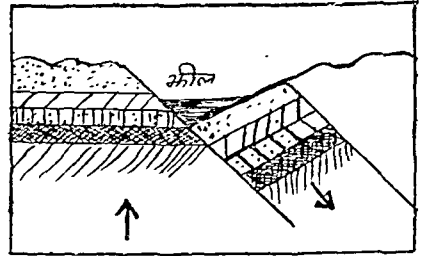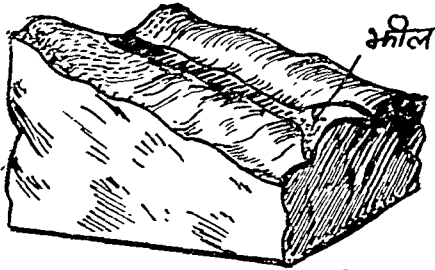
चित्र 19·14-भूकम्प निर्मित झील

चित्र 19·15-भ्रंशन से निर्मित झील-विवर्तनिक

था। भारत में बिहार और आसाम में भी भूकम्प के कारण कई झीलों का निर्माण हुआ था। सन् 1934 में भूकम्प के कारण मुंगेर (बिहार) में झील बन गई थी। कुमांयू तथा गढ़वाल के बाहरी हिमालय में भूकम्प के कारण दबाव व शैलपातों के कारण बनी अनेकों झीलें पाई जाती हैं।

विवर्तनिक हलचलों के कारण कभी-कभी महाद्वीपीय मग्न तट का भाग ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार तट और मग्न तट के उभरे भाग के मध्य झील पात्र बन जाता है जो ज्वार के समय जल से भर जाता है। महाद्वीपीय मग्न तट का उन्मज्जित भाग ऊँचा-नीचा होता है। निचले भागों में पानी भर जाने के कारण भी झीलों का निर्माण होता है।

वलन के कारण जब धरातल का कुछ भाग नीचा और कुछ ऊँचा हो जाता है। इन दोनों ही प्रकार के भू-आकारों में झीलों का निर्माण होता है।

क्षैतिज संचलन से धरातल पर अभिनति बन जाती है जिसमें जल भरने से झीलों का निर्माण होता है। दक्षिणी अफ्रीका की 'एडवर्ड' तथा 'जार्ज' झीलें इसके उदाहरण हैं।

जब वलन के कारण कोई अपनति किसी नदी घाटी के बीच बन जाती है तो नदी में एक प्रकार का प्राकृतिक बाँध बन जाता है और नदी प्रवाह अवरुद्ध होकर झील में परिणित हो जाता है। स्विजरलैण्ड की 'जेनेवा' तथा 'कॉंसटैंस' झीलें अपनति झीलें हैं।

विवर्तनिक हलचलों के कारण धरातल में भ्रंश पड़ जाते हैं। भ्रंश के एक ओर का भाग नीचे को धंस जाता है या फिर ऊपर को उठ जाता है तो झील-पात्र का निर्माण होता है। नीचे धंसे भाग में जल भर जाने के कारण झील निर्मित हो जाती है। अमेरिका की एण्ड्रियास झील तथा क्रिस्टल स्प्रिंग झील, कुमायूं में उप हिमालय क्षेत्र की बहुत सी झीलें ऐसे ही बनी हैं (चित्र 19.15)।

भूपटल में दो दरारों के मध्य का भाग जब भूगर्भिक हलचलों के कारण नीचे बैठ जाता है तो विभ्रंश घाटी का निर्माण होता है। इस घाटी में पानी भर जाने से झील बन जाती है। साइबेरिया की 'बैकाल', अफ्रीका की रिफ्ट घाटी स्थित 'अलबर्ट', 'नियासा'
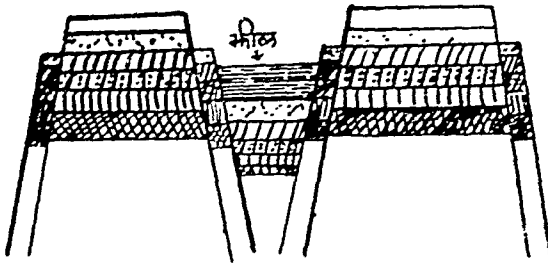
चित्र 19 16 - विभ्रंशघाटी झील

'टंगानिका' झीलें, तुर्किस्तान की इज्जकुल झील जो 60 कि.मी. लम्बी और 48 से 68 किमी. चौड़ी है तथा जोर्डन रिफ्ट घाटी में स्थित 'मृत सागर' विभ्रंश घाटी झीलें हैं।

ज्वालामुखी शान्त हो जाने पर उनके मुख या विवर खुले रह जाते हैं। ज्वालामुख कंकड़, पत्थर एवं मिट्टी के निक्षेप से प्याले के आकार का हो जाता है। इसी विवर में वर्षा का जल भर जाने से झील बन जाती है। अमेरिका के ओरेगन प्रान्त की माउण्ट मैजमा में क्रेटर लेक इसी प्रकार की झीलें हैं। इफेल क्षेत्र की लैचर सी तथा नेपल्स के निकट आवर्नस झील ऐसे ही बनी हैं। लोनार झील बरार के बुलडाना जिले में उस वृत्ताकार उच्छृङ्गावृत्त गड्ढे के आकार के (ज्वालामुखीय) मुँह के चौरस तल पर अवस्थित है। यह गर्त उन उच्छृङ्गों की मण्डलाकार स्थलाकृति से घिरा है जो झील के चारों ओर करीब 150 मीटर ऊँचाई तक उठें हुए हैं। गड्ढे का व्यास एक शीर्ष से दूसरे शीर्ष तक सवा मील है।

इनके अतिरिक्त कई ऐसे जीव-जन्तु होते हैं जो भूमि को खोदकर उसमें गहरे गर्त या सुरंगें बना लेते हैं। अन्त में इन सुरंगों की छत गिर जाती है तथा गड्ढे बन जाते हैं। इन गड्ढों में वर्षा का जल भर जाता है और ये झील का रूप ग्रहण कर लेते हैं। ऊदबिलाव एक ऐसा जीव है जो भूमि को खोदकर मिट्टी बाहर निक्षेपित कर देता है। मिट्टी की पर्याप्त निक्षेपित मात्रा से बाँध निर्मित हो जाते हैं जिनके पीछे वर्षा का जल भर जाता है तथा झीलों का निर्माण हो जाता है। अमेरिका में इनके द्वारा निर्मित 200 फीट लम्बे तथा

1.5 से 1.8 मीटर ऊँचे ऐसे अनेक बांध देखे जा सकते हैं। बीवर झीलें अस्थाई होती हैं जो अन्तत: पुनः तलछट से ढंक जाती हैं।
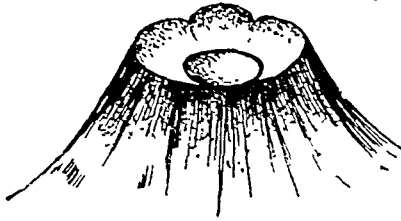
चित्र 19 17-ज्वाला मुख झील

झीलों की उत्पत्ति के उपरोक्त आधारों के अतिरिक्त भी ऐसे अन्य कारण हैं जिनके द्वारा इनका निर्माण होता है, जैसे—स्थायी हिमाच्छादित क्षेत्रों में किसी विशेष स्थान पर मिट्टी के ताप के कारण हिम पिघल जाती है, फलस्वरूप 'था' झील का निर्माण होता है। उत्तरी अलास्का के तटवर्ती भागों में ऐसी अनेक झीलें स्थित हैं। टुण्ड्रा प्रदेश में मॉस, लिचिन आदि वनस्पति के पर्याप्त मात्रा में आर्कटिक तट के सहारे जमा हो जाने से एक प्रकार के बाँध की रचना हो जाती है। इन बाँधों के पीछे हिम जल भर जाने से झीलों का निर्माण हो जाता है। ऐसी झीलें उथली एवं अस्थाई होती हैं। उल्का पात के कारण भी धरातल पर गहरे गड्ढे बन जाते हैं इनमें वर्षा का जल भर जाने पर झील बन जाती हैं। उत्तरी क्यूबेक में 'छब क्रेटर झील' इसका उदाहरण है। छोटे या बड़े ऐसे कई सम्मिलित कारणों से भी झीलों का निर्माण होता है जैसे--अपरदन, निक्षेप तथा अवसंवलन। सम्भवत: उत्तरी अमेरिका की बड़ी झीलों के निर्माण में यही सम्मिलित कारण उत्तरदायी थे।

सदा से झीलों का निर्माण और विलयन होता रहा है। झीलों के समाप्त या लुप्त होने के भी अनेक कारण हैं।

मरुस्थलों में उच्च तापमान के कारण झीलों में संचित वर्षा या बरसाती नदी का जल भाप बनकर उड़ जाता है। जल के सूख जाने पर झील के स्थान पर लवण मिट्टी का समतल मैदान रह जाता है। चिली, पीरू, भारत तथा संसार के अन्य मरुस्थलीय प्रदेशों में ऐसी झीलों की सूखी तली से शोरा निकाला जाता है। रेत या बालू के निक्षेप से भी झील पट जाती है। शुष्क प्रदेशों में वायु रेत की अपार राशि लेकर उड़ती है जो झीलों में निक्षेपित होती रहती है। कालान्तर में झील रेत से पट जाती है। अमेरिका के कोलोरेडो प्रदेश में 'फ्लोरोसेन्ट झील' इसी कारण लुप्त हुई।

नदी द्वारा निक्षेप से भी झील पूर्णत: पट जाती हैं। नदियाँ अपने साथ तलछट का निक्षेप झीलों में करती रहती हैं शनैः-शनैः झील की तली ऊँची होती जाती है तथा कालान्तर में झील पूर्णत: पट जाती है।

नदी मार्ग में परिवर्तन के कारण भी झील विलीन हो जाती है। यदि नदी की ऊपरी घाटी में विवर्तनिक हलचल के कारण नदी अपने मार्ग को परिवर्तित कर देती है तो निचली घाटी में बनी झील जल के अभाव में सूख जाती है।

जलवायु परिवर्तन के कारण भी झील लुप्त हो जाती है। रूसी तुर्किस्तान की अरल सागर झील वर्षा के उत्तरोत्तर कम होते जाने से शनैः-शनैः सूखती जा रही है। यदि यही क्रम जारी रहा तो आने वाले समय में सम्भवतः अरल सागर ही लुप्त हो जायगा।

जलवायु परिवर्तन के कारण हिम चादर का निवर्तन तथा प्रसार हुआ करता है। हिमचादर के प्रसार के कारण पहले से निर्मित झीलें जम कर हिम में परिवर्तित हो जाती हैं। प्लीस्टोसीन हिमयुग में इस प्रकार कई बार झीलों का निर्माण हुआ और वे विलीन भी हो गयीं।

हिमानी द्वारा निक्षेपित हिमोढ़ों के पीछे झील बन जाती है, किन्तु हिमोढ़ों के टूट जाने पर जल प्रवाहित होकर बह जाता है तथा झील विलीन हो जाती है।

हिमानी अपने साथ तलछट लाकर कभी-कभी पूर्व निर्मित झील में निक्षेपित कर देती है जिससे भी झील पट जाती है।

झीलों में वनस्पति तथा काई जमने से भी निक्षेप प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार की झीलों की तली में कोयला मिलता है। काश्मीर की कई छोटी झीलें वनस्पति की प्रचुरता के कारण विलीनीकरण के समीप हैं।

पहाड़ी प्रदेशों में भूस्खलन के कारण भी झीलें पट कर विलीन हो जाती हैं।

भूगर्भिक हलचलों से भी कभी-कभी झील की तली में उभार आ जाने के कारण झील का पानी बह जाता है तथा झील लुप्त हो जाती है।

यह कहना उपयुक्त होगा कि अपरदन या निक्षेप से बनी झीलें विवर्तनिक झीलों की तुलना में कम स्थायी होती हैं और अपेक्षाकृत शीघ्र विलीन हो जाती हैं।

भारत की कुछ प्रमुख झीलें

झीलों के वितरण को समझने के लिए भारत को उत्तरी एवं दक्षिणी भागों में विभक्त किया जा सकता है। भारत में उत्तरी भाग की अपेक्षा दक्षिणी भाग में अधिक झीलें हैं।

प्रायद्वीपीय झीलों में चिल्का झील भारत के पूर्वी तट पर उड़ीसा प्रदेश में है जो कि लगभग 72 किलोमीटर लम्बी और 32 किलोमीटर चौड़ी है। समुद्री तरंगों द्वारा रोधिका एवं भू-जिह्वा के निर्माण के कारण यह झील अस्तित्व में आई।

पुलिकट झील तमिलनाडू राज्य के समुद्र के समानान्तर 60 किलोमीटर लम्बी तथा 5 से 16 किलोमीटर चौड़ी है। यह अत्यन्त छिछले खारे पानी की झील है। चिल्का झील की भाँति ही इसका निर्माण हुआ है।

मलाबार तट की झीलें भारत के पश्चिमी तट पर स्थित हैं जिनको स्थानीय भाषा में 'कयाल' कहते हैं।

भारत प्रायद्वीप के अन्य भागों में भी कई झीलें हैं जिनमें गोलाकार आकार की लोनार झील (महाराष्ट्र) प्रमुख है। इसका व्यास लगभग 1.6 किलोमीटर है तथा गहराई 90 मीटर है। लोनार झील की उत्पत्ति के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार यह ज्वालामुखी झील है जबकि दूसरे मत के अनुसार इसका निर्माण बैसाल्ट की चट्टानों के वृत्ताकार अवतलन के कारण हुआ है। इस झील में कई तरह के लवण पाए जाते हैं।

उत्तरी भारत की झीलों में कई प्रमुख हैं--काश्मीर झीलों के मनोहरी दृश्यों के लिए विश्व विख्यात है। श्रीनगर के निकट मीठे पानी की 'डल' तथा 'वूलर' झीलें अत्यन्त सुरम्य झीलें हैं। हिमाचल स्थित कुमायूँ मीठे पानी की झीलों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ भूगर्भिक हलचलों, नदियों के अवरुद्ध होने एवं विलयन से झीलों का निर्माण हुआ है। 'नैनीताल', 'भीमताल', 'खेतनताल', 'खुरपाताल', 'मालवाताल' आदि प्रमुख झीलें हैं।

राजस्थान—जयपुर के पश्चिम में फुलेरा के निकट लगभग 230 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में खारे पानी की 'साँभर झील' फैली हुई है। इससे प्रतिवर्ष 1,30,000 टन नमक निकाला जाता है। इसके अतिरिक्त भी खारे पानी की छोटी-मोटी झीलें राजस्थान के पश्चिमी भाग में पाई जाती हैं। माउन्ट आबू पर सबसे ऊँचाई पर स्थिर 'नक्की झील', उदयपुर के समीप 'उदय सागर', 'फतह सागर', 'जयसमन्द' तथा 'राजसमन्द' (कांकरोली) मानव निर्मित मीठे पानी की प्रमुख झीलें हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Emmons, Allison, Stauffer and Thiel (1960), Geology, Chapter 16, (McGraw Hill Book Co., New York).
2. Fletcher, Wolfe (1953), Earth Science, Chapter 11, (D. C. Heath & Co., Boston).
3. Longwell, C. R.; Flint R. F. (1962), Introduction to Physical Geology, Chapter 12 (John Wiley and Sons, New York).
4. Monkhouse, F. J. (1962), Principles of Physical Geography, Chap. VII (University of London Press Ltd., London).
5. Salisbury, R. D. (1967), Physiography (Hindi Translation), Laxmi-Narain Agarwala, Asptal Road, Agra, pp. 264–288.
6. Worcester, P. G. (1949), A Text Book of Geomorphology, Chapter X (D. Van Nostrand Co., Inc., New York).

———

तृतीय खण्ड

वायुमण्डल

20

वायुमण्डल
[Atmosphere]

वायुमण्डल

पृथ्वी के चारों ओर स्वादहीन, गन्धहीन व रंगहीन गैसों तथा अन्य तत्वों का लगभग 32,000 किमी. से भी. अधिक मोटाई का एक विशाल आवरण फैला हुआ है। इसे हम 'वायुमण्डल' कहते हैं। वायुमण्डल को समझने के लिए हमको मौसम, मौसम विज्ञान, जलवायु विज्ञान तथा सूक्ष्म जलवायु विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। मौसम या ऋतु शब्द किसी स्थान के कुछ निश्चित समय की वायुमण्डल की दशाओं को व्यक्त करता है। जलवायु विज्ञान किसी विशेष क्षेत्र की लम्बी अवधि की वायुमण्डल की औसत दशा का तर्कसंगत वर्णन है। विशेष रूप से यह विभिन्न प्रकार की जलवायु को, उनके भौगोलिक विन्यास के आधार पर, परिसीमित करने से सम्बन्धित है। मौसम विज्ञान वायुमण्डल में निरन्तर चलने वाली भौतिक प्रक्रियाओं के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित है। इसका व्यावहारिक प्रयोग मौसम की भविष्यवाणी करने में होता है। सूक्ष्म जलवायु विज्ञान स्थानीय जलवायु के वृहत् अध्ययन में सन्निहित है। तापमान, वायुदाब, वायु, आर्द्रता तथा वर्षा जलवायु के अंग हैं।

पृथ्वी वायुमण्डल की परत को गुरुत्वाकर्षण के कारण धारण किए हुए है। अतः वायुमण्डल भी पृथ्वी की परिभ्रमण गति के साथ-साथ घूमता है अन्यथा वायु सदा पृथ्वी की गति के विपरीत अर्थात् पूर्व से पश्चिम की ओर बहा करती, किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता। वायुमण्डल पारदर्शक है। अतः सूर्य की किरणें इसको सरलता से पार कर जाती हैं तथा वायु सूर्य से सीधा ताप न ग्रहण कर मुख्यतः पृथ्वी से ग्रहण करती है।

प्राणी जगत के लिए वायु अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राणी बिना जल और बिना भोजन कुछ दिन जीवित रह सकता है, किन्तु वायु के बिना कुछ सैकेण्ड भी जीवित नहीं रह सकता। पृथ्वी पर न केवल स्थलचर, नभचर और जलचर: वरन् पेड़-पौधे व वनस्पति भी वायु के सहारे ही जीवित रहते हैं। वायुहीन पृथ्वी पर न बादल होते, न वर्षा होती, न जल-प्रवाह होता और न सांस लेने के लिए वायु मिलती। वायुमण्डल की ओजोन गैस की ऊपरी परत सूर्य की परा-बैंगनी किरणों को सोख लेती है जिससे पृथ्वी पर भयकर ताप से जीवन रक्षा होती है।
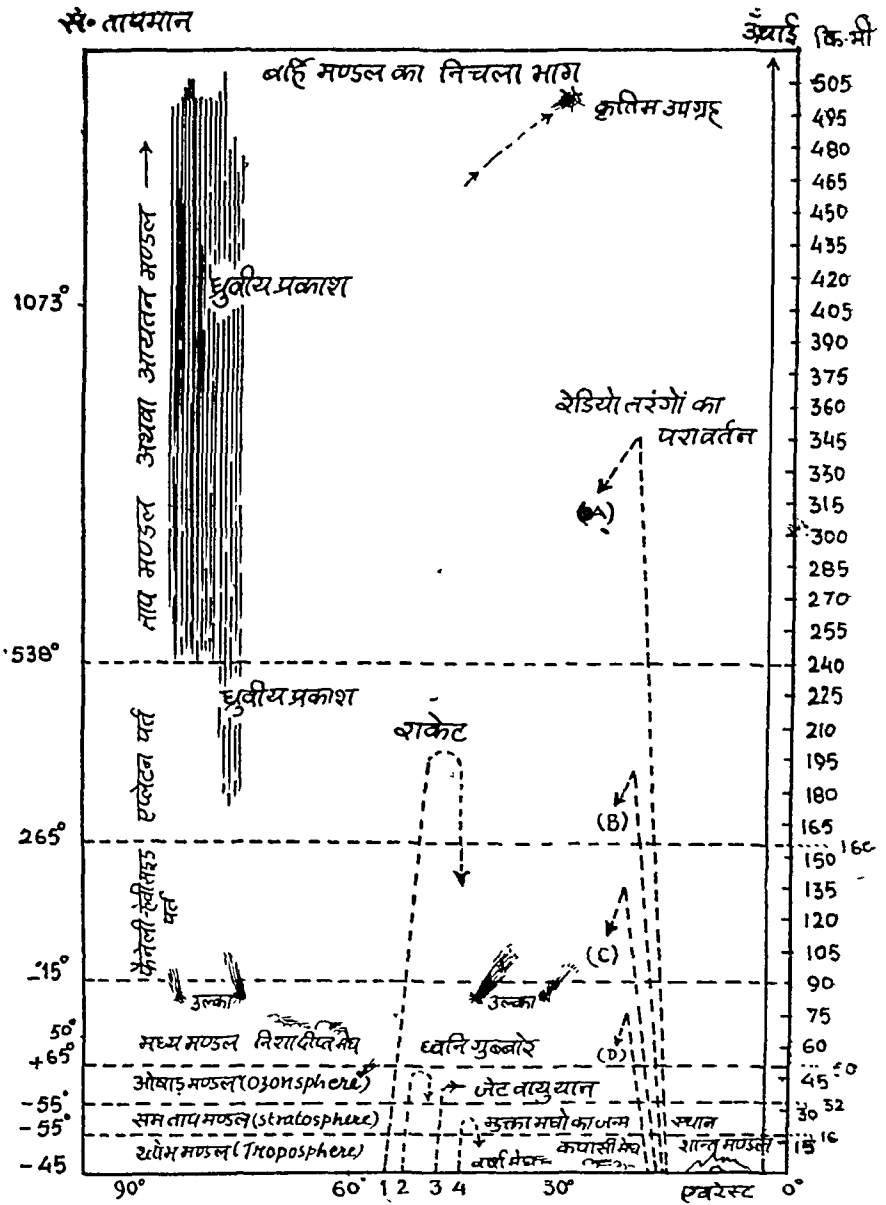
1.-राकेट की उड़ान, 2- ध्वनि गुब्बारे, 3- जेट वायुयान, 4 - मानव-युक्त गुब्बारे : रेडियो तरंगों का परावर्तन - A - दीर्घ, B - माध्यमिक, C- सूक्ष्म (दिन में) D- सूक्ष्म (रात्रि में)

चित्र 20-1 वायुमण्डल का विस्तार तथा भौतिक दृश्य

सागरों, नदियों और झीलों में नाइट्रोजन, ऑक्सीजन तथा कार्बन-डाई-ऑक्साइड पर्याप्त मात्रा में घुली रहती हैं जिसको जल जीव ग्रहण कर जीवित रहते हैं।

वायुमण्डल की रचना विभिन्न प्रकार की गैसों, जलवाष्प, धूलकणों और कुछ विशेष प्रकार के जीवाणुओं आदि पदार्थों के मिश्रण से हुई है।

वायुमण्डल वैसे तो अनेक गैसों का मिश्रण है। किन्तु इसमें मुख्य रूप से दो गैसें— नाइट्रोजन 78.03 प्रतिशत तथा आक्सीजन 20.94 प्रतिशत मिलकर कुल वायुमण्डल की गैसों की 98.97 प्रतिशत की रचना करती हैं। शेष 1.03 प्रतिशत में अन्य गैसें पाई जाती हैं। समुद्र तल के समीप लगभग 9 गैसें मिलती हैं। इनमें से भारी गैसें, जैसे
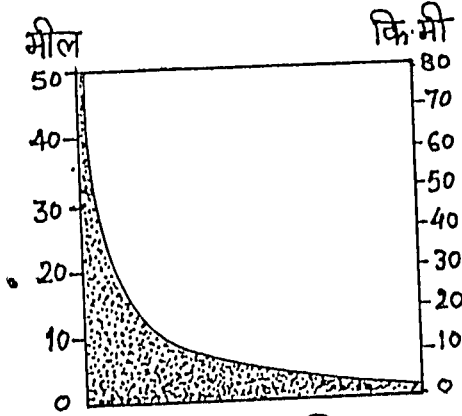
चित्र 20·2 वायुमण्डल की कुल मात्रा का उर्ध्वाकार वितरण

नाइट्रोजन, आक्सीजन, कार्बन-डाइ-आक्साइड तथा आरगन पृथ्वी के निकट पाई जाती हैं। हल्की गैसें जैसे हीलियम, नियोन, क्रिपटोन, ओजोन, जेनोन आदि पृथ्वी से दूर ऊपरी सतह में पाई जाती हैं।

वायुमण्डल में महत्वपूर्ण गैसों का प्रतिशत

गैसें	संज्ञा	प्रतिशत
नाइट्रोजन	N_2	78.03
आक्सीजन	O_2	20.94
आर्गन	Ar	0.93
कार्बन-डाइ-आक्साइड	CO_2	0.03
अन्य गैसें		0.07
	कुल योग	100.00

कार्बन-डाइ-आक्साइड गैस अन्य गैसों की तुलना में भारी होने के कारण धरातल से केवल 20 किमी. ऊँचाई तक मिलती है। आक्सीजन तथा नाइट्रोजन 140 किमी. ऊँचाई तक पाई जाती हैं। हाइड्रोजन की मात्रा ऊँचाई के साथ-साथ बढ़ती जाती है। 100 किमी. की ऊँचाई पर इसकी मात्रा 95.5 प्रतिशत हो जाती है तथा 150
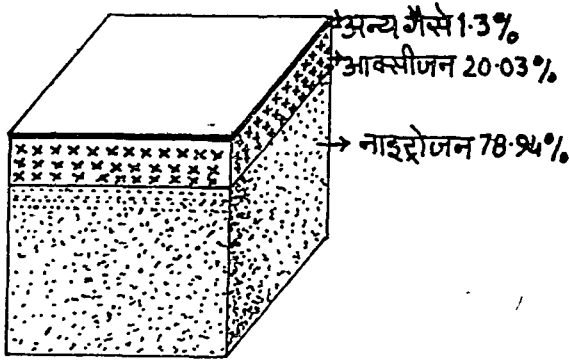
चित्र 20.3 वायुमण्डल का संघटन

कि.मी. की ऊँचाई के बाद यह नहीं मिलती। अन्य हल्की गैसें इससे भी अधिक ऊँचाई तक पाई जाती हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वायुमण्डल की ऊपरी गैसें पृथ्वी के निर्माण के समय से ही मूल रूप में विद्यमान हैं जबकि निचली गैसें धरातल पर बाद में हुए परिवर्तनों के परिणामस्वरूप बनी हैं।
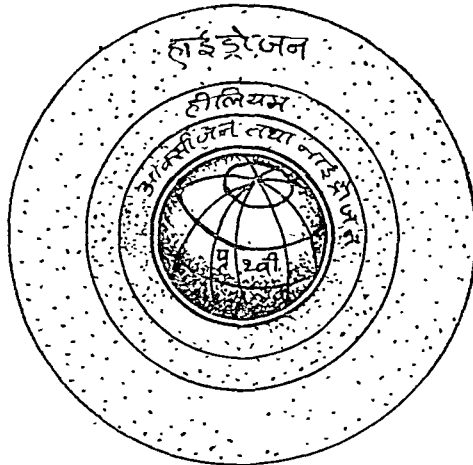
चित्र 20.4 वायुमण्डल की गैसें

जलवाष्प वायुमण्डल का अभिन्न अंग है। सागर, नदी, जलाशयों, मिट्टी, वनस्पति आदि से वाष्पीकरण के कारण जलवाष्प वायुमण्डल में मिश्रित होती रहती है। अनुमानतः सूर्य ताप प्रति सैकण्ड 1.6 करोड़ टन जल को वाष्प में परिवर्तित कर देता है।

यदि वायु में मिश्रित समस्त जलवाष्प पृथ्वी पर वर्षा के रूप में बरस जाये तो संपूर्ण पृथ्वी पर जल की 2.5 सेन्टीमीटर मोटी परत बिछ जायेगी। गर्म वायु में ठण्डी वायु की अपेक्षा जलवाष्प ग्रहण करने की क्षमता अधिक होती है अतः भू-मध्यरेखा के समीप उच्च तापमान होने के कारण वायुमण्डल में जलवाष्य की मात्रा अधिक रहती है जो ध्रुवों की ओर दूरी के अनुपात में घटती जाती है। वायुमण्डल में जलवाष्प की अत्यधिक मात्रा 5 प्रतिशत तक होती है। साधारणतः धरातल से 8 किमी. की ऊँचाई पर जलवाष्प की मात्रा घटती जाती है। परन्तु 11 से 80 कि.मी. के मध्य इसकी मात्रा पुनः बढ़ जाती है। जलवाष्प की अधिकांश मात्रा 1830 कि.मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है तथा 7,500 किमी. के पश्चात वायुमण्डल जलवाष्प रहित हो जाता है। जलवाष्प के कारण ही संघनन के अनेकों रूप वर्षा, हिमपात, तुषार, ओस, ओले आदि होते हैं। वायु में जलवाष्प की मात्रा सदा समान न रहकर ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ घटती बढ़ती है।

वायुमण्डल में सूक्ष्म धूलकण भी महत्वपूर्ण हैं। धूलकणों के अतिरिक्त धूओं के रूप में कार्बन के सूक्ष्म कण, ज्वालमुखी की धूल, पौधों के बीजाणु, समुद्री लवण, उल्काओं के सूक्ष्म कण आदि वायुमण्डल में विद्यमान रहते हैं। इन धूल कणों पर आर्द्रता जमने के कारण बादल, वर्षा, ओस, कोहरा, धुन्ध आदि बनते हैं। अतः ये आर्द्रताग्राही कहलाते हैं। आकाश में जलवाष्प तथा धूलकणो पर सूर्य की सीधी किरणें पड़ने से कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग बनते-बिगड़ते रहते हैं। सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय आकाश में रंगों का परिवर्तन इन्हीं धूलकणों के कारण होता है।

50 किमी. की ऊँचाई तक जलवाष्प, धूलकण तथा ओजोन गैस के अतिरिक्त अन्य सभी गैसें समान अनुपात में मिश्रित रहती हैं। किन्तु ऋतु परिवर्तन के साथ गैसो की मात्रा में भी अल्पकालिक परिवर्तन हुआ करते हैं। इसी प्रकार गैसों में दीर्घकालिक परिवर्तन भी हुआ करते हैं। प्राकृतिक परिवर्तनों के अतिरिक्त मानव द्वारा कृत्रिम परिवर्तन भी किया जाता है। राष्ट्र संघ के पर्यावरण कार्यक्रम में चेतावनी दी गई है कि जीवाश्मी ईंधन जलाने के माध्यम से हम कारब-डाई-आक्साइड (CO_2) गैस का जो अधिकाधिक उत्पादन कर रहे हैं, वह जलवायु में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का कारण बन सकता है। प्रकृति ने समुद्रों जलाशयों, वायुमण्डल पौधों आदि में CO_2 की पर्याप्त मात्रा दी है। किन्तु वर्तमान में मानव इतनी अधिक कार्बन छोड़ रहा है जिसको सागर या वनस्पति आदि अपने में आत्मसात करने में असफल हो रहे हैं। सन् 1900 से लेकर 1935 तक अर्थात् 35 वर्षो में वायुमण्डल में CO_2 की 9 प्रतिशत मात्रा बढ़ी है। औद्योगीकरण पूर्व से आज तक यह मात्रा 14 प्रतिशत हो गई है जिसके फलस्वरूप संसार का तापमान भी शनैः-शनैः बढ़ रहा है। मौसम वैज्ञानिकों के मतानुसार सन् 2100 तक जीवाश्मी ईंधन जलाने के कारण पृथ्वी का 5° से 6° सेंटिग्रेड तापमान बढ़ जायेगा। परिणामस्वरूप पृथ्वी पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आयेंगे। वैज्ञानिकों के अनुसार ध्रुवीय हिम पिघलेगी जो सागर स्तर को ऊँचा कर बहुत से तटीय भागों को जलमग्न कर देगी। विश्व खाद्य उत्पादन पर भी प्रभाव पड़ेगा तथा पानी के गर्म होने के कारण सागरीय जीवन भी पोषाहार के अभाव से प्रभावित होगा। सूर्य ताप के परिवर्तन से ओजोन गैस की मात्रा में भी परिवर्तन आयेगा।

ऋतु परिवर्तन के अतिरिक्त ओजोन तथा कार्बन-डाइ-आक्साइड गैसों की मात्रा

अक्षांशों के साथ-साथ भी बदलती है जिसके कारण वायुमण्डल की गैसों का सन्तुलन बना रहता है।

वायुमण्डल की ऊँचाई एवं परतें

वायुमण्डल की ऊँचाई निश्चित रूप से नहीं आंकी जा सकी है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व यह 300 किमी. तथा उसके पश्चात् क्रमश: 960 किमी., 1280 किमी. तथा 32,000 किमी. निश्चित की गई। रैंक्स ने आधुनिकतम राडार-वायुध्वनि, गुब्बारों तथा बेतार यंत्रों से युक्त कृत्रिम उपग्रहों के अध्ययन से यह सिद्ध कर दिया है—कि अत्यधिक विरलित अवस्था में वायु के प्रमाण 32,000 किमी. की ऊँचाई से लेकर 4,00 000 किमी. की ऊँचाई तक मिलते हैं तथा उसके पश्चात् वायुमण्डल विरलित होते-होते अन्तरग्रहित आकाश में सूर्य के वायुमण्डल में समाविष्ट या आत्मसात हो जाता है।

धरातल से ऊँचाई, तापमान, वायुभार एवं अन्य प्राकृतिक आधारों पर वायुमण्डल को 6 परतों में विभाजित किया गया है—परिवर्तन या क्षोभ-मण्डल, क्षोभ सीमा, समताप मण्डल, ओजोन मण्डल, अयन मण्डल, वहिमण्डल या आयतन मण्डल।

क्षोभ मण्डल वायुमण्डल की सबसे निचली परत है जिसमें सदा विभिन्न प्रकार के परिवर्तन आते रहते हैं अतः इसे परिवर्तन मण्डल नाम से पुकारा जाता है। इसकी औसत ऊँचाई 11 किमी. आंकी गई है। भूमध्यरेखा पर समुद्र तल से इसकी ऊँचाई 16 किमी. तथा ध्रुवं की ओर घटते-घटते लगभग 7 किमी. रह जाती है। इसमें वायुमण्डल के कुल आणाविक तथा गैस भार का 75 प्रतिशत भाग सम्मिलित है। इसमें प्रति 165 मीटर ऊँचाई पर 1° से. तापमान कम हो जाता है। तापमान के अतिरिक्त इसमें कई प्रकार के मौसम सम्बन्धी परिवर्तन होते रहते हैं। क्षोभ मण्डल में वायु संवाहनीय धाराओं के रूप में चलती है। इसकी ऊपरी सीमा पर वायु दाब धरातल की तुलना में चौथाई रह जाता है। कूपे ने क्षोभ मण्डल को 'ए' (A) परत की संज्ञा दी है।

परिवर्तन मण्डल की ऊपरी सीमा तक ही मानव के कार्य कलाप सीमित रहते हैं। अत: यह मानव के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी ऊपरी सीमा मौसमी परिवर्तनों की सीमा मानी गई है। इस मण्डल में जलवाष्प और धूलकण सबसे अधिक मिलते हैं। आंधी तूफान, विद्युत प्रकाश, घन-गर्जन आदि सदा होते रहते हैं। द्रुतगामी वायु अर्थात् जैट-स्ट्रीम परिवर्तन मण्डल की ऊपरी सीमा को अपने वेग से कभी-कभी और अधिक ऊँचा उठा देती है। यह मण्डल विकिरण, संचालन तथा सम्वाहन की क्रियाओं द्वारा गर्म तथा ठण्डा होता रहता है।

क्षोभ सीमा परिवर्तन मण्डल तथा समताप मण्डल के मध्य की सीमा है जहाँ ताप क्षय मात्रा में अनायास परिवर्तन आ जाता है। विषुवत रेखा पर उसकी ऊँचाई धरातल से 16 किमी. तथा ध्रुवों पर लगभग 8 किमी के मध्य रहती है। वायुमण्ड की यह अत्यन्त पतली परत है जिसकी मोटाई लगभग 1.5 किमी. आंकी जाती है। यहाँ संवहनीय वायु बन्द हो जाती हैं, मौसमी परिवर्तन समाप्त हो जाते हैं तथा वायुमण्डल में एक प्रकार की स्थिरता आ जाती है। मध्यस्तर अर्थात् क्षोभ सीमा के कारण कूपे ने इसकी कोई संज्ञा नहीं दी।

क्षोभ सीमा से ऊपर 16 किमी. मोटी अर्थात् 16 और 32 किमी. के मध्य वायु-मण्डल की परत समताप मण्डल या अचल स्तर कहलाता है। इस पेटी में तापमान ऊँचाई के

साथ न बढ़ कर समान रहता है अर्थात् तापग्रहण और तापह्रास की मात्रा समान रहती है इसीलिए इसको समताप मण्डल कहते हैं। लगभग 22 किमी. की ऊँचाई से ऊपर परावैंगनी किरणों का विकिरण ओजोन गैस द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। अतः निचले समताप मण्डल में तापक्रम क्षय मात्रा ऋणात्मक तथा ऊपरी भाग में धनात्मक हो जाती है। समताप मण्डल शरद ऋतु में नीचे की ओर, और ग्रीष्म ऋतु में ऊपर की ओर खिसक जाता है। इसमें अक्षांशीय ताप वितरण क्षोभ मण्डल से भिन्न होता है। भूमध्यरेखा पर बादलों के आवरण के कारण ताप विकिरण नहीं हो पाता, फलतः भूमध्यरेखा पर ध्रुवों की तुलना में तापक्रम कम रहता है। भूमध्यरेखा पर तापक्रम –80° सेग्रे. तथा ध्रुवों की ओर 60° अक्षांश पर –45° से –50° सेग्रे. रहता है। इस मण्डल में न मेघ होते हैं और न जलवाष्प। वायु ठण्डी, साफ, हल्की तथा शुष्क होती है। इस भाग में वायु दाब धरातल की तुलना में 1/1500 रह जाता है। कूपे ने इस मण्डल को 'बी' नाम से सम्बोधित किया है।

समताप मण्डल तथा ओजोन मण्टल के मध्य 32 किमी. से ऊपर 80 किमी. तक ओजोन मण्डल की लगभग 48 किमी. मोटी परत फैली हुई है। इस मण्डल में ऊँचाई के साथ-साथ तापमान घटता जाता है। कई वैज्ञानिक वायुमण्डल की इस परत को मध्यस्तर कहना पसन्द करते हैं। इस मण्डल में रासायनिक प्रतिक्रियाएँ भी होती रहती हैं। अतः इसको रसायन मण्डल की संज्ञा भी दी जाती है। किन्तु इस परत में ओजोन गैस की बाहुल्यता होने के कारण इसको ओजोन मण्डल ही कहना अधिक उपयुक्त है। ओजोन गैस में सौरविकिरण के अवशोषण की अत्यधिक क्षमता होती है। अतः यह गैस सूर्य की परा-वैंगनी किरणों को सोखकर पृथ्वी को भयंकर ताप से सुरक्षित रखती है। वायुमण्डल का यह भाग अत्यन्त गर्म रहता है। इस मण्डल में प्रति एक किलोमीटर की ऊँचाई के साथ-साथ 16° सेग्रे. तापमान बढ़ता जाता है। यदि ओजोन मण्डल न होता तो पृथ्वी के प्राणी और वनस्पति जगत् पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता। मानव और जीव-जन्तु झुलस कर अन्धे हो जाते और पृथ्वी पर विनाशकारी दृश्य उपस्थित हो जाता। कूपे ने ओजोन मण्टल को 'सी' परत की संज्ञा दी है।

ओजोन मण्डल के ऊपर 30 किमी. से 500 किलोमीटर के मध्य अयन मण्डल फैला हुआ है। इस मण्डल में ताप की अधिकता तथा तापमान बढ़ने के कारण इसको ताप मण्डल के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। वास्तव में तो अयन मण्डल ताप मण्डल के नीचे की परत है। ताप मण्डल तो वायुमण्डल की बाहरी सीमा तक फैला हुआ है। अयन मण्डल में 200 किमी. की ऊँचाई तक तापक्रम अधिक तीव्रता से बढ़ता है तथा उसके पश्चात् ताप के बढ़ने की मात्रा घटती जाती है। धरातल से 80 किमी. की ऊँचाई पर पहुँचते-पहुँचते तापमान –100° सेग्रे. हो जाता है जो अयन मण्डल में पुनः तीव्रता से बढ़ता है।

कूपे के अनुसार यह मण्डल 'डी', 'ई' 'एफ वन' व 'एफटू' परतों में बाँटा गया है। सन् 1902 में किनिले तथा हैवीसाइड ने सर्वप्रथम अयन मण्टल के परत के बारे में जान-कारी दी। 'ई' परत लगभग 90 किमी. से 160 किमी. के मध्य फैली हुई है जहाँ स्वतन्त्र अयन की संख्या प्रभूत मात्रा में होती है। इस परत में परावैंगनी विकिरण तथा पराकाशनी गतिवान कण आक्सीजन तथा नाइट्रोजन के अणुओं से इतनी भयंकर गति से टकराते हैं कि

इन दोनों गैसों के अणुओं का आयनन हो जाता है जिसके कारण विद्युत आवेश उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए इस भाग में बड़ी ही अद्भुत विद्युत जन्य एवं चुम्बकीय घटनाऐं घटित होती हैं। यह परत अत्यन्त दृढ़ परावर्तक है। अतः रेडियो की मध्यम तरंगें तथा ध्वनि तरंगें यहाँ से पृथ्वी की ओर परावर्तित होती हैं। इसके अतिरिक्त उल्काओं का चमकना, सुमेरुज्योति, उत्तरी ध्रुवीय प्रकाश, कुमेरज्योति अर्थात् दक्षिणी ध्रुवीय प्रकाश, ब्रह्माण्डज्योति आदि रंग-बिरंगे प्रकाश इस स्तर की विशेषताऐं हैं। यह प्रकाश वायुमण्डल के विद्युत युक्त अणुओं तथा पृथ्वी के ध्रुवों के चुम्बकीय क्षेत्रों के सम्पर्क से होते हैं। ध्रुवों पर गुलाबी और बैंगनी प्रकाश इतना अधिक होता है कि 6 महीने की रात्रि में भी वहाँ के निवासी इस प्रकार की सहायता से शिकार तक कर लेते हैं। 'ई' परत को इसके खोजकर्त्ताओं के नाम पर केनिली हीवीसाइड भी कहते हैं। यह परत दिन में दिखाई देती है किन्तु सूर्यास्त के साथ ही अदृश्य हो जाती है।

अयन मण्डल की सबसे निचली परत 50 किमी. से 90 किमी. के मध्य फैली हुई है। इसको कूपे ने 'डी' से सम्बोधित किया हैं। यह परत दिन में तो दिखलाई देती है किन्तु रात्रि में अदृश्य हो जाती है। यहाँ से दीर्घ रेडियो तरंगें परावर्तित हो जाती हैं। 'डी'
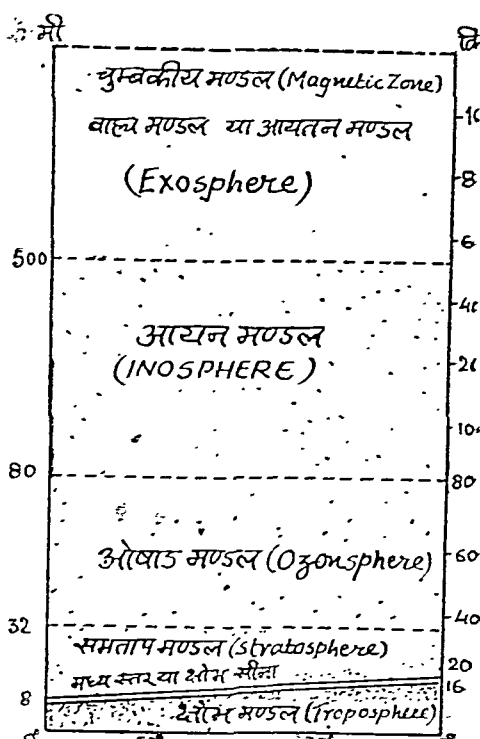
चित्र 20·5 वायुमण्डल की परतें

और 'ई' तहों के मध्य 'निशा दीप्त मेघ' दिखाई देते हैं। आकाश से आती हुई उल्काएँ इन मेघों में प्रवेश करते दिखाई नहीं देती।

एपलटन ने 'एफ वन' तथा 'एफ टू' परतों की खोज की थी। अतः इन दोनों परतों को सामूहिक रूप से उन्हीं के नाम से एपलटन परत कहते हैं। यह परत 130 किमी. से

500 किमी. के मध्य फैली हुई है। यह परत रेडियो की लघु तरंगों को परावर्तित कर देती है तथा दूर रेडियो संचार के लिए अधिक उपयोगी है। यदि अयन मण्डल में रेडियो तरंगों के पृथ्वी की ओर परावर्तन करने की विशेषता न होती तो हम रेडियो के प्रयोग से वंचित रह जाते।

बहिर्मण्डल के निचले भाग में 500 से 750 किमी. की मोटाई में अयतन मण्डल फैला हुआ है। इस भाग में पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण इतना कम हो जाता है कि हीलियम तथा हाइड्रोजन के सूक्ष्म कण शून्य में सरलता से विसरित हो जाते हैं। आणविक संवेग इतना कम होता है कि सभी प्रकार के अणु स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी दिशा में गतिवान हो सकते हैं। कास्मिक किरणों के वायुमण्डल के नाइट्रोजन से टकराने के फलस्वरूप हीलियम गैस उत्पन्न होती है। अतः इस मण्डल में हीलियम के ह्रास और प्राप्ति की मात्रा समान रहती है तथा इसका सन्तुलन विद्यमान रहता है। अयतन मण्डल से 2000 किमी. की ऊँचाई तक बहिर्मण्डल में अत्यन्त विरल वायुमण्डल फैला हुआ है जहाँ गैस के सामान्य नियम कार्यान्वित नहीं होते। गुरुत्वाकर्षण इतना क्षीण हो जाता है कि अणु शून्य में विसरित होकर नष्ट हो जाते हैं। इस भाग में न्यूट्रन कणों की बाहुल्यता रहती है।

बहिर्मण्डल से ऊपर चुम्बकीय मण्डल फैला हुआ है। इस क्षेत्र का अध्ययन उपग्रहों की सहायता से हुआ है। इस मण्डल में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की अपेक्षा चुम्बकीय क्षेत्र अधिक सक्रिय रहता है। 2000 किमी. की ऊँचाई के पश्चात् इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन पाए जाते हैं, जो क्रमशः ऋणात्मक तथा धनात्मक विद्युत आवेश से परिपूर्ण रहते हैं। इस क्षेत्र में कभी-कभी आवेशित हाइड्रोजन कण चुम्बकीय कणों से टकराकर पृथ्वी की जलवायु को प्रभावित करते हैं तथा ध्रुवीय प्रदेशों में सुमेरु एवं कुमेरु ज्योतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। 20,000 से 80,000 किमी. के मध्य हाइड्रोजन के अत्यन्त विरल कण विद्यमान रहते हैं तथा 80,000 किमी. से ऊपर हाइड्रोजन कणों का विरलित वायुमण्डल सूर्य के वायुमण्डल में विलीन होना प्रारम्भ हो जाता है। चुम्बकीय मण्डल में केवल चुम्बकीय तत्व ही कार्यरत रहता है।

वर्तमान युग में वैज्ञानिक विभिन्न यंत्रों द्वारा वायुविज्ञान के अदृश्य तत्त्वों की खोज में सतत संलग्न हैं। यह आशा की जाती है कि आने वाले कुछ दशकों में वैज्ञानिक कृत्रिम उपग्रहों द्वारा वायुमण्डल की ऊपरी परतों का भी भली प्रकार अध्ययन कर सकेंगे। यों तो पृथ्वी पर सम्पूर्ण वायुमण्डल का प्रभाव पड़ता है, किन्तु फिर भी जीव जगत् वायुमण्डल की निचली दो परतों से अधिक प्रभावित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Berry, R. G. and Chorely (1971), Atmosphere, Weather and Climate (Methuen, London).
2. Batse, D. R. (1958), The Earth and its Atmosphere (Basic Books, New York).
3. Byers, H. R. (1974), General Meteorology, 4th ed. (McGraw-Hill Book Co., New York).
4. Donn, W. T. (1956), Meteorology (McGraw-Hill Book Co., New York).

5. Hare, F.K. (1958), The Restless Atmosphere (Hutchinson's, London 3rd ed.).
6. Koeppe, C. E. and Delong, G. C. (1958), Weather and Climate (McGraw-Hill Book Co., New York).
7. Petterson, S. (1958), Introduction to Meteorology (McGraw-Hill Book Co., New York).
8. Richl, H. (1972), Introduction to the atmosphere, 2nd ed. (McGraw Hill Book Co., New York).
9. Sutton, O. G. (1962), The Challenge of Atmosphere (Hutchinson, London).
10. Sutton, O. G. (1960), Understanding Weather (Penguin Book, West Drayton, Middlesex).
11. Willet, H. C. and Sanders, F. (1959), Descriptive Meteorology (Academic Press).

21

सौर-ऊर्जा तथा सूर्याभिताप

[Solar Energy and Insolation]

सूर्याभिताप तथा तापमान

सूर्य ताप का मुख्य स्रोत है। भूतल तथा वायुमण्डल सूर्य से ही ताप प्राप्त करते हैं। सूर्य की किरणें पृथ्वी पर प्रकाश फैलाती हैं, तथा भूपटल में प्रवेश होकर ताप ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती हैं। यह ताप ऊर्जा धरातल से निकल कर वायुमण्डल एवं अपने सम्पर्क में आने वाली सभी वस्तुओं को ऊष्मा प्रदान करती हैं।

सौर ऊर्जा के विकिरण द्वारा जो ताप व शक्ति प्राप्त होती है उसे 'सूर्याभिताप' कहते हैं। इन्सोलेशन का शाब्दिक अर्थ सूर्य से आने वाला विकिरण है। "ताप का मुख्य स्रोत जो वायुमण्डल तथा भू-पटल को प्रभावित करता है और जो सूर्य से अंतरिक्ष के माध्यम से प्रवाहित है, प्रसारित शक्ति (सूर्य विकिरण) कहलाती है। यही सौर या प्रसारित शक्ति सूर्याभिताप कहलाती है।" सूर्य से प्राप्त होने वाली प्रसारित शक्ति सूक्ष्म तरंगों द्वारा 2,97,600 कि.मी. प्रति सेकेण्ड की गति से पृथ्वी तक पहुंचती है। इसके अतिरिक्त सौर विकिरण लम्बी तरंगों तथा गतिशील कणों के रूप में भी होता है। सूक्ष्म एवं लम्बी तरंगों को विद्युत चुम्बकीय तरंग भी कहते हैं।
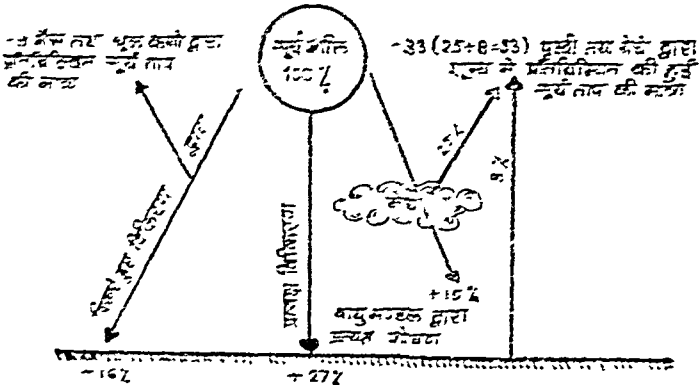
चित्र 21। वायुमण्डल, मेघों तथा धरातल का सूर्य विकिरण पर प्रभाव

सूर्य के ऊपरी पटल का तापमान लगभग 6,000 सेग्रे. और केन्द्र का 30,000,000 सेग्रे. से भी अधिक है। सूर्य के पटल से प्रति वर्ग सेन्टीमीटर लगभग 9 अश्व-शक्ति

प्रसारित होती है। इस कुल प्रसारित ताप का पृथ्वी केवल 1/2 अरबवाँ भाग प्राप्त करती है। इस ताप की 57% मात्रा परावर्तित, अवशोषित व वितरित हो जाती है और धरातल कुल ताप मात्रा का केवल 43% भाग ही प्राप्त करता है जो पृथ्वी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रतिबिम्बित तथा अवशोषित सौर विकिरण	पृथ्वी द्वारा प्राप्त सूर्याभिताप
भूमि द्वारा प्रतिबिम्बित—8%	सूर्य से प्रत्यक्ष रूप में—27%
मेघों द्वारा प्रतिबिम्बित—25%	बिखरे हुए विकिरण द्वारा—100
धूलकण एवं गैसों द्वारा प्रतिबिम्बित—9%	
गैसों द्वारा अवशोषित—15%	
कुल मात्रा 57%	कुल प्राप्त मात्रा 43%

सूर्य के प्रत्येक 0.836 वर्ग मीटर धरातल से प्रति मिनिट एक लाख अश्वशक्ति के बराबर सौर ऊर्जा उत्सर्जित होती है। इस ऊर्जा में से पृथ्वी लगभग 23,000 अरब अश्व शक्ति प्रति मिनिट प्राप्त करती है। अर्थात् पृथ्वी पर मनुष्य जितनी ऊर्जा वर्ष भर में उपभोग करता है उतनी ऊर्जा उसे सूर्य से प्रति मिनिट मिलती है। इस ऊर्जा से पृथ्वी की भौतिक, रासायनिक और जैविक क्रियाओं का संचालन होता है।

वायुमण्डल की सीमा पर प्रति दिन 3.67×10^{21} शक्ति ऊर्जा आती है जो कि सूर्य द्वारा विसर्जित कुल ऊष्मा का 20 लाखवाँ भाग है। नवीनतम खोजों के अनुसार इस ताप की मात्रा प्रति मिनिट दो केलोरी प्रति वर्ग सेमी. है। इस ताप की मात्रा सदा समान रहती है। अतः इसको 'अपरिवर्तनशील सौर शक्ति' कहते हैं। हाल की खोजों से विदित हुआ है कि सूर्य धब्बे इस शक्ति को घटाते-बढ़ाते रहते हैं। सूर्य के धब्बों के कारण ताप की वितरित मात्रा में अन्तर आता रहता है। सूर्य की परिभ्रमण गति के कारण सूर्य-धब्बे घटते-बढ़ते रहते हैं। जब ये अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं तो सौर ताप की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

सूर्य विकिरण-ऊर्जा से धरातल गर्म होता है। अतः सौर-शक्ति और पृथ्वी के ताप के मध्य अन्तर उल्लेखनीय है। धरातल को सूर्य के अतिरिक्त भूगर्भ से भी ताप प्राप्त होता है। किसी स्थान का ताप वहाँ की भूमि से कुछ मीटर ऊँचाई तक की वायु का होता है किन्तु उस स्थान की भूमि का ताप स्पष्टतः भिन्न होता है। अतः धरातल का ताप वायुमण्डल के ताप से भिन्न होता है।

यदि पृथ्वी एक ही प्रकार के समान तत्त्वों से निर्मित होती तथा जलविहीन और वायुरहित होती तो धरातल पर सूर्याभिताप की मात्रा का परिकलन अत्यन्त साधारण हो जाता किन्तु ऐसा न होने से सूर्याभिताप के वितरण को अनेकों कारक प्रभावित करते हैं और यह परिवर्तनशील होता है।

परिणामस्वरूप भू-पटल पर सूर्य शक्ति वायुमण्डल की सीमा पर प्राप्त 'अपरिवर्तनशील सूर्य-ऊर्जा' से भिन्न होती है। भू-पटल पर सूर्य ताप को प्रभावित करने वाले कई कारक हैं।

विषुवत रेखा से ज्यों-ज्यों ध्रुवों की ओर चला जाय त्यों-त्यों सूर्य की किरणें अधिकाधिक कोण बनाती जाती हैं। विषुवत रेखा पर सूर्य प्रायः लम्बवत चमकता है अतः इसकी किरणों को धरातल तक पहुँचने में न्यूनतम वायुमण्डल को पार करना पड़ता है जिससे सूर्यताप का शोषण भी न्यूनतम होता है। फलस्वरूप विषुवत रेखा पर पृथ्वी के दूसरे स्थानों की अपेक्षा सर्वाधिक सूर्य ताप रहता है। विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर (पृथ्वी के गोलाकार होने से) सूर्य की किरणें तिरछी होती जाती हैं जिसके फलस्वरूप इनको अधिकाधिक वायुमण्डल को पार करना पड़ता है और क्रमशः सूर्य ताप का ह्रास
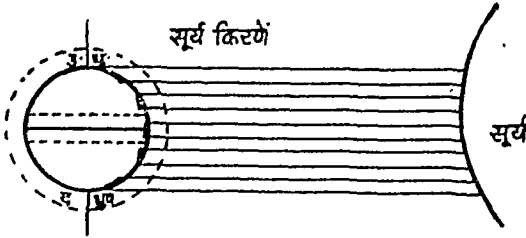
चित्र 21·2 पृथ्वी पर सूर्य की किरणों का कोण

होता जाता है। अतः ध्रुवों पर न्यूनतम सूर्य ताप रहता है। ध्रुवों पर प्रति इकाई क्षेत्रफल में तिरछी किरणों से सूर्यताप कम होने के तीन कारण हैं—एक तो यह है कि तिरछी किरणों की तीक्ष्णता लम्बवत किरणों की अपेक्षा (बर्फ या हिम के कारण) प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बन के कारण अधिक नष्ट होती है। दूसरा यह है कि तिरछी किरणें धरातल के अधिक भाग को घेरती हैं, जिससे ऊर्जा का फैलाव अधिक क्षेत्र में हो जाता है। तृतीय यह है कि तिरछी किरणें वायुमण्डल के अधिक भाग को पार करके धरातल तक पहुँचती हैं, जिससे अवशोषण, प्रतिबिम्बन तथा प्रकीर्णन अधिक होता है। उदाहरणस्वरूप, कलकत्ता में 21 दिसम्बर को सूर्य की किरणों का झुकाव 45° तथा 21 जून को 90° होता है। फलतः 21 दिसम्बर को 21 जून की अपेक्षा वहां केवल 70% ही सूर्यताप प्राप्त होता है।
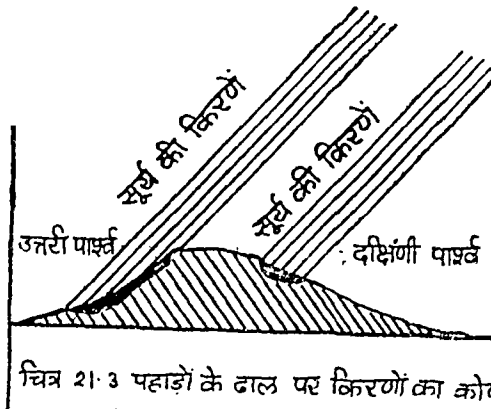
चित्र 21·3 पहाड़ों के ढाल पर किरणों का कोण

जैसे-जैसे हम विषुवत रेखा से उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की ओर जाते हैं सूर्य की तिरछी किरणों के कारण सूर्यताप की मात्रा कम होती जाती है। यह तथ्य ब्लेयर की निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है :

अक्षांश—	0°	10°	20°	30°	40°	50°	60°	70°	80°	90°
धरातल पर सूर्य ताप का प्रतिशत—	100	99	95	88	79	68	57	47	43	42
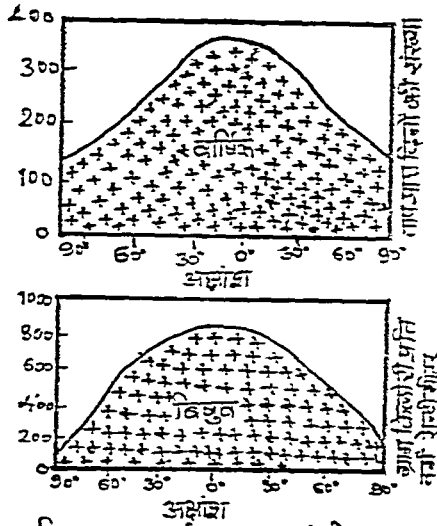
चित्र 21·4 सूर्यताप का अक्षांशीय वितरण
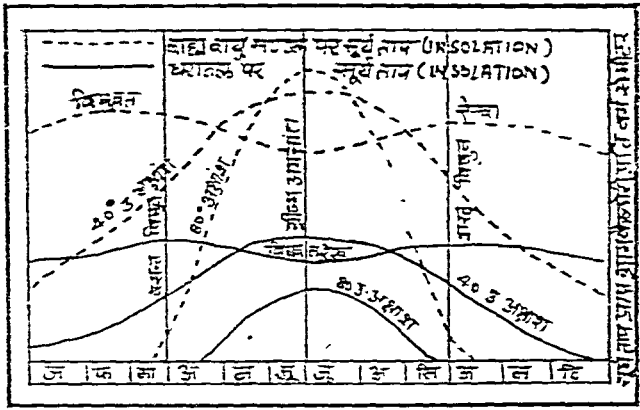
चित्र 21·5 सूर्यताप का वार्षिक वितरण प्रति वर्ग से० मी० (कैलोरी) प्रति माह

दिन-रात की अवधि का अन्तर—सूर्य विकिरण की अवधि

पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण दिन और रात होते हैं। किन्तु पृथ्वी के परिक्रमण के फलस्वरूप ऋतु परिवर्तन होते हैं तथा दिन और रात की अवधि में अन्तर आता है। पृथ्वी के अपनी कक्ष पर $66\frac{1}{2}°$ झुकाव के कारण विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर सूर्य से प्रकाश प्राप्त करने का समय घटता-बढ़ता रहता है। पृथ्वी के जिस भाग में दिन की अवधि बड़ी होती है अर्थात् सूर्य प्रकाश की मात्रा अधिक होती है वहां सूर्यताप भी अधिक होता है। इसके विपरीत जिस भाग में दिन छोटा और रात्रि बड़ी होती हैं वहां सूर्यताप कम होता है। अतः गर्मियों में बड़े दिन होने के कारण सर्दियों की अपेक्षा सूर्यताप अधिक

होता है। निम्न तालिका में 21 जून (उत्तरी गोलार्द्ध) तथा 22 दिसम्बर (दक्षिणी गोलार्द्ध) में दस-दस अक्षांशों के अन्तर पर दिन की अवधि दिखाई गई है :

अक्षांश	—	0°	10°	20°	30°	40°	50°	60°	70°	80°	90°
दिन की अवधि घंटा मिनिट		12 0	12 15	13 12	13 36	14 52	16 18	18 30	2 माह	4 माह	6 माह
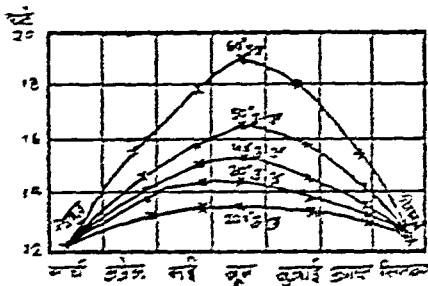
चित्र 21.6 दिन के प्रकाश की अवधि
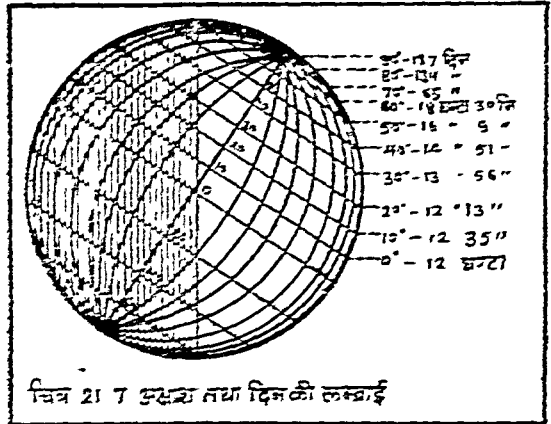
चित्र 21.7 अक्षांश तथा दिन की लम्बाई

विषुवत रेखा पर दिन की अवधि 12 घन्टे होती है तथा सूर्य पूरे वर्ष अर्थात् 365 दिन तक चमकता है। ध्रुवों पर दिन की अवधि 6 माह होती है किन्तु सूर्य की अधिकांश ऊर्जा हिम को पिघलाने में लग जाती है तथा हिमपटल सूर्यताप को प्रतिबिम्बित भी कर
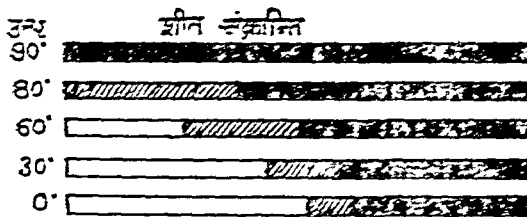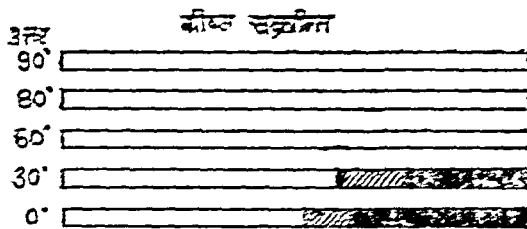
चित्र 21.8 उत्तरी गोलार्द्ध के ग्रीष्म तथा शीत संक्रान्ति के समय दिन, रात्रि एवं गोधूलि प्रकाश का सम्बन्ध

देता है। अतः विषुवत रेखा पर सूर्यताप ध्रुवों की अपेक्षा अधिक होता है अर्थात् ध्रुवों पर मात्र 40 से 42 प्रतिशत सूर्यताप रहता है। इस प्रकार सूर्यताप का वक्र विभिन्न अक्षांशों पर भिन्न-भिन्न होता है।
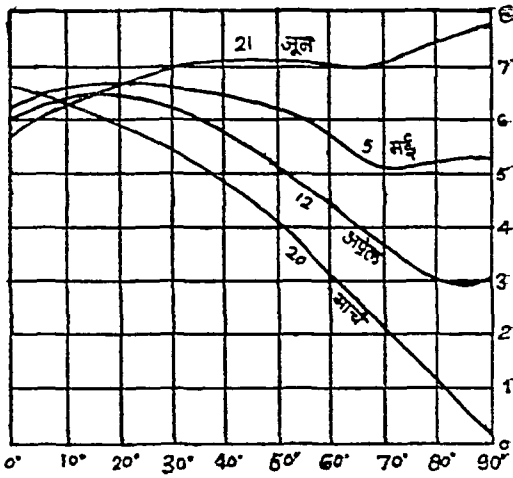
चित्र 21.9 उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म में विभिन्न अक्षांशो एवं स्थानों पर सूर्य ताप की आपेक्षिक मात्रा

पृथ्वी की सूर्य से दूरी

सूर्य की स्थिति पृथ्वी के अण्डाकार मार्ग के केन्द्र में न होकर कुछ हटकर होती है। अत: सूर्य 21 जून को पृथ्वी से सबसे अधिक दूर अर्थात् 15,21,45,000 किमी. और 22 दिसम्बर को सबसे निकट अर्थात् 14,73,15,000 किमी. दूर होता है। इस प्रकार सूर्य शीतऋतु में ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा पृथ्वी से लगभग 48,30,000 किमी. निकट रहता है। सूर्य की ग्रीष्म ऋतु की अवस्था को उत्तरायण तथा शीत ऋतु की अवस्था को दक्षिणायन कहते हैं। सूर्य की दक्षिणायन अवस्था में जबकि वह पृथ्वी के निकट होता है सम्पूर्ण पृथ्वी का तापमान लगभग 4° से.ग्रे. बढ़ जाता है। फलतः दक्षिणी गोलार्द्ध की गर्मियों में (23 सितम्बर से 21 मार्च) तापमान अधिक रहता है। यदि ऐसा न होता तो उत्तरी गोलार्द्ध की गर्मियों में तापमान और भी अधिक होता तथा शीत ऋतु में तापमान और भी गिर जाता।

सूर्य धब्बों का पृथ्वी पर प्रभाव

पृथ्वी पर सूर्यताप की मात्रा में सूर्य और धब्बों का भी प्रभाव पड़ता है। सूर्य में निरन्तर ताप-चुम्बकीय तूफान आते रहते हैं, जिनके कारण सूर्य की सतह पर कहीं-कहीं प्रकाश–विकिरण लुप्त हो जाता है और उसके स्थान पर 'पराकाशनी' तथा 'पराबैंगनी' विकिरण की मात्रा बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप पृथ्वी को स्थायी सूर्यताप की 20% मात्रा अधिक मिलती है जिससे भू-पटल का तापमान 1.2° से.ग्रे. बढ़ जाता है। सूर्य धब्बा चक्र 11 वर्षीय चक्र माना जाता है।

वायुमण्डल की मेघाच्छन्नता, सघनता अथवा अक्षांश

पृथ्वी की गोल आकृति के कारण विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर अक्षांशों के साथ-साथ सूर्यताप पर वायुमण्डल की सघनता का भी प्रभाव पड़ता है। विषुवत रेखा पर सूर्य की किरणों को पृथ्वी पर पहुँचने के लिए कम वायुमण्डल पार करना पड़ता है। अतः वहाँ सबसे अधिक सूर्यताप होना चाहिए, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। विषुवत रेखा की

अपेक्षा कर्क और मकर रेखाओं पर सूर्यताप सर्वाधिक होता है, विषुवतरेखा पर मेघाच्छादित आकाश सूर्यताप की अधिकांश मात्रा को परावर्तित कर देता है जबकि कर्क और मकर रेखाओं पर मेघ रहित आकाश के कारण सूर्य की किरणें धरातल को सीधा प्रभावित करती हैं। हारविज के अनुसार मेघाच्छन्नता की विभिन्न अवस्थाओं में सूर्यताप का वार्षिक औसत निम्नांकित है :

मेघाछन्नता का प्रतिशत	0	13	47	89	100
सूर्यताप का प्रतिशत	100	93	82	68	41

पाटर्सन के अनुसार विभिन्न अक्षांशों पर सूर्य की दूरी और वायुमण्डल की सापेक्षिक सघनता निम्न है :

सूर्य की दूरी	90°	60°	30°	10°	0° (ध्रुवों पर)
वायुमण्डल की सापेक्षिक सघनता	1	1.15	2	5.7	45

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि वायुमण्डल की जितनी अधिक सघनता होगी सूर्यताप उतना ही कम होगा क्योंकि अधिक सघन वायुमण्डल सूर्य की किरणों को अवशोषण, प्रतिबिम्बन तथा प्रकीर्णन द्वारा अधिक नष्ट कर देता है जिसके परिणामस्वरूप सूर्यताप भी उतना ही कम होगा। विषुवतरेखा पर जब सूर्य 90° का कोण बनाता है तो उसे
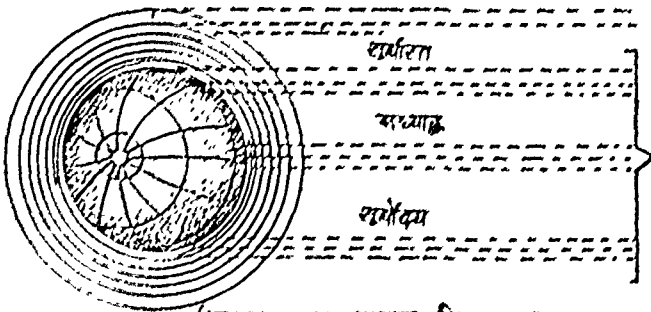
चित्र 21.10 वायुमण्डल की सघनता

वायुमण्डल की सापेक्षिक सघनता पार करनी पड़ती है। जबकि ध्रुवों पर सूर्य की दूरी 0° होती है तो वायुमण्डल की सापेक्षिक सघनता विषुवत रेखा की तुलना में 45 गुनी हो जाती है। अतः विषुवत रेखा पर ध्रुवों की अपेक्षा अधिक सूर्यताप रहता है।

वायुमण्डल की अवस्था

सूर्यताप वायुमण्डल की विभिन्न अवस्थाओं पर भी निर्भर करता है। वायुमण्डल की अवस्थाएँ समय-समय पर परिवर्तित होती रहती हैं जो सूर्यताप को प्रभावित करती हैं। आकाश में मेघ, आर्द्रता, धुँआ और धूलकण सूर्यताप की मात्रा को निरन्तर बदलते रहते हैं। यह सभी कारक एक ओर सूर्य ताप की मात्रा को कम कर देते हैं तो दूसरी ओर पृथ्वी के ताप ह्रास की मात्रा को भी कम कर देते हैं। बी. फ्रैंकलिन के अनुसार, भयंकर जाड़े का कारण वायुमण्डल में अपार धूल की मात्रा का विद्यमान होना है। हम्फ्रीज की गणना के अनुसार ज्वालामुखी धूल के कारण पृथ्वी द्वारा सूर्यताप की प्राप्ति तथा धरातल से निकलने वाली ताप शक्ति का अनुपात 30 : 1 हो जाता है। 'कटमाई' ज्वालामुखी

(अलास्का) विस्फोट के कारण सन् 1912 में आकाश में धूल की इतनी अधिक मात्रा संचित हो गई थी कि उसके परिणामस्वरूप सूर्यताप-प्राप्ति की मात्रा 20% कम हो गई। यदि वह धूल आकाश में लम्बे समय तक छाई रहती तो पृथ्वी का औसत तापमान इतना अधिक नीचे चला जाता कि पृथ्वी पर नवीन हिमयुग का सूत्रपात सम्भव हो जाता। ग्रीन हाऊस अथवा हरित गृह में शीशे का जो कार्य है वह वायुमण्डल करता है जिसके द्वारा सौर विकिरण तो प्राप्त होता है किन्तु जो ताप पृथ्वी द्वारा उत्पन्न होता है उसको सुसज्जित रखता है, तथा वायुमण्डल के निचले भाग में मेघ और आर्द्रता उसको और भी प्रभावित करते हैं।

एक ओर मेघ और आर्द्रता सूर्यताप प्राप्ति की मात्रा को कम करते हैं तो दूसरी ओर पृथ्वी से ताप ह्रास की मात्रा को सुरक्षित भी रखते हैं अर्थात यह पृथ्वी के ताप के लिए छत का काम करते हैं। अतः मेघाच्छादित दिन और रातें खुले आकाश की तुलना में में अधिक गर्म होती हैं।

चित्र 21·11 पौधघर प्रभाव (Green House Effect)
⟶ दीर्घ तरंगें, - - -→ सूक्ष्म तरंगे
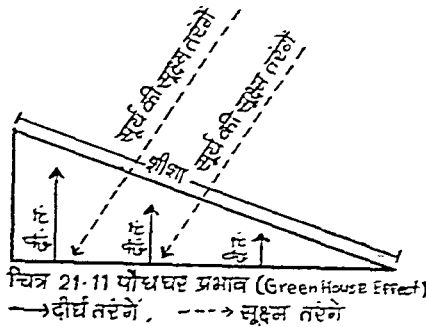
धरातल का स्वरूप व प्रकृति

धरातल का स्वरूप भी प्राप्त सूर्यताप को प्रभावित करता है। सूर्योन्मुखी पहाड़ी ढालों का धरातल विपरीत दिशा की अपेक्षा अधिक सूर्यताप ग्रहण करता है। चिकने तथा चमकदार धरातल सूर्यताप को परिवर्तित कर देते हैं। अतः पठारी तथा हिमाच्छादित धरातल साधारण मिट्टी के समतल धरातल की अपेक्षा कम सूर्यताप ग्रहण करते हैं। लैण्डबर्ग के अनुसार परावर्तन गुणांक प्रतिशत ह्रास निम्न है :

सारणी 1

धरातल	परावर्तन गुणांक प्रतिशत
हिम	80 से 90
बालू	30 से 40
भवन	14 से 18
घास	25
वन	9 से 18
सागर (सूर्य ऊँचाई 60° से अधिक)	2 से 3
सागर (सूर्य ऊँचाई 15° से कम)	50

सूर्यताप पर धरातल के रंगों का भी प्रभाव पड़ता है। काले या अधिक गहरे रंगों के धरातल हल्के रंगों के धरातल की तुलना में सूर्यताप ग्रहण करने की अधिक क्षमता रखते हैं। अतः बालुका या हिमाच्छादित प्रदेशों में सूर्यताप प्राप्ति अत्यधिक कम होती है।

जल और थल का प्रभाव

पृथ्वी पर जल और स्थल के वितरण का भी का सूर्यताप पर सीधा प्रभाव पड़ता है। जल की अपेक्षा स्थल अधिक सुचालक होता है। अतः जल की अपेक्षा स्थल सूर्यताप शीघ्र ग्रहण कर लेता है तथा शीघ्र ही परावर्तित या विकरणित कर देता है। किन्तु जल सूर्यताप को संरक्षित रखता है। ठोस होने के कारण धरातल में 1 मीटर तथा पारदर्शिता के कारण जल में 20 मीटर की गहराई तक सूर्यताप का प्रभाव होता है। जल का आपेक्षिक ताप स्थल के आपेक्षिक ताप से अधिक होता है। अतः समान माप के जल और स्थल के भागों को समान रूप से गर्म करने के लिए स्थल भाग को जल भाग की अपेक्षा पाँच गुनी अधिक ऊष्मा चाहिए। सूर्यताप की कुछ मात्रा जल-वाष्प बनने में नष्ट हो जाती है जबकि स्थल भाग में ऐसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त जलाशयों के ऊपर मेघ तथा आर्द्रता का आवरण होने के कारण सूर्यताप प्राप्ति तथा ह्रास दोनों में ही बाधक सिद्ध होता है।
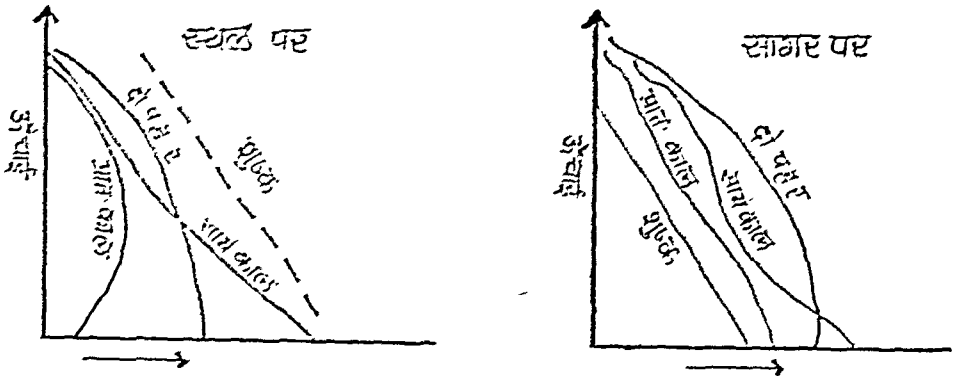
चित्र 21 12 स्थल तथा सागर पर दैनिक तापमान का परिवर्तन

वायु का तापमान

यद्यपि सूर्य ताप का मुख्य स्रोत है किन्तु वायु सूर्य की किरणों से केवल 15% ताप सीधा ग्रहण करती है तथा शेष ऊष्मा पृथ्वी से ग्रहण करती है। सूर्य से सूक्ष्म तरंगों द्वारा आने वाला ताप केवल पृथ्वी ही प्राप्त करती है जिसे वह पार्थिव शक्ति में परिवर्तित कर देती है। यही पार्थिव शक्ति या ऊर्जा दीर्घ तरंगों के रूप में वायुमण्डल की निचली परतों को गर्म करती है। अतः वायु के गर्म होने की मात्रा धरातल से निकली ऊर्जा की मात्रा पर आधारित है। वायु चार प्रकार से ताप ग्रहण करती है।

सूर्यताप का 15% भाग वायुमण्डल सीधा ग्रहण कर लेता है। धरातल से 2 किमी. ऊँचाई तक स्थित वायुमण्डल की परत इसका लगभग आधा अर्थात् 7% भाग अवशोषित कर लेती है। इसमें मेघ और धूलकणों की प्रधानता रहती है। धरातल से 25 से 50

किलोमीटर के मध्य ओज़ोन गैस सूर्य की पराबैंगनी तथा पराकाशनी किरणों का अवशोषण कर लेती हैं। वायुमण्डल में विद्यमान कार्बन-डाई-आक्साइड तथा आक्सीजन गैसें भी सौर-विकिरण का अवशोषण कर वायु को गर्म करने में सहायता प्रदान करती हैं।

संचालन एक ऐसी भौतिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा अधिक तापमान वाले पदार्थों से कम तापमान वाले पदार्थों की ओर ताप का उस समय तक संचालन होता है जब तक दोनों पदार्थों का तापमान समान न हो जाय। पृथ्वी के गर्म धरातल के सम्पर्क से सर्वप्रथम वायु की निचली परत ताप ग्रहण करती है तथा उसके पश्चात् संचालन क्रिया के द्वारा वायु की ऊपरी परत गर्म होती जाती है। ताप संचालन की इस विधि में वायु के गर्म कण दूसरे ठण्डे कणों को ताप प्रदान करते हैं।

पृथ्वी के तप्त धरातल से ताप-विकिरण होता है जिसके कारण वायु गर्म होती है। सूर्य किरणों की प्रखरता के कारण आधे दिन तक धरातल सूर्यताप विकिरण की अपेक्षा अधिक ग्रहण करता है। किन्तु दोपहर के पश्चात् इसकी विपरीत स्थिति होती है, अर्थात् सूर्यताप कम और विकिरण अधिक होता है। ताप का विकिरण सूक्ष्म तथा लम्बी तरंगों द्वारा होता है। अतः धरातल के निकट वायु शीघ्र और अधिक गर्म हो जाती है। ऊँचाई के साथ-साथ विकिरण कम होता जाता है। मेघों के कारण विकिरण में बाधा आती है क्योंकि मेघ इसके लिए छत का काम करते हैं। किन्तु मरुस्थली भागों में जहाँ आकाश खुला और स्वच्छ होता है विकिरण शीघ्रता से होता है। मेघ रहित, शुष्क तथा शांत वायु वाले महाद्वीपीय प्रदेशों मे लम्बी रातों में अत्यधिक विकिरण के कारण रात्रि का तापमान बहुत नीचे आ जाता है।

भू-तल को स्पर्श कर वायु गर्म हो जाती है। गर्म वायु हल्की होकर फैलती है जिसके कारण वह ऊपर उठने लगती है। गर्म वायु द्वारा रिक्त स्थान की पूर्ति करने हेतु ऊपर की ठण्डी हवा नीचे आती है जो धरातल को छूकर गर्म हो जाती है। यह क्रम
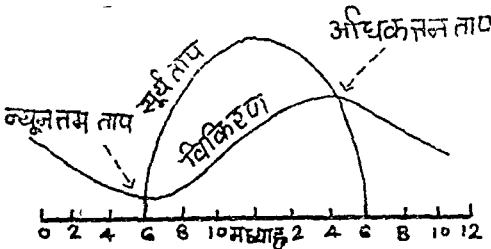
चित्र 21·13 - दैनिक विकिरण
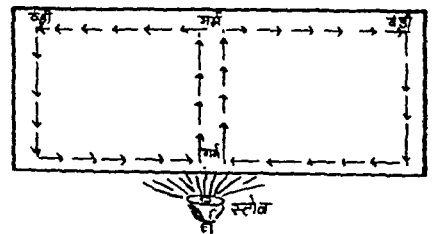
चित्र 21-14 - वायु का सवहनीय धाराओ द्वारा चक्र

निरन्तर उस समय तक चलता रहता है जब तक कि ऊपर और नीचे की वायु का तापमान समान न हो जाय किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हो पाता। गर्म हवा ऊपर की ओर संवहनीय धाराओं द्वारा चलती रहती है। अतः वायु द्वारा ताप ग्रहण करने की इस क्रिया को 'संवहन' कहते हैं।

इस तरह वायुमण्डल को 15% ताप सूक्ष्म तरंग अवशोषण तथा परावर्तन द्वारा प्रत्यक्ष रूप से मिलता है, 1% संचालन से, 1% विकिरण से तथा 83% संवाहन द्वारा

प्राप्त होता है। इन विधियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे तथ्य भी हैं जो कि वायुताप में परिवर्तन लाने में सहायक होते हैं—जैसे संपीडन, संघनन, वायु प्रवाह आदि।

जब कोई वायु राशि उच्च प्रदेशों से निम्न प्रदेशों अर्थात् पर्वतीय ढालों से मैदानी भागों में नीचे उतरती है तो निचली भारी वायु की परतों को पार करना पड़ता है। अत: उतरती हुई ठण्डी वायु के ऊपर निरन्तर संपीडन बढ़ता जाता है तथा स्थानीय तौर पर वायु गर्म होने लगती है। जब वायु गर्म होती है तो फैलकर हल्की हो जाती है। हल्की वायु सदा ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। वायु का फैलाव आसपास की वायु को धकेलता है जिससे उसकी तापशक्ति क्षीण हो जाती है तथा ज्यों-ज्यों वायु ऊपर की ओर जाती है फैलने से ठण्डी हो जाती है। इस प्रकार हवा के ठण्डी होने की विधि को शीत लहर कहते हैं। इस विधि द्वारा ऊपर उठती हुई वायु की रुद्रोष्म तापक्षय मात्र प्रति किलोमीटर पर 10° सेग्रे. होती है।

सौरताप की अधिकांश मात्रा वाष्पीकरण के उपयोग में आकर वायुमण्डल में गुप्त ताप के रूप में विद्यमान है। संघनन के समय गुप्त ताप मुक्त होकर पुन: अपनी वास्तविक अवस्था में आ जाता है जिसके फलस्वरूप वायु गर्म हो जाती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि महासागरों द्वारा अवशोषित सम्पूर्ण सौर ताप का 50% भाग वायुमण्डल में जल-वाष्प के रूप में विद्यमान है। अत: यह गुप्त ताप वायुमण्डल के ताप का मुख्य स्रोत है।

वायु गतिवान होने के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर प्रवाहित होती रहती है। गर्म वायु ठण्डे स्थानों की ओर और ठण्डी वायु गर्म स्थानों की ओर चलती रहती है।

उपरोक्त तीनों प्रक्रियायें ताप स्थानान्तरण की महत्वपूर्ण विधियाँ हैं जिनके द्वारा वायु के तापमान पर स्थानीय रूप से ही प्रभाव पड़ता है। किन्तु सूर्याभिताप, संचालन, विकिरण तथा संवाहन ऐसी प्रक्रियायें हैं जो सार्वभौम्य हैं, सूर्याभिताप को प्रभावित करने वाली सभी दशाएँ तापमान को भी प्रभावित करती हैं।

वायुमण्डलीय तापमान

तापमान सदा समान नहीं रहता। दिन में सूर्य के प्रकाश के कारण धरातल का तापमान बढ़ जाता है और रात्रि में विकिरण के कारण घट जाता है। तापमान का अंकन स्वचालित थर्मोग्राफ से होता है। दिन के सबसे ऊँचे ताप को दैनिक अधिकतम तापमान कहते हैं। प्रातःकाल से दोपहर के 12 बजे तक धरातल सूर्य से ताप प्राप्त करता है। किन्तु वायुमण्डल को गर्म होने में 2 घन्टे का और अधिक समय लगता है। इसे 'ताप की शिथिलता' कहते हैं। वायु का अधिकतम तापमान दिन के 2 बजे के लगभग होता है। सूर्यास्त होते ही विकिरण द्वारा वायु का ताप नष्ट होने लगता है। यह क्रम सारी रात्रि चलता रहता है तथा सुबह के 4 बजे के बाद तापमान न्यूनतम हो जाता है।

औसत दैनिक तापमान ज्ञात करने के लिए दिन के उच्चतम तथा न्यूनतम ताप को जोड़कर उसे दो से विभाजित किया जाता है :

$$= \frac{\text{दिन का उच्चतम तापमान} + \text{दिन का न्यूनतम तापमान}}{2}$$

इस विधि से औसत मासिक या औसत वार्षिक तापमान ज्ञात किया जाता है।

उच्चतम तथा न्यूनतम तापमानों के अन्तर को 'तापान्तर' कहते हैं। यह तापान्तर दैनिक, मासिक अथवा वार्षिक होता है।

दिन के उच्चतम तथा न्यूनतम तापमान के अन्तर को 'दैनिक तापान्तर' कहते हैं। सामान्यतया विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर तापान्तर कम होता जाता है। किन्तु इस नियम में कुछ अपवाद भी हैं। कई भौगोलिक परिस्थितियाँ दैनिक तापान्तर को प्रभावित करती हैं। जल की अपेक्षा स्थल अधिक सुचालक है। अतः स्थल शीघ्र गर्म और शीघ्र ठण्डा हो जाता है जबकि सागर देर में गर्म और देर से ठण्डे होते हैं। परिणामस्वरूप तटीय भागों की अपेक्षा महाद्वीपों के भीतरी भागों में उन्हीं अक्षांशों में तापान्तर अधिक रहता है। बम्बई का दैनिक तापान्तर 3° से.ग्रे. से कम रहता है जबकि राजस्थान में 12° से 15° से.ग्रे. रहता है। तटीय प्रदेशों में स्थलीय और सागरीय वायु तापमान पर प्रभाव डालकर उसे सुधार देते हैं।

मध्य सागर तल की तुलना में ऊँचे भागों में वायु विरल होने के कारण सौर ताप सरलता से ग्रहण हो जाता है। अतः पहाड़ी या पठारी भागों में जिस सरलता और शीघ्रता से दिन में ताप ग्रहण कर लिया जाता है उसी भांति रात्रि में ताप ह्रास हो जाता है। इसीलिए ऊँचे स्थानों का दैनिक तापान्तर अधिक रहता है। किन्तु हिमाच्छादित पहाड़ी भागों में सूर्य की शक्ति का परावर्तन अधिक होता है और शेष ताप दिन में बर्फ को पिघलाने में समाप्त हो जाती है तथा रात्रि में विकिरण भी कम होता है। अतः अत्यधिक ऊँचे भागों में दैनिक तापान्तर कम रहता है।

मरुस्थली भागों में आकाश मेघरहित होता है। अतः दिन में सौर ताप रोधरहित तथा शीघ्रता से प्राप्त होता है। किन्तु रात्रि में उसी गति से विकिरण द्वारा ह्रास हो जाता है। इस तरह मरुस्थलीय भागों में दैनिक तापान्तर मैदानी भागों की अपेक्षा अधिक होती है। गंगा के मैदानी भागों में दैनिक तापान्तर 10° से 12° सेग्रे. है जबकि राजस्थान में 12° से 15° सेग्रे. है।

मेघाच्छादन, आंधी, तूफान तथा विभिन्न तापक्रम की वायु राशियां दैनिक तापान्तर को प्रभावित करती हैं। रात्रि के समय बादलों, धूल भरी आँधियों या गर्म वायु राशियों के स्थिर हो जाने के फलस्वरूप भी तापमान में वृद्धि हो जाती है।

ग्रीष्म व शीत संक्रान्तियों में दैनिक तापान्तर सबसे अधिक व शरद तथा बसन्त विषुव में सबसे कम होता है।

वार्षिक तापान्तर का मुख्य कारण ऋतु परिवर्तन है। ग्रीष्म ऋतु में दिन की अवधि लम्बी तथा शीत ऋतु में रात्रि की अवधि लम्बी होती है। अतः शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में सौर ताप अधिक रहता है। ग्रीष्म ऋतु के औसत उच्चतम और शीत ऋतु के औसत न्यूनतम तापमान के अन्तर को वार्षिक तापान्तर कहते हैं।

ऋतु परिवर्तन के अतिरिक्त भी ऐसे कई स्थानीय कारक होते हैं जो वार्षिक तापान्तर को प्रभावित करते हैं जैसे विषुवत रेखा के 10° उत्तर और 10° दक्षिण के मध्य सूर्य वर्ष भर लगभग लम्बवत चमकता है। अतः उष्ण कटिबन्ध के इस भाग में औसत तापमान लगभग समान रहने के कारण वार्षिक तापान्तर नगण्य रहता है।

शीतोष्ण तथा शीत कटिबन्धों में ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ दिन और रात्रि की अवधि में उल्लेखनीय परिवर्तन हो जाता है। फलस्वरूप इन कटिबन्धों में वार्षिक तापान्तर सर्वाधिक होता है।

सागरों के समीप स्थित भागों में समकारी प्रभाव पड़ता है जिसके कारण तटीय भागों की जलवायु का अन्तर बहुत कुछ अंशों तक अपरिवर्तित होता है। अतः महाद्वीपों के भीतरी भागों की अपेक्षा सागर के समीप स्थित भागों में वार्षिक तापान्तर कम रहता है गर्म जलधाराओं के तटीय भागों में वार्षिक तापान्तर कम पाया जाता है।

उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में जल का विस्तार अधिक होने के कारण महाद्वीपों पर समुद्र का समकारी प्रभाव अधिक पड़ता है। अतः दक्षिणी गोलार्द्ध में अपेक्षाकृत वार्षिक तापान्तर कम पाया जाता है।

उपरोक्त कारकों के अतिरिक्त सागर तल से ऊँचाई, धरातल का स्वरूप, मेघाच्छादन, वायुराशियाँ तथा पवनों का प्रवाह भी वार्षिक तापान्तर को प्रभावित करते हैं।
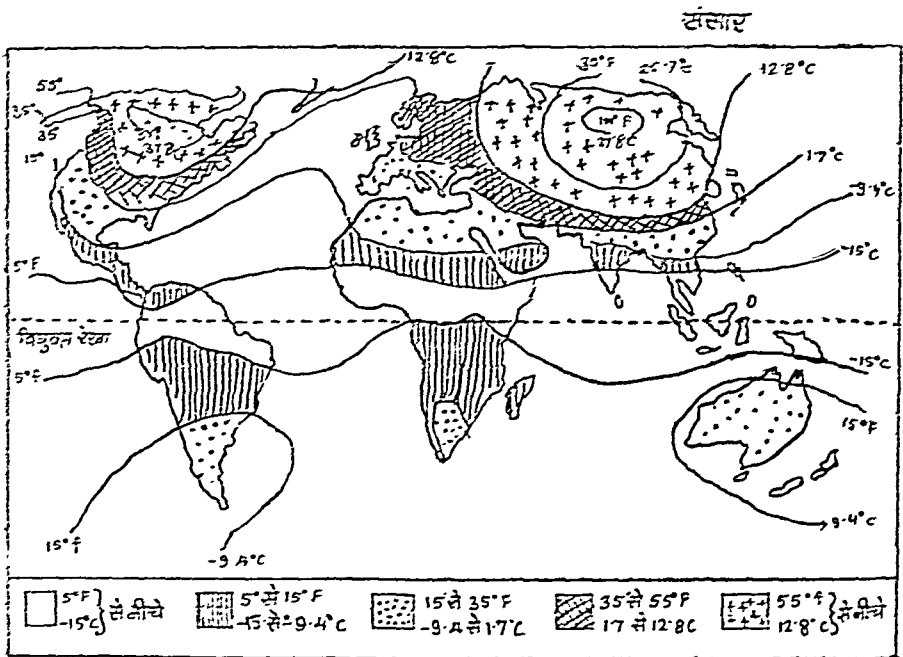
चित्र 21.15 माध्य वार्षिक तापान्तर (Mean annual range of temperature)
(After R. B. Bunnet)

धरातल पर तथा वायुमण्डल में ताप सन्तुलन

पृथ्वी तापमान में सदा सन्तुलन बनाए रखती है। सौर ताप द्वारा धरातल जितनी ऊर्जा प्राप्त करता है वह विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा उतनी ही ऊर्जा को शून्य में विसरित कर देता है जिससे धरातल पर ताप सन्तुलन बना रहता है। यदि पृथ्वी सौर ताप को बिना विसरित किए निरन्तर प्राप्त करती रहती तो उसका तापमान लगभग 400° से. ग्रे. प्रतिवर्ष बढ़ता रहता और अब तक यह जलकर भस्म हो गई होती। किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है। पृथ्वी सूर्य से जितनी ऊर्जा प्राप्त करती है उतनी ही शून्य में विसरित कर देती

है। पृथ्वी सूर्य से सूक्ष्म तरंगों द्वारा 47 तथा दीर्घ तरंगों द्वारा 78 इकाई ताप प्राप्त करती है। इस 125 इकाई से पृथ्वी 58 इकाई वायुमण्डल की दीर्घ तरंगों के रूप में, 22 संवाहन और 5 इकाई संचलन के रूप में लौटा देती है।

सारणी 2

धरातलीय ताप सन्तुलन

सौर ताप प्राप्त इकाई	पृथ्वी द्वारा सौर ताप ह्रास इकाई	
1. सूक्ष्म तरंगों द्वारा 47	1. वायुमण्डल की दीर्घ तरंगों द्वारा	58
2. दीर्घ तरंगों द्वारा 78	2. संवहन द्वारा	22
	3. संचलन द्वारा	5
कुल योग 125 इकाई	कुल योग 125 इकाई	

धरातल द्वारा प्राप्त सौर विकिरण को प्रभावोत्पादक विकिरण की संज्ञा दी गई है। यदि हम सूर्य से आने वाले विकिरण को 100 इकाई मान लें तो धरातल तक आने पर यह केवल 47 इकाई रह जाता है तथा शेष 53 इकाई में से 40 इकाई वायुमण्डल की विभिन्न प्रक्रियाओं में अवशोषित तथा प्रतिबिम्बित हो जाती हैं, शेष केवल 13 इकाई ताप ही धरातल द्वारा परावर्तित व प्रकीर्णन की जाती हैं जो कि निम्न सारणी द्वारा प्रदर्शित की गई है :

सारणी 3

	वायुमण्डल तथा धरातल द्वारा ताप ह्रास	प्रतिशत इकाई
1.	वायुमण्डलीय ओजोन द्वारा अवशोषित	2
2.	क्षोभ मण्डल मे विद्यमान ओजोन, मेघ, वाष्प द्वारा अवशोषित	15
3.	मेघो द्वारा आकाश में प्रतिबिम्बित	23
4.	धरातल द्वारा बाह्य आकाश में परावर्तित	7
5.	जल तथा धूल कणो और वायु अणुओं द्वारा प्रकीर्णन	6
	कुलयोग	53

सौर विकिरण की 47% इकाई प्रभावोत्पादक विकिरण द्वारा धरातल प्राप्त करता है तथा ताप सन्तुलन बनाये रखने के लिए उतनी ही इकाइयों का ह्रास कर देता है।

सारणी 4
धरातल पर ताप सन्तुलन

धरातल द्वारा प्राप्त ताप	प्रतिशत इकाई	धरातल द्वारा तापह्रास	प्रतिशत इकाई
प्रत्यक्ष या सीधा विकिरण	27	विकिरण से	24
विसरित विकिरण	16	संघनन तथा वाष्पीकरण से	23
विक्षुब्ध प्रवाह	4		
कुल योग	47	कुल योग	47

धरातल तक सूर्य ताप केवल 47 इकाई पहुँचता है। 31 इकाई की मात्रा प्रत्यक्ष सूक्ष्म तरंगों द्वारा तथा 16 इकाई विसरित प्रकाश अथवा दीर्घ तरंगों के रूप में होती है। पृथ्वी या कोई अन्य पदार्थ निश्चित ताप ग्रहण करने के पश्चात् विभिन्न लम्बाई की तरंगों द्वारा ऊष्मा को छोड़ने लगता है। इस क्रिया को 'कृष्णिका विकिरण' (Black body radiation) की संज्ञा दी गई है। यदि हम पृथ्वी का औसत तापमान 15° सेग्रे. मान लें तो कृष्णिका विकिरण 98 इकाई होगा, अर्थात् पृथ्वी का ताप 98 इकाई में नष्ट होगा। इस 98 इकाई में से 91 इकाई वायुमण्डल पुनः विकिरित कर देता है तथा शेष 7 इकाई ताप 'विकिरण गवाक्षों' (Radiation windows) द्वारा बाह्य आकाश में विसर्जित हो जाती हैं। अतः इस 7 इकाई की विसर्जित मात्रा को ही हम पृथ्वी की वास्तविक ताप क्षति कह सकते हैं। इस प्रकार धरातल सीधे तथा विसरित विकिरण और विक्षुब्ध प्रवाह द्वारा जितना (47 प्रतिशत) ताप ग्रहण करता है उतनी ही ताप की मात्रा को अन्य प्रकार से विकिरण, संघनन तथा वाष्पीकरण द्वारा पुनः वायुमण्डल में छोड़ देता है जिसके परिणाम-स्वरूप धरातल पर ताप-सन्तुलन बना रहता है।

पृथ्वी पर सौर ताप की प्राप्ति असमान होती है। उच्च अक्षांशों की अपेक्षा निम्न अक्षांशों में सौर ताप अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। विषुवतरेखीय प्रदेश ध्रुवों की तुलना में $2\frac{1}{2}$ गुना अधिक सौर ताप प्राप्त करते हैं। ताप की क्षैतिजीय असमानता होते हुए भी पृथ्वी के हर क्षेत्र में ताप-सन्तुलन पाया जाता है। क्षैतिजीय ताप-सन्तुलन दो विधियों द्वारा सम्पन्न होता है :

भौतिक ताप संतुलन क्रिया के अन्तर्गत पृथ्वी द्वारा ताप-प्राप्ति तथा ताप-ह्रास की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है जिससे ताप-संतुलन बना रहता है।

पृथ्वी का समस्त धरातल तापमान को थोड़ा-बहुत स्थिर बनाए रखता है जिससे ताप-प्राप्ति तथा ताप-क्षति में सन्तुलन बना रहे। उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों से शीत कटि-बन्धीय प्रदेशों की ओर वायु तथा जल राशियों द्वारा ताप स्थानान्तरित होता रहता है।

ताप सन्तुलन बनाये रखने के लिए मुख्य रूप से वायु द्वारा ताप का क्षैतिजीय स्थानान्तरण होता है। विभिन्न अक्षांशों पर वायु को जितनी मात्रा में प्रति सेकेण्ड ताप प्रवाह करना पड़ता है वह निम्न है :

सारणी 5

वायु द्वारा क्षैतिजीय ताप-स्थानांतरण

अक्षांश	109 किलो जोल्स प्रति सेकेण्ड (1 किलो जोल्स=4187 केलोरी)
0°	0
10°	1109
20°	2050
30°	2594
40°	2761
50°	2360
60°	1669
70°	837
80°	222
90°	0
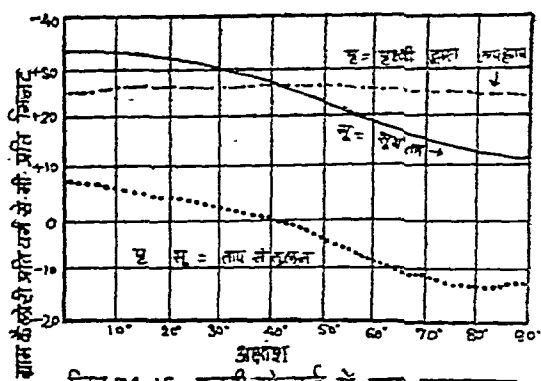
चित्र 21.16-उत्तरी गोलार्द्ध में ताप सन्तुलन

इस तालिका से यह ज्ञात होता है कि 35° से 45° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में क्षैतिजीय ताप-स्थानांतरण सबसे अधिक होता है। जिन स्थानों में सबसे अधिक ताप-स्थानान्तरण होता है वहां वायु तीव्र गति से प्रवाहित होती है, आंधियां और तूफान आते हैं

तथा सबसे अधिक वायु-विक्षोभ होता है। वायुराशियों द्वारा ऐसे ताप का स्थानान्तरण होता है जिसको हम अनुभव कर सकते हैं। किन्तु गुप्त ताप का स्थानान्तरण वायुमण्डल में 3 किलोमीटर की ऊँचाई तक उपोष्णीय उच्च वायु दाब प्रदेशों के दोनों ओर होता है। इस प्रकार 80% ताप-स्थानांतरण वायुमण्डल में तथा 20% सागरों में गर्म और ठण्डी जल-धाराओं के रूप में होता है। यह क्षैतिजीय ताप-स्थानान्तरण ताप अभिवहन कहलाता है।

वायुमण्डलीय ताप संतुलन

सूर्य ताप विकिरण इतनी सूक्ष्म तरंगों द्वारा होता है कि सम्पूर्ण वायुमण्डल की पारदर्शक परतें उसकी केवल 15% शक्ति ही सीधे शोषण द्वारा प्राप्त करती हैं। वायु-मण्डल की ऊपरी परत पर प्रतिदिन 700 कैलोरी प्रति वर्ग सेन्टीमीटर ताप पहुँचता है। इस 700 कैलोरी में से प्रभावोत्पादक विकिरण की मात्रा 24% होती है। इस 24% में से 16% ताप वायुमण्डल विकिरण द्वारा ग्रहण करता है तथा शेष 8% शून्य में नष्ट हो जाता है। इस क्रिया को **विप्लव मिश्रण** कहते हैं। वायुमण्डल संघनन द्वारा 23% ताप ग्रहण करता है। अत: धरातल ही वायुमण्डल के ताप का मुख्य स्रोत है।

सारणी 6

वायुमण्डलीय ताप संतुलन

वायुमण्डल द्वारा ताप ग्रहण प्राप्त प्रक्रिया	प्रतिशत	वायुमण्डल द्वारा ताप-क्षति प्रक्रिया	प्रतिशत
सौर विकिरणके अवशोपण द्वारा	15	विकिरण द्वारा	50
		मिश्रण द्वारा	4
भूविकिरण द्वारा अवशोपण	16		
संघनन द्वारा	23		
कुल योग	54	कुल योग	54

उक्त सारणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि वायुमण्डल अवशोपण, भू-विकिरण तथा संघनन द्वारा 54 प्रतिशत ताप ग्रहण करता है तथा उतनी ही मात्रा में अर्थात् 54% विकिरण (50%) तथा मिश्रण (4%) द्वारा ताप क्षय कर देता है। इस प्रकार वायु-मण्डल अपने ताप-संतुलन को बनाये रखने के लिए जितनी मात्रा में ताप प्राप्त करता है उतनी ही मात्रा में विकिरण तथा मिश्रण द्वारा उत्सृजित कर देता है।

ताप का लम्बवत् वितरण

ताप का लम्बवत् स्थानान्तरण वायुमण्डलीय ऊर्जा को ऊपर के सभी स्तरों तक पहुँचाने का सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन है। संचलन तथा विकिरण वायुमण्डल की निचली परतों को ही ताप दे पाते हैं। किन्तु संवहनीय क्रिया द्वारा वायुमण्डल की ऊपरी परतों को

ताप मिलता है ।-वायु दाब, धूलकण एवं वाष्प की अधिकता के कारण वायुमण्डल के नीचे की वायु घनी और ऊपर की विरल होती है । अतः ताप तथा धरातल से ऊँचाई का घनिष्ट सम्बन्ध है । घनी वायु में ताप को संचित रखने की शक्ति अधिक होती है। इसके अतिरिक्त वायु मुख्यतः धरातल के स्पर्श से ही गर्म होती है । अतः नीचे की वायु गर्म और ऊपर की ठण्डी रहती है । ज्यों-ज्यों समुद्र की सतह से ऊपर की ओर जाते हैं, वायु का तापमान गिरता जाता है । प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात किया गया है कि सामान्यतः प्रति 165 मीटर की ऊँचाई पर 1° सेग्रे. तापमान गिर जाता है । यदि कोई स्थान समुद्र-तल से 1650 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है और उसका वास्तविक तापमान 15° सेग्रे. है, किन्तु सामान्य ताप मात्रा के अनुसार उसका तापमान 10° सेग्रे. होना चाहिए । यदि वह स्थान समुद्र-तल पर स्थिति होता तो उसका तापमान 15°–10° = 5° सेग्रे. होता । यही उस धरातल का समुद्र-तल पर औसत तापमान है । एक इकाई लम्बवत् ऊँचाई पर तापमान घटने की मात्रा को तापक्षय मात्रा कहते हैं । यह तापक्षय मात्रा समय और स्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है । दिन-रात, ऋतु परिवर्तन तथा धरातलीय स्थिति तापक्षय-मात्रा को प्रभावित करते रहते हैं । ऊर्ध्वाधर ताप प्रवणता धरातल पर क्षैतिजीय ताप प्रवणता से 1000 गुना अधिक होती है । समस्त संसार की सामान्य ताप-क्षय-मात्रा 2 कि.मी. ऊँचाई तक 5° सेग्रे. प्रति कि.मी., 4 से 6 कि.मी. की ऊँचाई तक 6° सेग्रे. तथा 6 से 8 कि.मी. की ऊँचाई तक 7° सेग्रे. प्रति कि.मी. होती है । क्षोभ मण्डल में औसत तापक्षय-दर प्रति कि.मी. 6.5° सेग्रे. है । शीतकाल में तापमान क्षय की मात्रा बहुत कम हो जाती है । ऊँचाई के अनुसार तापक्षय दर को ह्रास गति कहते हैं जो क्षोभ मण्डल के निचले तल तक चली जाती है ।
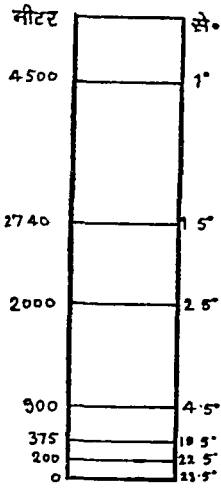
चित्र 21 17-तापमान का लंबवत वितरण

ऊँचाई के साथ तापमान कम होने के तीन मुख्य कारण हैं । संघनन के परिणाम-स्वरूप मुक्त गुप्त ताप केवल मेघ सीमा तक वायुमण्डल को प्रभावित करता है । इसके अतिरिक्त क्षोभ सीमा तक ही आंधी, तूफान, ऋतु आदि समय-समय पर बदलती रहती हैं जिसके कारण तापह्रास मात्रा प्रभावित होती है । किन्तु 3 कि.मी. की ऊँचाई के पश्चात् तापह्रास मात्रा नियंत्रित हो जाती है ।

वायुमण्डल की ऊपरी परतों में ऊँचाई के साथ-साथ गैस विरल होती जाती हैं । अतः इनमें ताप को सुरक्षित रखने की क्षमता क्रमशः कम होती जाती है । इसके अतिरिक्त यह ताप को अवशोषित भी नहीं कर पाती ।

धरातल सूर्यताप की सूक्ष्म तरंगों से तप्त होता है तथा दीर्घ तरंगों द्वारा ऊष्मा छोड़ता है जो वायुमण्डल की परतों को पार करती हुई ऊपर को चढ़ती हैं । इस प्रकार पृथ्वी के समीप की वायु परत अपनी ऊपरी परत की अपेक्षा अधिक ताप ग्रहण करती है । परिणामस्वरूप तापह्रास मात्रा ऊपर कम होती जाती है ।

तापक्षय के अपवाद

पिछले पृष्ठों में रुद्धोष्म परिवर्तन (Adiabatic Changes) के सम्बन्ध में वर्णन दिया जा चुका है। नीचे से जब गर्म वायु पुंज ऊपर को उठता है तो इसकी तापक्षय मात्रा प्रति कि.मी. 10° सेग्रे. हो जाती है। ताप परिवर्तन की इस मात्रा को रुद्धोष्म मात्रा कहते हैं।
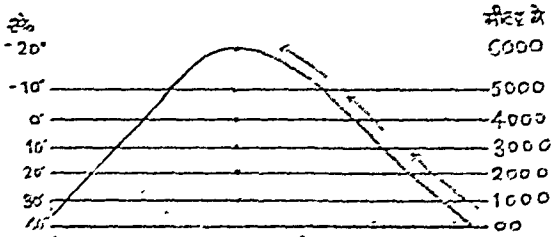
चित्र 21.18- चढ़ती हुई गर्म वायु की रुद्धोष्म मात्रा

इसी प्रकार जब ऊपर की शीतल वायु नीचे को आती है तो प्रति 1000 मीटर पर उसका तापमान 6.3° सेग्रे. बढ़ जाता है। इस प्रकार तापक्षय की सामान्य मात्रा की अपेक्षा तापक्षय की रुद्धोष्म मात्रा कहीं अधिक होती है।
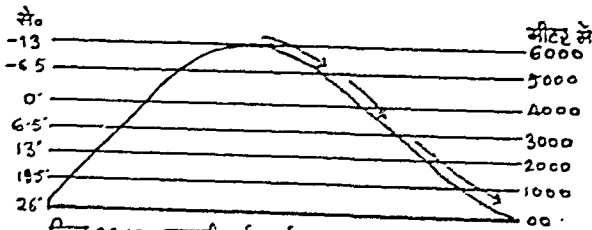
चित्र 21.19- उतरती हुई गर्म वायु की रुद्धोष्म मात्रा

साधारणत: ऊँचाई के साथ-साथ वायु का तापक्रम घटता जाता है। किन्तु विशेष परिस्थितियों में इसके विपरीत होता है। रात्रि के शान्त तथा स्थिर मौसम में ताप के शीघ्र विकिरण के कारण, पहाड़ी ढालों पर वायु तीव्रता से ठण्डी हो जाती है। घनी व ठण्डी वायु ढालों पर से खिसकती हुई नीचे घाटियों में भर जाती है। किन्तु ऊपर की वायु अपेक्षाकृत गर्म रहती है। सामान्य से इस विपरीत दशा के वायुताप के अपवाद को ताप का प्रतिलोमीकरण कहते हैं। शीत ऋतु में प्रतिचक्रवात के मौसम में ऊँचाई पर वायु की यह दशा कई दिनों तक चलती है। शीत ऋतु की रात्रियों में कभी-कभी हिमालय के ढालों पर गर्म तथा निचले भागों में ठण्डी वायु पाई जाती है। तापमान का प्रतिलोमीकरण सदा सम्भव नहीं होता। इसके लिए विशेष भौतिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है।

शीतकाल में दिन छोटे और रातें लम्बी होती हैं। अत: सौरताप की प्राप्ति, पृथ्वी के तापक्षति की अपेक्षा कम होती है। परिणामस्वरूप ठण्डे धरातल के सम्पर्क में आने वाली वायु ठण्डी हो जाती है। इस शीतल वायु के ऊपर अपेक्षाकृत गर्म वायु रहती है जिसका ठण्डे धरातल से कोई सम्पर्क नहीं होता।

मेघ रहित स्वच्छ आकाश के समय पार्थिव विकिरण स्वतन्त्रतापूर्वक होता है जिसके फलस्वरूप धरातल शीघ्र ठण्डा हो जाता है।

शान्त वायु के समय ताप का ऊर्ध्वाधर सम्मिश्रण नहीं हो पाता। अत: धरातल के सम्पर्क में आने वाली वायु विकिरण और संचलन से शीघ्र ठण्डी हो जाती है।

शुष्क वायु की ताप शोषण क्षमता आर्द्र वायु से अधिक होती है। अतः शुष्क वायु प्रवाह से धरातल तो ठण्डा हो जाता है जबकि ऊपर की वायु का तापमान धरातल की वायु की अपेक्षा अधिक रहता है।
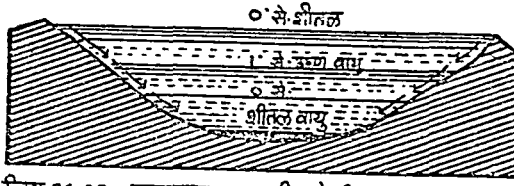
चित्र 21·20- तापमान का प्रतिलोमीकरण

हिम से ढंका धरातल दिन में सूर्यताप को परावर्तित कर देता है और कुचालक होने के कारण रात्रि में धरातल के ताप को बाहर नहीं जाने देता। अतः हिम पर तापमान हिमांक से नीचे रहता है जबकि नीचे मृदा का तापमान ऊंचा रहता है।
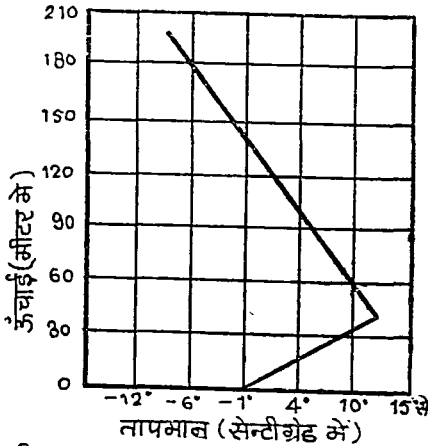
चित्र 21·21- तापमान का प्रतिलोमीकरण
(ऊंचाई के साथ तापमान में अन्तर

प्रतिलोमीकरण—जब मुक्त वायुमण्डल में विशाल और घनी वायुराशियां नीचे उतरती हैं तो अवरोहण के कारण नीचे आने वाली हवाएं अत्यधिक दब जाती हैं। अतः सम्पीडन से गर्म हो जाती हैं तथा वायुमण्डल के बीच की परत में उष्ण वायु का एक व्यापक क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। यह परत इतनी सघन होती है कि इसको नीचे से आने वाली वायु भेदकर मुक्त नहीं हो पाती। अतः इस परत के नीचे धरातल से आने वाली वायु में विद्यमान वाष्प से स्तरी मेघ बन जाते हैं जो न्यून तापमान के द्योतक हैं। इस प्रकार परत के नीचे वायु का तापमान कम और ऊपर का अधिक होता है। इस प्रकार के प्रतिलोमीकरण को उच्च वायु या उच्च धरातलीय प्रतिलोमीकरण कहते हैं।

शीतकाल की लम्बी रातों में जब धरातल से रात्रि में अधिक विकिरण हो जाता है तो धरातल अत्यधिक शीतल हो जाता है। वायु ठण्डे धरातल के सम्पर्क में आती है और शीतल हो जाती है जबकि वायु की ऊपर की परत गर्म रहती है। अतः ताप का प्रतिलोमीकरण उत्पन्न हो जाता है। वायु की यह विपरीत अवस्था लगभग 600 सौ मीटर तक ही

रहती है तथा सूर्योदय के पश्चात् समाप्त हो जाती है। इसे 'स्थिर अथवा धरातलीय प्रतिलोमीकरण' कहते हैं।
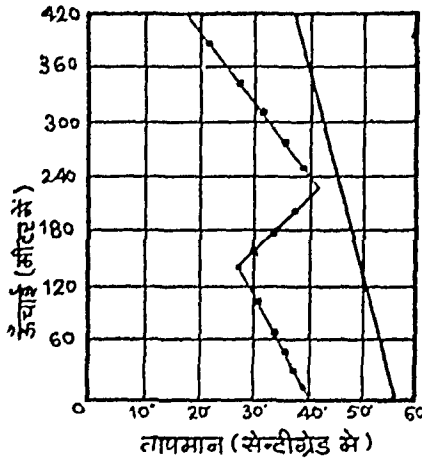
चित्र 21 22-उच्च धरातलीय तापमान का प्रतिलोमीकरण
(— सामान्य ताप क्षय मात्रा —•—•— प्रतिलोमीकरण ताप क्षय मात्रा)

चक्रवातों की उत्पत्ति गर्म तथा ठण्डी वायु के सम्पर्क से होती है। मध्य अक्षांशीय प्रदेशों में ध्रुवों की ओर से ठण्डी और विषुवत रेखा की ओर से गर्म हवायें चलती हैं। गर्म हवा हल्की होने के कारण सघन और ठण्डी वायु की परत पर चढ़ जाती है जिससे तापीय विलोमता उत्पन्न हो जाती है। अतः धरातल के निकट ठंडी और उसके ऊपर गर्म वायु की परत फैल जाती है। इसे गतिशील व्युत्क्रमण कहते हैं। यूरेशिया तथा उत्तरी अमेरिका के उत्तरी मैदानों में होने वाले बड़े पैमाने के धरातलीय ताप प्रतिलोमीकरण गर्म और ठंडी वायु-राशियों के अभिवहन से उत्पन्न होते हैं।

रात्रि में पहाड़ी अथवा पठारी उच्च प्रदेशों से ठंडी और अधिक घनत्व की भारी हवा नीचे मैदानों या घाटियों की ओर खिसक आती है तथा इसके विपरीत नीचे की गर्म हवा ऊपर की ओर उच्च प्रदेशों में पहुंच जाती है। वायु की इस प्रकार की गति को वायु अपवाह कहते हैं।

उच्च पर्वतीय प्रदेशों में ढालों का तापमान निचली घाटियों की अपेक्षा अधिक रहता है। शिमला में ऊपरी पहाड़ी ढालों का तापमान सदा 4° सेग्रे. से ऊपर ही रहता है जबकि निचली घाटियां छाया के कारण हिमाच्छादित रहती हैं। अपेक्षाकृत उच्च तापमान का लाभ लेने के लिए ही हिमाचल प्रदेश की कुल्लू घाटी के ऊपरी पहाड़ी ढालों पर सेब के बाग लगाए गए हैं। इसी प्रकार केलिफोर्निया में रसदार फलों के बाग पर्वतों के ऊपरी ढालों पर लगाए गये हैं जबकि निचली घाटी को उपयोग में नहीं लिया गया क्योंकि वायु के प्रतिलोमीकरण के कारण वहां तापमान कम रहता है जो फलों के उत्पादन में उपयोगी नहीं है।

धरातल के ऊपर की वायु प्रतिलोमीकरण के कारण संवहनीय धाराओं के प्रवाह को रोक लेती है। अतः औद्योगिक नगरों में चिमनियों से निकलने वाला धुआं तथा मोटरों से निष्कासित गैसें शीत ऋतु की शान्त रातों में नीचे बैठ जाती हैं। कोहरा तथा धुंध घने

हो जाते हैं जो दूषित वायु को ऊपर जाने से रोकते हैं। अतः धरातल के समीप वायुमण्डलीय प्रदूषण पैदा हो जाता है। विभिन्न ताप तथा घनत्व की दो वायुराशियों के संगम स्थान पर एक असंतत्य रेखा की रचना हो जाती है और एक स्थिर सीमा बन जाती है। वायुमण्डलीय घनत्व की असंतत्यता के कारण ध्वनिक एवं विद्युत चुम्बकीय प्रवाह में अवरोध पैदा हो जाता है।

ताप का क्षैतिज वितरण

पृथ्वी पर सामान्यत: सूर्य की किरणों के झुकाव के अनुसार तापमान के क्षैतिजीय वितरण में विभिन्नता पाई जाती है। तापमान की यह विभिन्नता विषुवत रेखा से दोनों ध्रुवों की ओर प्रत्यक्ष दिखाई देती है। सामान्यतया विषुवत रेखा से दोनों ध्रुवों की ओर क्षैतिजीय ताप वितरण में अक्षांशों के अनुसार तापमान घटता जाता है। तापमान को प्रदर्शित करने के लिए समताप रेखाओ का प्रयोग किया जाता है। समताप रेखाएँ समान तापमान के स्थानो को मिलाती हुई मानचित्र पर खींची जाती हैं। किसी स्थान का तापमान प्रदर्शित करने के लिए उसकी ऊँचाई को समुद्र तल में परिकलित कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ समुद्र तल से 1000 मीटर ऊँचे किसी स्थान का तापमान 16° सेग्रे. है तो परिकलन के पश्चात् उस स्थान का समुद्रतल पर 10° सेग्रे. तापमान होगा। अतः समताप रेखाएँ चुने हुए स्थानों के समुद्रतल के औसत तापमान को जोड़ती हुई खींची जाती हैं। ये पूर्व-पश्चिम के क्रम में खींची जाती हैं।

चित्र 21.23 समताप रेखाए - जुलाई (सेन्टीग्रेड मे)
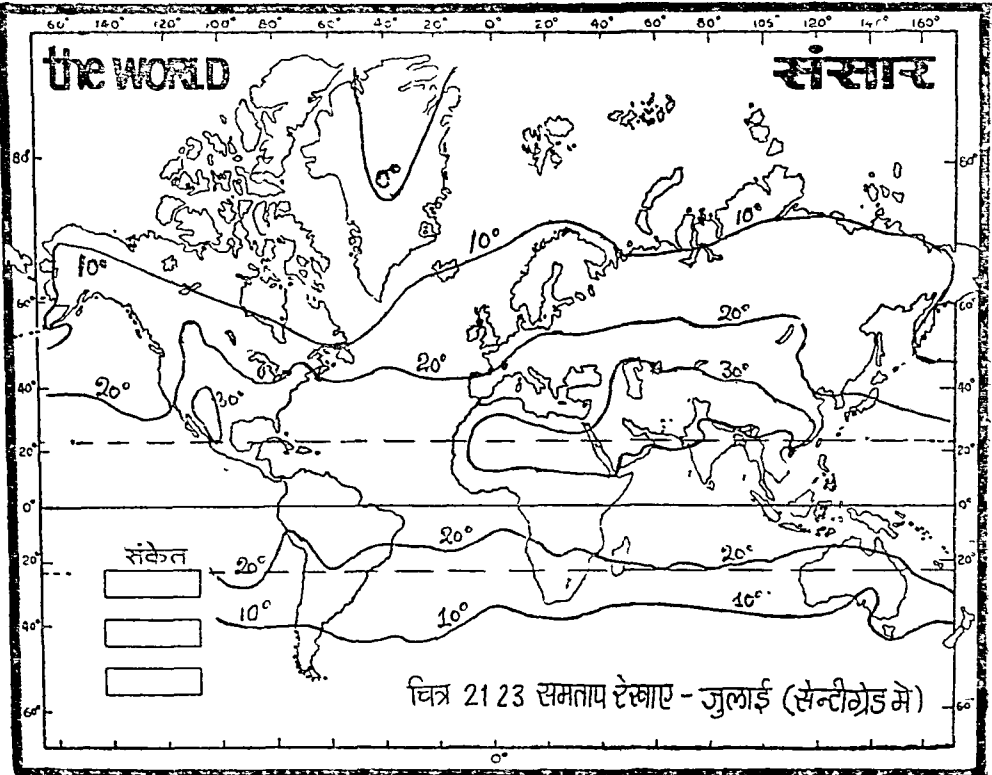
समताप रेखाएं विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर समान दूरी पर समानान्तर होनी चाहिए। मानचित्र पर ये अधिकांशतया असमान दूरी पर टेढ़ी-मेढ़ी दिखाई देती हैं क्योंकि धरातल के तापमान को प्रभावित करने वाली सभी दशाएँ समताप रेखाओं की दिशा को भी प्रभावित करती हैं। स्थलीय भागों में स्थानीय वन, पर्वत, धरातल की संरचना तथा समुद्र से दूरी के कारण समताप रेखाएँ समुद्रों की अपेक्षा अधिक वक्र होती हैं। धरातल पर समताप रखाएँ कहीं समीप और कहीं दूर हो जाती हैं। इनके मध्य जितना अन्तर कम होगा उतनी ही अधिक क्षैतिज ताप प्रवणता होगी। यह ताप प्रवणता समुद्री धाराओं, समुद्री-तटों की निकटता व पर्वतीय बाधाओं के कारण उत्पन्न होती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल की अपेक्षा जल का विस्तार अधिक होने के कारण समताप रेखाएँ कम वक्र लिये अधिकांशत: अक्षांशों के समानान्तर होती हैं। ग्रीष्म ऋतु में समताप रेखाएँ महाद्वीपों पर ध्रुवों की ओर तथा महासागरों में विषुवत रेखा की ओर झुकी हुई रहती हैं। शीत ऋतु में ठीक इसके विपरीत दशाएँ हो जाती हैं।

चित्र 21·24 समताप रेखाएं - जनवरी (सेन्टीग्रेड में)
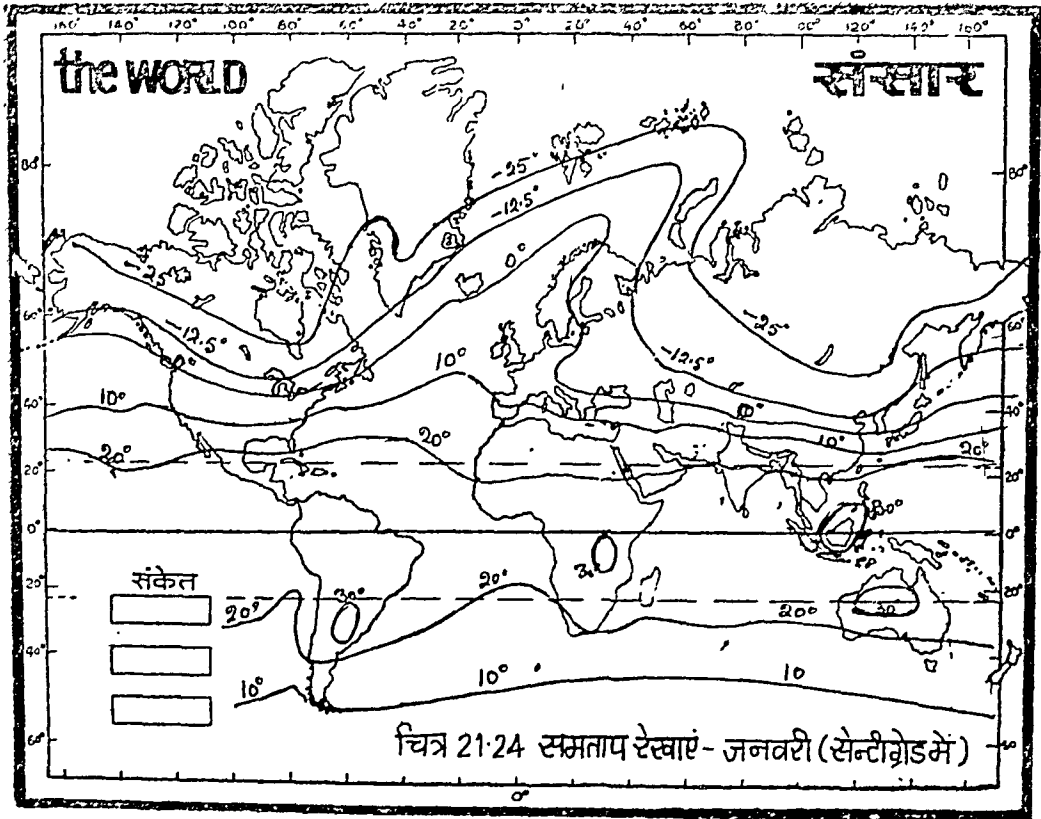
गर्मी व सर्दी में ताप वितरण

यद्यपि ग्रीष्म ऋतु में 21 जून को सूर्य कर्क रेखा पर लम्बवत् चमकता है फिर भी धरातल की ताप-शिथिलता के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में जुलाई माह सबसे अधिक उष्ण रहता है। अतः ग्रीष्म ऋतु के लिए जुलाई माह की समताप रेखाओं का अध्ययन किया जाता है। इसी प्रकार शीतकाल में दिसम्बर के स्थान पर जनवरी माह की समताप रेखाओं

का अध्ययन किया जाता है। जुलाई में उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु और दक्षिणी गोलार्द्ध में शीत ऋतु रहती है। ठीक इसके विपरीत जनवरी में दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म और उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु रहती है। ठीक इसके विपरीत जनवरी में दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म और उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु रहती है। जुलाई और जनवरी—दोनों में ही सबसे अधिक तापमान; स्थलीय भागों में रहता है। सूर्यताप के अक्षांशीय स्थानान्तरण के साथ-साथ, समताप रेखाएें भी जुलाई और जनवरी में उत्तर और दक्षिण की ओर खिसकती हैं। समताप रेखाओं का विस्थापन सागरों की अपेक्षा महाद्वीपों पर सबसे अधिक होता है।

जुलाई की समताप रेखाओं के मानचित्र देखने से विदित होता है कि इस माह में सबसे अधिक तापमान अर्थात् 30° सेग्रे. की समताप रेखा एशिया और अफ्रीका के विस्तृत भाग को और उत्तरी अमेरिका के कुछ भाग कोलम्बिया के पठार तथा ग्रेट बेसिन को घेरे हुए है। इस माह में दक्षिणी गोलार्द्ध में शीत ऋतु होती है तथा सबसे कम तापमान अन्टार्कटिक पर होता है। यद्यपि जनवरी में पृथ्वी सूर्य के निकट रहती है फिर भी जुलाई में जनवरी की तुलना में पृथ्वी के विस्तृत क्षेत्र पर उच्च तापमान फैला हुआ है। इसका कारण जुलाई में स्थलमण्डल अर्थात् उत्तरी गोलार्द्ध में सूर्य का होना है जिसके कारण समुद्र की अपेक्षा महाद्वीप शीघ्र गर्म हो जाते हैं।

जनवरी में सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में होता है। अतः उत्तरी गोलार्द्ध में शीतकाल होता है। इस ऋतु में साइबेरिया तथा ग्रीनलैण्ड में सबसे अधिक सर्दी पड़ती है। साइबेरिया में वरकोयान्स्क में—50.5° सेग्रे. तापमान पाया जाता है। यह स्थान संसार में सबसे अधिक ठण्डा है। सबसे अधिक ताप प्रवणता उत्तरी गोलार्द्ध में जनवरी में पाई जाती है।

तापीय कटिबन्ध

प्राचीन यूनानवासी पृथ्वी पर जलवायु की भिन्नता का कारण केवल सूर्य को मानते थे। वर्ष में बदलती हुई सूर्य की स्थिति, तिरछी किरणें और रात-दिन की अवधि
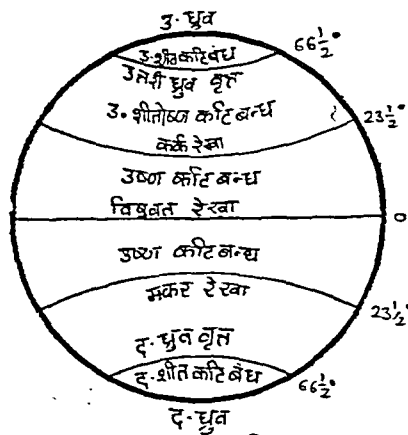
चित्र 21·25·तापीय कटिबन्ध

के अन्तर के कारण विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर तापमान घटता जाता है। सामान्यतः ताप का क्षैतिज वितरण क्रमशः अक्षांश रेखाओं के साथ-साथ ध्रुवों की ओर कम होता

जाता है। अतः यूनानियों ने विश्व को तापमान के क्षैतिज वितरण के आधार पर अक्षांश रेखाओं के अनुसार उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों को तीन-तीन कटिबन्धों में बांटा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Blair, T. A. (1948), Weather Elements' Solar Energy; Its Nature, Transmission and Distribution (Prentice Hall, New York).
2. Byers, H. R. (1974), General Meteorology, 4th ed. (McGraw Hill Book Co., New York).
3. Byers, H. R. (1974). Distribution of Temperature of the Earth (McGraw Hill Book Co., New York).
4. Chang, J. H. (1970), Global distribution of net radiation according to new formula, Annals A.A.G., 60 : 340-351.
5. Conard IV (1942), Fundamental of Physical Climatology (Harward University, Blue Hill Meteorology Observatory, Mass).
6. Fairbridge, R. W. (1967), The Encyclopedia of atmospheric sciences and astrogeology (Reinhold Publ. Co., New York).
7. Finch, V. C., Trewartha, G. T., Shearer, M. H. and Candle, F. L. (1942), Elementary Meteorology (McGraw Hill Book Co. New York).
8. Gates, D. N. (1962), Energy exchange in the biosphere, (Harper & Row, New York).
9. Haurwitz, B. (1941), Dynamic Meteorology (McGraw Hill Book Co., New York).
10. Lundasberg, H. (1941), Physical Climatology (Penns State College, Pa).
11. Miller. D. H. (1965), The heat and water budget of the earth's surface, Advances in Geophysics, Vol. 11 (Academic Press, New York).
12. Petterssen, S. (1969), Introduction to Meteorology, 3rd ed. (Mc Graw Hill Book Co., New York).
13. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography, 4th ed. (John Wiley & Sons, Inc., New York).
14. rewartha, G. T. (1954), An Introduction to Climate (McGraw Hill Book Co., New York).

22

वायुदाब और हवायें
[Atmospheric Pressure and Winds]

यद्यपि हम वायु को देख नहीं सकते किन्तु वायु भौतिक पदार्थ होने के कारण भार-युक्त है। वायुमण्डल के लगभग 1000 किमी. के सघन आवरण के कारण पृथ्वी के प्रत्येक भाग पर प्रतिवर्ग सेन्टीमीटर एक किलो भार पड़ रहा है। किन्तु यह दाब अनुभव नही होता क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान वायु उसको प्रतितोलन कर देती है। मनुष्य अपने ऊपर लगभग 112 किलो वजन लादे रहता है किन्तु शरीर में विद्यमान वायु बाहरी दाब का प्रतितोलन कर देती है। वायु संपीड्य है। अतः धरातल के समीप वायु का घनत्व और भार अपेक्षाकृत अधिक होता है जो ऊँचाई के साथ-साथ वायुमण्डल विरल होने के कारण घटता जाता है। वायुदाब बैरोमीटर से मापा जाता है।

बैरोग्राफ में एक ढोल लगा रहता है जो स्वचालित यंत्र द्वारा एक ही गति से घूमता रहता है। इस ढोल पर ग्राफ चिपका रहता है। घूमते हुए ढोल पर निर्द्रव वायुदाबमापी यत्र में लगी स्याहीयुक्त कलम कागज पर वायुदाब का अंकन करती रहती है। इस प्रकार दिन भर के वायुदाब का अंकन ग्राफ पर हो जाता है। एक इंच पारे का दाब लगभग 33.9 मिलीबार होता है। मिलीबार को Mb द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

सारणी 1

वायुदाब मापन में इंच तथा मिलीबार का सम्बन्ध

इंच	27.00	28.00	28.50	29.0	29.50	29.75	29.92	30.00	30.25
मिलीबार	914.3	948.2	965.1	982.1	999.0	1007.5	1013.2	1015.9	1024.4

वायुदाब को प्रभावित करने वाले तत्त्व

भौतिकविदों ने तापमान और वायुदाब का सम्बन्ध "ताप अधिक, दाब कम और

ताप कम, दाब अधिक" कह कर प्रकट किया है। वायु गर्म होकर फैलती है, उसका घनत्व कम हो जाता है जिससे वह हल्की होकर ऊपर उठ जाती है। परिणामस्वरूप वायु का दाब कम हो जाता है। इसी प्रकार ठीक इसके विपरीत वायु ठण्डी होकर सिकुड़ती है, उसका घनत्व अधिक हो जाता है जिससे वह भारी हो जाती है। भारी वायु का दाब अधिक होता है। अतः धरातल पर तापमान की विभिन्नता के कारण वायुदाब में भी परिवर्तन आते हैं जिसे वायुदाब का 'तापीय नियंत्रण' कहते हैं। धरातल पर तापमान के असमान वितरण के कारण वायुदाब भी असमान रूप से पाया जाता है।

गर्म तथा हल्की वायु में जलवाष्प ग्रहण करने की क्षमता ठण्डी एवं भारी हवा की अपेक्षा अधिक होती है। आर्द्रतायुक्त वायु हल्की, जबकि शुष्क वायु भारी होती है। हल्की होने के कारण आर्द्रतायुक्त वायु ऊँचाई पर मिलती है। शीत ऋतु की ठण्डी और शुष्क वायु भारी और वर्षा ऋतु की आर्द्रतायुक्त वायु हल्की होती है। अतः शुष्क वायु का दाब अधिक तथा आर्द्रतायुक्त वायु का दाब अपेक्षाकृत कम होता है।

ऊँचाई के साथ-साथ वायु विरल हो जाती है। अतः इसका भार कम हो जाता है। इसके विपरीत धरातल के निकट की वायु में भारी गैसों और धूल कणों की बाहुल्यता रहती है जिससे वह ऊपर की वायु की तुलना में भारी होती है। अतः धरातल के निकट वायु भार अधिक और ऊँचाई के साथ-साथ कम होता जाता है। 300 मीटर ऊँचाई पर वायुमण्डलीय दाब 2.5 सेन्टीमीटर कम हो जाता है।

वायुदाब पर पृथ्वी की दैनिक गति का भी प्रभाव पड़ता है, जिसे वायुदाब का गति नियंत्रक कहते हैं। जिस प्रकार पानी से भरी बाल्टी के बीच छड़ी घुमाने से पानी घूमने लगता है और बाल्टी के बीच में खाली जगह बन जाती है तथा पानी बाल्टी के किनारों पर ऊपर चढ़ने लगता है। ठीक उसी प्रकार पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के कारण 60° तथा 65° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में वायु ऊपर चढ़ने लगती है जिसके फलस्वरूप वायुभार कम हो जाता है।

वायुदाब को प्रभावित करने वाले उपरोक्त कारकों के अतिरिक्त कालिक तथा स्थानीय परिवर्तन भी हुआ करते हैं जो वायु की दिशा को प्रभावित करते हैं।

वायुदाब परिवर्तन

ऋतु परिवर्तन के कारण वायुदाब में भी परिवर्तन आ जाता है। ग्रीष्म ऋतु में समुद्रों की अपेक्षा स्थलीय भाग अधिक गर्म हो जाते हैं। अतः सागरों पर वायुदाब अधिक और महाद्वीपों पर कम हो जाता है। इसके विपरीत शीत ऋतु में सागरों की अपेक्षा महाद्वीप अधिक ठण्डे हो जाते हैं। परिणामस्वरूप शीत ऋतु में महाद्वीपों पर वायुदाब अधिक और सागरों पर कम हो जाता है। अतः मानसून प्रदेशों के स्थलीय भागों में ग्रीष्म ऋतु में वायुदाब कम हो जाने से समुद्र की ओर से आर्द्र वायु स्थलीय भागों की ओर चलती है। ठीक इसके विपरीत शीत ऋतु में स्थलीय भाग में उच्च वायुदाब तथा सागरीय भागों में निम्न वायुदाब के कारण शीतकालीन मानसून स्थल से सागर की ओर चलती हैं। इस प्रकार ग्रीष्मकालीन और शीतकालीन मानसूनों की दिशा में परिवर्तन वायुदाब के स्थलों और समुद्रों में कालिक परिवर्तन के कारण होता है।

सूर्य के उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों में स्थानान्तरण के कारण ग्रीष्म ऋतु में तापीय विषुवत रेखा 10° उत्तरी अक्षांश तक खिसक जाती है। इसी प्रकार शीत ऋतु में तापीय विषुवत रेखा लम्बवत सूर्य का अनुसरण करती हुई दक्षिणी गोलार्द्ध की ओर खिसक जाती है। इस प्रकार तापीय विषुवत रेखा कभी उत्तरी और कभी दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थानान्तरित हो जाती है। परिणामस्वरूप सभी तापीय पेटियाँ या कटिबन्ध, तापीय विषुवत रेखा का अनुसरण करती हुई उत्तर तथा दक्षिण की ओर खिसकती रहती हैं। तापीय कटिबन्धों के खिसकने के साथ-साथ वायुदाब पेटियाँ भी उत्तर तथा दक्षिण की ओर स्थानान्तरित होती रहती हैं। इस प्रकार वायुदाब में स्थानीय परिवर्तन हुआ करता है।

चक्रवात एवं प्रतिचक्रवात के कारण भी वायुदाब में अनायास परिवर्तन आ जाता है। यह परिवर्तन स्थानीय रूप से होता है तथा इसका अधिकाधिक प्रभाव लगभग 18 घन्टों तक रहता है। शीतोष्ण कटिबन्ध में चक्रवात तथा प्रतिचक्रवातों के लगातार आने के कारण वायुदाब पर बहुधा स्थानीय प्रभाव पड़ता रहता है। आंधियाँ और तूफान भी कुछ समय के लिए वायुदाब को प्रभावित कर देते हैं।

दिन और रात में धरातल पर समान तापमान् न होने के कारण वायुदाब भी बदलता रहता है। सामान्यत: 4 बजे से दिन के 10 बजे तक तथा सांयकाल 4 बजे से रात्रि के 10 बजे तक वायुदाब बढ़ता रहता है। इसी प्रकार दिन के 10 बजे से सांयकाल 4 बजे तक और रात्रि के 10 बजे से प्रात: 4 बजे तक वायुदाब निरन्तर गिरता रहता है।
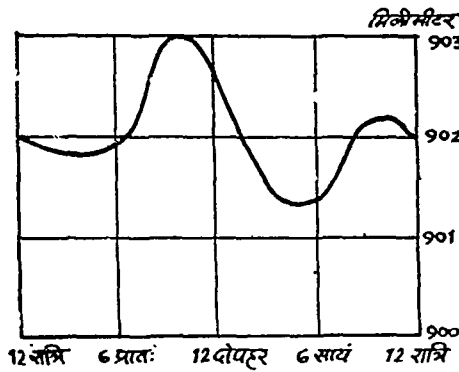
चित्र 22.1 बेरोमीट्रिक ज्वार भाटा

इस प्रकार 24 घन्टों में वायुदाब दो बार बढ़ता और दो बार घटता है। वायुदाब के इस उतार-चढ़ाव को बैरोमीटर का ज्वार-भाटा कहते हैं। भू-मध्यरेखीय प्रदेशों में बैरोमीटरी ज्वार-भाटा अधिक होता है। 60° उत्तरी अक्षांश से ध्रुव की ओर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। समुद्र के निकटवर्ती स्थानों पर वायुदाब का उतार-चढ़ाव अधिक होता है किन्तु अधिक ऊँचाई पर इसका प्रभाव शून्य हो जाता है।

वायुदाब वितरण

वितरण दो प्रकार से होता है—लम्बवत् तथा क्षैतिज। धरातल के निकट भारी गैसों और धूल कणों से परिपूर्ण वायुमण्डल की परतें अत्यन्त सघन एवं भारी होती हैं। किन्तु ऊँचाई के साथ-साथ विरलता बढ़ती जाती है और वायु भार कम होता जाता

है। प्रारम्भ में प्रति 300 मीटर पर केवल 34 मिलीबार वायुदाब कम हो जाता है किन्तु यह क्रम कुछ हजार मीटर ऊपर तक ही रहता है। इसके बाद वायुदाब तीव्रता से गिरना प्रारम्भ होता है। लगभग $5\frac{1}{2}$ किलोमीटर ऊँचाई पर वायु के कुल भार का आधा दाब रह जाता है और 11 किलोमीटर पर केवल चौथाई रह जाता है। इसी प्रकार वायुदाब में कमी आते-आते यह 29 किलोमीटर की ऊँचाई से ऊपर लगभग 3 प्रतिशत ही रह जाता है अर्थात् कुल वायु का 97 प्रतिशत भाग 29 किमी. के नीचे पाया जाता है। निम्न तालिका में विभिन्न ऊँचाइयों पर वायुदाब की दशा प्रदर्शित की गई है :

ऊँचाई मीटर में—	सागरतल	914	1828	2743	4268	5408
प्रामाणिक दाब मिलीबार में	1014	907	811	719	598	508
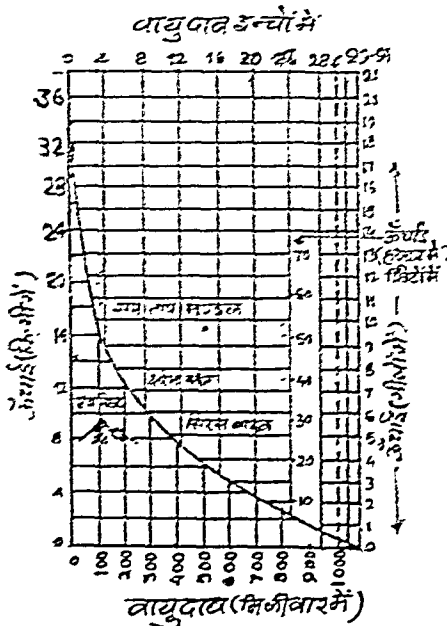
चित्र 22.2 ऊँचाई के साथ घटता हुआ वायुदाब

वायुदाब का क्षैतिज वितरण

तापमान और वायुदाब का विपरीत सम्बन्ध है। अतः विषुवत रेखीय प्रदेशों में न्यून और ध्रुवीय प्रदेशों में सदा उच्च वायुदाब बना रहता है।

जिस प्रकार मानचित्र पर तापमान को समताप रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार वायुदाब को समभार रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। समभार रेखाएँ वह रेखाएँ हैं जो मानचित्र पर, समुद्र तल में परिवर्तित समान वायुमण्डलीय भार वाले स्थानों को मिलाती हैं। क्योंकि वायुदाब ताप से ही नियन्त्रित होता है। अतः समताप रेखाएँ व समभार रेखाएँ लगभग समानान्तर ही होती हैं। दो समानान्तर समभार रेखाओं के मध्य मिलीबार के अन्तर को 'दाब प्रवणता' कहते हैं। जिस दिशा में वायुदाब कम होता है उसे 'बैरोमीट्रिक प्रवणता' कहते हैं। समभार रेखाएँ एक दूसरे से जितनी निकट होती हैं दाब प्रवणता उतनी ही अधिक होती है।

वायुदाब पेटियाँ

समान वायुदाब वाले प्रदेशों को 'वायुदाब पेटियाँ' कहते हैं। वैसे तो वायुदाब पेटियाँ तथा समदाब रेखाएँ अक्षांशों के समानान्तर ही होनी चाहिए। किन्तु विभिन्न भौगोलिक दशाओं के कारण धरातल पर ताप वितरण असमान है जिससे समभार रेखाएँ प्रभावित होती हैं। फिर भी समान वायुदाब की पेटियों को तापमान के आधार पर, पृथ्वी को एक ही तल का मानकर, अर्थात् स्थल और जल का भेद निकालकर तथा संशोधित कर

चित्र 22·3 वायुदाब पेटियाँ
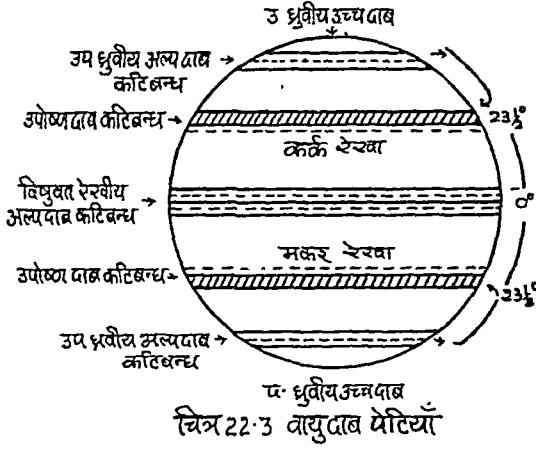
अत्यधिक सरल कर दिया गया है, अन्यथा यदि सभी भौगोलिक कारकों का समावेश कर दिया जाय तो ये पेटियाँ अत्यन्त जटिल हो जायें। समान वायुदाब की पेटियाँ विषुवतरेखा से ध्रुवों की ओर समानान्तर क्रम में मिलती हैं। यह पूर्व-पश्चिम दिशाओं में पृथ्वी के चारों ओर छल्ला क रूप में फैली हुई हैं। वायुदाब की पेटियों का निर्धारण करते समय तापीय प्रभाव और पृथ्वी की दैनिक गति का ध्यान रखा जाता है।

पृथ्वी की वायुदाब की मुख्य पेटियाँ निम्न प्रकार हैं :

विषुवत रेखा के दोनों ओर 5° उत्तरी और 5° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य भूमध्य रेखीय निम्न दाब की पेटी विद्यमान है। इस पेटी का अस्तित्व मुख्यतः ताप के कारण है। अतः इसको 'तापीय उत्प्रेरित पेटी' कहते हैं। सूर्य के लम्बवत चमकने के कारण ताप अधिक रहता है। अतः वायु गर्म होकर ऊपर उठ जाती है तथा वर्षभर वायु-दाब निरन्तर कम रहता है। वायु को ऊपर उठाने में अपकेन्द्री बल सहायता करता है। वायु के ऊपर की ओर संचार के कारण यहाँ का वातावरण शान्त रहता है। अतः भूमध्य रेखीय निम्न वायु भार की पेटी को शान्त पेटी या डोलड्रम के नामों से भी सम्बोधित करते हैं।

दोनों गोलार्द्ध में अयन रेखाओं के समीप 30° से 35° अक्षांशों के मध्य उच्च दाब की पेटियाँ हैं। भूमध्य रेखीय प्रदेश से ऊपर उठी हवा यहाँ आकर नीचे उतरती है जिसके कारण यहाँ सदा उच्च वायुदाब बना रहता है। इसके अतिरिक्त इन पेटियों पर परिभ्रमण का भी प्रभाव पड़ता है। अतः इनको 'गतिशील उत्प्रेरित पेटी' की संज्ञा दी जाती है। नीचे आती हुई वायु न केवल घनत्व में ही अधिक होती है, अपितु यह एक 'स्थिजिक दाब' का

भी सृजन करती है। वायु के नीचे की ओर लम्बवत दिशा के कारण वातावरण शान्त रहता है। अतः इन पेटियों को भी 'शान्त पेटियां' कहते हैं।

पुराने समय से ही 30° तथा 35° अक्षांशों के मध्य शान्त पेटी 'घोड़ा के अक्षांशों' के नाम से प्रचलित है।

उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्धों में 60° व 65° अक्षांशों के मध्य निम्न दाब की पेटियां पाई जाती हैं। 60° और 65° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण निम्नभार रहता है। अतः इन पेटियों को भी 'गतिशील उत्प्रेरित पेटियां' कहते हैं।

स्थानीय रूप से समुद्र की गर्म जलधाराओं का प्रभाव भी पड़ता है जिसके कारण तापमान ऊँचा हो जाता है तथा वायुदाब कम। इन पेटियों में कम वायुदाब के केन्द्र अधिकांश रूप से समुद्रों के ऊपर मिलते हैं। इन पेटियों के दोनों ओर उत्तर तथा दक्षिण में उच्च दाब की पेटियां स्थित हैं। अतः दो उच्च दाब की पेटियों के मध्य एक निम्न दाब की पेटी का होना स्वाभाविक ही है।

दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल के अभाव में महासागरों का बाधारहित विस्तार है। हिम आवृत अन्टार्कटिका के चारों ओर जल ही जल है। अतः उपध्रुवीय कम दाब की पेटी अनवरत रूप से फैली हुई है तथा स्पष्ट है। किन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीप और महासागरों के खण्डित रूप से फैले होने के कारण स्थिति विपरीत है। एक ओर उत्तरी अमेरिका, यूरोप, एशिया तथा ग्रीनलैंड के विशाल स्थल खण्ड हैं जहां महासागरों की अपेक्षा अधिक सर्दी पड़ती है जिससे अधिक वायुदाब पाया जाता है। दूसरी ओर महासागरों में जल गतिशील होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक गर्म रहते हैं जिसके कारण महाद्वीपों की तुलना में वायुदाब कम पाया जाता है। महाद्वीपों के छोटे क्षेत्रों में जैसे—आइसलैंड तथा एल्यूशियन द्वीपों में कम वायुदाब के केन्द्र हैं।
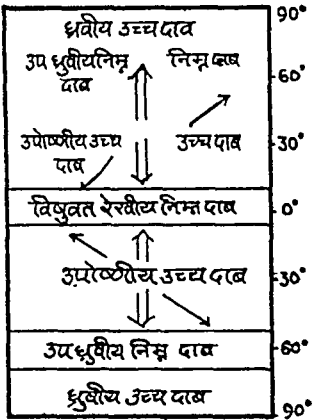
चित्र 22·4 वायु दाब का अक्षांशीय वितरण
→ वायु की दिशा, ⇒ वायु दाब प्रवणता

उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों पर सूर्य की तिरछी किरणों के कारण वर्ष भर तापमान हिमांक से नीचा रहता है। अतः हवा भारी और सघन हो जाती है जिसके कारण वर्ष भर वायुदाब उच्च बना रहता है। यह पेटी 80° से 90° अक्षांशों के मध्य स्थित है क्योंकि यह केवल तापजन्य है, अतः ये तापीय उत्प्रेरित पेटी कहलाती हैं।

जल और स्थल के असमान वितरण के कारण वायुदाब की ये पेटियां समान आकार की न होकर कुछ परिवर्तित रूप में पायी जाती हैं। स्थल जल की अपेक्षा शीघ्र गर्म और शीघ्र ठण्डा हो जाता है। अतः उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल और जल के जटिल विस्तार के कारण वायुदाब की पेटियां अनेक स्थानों पर टूट जाती हैं। किन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में जलराशि के अधिक विस्तार के कारण ऐसा कम होता है। वायुदाब की पेटियां तापीय

चित्र 22·5 समवायुदाब रेखाएँ. जुलाई (मिलीबार में)
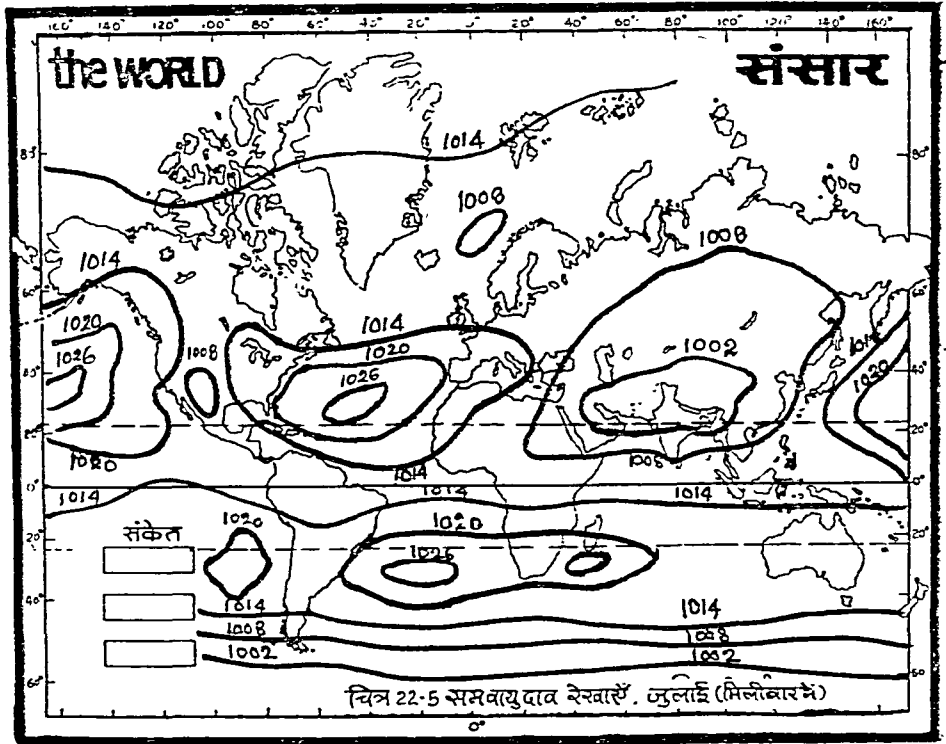
पेटियों के साथ गर्मियों में उत्तर की ओर तथा शीत ऋतु में दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलवर्ती भाग ग्रीष्म ऋतु में कम वायुदाब और शीत ऋतु में अधिक वायुदाब के केन्द्र बन जाते हैं। वायुदाब की पेटियों का अक्षांशीय स्थानान्तरण जलवर्ती भागों की अपेक्षा स्थलवर्ती भागों में अधिक होता है।

हवायें

गतिशील वायु हवा या पवन कहलाती है। वायुदाब के क्षैतिज असमान वितरण या घनत्व की विभिन्नता के कारण पवन चलती है। फिन्च तथा ट्रीवार्था के अनुसार—पवन प्रकृति का वह प्रयत्न है जिसके द्वारा वायुदाब की असमानता दूर होती है। उच्च तथा निम्न अक्षांशों में अन्तर होते हुए भी तापीय सन्तुलन बनाए रखने का उत्तरदायित्व पवन का है।

हवाओं की क्षैतिजीय गतियाँ

वायुभार प्रवणता दाब शक्ति का क्षैतिजीय घटक है। वायुदाब का क्षेत्रीय अन्तर तापीय या गति प्रेरित अथवा बलाकृत होता है। समदाब रेखाओं के तीव्र प्रवणता वाले भाग में पवन की गति तीव्र तथा साधारण प्रवणता वाले भाग में मन्द हो जाती है। जिस ओर से पवन आती है उस दिशा का पहाड़ी ढाल 'पवनाभिमुख' तथा दूसरी ओर का 'पवनविमुख' कहलाता है। पवन को उसी दिशा का नाम दिया जाता है जिस दिशा से वह

चित्र 22·6 समवायुदाब रेखाएँ - जनवरी (मिलीबार में)
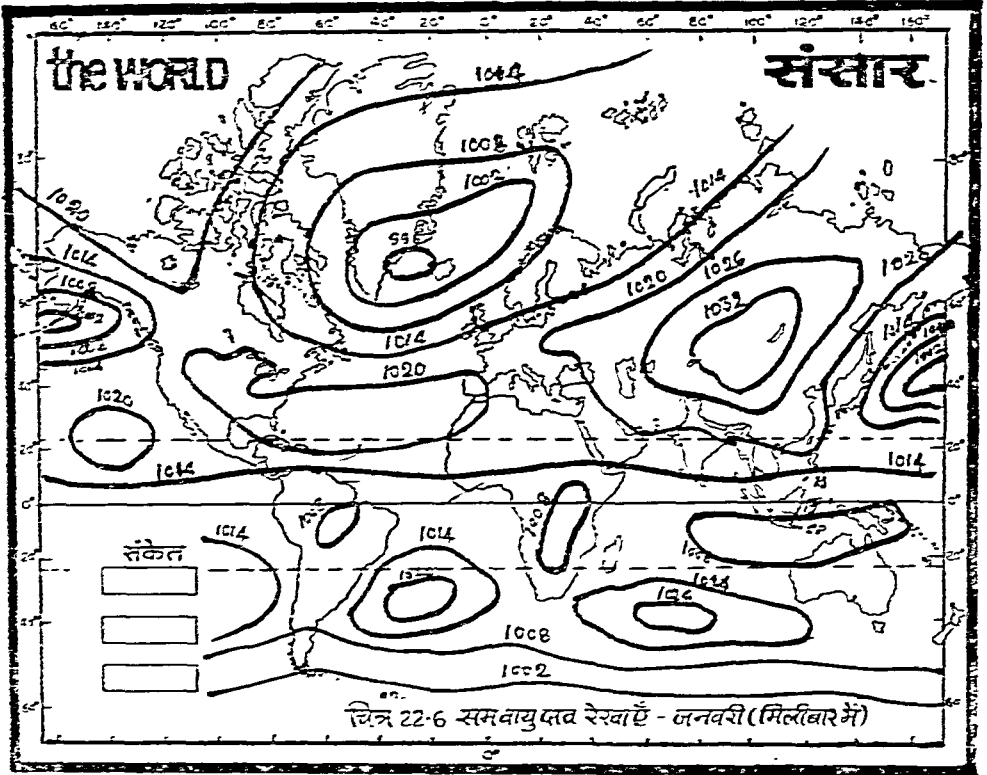
आती है अर्थात् पश्चिम से आने वाली 'पछुवा' और पूर्व से आने वाली 'पूर्वी' पवन कहलायेंगी।

पृथ्वी की परिभ्रमण गति तथा हवाओं की दिशा

सामान्यतः पवन को उच्च दाब से न्यून दाब की ओर सीधा चलना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता तथा पवन सीधी न चलकर कुछ वक्रित हो जाती हैं। यदि पृथ्वी पर केवल जल ही जल होता या समान धरातल होता और पृथ्वी परिभ्रमण न करती तो यह सम्भव था कि पवन सीधा मार्ग अपनाती। किन्तु पृथ्वी की परिभ्रमण गति द्वारा कोरियोलिस बल उत्पन्न होता है जो पवन को अपने सीधे मार्ग से विचलित कर देते हैं तथा इनकी दिशा में झुकाव पैदा हो जाता है।

हेडले के अनुसार पश्चिम से पूर्व की ओर भ्रमण करती पृथ्वी भूमध्यरेखा पर 1600 किमी. प्रति घन्टा की गति बनाए रखती है जो ध्रुवों की ओर शनैः-शनैः कम होती जाती है। यह गति 60° अक्षांशों पर 800 किमी. प्रति घन्टा तथा ध्रुवों पर शून्य हो जाती है। पवन जब भू-मध्य रेखा से ध्रुवों की ओर अर्थात् तीव्र गति वाले स्थान से कम वाले स्थान की ओर चलती है तो वह निर्धारित स्थान से आगे निकल जाती है जिसके कारण उसमें झुकाव पैदा हो जाता है। इसी प्रकार जब पवन मन्द गति वाले ध्रुवों की ओर से भू-मध्य रेखा की ओर तीव्र गति वाले स्थानों की ओर चलती है तो अभीष्ट स्थान पीछे छूट जाता है तथा पवन की दिशा में विचलन पैदा हो जाता है।

भूमध्यरेखा से उत्तरी ध्रुव की ओर जब वायु 'क' स्थान से 'ख' की ओर चलती है तो पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण वह क' ख' की बजाय 'घ' पर पहुंच जायेगी।
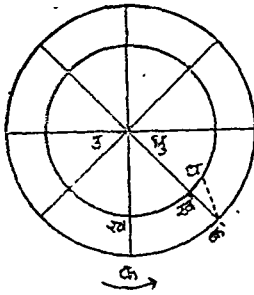
चित्र 22·7 हेडले द्वारा दक्षिणी पवन के विचलन का स्पष्टीकरण
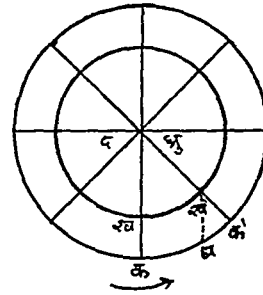
चित्र 22·8 हेडले द्वारा उत्तरी पवन के विचलन का स्पष्टीकरण

इसी प्रकार ध्रुव की ओर से आने वाली उत्तरी पवन 'ख' से 'क' स्थान की ओर चलेगी किन्तु 3 घन्टे में क' स्थान तक पहुँचने के बजाय 'घ' पर पहुंचेगी अर्थात् अपने निर्धारित स्थान से पीछे रह जायेगी जिसके फलस्वरूप उसका भी झुकाव अपने से दायीं ओर हो जायेगा। दोनों ही स्थितियों में वायु अपने निर्धारित मार्गों से विचलित हो कर दायीं ओर मुड़ जाती है। इसी प्रकार दक्षिणी गोलार्द्ध में यह विचलन बायीं ओर होगा।
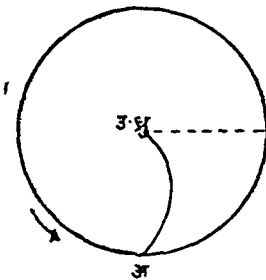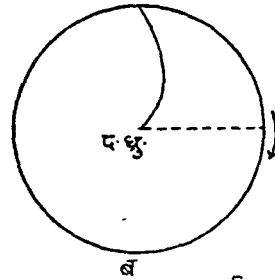
चित्र 22·9 उत्तरी गोलार्द्ध चित्र 22·10 दक्षिणी गोलार्द्ध

चित्र 22.10 उत्तरी गोलार्द्ध का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें वक्रता दाहिनी ओर होगी जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध (चित्र 22.11) में वक्रता विपरीत दिशा अर्थात् बायीं ओर होगी।

गणितज्ञों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अपकेन्द्रीय बल के कारण हवाओं का झुकाव हेडले के बतायें झुकाव से कहीं अधिक होगा।

फैरल ने कोरिओलिस शक्ति को आधार मानकर पवनों के निक्षेप के सम्बन्ध में अपने नियम का प्रतिपादन किया। गणितज्ञ कोरिओलिस ने इफिल टावर से गेंद फेंक कर पृथ्वी की परिभ्रमण गति को प्रमाणित करते हुए यह सिद्ध किया कि वायुमण्डल भी पृथ्वी के साथ घूमता है। परिभ्रमण के कारण अपकेन्द्रीय बल उत्पन्न होता है जिसके कारण पृथ्वी पदार्थों को अपने से दूर फैंकती है। इस शक्ति को दूसरे शब्दों में कोरिओलिस बल भी कहते हैं। इस शक्ति के विपरीत अपकेन्द्री बल कार्य करता है जो पदार्थों को पृथ्वी के केन्द्र की ओर

खींचता है। गुरुत्वाकर्षण केन्द्रमुखी होते हुए स्थैतिक है जबकि अभिकेन्द्री बल केवल केन्द्र मुखी है। यह गतिमान पदार्थ के लिए लागू होता है। किन्तु पवन जैसे हल्के तथा गतिशील पदार्थ पर कोरिओलिस शक्ति का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है इससे पवनों की दिशा में विक्षेप उत्पन्न हो जाता है।

भूमध्यरेखा पर पृथ्वी की परिभ्रमण गति सर्वाधिक होती है जो दोनों गोलार्द्धों में अक्षांशों के साथ ध्रुवों की ओर घटती जाती है। अतः उत्तरी गोलार्द्ध में भूमध्यरेखा की ओर से अधिक वेग से गति करती हुई हवायें जब ध्रुव की ओर अपेक्षाकृत कम वेग से परिभ्रमण करते हुए भागों में पहुंचती हैं तो वह अपने गंतव्य स्थान पर न पहुँच कर कुछ आगे बढ़ जाती हैं तथा अपने से दाहिनी ओर मुड़ जाती हैं। इसी प्रकार ध्रुवों की ओर से कम वेग के परिभ्रमण क्षेत्र से पवन जब भूमध्यरेखा की ओर प्रवाहित होती हैं तो वह अपने गंतव्य स्थान पर न पहुँच कर कुछ पीछे रह जाता है और अपने दाहिनी ओर मुड़ जाता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थिति इसके विपरीत होती है अर्थात् पवन अपने बायीं ओर मुड़ जाता है। कोरिओलिस शक्ति विक्षेप बल को जन्म देती है जिसके फलस्वरूप पवन अपने मार्ग से विचलित हो जाता है। इसी आधार पर फैरल ने नियम बनाया कि "उत्तरी गोलार्द्ध में पवन अपने दाहिनी ओर और दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर मुड़ जाते हैं।" अर्थात् उत्तरी गोलार्द्ध में पवनों की दिशा दक्षिणावर्त तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में वामावर्त होते हैं।
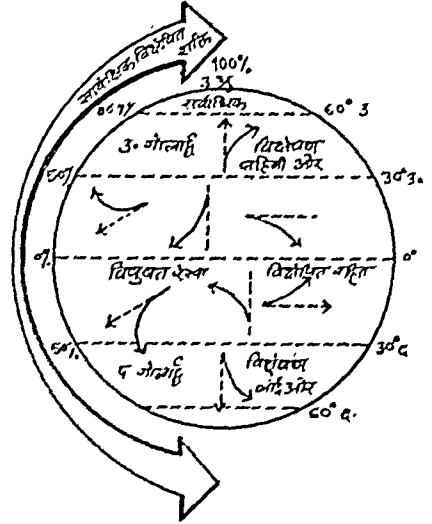
चित्र 22·11 पृथ्वी के परिभ्रमण द्वारा उत्पन्न विक्षेपित शक्ति

बाइस बैलट ने कोरिओलिस शक्ति तथा फैरल के नियम के आधार पर एक नये नियम का प्रतिपादन किया कि यदि "उत्तरी गोलार्द्ध में एक प्रेक्षक पवन की दिशा की ओर पीठ करके खड़ा हो जाय तो उसकी बायीं ओर की अपेक्षा दायीं ओर वायुदाब अधिक होगा। ठीक इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर की अपेक्षा बायीं ओर वायुदाब अधिक होगा।" उच्च दाब से निम्न दाब की ओर बहते पवन की दिशा मौलिक रूप से समभार रेखाओं के लम्बवत होता है किन्तु पृथ्वी की परिभ्रमण गति तथा कोरिओलिस शक्ति के कारण पवन उत्तरी गोलार्द्ध में अपने से दाहिनी ओर मुड़ जाता है जिसके कारण दाहिनी ओर उच्च एवं बायीं ओर निम्न दाब विद्यमान रहता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में ठीक इसके विपरीत स्थिति होती है। यदि प्रेक्षक पवन की दिशा की ओर पीठ करके खड़ा होगा तो वह वायु की दिशा को ही प्रदर्शित करेगा।

भूव्यावर्त्ती पवनें

ऊँचाई के साथ-साथ भूव्यावर्त्ती शक्ति कम हो जाती है। 500 मीटर की ऊँचाई के पश्चात् पवनों का धरातल के साथ घर्षण लगभग शून्य हो जाता है जिसके कारण विक्षेपित बल कम हो जाता है। अतः दाब प्रवणता तथा कोरिओलिस शक्ति लगभग समान

हो जाती है। फलस्वरूप इन शक्तियों के मध्य हवायें अपनी सन्तुलित अवस्था बनाये रखती हैं। इस सन्तुलित शक्ति को भूव्यावर्ती शक्ति कहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में उच्च तथा निम्न वायुभार केन्द्र हवाओं के क्रमशः दायीं तथा बायीं ओर रहते हैं। अतः दाब प्रवणता तथा कोरिओलिस शक्ति एक दूसरे के विपरीत दिशा में कार्य करती हुई पवन को सन्तुलित अवस्था में रखते हैं जिसके परिणामस्वरूप पवन समभार रेखाओं के समानान्तर चलने लगती है। पवन का भूव्यावर्त्ती सन्तुलन अत्यन्त मन्द गति से होता है।
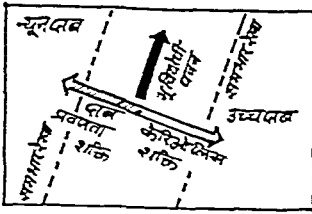
चित्र 22·12. उत्तरी गोलार्द्ध में 500 मीटर ऊँचाई से अधिक वायुमण्डल में भूव्यावर्ती पवन

हवाओं के प्रकार

पवन तापमान के असमान वितरण एवं दाब प्रवणता के कारण उत्पन्न होती हैं। पृथ्वी पर उच्च एवं न्यून वायुदाब की पेटियाँ स्थायी हवाओं को जन्म देती हैं जो वर्ष भर निरन्तर बहती हैं, जैसे व्यापारिक, पछुवा तथा ध्रुवीय पवन। इसके अतिरिक्त ऋतु परिवर्तन, दिन और रात तथा जल और स्थल के असमान ताप और दाब के कारण नियतकालिक या सामयिक पवन जन्म लेते हैं। उदाहरणार्थ ऋतु परिवर्तन के कारण मानसून, जल और स्थल के तापमान के असमान वितरण के कारण समुद्री एवं स्थल समीरें और रात-दिन के तापमान की विषमताओं के कारण घाटी और पर्वत समीर चला करती हैं। तीसरे प्रकार के पवन स्थानीय अनियतकालिक पवन कहलाते हैं जो धरातलीय संरचना तथा आकार की विषमता, स्थानीय अवरोध तथा अस्थाई दाब प्रवणता के कारण पैदा होते हैं। ये गर्म, गर्म शुष्क एवं ठण्डे हुआ करते हैं।
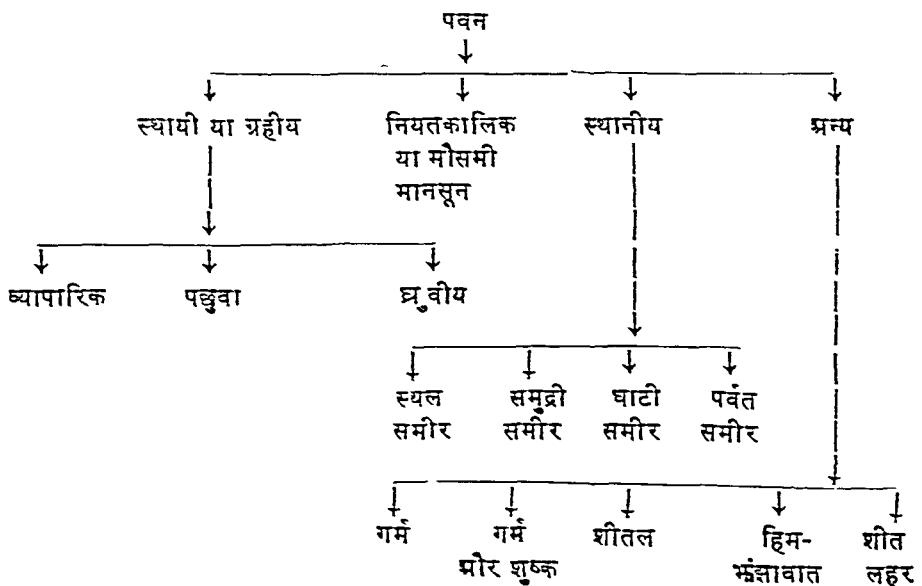
पृथ्वी पर प्रचलित स्थायी पवन को ग्रहीय पवन भी कहते हैं। पृथ्वी एक ग्रह है जिस पर सदा अविरल रूप से चलने वाले पवन को ग्रहीय पवन की संज्ञा दी गई है। स्थायी पवन तीन प्रकार की होते हैं—व्यापारिक या सन्मार्गी, पछुवा तथा ध्रुवीय।

व्यापारिक पवन दोनों गोलार्द्धों में अयनरेखीय उच्च वायुदाब अर्थात् 30°–35° श्राक्षांशों की पेटी से भूमध्यरेखीय निम्न वायुदाब की पेटी की श्रोर 5° या 10° अक्षांशों तक निश्चित एकरूपता से समान मार्ग या दिशा में अविचलित रूप से चला करते हैं। अतः इनको संमार्गी पवन भी कहते हैं। फैरल के नियम के अनुसार उत्तरी गोलार्द्ध में इनकी दिशा उत्तर-पूर्व श्रौर दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण-पूर्व होती है। अन्य पवन की अपेक्षा व्यापारिक पवन अधिक नियन्त्रित रूप से चलते हैं। प्राचीन काल में पालदार जहाजों द्वारा इन्हीं पवनों के सहारे व्यापार किया जाता था। अतः उसी समय से इनको व्यापारिक पवनों की संज्ञा दीजाने लगी। स्थल की तुलना में समुद्रों पर सामान्यतः इनकी गति तीव्र एवं अधिक निश्चित होती है। शीत ऋतु में इनका वेग श्रौर भी बढ़ जाता है। किन्तु सामान्यतः इनकी गति 16 से 24 किमी. प्रति घन्टा होती है।

हेडले के अनुसार 'तापीय चलित संचार कोशिका' विषुवत रेखा से 30° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों तक फैली हुई है। विषुवत रेखा पर उच्च ताप के कारण वायु का उर्ध्वाधर संचार होता है। ऊँचाई पर वायु ध्रुवों की श्रोर प्रवाहित होकर 30° उत्तरी तथा 30° दक्षिणी अक्षांशों पर उतरती है तथा धरातलीय प्रवाह विषुवत रेखा की श्रोर हो जाता है। उपोष्ण कटिबन्ध में पवनों के नीचे उतरने के कारण ये शुष्क हो जाती हैं तथा
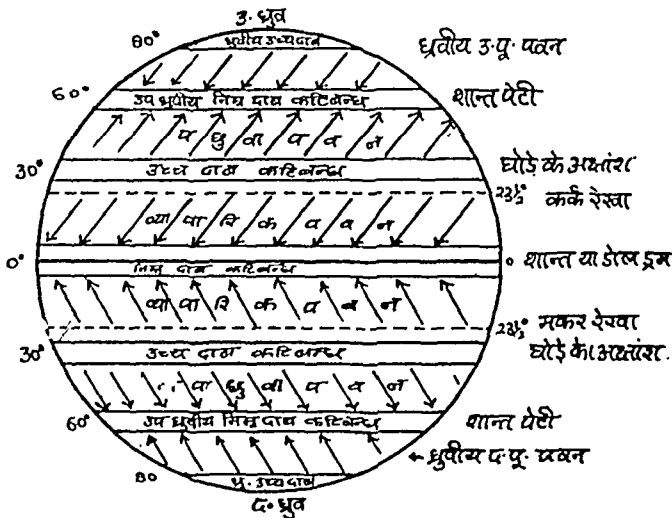
चित्र 22.13 पृथ्वी पर वायु दाब पेटियां एवं स्थायी पवन

प्रतिचक्रवातीय मौसम हो जाता है। ग्रीष्म ऋतु में दक्षिण-पूर्व एशिया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के विषुवत रेखा के समीप वाले भागों में निम्न वायुदाब उत्पन्न हो जाने के कारण इन भागों में व्यापारिक पवनें चलना बन्द हो जाती हैं। इसके विपरीत समुद्र से स्थल की श्रोर मानसून हवायें चलना प्रारम्भ हो जाती हैं। शीतकाल के प्रारम्भ होने के साथ ही साथ व्यापारिक पवनें पुनः चलना प्रारम्भ कर देती हैं।

पछुवा हवायें अयन रेखीय उच्चदाव 30° से 35° अक्षांशों से उप-ध्रुवीय न्यून दाव 60° से 65° अक्षांशों तक दोनों गोलार्द्धों में स्थायी रूप से चलती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में इनकी दिशा दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर-पश्चिम होती है। पश्चिम की ओर चलने के कारण ये पछुवा पवन कहलाती हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में समुद्र के अधिक विस्तार के कारण 40° अक्षांश पर अवरोधरहित तीव्र गति से चलते हैं। तीव्र वेग से चलने के कारण यह शक्तिशाली हो जाती हैं तथा चलते समय ध्वनि करते हैं। अतः इनको 'वीर पछुवा पवन' तथा 'गरजता हुआ चालीसा' कहते हैं। इनको 50° अक्षांश पर 'प्रचड़ पचासा' और 60° के समीप 'चीखता साठा' भी कहते हैं।

पछुवा पवन के मार्ग में अनेक न्यून और उच्च वायुदाब की गिराएँ आती हैं। अतः व्यापारिक पवनों की अपेक्षा यह अधिक परिवर्तनशील हैं। इनकी दिशा एवं गति दोनों ही अनियमित रहती हैं। कभी ये मन्द गति से चलती हैं तो कभी, विशेष रूप से शीत ऋतु में, प्रचण्ड रूप धारण कर लेती हैं। शीत ऋतु में मध्याक्षांशीय भू-खण्ड अत्यधिक ठण्डे हो जाते हैं जिसके कारण वायुदाब बढ़ जाता है जो इनके नियमित प्रवाह में बाधक सिद्ध होता है।
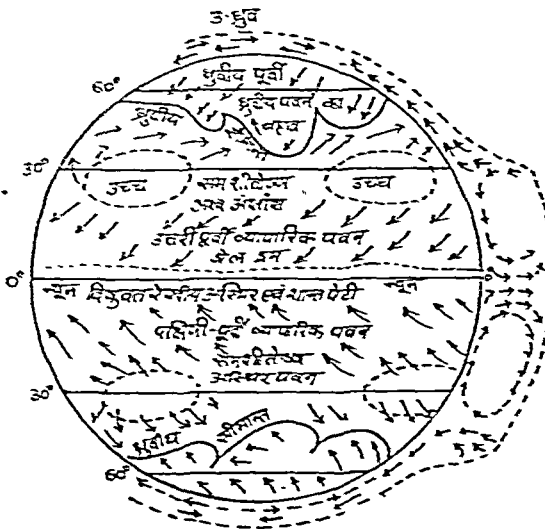
चित्र 22.14 वायुदाब कोशिकाएँ तथा पवन के ऊर्ध्वाधर क्षैतिज प्रवाह की जटिलता

इस प्रदेश में चक्रवात और प्रतिचक्रवात आने के कारण भी पछुवा पवन की प्रवाह दिशा प्रभावित होती है। विशेषकर इन पवनों की ध्रुवीय सीमाओं पर वायुमण्डल अधिक अशांत रहता है। पछुवा पवन के प्रदेशों में महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर वर्ष भर वर्षा होती है जबकि पूर्वी तटीय भाग शुष्क रहते हैं क्योंकि यहाँ ये अपतटीय पवनें होते हैं।

उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों में 80°–90° अक्षांशीय उच्च दाब वाले क्षेत्रों से उपध्रुवीय न्यूनदाब वाली पेटियों की ओर 'ध्रुवीय पवन' वर्षभर निरन्तर चला करते हैं। ध्रुवीय प्रदेश से आने के कारण इनको ध्रुवीय पवन कहा जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में इनकी दिशा उत्तर-पूर्व और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण-पूर्व होती है। ध्रुवीय एवं पछुवा पवनों के मध्य के क्षेत्र में सदा अशान्त वातावरण तथा अनिश्चितता की स्थिति बनी रहती

है। ध्रुवीय पवनें अत्यन्त ठण्डी तथा वेगवान होती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में प्रचण्ड गति से चलने वाली पवन को नॉर-ईस्टर कहा जाता है। यहाँ ध्रुव के समीप स्थल खण्डों के निकट आ जाने से दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा इनकी व्यवस्था में अपेक्षाकृत अधिक जटिलता आ गई है। किन्तु ध्रुवों के आन्तरिक भागों में उच्चदाब के कारण सदा शान्त वातावरण बना रहता है। ध्रुवीय उच्च वायुभार पूर्णरूप से स्थायी नहीं है। यह उत्तरी अटलान्टिक तथा उत्तरी प्रशान्त महासागर के दूर तक फैले हुए चक्रवातों के साथ-साथ उत्तर तथा दक्षिण की ओर पलायन करता रहता है। अतः जब कभी ध्रुवीय पवनें चक्रवातों के प्रभाव में आ जाते हैं तो उग्र रूप धारण कर लेते हैं।

पवनों की पेटियों के स्थानान्तरण से जलवायु प्रभावित होता है। वायुदाब एवं पवनों की पेटियाँ सूर्य का अनुसरण करती हैं। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य कर्क रेखा तक और शीत ऋतु में मकर रेखा तक परिभ्रमण करता है। इस प्रकार सूर्य के कभी उत्तरायण और कभी दक्षियणान होने के फलस्वरूप वायुदाब और पवनों की पेटियाँ ग्रीष्म ऋतु में उत्तर की ओर और शीत ऋतु में दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। महासागरों पर यह पेटियाँ महाद्वीपों को अपेक्षा कम खिसकती हैं। किन्तु महाद्वीपों की स्थल रचना और वार्षिक तापान्तर के कारण स्थायी पवनों की व्यवस्था में व्यवधान पैदा हो जाता है जिसके कारण महाद्वीपों पर इन पेटियों के खिसकने की क्रिया का अधिक आभास नहीं होता। पवन पेटियों के खिसकने के कारण एक क्षेत्र में वर्ष में दो तरह के पवन प्रभाव में आते है, जलवायु की दृष्टि से पवन पेटियों का उत्तर तथा दक्षिण की ओर खिसकना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ऐसे भाग जो भिन्न पवन और असमान तापमान वाली वायुराशियों के मध्य स्थित हैं विशेष प्रकार से प्रभावित होते हैं। दोनों गोलार्द्धों में ऐसे तीन प्रदेश हैं जो पवनों के स्थानान्तरण से प्रभावित होते हैं—

(1) विषुवत रेखा के दोनों ओर 5° से 15° अक्षांशों के मध्य के भाग ग्रीष्म ऋतु में विषुवत रेखीय शान्त पेटी में तथा शीतऋतु में व्यापारिक पवनों के प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है। यह भाग एक ओर तो विषुवत रेखीय आर्द्र और दूसरी ओर शुष्क व्यापारिक पवन मध्य में स्थित है। अतः ग्रीष्म में आर्द्र और ऋतु में शुष्क व्यापारिक पवन चलती हैं। इस प्रकार वर्ष में यहाँ दो तरह के मौसम होते हैं।

(2) 30° और 40° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ वर्ष में दो ऋतुएँ होती हैं। यह भाग ग्रीष्म काल में उच्च वायुदाब की शान्त पेटी अथवा व्यापारिक पवन तथा शीतकाल में पछुआ पवन के प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है। इस प्रकार यहाँ ग्रीष्म ऋतु शुष्क और शीत ऋतु में वर्षा होती है। महाद्वीपों के पूर्वी भागों की अपेक्षा पश्चिमी तटीय भागों में पेटी के खिसकने का पूरा प्रभाव होता है तथा 'भू-मध्य सागरीय जलवायु' का जन्म होता है।

(3) 60° और 70° अक्षांशों के मध्य के प्रदेशों में एक ओर तूफानी पवन और दूसरी ओर ठण्डी ध्रुवीय पवनों का प्रभाव होता है। इस पेटी में शीतकाल में ठण्डे ध्रुवीय पवन और ग्रीष्म ऋतु में उष्ण दक्षिणी-पश्चिमी पवन चलते हैं। इस पेटी में लगभग वर्ष भर चक्रवात आते रहते है। अतः इसके खिसकने का प्रभाव कुछ कम हो जाता है।

पेटियों के खिसकने का विशेष प्रभाव विषुवत रेखा के समीप के क्षेत्रों पर पड़ता है। ग्रीष्म काल में वायुदाब की पेटी उत्तर को खिसक जाती है। अतः पवन पेटियाँ भी उत्तर में खिसक जाती हैं। अतः दक्षिणी गोलार्द्ध के व्यापारिक पवन विषुवत रेखा को पार कर लेते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में इनकी दिशा दक्षिण-पूर्व होती है। किन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में प्रवेश
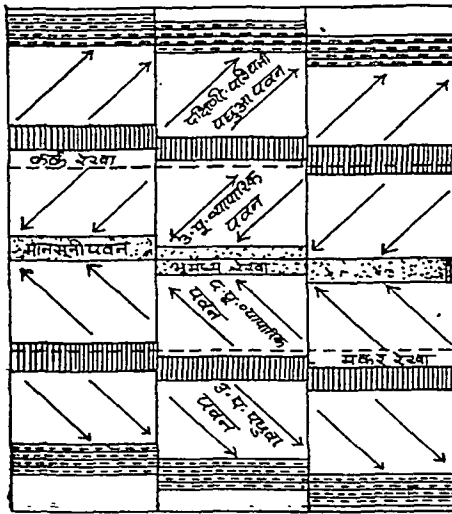
चित्र 22.15 वायुदाब की पेटियों का मौसमी स्थानान्तरण

करते ही इनकी दिशा में परिवर्तन आ जाता है तथा यह दक्षिण-पश्चिम हो जाती हैं। शीत ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध की सभी पवन-पेटियाँ दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। इसी प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध की व्यापारिक पवन की दिशा विषुवत जो रेखा को पार करने से पूर्व उत्तर-पूर्व होती है, दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर-पश्चिम हो जाती है।

नियतकालिक या मौसमी पवन स्थानीय रूप से वायुदाब की प्रवणता, जल और थल के असमान वितरण, धरातल की असमान ऊँचाई तथा दो विभिन्न ताप की वायु राशियों के मिश्रण से उत्पन्न होते हैं।

वे पवन जो किसी निश्चित समय या ऋतु में एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर प्रवाहित होते हैं, नियतकालिक, सामयिक या मौसमी पवन कहलाते हैं।

मानसून— ये पवन किसी विशेष ऋतु में किसी एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर प्रवाहित होती हैं। मानसून शब्द अरबी भाषा के मौसिम शब्द से लिया गया है जिसका शाब्दिक अर्थ मौसम या ऋतु है। इस शब्द (मानसून) का प्रयोग सर्व प्रथम अरब सागर पर चलने वाली पवनों के लिए किया गया था। सामान्यतः मानसून बड़े पैमाने पर स्थलीय एवं सागरीय समीर हैं जो ग्रीष्म ऋतु में समुद्र से स्थल और शीत ऋतु में स्थल से समुद्र की ओर चला करती हैं।

मानसून की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो विचारधारायें—तापीय तथा गतिक प्रचलित हैं।

तापीय विचारधारा परम्परागत विचारधारा है किन्तु आज भी यह अपने महत्त्व को बनाए हुए है। इसके अनुसार मानसून का जन्म स्थल एवं समुद्र की तापीय विषमताओं के

कारण होता है। पृथ्वी पर जल और थल के असमान वितरण के फलस्वरूप तापीय विषमता तथा दाब प्रवणता उत्पन्न होती है। ग्रीष्म ऋतु में समुद्र की अपेक्षा स्थल अधिक गर्म हो जाता है जिसके कारण स्थान-स्थान पर न्यून दाब की कोशिकाएँ पैदा हो जाती हैं जबकि समुद्र पर उच्च दाब की कोशिकाएँ विद्यमान रहती हैं। परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर समुद्र की ओर से आर्द्र पवन न्यून वायुदाब के क्षेत्रों की ओर प्रेरित होते हैं। मार्ग में धरातलीय बाधा आ जाने या अपने से ठण्डी वायु के सम्पर्क में आने से मानसून के द्वारा वर्षा होती है। यह ग्रीष्मकालीन मानसून कहलाती है। ठीक इसके विपरीत शीत ऋतु में स्थल पर उच्च और समुद्र में न्यून दाब पैदा हो जाता है जिसके फलस्वरूप शीतकाल में स्थल से समुद्र की ओर शुष्क पवन चलते हैं जो शीतकाल के शीतकालीन मानसून के नाम से जानी जाती हैं।

कर्क और मकर रेखाओं के निकट, जहाँ स्थल और जल का विस्तृत क्षेत्र फैला हुआ है, मानसून का जन्म होता है। ग्रीष्म ऋतु में संवाहनीय पवन सागर से ऊपर उठ कर महाद्वीपों की ओर आकर्षित होते हैं तथा बाधा आ जाने अथवा संघनन के कारण वर्षा करते हैं।

यों तो संसार में उत्तर-पूर्वी आस्ट्रेलिया, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका, मैक्सिको की खाड़ी तथा मध्य अमेरिका में बड़े पैमाने पर ग्रीष्म ऋतु में समुद्र से स्थल और शीत ऋतु में स्थल से समुद्र की ओर मानसून जैसे ही पवन चलते हैं, किन्तु दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों के लिए इसका सर्वाधिक महत्त्व है। वास्तव में मानसून शब्द भी इन्हीं देशों के लिए प्रचलित है। तापीय विचारधारा के अन्तर्गत ऋतु परिवर्तन के साथ दो तरह के—ग्रीष्मकालीन मानसून तथा शीतकालीन मानसून पैदा होते हैं।
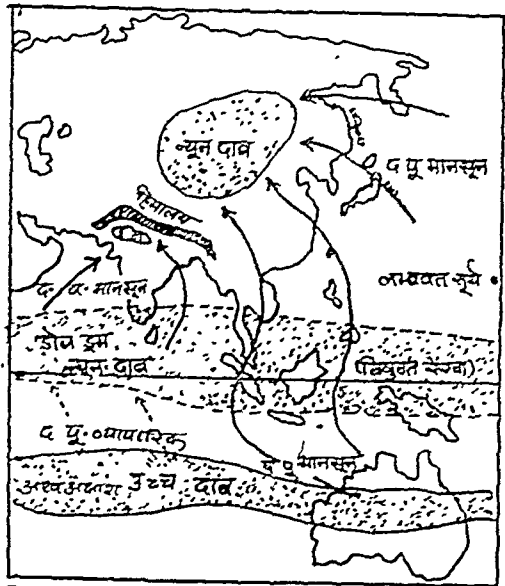
चित्र 22·16 जुलाई का मानसून (ग्रीष्मकालीन मानसून)

जैसे-जैसे ग्रीष्म ऋतु आती है, स्थल भाग शीघ्र गर्म होने लगता है। जब सूर्य कर्क रेखा पर लम्बवत चमकता है तो उत्तरी गोलार्द्ध के मानसूनी प्रदेशों में तथा विशेषकर

दक्षिणी-पूर्वी एशिया के भागों में निम्न वायुदाब की कोशिकाएं अत्यन्त प्रबल हो जाती हैं। निम्न भार के यह शक्तिशाली क्षेत्र समुद्र की ओर से आर्द्र पवनों को आकर्षित करते हैं। अत: मानसून की विशालता के कारण हिन्दमहासागर के व्यापारिक पवन भी मानसूनी पवन में परिवर्तित हो जाते हैं। भारत में ग्रीष्म ऋतु की मानसून की दिशा दक्षिण-पश्चिम होती है क्योंकि इस ऋतु में पवन समुद्र से स्थल की ओर चलते हैं इसलिए मानसूनी प्रदेशों में वर्षा होती है।

शीत ऋतु के प्रारम्भ होते ही स्थल खण्ड शीघ्र ठण्डे होने लगते हैं जबकि समुद्रों में ग्रीष्मकालीन ताप विद्यमान रहता है। अत: स्थलीय भागों की न्यूनदाब की विशाल कोशिकाएं उच्च दाब में परिवर्तित हो जाती हैं तथा समुद्रों में न्यून दाब उत्पन्न हो जाता है। फलस्वरूप शीत ऋतु में बड़े पैमाने पर पवन स्थल खण्डों से समुद्र की ओर चलते हैं। इस ऋतु में एशिया के थार और गोबी मरुस्थलों में उच्च वायुदाब की विशाल कोशिकाएं विद्यमान रहती हैं जबकि हिन्द महासागर में न्यून वायुदाब रहता है। अत: मानसून एशिया से बाह्यमुखी शुष्क पवन के रूप में हिन्द महासागर की ओर चलते हैं। शीत ऋतु में इनकी दिशा उत्तर-पूर्वी होती है।
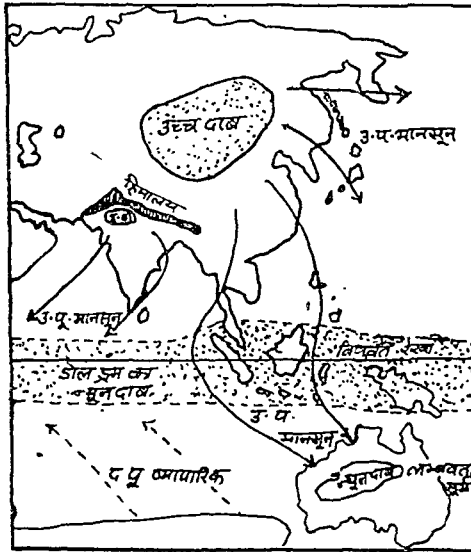
चित्र 22.17 · जनवरी का मानसून (शीतकालीन मानसून)

मानसून की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नवीन विचारधारा 'गतिक शक्ति' पर आधारित है। फ्लॉन के अनुसार मानसून की उत्पत्ति के संदर्भ में ताप तथा वायुदाब का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं हैं।

ऋतु मानचित्रों के अध्ययन से विदित होता है कि मानसून पवन सदा अस्थिर तथा अनिश्चित अवस्था में रहते हैं तथा कभी-कभी अकस्मात ही इनकी गति में परिवर्तन आ जाता है। स्थल खण्डों पर ग्रीष्म ऋतु में उच्च तापमान रहते हुए भी कभी-कभी मानसून प्रवाह नहीं होता। अत: निष्कर्ष निकलता है कि तापमान की विषमता और वायुदाब

की प्रबलता ही मानसून की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी नहीं है। इसके अतिरिक्त भी एक अन्य शक्ति—उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात जो मौसम में अकस्मात परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं तथा वर्षा लाते हैं, यह कार्य करते हैं।

यदि मानसून केवल दाब से ही नियन्त्रित होती तो इसकी गति में कुछ सीमा तक स्थिरता होती किन्तु ऐसा नहीं होता। वायु की गति में अचानक परिवर्तन, कभी स्वच्छ और खुला आकाश, कभी चमक और गरज के साथ भारी वर्षा आदि इस तथ्य के द्योतक हैं कि मानसूनी वर्षा में वायुमण्डलीय झंझावातों, चक्रवातों तथा संवाहनीय धाराओं का योगदान है।

मानसूनी प्रदेशों के निम्नदाब-क्रम अपने स्थान को निरन्तर परिवर्तित करते रहते हैं। ग्रीष्मकाल में तो अनेक मानसूनी चक्रवात सागरों में ही पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं जो मानसूनी प्रदेशों की जलवायु को प्रभावित करते हैं। अतः यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि मानसून स्थल और समुद्र की ताप विषमताओं के कारण ही जन्म लेती है।

यदि मानसून तापजन्य होती तो इसके ऊपर विपरीत दिशा में वायु प्रवाह होता जैसा कि व्यापारिक पवन के ऊपर प्रति व्यापारिक पवन का प्रवाह होता है। किन्तु ऐसी बात देखने को नहीं मिलती। इससे यह सिद्ध होता है कि चक्रवात और व्यापारिक पवन के योगदान से मानसून का जन्म होता है। कुछ विद्वान मानसून पवन को व्यापारिक पवन के ही रूप में मानते हैं।

उपरोक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ पवन पेटियाँ अपने स्थान से उत्तर या दक्षिण को नहीं खिसकतीं तो मानसून का आविर्भाव नहीं होता। ग्रीष्म ऋतु में ये पेटियाँ उत्तर की ओर और शीत ऋतु में दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। ग्रीष्म ऋतु में व्यापारिक पवन भूमध्य रेखा को पार करके उत्तरी गोलार्द्ध में प्रवेश करते हैं तथा फैरल के नियमानुसार अपने से दाहिनी ओर मुड़कर दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार फ्लॉन के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में "उत्तरी अन्तर उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण" उत्पन्न होता है जिसके कारण मानसून का आविर्भाव होता है तथा मानसूनी प्रदेशों में भारी वर्षा होती है। इसके विपरीत शीत ऋतु में "दक्षिणी अन्तर उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण" पैदा होकर दक्षिणी गोलार्द्ध के मानसूनी प्रदेशों को प्रभावित करता है। पृथ्वी पर जिन भागों में दो पवन मिलते हैं अर्थात् उनका अभिसरण होता है तो वर्षा होती है। विद्वानों का मत है कि ग्रीष्म ऋतु में व्यापारिक एवं पछुवा पवन मिल कर उष्ण कटिबन्धीय कम दाब वाले चक्रवातों को उत्पन्न करते हैं जो मानसून का ही रूप है। वायु की पेटियों के उत्तर की ओर खिसकने के कारण निम्न भार का क्षेत्र मानसूनी प्रदेशों की ओर विस्तृत होकर मानसूनी पवन को स्थल खण्डों की ओर आकर्षित करता है। अतः मानसून की उत्पत्ति स्थानीय तापजन्य न होकर गतिक अधिक है।

शीत ऋतु में वायु पेटियों के दक्षिण की ओर खिसकने के कारण अयन रेखीय उच्च वायुदाब का क्षेत्र मानसूनी प्रदेशों में फैलकर वहाँ के वातावरण में परिवर्तन ला देता है। उत्तरी गोलार्द्ध की शीत ऋतु में दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है तथा वहाँ मानसूनी प्रदेशों में पवन अभिसरण के कारण वर्षा होती है। फ्लॉन के अनुसार भारत की

मानसून पवन, उष्ण कटिबन्धीय स्थायी पवन का ही एक संशोधित रूप है जिसकी उत्पत्ति तापीय न होकर गतिक है।
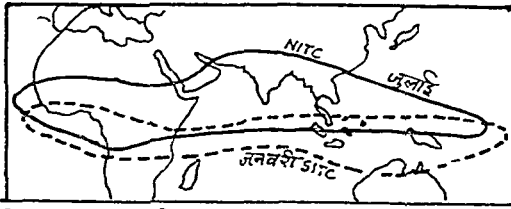
चित्र 22·18 - मानसूनी पवनों का स्रोत प्रदेश (North Inter-tropical Convergence उत्तरी अन्तर-उष्णकटिबन्धीय अभिसरण, South-Inter-tropical Convergence) दक्षिणी अन्तर-उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण (फ्लान, 1951)

बड़े पैमाने पर चलने वाले व्यापारिक, पछुवा, ध्रुवीय तथा मानसून पवन के अतिरिक्त धरातल के अनेक स्थानों पर ताप की स्थानीय प्रवणता तथा वायुदाब की भिन्नता के कारण स्थानीय रूप से गौण धरातलीय पवन की उत्पत्ति होती है। धरातल के घर्षण का पवन पर लगभग 600 मीटर ऊँचाई तक प्रभाव रहता है तथा उससे ऊपर मुक्त पवन होते हैं। धरातलीय गौण पवन 600 मीटर से नीचे ही बहते हैं और कई तरह के होते हैं।
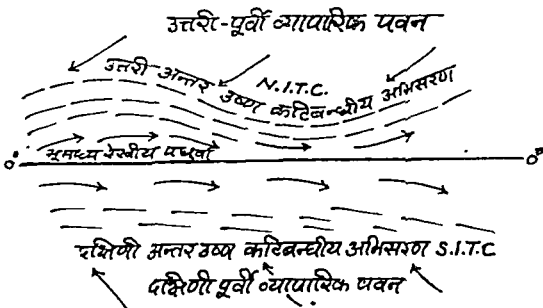
चित्र-22·19 अभिसरणों के कारण मानसून का उत्पत्ति क्षेत्र

तापमान और वायुदाब की असमानता के कारण दिन में समुद्र से स्थल और रात्रि में इसके विपरीत स्थल से समुद्र की ओर चलने वाले पवन क्रमशः "समुद्री या जल समीर"
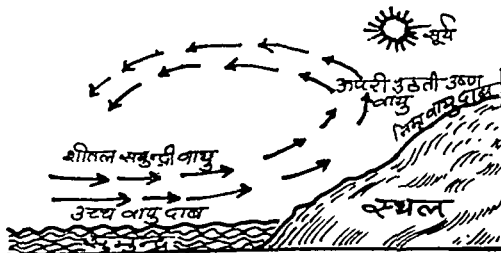
चित्र 22·20 समुद्री या जल समीर (दिन के समय)

तथा "स्थल-समीर" कहलाते हैं। स्थल जल की अपेक्षा सुचालक है। दिन में सूर्यताप के कारण स्थल जल की अपेक्षा शीघ्र ताप ग्रहण कर गर्म हो जाता है जिससे वायुदाब अपेक्षाकृत न्यून हो जाता है। अतः समुद्र की ओर से शीतल और भारी पवन स्थल की ओर चलते हैं। ये समुद्री या जल समीर कहलाते हैं। रात्रि में स्थिति बिलकुल बिपरीत हो जाती है। रात्रि में स्थल जल की अपेक्षा विकिरण द्वारा शीघ्र ठण्डा हो जाता है जबकि समुद्र का तापमान कुछ अधिक रहता है, इसलिए रात्रि में स्थल की ओर से समुद्र की ओर पवन चलते हैं। ये स्थल समीर कहलाते हैं।
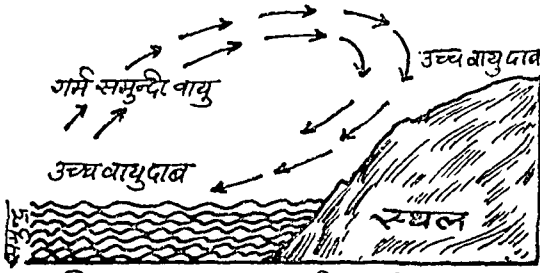
चित्र 22·21 स्थल-समीर (रात्रि के समय)

स्थलीय और जलीय समीर की गति दूसरी पवनों की अपेक्षा कम होती है। जलीय समीर की गति मध्य अक्षांशीय प्रदेशों में 4 से 7 मीटर प्रति सैकण्ड और उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में 7 से 14 मीटर प्रति सैकण्ड होती है। स्थलीय और जलीय समीर का प्रभाव समुद्र तट से लगभग 25 किलोमीटर की दूरी तक होता है। इन पवनों की ऊँचाई 60 से 70 मीटर होती है। जलीय समीर प्रातः 10 और 11 बजे से प्रारम्भ होकर रात्रि के 8 बजे तक चलती है तथा उसके पश्चात् स्थलीय समीर जलीय समीर का स्थान ग्रहण कर लेती हैं।

विशाल पर्वतीय क्षेत्रों में भी स्थानीय तापीय व वायुदाबीय विषमताओं के कारण स्थल और जलीय समीर की भाँति पवन चलने लगते हैं। इन स्थानों में विषमताओं के कारण सामान्य पवन तथा जलवायु दशाएँ पूर्णतः अवरुद्ध हो जाती हैं तथा पर्वतीय और घाटी समीरें उनके स्थान पर चलने लगते हैं। पर्वतीय ढालों से उतरने वाले पवन को पर्वतीय समीर तथा घाटी से ऊपर की ओर चढ़ने वाले पवन को घाटी समीर कहते हैं

दिन में पर्वतीय ढालों की वायु सूर्यताप से गर्म होकर ऊपर उठने लगती है। इसके द्वारा रिक्त किये हुए स्थान की पूर्ति करने के लिए नीचे से घाटी की अपेक्षाकृत गर्म पवन
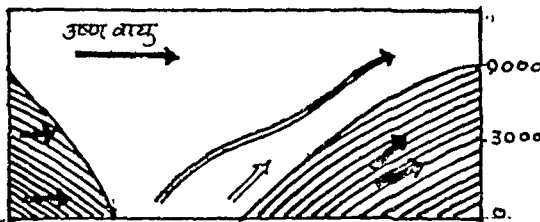
चित्र 22·22 घाटी समीर (दिन के समय)

ढालों के समानान्तर ऊपर की ओर उठने लगती है। यह 'घाटी समीर' कहलाता है। प्रातः 9 से 10 बजे के बीच नीचे से घाटी पवन पर्वतीय ढालों की ओर उठने लगता है

तथा दोपहर तक यह अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाता है तथा सूर्यास्त तक चलता रहता है। इसीलिए पर्वतीय भागों में दोपहर के पश्चात् वर्षा होती है। घाटी समीर की उपस्थिति का प्रमाण उन मेघों से मिलता है जो ग्रीष्म ऋतु में पर्वत-शिखरों पर दृष्टिगोचर होते हैं। घाटी पवन को आरोही पवन भी कहते हैं क्योंकि इनकी गति नीचे से ऊपर की ओर होती है। घाटी समीर का आल्पस पर्वत की विशाल घाटियों में सबसे अधिक विकास है।
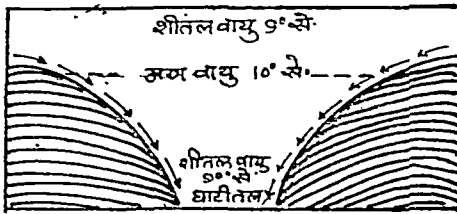
चित्र 22·23 पर्वत-समीर (रात्रि के समय)

रात्रि में पर्वतीय ढालों का पवन तीव्र विकिरण के कारण शीघ्र ठण्डा हो जाता है जबकि घाटी का पवन अपेक्षाकृत गर्म रहता है। ठण्डा पवन सघन एवं भारी हो जाता है। अतः रात्रि के शान्त वातावरण में पर्वतीय ढालों का ठण्डा और भारी पवन पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण शनैः-शनैः नीचे को उतरने लगता है। इसे 'पर्वत-समीर' की संज्ञा दी गई है। गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव के कारण इसको गुरुत्वाकर्षण पवन भी कहते हैं। पर्वतीय भारी पवन के नीचे उतरने की क्रिया को वायु वहन कहते हैं। क्योंकि यह पवन ऊपर से नीचे उतरती है, अतः इसको अवरोही पवन भी कहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पर्वतीय पवन का घाटियों में शीतल प्रभाव पड़ना है। शीत ऋतु में इस पवन द्वारा घाटी में ठण्ड के कारण पाला गिरने लगता है। अतः कैलीफोर्नियां में फलों और ब्राजील में कहवा के बगीचे ऊँचे ढालों पर लगाए जाते हैं जिससे वे पाले से बच सकें।

धरातलीय अवरोध, संरचना तथा ताप व दाब के स्थानीय वितरण एवं कुछ अन्य विशेष कारणों से स्थानीय पवन के अतिरिक्त अन्य विशेष प्रकार के पवन की उत्पत्ति होती है। धरातल पर ऊँचे और नीचे स्थलखण्डा तथा विभिन्न प्रकार के भू-आकारों के कारण तापमान में विभिन्नतायें पैदा हो जाती हैं जो इन पवनों को भी प्रभावित करती हैं। इनमें सभी प्रकार के शीतल, शुष्क एवं गर्म पवन होते हैं। इन पवनों के चलने का कोई निश्चित समय नहीं होता। अतः इनको अनियतकालिक पवन भी कहते हैं।

गर्म पवन प्रचलित वायु के मार्ग में पड़ने वाले पहाड़ों के विपरीत ढालों की ओर चलते हैं। वाताभिमुखी पहाड़ी ढालों पर चढ़ते समय यह पवन गर्म और आर्द्र रहते हैं किन्तु अनुवातमुखी ढालों पर गर्म और शुष्क हो जाती हैं तथा संयुक्त राज्य अमेरिका, दक्षिणी कनाडा में चलने वाले ऐसे गर्म पवन को 'चिनूक' और उत्तरी आल्पस प्रदेश में तथा स्विज्जरलैण्ड में 'फॉहन' नामों से पुकारते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका की मध्य व उत्तरी कैलीफोर्नियाँ तथाकनाडा के तटीय रॉकी पर्वतीयप्रदेश के पश्चिमी ढालों पर कोई चक्रवात चढ़ता है तो उसको पछुआ पवन उत्तरोत्तर ऊपर उठाने में सहायक होता है, तथा निरन्तर सम्पीडनात्मक बल के कारण चक्रवात पहाड़ी

ढालों पर चढ़ता चला जाता है। ऊपर चढ़ने से तापह्रास होता है जिसके कारण सतत् संघनन होकर वर्षा होती है। जब चक्रवात वायु राशि पर्वत शिखर पर पहुँचती है तो ठण्डी और शुष्क हो जाती है। किन्तु जब यह पूर्वी ढालों पर उतरती है तो ताप ग्रहण करती

चित्र 22-24 चिनूक पवन
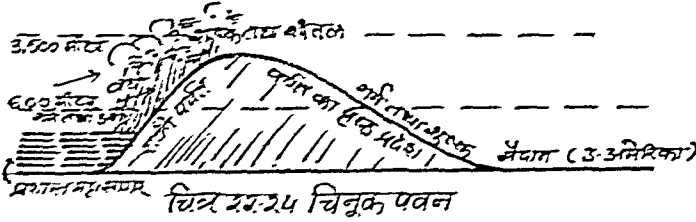
जाती है तथा प्रेयरी के मैदान में आते-आते इतनी गर्म हो जाती है कि हिम को पिघला देती है। अतः चिनूक को हिमहारणी के नाम से सम्बोधित करते हैं। केलीफोर्निया में इसको सेंटा आना कहते हैं।

जब प्रबल चक्रवात मध्य यूरोप में आल्पस पर्वत के उत्तर की ओर से गुजरता है तो दक्षिणी ढाल की वायु राशि को अपनी ओर खींच लेता है। भूमध्य सागर के ओर की वायु दक्षिणी ढाल पर चढ़ते हुए वर्षा करती है। जब यह आल्पस पर्वत के उत्तरी ढाल पर पहुँचती है उस समय तक यह अपनी सम्पूर्ण आर्द्रता को खो चुकी होती है। अतः यह उत्तरी ढाल पर शुष्क पवन के रूप में नीचे की ओर चलती है तथा अपनी गतिक क्रिया से पुनः

चित्र 22-25 फौन पवन
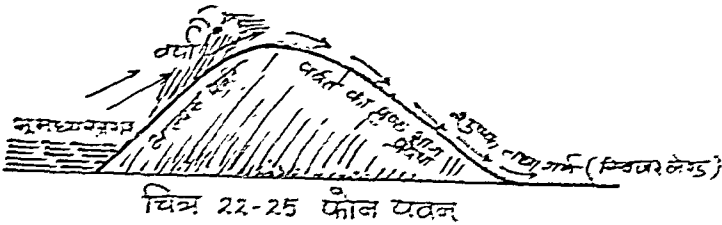
ताप ग्रहण कर लेती है। स्विज्जरलैण्ड की अनेक घाटियाँ फॉहन पवन के कारण शीत ऋतु में अपेक्षाकृत गर्म और बर्फ से मुक्त रहती हैं। फॉहन पवन के कारण इन घाटियों का तापमान 8° से 10° से.ग्रे. बढ़ जाता है। इस पवन से पेड़ सूख जाते हैं तथा बर्फ पिघल जाती है। स्विज्जरलैण्ड में शरद ऋतु में बर्फ को पिघलाने और पतझड़ में अनाज को पकाने के लिए यह पवन अत्यन्त उपयोगी है।

गर्म, शुष्क तथा धूलभरे पवनों का मुख्य स्रोत यूरोप तथा उत्तरी अफ्रीका का भूमध्य सागरीय प्रदेश है। मरुस्थल में कभी-कभी गर्म वायु के बवण्डर उठा करते हैं। ये बवण्डर दूर-दूर तक अपना प्रभाव डालते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पूर्व की ओर प्रवाहित गर्त चक्र उत्तरी अफ्रीका तथा अरब प्रदेशों की गर्म पवन को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। अतः मरुस्थल का गर्म और शुष्क पवन दक्षिणी यूरोप में दूर-दूर तक फैल जाता है। दक्षिणी यूरोप में इनको 'सिरोको', स्पेन में 'सोलानो', सहारा के पूर्व में 'खमसिन', अरब में 'सिमून', न्यू साउथवेल्स में 'ब्रिक फील्डर', ब्यूनस आयर्स (द. अमेरिका) में 'जोण्डा' कहते हैं। इन पवनों स्थानीय दशाएँ अधिक प्रभावित करती हैं। अतः इनके सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

बहुधा ग्रीष्म ऋतु में भूमध्य सागरीय क्षेत्र में निम्नभार उत्पन्न हो जाता है जबकि उत्तरी अफ्रीका में उच्च वायुदाब कोशिका का एक सबल केन्द्र विद्यमान रहता है। अतः सहारा से गर्म, शुष्क तथा धूल भरे पवन सिरोको उत्तर की ओर तीव्र गति से चलते हैं। जब यह उत्तरी अफ्रीका के एटलस पर्वत को पार करते हैं तो और भी अधिक गर्म और शुष्क हो जाते हैं। जब यह पवन इटली में पहुँचते हैं तो वातावरण अनायास ही गर्म हो जाता है। वनस्पति, अंगूर और जैतून के बगीचे नष्ट हो जाते हैं। इसलिए इटली और सिसली में इन पवनों से फलों के बगीचों की रक्षा करने हेतु दक्षिण दिशा में अर्थात् पवन मुख की ओर घने वृक्षों की वायुरोधी मेखलाएँ निर्मित की गई हैं। जब ये पवन भूमध्य-सागर को पार करते हैं तो कुछ आर्द्रता ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु इसका प्रभाव नगण्य रहता है। दक्षिणी यूरोप में इन पवनों को सिरोको तथा दक्षिणी-पूर्वी स्पेन में 'लेवेशे' कहते हैं। ट्यूनीशिया में सिरोको को चिली और लीबिया में गिबली कहते हैं। यह पवन यूरोपीय निवासियों के लिए दुखदायी होती है क्योंकि ये लोग इस प्रकार के गर्म और धूल भरे मौसम के आदी नहीं होते।

गर्म, शुष्क और धूल से भरी हुई मिस्र में चलने वाली पवन को खमसिन नाम से पुकारा जाता है। यह उत्तरी अफ्रीका के उच्च वायुदाब केन्द्र से मिस्र की ओर सिरोको पवन की भाँति चलते हैं। यह भूमध्यसागर या उत्तरी अफ्रीका के सहारे चलाने वाले गर्तचक्र के आगे-आगे चलते हैं। अरबी भाषा में खमसिन शब्द का तात्पर्य पचास से है क्योंकि यह पवन लगभग 50 दिन चलते हैं। मध्य पूर्वी देशों में अबद्धरूप से गर्म तथा शुष्क पवन को खमसिन कहा जाता है। खमसिन अपने साथ धूल की बड़ी मात्रा उड़ा कर लाती है जिससे स्वेज नहर में धूल निक्षेपित हो जाती हैं।

सहारा तथा अरब के मरुस्थलों में गर्म, शुष्क तथा श्वासरोधक पवन या बवण्डर जो मुख्यतः गर्मी या बसन्त में चलते हैं सिमून कहलाते हैं। ग्रीष्म या बसन्त ऋतु में सिमून उपोष्ण प्रतिचक्रवात के उत्तर की ओर तीव्र गति से प्रवाहित होने लगते हैं। प्रायः यह अपने साथ रेत की इतनी भारी मात्रा उड़ा कर ले जाते हैं कि कुछ मीटर तक ही देख पाना संभव होता है और कभी-कभी यह अंधेरा कर देते हैं। देखते-देखते रेत के टिब्बों का निर्माण हो जाता है और इनके मार्ग में पड़ने वाले टिब्बों का आकार ही बदल जाता है।

सहारा मरुस्थल से पश्चिमी अफ्रीका की ओर पूर्व तथा उत्तर-पूर्व दिशा से चलने वाला तीव्र पवन 'हरमेटन' कहलाता है। यह गर्म, शुष्क और धूल से भरा होता है। यह इतना गर्म होता है कि इसके कारण वृक्षों के तने फट जाते हैं। जब यह गिनी तट पर पहुँचता है तो वहाँ गर्म और आर्द्र पवन से छुटकारा मिल जाता है। गर्म होने के कारण यह वायु की आर्द्रता को शीघ्र शोषित कर कुछ ठण्डा होकर स्वास्थ्यप्रद हो जाता है। अतः गिनी तटवासी इसे 'डाक्टर' नाम से सम्बोधित करते हैं। किन्तु धूल की विपुल मात्रा के कारण यह कभी-कभी फसल के लिए हानिकारक होता है। इससे कारण इतनी धुन्ध आ जाती है कि नौका चालन कठिन हो जाता है। शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में इसका अधिक विस्तार होता है। शीत ऋतु में 5° उत्तरी अक्षांश और ग्रीष्म ऋतु में 15° उत्तरी अक्षांश तक हरमेटन पवन का प्रभाव क्षेत्र रहता है।

दक्षिण की ओर उष्णकटिबन्धीय पवन प्रवाह के कारण दक्षिणी-पूर्वी आस्ट्रेलिया में बहने वाले गर्म और शुष्क पवन को **ब्रिक फील्डर** कहते हैं। यह ग्रीष्म ऋतु में गतिचक्र या न्यूनदाब पेटी के आगे-आगे चलता है तथा 'दक्षिणी बरस्टर' से भी आगे पहुँचता है जिसके कारण कई दिनों तक धूल के बादल छाए रहते हैं।

भारत के उत्तरी मैदान में मई और जून के महीनों में पश्चिम की ओर से गर्म और शुष्क लू चलती है। इसका तापमान 45° से 50° से.ग्रे. के मध्य रहता है तथा कभी-कभी इसके कुप्रभाव से मृत्यु तक हो जाती हैं। उत्तरी भारत में इसको ताप लहर के नाम से पुकारते हैं।

नारवेस्टर—उत्तरी-पूर्वी भारत में मुख्यतः असम, मेघालय, बंगलादेश तथा दक्षिणी-पश्चिमी मानसून से पूर्वी बंगाल में बड़े तीव्र बवण्डर चलते हैं। यह पश्चिम या उत्तर-पश्चिम की ओर से आते हैं अतः इनको 'नारवेस्टर' नाम से सम्बोधित करते हैं। यह दोपहर के पश्चात या शाम को यकायक आते हैं तथा धूल की बड़ी परत फैल जाती है। यह थोड़े समय अर्थात् 2 या 3 घन्टे में शान्त हो जाते हैं जिसके बाद मौसम ठण्डा हो जाता है। इनकी औसत गति 50 से 60 कि.मी. आंकी गई है और कभी-कभी 200 कि.मी. प्रति घण्टा हो जाती है। प्रति वर्ष उत्तरी-पूर्वी भारत तथा विशेषकर असम और बंगला देश में इनसे सदा जन और धन की हानि होती है। नारवेस्टर को 'काल वैशाखी' के नाम से भी पुकारते हैं। बंगाल में मार्च, अप्रेल तथा मई के लिए औसत काल-वैशाखी की संख्या क्रमशः 4, 8 तथा 12 है। काल वैशाखी की वर्षा से आम की फसल अच्छी होती है। अतः इसको 'आम की बौछार' भी कहते हैं।

पठारी शीतल शुष्क पवन में मिस्ट्रल प्रमुख है। मिस्ट्रल अत्यन्त ठण्डा और शुष्क पवन है जो दक्षिणी यूरोप में स्पेन तथा दक्षिणी फ्रांस की राइन नदी की घाटी और इसके डेल्टा प्रदेश में तीव्र गति से चलता है। यह पवन यूरोप के उत्तरी उच्च दाब वाले शीत प्रधान क्षेत्रों में शीत ऋतु में होता है तथा भूमध्य सागर के निम्न दाब क्षेत्र की ओर उत्तर से दक्षिण की ओर तीव्र वेग से चलता है। दक्षिणी फ्रांस के पठारी भागों से नीचे उतर कर यह राइन नदी की संकीर्ण घाटी में प्रवेश करता है तथा रोम के डेल्टा की ओर प्रवाहित होता है। संकीर्ण घाटी में पहुँच कर यह 'अवरोही' हो जाता है तथा कीप प्रभाव के कारण अत्यन्त वेगवान (लगभग 100 कि.मी प्रति घंटा से अधिक) तथा प्रचण्ड हो जाता है। इनके अत्यधिक वेग के कारण कभी-कभी रेल गाड़ियाँ और बसें तक उलट जाती हैं। मिस्ट्रल के चलते समय आकाश मेघरहित और तापमान हिमांक से नीचे हो जाता है।

मिस्ट्रल की भाँति बोरा पवन ठंडी एवं शुष्क होती हैं। इनका प्रभाव क्षेत्र उ. इटली तथा उत्तरी एड्रियाटिक सागर के क्षेत्र हैं। एड्रियाटिक सागर के पूर्वी किनारे पर इसको 'बोरा' तथा इटली के उत्तरी भाग में 'ट्रामोनटाना' पुकारते हैं। बोरा का जन्म शीतकाल में ग्रीनलैण्ड तथा यूरोप के उत्तरी हिमाच्छादित प्रदेशों में होता है। यह अपने भार के कारण कम दाब के दक्षिणी तटवर्ती प्रदेशों की ओर प्रवाहित होकर मध्य यूरोप के ठण्डे और शुष्क भागों को पार करता हुआ एड्रियाटिक सागर के पूर्वी तट तक पहुँचता है। इसके पश्चात् यह उत्तर-पूर्व से पश्चिम की ओर प्रवाहित होता हुआ इटली के पूर्वी एवं उत्तरी भागों तक पहुँचता है। एड्रियाटिक सागर के सम्पर्क में आने से बोरा आर्द्रता ग्रहण कर कुछ वर्षा कर देता है।

मिस्ट्रल की भाँति बोरा भी तीव्रगामी होता है। इसकी गति कभी-कभी 150 किमी. से भी अधिक हो जाती है जिसके कारण भवनों की छत उड़ जाती हैं और वृक्ष उखड़ जाते हैं। यह लगातार कई दिनों तक चलता रहता है।

विसर्जित हिमकणों से युक्त हिमचूर्ण का तूफान जो दृश्यता को शून्य कर देता है झंझावात कहलाता है। इनकी तुलना सहारा की धूलभरी आंधियों से की जा सकती है। दोनों में अन्तर इतना है कि हिम झंझावातों में धूल के स्थान पर हिम कण होते हैं तथा वायु का तापमान हिमांक से नीचे रहता है। कुछ हिम तो वर्षा के रूप में गिरता है, किन्तु अधिकांश मात्रा में हिमचूर्ण वेगमान पवन द्वारा धरातल से उड़ा लिया जाता है। झंझावातों की उत्पत्ति आर्कटिक प्रदेश की हिम चादर के ऊपर अत्यन्त शीतल वायु की एक पतली परत के रूप में होती है जो ढाल की ओर गुरुत्वाकर्षण के कारण तीव्र वेग से प्रवाहित होती है। इनकी सामान्य गति 80 से 100 कि.मी. प्रति घण्टा रहती है। हिम झझावातों का प्रभाव क्षेत्र ध्रुवीय प्रदेशों, साइबेरिया, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका का उत्तरी भाग, हिमाच्छादित पर्वत शिखर आदि है। उत्तरी अमेरिका में इनको ब्लिजार्ड, मध्य एशिया के साइबेरिया, मंगोलिया तथा मंचूरिया के क्षेत्रो में बुरान' और एण्डीज प्रदेशों में 'पूना' कहते हैं। पूना का अर्थ है 'मृत्यु की उपज'। अत्यधिक ठण्डा और तीव्रगामी होने के कारण यह पवन जन जीवन और पशुओं के लिए अत्यन्त हानिकारक है। अन्टार्कटिका में 'एडीलेलैण्ड' 'हिम झंझावातों का घर' कहलाता है। शीत ऋतु में झंझावातो के आते ही तापीय विलाम समाप्त हो जाता है। ध्रुवीय प्रदेशों में हिम झंझावात कई दिनों तक निरन्तर चलते रहते है।

शीत लहर हिम झंझावातों से भिन्न होती है। यह अत्यधिक शुष्क, सघन और शीतल होती है। शीत लहर बड़े क्षेत्र पर कई दिनों तक छाई रहती है। प्रायः ध्रुवीय प्रदेशों में उत्पन्न ठण्डा पवन जो गर्त चक्र के पश्चात् शीताग्र में पहुँचता है, शीत लहर कहलाता है। इसकी गति मन्द होती है। शीत लहर के लिए प्रतिचक्रवात की अवस्थाएँ एवं विशाल भू-भाग आदर्श कारक हैं, द. गोलार्द्ध की अपेक्षा उ. गोलार्द्ध में शीतलहर अधिक तीव्र होती है। शीतऋतु में उ. अमेरिका तथा साइबेरिया के विशाल क्षेत्रों में ध्रुवीय शीतल पवन प्रवाहित होता है जो मन्द गति से शीत लहर के रूप में चलता रहता है। इसी प्रकार उच्च पर्वतीय हिमाच्छादित शिखरों पर अत्यधिक हिमपात होने से ठण्डा और भारी पवन मैदानी भागों में खिसक आता है तथा शीत लहर के रूप में जाना जाता है। भारत में शिमला, नैनीताल तथा काश्मीर के पहाड़ी भागो में अत्यधिक हिमपात के कारण शीत ऋतु में शीत-लहर आ जाती है जो ढालों से खिसक कर उत्तरी भारत के मैदानों को प्रभावित करता है। अर्जेन्टीना तथा उरूगुए के पम्पा प्रदेश में शीत लहर को 'पैम्परो', आस्ट्रेलिया में 'सदरली वर्सटर', टैक्सास में 'नॉर्थर', मैक्सिको में 'नोर्टी' या 'पापागायो' कहते है।

वायुमण्डल में लगभग 10 से 12 कि.मी. ऊँचाई पर सकेन्द्रीय वृत्तों के रूप में उच्च तापमान एवं तीव्र गति से प्रवाहित होने वाली वायु की संकीर्ण पट्टी जेट धारा कहलाती है। इसकी तुलना समुद्री गर्म जलधारा से की जा सकती है जिसका तापमान संलग्न जल से उच्च होता है। इसकी उत्पति वायुमण्डल में विद्यमान पवनों की ताप विषमता के कारण होती है तथा इसी विषमता के अनुपात में इसकी गति घटती और

बढ़ती है। यह ताप विषमता सामान्यतः मध्य अक्षांशों के पछुवा पवनों के क्षेत्र में उन वाताग्रों में पाया जाता है, जो पूरे अक्षांशीय वृत्तों पर फैले रहते हैं।

जेट धाराएँ उत्तरी गोलार्द्ध में 30°–35° व 50° अक्षांशों के क्षोभमंडल में लगभग पूरे वृत्तों पर संकरी पट्टी के रूप में सतत् प्रवाहित होती रहती है। इनकी तीव्रता 35° अक्षांश के आसपास चरम सीमा पर होती है। इनकी गति ग्रीष्म की अपेक्षा शीत ऋतु में अधिक होती है। ग्रीष्म काल में औसत गति 80 से 100 कि.मी. प्रति घण्टा और
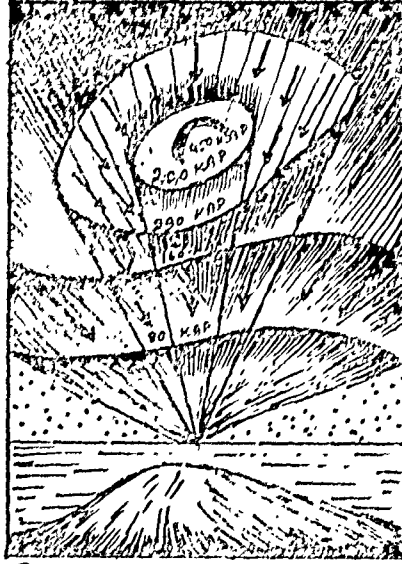
चित्र 22·26 जेटस्ट्रीम .....

शीतकाल में 150 से 200 किमी. प्रति घण्टा होती है। कभी-कभी इनकी गति 400 किमी. प्रति घण्टा से भी अधिक हो जाती है। जेट स्ट्रीम के अक्ष के चारों ओर गति तीव्रता से घटती जाती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में शीतऋतु की वर्षा लाने में जेट धाराओं का महत्वपूर्ण योगदान है। जेट धाराएँ दो क्षेत्रों में निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं। दोनों गोलार्द्ध में 25° से 35° के मध्य चलने वाली जेट धारा को उप उष्ण कटिबन्धीय जेट धारा तथा 40° से 60° अक्षांशों के मध्य चलने वाली को ध्रुवीय सीमाग्र जेट धारा कहते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Ashwell, I. (1971), Warm blast across the snow covered Prairie (Chinook Winds), Geographical Magazine, 43 : 858–863.
2. Battan, U. J. (1961), The Nature of Violent Storms (Double Day & Co., Garden City, N. Y.)
3. Borchert, J. R. (1953), Regional differences in world atmospheric circulation, Annals, A. A. G., 43 , 14–26.

4. Byers, H. R. (1974), General Meteorology, 4th ed. (McGraw Hill Book Co., New York).
5. Chang, J. H. (1972), Atmospheric circulation systems and climates (Orient Publ. Co.. Honolulu, Hawaii).
6. Lorenz. E.N. (1966), The Circulation of the Atmosphere, American Scientist, 54 : 402–420.
7. Trewartha, G. T. (1954), An Introduction to Climate (McGraw Hill Book Co., New York).
8. Wexler, Hanry (1955), The Circulation of the Atmosphere, Sceintific American, Vol. 193, No. 3 : 114–124.
9. तिवाड़ी, अनिलकुमार (1974), जलवायु विज्ञान के मूल तत्त्व (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर).
10. बनर्जी, रमेशचन्द्र, उपाध्याय, दयाशंकर (1973), मौसम विज्ञान (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर).

23

वायुमण्डल की आर्द्रता तथा मेघ संघनन
[Atmospheric Humidity and Condensation]

ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ आकाश में कभी धुन्ध, कुहरा या बादल दिखाई देते हैं, तो कभी वर्षा और ओले गिरते हैं और कभी पृथ्वी पर ओस गिरती है। इन सभी का सीधा सम्बन्ध जलवाष्प से है जो हवा में ताप के कारण विद्यमान रहती है। "हवा में किसी समय व किसी स्थान पर उपस्थित जलवाष्प की मात्रा को आर्द्रता कहते हैं।" धरातल के निकट वायुमण्डल में विद्यमान गैसों का अनुपात तो सर्वत्र समान रहता है, किन्तु वाष्प की मात्रा ऋतु और स्थान परिवर्तन के साथ घटती और बढ़ती रहती है। वर्षा के दिनों में वायु की आर्द्रता बढ़ जाती है जबकि ग्रीष्म ऋतु में घट जाती है। इसी प्रकार मरुस्थलीय प्रदेशों में यह शून्य तक पहुँच जाती है तथा ध्रुवीय प्रदेशों में भी अत्यन्त अल्प मात्रा में मिलती है। इसके विपरीत विषुवत रेखा के दोनों ओर 10° अक्षांशों तक इसकी मात्रा अधिक होती है। सम्पूर्ण वायुमण्डल में विद्यमान पदार्थों के अनुपात में जलवाष्प की मात्रा 2 प्रतिशत आंकी गई है। ऊँचाई के साथ-साथ वाष्प की मात्रा घटती जाती है। क्षोभमण्डल में लगभग 1830 मीटर की ऊँचाई तक इसकी मात्रा 50% रह जाती है तथा 100 किलोमीटर पर 1/4% रह जाती है। क्षोभमण्डल में यह संवाहनीय धाराओं और वायु द्वारा पहुँचती है।

जल को वाष्प में परिवर्तित करने वाला मुख्य स्रोत सूर्य है। सूर्य से पृथ्वी गर्म होकर अपनी ऊष्मा वायुमण्डल को देती है। वायुमण्डल गर्म होकर पृथ्वी के जलाशयों तथा समुद्र के जल को वाष्पीकरण द्वारा सोख लेता है। इसके अतिरिक्त वनस्पतियाँ वाष्पोत्सर्जन द्वारा वायुमण्डल को वाष्प देती हैं किन्तु वाष्प के स्रोत का यह गौण साधन है। अतः धरातल के तीन-चौथाई भाग पर फैले हुए महासागर ही जलवाष्प के अक्षय तथा प्रमुख स्रोत हैं। एक ओर सूर्यताप के कारण जल वाष्प में परिवर्तित हो जाता है तो दूसरी ओर वर्षा, पाला, कुहरा, ओस आदि संघनन के अनेक रूपों में प्रकट होता है। इस प्रकार जलीय चक्र चलता रहता है।

मोस के अनुसार स्थल और जलमण्डल के जलीय चक्र को 100 इकाइयों में प्रदर्शित किया गया है, जो 85.7 से. मी. वार्षिक वर्षा के बराबर है।

सारणी 1

	वाष्पीकरण प्रतिशत में		वर्षा प्रतिशत में		अपवाह
	महासागर	स्थल	महासागर	स्थल	
जलीय चक्र 100 इकाई =85.7 सेमी वार्षिक वर्षा	84 केवल वाष्पीकरण	16 वाष्पीकरण तथा वाष्पोत्सर्जन	77	23	जलवाष्प का क्षैतिजीय अभिवहन सागरों की ओर अपवाह 7
	योग 100%		योग 100%		

महासागरों में कुल वाष्पीकरण की मात्रा में से 84% वाष्पीकरण होता है जबकि वर्षा केवल 77% ही होती है। इस अन्तर से यह स्पष्ट होता है कि महासागरों की ओर से 7% जलवाष्प का अभिवहन स्थल की ओर हो जाता है। इसी प्रकार स्थल से केवल 16% वाष्पीकरण तथा वाष्पोत्सर्जन होता है जबकि वर्षा 23% होती है। इससे यह प्रकट होता
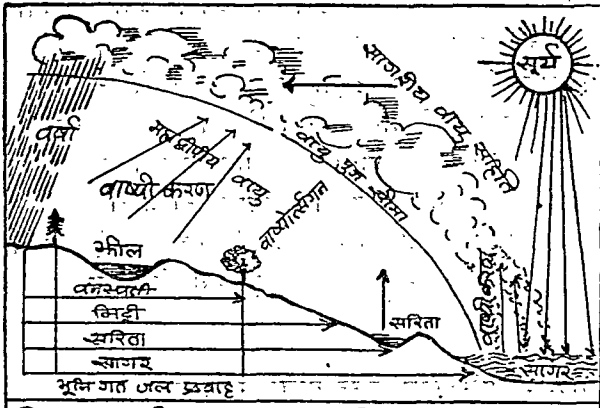
चित्र 23.1 जलीय चक्र एवं वायु राशि चक्र का अन्तर-सम्बन्ध
होल्जमेयर, 1940

है कि स्थल की ओर से 7% जल की अधिक मात्रा अपवाह द्वारा सागरों में चली जाती है। इस प्रकार वायुमण्डल के जलीय चक्र का सन्तुलन होता रहता है।

यह अनुमान लगाया जाता है कि धरातल पर कुल वर्षा का आयतन प्रति वर्ष लगभग 99 हजार घन किमी. होता है, जिसमें से लगभग 62 हजार घन किमी. वाष्पीकृत हो जाता है और शेष 37 हजार घन किमी. अपवाह द्वारा सागरों में मिल जाता है।

वायुमंडलीय आर्द्रता दो विधियों से मापी जाती है :

साधारण आर्द्रतामापी—आर्द्र व शुष्क बल्ब तापमापी में दो समानान्तर

तापमापी लगे रहते हैं। एक तापमापी का बाल्ब वायु के सीधे स्पर्श के लिए खुला छोड़ दिया जाता है। खुले बाल्ब का तापमापी वायु के ताप को प्रदर्शित करता है। दूसरे तापमापी के बाल्ब पर मलमल का गीला कपड़ा लिपटा रहता है जिसका एक सिरा जल में डूबा रहता है, जिससे मलमल सदा गीली रहती है। गीले कपड़े के सम्पर्क में आकर वायु ठण्डी हो जाती है तथा बाल्ब को भी ठण्डा कर देती है। परिणामस्वरूप खुले बाल्ब की अपेक्षा गीले बाल्ब के तापमापी में तापमान कम आता है। दोनों तापमानों के अन्तर को निकाल कर मानक तालिका की सहायता से वायु में विद्यमान आर्द्रता को ज्ञात कर लेते हैं।
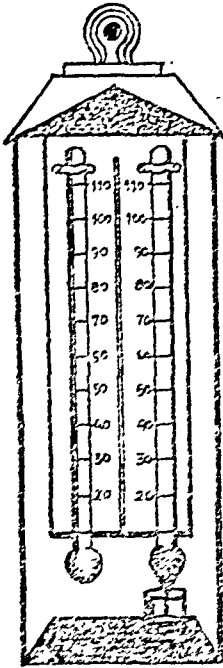
चित्र 23·2 आर्द्र-शुष्क आर्द्रतामापी
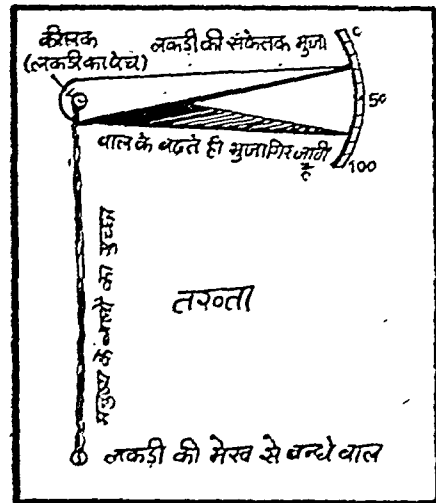
चित्र·23·3 साधारण केश आर्द्रता मापी

केश आर्द्रता मापी—इसमें मनुष्य के बाल द्वारा दो आधारों को कसकर बांध देते हैं। एक आधार यंत्र के तल पर तथा दूसरा सुई के पिछले किनारे पर होता है। आर्द्रता बढ़ जाने पर बाल गीला होकर बढ़ता है और आर्द्रता कम हो जाने पर सूख कर बाल की लम्बाई कम हो जाती है। इस प्रकार बाल की लम्बाई बढ़ने और घटने से संवेदनशील सुई "अंश शोधित डायल" पर घूमकर वायु की आर्द्रता का संकेत देती है।

केश आर्द्रतामापी के सिद्धान्त के आधार पर इस यंत्र में लीवर प्रणाली क्रिया-विधि द्वारा आर्द्रतामापी की पेन-भुजा समगति से घूमते हुए कागज युक्त ड्रम पर वायु की आर्द्रता का लेखन करती रहती है। प्रतिदिन इस ग्राफ कागज को उतार कर आर्द्रता का अभिलेखन किया जाता है।

आर्द्रता की मात्रा को अनुमानतः ज्ञात करने की अवैज्ञानिक विधि भी है। इस विधि द्वारा मनुष्य कपड़ा सूखने या पसीना आने की दर से वायु की आर्द्रता का अन्दाजा लगा

लेते हैं। ग्रीष्म ऋतु में वायु में आर्द्रता कम होने के कारण भीगे कपड़े शीघ्रता से सूख जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के पसीने के सूखने की दर से भी आर्द्रता का कुछ अंशों तक आभास हो जाता है। वायु में अधिक आर्द्रता के समय अर्थात् वर्षा ऋतु में हमारा पसीना नहीं सूख पाता किन्तु शुष्क वायु पसीने को शीघ्र सोख लेती है। इस प्रकार वाष्पीकरण की दर वायु में जलवाष्प की मात्रा पर निर्भर करती है। अवैज्ञानिक विधि से वायु की आर्द्रता का सही ज्ञान नहीं हो पाता।

वर्षामापी

वर्षामापी यंत्र के द्वारा किसी स्थान-विशेष की वर्षा को नापा जाता है। वर्षा मिलीमीटर तथा सेन्टीमीटर में नापी जाती है। वर्षामापी एक सरल यंत्र होता है। इसमें चार वस्तुएँ होती हैं :

1. एक धातु का खाली सिलिण्डर
2. एक कीप
3. बीकर, तथा 4. अंशांकित बीकर।

धातु के खाली बोतलनुमा पात्र अर्थात् सिलिण्डर के मुख पर एक कीप लगी रहती है। कीप के निचले भाग का छिद्र इतना छोटा होता है कि उसमें से वर्षा का एक-एक बूंद पानी सिलिण्डर में रखे धातु के बीकर में एकत्रित होता रहता है। चौबीस घन्टे पश्चात् जलयुक्त बीकर को सिलिण्डर में से निकाल लेते हैं तथा उसे ग्लास के अंशांकित बीकर में डालकर नाप लेते हैं।

एक सेन्टीमीटर वर्षा का अर्थ यह है कि विशेष वर्षा वाले क्षेत्र के समतल धरातल पर वर्षा का जल एकत्रित हो जाय तो वह उस क्षेत्र के धराधल पर हर स्थान पर एक सेन्टीमीटर परत के रूप में होगा।
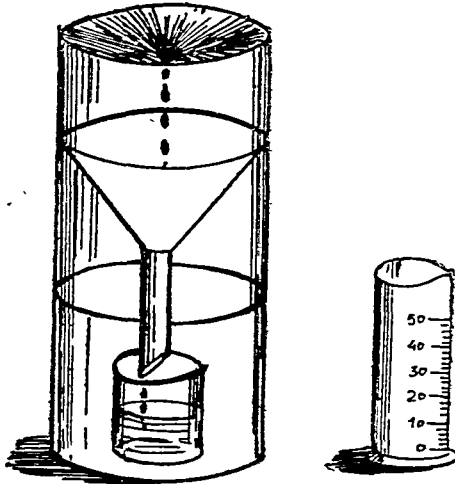
चित्र 23·4 वर्षामापी

स्वत: अभिलेखी वर्षामापी—इस यंत्र को रेनोग्राफ भी कहते हैं। यह जल में तैरता यंत्र है जोकि वर्षा की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ ऊपर उठता जाता है। सिलिंडर में कीप

द्वारा वर्षा का जल एकत्रित होता है। सिलिंडर में एक साइफ़न कक्ष तथा एक फ्लोट अर्थात् तरण कक्ष होता है। तरण कक्ष लेखनी से सम्बन्धित रहता है। वर्षा के साथ जब जल स्तर ऊपर उठता है तो तरण कक्ष के साथ लेखनी भी ऊपर उठती जाती है तथा स्वतःचालित ड्रम पर लिपटे चार्ट पर रेखांकित करती जाती है। जब लेखनी चार्ट शिखर पर पहुँच जाती है तो सिलिंडर का जल साइफन द्वारा स्वतः बाहर आ जाता है तथा लेखनी चार्ट की शून्य रेखा पर पहुँच जाता है।

वायु में विद्यमान आर्द्रता और तापमान का अटूट सम्बन्ध है। वायु कितनी मात्रा में जलवाष्प ग्रहण कर सकेगी, यह उसके तापमान पर निर्भर करता है। तापमान के घटने और बढ़ने से वायु की आर्द्रता ग्रहण करने की शक्ति घटती-बढ़ती है। अर्थात् "कम ताप कम आर्द्रता, अधिक ताप अधिक आर्द्रता।" यह तथ्य निम्न सारणी से स्पष्ट हो जाता है।

जलवाष्य की अधिकतम मात्रा जो 1 घनमीटर (1 लीटर) वायु में विभिन्न तापमान पर रह सकती है :

सारणी 2

ताप (सेन्टीग्रेड में)	जलवाष्प की मात्रा (मिलीग्राम में)	5° सेग्रे. के लिए जलवाष्प का अन्तर (मिलीग्राम में)
0°	4.7	—
5°	7.0	2.3
10°	9.4	2.4
15°	12.5	3.1
20°	16.7	4.2
25°	22.7	6.0
30°	29.7	7.0

ताप बढ़ने के साथ-साथ वायु की जल-वाप सँभालने की शक्ति बढ़ती जाती है। है। उदाहरण के लिए, 0^0 से 5^0 सेन्टीग्रेड ताप बढ़ने से (5^0 सेग्रे. के अन्तर में) जलवाष्प सँभालने का अन्तर केवल 2.3 मिलीग्राम है, किन्तु ऊँचे ताप पर जैसे 25^0 सेग्रे. से 30^0 सेग्रे. तक अर्थात् 5^0 सेग्रे. के अन्तर पर जलवाष्प संभालने का अन्तर 7 मिलीग्राम हो जाता है जो लगभग तीन गुना अधिक है। अतः स्पष्ट है कि जैसे-जैसे वायु का तापमान बढ़ता है, उसमें जलवाप ग्रहण करने की मात्रा बढ़ती जाती है।

यह तथ्य है कि हिम को जल में और जल को वाष्प में परिणित करने के लिए विशिष्ट मात्रा में ताप शक्ति की आवश्यकता होती है। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाप में जल से तथा जल में हिम से अधिक ताप शक्ति विद्यमान है। जलवाष्प में उपस्थित यह अरिरिक्त-शक्ति ही गुप्त-उष्मा या गुप्त-ऊर्जा कहलाती है। गुप्त-ताप-शक्ति वास्तव में सूर्य ऊर्जा का ही परिवर्तित रूप है जो वाष्पीकरण की अवस्था में वायुमण्डल में मिल जाता है। किंतु वायुमण्डल के संघनन के समय यही गुप्त ताप मुक्त होकर वायुमण्डल

के तापमान को बढ़ाने में सहायक होता है। जलवाष्प द्वारा पुनः निसृत यह ताप शक्ति संघनन की गुप्त-ताप-शक्ति कहलाती है। वायुमण्डल की स्थिरता और अस्थिरता संघनन की गुप्त-ताप-शक्ति के आदान-प्रदान पर आधारित रहती है। इसी शक्ति के मुक्त होने से चक्रवातों तथा अन्य तूफानों की रचना और वर्षा होती है। सारांश में वाष्पीकरण द्वारा तापमान की कमी वाष्पीकरण के गुप्त ताप के सम होती है।

वायु वाष्पीकरण की क्रिया द्वारा जल ग्रहण करती है। अतः वायु के लिए ताप की आवश्यकता होती है। जिस स्थान पर वायु जितनी अधिक गर्म और शुष्क होगी वहाँ उतना ही अधिक वाष्पीकरण होगा। इसीलिए गर्मियों में पवन अधिक उष्ण होने के कारण जलाशयों का जल सोख लेती है, किन्तु शीत ऋतु में वायु के ताप में कमी होने के कारण यह क्रिया कम होती है।

धरातल पर वाष्पीकरण की गति वायु में विद्यमान वाष्प की मात्रा पर निर्भर रहती है, तापमान के अनुपात में जब वाष्प की मात्रा कम होती है तो वाष्पीकरण उस समय तक होता रहता है जब तक उसमें जल ग्रहण करने की शक्ति समाप्त न हो जाय। जब वायु किसी निश्चित तापमान पर और अधिक वाष्प ग्रहण नहीं कर सकती तो उस वायु को संतृप्त वायु कहते हैं। ऐसी स्थिति में वाष्पीकरण की विधि रुक जाती है। वाष्पीकरण की गति के दो प्रधान कारक नियत्रक हैं।

वायु के वाष्पदाब तथा जलाशय के तल पर संतृप्त वाष्पदाब के मध्य का अन्तर जितना अधिक होगा, वाष्पीकरण भी उतना ही अधिक होगा। वाष्पीकरण उसी अवस्था में होता है. जब वायु का वाष्पदाब संतृप्त मान से कम होता है।

प्रवाहित पवन की गति का प्रभाव भी वाष्पीकरण की मात्रा पर पड़ता है, क्योंकि पवन निरन्तर शुष्क व नये पवन को महासागरों के तल पर प्रसारित करती रहती हैं जिससे आर्द्रता अवशोषण क्षमता की वृद्धि हो जाती है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि महासागरीय प्रदेशों में वाष्पीकरण की मात्रा, महाद्वीपीय प्रदेशों की अपेक्षा अधिक होती है। विषुवत रेखा के समीप महाद्वीपों में महासागरों की अपेक्षा अधिक वाष्पीकरण होता है, जिसका मुख्य कारण वहाँ पर अत्यधिक वर्षा और घने जंगलों से होने वाला वाष्पोत्सर्जन है। विषुवत रेखा के उत्तर तथा दक्षिण में 10° से 20° अक्षांशों के मध्य विषुवत रेखा की अपेक्षा अधिक वाष्पीकरण होता है जो शुष्क व्यापारिक पवन का प्रतिफल है।

वायु में पाई जाने वाली आर्द्रता मुख्यतः तीन तरह की होती है—निरपेक्ष आर्द्रता, सापेक्ष आर्द्रता तथा विशिष्ट आर्द्रता।

किसी स्थान पर किसी ताप पर वायु में जितनी आर्द्रता विद्यमान रहती है उसे निरपेक्ष या वास्तविक आर्द्रता कहते हैं। इसकी गणना प्रति घनमीटर ग्राम में अथवा घन-फुट ग्रेंस में की जाती है। "प्रति इकाई परिमाण वायु में जलवाष्प की विद्यमान मात्रा जो साधारणतः प्रति घनमीटर ग्राम में प्रदर्शित की जाती है, निरपेक्ष आर्द्रता कहलाती है।" यह शब्द कभी-कभी जलवाष्प दाब के लिए भूल से प्रयोग किया जाता है। वास्तव में जल-वाष्प के दाब के स्थान पर वायु की प्रति इकाई भार में प्रकट की जाती है। उदाहरणार्थ यदि 20° सेग्रे. तापमान पर एक घनमीटर वायु में 15 किलोग्राम वाष्प की मात्रा विद्यमान

है तो यह वायु की निरपेक्ष आर्द्रता कहलायेगी। निरपेक्ष आर्द्रता और तापमान का कोई सम्बन्ध नहीं है। निरपेक्ष आर्द्रता को निम्न समीकरण द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं :

$$\text{निरपेक्ष आर्द्रता} = \frac{\text{कुल वाष्प की मात्रा}}{\text{कुल वायु का परिमाण}}$$

निरपेक्ष आर्द्रता ऊँचाई के साथ-साथ कम होती जाती है तथा इस पर ऋतु जल और स्थल का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

किसी निश्चित तापमान पर वायु की निरपेक्ष या वास्तविक आर्द्रता तथा उसी तापमान पर वायु को संतृप्त करने के लिए आवश्यक वाष्प की मात्रा के अनुपात को सापेक्ष आर्द्रता कहते हैं। इसे सदा प्रतिशत में व्यक्त किया जाता है :

$$\text{सापेक्ष आर्द्रता} = \frac{\text{किसी ताप पर उपस्थित जलवाष्प की मात्रा} \times 100}{\text{उसी ताप पर वायु को सतृप्त करने के लिए जलवाष्प की मात्रा}}$$

उदाहरण के लिए, किसी समय 5° सेग्रे. तापमान पर एक घनमीटर वायु में जलवाष्प की 3.7 मिलीग्राम मात्रा है, किन्तु उस तापमान (5° सेग्रे.) पर एक घनमीटर वायु को संतृप्त करने के लिए 7 मिलीग्राम चाहिए अर्थात् वायु की अधिकतम जलवाष्प धारण करने की क्षमता 7 मिलीग्राम है। इस प्रकार इस सूत्र के अनुसार सापेक्ष आर्द्रता निम्न प्रकार होगी :

$$\text{सापेक्ष आर्द्रता} = \frac{3\ 7 \times 100}{7} = 50\%$$

तापमान तथा वास्तविक आर्द्रता के परिवर्तन के साथ-साथ सापेक्ष आर्द्रता भी परिवर्तित होती रहती है। तापमान के घटने या बढ़ने पर भी निरपेक्ष आर्द्रता समान रह सकती है किन्तु सापेक्ष आर्द्रता के प्रतिशत में अन्तर आ जायेगा निम्न है :

सारणी 3

तापमान		निरपेक्ष आर्द्रता (ग्रेन में)	सापेक्ष आर्द्रता (प्रतिशत मे)
फारेनहाइट	सेण्टीग्रेड		
40°	4.4°	2.9	100
50°	10.0°	2.9	71
60°	15.6°	2.9	51
70°	21.1°	2.9	36
80°	26.7°	2.9	27
90°	32.2°	2.9	19

विषुवत रेखीय क्षेत्रों में सापेक्ष आर्द्रता सर्वाधिक तथा अयन रेखाओं पर न्यूनतम रहती है। ध्रुवों की ओर तापमान के घटने के साथ-साथ साधारणतः यह बढ़ती जाती है किन्तु 30° उत्तरी व दक्षिणी अक्षांशों के समीप यह मात्रा में घट जाती है। 30° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के समीप उपोष्णीय प्रति-चक्रवातों तथा वायु अवतलन के कारण धरातल का तापमान बढ़ जाता है जिसके परिणामस्वरूप सापेक्ष आर्द्रता घटती है। किन्तु इन अक्षांशों के पश्चात् दोनों ध्रुवों की ओर सापेक्ष आर्द्रता पुनः बढ़ना प्रारम्भ कर देती है।

चित्र 23·5 सापेक्षिक आर्द्रता का वितरण (हार्विट्ज तथा आस्टिन, 1944)
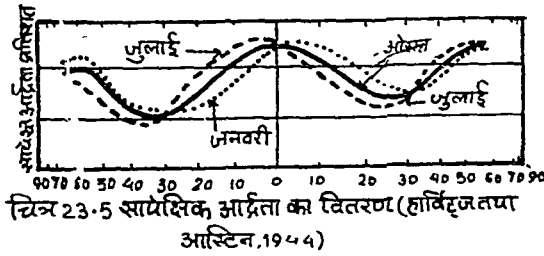
उपरोक्त चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि अक्षांशों और ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ सापेक्ष आर्द्रता परिवर्तित होती रहती है। महाद्वीपों पर तापमान के घटने और बढ़ने से सापेक्ष आर्द्रता अधिक प्रभावित होती है। अतः यह ग्रीष्म ऋतु में कम और शीत ऋतु में अधिक होती है। समुद्रों में सापेक्ष आर्द्रता पर ऋतुओं का कम प्रभाव पड़ता है तथा अयन रेखाओं पर सापेक्ष आर्द्रता न्यूनतम होती है।

विशिष्ट आर्द्रता को आर्द्रता मिश्रण अनुपात भी कहते हैं। किसी स्थान पर निश्चित वायु भार में उपस्थित जलवाष्प की मात्रा को विशिष्ट आर्द्रता कहते हैं। विशिष्ट आर्द्रता कुल वायु की मात्रा (जलवाष्प सहित) तथा उसमें उपस्थित जलवाष्प की मात्रा का अनुपात है। व्यावहारिक रूप से निरपेक्ष तथा विशिष्ट आर्द्रता दोनों ही समान होती हैं। इनको निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है :

$$\text{विशिष्ट आर्द्रता} = \frac{\text{जलवाष्प की मात्रा}}{\text{कुल वायु की मात्रा (शुष्क वायु + आर्द्र वायु)}}$$

$$\text{आर्द्रता मिश्रण अनुपात} = \frac{\text{कुल जलवाष्प की मात्रा}}{\text{शुष्क वायु की मात्रा}}$$

(हार्विट्ज तथा आस्टिन) 1944

चित्र 23·6 पृथ्वी पर विशिष्ट आर्द्रता का वितरण
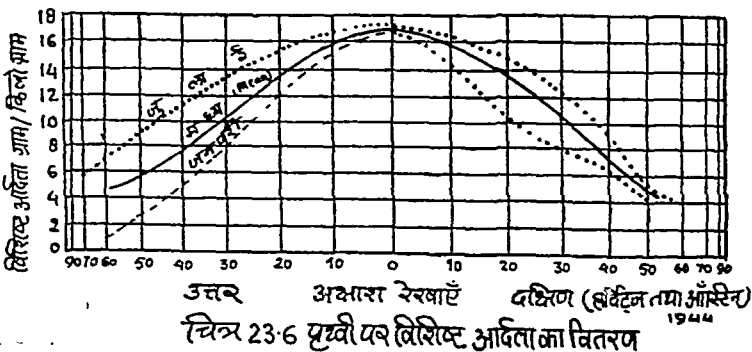
संघनन

जब वाष्प से परिपूर्ण वायु का तापमान कम हो जाता है तब उसमें वाष्प धारण करने की शक्ति भी कम हो जाती है। अतः ऐसी अवस्था में वायु वाष्प को जल या हिम के अनेकों रूपों में छोड़ देती है। वाष्प को जल के रूप में बदलने की प्रक्रिया घनीभवन या संघनन कहलाती है। अर्थात् जलवाष्प का द्रवित होना संघनन कहलाता है। संघनन संतृप्त वायु में आर्द्रता बढ़ने अथवा संतृप्त वायु के तापमान के कम होने से होता है। संतृप्त वायु में और अधिक आर्द्रता की समाविष्टि से वायु जलवाष्प धारण क्षमता से अधिक या अतिरिक्त जल को छोटी बूंदों के रूप में छोड़ देगी जिसे "ओसांक बिन्दु" कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस तापमान पर संघनन प्रारम्भ होता है, उस तापमान को ओसांक बिन्दु कहते हैं। वायु के तापमान गिरने की गति, धूल कणों की मात्रा तथा अन्य परिस्थितियों के अनुसार संघनन के अनेक रूप हो जाते हैं, जैसे ओस, कुहरा, धुन्ध, पाला, हिम, ओला, मेघ और वर्षा। वायु में संघनन दो कारणों से होता है—

एक तो वायु का तापमान कम होना, संतृप्त वायु में अधिक जल का मिश्रण, वायु की स्वयं विकिरण क्रिया द्वारा, पृथ्वी पर ठण्डी वस्तुओं के सम्पर्क से, ऊपर चढ़ने से तथा गर्म तथा ठण्डी वायु के मिलने से कम हो जाता है।

संतृप्त वायु में और भी अधिक (उसकी क्षमता से अधिक) जलवाष्प का मिश्रण होने से होता है जैसे समुद्रों से बहने वाली पछुआ हवायें अपनी क्षमता से अधिक आर्द्रता ग्रहण कर लेती हैं, जिसके परिणामस्वरूप संघनन हो जाता है।

ओस—प्रायः शीत ऋतु में प्रातःकाल पत्थरों के नीचे, पेड़-पौधों की पत्तियों व घास आदि पर पानी की बूंदें जमी दिखाई देती हैं, इसी को ओस कहते हैं। सूर्यास्त के तुरन्त पश्चात् धरातल से ताप विकिरण द्वारा वायु में समाविष्ट हो जाता है। फलस्वरूप धरातल की वस्तुयें ठण्डी और धरातल के समीप की वायु गर्म हो जाती है। अतः रात्रि के शान्त वातावरण में जब गर्म वायु ठण्डी वस्तुओं को स्पर्श करती है तो उसका तापमान तुरन्त गिर जाता है। वायु में दिन के सूर्यताप के कारण जलवाष्प पहले से ही विद्यमान रहती है, अतः गर्म वायु और ठण्डे पदार्थों के सम्पर्क से संघनन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तथा वायु में विद्यमान जलवाष्प की कुछ मात्रा ठण्डी वस्तुओं पर पानी की छोटी बूंदों के रूप में रह जाती है। इसे ओस कहते हैं, ओस के लिए स्वच्छ आकाश व शान्त वातावरण होना आवश्यक है। सन् 1818 से पूर्व यह भ्रामक विचार प्रचलित था कि ओस आकाश से गिरती है। डाक्टर वेल्स ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि ओस पृथ्वी पर ही गर्म वायु के ठण्डी वस्तुओं के सम्पर्क से बनती है। जॉन एकटन ने सिद्ध किया कि न केवल वायु में विद्यमान जलवाष्प द्वारा संघनन होता है, किन्तु धरातल, पेड़-पौधों से जो वाष्प निकलती है, उसका अधिकांश भाग ओस में परिवर्तित हो जाता है।

कुहरा और कुहासा

कुहरा धरातल के निकट विकिरण, विभिन्न तापमान की वायु संहितियों के मिश्रण के परिणामस्वरूप बनता है। जलवाष्प युक्त गर्म वायु जब ठण्डी वायु या ठण्डे धरातल के सम्पर्क में आती है तो उसकी वाष्प सूक्ष्म जल-कणों में परिवर्तित हो जाती है। यह जलकण वायु में विद्यमान धूल कणों पर आधारित होकर वायुमण्डल में तैरने लगते हैं तथा कुहरे का रूप ले लेते हैं। कुहरा शीत ऋतु में प्रातःकाल के समय अधिकांशतः जलाशयों के किनारे

घना छाया रहता है और दृष्टि अवरोध करता है। कुहरे के लिए मेघ रहित स्वच्छ आकाश और शान्त वातावरण होना आवश्यक है।

कुहरा दो भौतिक प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न होता है—धरातल की वायु का ठण्डा होना तथा वायु में वाष्पीकरण। इन विधियों के आधार पर कुहरा निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

कुहरा
↓

शीतलन प्रक्रम द्वारा	पाष्पीकरण प्रक्रम द्वारा
1. विकिरण कुहरा	1. वाष्प कुहरा
2. अभिवहन कुहरा	2. सीमाग्र कुहरा
3. आरोही या पर्वतीय कुहरा	
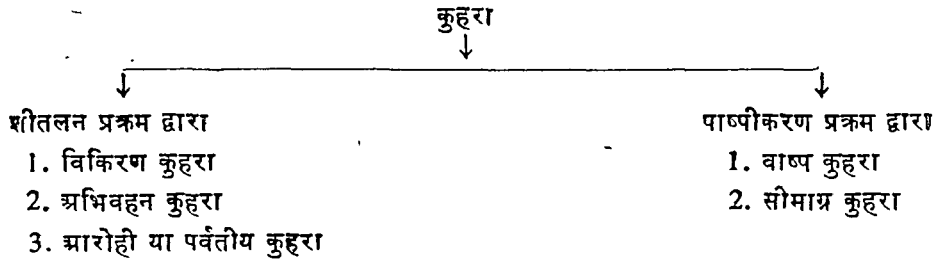
शीतलन प्रक्रम द्वारा उत्पन्न कुहरों में विकिरण, अभिवहन, आरोही प्रक्रिया से बना कुहरा प्रमुख है।

विकिरण तथा संचालन द्वारा रात्रि में धरातल ओसांक से नीचे ठण्डा हो जाता है। अतः शीतल धरातल के सम्पर्क में आने वाली वायु की पतली परत पूर्णरूप से संतृप्त होकर अपने में विद्यमान वाष्प को संघनित कर कुहरे को जन्म देती है। ऐसे कुहरे को विकिरण कुहरा या धरातलीय कुहरा कहते हैं। इसके लिए शान्त वायु का होना अत्यावश्यक है जिससे विभिन्न तापमान की पवन का मिश्रण न सके।

औद्योगिक नगरों में कारखानों तथा घरों की चिमनियों से निकले धूंए के कण विकिरण कुहरे के लिए आर्द्रता-ग्राही होते हैं जिससे कुहरा इतना घना हो जाता है कि दृष्टि कुछ मीटर ही रह जाती है। ऐसे कुहरे को धूम-कुहरा कहते हैं। विकिरण कुहरे के लिए महाद्वीपों के आन्तरिक भाग आदर्श होते हैं जहां वायु अपने अवतलन प्रवाह से बादलों को विसरित कर उनकी आर्द्रता भूमि तक ले आती है।

अभिवहन कुहरा वहन करती हुई नम वायु संहिति के शीतल होने से उत्पन्न होता है, इस कुहरे की उत्पत्ति तापमान की क्षैतिजीय प्रवणता के कारण होती है। वायुपुंज एक स्थान से दूसरे स्थान को अभिवहित होकर नये स्थान के अनुकूल बन जाते हैं। जब वाष्पयुक्त वायु संहिति वहन करती हुई किसी ठण्डे धरातल के सम्पर्क में आती है तो कुहरा छा जाता है। इसी तरह से जब गर्म वायु शीतल समुद्री धाराओं के ऊपर से प्रवाहित होती है तो कुहरा उत्पन्न होता है। इस कुहरे को सागरीय कुहरा कहते हैं।

जब आर्द्रतापूर्ण वायुपुंज शीतल वायुपुंज के सम्पर्क में आ जाता है तो उनके संगम स्थान पर अभिवहन कुहरा उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति शीतोष्ण कटिबन्धों अथवा ऐसे स्थानों पर जहाँ गर्म और ठण्डी वायु संहितियां वहन करती हुई एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं। इस कुहरे को 'सम्पर्कीय कुहरा' कहते हैं।

अभिवहन कुहरा उसी स्थिति में बनता है जबकि वायुपुंजों की गति साधारण हो। यदि गति मन्द हुई तो शीतलन होने में बाधा आती है और यदि तीव्र हुई तो ऊर्ध्वाधर

विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है जिससे कुहरे के कण बिखर जाते हैं। ऐसे कुहरे के लिए 8 से 20 किमी/घंटा गति की वायु उपयुक्त रहती है।
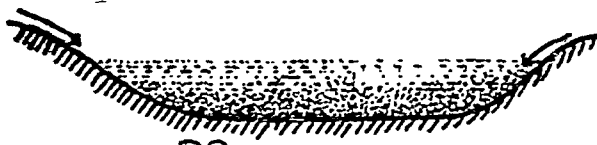
क - विकिरण कुहरा
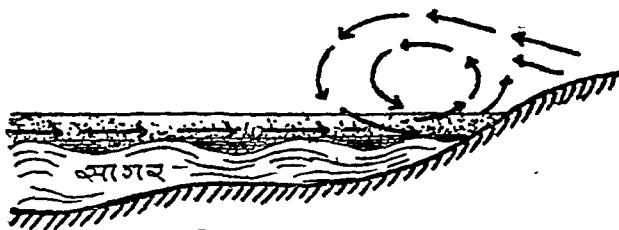
ख - अभिवहन या सम्पर्कीय कुहरा
(सागरीय)
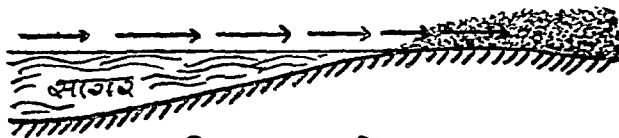
ग - अभिवन या सम्पर्कीय कुहरा (भाप कुहरा)

चित्र · 23 · 7

पर्वतीय क्षेत्रों में नीचे से गर्म और आर्द्र वायु ऊपरी ढालों पर चढ़ते हुए जब शीतल वायु के सम्पर्क में आती है तो आरोही या पर्वतीय कुहरा उत्पन्न होता है। यदि वायु में आर्द्रता की मात्रा अधिक होती है तो कुहरा निचले ढालों पर ही रह जाता है अन्यथा ऊँचाई पर बनता है।

वाष्पीकरण प्रक्रम द्वारा बना कुहरा वाष्प कुहरा तथा सीमाग्र कुहरा कहलाता है।

वाष्प कुहरा उस समय उत्पन्न होता है जब समद्र की गर्म जल की सतह पर शीतल पवन सम्पर्क करते हुए चलती हैं। सागन के अपेक्षाकृत गर्म जल से शीतल पवन वाष्प को आत्मसात कर लेती है जिसके परिणामस्वरूप कुहरा सुगमता से उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार का कुहरा शीत ऋतु में आर्कटिक सागर पर बन जाता है जहाँ स्थल खण्डों की अत्यधिक शीतल पवन सागर पर बहती हैं।

गर्म तथा ठण्डी वायुराशियों की सीमाग्रों पर वर्षा होने के पश्चात् पुनः वाष्पीकरण और वायु के शीतल होने के फलस्वरूप सीमाग्र कुहरे की उत्पत्ति होती है। यह थोड़े समय तक ही रहता है किन्तु हल्की और घनी फुआर के रूप में गिरता है। यह वाताग्र के गर्म सीमान्त से सम्बन्द्ध रहता है। धरातल के निकट जब अपेक्षाकृत गर्म वर्षा होती है तो ताप प्रवणता के कारण कुहरे की धूमिल दशा थोड़े समय तक कायम रहती है।

वायु में आर्द्रता यदि कम हो तो धरातल को स्पर्श करते ही जलवाष्प पाले का रूप ग्रहण कर लेता है। पाला उसी दशा में उत्पन्न होता है जबकि वायु का तापमान शीघ्रता से हिमबिन्दु से नीचे गिरे तथा और अधिक समय तक 0° सेग्रे. से नीचे रहे। पाले के लिए भी स्वच्छ आकाश और शान्त वायु की आवश्यकता होती है। पर्वतीय ढालों की अपेक्षा घाटियों में पाला अधिक गिरता है, क्योंकि पर्वतों में ऊँचे हिमाच्छादित शिखरों से अत्यन्त शीतल और सघन वायु पहाड़ी ढालों से खिसककर घाटी में एकत्रित हो जाती है। कभी-कभी शीत ऋतु में मैदानी भागों में भी पाल गिरता है। पाले से वनस्पति एव फसलों को हानि होती है। पाला कई तरह का होता है जैसे हल्का, भारी, कठोर, तीक्ष्ण, संहारक आदि।

जब वायु का संघनन हिमांक अर्थात् 0° सेग्रे. तापमान पर होता है तो वायु में विद्यमान वाष्प हिम के सूक्ष्म कणों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। यह हिमकण धूलकणों पर आधारित होकर वायु में तैरने लगते हैं तथा अधिक संघनन होने पर ये सूक्ष्म हिमकण धुनी हुई रुई के समान पृथ्वी पर गिरने लगते हैं। इस क्रिया को हिमपात कहते हैं। कुहरे और हिम में केवल यह अन्तर है कि कुहरे में तापमान हिमांक से ऊपर और हिम के बनते समय हिमांक से नीचे होता है। हिमपात उच्च अक्षांशीय देशों या ऊँचे पर्वतो पर होता है। ऊँचे पर्वतो पर ऐसी सीमा आती है जिस ऊँचाई पर सदैव हिम जमी रहती है। इस ऊँचाई की सीमा को हिम-रेखा कहते हैं। हिम-रेखा ऊँचाई तथा अक्षांशों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। ध्रुवों पर यह समुद्र-तल पर, द. ग्रीनलैण्ड में 600 मी. नॉर्वे में 1200–2500 मी., आल्प्स पर लगभग 2700 मी., हिमालय पर 4300–5300 मी., द. अफ्रीका में 4900 मी. तथा विषुवत रेखा के ऊँचे पर्वतो पर 5600 से 6000 मी. है।

धरातल पर वर्षण तीन तरह से होता है—जल, हिम तथा ओलों के रूप में। साधारणतः वर्षा जल रूप मे होती है, किन्तु जब वायु का तापमान हिमांक पर होता है तो जल कण हिमकणों में परिवर्तित हो जाते हैं। हिमकण बनते ही वायु की धाराएँ द्रुत गति से ऊपर-नीचे चलने लगती हैं। वायु की तेज धाराओं के साथ हिमकण भी ऊपर-नीचे नाचने लगते हैं। इस प्रक्रिया से हिम के सूक्ष्म कण एक-दूसरे से गुंथ कर बड़े ओलों का रूप धारण कर लेते है। वायु ओलों का भारी बोझ सभालने में असमर्थ हो जाती है और ओले पृथ्वी पर गिरने लगते हैं। ओले संघनन की अत्यधिक अस्थिरता से सम्बन्द्ध होते हैं। असाधारण स्थानीय तपन तथा संवाहनीय धाराओं के ऊपर-नीचे चलते रहने के कारण ये वाताग्र के शीत-सीमान्त पर कपसीले-वर्षा मेघो से गिरते हैं। ध्रुवीय, विषुवत रेखीय तथा मरुस्थलीय प्रदेशों में ओले नहीं गिरते। मध्य अक्षांशीय प्रदेशों में, विशेषकर बसन्त ऋतु में तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा चीन में ओलों की वृष्टि सामान्य रूप से होती है किन्तु ब्रिटेन में ये शीत ऋतु में गिरते हैं। इसके अतिरिक्त भारत के उत्तरी भाग और दक्षिणी अफ्रीका के पठारों पर ओले बहुधा गिरते रहते हैं।

वायु की स्थिरता तथा अस्थिरता

वायु की स्थिरता या अस्थिरता उसके सामान्य तथा शुष्क रुद्रोष्म तापह्रास मात्रा के अन्तर पर आधारित रहती है। वायु की सामान्य तापह्रास मात्रा प्रति 100 मीटर 1° सेग्रे. होती है। शुष्क वायु का रुद्रोष्म ताप-परिवर्तन सर्वथा समान रहता है, किन्तु आर्द्र वायु का रुद्रोष्म ताप-परिवर्तन वायु के तापमान के साथ परिवर्तित होता रहता है। आर्द्र वायु

का तापमान संघनन के कारण परिवर्तित होता है। जब आर्द्रता मेघों का रूप धारण कर लेती है तो वाष्प का गुप्त ताप मुक्त हो जाता है जिसको रुद्रोष्म तापह्रास मात्रा कहते हैं। इस अवस्था में तापह्रास मात्रा सामान्य से कम होती है। अतः इसको मन्दित रुद्रोष्म ह्रास मात्रा अथवा संतृप्त रुद्रोष्म ह्रास दर कहते हैं। अत्यधिक गर्म वायु संहिति में संतृप्त रुद्रोष्म ह्रास मात्रा 4° सेग्रे. प्रति किलोमीटर हो सकती है, जबकि निम्न तापमान में यह मात्रा 9° सेग्रे. प्रति किमी. तक हो सकती है।

यदि भौतिक शक्ति से ऊपर चढ़ती हुई वायु संहिति की ह्रास मात्रा पास की वायु से अधिक है, किन्तु वह ओसांक तक नहीं पहुँचती है तो समयान्तर में वह अपेक्षाकृत सघन तथा भारी हो जायेगी। वायु की जैसे ही भौतिक शक्ति समाप्त होगी वह आस-पास की वायु से भारी होने के कारण नीचे आने लगेगी। वायु की इस अवस्था को स्थिर सन्तुलन कहते हैं।

जब कोई वायु संहिति अपने आस-पास की वायु से अपेक्षाकृत अधिक गर्म होती है तो हल्की होने के कारण वह ऊपर चढ़ने लगती है। वायु की इस अवस्था को अस्थिर सन्तुलन कहते हैं। संवाहनीय क्रिया, पर्वतीय ढालों पर यान्त्रिक विधि, वाताग्र के अग्रमुख शीतल धरातल पर तथा उष्ण कटिबन्धीय तूफानों में वायु ऊपर चढ़ जाती है।

संतृप्त वायु शुष्क वायु की अपेक्षा देर से ठण्डी होती है। अतः संतृप्त वायु शुष्क वायु की अपेक्षा अधिक अस्थिर होती है जबकि ऊपर चढ़ती हुई वायु इतनी ऊपर पहुँच जाती है कि वहाँ उसका तापमान आस-पास की वायु के समान हो जाता है तो यह अवस्था उदासीन सन्तुलन कहलाती है। यदि कोई वायु यांत्रिक रीति से ऊपर उठती है और ऊपर जाकर संघनन के कारण आस-पास की वायु से कम तापह्रास करती है, तब अपेक्षाकृत गर्म होने के कारण यह अपने गुण से ही ऊपर उठती है। वायु की इस अवस्था को सप्रतिबन्धी अस्थिरता कहते हैं।
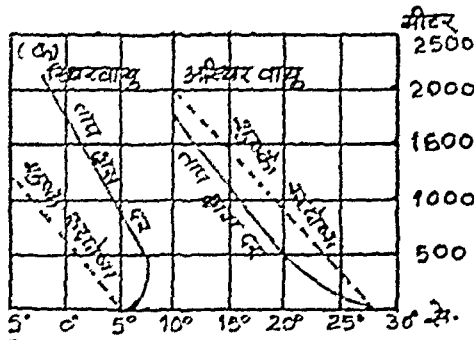
चित्र 23·8 क· स्थिर वायु (रुद्रोष्म की दर ताप ह्रास की दर से अधिक)
अस्थिर वायु (रुद्रोष्म की दर ताप ह्रास की दर से कम)

वास्तव में वायु संहिति की स्थिरता अथवा अस्थिरता उसका रुद्रोष्म गुण है, जो उसके आस-पास के वातावरण के सम्बन्ध को निर्धारित करता है। एक अस्थायी वायु पुंज

सरलता से आलोड़ित हो सकता है जबकि एक स्थायी वायुपुंज पूर्ववत् अवस्था में ही रहता है।

मेघ

जल या हिम की सूक्ष्म बूँदें धूलकणों पर तैरती हुई जब विशाल मात्रा में एक वायु पुंज का निर्माण करती हैं तो उसे मेघ कहते हैं। मेघ और कुहरे की रचना समान रूप से होती है, अन्तर केवल इतना है कि कुहरा भूतल के निकट और मेघ ऊँचाई पर बनते हैं। मेघ वायु में पाये जाने वाले जलवाष्प का सबसे व्यापक रूप है। मेघों का निर्माण ऊपर उठती हुई अस्थिर वायु द्वारा होता है। अधिक ऊँचाई पर वायु में विद्यमान आर्द्रता ओसांक प्राप्त कर लेती है। इस क्रिया से गुप्त ऊष्मा मुक्त होकर संघनन उत्पन्न करती है जिसके फलस्वरूप मेघों का निर्माण होता है। यदि वाष्पकण बिना तरलावस्था को प्राप्त किए हिम कणो में परिवर्तित हो जाते हैं तो इस क्रिया को उर्ध्वपतन कहते हैं।

वायुमण्डल में असंख्य सूक्ष्म धूलकण रहते हैं। अतः मेघों के जलकण धूलकणों पर तैरते हुए अत्यन्त सूक्ष्म (1/100 मिलीमीटर व्यास) होते हैं। अन्दर से खोखले होने के कारण तथा ऊपर उठती हल्की कर्षण प्रतिरोध से पवन कणों को नीचे गिरने से रोकती है। यदि ये सूक्ष्म कण नीचे गिर भी जाते हैं तो धरातल से ऊपर उठती गर्म वायु के कारण पुनः वाष्पीकृत हो जाते हैं। ऐसे सूक्ष्म कणों से निर्मित मेघ स्थायी व वर्षा रहित होते हैं। वर्षा उसी अवस्था में होती है जब मेघों के जलकण संघनन क्रिया द्वारा बड़े आकार के हो जायें। ब्रुक्स के अनुसार वर्षा वाली बूँद लगभग 80 लाख कणों से निर्मित होती है एवं 200 गुने
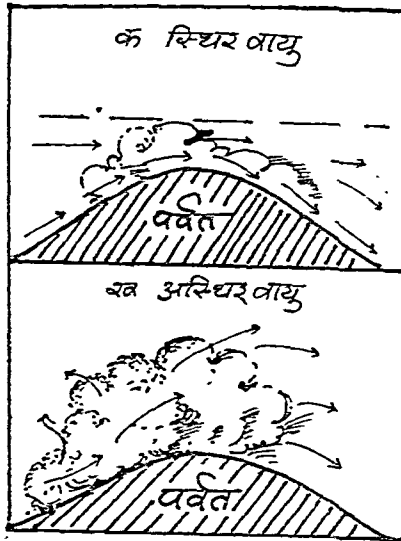
चित्र 23 9 क- स्थिर वायु राशि
ख अस्थिर वायु राशि

वेग से नीचे गिरती है। इसका अधिकतम व्यास 5 मिलीमीटर होता है। जल की बूंदों के लिए आधार केन्द्र होना आवश्यक है। मेघ के प्रत्येक जलकण में नमक अथवा धूलकण होए

हैं जो संघनन में सहायक होते हैं। भोसांक से नीचे जलवाष्प को संघनन के लिए आर्द्रता-ग्राही पदार्थ की आवश्यकता होती है, जो समुद्री लवण के सूक्ष्म कणों द्वारा होता है। परीक्षणों के अनुसार प्रति घन सेन्टीमीटर वायु में 40 से 50 हजार तक लवण के सूक्ष्म कण विद्यमान रहते हैं जो बूँदों के आधार केन्द्र होते हैं। वर्षा के लिए बड़ी बूँदों तथा नीचे की वायु की परत का तापमान कम होना आवश्यक है अन्यथा जलकण वाष्पीकृत होकर पुनः ऊपर चले जाते हैं।

मेघों पर स्थिर तथा अस्थिर वायुपुंजों का भी प्रभाव होता है। स्थिर वायुपुंज में पर्वतीय अवरोध आने पर भी उतने विशाल बादल नहीं बनते जितने अस्थिर वायुपुंज से बनते हैं।

होवर्ड ने संघनन के आधार पर मेघों को वर्गीकृत किया है। विश्व मौसम संगठन के तत्वावधान में 'मेघ और जल अध्ययन समिति' ने कुछ विशेष बिन्दुओं के आधार पर मेघों का वर्गीकरण किया जो मेघ-एटलस के नाम से चार भागों में प्रकाशित हुआ है।

मेघों के वर्गीकरण के आधार बिन्दु निम्न हैं—धरातल से मेघ के आधार तथा शीर्ष की ऊँचाई (निम्न, मध्य एवं उच्च), मेघों का विस्तार (उर्ध्वाधर एवं क्षैतिज), मेघ कणों की आकृति (हिम कण, वाष्पकण एवं जलकण)।

सारणी 4

धरातल से मेघ के आधार तल की ऊँचाई

(मीटरों में)

मेघ समूह	उष्ण कटिबन्ध	शीतोष्ण कटिबन्ध	शीत कटिबन्ध
उच्च	6 से 18 हजार	5 से 13 हजार	3 से 8 हजार
मध्य	2 से 8 हजार	2 से 7 हजार	2 से 4 हजार
निम्न	2 हजार से कम	2 हजार से कम	2 हजार से कम

विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर मेघों की ऊँचाई क्षोभ मण्डल की ऊँचाई के साथ-साथ कम होती जाती है। उच्च, मध्य एवं निम्न मेघों को कई उप समूहों में विभाजित किया गया है।

विस्तार के आधार पर मेघों को दो उप-समूहों में विभाजित किया गया है—क्षैतिजीय विस्तार के मेघ जैसे पक्षाभ तथा स्तरी मेघ तथा उर्ध्वाधर विस्तार के मेघ जैसे कपासी मेघ।

मेघों की आकृति उनके कणों के आधार पर निर्भर रहती है जैसे पक्षाभ मेघ हिम कणों से तथा स्तरी और कपासी मेघ वाष्प तथा जल कणों से निर्मित होते हैं।

साधारणतः मेघों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—पक्षाभ मेघ, स्तरी मेघ, कपासी मेघ तथा वर्षा मेघ। अन्तर्राष्ट्रीय मौसम समिति ने ऊँचाई के आधार पर इनको निम्न प्रकार से उप वर्गीकृत किया है :

सारणी 5

मेघों का वर्गीकरण

मेघ समूह (ऊँचाई के आधार पर)	उप-विभाजन	आकार व विस्तार	रंग	सामान्य ऊँचाई (मीटर में)
उच्च मेघ	1. पक्षाभ	घोड़े की पूँछ अथवा वक्राकार रेशमी तन्तुओं जैसे, क्षैतिजीय विस्तार	श्वेत	8 से 12000
	2. पक्षाभ-स्तरी	पतली चादर की भांति, क्षैतिजीय विस्तार	श्वेत तथा पारदर्शी	6 से 10000
	3. पक्षाभ-कपासी	रेत की समानान्तर उर्मिकाओं की भांति, क्षैतिजीय विस्तार	श्वेत	7 से 10000
मध्यम मेघ	1. मध्यस्तरी	अविछिन्न समान चादर की भांति, क्षैतिजीय रूप से विस्तृत	भूरे, नीले	2 से 5000
	2. मध्य-कपासी	मोटी तह वाले गोलाकार एवं आंशिक रूप से रेशेदार, क्षैतिजीय विस्तार	श्वेत व भूरे	3 से 8000
निम्न	1. स्तरी कपासी	अविछिन्न पतली सम-तह वाले, क्षैतिजीय विस्तार	भूरे	1600 से 3000
	2. स्तरी	गोलाकार या बेलनाकार तहों के अविछिन्न तहों वाले, क्षैतिजीय एवं ऊर्ध्वाधर विस्तार	सफेद व हल्के भूरे	3000 से नीचे
निम्न ऊर्ध्वाधर विस्तार के मेघ	3. कपासी	गोभी के फूल जैसी आकृति के ऊर्ध्वाधर रूप से विस्तृत मेघ	ऊपरी भाग चमकीला तथा निचला भाग गहरा भूरा या श्याम वर्ण	300 से 1600
	4. कपासी वर्षी या वज्रपात मेघ	पर्वतों की भांति विशाल आकार, ऊर्ध्वाधर विस्तार	ऊपरी भाग चमकीला तथा निचला भाग गहरा भूरा या श्याम वर्ण	उष्ण कटिबन्ध में आधार 300 से 1500 तथा शीर्ष 14 से 15000

(स्रोत : **मौसम** विज्ञान, राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973, पृष्ठ 90)।
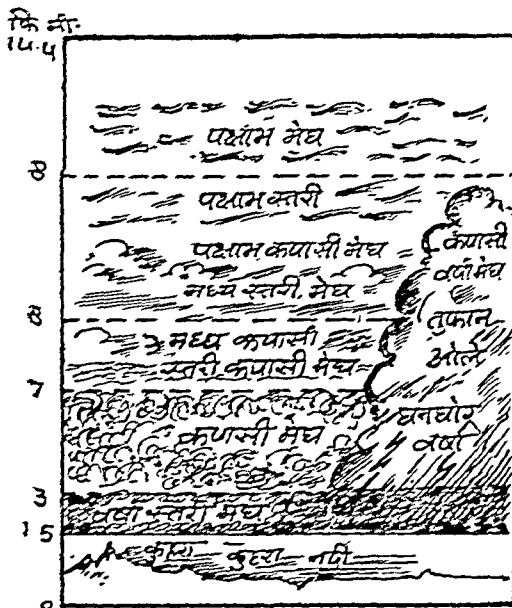
चित्र 23.10 विभिन्न प्रकार के बादल तथा उनकी ऊँचाई

पक्षाभ मेघ—पक्षाभ मेघ उच्च श्रेणी के सबसे ऊँचे मेघ हैं जोकि 8 से 12 किमी. की ऊँचाई के मध्य पाए जाते हैं। इनका निर्माण सूक्ष्म हिमकणों से होता है। अतः यह
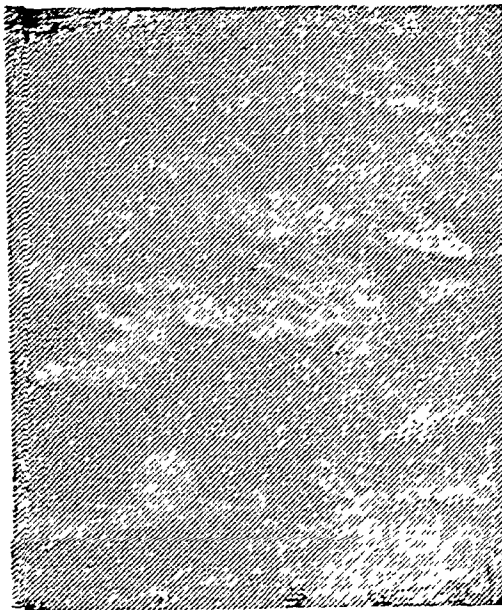
चित्र 23.11 पक्षाभ स्तरी मेघ

श्वेत रंग के हल्के तथा मुलायम मेघ होते हैं। हिमकणों के कारण यह पारदर्शी होते हैं जिनमें से सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणें निकल जाती हैं। अतः न तो इनकी छाया होती है

मेघों के मध्य कहीं-कहीं गहरा भूरा एवं नीला रंग दृष्टिगोचर होता है। इन मेघों के कारण सूर्य एवं चन्द्रमा का प्रकाश धुँधला दिखाई देता है किन्तु बीच-बीच में स्वच्छ हो जाता है।

स्तरी-कपासी मेघ—ये मेघ 3,000 मीटर से नीचे बनते हैं तथा उच्च कपासी मेघों से आकार में कुछ बड़े होते हैं। ये भूरे रंग के मेघ गोलाकार या लहरदार होते हैं तथा कहीं-कहीं काले धब्बे से दृष्टिगोचर होते हैं। यह एक निश्चित प्रक्रिया में होते हैं।

स्तरी मेघ—ये मेघ आकाश में 1600 से 3000 मीटर की ऊँचाई के मध्य होते हैं। स्तरी मेघ परतो या स्तरों में पाए जाते हैं। रंग में ये भूरे होते हैं तथा क्षैतिज रूप से आकाश में फैले रहते हैं। ऊंचे स्थानों पर इनकी उपस्थिति से कुहरे का आभास होता है।
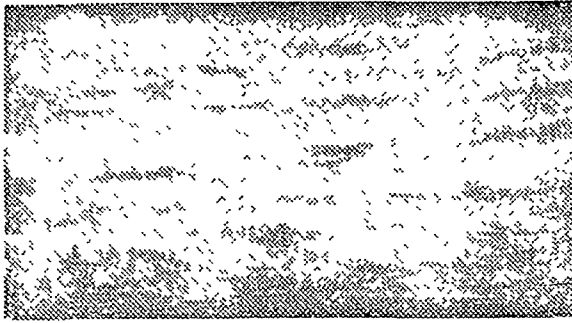
चित्र 23.16 स्तरी मेघ

इनकी वर्षा बौछार के रूप में होती है। परिस्थितियों के अनुसार, स्तरी मेघ, कपासी या मध्यस्तरी के रूप में परिवर्तित होते है। ये स्थानीय रूप से रचित होते हैं। शीतोष्ण कटिबन्ध में ये मेघ प्राय: शीत ऋतु में बनते हैं।

कपासी मेघ—आकाश में 300 से 1600 मीटर की ऊँचाई से 6 से 7000 मी. की ऊँचाई के मध्य विशाल कपास के ढेर की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी मोटाई 1.5 किमी. तक होती है। इनका निचला भाग चपटा तथा ऊपरी भाग उठती पवन के थपेड़ों के कारण, गोभी के फूल जैसा बन जाता है। ये प्राय: संवाहनीय धाराओं द्वारा बने होते हैं। अत: इनका विस्तार अपेक्षाकृत उर्ध्वाधर अधिक होता है। इनकी रचना दिन के तीसरे पहर में ही होती है। साधारणत: इनका रंग भूरा होता है, किन्तु ऊपरी भाग श्वेत चमकदार तक निचला भाग श्याम वर्णी दिखलाई देता है।

कपासी-वर्षी मेघ—इनका पृथक अस्तित्व नहीं है। ये एक प्रकार के विशाल कपासी मेघ ही होते हैं जो 300 से 1500 मीटर तक आकाश में ऊर्ध्वाधर रूप से 14000 से 15000 मीटर की ऊँचाई तक फैले होते हैं। साधारणत: ये गहरे श्याम वर्ण के मेघ होते हैं किन्तु कहीं-कहीं इनका रंग अत्यधिक गहरा भी होता है। सम्पूर्ण आकाश में फैले रहने पर भी ये विशाल कपास के ढेर अथवा पहाड़ों की आकृति के प्रतीत होते हैं। इनके ऊपरी शीर्ष पर पतली तरतों जैसी आकृति बन जाती है जिन्हें मिथ्या पक्षाभ मेघ या निहाई आकृति के मेघों की संज्ञा दी गई है। इनके नीचे हल्के वर्षी मेघों के समान विभिन्न आकृति के पृथक-पृथक मेघ तैरते दृष्टिगोचर होते हैं। कपासी-वर्षी मेघों से गरज और चमक के साथ

वर्षा होती है। इसका ऊपरी भाग हिम-कणों और निचला भाग जल कणों से निर्मित होता है। अतः हिमपात तथा तूफान इन मेघों के साथ जुड़े हुए हैं।
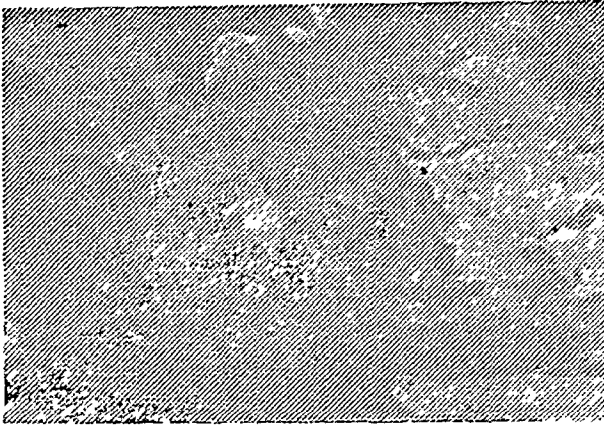
चित्र 23.17 कपापी-वर्षी मेघ

ऋतु विज्ञान के अनुसार मेघाच्छन्नता आकाश में घिरे मेघों के अनुपात को कहते हैं। दशमलव अंश द्वारा इसे प्रदर्शित किया जाता है।

सारणी 5

मेघाच्छन्नता का अनुपात

अनुपात (10 में से)	मेघाच्छान्नता
0/10	मेघरहित स्वच्छ आकाश
1/10 से कम	लगभग मेघरहित आकाश
1/10 से 5/10	छितराये मेघ
5/10 से 9/10	खण्डित मेघ
9/10 से अधिक	सम्पूर्ण मेघाच्छन्नता

वर्षा—वर्षा के लिए जलवाष्प का संघनन होना परम आवश्यक है। जलवाष्प तीन प्रकार से शीतल व संघनित होती है—गर्म वायु के ऊपर उठकर फैलने से, मार्ग में पर्वतों के कारण रुकावट आ जाने से तथा गर्म व ठण्डी पवन के परस्पर मिलने से। अतः वर्षा के तीन प्रकार हैं—संवाहनीय वर्षा, पर्वतीय वर्षा और चक्रवाती वर्षा।

किसी स्थान के अत्यधिक गर्म हो जाने से उसके सम्पर्क में आकर वायु भी गर्म हो जाती है। गर्म वायु हल्की होकर ऊपर को उठती है तथा फैल जाती है जिससे उसका ताप-मान गिर जाता है। यह वायु हजारों मीटर ऊँची उस समय और सीमा तक ऊपर उठती रहती है जब तक कि उसका तापमान उस क्षेत्र के पवन के समान न हो जाय। यदि उस सीमा से पूर्व ही वायु में संघनन प्रारम्भ हो जाता है तो यह गुप्तताप छोड़ कर फिर गर्म हो

सकती है और पुनः ऊपर उठने लगती है। वायु के ठण्डे होने के कारण संघनन प्रारम्भ हो जाता है और जलवाष्प 'कपासी-वर्षा मेघों' के रूप में आकाश में छा जाता है तथा वर्षा प्रारम्भ हो जाती है जोकि साधारणतः दिन के तीसरे पहर होती है। विषुवत रेखीय प्रदेशों
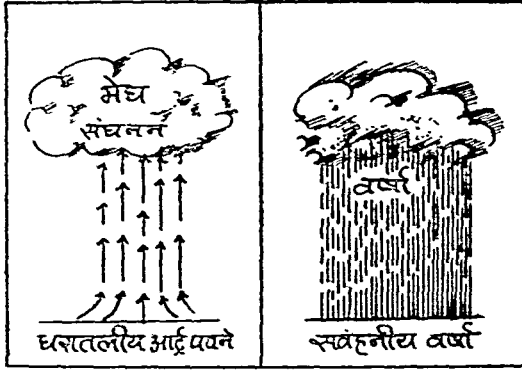
चित्र 23·18 संवहनीय वर्षा - क-ऊपर चढ़ती आर्द्र पवनें (संघनन) ख- संवहनीय वर्षा

में उच्च तापमान के कारण वर्ष भर संवहनीय वर्षा होती रहती है जिसे सायंकाल की वर्षा कहते हैं। इसके अतिरिक्त शीतोष्ण तथा उष्ण कटिबन्धों के महाद्वीपों के भीतरी भागों में भी संवहनीय वर्षा होती है।

वाष्पयुक्त पवन के मार्ग में जब धरातल का ऊँचा उठा भाग, जैसे पर्वत, पठार या ऊँची पहाड़ी आ जाती है तो पवन को अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए ऊँचे भू-खण्डों पर चढ़ना पड़ता है। ऊपर चढ़ती पवन अपना ताप छोड़ती जाती है तथा ऊपर पहुँच कर पहाड़ी ढालों पर ठण्डी होकर संघनित हो जाती है तथा वर्षा कर देती है। ऐसी वर्षा को पर्वतीय वर्षा कहते हैं।

पर्वतीय वर्षा से पर्वतों के पवनाभिमुख ढालों पर प्रचुर वर्षा होती है किन्तु पवना-विमुख ढाल वर्षा से वंचित रह जाते हैं। वर्षाविहीन पवनाविमुख ढालों को वृष्टि-छाया प्रदेश कहते हैं। भारत में हिमालय पर्वत के दक्षिणी ढालों पर मानसूनी पवनों से पर्वतीय
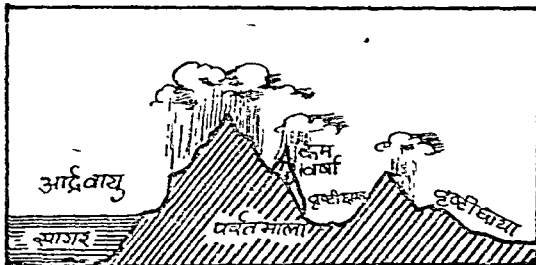
चित्र 23·19 पर्वतीय वर्षा

वर्षा होती है किन्तु उत्तरी ढाल वृष्टि-छाया में आने के कारण वंचित रह जाते हैं। इसी तरह दक्षिणी पठारी भाग के पश्चिमी घाट के पूर्वी भाग में भी वृष्टि-छाया के अन्तर्गत आ जाने से, पश्चिमी भाग की तुलना में बहुत कम वर्षा होती है।

उत्तरी गोलार्द्ध में जब दक्षिण की ओर से गर्म और उत्तर की ओर से ठण्डी पवनें एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो गर्म पवन की राशि हल्की होने के कारण ठण्डी पवन की परत पर चक्र-क्रम से ऊपर चढ़ जाती हैं। शीतल और सघन पवन के सम्पर्क में आने से गर्म पवन पुंज में संघनन प्रारम्भ हो जाता है तथा वर्षा होने लगती है। इस वर्षा को चक्रवातीय वर्षा कहते हैं। शीतोष्ण कटिबन्धीय भागों में पछुवा हवाओं से ऐसी ही वर्षा होती है। शीत ऋतु में उत्तरी भारत में भी ऐसी वर्षा होती है। चक्रवातीय वर्षा में कभी-कभी बिजली की चमक और गर्ज के साथ वर्षा होती है।

चित्र 23·20 चक्रवातीय वर्षा

भूतल पर वर्षा वितरण साधारणतः वर्षा और तापमान का सम्बन्ध है। तापमान से वायुदाब प्रभावित होता है तथा वायुदाब के कारण आर्द्रतापूर्ण पवन निम्न भार वाले क्षेत्रों की ओर प्रवाहित होती हैं। अतः इनके कारणों के आधार पर स्थान विशेष की वर्षा की मात्रा आधारित होती है :

उच्च ताप→निम्न वायुदाब→अधिक आर्द्रता→अधिक वर्षा
न्यून ताप→अधिक वायुदाब→कम आर्द्रता→कम वर्षा

तापमान एवं वायुदाब के अतिरिक्त भी धरातलीय रूपरेखा, वायुपुंजों के सीमाग्र प्रदेशों और तट रेखा की समीपता से प्रभावित होती है। अतः प्रत्येक अक्षांश में कटिबन्धीय वर्षा-विन्यास देशान्तरीय विभिन्नताओं से परिपूर्ण है। साधारणतः विषुवत रेखा के समीप सूर्यताप से अधिक वर्षा होती है जो अक्षांशों के साथ-साथ ध्रुवों की ओर घटती जाती है। इसी तरह तटों से दूर होने पर वर्षा कम होती जाती है। उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में महाद्वीपों के पूर्वी तथा समशीतोष्ण कटिबन्धों में महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर अधिक वर्षा होती है जो महाद्वीपों के अंतराल में क्रमशः कम होती जाती है। कर्क व मकर रेखाओं पर स्थित महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में व्यापारिक एवं मानसूनी पवन के कभी-कभी आ जाने से वर्षा अत्यन्त अल्प मात्रा में होती है। अतः इन प्रदेशों में सहारा, कालाहारी, थार, पीरू अटाकामा, आस्ट्रेलिया आदि के मरुस्थल पाए जाते हैं। पछुआ पवन की पेटी में पश्चमी किनारे पर वर्ष भर वर्षा होती है, किन्तु मानसूनी प्रदेशों में ग्रीष्म ऋतु में मानसूनी हवा के से थल की ओर चलने से वर्षा होती है। पर्वतीय भागों के पवनाभिमुख ढालों पर वर्षा विपरीत ढाल की अपेक्षा अधिक होती है, जैसे हिमालय के दक्षिणी ढाल पर, रॉकीज और एण्डीज पर्वतों के पश्चिमी ढालों पर अधिक वर्षा होती है।

सम्पूर्ण पृथ्वी की औसत वार्षिक वर्षा का अनुमान 975 मिलीमीटर (39 इंच) है। इसका वितरण असमान है। विषुवत रेखा के समीप 10° अक्षांशों तक दोनों गोलार्द्धों में लगभग 1778 से 2032 मि.मी. वर्षा होती है। विषुवत रेखा के दोनों ओर 10° अक्षांशों के मध्य वार्षिक वर्षा का औसत 200 सेमी. है। यहाँ वर्ष भर वर्षा होती है। विषुवत रेखा

के दोनों ओर 20° से 30° अक्षांशों के मध्य उच्च वायुदाब की पेटी में वर्षा कम हो जाती है। इस प्रदेश के महाद्वीपों के पश्चिमी तटीय भागों में अपतटीय व्यापारिक पवन चलने के कारण वर्षा केवल 10 से 15 सेमी. हो जाती है और वह भी कई वर्ष में एक बार। अतः पश्चिमी भागों में मरुस्थल पाए जाते हैं। किन्तु पूर्वी तटीय भागों में और मानसूनी प्रदेशों में व्यापारिक पवन के अभितटीय होने के कारण 10° से 30° अक्षांशो के मध्य वार्षिक वर्षा का औसत 150 से 200 सेमी. है। इसी भूभाग के महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में वर्षा कम होती जाती है।

दोनों गोलार्द्धों में 30° से 40° अक्षांशों के मध्य महाद्वीपों के पश्चिमी किनारे पर भूमध्य सागरीय तथा पूर्वी किनारों पर चीन तुल्य जलवायु मिलती है। पवन पेटियों के ग्रीष्म ऋतु में उत्तर और शीत ऋतु में दक्षिण की ओर खिसकने के कारण पश्चिमी तटीय प्रदेश ग्रीष्म मे अपतटीय व्यापारिक पवन तथा शीत ऋतु में पछुवा अभितटीय पवन के प्रभाव क्षेत्र में आने के कारण शीतकालीन वर्षा होती है और ग्रीष्म ऋतु शुष्क रहती है। यहां वर्षा का औसत 35 से 55 सेमी. है। किन्तु इसी भूभाग के पूर्वी तटीय क्षेत्रों में वर्षा लगभग वर्ष भर होती है। ग्रीष्म ऋतु में व्यापारिक अभितटीय और शीत ऋतु में चक्रवातीय वर्षा होती है। यहां वर्षा 50 से 200 सेमी. तक हो जाती है। इसी क्षेत्र के स्थल खण्डों के आन्तरिक भागो में समुद्र से दूरी के अनुपात में वर्षा कम होते-होते 50 सेमी रह जाती है।

चित्र 23 21 संसार की ग्रीष्म कालीन वर्षा
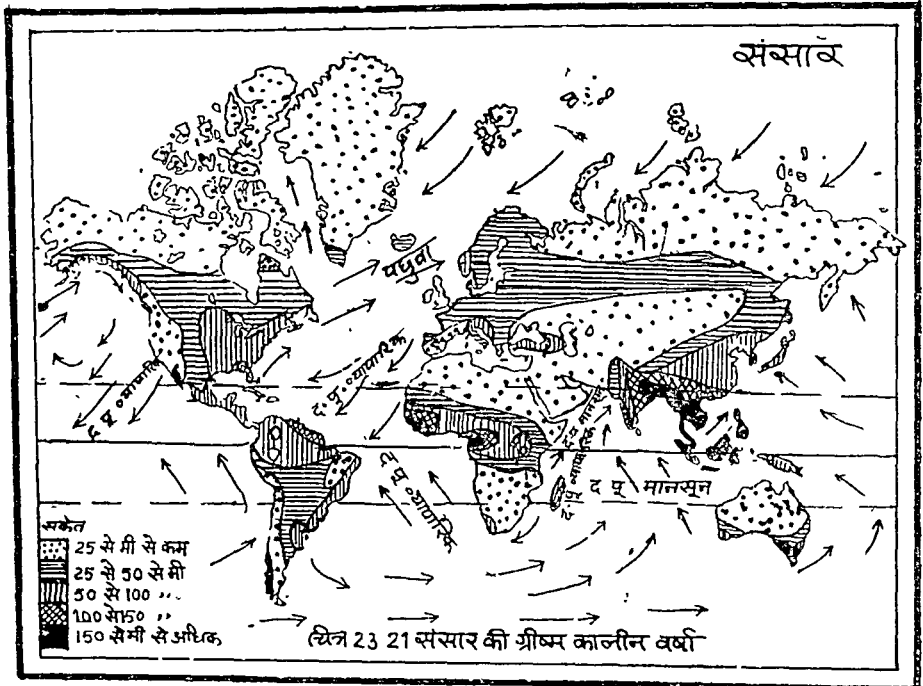
40° से 60° अक्षांशो के मध्य दोनों गोलार्द्धों में महाद्वीपों के पश्चिमी तटीय भागों में वर्ष भर पछुवा अभितटीय पवन लगभग 140 सेमी. वार्षिक वर्षा करते हैं जबकि पूर्वी तटीय प्रदेशों में 66 सेमी. ही वर्षा होती है। यहां वार्षिक वर्षा लगभग 50 सेमी. होती है। अधिकांश वर्षा ग्रीष्म ऋतु में होती है।

60° उत्तरी अक्षांश के पश्चात् ध्रुव की ओर वर्षा का औसत घटता जाता है। स्थल खण्डों के अभाव में दक्षिणी गोलार्द्ध में केवल महासागरों पर ही वर्षा होती है। शीत कटिबन्धों में ताप की कमी के कारण वाष्पीकरण भी अल्प मात्रा में होता है। अतः वर्षा भी अत्यन्त कम होती है। 60° से 70° के मध्य वर्षा का औसत 25 सेमी. रहता है। अधिकांश वर्षा ग्रीष्म ऋतु के उत्तरार्द्ध या पतझड़ के पूर्वार्द्ध में होती है। कभी-कभी वर्षा हिम के रूप में भी होती है। 70° उत्तरी अक्षांश मे ध्रुव की ओर तापमान हिमांक से नीचे चला जाता है। परिणामस्वरूप प्रतिचक्रवातों का विकास होता रहता है तथा वर्षा अत्यन्त अल्प मात्रा में लगभग 15 सेमी. हिमपातों रूप में होती है।

वर्षा के वितरण को स्थल और समुद्र का वितरण सर्वाधिक प्रभावित करता है। उत्तरी गोलार्द्ध में जल और स्थल का क्षेत्रफल लगभग समान है। अतः यहां जल और स्थल के अक्षांशीय वर्षा-वितरण में अत्यधिक असमानता पाई जाती है। यदि हम पृथ्वी की वर्षा को 100 इकाई मानलें तो इसका केवल 19 प्रतिशत महाद्वीपों पर और शेष 18 प्रतिशत महासागरों पर वितरण होगा।

चित्र 23.22 संसार की शीतकालीन वर्षा

चित्र 23.23 (क) वर्षा का मौसमी वितरण

चित्र 23.23 (ख) संसार की वार्षिक वर्षा

वर्षा के आधार पर संसार के प्रदेश

ट्रेवार्था ने विश्व-वर्षा के वितरण को आठ भागों में विभक्त किया है :

सारणी 6

क्र.	क्षेत्र	ऋतु	वर्षा	मात्रा (सेमी. में)
1	उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश	वर्ष भर	संवाहनीय	200 से अधिक
2	उष्ण कटिबन्धीय मध्यम वर्षा प्रदेश	ग्रीष्म	व्यापारिक तथा मानसूनी	100 से 200
3	उष्ण कटिबन्धीय शुष्क प्रदेश	,,	संवाहनीय	10 से 15
4	उपोष्ण आर्द्र प्रदेश	,,	व्यापारिक	50 से 200
5	उपोष्ण प्रदेश	शीत	पछुवा	35 से 55
6	मध्य अक्षांशीय आर्द्र प्रदेश	वर्ष भर	पछुवा	140
7	मध्य अक्षांशीय उप-आर्द्र प्रदेश	ग्रीष्म	मानसूनी	53 से 66
8	उच्च अक्षांशीय अल्प-वर्षा प्रदेश	वर्ष भर	हिमपात	15 से कम
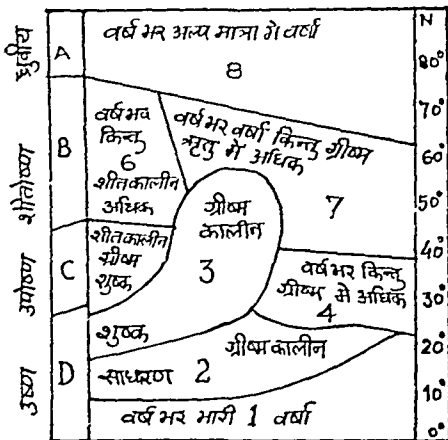
चित्र 23·24 एक काल्पनिक महाद्वीप में वर्षा का वितरण (ट्रेवार्था, 1954)

1. वर्ष भर अधिक वर्षा
2. मध्यम वर्षा
3. शुष्क
4. आर्द्र
5. उप-आर्द्र
6. आर्द्र वर्ष भर वर्षा
7. उप-आर्द्र
8. न्यून वर्षा

(A) ध्रुवीय
(B) शीतोष्ण
(C) उपोष्ण
(D) उष्ण

वायुदाब तथा वायु प्रवाह की दिशा और वर्षा का सम्बन्ध

वायुदाब तथा वायु प्रवाह की दिशा से वर्षा का घनिष्ट सम्बन्ध है। उच्च वायुदाब के क्षेत्र वर्षा से वंचित रह जाते हैं, जबकि निम्न दाब वाले क्षेत्रों में वर्षा साधारणतः होती है। उच्च दाब की पेटियों में वर्षा का वितरण घटता जाता है जबकि न्यून दाब की पेटियों में स्थिति विपरीत पाई जाती है अर्थात् वर्षा की मात्रा सीमान्त प्रदेश से भीतर की ओर बढ़ती है। वायुदाब की पेटियां स्थायी हैं। अतः इनसे संलग्न गृहीय वायुपुंज भी स्थायी हैं। लम्बवत सूर्य के साथ वायुदाब की पेटियों के उत्तर-दक्षिण खिसकने से गृहीय पवन पेटियां भी उनका अनुसरण करती हैं जिसके कारण वर्षा में मौसमी परिवर्तन आ जाता है, उदाहरणार्थ भूमध्य सागरीय प्रदेशों में शीतकालीन वर्षा होती है तथा ग्रीष्म-ऋतु शुष्क होती है। इसी तरह मानसूनी प्रदेशों में ग्रीष्म ऋतु में न्यूनदाब बनने से ग्रीष्मकालीन वर्षा होती है।

वायुदाब के अतिरिक्त वायु प्रवाह की दिशा भी वर्षा को प्रभावित करती है। अभि-तटीय पवन से वर्षा होती है जबकि अपतटीय पवन शुष्क होती हैं। यदि शीतल और गर्म पवन एक दूसरे से विपरीत दिशाओं से आकर किसी स्थान पर मिलें तो उस संगम स्थान पर चक्रवातीय वर्षा होगी। नीचे उतरती पवन से वर्षा की सम्भावना कम होती है जबकि ऊपर चढ़ती पवन से संघनन के कारण वर्षा होती है। जैसे उच्चदाब की पेटियों पर ऊपर से नीचे उतरती हुई पवन शुष्क होती है किन्तु विषुवत रेखा पर संवाहनिक पवन वर्षा करती हैं।
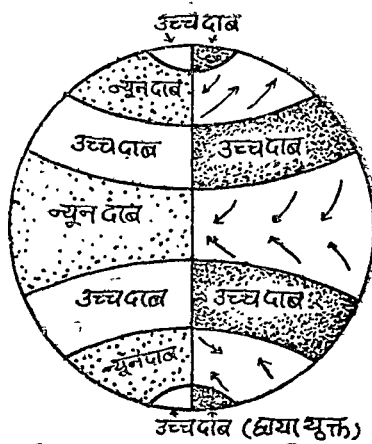
वर्षा (न्यून दाब के क्षेत्र) वर्षा रहित या अल्प-वर्षा (छाया युक्त) वर्षा (उच्चदाब के क्षेत्र)

चित्र 23 25 वर्षा तथा वायु दाब की पेटियों में सम्बन्ध

सारणी 7

उत्तरी गोलार्द्ध में वायुदाब, वायु दिशा तथा वर्षा का अक्षांशी वितरण

अक्षांश	वायुदाब	वायु की दिशा	वर्षा
0°–10°	न्यून	शांत संवाहनिक (ऊपर चढ़ती हुई)	भारी संवाहनिक
10°–20°	साधारण न्यून	उ.-पू. व्यापारिक पवनें	साधारण
20°–30°	अति उच्च	शांत नीचे उतरती हुई पवनें	ग्रीष्म ऋतु में अल्प
30°–40°	उच्च	पछुवा पवनें	शीतकालीन वर्षा (पश्चिमी तटीय भागों पर), ग्रीष्मकालीन वर्षा (पूर्वी तटीय प्रदेशों में)
40°–50°	साधारण उच्च	द.-प. पवनें	साधारण से कम
50°–60°	अति न्यून	परिवर्तनशील पवनें	चक्रवातीय अधिक
60°–70°	साधारण न्यून	उ. ध्रुवीय पवनें	पश्चिमी किनारों पर चक्रवातीय तथा आन्तरिक भागों मे साधारण
70°–90°	अति उच्च	उ. ध्रुवीय पवनें	अल्प वर्षा, धुन्ध तथा हिमपात

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Barry, R. G. and Chorley (1971), Atmosphere, Weather and Climate (Methuen, London).
2. Battan, L. J. (1962), Cloud physics and cloud seeding (Double Day and Co., New York).
3. Blair, Thomas A. (1965), Weather Elements (Prentice Hall, Inc., New York).
4. Byers, H. R. (1939), Atmospheric Humidity and Condensation, General Meteorology, pp. 106-160 (McGraw Hill Book Co., New York).
5. Chow, V. T., ed. (1964), Handbook of applied hydrology (McGraw Hill Book Co., New York, Section 9 & 10).
6. Koeppe, C. E. and ⌞elong, G. C. (1958), Weather and Climate (Mc Graw Hill Book Co., Inc., New York).

7. Haurwitz, B. & Austin, J. N. (1944), Climatology (McGraw Hill Book Co., New York).
8. Hulbert, J. (1970), All About Weather (W. H. Allen, London).
9. Manson, B. J. (1962), Clouds, Rain and Rain Making (Cambridge University Press, London).
10. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography, 4th ed. (John Wiley and Sons, Inc., New York).
11. Trewartha, G. T. (1954), An Introduction to Climate (McGraw Hill Book Co., New York).
12. Went, F. W. (1955), Fog, mist, dew, and other sources of water, Year Book of Agriculture, 1955, U. S. Dept. Agr , pp. 103–109.
13. World Meteorological Organization (1956), Introduction Cloud Atlas, Geneva, Switzerland, 2 Vols , English Language edition.
14. तिवाड़ी, अनिलकुमार (1974), जलवायु विज्ञान के मूल तत्त्व (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर).
15. बनर्जी, रमेशचन्द्र; उपाध्याय, दयाशंकर (1973), मौसम विज्ञान (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर).

24

वायुपुंज एवं वायु-विक्षोभ

[Air Masses and their Disturbances]

वायुपुंज अथवा वायुसंहिति समानअर्थी हैं। ये परिवर्तनशील होती हैं। इनकी विभिन्नता में तापमान, वायुदाब की प्रवणता, आर्द्रता और घनत्व का प्रमुख हाथ है। ट्रिवार्था के अनुसार वायुपुंज वायुमण्डल का वह वृहत् भाग है जिसमें तापमान और आर्द्रता क्षैतिज रूप में समान अनुपात में होते हैं। वायुपुंज वायुमण्डल के विशाल क्षेत्र को घेरे रहती है। इनका विस्तार अन्तर्महाद्वीपीय भी होता है। उर्ध्वाकार रूप में यह क्षोभ मण्डल तक प्रवाहित रहती हैं। सभी क्षेत्रों में इनके भौतिक लक्षण एक से हैं। वायुपुंज पृथ्वी के तरातल से ही अपने भौतिक लक्षण प्राप्त करते हैं। अतः वायु समूह समान दशाओं वाले धरातल पर लम्बे समय तक विद्यमान रहे हैं जिससे वे अपने तापमान व आर्द्रता की अवस्थाओं में *अनुपातित समानता ला सके। जिस क्षेत्र में वायुपुंज का उद्भव होता है, वह उसका* उद्गम क्षेत्र कहलाता है।

अपने भौतिक लक्षणों की विभिन्नता के कारण एक वायु समूह दूसरे से भिन्न होता है। तापमान की विभिन्नता के कारण ये पुंज गर्म और ठण्डी तथा आर्द्रता की विभिन्नता के कारण शुष्क और आर्द्र होते हैं। जिस स्थान पर दो असमान भौतिक लक्षण वाले वायु-पुंज मिलते हैं वह स्थान 'सीमाग्र प्रदेश' कहलाता है। उदाहरणार्थ उष्ण कटिबन्धीय तथा ध्रुवीय प्रदेशों के वायुपुंजों का संगमप्रदेश ध्रुवीय सीमाग्र है। सीमाग्र प्रदेश में दो आसमान लक्षणों वाले वायुपुंजों के संगम से हवा में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है तथा तापमान और आर्द्रता में अकस्मात् परिवर्तन आ जाता है। अतः वायुपुंज की स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में परिवर्तित होकर वायुमण्डलीय विक्षोभ, चक्रवात एवं झंझावात को जन्म देती है।

अपने भौतिक लक्षणों को लम्बे समय तक बनाये रखने के कारण वायुपुंज न केवल सीमाग्र प्रदेश में ही मौसम को परिवर्तित कर देते हैं, अपितु ये जिस क्षेत्र से होकर आगे बढ़ते हैं उस क्षेत्र के जलवायु को भी प्रभावित करते हैं। इनमें मन्द गति से भौतिक परिवर्तन आता है इसलिये ये दैनिक मौसम परिवर्तन के अध्ययन में बड़े सहायक सिद्ध होते हैं।

इन वायुपुंजों में ताप का लम्बवत् वितरण एवं आर्द्रता की मात्रा दो प्रमुख तत्त्व होते हैं। ताप का लम्बवत् वितरण व उसकी प्रवणता, वायुपुंज की स्थिरता, संघनन एवं वर्षा को निर्धारण करता है। जब कोई वायु संहिति ठण्डे प्रदेश से उष्ण प्रदेश में पहुंचती है तो

धरातल से ताप प्राप्त कर अस्थिर हो जाती है तथा इसके विपरीत जब उष्ण प्रदेश की वायु संहिति ठण्डे प्रदेश में प्रवेश करती है तो स्थिर हो जाती है।

किसी वायु संहिति की समानता तथा एकरूपता के भौतिक गुणों का निर्धारण चार तत्वों– वायु राशियों के उद्गम क्षेत्र, इनकी स्थानान्तरण दिशा, वायु-राशियों के परिवर्तन, अवधि पर निर्भर करता है।

पृथ्वी पर वायुमण्डलीय असमानताओं में सन्तुलन स्थापित करने के लिए वृहत् पैमाने पर भौतिक प्रक्रियायें हुआ करती हैं स्थानीय रूप से विकिरण तथा लम्बवत् ताप मिश्रण केवल धरातलीय ताप और उसके सम्पर्क की वायु राशि के ताप में सन्तुलन स्थापित कर पाते हैं, अत: एक निश्चित क्षेत्र की वायु संहिति कुछ दिनों के धरातलीय सम्पर्क और भौतिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप उस क्षेत्र के धरातलीय तापमान व आर्द्रता की अवस्थाओं में सामंजस्य स्थापित कर लेती हैं। वायु द्वारा धरातल के गुण ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि धरातल समतल हो, शान्त वातावरण हो तथा समान वायुदाब लगभग 4 या 5 दिनों तक स्थिर रहे। यह सभी गुण प्रति चक्रवाती क्षेत्रों में विद्यमान रहते हैं। अत: इस तरह के क्षेत्र ही वायु संहितियों के आदर्श उद्गम क्षेत्र होते हैं। इसके विपरीत चक्रवाती क्षेत्र वायुपुंजों को आकर्षित करते हैं।

वायुपुंज जैसे ही बनते हैं वह पूर्व पवन की दिशा में स्थानान्तरित होना प्रारम्भ कर देते हैं। यह स्थानान्तरण इतना मन्द गति से होता है कि वायुपुंज के मार्ग को ज्ञात करना अत्यन्त सरल होता है। शीत ऋतु में ध्रुवीय महाद्वीपीय क्षेत्र से ठण्डी-वायु संहितियां निकटवर्ती समुद्रों और विषुवत रेखा की ओर तथा ग्रीष्म ऋतु में इसके विपरीत विषुवत रेखा से दक्षिणी एशिया की ओर स्थानान्तरित होती हैं। सागरीय उष्ण कटिबन्धीय वायु संहितियां महासागरों की उच्च वायु दाब कोशिकाओं से महाद्वीपों की ओर स्थानान्तरित होती हैं।

इसके विपरीत उष्ण कटिबन्धों में मध्य एशिया तथा अफ्रीका के सहारा मरुस्थल में वातावरण शान्त रहने के कारण उच्च क्षोभ मण्डलीय अवतलन के कारण यह क्षेत्र वायु-पुंजों के स्रोत बन जाते हैं। मध्य एशिया से दक्षिण की ओर व सहारा से चारों ओर शुष्क एवं गर्म वायु संहितियां चला करती हैं।

एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रवेश करने पर विभिन्न तापमान और आर्द्रता के कारण वायु संहितियों में परिवर्तन आता है, किन्तु वह इतना मन्द और क्रमिक होता है कि अन्तर साधारणत: ज्ञात नहीं हो पाता। अत: विभिन्न वातावरण वाले क्षेत्र में पहुंचने पर भी वायु-पुंजोके भौतिक गुण दीर्घकाल तक पूर्ववत बने रहते हैं जिसके फलस्वरूप ये जहाँ पहुँचते हैं वहाँ की जलवायु में पूर्ण परिवर्तन ला देते हैं। यदि किसी वायुपुंज को लम्बा मार्ग अपनाना पड़ता है तो दूर के स्थान पर पहुँचते-पहुँचते वह अपने उद्गम गुणों और विशेषताओं को परिवर्तित कर देता है। वायु सहिति के परिवर्तन को सम्पर्कीय धरातल का तापमान, स्थानान्तरण मार्ग में आने वाली अवस्थायें, वायुपुंज के स्रोत क्षेत्र से दूरी तथा उद्गम स्थान के समय तथा नये क्षेत्र में प्रवेश तथा वहाँ बने रहने के समय की मध्यावधि, प्रभावित करते हैं।

वायु संहिति में ताप गतिक एवं भौतिक परिवर्तन मुख्य हैं।

जब वायु संहिति धरातल के स्पर्श से ताप ग्रहण करती है या छोड़ती है तो उसको ताप गतिक परिवर्तन कहते हैं। गर्म वायु शीतल धरातल का स्पर्श कर शीतल होगी जबकि शीतल वायु गर्म धरातल को स्पर्श कर गर्म हो जायेगी। यह परिवर्तन क्षैतिज रूप से होता है।

वायुपुंजों के स्थानान्तरण के कारण वायुदाब में परिवर्तन होता है, जिसके कारण पवन का सम्मिश्रण हो जाता है। भौतिक परिवर्तन लम्बरूप से होता है। ऊपर की वायु निचली और नीचे की वायु ऊपर की वायु से मिलती रहती है। विक्षोभों की उत्पत्ति धरातलीय ताप विषमताओं और वायु के धरातल से घर्षण के फलस्वरूप होती है।

स्रोत क्षेत्र तथा विभिन्न वातावरण में प्रवेश कर वहाँ पर विद्यमान रहने तक के समयान्तर को वायुपुंज की अवधि कहते हैं। वायुपुंज नवीन वातावरण में जितनी अधिक अवधि तक रहेगा उसको उतना ही अधिक प्रभावित करेगा। वायुपुंज के परिवर्तन की गहनता उसकी अवधि पर निर्भर करती है। इसके विपरीत वायुपुंज जितना लम्बा मार्ग अपनायेगा उसकी उतनी ही अवधि बढ़ेगी। लम्बी अवधि के कारण वायुपुंज शनैः-शनैः अपनी भौतिक विशेषताओं को खो देता है और किसी क्षेत्र को प्रभावित करने की अपेक्षा स्वयं प्रभावित हो जाता है।

वायुपुंजों की उत्पत्ति के लिए तापमान तथा आर्द्रता अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। किसी क्षेत्र विशेष का धरातल अथवा महासागर उस क्षेत्र की वायु संहिति के तापमान तथा आर्द्रता को नियंत्रित करते हैं। "मौसम विज्ञानियों के अनुसार वायु संहिति के उद्गम क्षेत्र वे धरातल अथवा महासागर तल हैं जो अपने तापमान तथा आर्द्रता की विशेषताओं से उस क्षेत्र पर प्रवाहित वायु संहितियों को प्रभावित करते हैं।" तापमान तथा आर्द्रता की विभिन्नता के कारण ही वायुपुंजों में असमानता पैदा होती है।

तापमान की विभिन्नता अक्षांशीय अन्तर के कारण पैदा होती है जबकि अन्तर्निहित तल की विभिन्नता आर्द्रता में परिवर्तन कर देती है। यह तल महाद्वीपीय अथवा महासागरीय दोनों में से एक हो सकता है। वायुपुंज अक्षांशीय अन्तर तथा संपर्कीय तल की विशेषताओं के कारण तापमान तथा आर्द्रता में क्षैतिज समानता ग्रहण करता है जो उसकी अनिवार्य विशेषता है। यह समानता वायुपुंज के तापमान तथा आर्द्रता में विकिरण एवं विक्षुब्ध मिश्रण द्वारा अत्यन्त मन्द गति से संवाहनीय धाराओं और वायु प्रवाह के कारण पैदा होती है। इसलिए तापमान तथा आर्द्रता में समानता लाने के लिए वायुपुंज का प्रवाह अत्यधिक मन्द होना अनिवार्य है। इस विशेषता को ग्रहण करने के लिए एक वायुपुंज को अपने उद्गम क्षेत्र में कम से कम 4 से 5 दिन तक स्थिर रहना आवश्यक है। इस विशेषता के लिए वायु का अपसरण अनुकूल स्थिति है। इसके विपरीत अभिसरण करती हुई वायु संहिति तापमान की विषमता के कारण विक्षुब्ध होकर ऊपर उठती रहेगी तथा रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए विभिन्न तापमान की वायु संहितियों के आने का क्रम जारी रहेगा। परिणामस्वरूप पृथ्वी के स्थायी उच्चदाब वाले क्षेत्र ही वायुपुंजों की उत्पत्ति के अच्छे स्रोत हैं।

तापमान तथा आर्द्रता के आधार पर वायुपुंजों के उद्गम स्रोतों को तापमान की विभिन्नता के आधार पर विभाजित करते हैं। वायुपुंजों के 5 तथा आर्द्रता के आधार पर 2 मुख्य स्रोत हैं।

सारणी 1

क्र.	वायुपुंज	चिन्ह अंग्रेजी शब्द का प्रथम अक्षर	गुण	तापमान (से.)	विशिष्ट आर्द्रता (ग्राम/किग्रा.)	अक्षांश	उद्गम क्षेत्र
1	महाद्वीपीय आर्कटिक	cA	अत्यन्त ठंडी एवं शुष्क (शीतकाल)	−46°	0.1	60°—80°	आर्कटिक महासागर के सीमावर्ती स्थल क्षत्र
	महासागरीय आर्कटिक	mA	"	"	"	70°—90°	आर्कटिक महासागर
2	महाद्वीपीय एण्टार्कटिक	cAA	अत्यधिक ठंडी एवं शुष्क (शीतकाल)	"	"	"	एण्टार्कटिका महाद्वीप
3	महाद्वीपीय ध्रुवीय	cP	शीतल एवं शुष्क (शीतकाल)	−11°	1.4	50°—60°	ध्रुवीय प्रदेशों के स्थल खण्ड अलास्का, उत्तरी कनाडा, फैनीस्केण्डिया, साइबेरिया उत्तरी मंगोलिया
4	महासागरीय ध्रुवीय	mP	शीतल एवं आर्द्र	4°	4.4	"	उत्तरी प्रशान्त महासागर, उत्तरी एटलाण्टिक महासागर
5	महाद्वीपीय उष्ण-कटिबन्धीय	cT	उष्ण एवं शुष्क	24°	11	20°—35°	सहारा मरुस्थल, उत्तरी तथा मध्य भारत, एशिया तथा दक्षिणी यूरोप के उष्ण और शुष्क भू-भाग, उत्तरी अमेरिका में मिसीसिपी के पश्चिम का शुष्क भाग

6	महागरीय उष्ण-कटिबन्धीय	mT	उष्ण एवं आर्द्र	24°	17	30°—40°	मैक्सिको की खाड़ी, कैरेबियन सागर, संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी-पश्चिमी तटीय सागरीय क्षेत्र, पुर्तगाल के पास के सागरीय क्षेत्र, बिस्के की खाड़ी, भूमध्य सागर, फिलीपाइन्स से लेकर चीन सागर तक
7	महासागरीय विषुवत रेखीय	mE	उष्ण एवं अत्यन्त आर्द्र	27°	19	5°—10°	विषुवत रेखा के समीप महासागरीय क्षेत्र
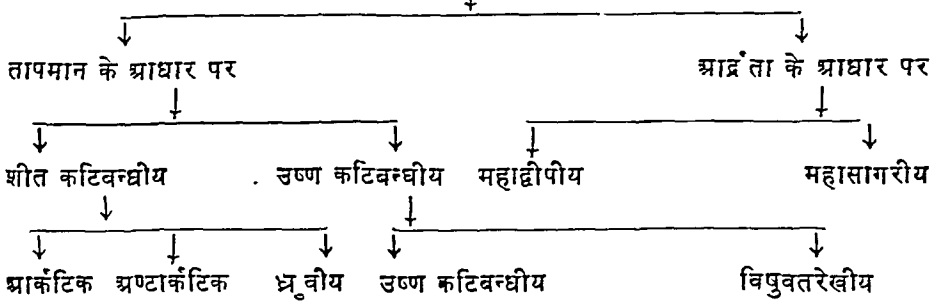
अक्षांशीय स्थिति (तापमान) तथा अन्तर्निहित तल (आर्द्रता) दोनों ही प्रकार के उद्गम स्रोतों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप मुख्य रूप से सात प्रकार के वायुपुंजों की रचना होती है। इनकी अपनी विशेषतायें तथा गुण पृथक-पृथक होते हैं। ये वायुपुंज पृष्ठ 486–487 की सारणी में दिये गये हैं।

महासागरीय विषुवत रेखीय (mE), उष्ण वायुपुंज आर्कटिक (cA) तथा एंटार्कटिक (cAA) की अत्यधिक ठण्डी एवं शुष्क वायुपुंजों की तुलना में 200 गुनी अधिक आर्द्रता रखते हैं; किन्तु महासागरीय उष्ण कटिबन्धीय (mT) व महासागरीय विषुवत रेखीय (mE) वायुपुंजों के तापमान एवं आर्द्रता लगभग समान हैं। महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय (cT) वायुपुंज में जलवाष्प अधिक होते हुए भी अत्यधिक गर्मी के कारण संघनन नहीं हो पाता। इसके विपरीत महासागरीय ध्रुवीय (mP) वायुपुंज विशिष्ट आर्द्रता कम अर्थात् 4·4 ग्राम प्रति किलोग्राम होते हुए भी सापेक्षिक आर्द्रता अधिक होने के कारण वर्षा करते हैं। cA, mA तथा cAA वायुराशियों की विशेषताएँ लगभग समान होती हैं।

यों तो आर्कटिक क्षेत्र सदा हिमावरण में रहता है। किन्तु ग्रीष्म ऋतु में ध्रुवीय महाद्वीपीय उद्गम क्षेत्र में तापमान के कुछ बढ़ जाने के कारण उत्तर की ओर खिसक कर आर्कटिक प्रदेश में केन्द्रित हो जाता है। यह प्रदेश 75° से 90° उ. अक्षांशों के मध्य विस्तृत है। इस प्रदेश के प्रतिचक्रवातों की दक्षिण सीमा अपेक्षाकृत उष्ण एवं आर्द्र पवनों से घिर जाती है। अतः कुहरा एवं स्तरी मेघ प्रायः दृष्टिगोचर होते रहते हैं। आर्कटिक महासागर के आन्तरिक भाग तथा ग्रीनलैण्ड के उत्तरी भाग में प्रतिचक्रवातीय दशा विद्यमान रहती है जो सुनिश्चित वायुपुंज को जन्म देते हैं। ये वायुपुंज शीतल एवं शुष्क होते हैं। इनमें तापमान —46° सेग्रे. और विशिष्ट आर्द्रता 0.1 ग्रा/किग्रा. होती है।

ग्रीष्म काल में कनाडा तथा यूरेशिया के धुर उत्तरी भाग महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुपुंजों के संरचना क्षेत्र हैं। शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में यह भाग उत्तर की ओर सिमट कर एक संकर्ण पट्टी के रूप में हो जाते हैं। अतः वायुपुंजों का स्थायित्व शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्मकाल में कम हो जाता है। ग्रीष्मकाल में यह प्रदेश 55° उ. अक्षांश के उत्तर में पाया जाता है। तापमान–5° से 11° सेग्रे. तक और विशिष्ट आर्द्रता 1.5 ग्रा/किग्रा. से ऊपर ही रहती है। ये वायुपुंज शीतल एवं शुष्क होते हैं।

महासागरीय ध्रुवीय उद्गम क्षेत्र 50° से 60° उ. अक्षांशों के मध्य पाया जाता है। ग्रीष्म काल में उत्तरी प्रशान्त एवं अटलान्टिक महासागरों का जल स्थल की अपेक्षा ठण्डा

रहता है । इसके अतिरिक्त यहाँ की ठण्डी जलधाराएँ सागरीय जल को और भी ठण्डा करने में सहायक होती हैं । प्रशान्त महासागर का एल्यूशियन निम्नभार क्षीण हो जाता है तथा उसके स्थान पर उच्च दाब क्रम अधिक सक्रिय हो जाता है । इसी प्रकार ओखोटस्क सागर का भी उच्चदाब तीव्र होकर वायुपुंजों को जन्म देता है । अटलान्टिक महासागर में केप काड तथा न्यू फाउण्डलैण्ड के मध्य तथा उत्तरी-पूर्वी भाग ग्रीष्मकालीन ध्रुवीय वायुपुंजो के उद्गम क्षेत्र हैं । यहाँ का औसत तापमान 4° सेग्रे. तथा विशिष्ट आर्द्रता 4.4 ग्रा/किग्रा रहती है ।

महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय उद्गम क्षेत्र 20° से 40° उ. अक्षांशों के मध्य पाया जाता है । उत्तरी अमेरिका में उत्तरी मैक्सिको और पश्चिमी टेक्सास, अफ्रीका में सहारा, दक्षिणी यूरोप एवं एशिया में एशिया माइनर ग्रीष्मकालीन वायुपुंजों के जन्म स्थल हैं । ये प्रायः मरुस्थलीय भागों में ही जन्म लेते हैं । उच्चतर वायुमण्डल में ये वायुपुंज स्थायी रहते हैं । शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्मकाल में इनका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है । इन वायुपुंजो को परिवर्तित उष्ण कटिबन्धीय वायु संहिति भी कहा जाता है । तापमान 24° सेग्रे. से अधिक और विशिष्ट आर्द्रता 11 ग्रा/किग्रा रहती है । आर्द्रता अधिक होते हुए भी तापमान उच्च होने के कारण वायुपुंजों में संघनन नहीं हो पाता । अतः ये गर्म और शुष्क वायु संहितियां होती हैं ।

महासागरीय उष्ण कटिबन्धीय उद्गम क्षेत्र 30° से 40° उ. अक्षांशों के मध्य विस्तृत है । ग्रीष्म ऋतु में महाद्वीपों की अपेक्षा महासागर अधिक ठण्डे रहते हैं । इस क्षेत्र में उप-उष्ण कटिबन्धीय प्रतिचक्रवात उत्तर दिशा में स्थानान्तरण के पश्चात् स्थापित हो जाते हैं । शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में ये उद्गम क्षेत्र अधिक फैल जाते हैं । पश्चिमी अटलान्टिक महासागर का बरमुडा उच्च दाब क्रम अधिक सबल हो जाता है । इसी प्रकार एजोर्स उच्च दाब के उत्तरी-पूर्वी भाग में वायु के निरन्तर अवतलन तथा कनारी ठण्डी जलधारा के कारण उष्ण कटिबन्धीय वायु संहितियां जन्म लेती हैं । इनका तापमान अक्षांशों के अनुसार 20° सेग्रे. से 27° सेग्रे. तक रहता है तथा विशिष्ट आर्द्रता 17 ग्रा/किग्रा से भी अधिक होती है ।

मानसूनी उद्गम क्षेत्र महासागरीय उष्ण कटिबन्धीय वायुपुंज का संशोधित रूप है । इसमें तापमान तथा आर्द्रता अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है । इनका स्रोत क्षेत्र उतरी हिन्द महासागर में अरब सागर, बंगाल की खाड़ी, श्याम की खाड़ी तथा विषुवत रेखा के समीप सागरीय क्षेत्र हैं ।

महासागरीय विषुवतरेखीय उद्गम क्षेत्र (mE) विषुवत रेखा के उत्तर में 5° से 10° अक्षांशों के मध्य महासागरीय भागो में फैला हुआ है । शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म काल में यह क्षेत्र उत्तर की ओर स्थानान्तरित हो जाता है । मानसूनी उद्गम क्षेत्र को छोड़कर यह विषुवत रेखा के सहारे विस्तृत है तथा अत्यन्त आर्द्र और गर्म वायुपुंजों को जन्म देता है जो अस्थायी होती हैं । यहां का तापमान 27° सेग्रे. तथा विशिष्टि आर्द्रता 19 ग्रा/किग्रा रहती है ।
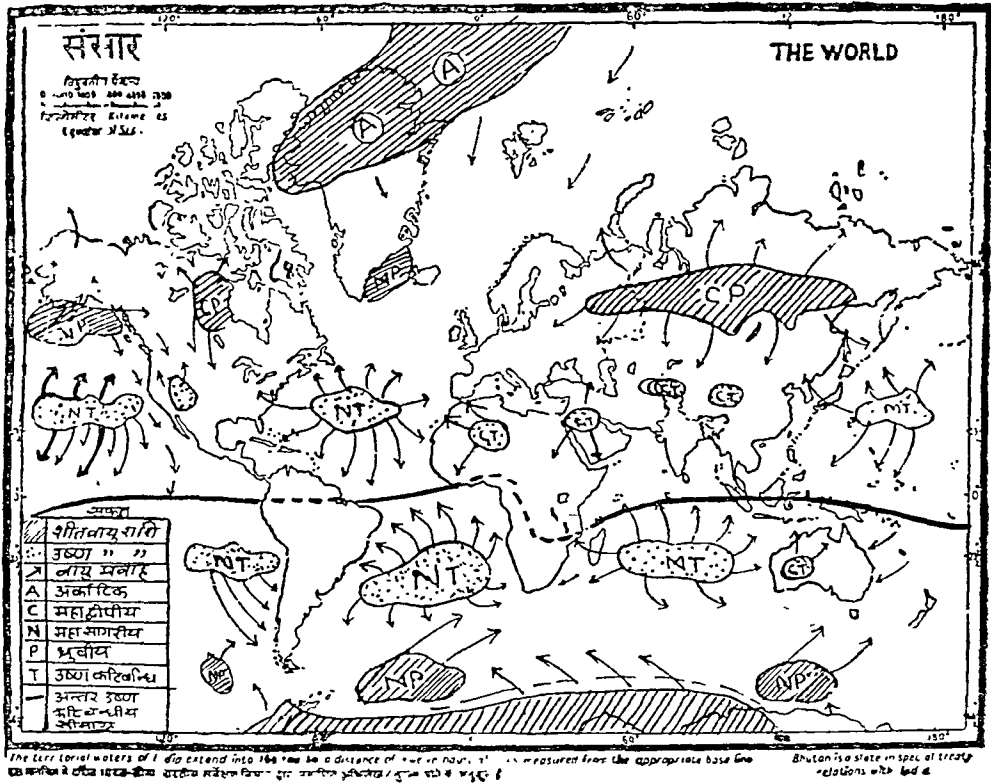
चित्र 24.1 वायुपुंज एवं उनके उद्गम क्षेत्र

उत्तरी गोलार्द्ध की तुलना में दक्षिणी गोलार्द्ध की वायु संहितियों का ज्ञान अभी अधूरा है। स्थल खण्डों की कमी के कारण संमार्गी पवन सदा स्थायी रूप से चलते रहते हैं। दक्षिणी अमेरिका के अतिरिक्त ध्रुव स्थलीय वायुपुंज और कहीं नहीं पाये जाते।

महाद्वीपीय एंटार्कटिक उद्गम क्षेत्र (cAA) अंटार्कटिक महाद्वीप में जो सदा हिमाच्छादित रहता है किन्तु शीतकाल मे तापमान–46° सेग्रे. से भी नीचे चला जाता है जिसके परिणामस्वरूप सदा उच्च दाव बना रहता है पाया जाता है। अत्यन्त शीतल तथा शुष्क वायुपुंज यहाँ जन्म लेते हैं। सागरीय भाग के अधिक विस्तार के कारण यह वायुपुंज महासागरीय ध्रुवीय वायुपुंजों में परिवर्तित हो जाते हैं। इनका प्रभाव अन्टार्टिका के सीमान्त सागरीय क्षेत्रो तक ही सीमित रहता है।

महासागरीय ध्रुवीय उद्गम क्षेत्र (mP) दक्षिणी अटलान्टिक, दक्षिणी हिन्द और द. प. प्रशान्त महासागर के स्थायी उच्चदाब के क्षेत्र हैं जो mP वायुपुंजों को जन्म देते हैं। इन उदगम क्षेत्रो में शीत तथा ग्रीष्म ऋतुओं मे विशेष अन्तर नहीं होता।

शीत ऋतु में द. एटलान्टिक का मध्य भाग तथा दक्षिणी-पश्चिमी प्रशान्त महासागर का स्थायी उच्चदाब क्षेत्र महासागरीय उष्ण कटिबन्धीय mT वायुपुंज स्रोत क्षेत्र हैं। शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्मकाल में ये प्रदेश अधिक विस्तृत हो जाते हैं। ये वायु संहिनियां ठण्डी एवं स्थायी होती हैं।

महासागरीय विषुवत रेखीय उद्गम स्रोत (mE) विपुवत रेखा के दक्षिण में 5° द. अक्षांश से 10° द. अक्षांश तक सागरीय भागों में फैले हुए हैं। वायु संवाहनिक क्रिया द्वारा विषुवत रेखा पर ऊपर उठकर उष्ण महासागरों पर अवतरित होती है। द. गोलार्द्ध में यह वायुपुंज व्यापारिक पवन के सम्पर्क में आते हैं। अतः इसमें आर्द्रता रहती है और ये अस्थिर हो जाते हैं।

वायुपुंजों का वर्गीकरण

वायुपुंजों के वर्गीकरण को सरल बनाने के लिए ऋतु वैज्ञानिकों ने इनको उत्पत्ति, परिवर्तन तथा अवधि की विशेषताओं को आधार मानकर उनके लिए अंग्रेजी के अक्षरों का प्रयोग किया है। बर्गेरन ने उत्पत्ति स्थान के अनुसार ध्रुवीय वायुपुंजों को (P) तथा उष्ण कटिबन्धीय को (T) अक्षरों से चिह्नित किया है। इस प्रकार के सभी प्रकार के वायुपुंजों को चार वर्गों में विभाजित किया है :

प्रथम वर्ग (P) ध्रुवीय तथा 'T' उष्ण कटिबन्धीय वायुपुंज। यह मुख्य वायु संहितियां हैं।

द्वितीय वर्ग में मुख्य वायुपुंजों के विभाजन कर उन्हें (m) समुद्री तथा (C) महाद्वीपीय वायु संहितियों में बांटा है। यह विभाजन धरातल का बनावट पर आधारित है।

तृतीय वर्ग में परिवर्तन के आधार पर (K) ठण्डी तथा (W) को गर्म वायु संहितियों के लिए प्रयोग किया गया है।

चतुर्थ वर्ग वास्तव में तृतीय वर्ग का उपवर्ग है। इसमें स्थिर वायुपुंज के लिए (s) तथा अस्थिर के लिए (U) का प्रयोग किया गया है।

ट्रेवार्था के अनुसार पृष्ठ 492 की सारणी में वायुपुजों को 16 वर्गो में विभाजित किया गया है।

महाद्वीपों पर वायुपुंज

महाद्वीपों पर अनेकों वायुपुंज पाये जाते हैं जिनकी अपनी पृथक-पृथक विशेषताएँ हैं। इसके अतिरिक्त ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ भी वायुपुंजों में परिवर्तन आ जाता है तथा ये स्थान भी बदल लेते हैं।

उत्तरी अमेरिका की वायु संहितियां

महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुपुंज

शीत ऋतु में 50° से 55° उत्तरी अक्षांशों के मध्य, अलास्का, उत्तरी कनाडा तथा दक्षिणी आर्कटिक महासागर के हिमवर्ती सीमांत क्षेत्र से उठ कर दक्षिण मे मैक्सिको तक पहुंचते हैं। राकी पर्वत प्रशान्त महासागरीय पछुवा पवन को आने से रोके रहता है। धरातल अत्यन्त ठण्डा रहता है तथा वायु का तापमान 0° से प्रायः नीचे रहता है। बोस्टन का तापमान शीतकाल में —6° सेग्रे. तक हो जाता है। विकिरण के कारण धरातलीय तापप्रतिलोमीकरण हो जाता है। प्रतिचक्रवातीय वातावरण के कारण वायु स्थायी हो जाती है। अतः अपने स्रोत क्षेत्र में यह ठण्डी और स्थायी (cPKs) रहती है किन्तु दक्षिण और पूर्व की ओर बढ़ने से गर्म धरातल के सम्पर्क में आकर यह कुछ गर्म (W) हो जाती है। इसीलिए इसे cPWs की संज्ञा दी गई है।

सारणी 2—**वायु संहितियों का वर्गीकरण**

प्रथम वर्ग P—T	द्वितीय वर्ग c—m	तृतीय वर्ग K—W	चतुर्थ वर्ग (तृतीय वर्ग का उपवर्ग) s—u
P ध्रुवीय	1. cP महाद्वीपीय ध्रुवीय	(a) cPK महाद्वीपीय ध्रुवीय ठंडी	1. cPKs महाद्वीपीय ध्रुवीय ठंडी स्थायी 2. cPKu महाद्वीपीय ध्रुवीय ठंडी अस्थायी
		(b) cPW महाद्वीपीय ध्रुवीय गर्म	3. cPWs महाद्वीपीय ध्रुवीय गर्म स्थायी 4. cPWu महाद्वीपीघ ध्रुवीय गर्म अस्थायी
	2. mP महासागरीय ध्रुवीय	(a) mPK महासागरीय ध्रुवीय ठंडी	5. mPKs महासागरीय ध्रुवीय ठंडी स्थायी 6. mPKu महासागरीय ध्रुवीय ठंडी अस्थायी
		(b) mPW महासागरीय ध्रुवीय गर्म	7. mPWs सागरीय ध्रुवीय ठंडी स्थायी 8. mPWu सागरीय ध्रुवीय ठंडी अस्थायी
T उष्ण कटिबन्धीय	1. cT महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय	(a) cTR महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय ठंडी	9. cTKs महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय ठंडी स्थायी 10. cTKu महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय ठंडी अस्थायी
		(b) cTW महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय गर्म	11. cTWs महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय गर्म स्थायी 12. cTWu महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय गर्म अस्थायी
	2. mT सागरीय उष्ण कटिबन्धीय	(a) mTK सागरीय उष्ण कटिबन्धीय ठंडी	13. mTKs सागरीय उष्ण कटिबन्धीय ठंडी स्थायी 14. mTKu सागरीय उष्ण कटिबन्धीय ठंडी अस्थायी
		(b) mTW सागरीय उष्ण कटिबन्धीय गर्म	15. mTWs सागरीय उष्ण कटिबन्धीय ठंडी स्थायी 16. mTWu सागरीय उष्ण कटिबन्धीय ठंडी अस्थायी

ग्रीष्म ऋतु में भी इनका स्रोत क्षेत्र तो वही रहता है किन्तु तापमान 15° सेग्रे. से ऊँचा हो जाता है। अतः नदियों और झीलों से वाष्पीकरण के कारण वायु आर्द्र हो जाती है। तापमान बढ़ने के कारण उच्च दाब क्षीण हो जाता है। ये वायुपुंज उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व की ओर प्रवाहित हैं। जब यह दक्षिण की ओर मिसिसिपी के मैदान में पहुँचते हैं तो मौसम ठण्डा हो जाता है। अपने पथ पर चलते हुए ये गर्म होते रहते हैं किन्तु फिर भी अपने स्थायित्व को नहीं छोड़ते। ये वायपुंज cPKs नाम से जाने जाते हैं।

महासागरीय ध्रुवीय वायु संहितियां (mP)

शीतकाल में ये वायुराशियां उत्तरी प्रशान्त महासागर में अल्यूशियन उच्च दाब तथा उत्तरी अटलान्टिक में न्यूफाउण्डलैण्ड और ग्रीनलैण्ड के मध्य उत्पन्न होती हैं। प्रशान्त महासागर की वायु संहिति उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट को प्रभावित करती है तथा तटवर्ती पर्वतों पर होती हुई पूर्व की ओर आन्तरिक भागों में पहुँच जाती है। उत्तरी अटलान्टिक की वायु संहिति यो तो पश्चिम से पूर्व की ओर चलती है किन्तु स्थलीय चक्रवात इनको अमेरिका के आंतरिक भागों में आकर्षित कर लेते हैं। इनका प्रभाव अपलेशियन पर्वत तथा केप हेटरास तक रहता है।

प्रशान्त महासागर की वायु संहिति mPKu होती हैं किन्तु सियरा नेवाडा तथा राकी पर्वत पार करके स्थल पर यह cPWs हो जाती हैं। अटलान्टिक की वायु संहिति mPKs नाम से सम्बोधित की जाती है।

ग्रीष्म काल में इन वायुपुंजों का क्षेत्र यही रहता है किन्तु इनकी प्रकृति परिवर्तित हो जाती है। उत्तरी प्रशान्त महासागर का वायु संहिति ठण्डी होती है किन्तु गर्म धरातल के सम्पर्क से कुछ गर्म हो जाती है तथा mPWs में बदल जाती है। यह पश्चिमी तट पर केलीफोर्नियां तक चलती है।

महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय वायु संहितियां (cT)

ये वायुराशियां केवल ग्रीष्म काल में ही संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी-पश्चिमी एवं मैक्सिको के उत्तरी भागों में उत्पन्न होती हैं। संकीर्ण स्थल होने के कारण ये पूर्ण विकसित नहीं हो पाती। सच तो यह है कि प्रशान्त महासागर की mT इस क्षेत्र में पहुँच कर कुछ समय के लिए स्थायी हो जाती है जिसके फलस्वरूप गर्म धरातल के सम्पर्क में आकर गर्म हो जाती है। टैक्सास में इसका तापमान 24 सेग्रे. तथा आर्द्रता 66 प्रतिशत के लगभग रहती है। इसका अधिकतम विस्तार दक्षिणी ग्रेटप्लेन तक रहता है।

सागरीय उष्ण कटिबन्धीय वायु संहितियां (mT)

शीतकाल में ये वायु राशियां एक ओर मैक्सिको की खाड़ी, कैरेबियन सागर एवं पश्चिमी अटलान्टिक के उपोष्णीय प्रतिचक्रवातों में जन्म लेती हैं तो दूसरी ओर प्रशान्त महासागर के उपोष्णीय प्रतिक्रचवातों में भी इनका उदभव होता है। अटलान्टिक जल का तापमान 21 से 27° सेग्रे. रहता है। अतः ये गर्म तथा आर्द्र होती हैं। महाद्वीप के दक्षिणी भाग में प्रवेश करते समय इनका तापमान स्थल से अधिक होता है। इसलिए यह mTWs कहलाती हैं। किन्तु जब ये ध्रुवीय वायुपुंजों के सम्पर्क में आती हैं तो mTWu कहलाती हैं तथा सीमाग्रजन्य चक्रवात बन जाती हैं जिससे शीतकालीन वर्षा होती है। अतः यह वायुपुंज mTWs से mTWu में परिवर्तित हो जाती है।

दूसरी ओर प्रशान्त महासागर की वायु संहिति प्रतिचक्रवात के पूर्व में स्थिति के कारण शुष्क एवं स्थायी होती है। केलिफोर्नियां की ठण्डी जलधारा पर से प्रवाहित होते समय यह और भी ठण्डी हो जाती है। केलिफोनियां के तट से होती हुई यह ओरीगन तथा वाशिंगटन तक पहुँच जाती है।

ग्रीष्म ऋतु में अटलान्टिक महासागर का बारमुडा उच्च दाब क्षेत्र और भी अधिक हो जाता है जबकि उत्तरी अमेरिका का आंतरिक भाग उष्ण धरातल के कारण निम्न दाब क्षेत्र हो जाता है। फलस्वरूप गल्फतट की ओर से दक्षिणी-पूर्वी (मानसूनी पवन) अमेरिका के दक्षिणी भाग में प्रवेश करती हैं जिसके कारण अपलेशियन क्षेत्र में ग्रीष्मकालीन वर्षा होती है। जब यह वायुपुंज राकी पर्वत को पार करने लगते हैं तो मूसलाधार तूफानी वर्षा होती है। इसे मेघ विस्फोट भी कहा जाता है।

ग्रीष्म काल में प्रशान्त महासागर में यह वायु संहिति विकसित नहीं होती।

यूरोप की वायु संहिति

महाद्वीपीय ध्रुवीय (cP)

शीतकाल में इन वायु राशियों के स्रोत क्षेत्र पश्चिमी एवं आर्कटिक सोवियत संघ और फेनोस्केन्डियां हैं। ये अत्यन्त ठण्डी, शुष्क एवं स्थायी होती हैं। इनका तापमान–15^{o} सेग्रे. तक हो जाता है। पछुवा पवन इनको पूर्व की ओर धकेलती रहती हैं। अतः इनका प्रभाव क्षेत्र मध्य एवं पूर्वी यूरोप तक ही प्रायः सीमित रहता है।

ग्रीष्म ऋतु में सागरीय ध्रुवीय वायु संहिति महाद्वीपीय वायुपुंजों में परिवर्तित हो जाती हैं किन्तु ये गर्म एवं शुष्क होती हैं। यूरोप के मौसम पर इनका प्रभाव बहुत कम पड़ता है। ये यूरोप के उत्तरी मैदानी भाग को ही प्रभावित कर पाती हैं।

सागरीय ध्रुवीय वायु संहिति (mP)

शीतकाल में उत्तरी अटलान्टिक महासागर में जन्म लेकर पछुआ पवन के साथ पूर्व की ओर प्रवाहित होती हैं तथा सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित करती हैं। ये महाद्वीपीय वायुपुंजों की अपेक्षा अधिक आर्द्र, उष्ण एवं एक मात्रा तक अस्थायी होती हैं। इनका तापमान लगभग 4^{o} सेग्रे. रहता है तथा महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुपुंज के सम्पर्क में आकर सक्रिय सीमाग्र बन जाता है जिसके कारण समस्त यूरोप में वर्षा होती है।

ग्रीष्म काल में भी इनका स्रोत उत्तरी अटलान्टिक महासागर ही है। किन्तु अपेक्षाकृत गर्म धरातल के सम्पर्क में आकर इनमें संवाहनिक अस्थिरता आ जाती है। पश्चिमी यूरोप में मौसम ठण्डा और सुहावना हो जाता है। विभिन्न वायुपुंजों के अभिसरण से इनमें संघनन हो जाता है जिससे तूफानी वर्षा होती है।

महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय (cT)

शीतकाल में अफ्रीका के सहारा मरुस्थल में जन्म लेकर शुष्क और गर्म वायु संहितियां उत्तर की ओर प्रवाहित होती हैं। भूमध्य सागर को पार करते समय ये आर्द्रता ग्रहण कर लेती हैं तथा अस्थिर हो उठती हैं। यूरोप के दक्षिणी भाग में ध्रुवीय वायुपुंजों के सम्पर्क में आकर चक्रवातों को जन्म देती हैं जिससे वर्षा होती है।

ग्रीष्मकाल में सहारा एवं एशिया माइनर में जन्म लेकर ये वायु संहितियां उत्तर की

ओर प्रवाहित होती हैं। स्रोत क्षेत्र में ये गर्म और शुष्क होती हैं किन्तु भूमध्य सागर पार करते समय आर्द्र हो जाती हैं और दक्षिणी तथा पूर्वी यूरोप में वर्षा करती हैं।

एशिया की वायु संहितियां

महाद्वीपीय ध्रुवीय वायु राशियां (cP)

शीतकाल में ये वायु राशियां साइबेरिया तथा बाह्य मंगोलिया के ठण्डे प्रदेशों में जन्म लेकर स्थलीय एवं सागरीय मार्गों से प्रवाहित होती हैं। यदि प्रतिचक्रवात का केन्द्र मंगोलिया या उत्तरी चीन में होता है तो ये स्थलीय मार्ग से चीन में प्रवेश कर रेत व मिट्टी उड़ाकर उत्तरी चीन में निक्षेपित कर देती हैं। ये शुष्क एवं ठण्डी होती हैं। अधिक दक्षिण में पहुँच कर ये उष्ण कटिबन्धीय वायुपुंजों के सम्पर्क में आने से यांगटीसीक्यांग की घाटी में वर्षा करती हैं। किन्तु दूसरे स्थानों पर ये शुष्क तथा शीतल होती हैं।

यदि प्रतिचक्रवात का केन्द्र जापान सागर तथा मंचूरिया में होता है तो ये वायुपुंज जापान सागर, चिहली की खाड़ी, पीत सागर और प्रशान्त महासागर पर होते हुए चीन में प्रवेश करते हैं। जब ये महासागरीय वायुपुंजों के सम्पर्क में आते हैं तो वर्षा करते हैं। हिमालय पर्वत के कारण भारत इनसे अप्रभावित रहता है।

ग्रीष्मकाल में मध्य एशिया का धरातल गर्म हो जाता है। अतः शीतकालीन प्रतिचक्रवात शिथिल होकर लुप्त हो जाते हैं, cP का स्रोतक्षेत्र यही रहता है। किंतु यह धरातल पर न चलकर सागर मार्ग से चीन में प्रवेश करती हैं। अतः आर्द्रता में वृद्धि हो जाती है जिससे मामूली वर्षा होती है। जब ये दूसरी वायु संहितियों के सम्पर्क में आती हैं तो वाताग्र बन जाते हैं तथा अधिक वर्षा करती हैं।

महासागरीय ध्रुवीय (mP)

शीतकाल में उत्तरी प्रशान्त महासागर में ये जन्म लेकर साइबेरिया, मंचूरिया एवं कोरिया तक पहुँचती हैं। यह ठण्ठी एवं आर्द्र वायु संहिति हैं, किन्तु वायु के अवरोहण तथा ठण्डी होने के कारण वर्षा बहुत कम होती है।

ग्रीष्मकाल में mP की ओखोटस्क सागर में उत्पत्ति होती है और ये पूर्वी एशिया को प्रभावित करती हैं। ग्रीष्म काल में mP का अधिक प्रभाव होता है। 40° उत्तरी अक्षांश के उत्तर में प्रवाहित होने वाली मानसून वास्तव में महासागरीय ध्रुवीय वायु संहितियां हैं। यह वायुपुंज मंचूरिया, पूर्वी साइबेरिया और जापान को प्रभावित करते हैं।

महासागरीय उष्ण कटिबन्धीय वायु संहितियां (mT)

शीतकाल में प्रशान्त महासागर के पश्चिमी भाग फिलीपाइन्स द्वीप समह से लेकर चीन सागर तक के क्षेत्र में जन्म लेती हैं। किन्तु इस ऋतु में मध्य एशिया का प्रतिचक्रवात इतना तीव्र और विस्तृत हो जाता है कि वह किसी भी सागरीय वायुपुंज को एशिया में प्रवेश नहीं होने देता। अतः इनका प्रभाव केवल दक्षिणी चीन तक ही सीमित रहता है। यह गर्म एवं आर्द्र होती हैं। इनका सीमाग्र उच्च वायुमण्डल में होने के कारण वर्षा नहीं होती।

ग्रीष्मकाल में भी इनका स्रोत क्षेत्र पश्चिमी प्रशान्त सागर ही है किन्तु ये वायुपुंज जब mP वायुपुंजों के सम्पर्क में आते हैं तो वाताग्र बन जाते हैं। गर्म और आर्द्र होने के

कारण इनसे खूब वर्षा होती है। एशिया का पूर्वी तथा दक्षिणी-पूर्वी भाग इनका सक्रिय क्षेत्र है। मध्य एशिया के प्रतिचक्रवात के शिथिल हो जाने पर ये मध्य एशिया तक अपना प्रभाव छोड़ती हैं।

भारत की वायु संहितियां

महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुपुंज (cP)

शीतकाल में मध्य एशिया एवं उत्तरी-पश्चिमी पाकिस्तान के प्रतिचक्रवातीय क्षेत्र इनका उद्भव स्थान है। भारत ध्रुवीय प्रदेश में नहीं आता किन्तु cT के गुण cP से मिलने के कारण इसको cP भी कहा जाता है। ये उत्तरी-पश्चिम की ओर से आते हुए विक्षोभों के पीछे प्रवाहित होती हैं तथा भारत के उत्तरी भाग में शीतलहर के रूप में जानी जाती हैं। इसका तापमान 6° सेग्रे. होता है और कभी-कभी इससे भी कम हो जाता है। शीत लहर 3 से 6 दिन तक रहती है। ग्रीष्मकाल में भारत में cP वायु सहितियों का प्रभाव नगण्य हो जाता है।

महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय वायु संहितियाँ (cT)

शीतकाल में भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में प्रतिचक्रवाती वातावरण बन जाता है। परिणामस्वरूप ये वायु संहितियां स्थल से सागर की ओर प्रवाहित होने लगती हैं। इनको शीतकालीन मानसून के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। यह वायुपुंज, ठण्डा, शुष्क एवं अस्थायी होता है। इनकी दिशा उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम है तथा अरब सागर और बंगाल की खाड़ी तक प्रवाहमान होते हैं।

ग्रीष्मकाल में उत्तरी एवं मध्य भारत में मानसून से पूर्व cT स्थानीय रूप से उत्पन्न होने वाली वायु संहिति हैं। ये अत्यन्त गर्म और शुष्क होती हैं। इनका तापमान 40 सेग्रे. से 80 सेग्रे. तक होता है। ये अत्यन्त अस्थायी होती हैं तथा गर्म होने के कारण मई तथा जून के महीनो मे इनको उत्तरी भारत में गर्म लहर, झुलसाने वाली या लू कहते हैं।

महासागरीय उष्ण कटिबन्धीय वायुपुंज (mT)

शीतकाल में इसके स्रोत क्षेत्र बंगाल की खाड़ी, अरब सागर हैं और शीतल एवं आर्द्र होते हैं। अरब सागर का वायुपुंज प्रायद्वीप के पश्चिमी तट को प्रभावित करता है किन्तु वर्षा नहीं करता। बंगाल की खाड़ी का वायुपुंज सागरीय भाग को पार करते समय आर्द्रता ग्रहण कर लेता है तथा इससे तमिलनाडु तट पर वर्षा होती है।

ग्रीष्म काल में mT वायुपुंज उत्तरी हिन्द महासागर, अरबसागर एवं बंगाल की खाड़ी में उत्पन्न होता है। इनको महासागरीय विषुवत रेखीय वायुपुंज कहा जाना उचित होगा। मई के मध्य तक दक्षिणी और पूर्वी बंगाल की खाड़ी तक यह फैल जाता है। इनका मूल स्थान दक्षिणी हिन्द महासागर है। 22° उत्तरी अक्षांश के नीचे भारत में mE सामान्य वायुपुंज है जो उष्ण एवं अत्यन्त आर्द्र होता है। यही दक्षिणी-पश्चिमी मानसून है जो भारत में इस ऋतु में 35 प्रतिशत वर्षा करती हैं। अरब सागर के मानसून से पश्चिमी घाट गुजरात, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तरी भारत आदि में वर्षा होती है जबकि बंगाल की खाड़ी के मानसून से दक्षिणी प्रायद्वीप से उत्तरी भारत तक वर्षा गर्जन के साथ होती है।

दक्षिणी अमेरिका के वायुपुंज

सागरीय विषुवत रेखीय वायुपुंज (mE)

ये शीतकाल में एटलान्टिक महासागर में विषुवत रेखा के दोनों ओर जन्म लेकर 5^0 उ. अक्षांश उत्तरी-पूर्वी अमेरिका से लेकर मध्य भाग तक प्रवाहित होते हैं। महाद्वीप के मध्य भाग में अस्थायी होकर cT में परिवर्तित हो जाते हैं। यह उष्ण एवं आर्द्र हैं तथा इससे तड़ित झंझावात उत्पन्न होते हैं।

ग्रीष्म काल में इनका स्रोत क्षेत्र वही रहता है किन्तु ये अधिक विस्तृत, उष्ण और आर्द्र हो जाते हैं तथा ब्राजील के पूर्वी भाग में इनसे वर्षा होती है।

सागरीय उष्ण कटिबन्धीय वायुपुंज (mT)

ये शीतकाल मे दक्षिणी अटलान्टिक के मध्य भाग तथा पश्चिमी प्रशान्त महासागर के उच्च दाब के क्षेत्रों में उत्पन्न होकर पश्चिम से प्रवेश करते समय पीरू की ठण्डी जल धारा के ऊपर से गुजरते हुए शीतल हो जाते हैं और वर्षा नहीं करते। अटलान्टिक की वायु संहिति पूर्वी तट पर भारी वर्षा करती हैं।

ग्रीष्म काल में भी इनके स्रोत क्षेत्र वही होते हैं। पूर्वीतट पर mT 45° द. अक्षांश तक प्रवाहित होती हैं तथा वर्षा करती हैं जबकि प्रशान्त महासागरीय mT 30° द. अक्षांश से 10^0 द. अक्षांश तक प्रवाहित होती है तथा शीतल और शुष्क होती है।

सागरीय ध्रुवीय वायुपुंज (mP)

ये शीतकाल में पश्चिमी प्रशान्त महासागर तथा दक्षिणी एटलान्टिक महासागर के स्थायी उच्च दाब के क्षेत्रों से उत्पन्न होते हैं। अटलान्टिक की शाखा केपहार्न से प्रवेश कर पूर्वी तट के सहारे-सहारे प्रवाहित होते हुए ब्राजील में जाकर mT से मिल जाते हैं। अतः वाताग्र उत्पन्न हो जाते हैं और वर्षा होती है। प्रशान्त महासागर की शाखा दक्षिणी भाग से प्रवेश पाकर महाद्वीप के पश्चिमी तट के सहारे चल कर चिली में mT से मिलकर वाताग्र उत्पन्न कर देते हैं जिससे वर्षा होती है। यह शीतल, अति आर्द्र एवं अस्थायी होते हैं।

ग्रीष्मकाल में भी इनका उद्गम क्षेत्र वही होता है तथा उसी तरह दोनों ही शाखाएँ अपने स्रोत क्षेत्रों से बह कर पूर्वी और पश्चिमी तटों पर होते हुए mT वायु संहितियों के क्षेत्र में पहुँच कर वाताग्र उत्पन्न करते हैं।

अफ्रीका की वायु संहितियां

अफ्रीका का अधिकांश भाग उष्ण कटिबन्ध में आता है क्योंकि विषुवत रेखा इसके बीच से निकलती है।

महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय वायु संहितियां (cT)

ये शीतकाल में सहारा मरुस्थल में उत्पन्न होकर उत्तर की ओर भ्रमण करती हैं। मार्ग में भूमध्यसागर से आर्द्रता ग्रहण कर लेती हैं तथा यूरोप के दक्षिणी भाग में वर्षा करते हैं। वास्तव में भूमध्यसागर को पार करते समय cT वायुपुंज mT में परिवर्तित हो जाते हैं। शीत ऋतु में ये वायुपुंज गिनी की खाड़ी तक जाते हैं। ये वायुपुंज शुष्क एवं उष्ण होते हैं तथा अपने साथ धूल के बादल लेकर प्रवाहित होते हैं।

ग्रीष्म काल में भी ये सहारा से उठकर यूरोप के दक्षिणी भाग तक पहुँचते हैं। किन्तु शीत ऋतु की अपेक्षा अधिक गर्म एवं शुष्क होते हैं। अतः वर्षा केवल नाम मात्र को ही होती है जिसमें धूल का मिश्रण अधिक होता है।

सागरीय उष्ण कटिबन्धीय वायुपुंज (mT)

दक्षिणी गोलार्द्ध के शीतकाल (जुलाई) में जबकि उत्तरी अफ्रीका में ग्रीष्म ऋतु होती है, सहारा में निम्न दाब उत्पन्न हो जाता है अतः हिन्द एवं अटलाटिन्क महासागरों के क्षेत्रों से दक्षिणी-पूर्वी व्यापारिक पवन सहारा की ओर प्रवाहित होने लगते हैं। ये ठण्डे एवं शुष्क होते हैं। किन्तु द. अटलान्टिक की वायु संहिति विषुवत रेखा के उत्तर में अफ्रीका के पश्चिमी तट पर जब cT के सम्पर्क में आती है तो वाताग्र को जन्म देती है जिसके कारण इथोपिया तक वर्षा होती है।

दक्षिणी गोलार्द्ध की ग्रीष्म ऋतु (जनवरी) में हिन्द महासागर की द.-पू. व्यापारिक पवन तथा अरब सागर की उ-पू वायु संहितियां उष्ण एवं आर्द्र होती हैं जो पूर्वी अफ्रीका के तट पर पर्याप्त वर्षा करती है। दक्षिण अटलान्टिक की द.-पू. वायु संहिति सहारा तक पहुँचती है किन्तु मार्ग में बेनगुला का ठण्डी जलधारा के सम्पर्क में आकर ठण्डी हो जाती है जिसके कारण अल्प मात्रा में ही वर्षा हो पाती है।

महासागरीय ध्रुवीय वायुपुंज (mP)

दक्षिणी अटलान्टिक तथा दक्षिणी हिन्द महासागर में उत्पन्न होते हैं। अफ्रीका के दक्षिणी भाग से प्रवेश कर उत्तर की ओर चलते हैं तथा कालाहारी मरुस्थल को पार कर निम्न सवाना के शुष्क घास के मैदानों तक पहुँचते हैं। प्रादः ठण्डे शुष्क तथा अस्थिर होने के कारण वर्षाविहीन होते है। किन्तु mT के सम्पर्क में आकर कुछ वर्षा करते हैं।

आस्ट्रेलिया की वायु राशियां

आस्ट्रेलिया विषुवत रेखा में दक्षिण में होने के कारण वहाँ उत्तरी गोलार्द्ध के विपरीत ऋतुएँ होती हैं। शीतकाल (जुलाई) में द. आस्ट्रेलिया सागरीय ध्रुवीय (mP) के प्रभाव में आ जाता है। किन्तु महाद्वीप का अधिकांश भाग महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय (cT) वायुपुंजों के अन्तर्गत रहता है। शीतकाल में ग्रेट आस्ट्रेलियन खाड़ी का उच्च दाब द. आस्ट्रेलिया में मकर रेखा तक फैल जाता है इसलिए आस्ट्रेलिया का अधिकांश भाग cT के प्रभाव में आता है। इसके विपरीत ग्रीष्म ऋतु (जनवरी) में mT वायुपुंज आस्ट्रेलिया के उत्तरी तथा उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रों में अच्छी वर्षा करते हैं। ये वायुपुंज (mT) आस्ट्रेलिया की मानसून है।

वाताग्र तथा उनका अधिधारण

जब एक ओर से गर्म और दूसरी ओर से ठंडी वायु संहिति एक दूसरे से मिलती हैं तो इन दोनों का सगम क्षेत्र एक वक्र रेखा सा बन जाता है। इसी मिलन स्थल की पृथक्करण रेखा अथवा सीमा को वाताग्र कहते हैं। वाताग्र-रचना के लिए तीन बातों का होना नितान्त आवश्यक है :

(1) विभिन्न गुणों की दो वायु संहितियों का होना।

(2) दोनों की आर्द्रता तथा तापक्रम पृथक्-पृथक् होना।

(3) इनको एक दूसरे के समीप लाने के लिए पवन-प्रवाह का होना।

वाताग्र दो प्रकार के होते हैं—(1) गर्म तथा (2) ठण्डा। विपुवत रेखा की ओर से आने वाली गर्म वायु का अग्र भाग गर्म वाताग्र कहलाता है। जैसे दक्षिणी-पश्चिमी या पछुआ पवनों का वाताग्र गर्म होगा। इसी प्रकार ध्रुवीय प्रदेशों की ओर से आने वाली ठण्डी हवा का अग्र भाग शीत वाताग्र कहलाता है जैसे उत्तरी-पूर्वी या ध्रुवीय हवा। वाताग्र मुख्यत: तापमान और आर्द्रता की विभिन्नता से होते हैं। यह 5 से 80 किमी. तक का पर्याप्त चौड़ाई का क्षेत्र होता है। यदि यह 80 किमी. से भी अधिक चौड़ा हो जाता है तो ताप और आर्द्रता की विभिन्नता इतनी कम हो जाती है कि यह वाताग्र न रहकर एक संक्रमण क्षेत्र में परिवर्तित हो जाता है। प्राय: 8 किमी. चौड़े वाताग्र में 1 सेग्रे. से लेकर 4.5 से ग्रे. तापमान का अन्तर पाया जाता है।

दो विपरीत दिशाओं से प्रवाहित वायु संहितियों का वाताग्र तल क्षैतिज न होकर कुछ ढाल लिये होता है जो तीन तत्त्वों से प्रभावित होता है :

वायु संहितियों की सघनता में भिन्नता—ठण्डी वायु संहिति गर्म की अपेक्षा अधिक सघन तथा अधिक घनत्व की होती है। अत: गर्म और हल्की वायुसंहिति ठण्डी पर चढ़ जाती है।

वायु का प्रवाह—दो वायु संहितियां जब विपरीत दिशाओं से आकर एक दूसरे से टकराती हैं तो गति के कारण प्रथम तो ऊर्ध्वाधर वाताग्र बनाती हैं, किन्तु शनै:-शनै: यह घनत्व की विभिन्नता के कारण क्षैतिजीय ढाल में परिवर्तित हो जाती हैं। इस ढालू पृष्ठ को वाताग्र पृष्ठ कहते हैं।

पृथ्वी का घूर्णन—पृथ्वी की घूर्णन गति वायु संहितियों के घनत्व तथा वेग दोनों को संशोधित कर इनकी दिशा और गति को सन्तुलित रखती है। यदि ऐसा न होता तो ये ऊपर-नीचे चलने लगती और वाताग्र की उत्पत्ति न होती। ढलुवा वाताग्र का तल पृथ्वी के धरातल तक पहुंच जाता है तो उसे 'धरातलीय वाताग्र' कहते हैं।
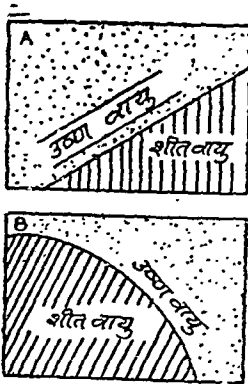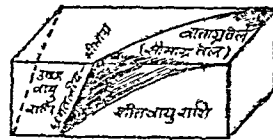
चित्र 25-2 (A) गर्म वाताग्र (B) शीत वाताग्र
(C) वाताग्र की त्रिविमितीय आकार.

वाताग्रों की उत्पत्ति केवल सुनिश्चित क्षेत्रों में ही होती है। जहां दो विभिन्न प्रकार की वायु संहितियां मिलती हैं उस स्थान को 'वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र' कहते हैं। जहां ये एक दूसरे से अलग होती हैं तथा गर्तचक्रों के विकास के विपरीत दशा पाई जाती है उस क्षेत्र को वाताग्र क्षय क्षेत्र कहा जाता है। ऐसी अवस्था में उष्ण तथा शीत सीमाग्र दोनों ही धरातल

पर एक दूसरे से मिल जाते हैं जिसके फलस्वरूप चक्रवात एक विशाल भँवर के रूप में धरातल से ऊपर उठकर आकाश में विलीन हो जाता है।

वाताग्र क्षेत्र मुख्यतः पृथ्वी पर चार प्रदेशों—ध्रुवीय प्रदेश, आर्कटिक प्रदेश, भूमध्यसागरीय प्रदेश तथा अन्तर उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण प्रदेश—में मिलते हैं। अभिसरण प्रदेश ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ उत्तर तथा दक्षिण की ओर खिसकता रहता है। इस क्षेत्र में, दक्षिणी एशिया व पश्चिमी अफ्रीका में जून तथा जुलाई के मौसम में निश्चित वाताग्र बनते हैं।

1. अटलांटिक ध्रुवीय वाताग्र
2. प्रशान्त महासागरीय ध्रुवीय वाताग्र
3. अटलांटिक आर्कटिक वाताग्र
4. प्रशान्त महासागरीय आर्कटिक वाताग्र
5. द्वितीयक प्रशान्त ध्रुवीय वाताग्र
6. भूमध्य सागरीय सीमाग्र

चित्र 24·3 उत्तरी गोलार्द्ध में शीत कालीन

जब उष्ण तथा शीतल वाताग्र एक दूसरे से टकराते हैं तो उष्ण वायु संहिति हल्की होने के कारण भारी और सघन शीतल वायु पर चढ जाती है तथा एक वक्र धरातल का निर्माण करती है। इस अवस्था को अधिधारण कहते हैं। अधिधारण शीतल तथा उष्ण दो प्रकार के होते हैं।

यदि वाताग्र के अगले भाग की अपेक्षा उसके पिछले भाग की वायु अधिक शीतल होती है तो पिछले भाग की शीतल वायु उष्ण वाताग्र को धरातल से बहुत ऊँचा उठा देती है तथा 'शीतल अधिधारण' की रचना कर देती है। शीत वाताग्र के पीछे की वायु ध्रुवीय महाद्वीपीय अति ठण्डी होती है। महाद्वीपों के किनारों पर ऐसे वाताग्र अधिकांश पाये जाते हैं।

शीत वाताग्र के विपरीत यदि उष्ण वाताग्र के पिछले भाग की वायु आगे के भाग की अपेक्षा कुछ कम ठण्डी होती है तो ऐसी अवस्था में वाताग्र के पिछले भाग की वायु अग्र-भाग की अपेक्षाकृत ठंडी वायु पर चढ़ जायेगी। इस दशा को उष्ण अधिधारण कहते है। उष्ण अधिधारण में वाताग्र के अगले भाग में ध्रुवीय महाद्वीपीय अति शीतल पवन तथा पिछले भाग में ध्रुवीय सागरीय अपेक्षाकृत कम ठंडी तथा आर्द्र वायु संहितियाँ होती हैं। ऐसी स्थिति उत्तरी अमेरिका और यूरोप के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों में पाई जाती है।

वायु-विक्षोभ

यों तो धरातल पर सन्मार्गी पवन अपनी निर्धारित दिशा में सदा नियमित रूप से चला करती हैं, किन्तु कभी-कभी अनायास प्रतिकूल परिस्थितियो के पैदा हो जाने से इनकी प्रवाह दिशा पर गहरा प्रभाव पड़ता है जिसके फलस्वरूप नित्यवाही पवनो में स्थानीय परिवर्तन तथा अस्थिरता आ जाती है। यह परिवर्तन मुख्यतः वायुदाब की विभिन्नता के कारण होता है तथा अस्थिरता वायु को अनियमित रूप दे देती है। विक्षोभ के कारण पवन का रूप नदी की बहती धारा में भँवर जैसा हो जाता है। जल और थल का असमान वितरण वायु विक्षोभों को बल प्रदान करता है।

सागर की ओर से आने वाली आर्द्र पवन सीधी वर्षा न करके जलवाष्प की पूर्ति करती हैं और वर्षा की सम्भावना बढ़ जाती है। वर्षा उस समय होती है जब बड़े पैमाने पर वायुखण्ड ऊपर की ओर उठकर संघनित होता है। पर्वतीय बाधाओं तथा सागर तटीय घर्षण के अतिरिक्त, वायुखण्डों के ऊपर उठने का मुख्य कारण वायुमण्डलीय विक्षोभ हुआ करते हैं, परिणामस्वरूप तूफानों की उत्पत्ति होती है। वायुमण्डलीय आर्द्रता तथा अस्थिरता इन तूफानों को शक्ति प्रदान करते हैं। ये स्थायी पवन के प्रवाह तथा गति को स्थायी करने एवं उनमें सन्तुलन स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

वायु-विक्षोभों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :
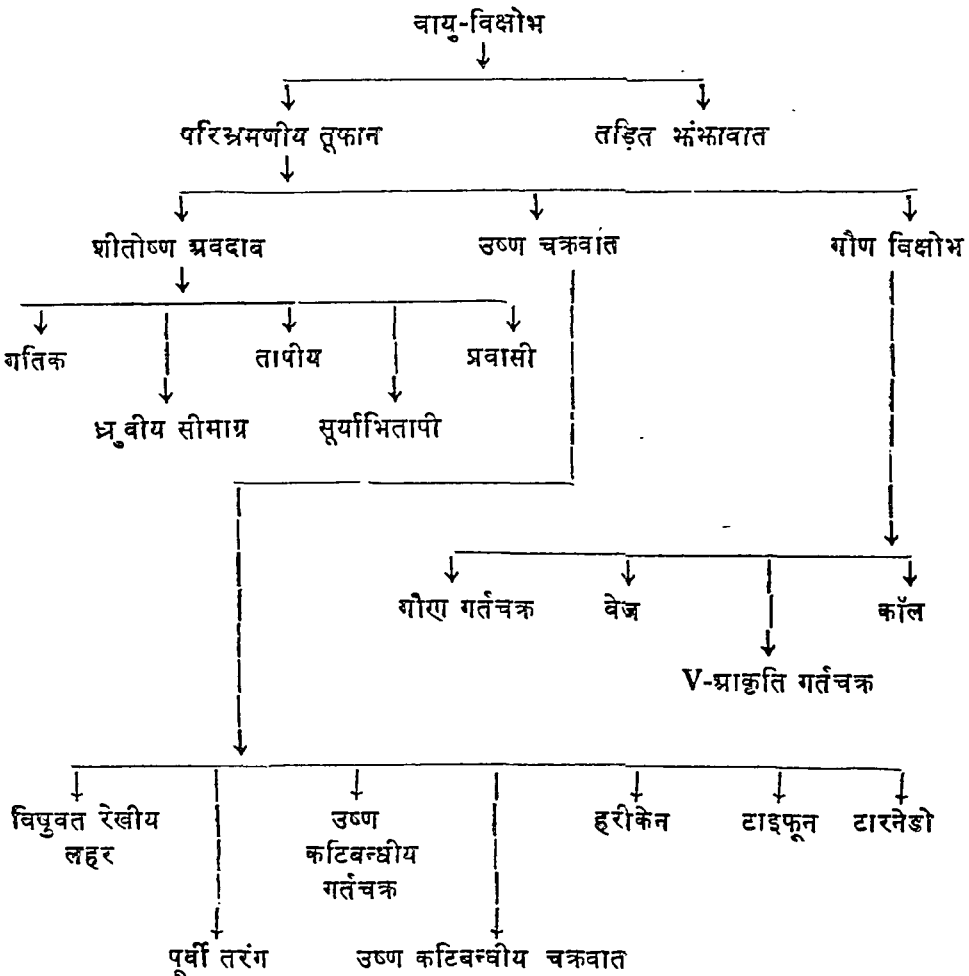
वायु-विक्षोभों को दो भागों—परिभ्रमणीय तूफान तथा तड़ित झंझावात में वर्गीकृत किया गया है।

परिभ्रमणीय तूफान

निम्न वायुदाब की वायु भँवर जिसके केन्द्र में न्यून दाब होता है और जो चारों ओर बढ़ता जाता है तथा जिसमें वायु चक्राकार रूप में केन्द्र की ओर प्रवाहित होती है

परिभ्रमणीय तूफान कहलाता है। इनके अनेक रूप होते हैं। मुख्यतः इनको तीन भागों—शीतोष्ण अवदाब, उष्ण चक्रवात तथा गौण-विक्षोभ के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

शीतोष्ण कटिबन्ध में दक्षिण की ओर से उष्ण तथा उत्तर की ओर से शीतल वायु संहितियों का अभिसरण होता रहता है जो वायुमण्डल में अस्थिरता उत्पन्न कर देती हैं। अतः इस कटिबन्ध में शीतोष्ण अवदाबों की उत्पत्ति होती है।

शीतोष्ण चक्रवात

प्रकृति तथा स्थिति—चक्रवात एक निम्न वायुदाब के वायु चक्रों का केन्द्र है जिसके मध्य में अल्प वायुदाब विद्यमान रहता है तथा केन्द्र से बाहर की ओर क्रमशः बढ़ता जाता है। निम्न वायुदाब के कारण इनको निम्न गर्त चक्र अथवा द्रोणिका के नामों से सम्बोधित करते हैं। जिस प्रकार भँवर नदी के प्रवाह के साथ चलते हैं उसी प्रकार 35° तथा 65°
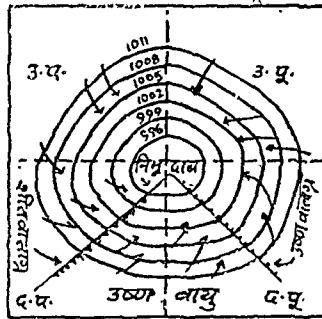
चित्र 24.4 शीतोष्ण अवदाब

उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के मध्य यह चक्रवात पछुआ पवन के साथ विशाल वायु की भँवर के रूप में पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होते हैं। यह उष्ण कटिबन्धीय तथा ध्रुवीय वायु संहिति के मिलन अथवा संघर्ष क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं तथा विघटित होते रहते हैं।
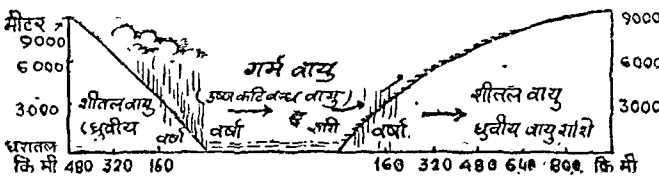
चित्र 24.5 वाताग्र का पार्श्व

शीतोष्ण चक्रवातों की समदाब रेखाओं की आकृति अण्डाकार अथवा उल्टी (V) जैसी होती है। सबसे कम दाब चक्रवात के केन्द्र में न होकर कुछ पीछे हटकर होता है। इस केन्द्र को चक्रवात नेत्र कहते हैं। चक्रवात के केन्द्र तथा पार्श्ववर्ती भाग के मध्य वायुदाब का अन्तर 10 से लेकर 20 मिलीबार तक होता है। किन्तु शीतकाल में कभी-कभी यह 30 मिलीबार तक पहुँच जाता है। केन्द्र में कभी-कभी 900 मिलीबार वायुदाब पाया जाता है। मध्य के निम्न वायुदाब के केन्द्र का व्यास 80 से 320 किमी. तक होता है। चक्रवातों का व्यास 960 से 1120 किमी. तक होता है। किन्तु शीत ऋतु में पूर्ण विकसित चक्रवात का दीर्घ व्यास 3000 किमी. तथा क्षेत्रफल 10 लाख वर्ग किमी. तक पहुँच जाता है।

चक्रवात की दिशा प्रदर्शित करने वाली रेखा पर केन्द्र से समकोण बनाती हुई रेखा द्रोणिका रेखा कहलाती है। द्रोणिका रेखा के अग्रभाग को क्षेत्रक तथा पिछले भाग को पृष्ठ क्षेत्रक कहते हैं।

चक्रवात में तापमान का अन्तर मौसमी हवाओं के चलने की दिशा पर निर्भर करता है। दिशा सूचक रेखा तथा द्रोणिका रेखा चक्रवात को चार क्षेत्रकों में विभाजित करते हैं। इन चारों क्षेत्रकों के तापमान में अन्तर रहता है। दक्षिण-पूर्व क्षेत्रक में वायु उष्ण कटि-बन्ध की ओर से सीधी आती है, अतः यह क्षेत्रक गर्म रहता है। ठीक इसके विपरीत उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्रक में ध्रुवीय पवन चलते हैं, अतः यह शीतल रहता है। उत्तरी-पूर्वी तथा दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्रकों में गर्म और ठण्डी पवन के मिलन से तापमान सम रहता है। चक्रवात में तापमान सम्बन्धी अनेक विषमताएँ पाई जाती हैं। सामान्यतः अग्र क्षेत्रक में वायु गर्म और पृष्ठ क्षेत्रक में वायु ठण्डी रहती है। अतः अग्रभाग का तापमान पृष्ठ भाग की तुलना में ऊँचा रहता है।
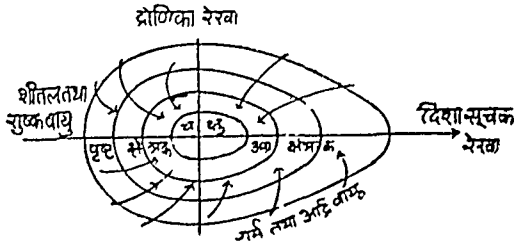
चित्र 24·6 अवदाब की रचना

चक्रवात के केन्द्र में न्यून दाब रहता है, अतः चारों ओर से पवन केन्द्र की ओर प्रवाहित होती हैं। पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण पवन सीधी न चलकर मुड़ जाती हैं। फैरल के नियम के अनुसार उत्तरी गोलार्द्ध में पवन अपने से बायीं अर्थात् घड़ी की सुई की दिशा के विपरीत तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अपने से दायीं ओर अर्थात् मुड़ जाती हैं। अवदाब के केन्द्र से पवन हलकी होने के कारण ऊपर उठ जाती हैं और फैल जाती हैं और पुनः पृष्ठ क्षेत्रक में उतरती हैं।

दिशा सूचक रेखा तथा द्रोणिका रेखा अवदाब को चार भागों में विभक्त करती हैं। अवदाब के इन चार क्षेत्रकों का मौसम भिन्न-भिन्न होता है जो मुख्यतः पवन की दिशा पर आधारित रहता है। इसका अग्रभाग गर्म वाताग्र तथा शीत वाताग्र में विभजित रहता है। उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रक गर्म तथा उत्तरी-पश्चिमी शीत वाताग्र क्षेत्रक होते हैं। उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रक में गर्म और आर्द्र पवन विद्यमान रहती है, अतः यहाँ काले और सघन वर्षा मेघ होते हैं जिनसे भारी वर्षा तथा कभी-कभी हिमपात भी हो जाता है। उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्रक में ठण्डी पवन गर्म वायु को ऊपर की ओर ढकेलती रहती हैं, अतः यहाँ भी कपासी वर्षा मेघ बन जाते हैं जो भारी वर्षा करते हैं। वर्षा के साथ-साथ विद्युत तथा मेघ गर्जन भी होती है। उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रक की तुलना में उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्रक में तापमान कम होता है। जैसे-जैसे अवदाब आगे बढ़ता है तापमान गिरता जाता है तथा बादल छंटते जाते हैं। किन्तु ज्यों ही इसका केन्द्र समीप आता है पुनः जोरों से वर्षा होने लगती है। पवन और तेज गति से चलने लगती है। अवदाब के पृष्ठ भाग आने पर मेघ पुनः छंटने लगते हैं। थोड़े-थोड़े

समय के अन्तराल में तेज बौछारें और तीव्र पवन के झोंके आते हैं। वर्षा शनैः-शनैः कम होकर आकाश खुल जाता है।

अवदाबों के आगमन से पूर्व इनके लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं जिनके आधार पर इनके आगमन की भविष्यवाणी की जा सकती है। चक्रवात के पूर्वाभास के लक्षण निम्न हैं :

प्रारम्भ में तापमान अस्थिर तथा दोलायमान हो जाता है किन्तु चक्रवात के आने के साथ-साथ निरन्तर गिरता जाता है। वायुदाब निरन्तर कम होता जाता है। हवा थम सी जाती है और दिशा परिवर्तन करने लगती है। अतः तूफान आने से पूर्व ही शान्ति स्थापित हो जाती है। आकाश में श्वेत मेघों की लम्बी तथा पतली कतारें सी दिखाई देती हैं जो कुछ समय बाद छंट जाती हैं तथा पक्षाभ मेघ दिखाई देने लगते हैं। चन्द्रमा और सूर्य के चारों ओर प्रभामण्डल बन जाता है। चक्रवात जैसे-जैसे समीप आता जाता है आकाश में पहले पक्षाभ दिखाई देते हैं जो धीरे-धीरे घने होकर पक्षाभ-स्तरी मेघों में बदल जाते हैं और स्तरी मेघ बन जाते हैं।
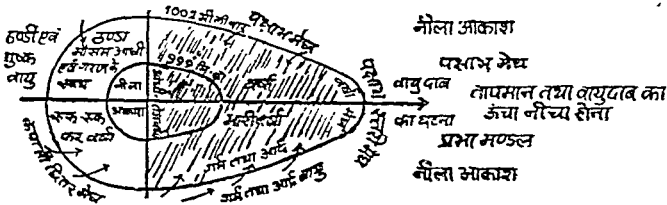
चित्र 24·7 अवदाब के आगमन के लक्षण एवं मौसम

चक्रवात चंचल होते हैं तथा कभी स्थिर नहीं रहते। ये प्रचलित पवन की दिशा में प्रवाहित होते हैं। शीतोष्ण अवदाब पछुआ पवन के साथ पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं। कभी-कभी ये स्थानीय परिवर्तनों के कारण अपना मार्ग भी बदल देते हैं। कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जो अवदाबों को आकर्षित करते हैं, जैसे गर्म जलधाराऐं तथा शीतकाल में सागरों का स्थलीय खण्डों में दूर तक फैले होना। इसके विपरीत कुछ ऐसी बाधाएं भी हैं जो इनके मार्ग को परिवर्तित कर देती हैं, जैसे ऊँचे पर्वत तथा स्थायी प्रतिचक्रवातीय क्षेत्र। किन्तु सामान्यतः ये पश्चिम से पूर्व को ही चलते हैं।

शीतोष्ण अवदाबों की गति सदा अनिश्चित रहती है। ऋतु एवं स्थिति गति को प्रभावित करते हैं। ग्रीष्म ऋतु की तुलना में शीत ऋतु में इनकी गति तीव्र रहती है। क्योंकि इसके मार्ग की ताप प्रवणता शीतकाल में अधिक रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इनकी गति ग्रीष्म काल में 30 किलोमीटर तथा शीतकाल में 50 किलोमीटर प्रति घन्टा होती है।

उत्तरी गोलार्द्ध में ये अवदाब महाद्वीपों पर दक्षिण की ओर तथा सागरों पर उत्तर की ओर घूम जाते हैं। इनकी प्रवाह दिशा मुख्यः रूप से तीन प्रकार की होती है :

प्रथम मार्ग–उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट से होकर उत्तर-पूर्व की ओर आइसलैण्ड के निम्न दाब क्षेत्र की ओर प्रवाहित होते हैं तथा यूरोप के पश्चिमी तट पर पहुँच कर इनमे से अधिकांश विलीन हो जाते हैं। यूरोप के पश्चिम में ये कई शाखाओं में विभाजित हो जाते

हैं। एक शाखा उत्तर-पूर्व में ब्रिटिश द्वीप समूह और दूसरी शाखा नार्वे-स्वीडन की ओर चली जाती है।

द्वितीय मार्ग—एशिया महाद्वीप के पूर्वीतट से उठकर प्रशान्त महासागर को पार कर उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट पर पहुँच कर वर्षा करते हैं। राकी पर्वत श्रेणी को पार करके जब पूर्वी तट के निकट पहुँचते हैं तो दक्षिण पूर्व की ओर से समुद्री हवाओं को खींच लेते हैं। जो स्थल पर पहुँच कर ठण्डी हो जाती हैं तथा वर्षा करती हैं।

तृतीय मार्ग—शीत ऋतु में भूमध्य सागर से उठकर पूर्व की ओर के महाद्वीपों में दूर-दूर तक फैल जाते हैं। अवदाब एशियाई तुर्की, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान और पाकिस्तान को पार करते हुए उत्तरी भारत में प्रवेश करते हैं। ये भूमध्य सागरीय विक्षोभ कहलाते हैं। भारत में इनको पश्चिमी विक्षोभ कहते हैं।

उपरोक्त अवदाबों का प्रभाव क्षेत्र दक्षिणी कनाडा, उत्तरी संयुक्त राज्य अमेरिका, उत्तरी-पश्चिमी यूरोप, उत्तरी एवं मध्य चीन, जापान, उत्तरी प्रशान्त एवं उत्तरी अटलान्टिक महासागर हैं।

दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल के अभाव में ये निर्विघ्न प्रवाहित रहते हैं जहाँ ये मध्य चिली, दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी-पूर्वी व दक्षिणी-पश्चिमी आस्ट्रेलिया को प्रभावित करते हैं।
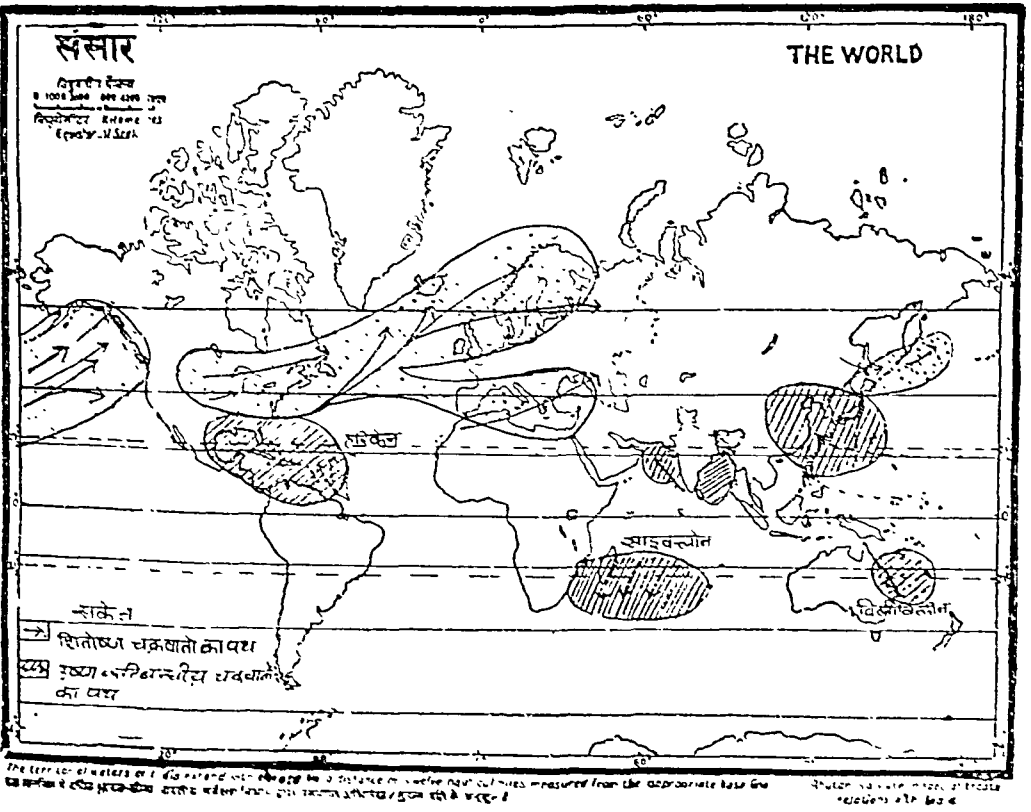
चित्र 24.8 अवदाबों का पथ

अवदाबों की उत्पत्ति—मुख्य रूप से शीतोष्ण अवदाबों की उत्पत्ति के बारे में दो सिद्धान्त गतिक एवं ध्रुवीय सीमाग्र सिद्धान्त प्रचलित हैं। किन्तु हम्फ्रीज ने चक्रवातों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन अवदाब और भी बतलाये हैं—तापीय, सूर्याभितापी तथा प्रवासी।

गतिक सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न वायुपुंजों के संगम स्थल पर गर्त चक्रों की उत्पत्ति होती है। सन् 1881 में नेपियरशॉ तथा लेम्पफर्ट ने फिजराय के सिद्धान्त को आधार मानकर दो विभिन्न पवन की सान्तरता को अवदाबों के विकास का कारण बतलाया वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विभिन्न वायु संहितियों के उच्च-भार क्रमों के मध्य एक गर्त-चक्र रहता है। भिन्त-भिन्न वायुपुंजों के मध्य तापमान के अन्तर के कारण इन अवदाबों को ऊर्जा का स्रोत प्राप्त होता है जिससे इनमें गति का संचार होता है। यह अवदाब प्रचलित पछुआं पवन के साथ पूर्व की ओर प्रवाहित होते हैं। गतिक सिद्धान्त के अनुसार ऊपर उठती हुई गर्म वायु संहिति जब ठण्डी वायु संहिति के सम्पर्क में आती है तो एक भँवर का विकास होता है, जोकि अवदाब का रूप ले लेता है। इस प्रकार अवदाब का जन्म वायुमण्डल में होता है। सम्भवतः कुछ अवदाब इस प्रकार विकसित होते हों किन्तु वृहत् आकार के धरातलीय गर्तचक्र इस तरह नहीं बनते।
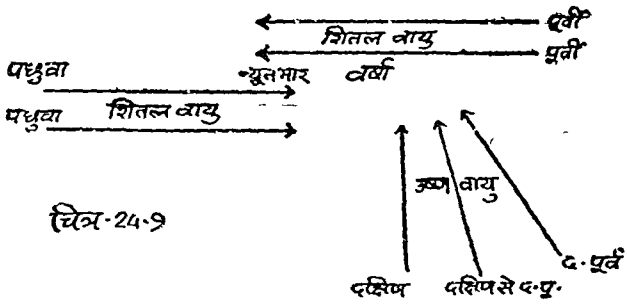
चित्र-24.9

ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त अथवा सीमाग्र लहर सिद्धान्त को वर्जेन सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न भौतिक विशेषताओं के वायुपुंजों के संगम क्षेत्र में अवदाबों की उत्पत्ति लहरों के रूप में होती है। इनकी तुलना पानी अथवा रेत में बनी लहरों से की जा सकती है। वायुमण्डलीय वाताग्र लहरें ही अस्थायी रूप से बन जाती हैं तथा आगे बढ़ते-बढ़ते अन्त में विसरित हो जाती हैं।

वाताग्र क्षेत्र में अवदाबों की रचना क्रमिक रूप से होती है। वाताग्र की रचना से लेकर चक्रवात के विघटन तक अवदाब के विकास की पांच अवस्थाएँ—प्रारम्भिक, बाल्यावस्था, परिपक्वावस्था, वृद्वावस्था तथा विघटन या वाताग्र विसर्जन अवस्था होती हैं।

प्रारम्भिक अवस्था में वाताग्र अथवा सांतरता रेखा अप्रभावित रहती है। उत्तरी-पूर्वी ध्रुवीय शीतल वायु संहितियों तथा दक्षिणी-पश्चिमी गर्म वायुपुंजों के मध्य लगभग स्थायी तथा सन्तुलित वाताग्र विद्यमान रहता है। विपरीत दिशा से आने पर भी दोनों वायु संहितियां एक दूसरे के समानान्तर चलती हैं तथा लम्बवत स्थानान्तरण शून्य 'रहता है। अतः मौसम स्वच्छ तथा विक्षोभ रहित रहता है।

अवदाब की बाल्यावस्था विकासमान अवस्था होती है क्योंकि विपरीत दिशाओं से चलने वाली पवन से वाताग्र लहर में वक्रता आने लगती है। सान्तरता रेखा दो विभिन्न
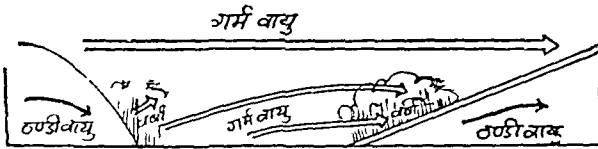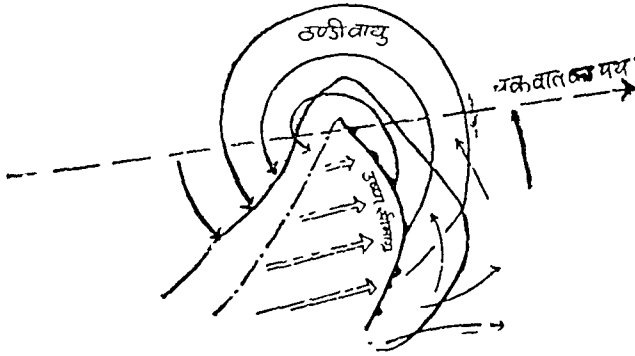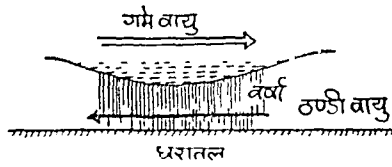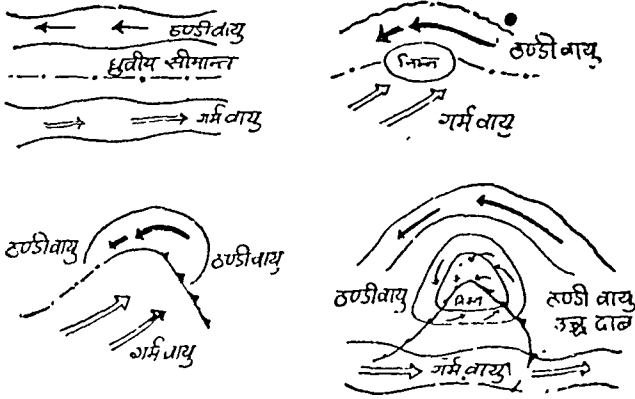
चित्र 24·10 ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त के अनुसार एक आदर्श अवदाब का निर्माण एवं रचना (बिर्कनीज, 1924)

वाताग्रों में विभाजित हो जाती है। पश्चिमी गर्म पवन शीतल वायु संहिति प्रवेश कर ठण्डी वायु को उत्तर की ओर ढकेल देती है जिससे एक वायु गर्त बन जाता है जो आगे चलकर अवदाब के विकास में सहायक होता है। गर्म पवन शनैः-शनैः ठण्डी वायु संहिति के ऊपर चढ़ने लगती है। गर्म वायु संहिति अस्थिर हो जाती है तथा वाताग्र लहर के शीर्ष पर एक विकसित अवदाब का सूत्रपात होता है और मेघों की संरचना प्रारम्भ हो जाती है।

परिपक्वावस्था में गर्म पवन का गर्त शीतल पवन से घिर जाता है। दक्षिणी-पश्चिमी

गर्म पवन ठण्डी पवन को पीछे धकेल देती है। यह ठण्डी पवन उत्तर-पश्चिम से घूमकर गर्म गर्त के पिछले भाग में आ जाती है। इस प्रकार चारों ओर से घिरी हुई गर्म वायु के अग्र क्षेत्रक में गर्म वाताग्र तथा पृष्ठक्षेत्रक में शीत वाताग्र बन जाता है। वायुदाब के ढाल, पृथ्वी की गति और घर्षण आदि के सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप एक पूर्ण विकसित चक्रवात जन्म ले लेता है। दोनों ही वाताग्रों में गर्म वायु का उत्थापन होता है जिसके फलस्वरूप मेघ बन जाते हैं। प्रारम्भ में पक्षाभ मेघ फिर पक्षाभ-स्तरी मेघ और बाद में उच्च स्तरीय मेघों की रचना होती है। प्रारम्भिक अवस्था के 30 से 60 घण्टों में वाताग्र लहर विशाल आयाम ग्रहण कर लेती है और गर्म वायु संहिति एक विस्तृत क्षेत्र में प्रवाहित हो जाती है। गर्म वाताग्र में वर्षा होती है जो केन्द्र के समीप कम हो जाती है। शीत वाताग्र में पुनः तीव्र वर्षा की झड़ी-सी लग जाती है और तेज वायु चलती है। आंधी तथा तूफानों की प्रखर शृंखलाओं के कारण शीत वाताग्र की रेखा को वाताहति रेखा कहते हैं।

पूर्ण विकसित चक्रवात में गर्म तथा शीतल वाताग्र विभिन्न गति से आगे बढ़ते हैं जिसके फलस्वरूप उनका अन्तर कम होता जाता है। शीत वाताग्र की गति तीव्र होने के कारण वह धरातल पर गर्म वाताग्र के स्थान को ग्रहण कर गर्म वायु संहिति को ऊपर उठा देता है। ऊपर उठकर गर्म वायु संहिति का चक्र अपनी ताप-शक्ति खो देता है। इस अवस्था को वाताग्र अधिधारण कहते हैं। अधिधारण अवस्था में तापमान की प्रतिलोमता होने लगती है। गर्म पवन ऊपर और शुष्क तथा धरातल पर ठण्डी होती है। उत्तरी-पूर्वी अमेरिका में इन्हीं पवन से वर्षा होती है जो धरातल तक आते-आते हिमपात में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार शीत ऋतु में बर्फ के तूफान आया करते हैं। इस अवस्था में अवदाब अधिकतम विशाल क्षेत्र अथवा 1600 किलोमीटर से 3200 किलोमीटर व्यास के प्रदेश में फैल जाता है। 24 घण्टे तक यही अवस्था बनी रहती है तथा उसके पश्चात् अवदाब पूर्व की ओर प्रवाहित होता-होता शीतल पवन में घुलना प्रारम्भ कर देता है।

वाताग्र विसर्जन की अवस्था में गर्म तथा शीत सीमान्त धरातल पर एक दूसरे से मिश्रित हो जाते हैं। अतः अवदाब एक विशाल भँवर के रूप में आकाश में उठकर विलीन हो जाता है। अवदाब के विघटन को 6 से 7 दिन तक लग जाते हैं। यदि दो वायु संहितियों का तापमान, घनत्व व दाब समान हो तो भी वाताग्र नष्ट हो जाता है।

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों को हम्फ्रीज ने तापीय, सूर्याभितापी व प्रवासी अवदाबों में विभाजित किया है।

तापीय अवदाब तापमान तथा वायुदाब की असमानता के कारण विकसित होते हैं। स्थल की अपेक्षा यह उष्ण सागरों में उत्पन्न होते हैं क्योंकि शीतकाल में स्थल की अपेक्षा जल अधिक गर्म होता है। सागरों में गर्म जल के कारण निम्न वायुदाब एवं स्थल पर उच्च दाब के कारण इनकी उत्पत्ति होती है। उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिणी-पूर्वी ग्रीनलैण्ड, दक्षिणी-पश्चिमी आइसलैण्ड तथा अल्यूशियन द्वीपों के समीप सागरों में ये पाये जाते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में रोस सागर तथा वैडल सागर इसके उत्पत्ति क्षेत्र हैं।

ग्रीष्म ऋतु में स्थल भाग सूर्य ताप से शीघ्र गर्म हो जाता है जबकि सागर अपेक्षाकृत ठण्डे रहते हैं अतः एक ही अक्षांश में जल और स्थल का तापीय अन्तर अधिक हो जाता है। स्थल पर ताप की बाहुल्यता के कारण निम्न वायुदाब और सागरों पर ठण्डा रहने से उच्च

दाब बन जाता है। ऐसी अवस्था में वायु सागरों से स्थल की ओर चल पड़ती है तथा अवदाब सूर्याभितापी की रचना करती हैं। अलास्का, संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी-अवदाब पश्चिमी भाग तथा उत्तरी-पश्चिमी आस्ट्रेलिया सूर्याभितापी अवदाबों के उत्पत्ति स्थान हैं।

प्रवासी अवदाब सूर्य ताप के कारण ही स्थलीय खण्डों में उत्पन्न होते हैं। जब धरातल का कोई भाग अकस्मात् अत्यधिक गर्म हो जाता है तो संवाहनीय वायु धाराएँ चलने लगती हैं। यह अल्पकालीन होते हैं। संघनन के समय त्यागी गई थोड़ी सी गुप्त ऊर्जा प्रवासी अवदाब की रचना में सहायक होती है। यह बड़े अस्थायी होते हैं तथा इनका प्रभाव समय और क्षेत्रफल दोनों ही दृष्टि से सीमित रहता है।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात कई बातों में शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के समान होते हुए भी उनसे भिन्न होते हैं। दोनों ही चक्रवात निम्न दाब के केन्द्र होते हैं जिनमें उत्तरी गोलार्द्ध में वायु की दिशा वामावर्त तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त होती है। इसके अतिरिक्त आकार, विस्तार, वायु वेग, मार्ग, प्रवाह उत्पत्ति के कारण और प्रभाव क्षेत्र के सम्बन्ध मे दोनों चक्रवातों में भिन्नता पाई जाती है।

चक्रवातो की समदाब रेखाएँ गोलाकार होती हैं जो संमितीय क्रम से वितरित होती हैं व निम्न भार केन्द्र ठीक मध्य मे होता है जिसे चक्रवात का चक्षु कहते हैं। यह शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातो से आकार में छोटे होते हैं। जन्म स्थान पर इनका विस्तार लगभग 80 किलोमीटर व्यास का होता है जो विकास के साथ-साथ बढ़ता जाता है। एक सुविकसित चक्रवात का व्यास 300 से 1500 किमी. तक हो जाता है। चक्रवात के चक्षु का विस्तार 30 से 50 किमी. व्यास तक होता है।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों में गोलाकार समदाब रेखाएँ एक दूसरे के समीप होती है, अतः वायुदाब की तीव्र प्रवणता के कारण पवन केन्द्र की ओर बड़े वेग से चलती हैं। औसत रूप में वायुदाब प्रवणता 1.02 सेग्रे. से 0.42 सेग्रे. प्रति 1.6 किलोमीटर होती है तथा साधारणतः केन्द्र की ओर वायु वेग 50 से 60 किमी. प्रति घण्टा होता है। किन्तु कभी-कभी यह वेग 150 से 200 किमी. प्रति घण्टा हो जाता है। वायु केन्द्र की ओर सीधी न चलकर पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण मुड़ जाती है। चक्रवात चक्षु में पवन शान्त तथा स्थिर हो जाता है।

चक्रवात व्यापारिक पवन के साथ-साथ पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हैं। महाद्वीपों पर इनकी गति 16 से 24 किमी. प्रति घण्टा होती है। सागरों पर यह अधिक चंचल रहते है किन्तु स्थल पर पहुँचते ही जलवाष्प के बादल और वर्षा में परिणित होने के कारण ये शक्तिहीन हो जाते है। शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के मध्य प्रतिचक्रवात विद्यमान रहते हैं, किन्तु उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के पीछे प्रति चक्रवात नहीं होते।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात के आगमन के लक्षण प्रायः शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के आने से पहले पूर्व के लक्षणों के समान ही होते हैं। इनके आगमन से पूर्व वातावरण शान्त रहता है, तापमान बढ़ता जाता है और आर्द्रता बढ़ने और वायुदाब कम होने के कारण उमस हो जाती है। कपासी तथा स्तरी मेघों से आकाश आच्छादित हो जाता है। फिर कपासी वर्षीले मेघ गर्जन के साथ बड़ी-बड़ी बूँदों के रूप में बरसने लगते हैं तेज आंधी

चलती है और घनघोर वर्षा होती है। चक्रवात के केन्द्र अथवा चक्षु के स्थान पर पवन शान्त हो जाती है तथा बादल छंट जाते हैं और नीला अकाश दिखाई देने लगता है। केन्द्र में पवन ऊपर से नीचे को उतरती है जिसका प्रधान कारण उच्च वायुमण्डलीय प्रतिचक्रवात है। नीचे उतरती पवन शुष्क रुद्धोष्म ताप के कारण लगातार गर्म होकर केन्द्र के चारों ओर तेजी के साथ ऊपर को उठती रहती है। सम्पूर्ण चक्रवात की गति कम होते हुए भी केन्द्र से पवन अत्यधिक तीव्र गति से प्रवाहित होती हैं। संघनन से मुक्त ताप प्रचण्ड पवन को जन्म देता है। चक्षु के निकल जाने के पश्चात् चक्रवात के पिछले भाग में प्रायः बिजली की चमक और गरज के साथ-साथ रुक-रुक कर तेज वर्षा होती है। कभी-कभी ओले गिरते हैं, और तापमान गिरते लगता है।
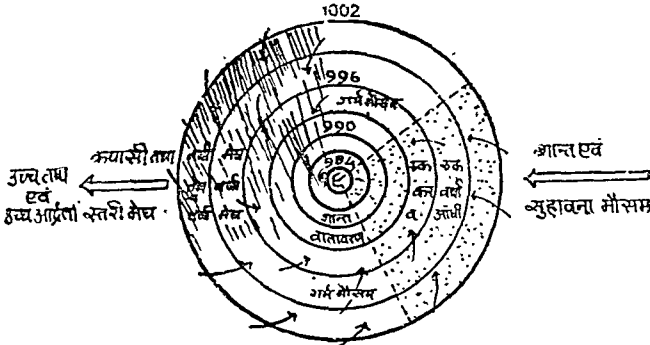
चित्र 24·11 उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात की रचना एवं मौसम ▩ घनघोर वर्षा Ⓔ चक्षु = शान्त वातावरण ▨ आंधी एवं रुक-रुक कर तेज वर्षा ⟸ चक्रवात की प्रवाह दिशा ↗ पवन की दिशा

विषुवत रेखा के समीप लगभग 27° सेग्रे. तापमान के सागर तल इन चक्रवातों की उत्पत्ति के स्थान हैं। विषुवत रेखा पर पृथ्वी की परिभ्रमण गति का पवन पर प्रभाव नहीं होता अतः चक्रवात 10° से 15° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में जन्म लेते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में अन्तर-उष्ण-कटिबन्धीय-अभिसरण क्षेत्र 10° से 15° अक्षांशों में विद्यमान रहता है, अतः चक्रवातो की उत्पत्ति के लिए यह क्षेत्र आदर्श माना जाता है। दक्षिणी गोलार्द्ध की ग्रीष्म ऋतु में विषुवत रेखीय निम्नभार की पेटी 5° दक्षिणी अक्षांश से अधिक दक्षिण की ओर नहीं खिसकती। अतः दक्षिणी गोलार्द्ध में उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात अपेक्षाकृत कम होते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में आंध्र, प्रशान्त एवं हिन्द महासागर के पश्चिमी तटों पर 10° से 15° अक्षांशो के मध्य वायु अवतलन तथा स्थायित्व की दशा क्षीण होती है, अतः वायु उत्थापन और अस्थिरता के कारण चक्रवात जन्म लेते हैं। यह स्थान उपोष्णीय उच्च भार कोशिकाओं के पश्चिमी किनारों पर पाए जाते हैं। चक्रवात की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि धरातल के समीप वायु अभिसरण अथवा अन्तर्वहन तथा उच्च क्षोभमण्डल में प्रतिचक्रवाती अपसरण की अवस्था हो। यदि इस प्रकार की वायु की अवस्था बड़े क्षेत्र में (160 किमी.) में अधिक समय (कम से कम 48 घन्टे) तक विद्यमान रहे तो धरातलीय गर्म वायु ऊपर उठना प्रारम्भ होगी तथा मूल अभिवहन आवर्तिता का सूत्रपात होगा।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के उत्पत्ति संबंधी कई मान्यतायें हैं जिनमें स्थानीय तपन सिद्धान्त और सीमाग्र जनन सिद्धान्त प्रमुख हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थानीय तपन सिद्धान्त के प्रवर्तकों को यह अनुमान था कि स्थानीय तपन की विभिन्नता के कारण गर्म स्थान पर वायु की स्थानीय संवहन धाराओं के अकस्मात् ऊपर उठने से बड़े पैमाने पर गुप्त ताप मुक्त होता है और चक्रवातों का जन्म होता है। किन्तु इस मत के अनुसार वायु की संवाहनीय धाराओं की कोशिकाएँ इतनी छोटी होती हैं कि उनसे इतने विशाल पैमाने पर चक्रवातों की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती। उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात ग्रीष्म काल के अन्त में महासागरों के पश्चिमी किनारों पर जन्म लेते हैं।

सीमाग्र जनन सिद्धान्त के अनुसार, दो वायु संहितियों के सीमाग्र पर उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात जन्म लेते हैं। एक ओर विषुवत रेखीय अथवा अयनरेखीय वायुपुंज और दूसरी ओर संमार्गी तथा उच्च अक्षांशीय वायुपुंज जिन स्थानों पर मिलते हैं, इनके उद्गम स्थल हैं। तापीय विषुवत रेखा लम्बवत सूर्य के साथ भौगोलिक विषुवत रेखा के उत्तर तथा दक्षिण में 8° अक्षांशों तक खिसक जाती है। अतः ग्रीष्म काल में उत्तरी गोलार्द्ध में 8° से 15° अक्षांशों के मध्य उष्ण कटिबन्धीय विक्षोभ सागरों के पश्चिमी किनारों पर जन्म लेते हैं जहां इनको पर्याप्त मात्रा में ऊष्मा और आर्द्रता मिल जाती है। इसी तरह ये दक्षिणी गोलार्द्ध में भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ छिछले विक्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु हरीकेन या टाइफून जैसे प्रचण्ड और तीव्रगामी तूफान पैदा नहीं होते।

गति, विस्तार तथा प्रभाव क्षेत्रों के आधार पर उष्ण चक्रवातों को वर्गीकृत किया गया है जिनमें विषुवतीलहर, पूर्वी तरंगें मुख्य हैं। विषुवत रेखीयलहर या कमजोर निम्न दाब के कारण विषुवत रेखीय प्रदेश में लहर या कमजोर निम्न दाब विषुवत रेखीय द्रोणी के मध्य बन जाता है। इस क्षेत्र में साधारणतया अत्यधिक गर्मी के कारण संवाहनीय क्रिया द्वारा वायु धाराएँ ऊपर को उठती ही रहती हैं, किन्तु साथ ही साथ वायु मन्द गति से पूर्व से पश्चिम की ओर चलती रहती है। इस पूर्वी वायु में अकस्मात् भंवर की रचना हो जाती है जो स्थानीय रूप से उल्टी दिशा में अर्थात् पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होने लगती है। इस निम्न दाब की ओर विषुवत रेखीय आर्द्र वायु संहितियां अभिसरण करती हैं जिसके फलस्वरूप अलग-अलग अनेकों संवाहनीय चक्रवातों द्वारा वर्षा होती है। दाब प्रवणता कम होने के कारण इनकी गति 40 से 50 किमी. प्रति घण्टा होती है और कभी-कभी कई दिनों ये एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं।

पूर्वी तरंग उष्ण कटिबन्धीय विक्षोभ का एक सामान्य स्वरूप है जो पूर्वी हवाओं में जन्म लेती है। ये विषुवत रेखा के दोनों ओर 5° से 30° अक्षांशों के मध्य महासागरों में ग्रीष्म काल में विकसित होती हैं। द्रोणिका के पीछे तथा पूर्व की ओर अभिसरण होता है तथा आगे अपसरण प्रमुख है जिसके फलस्वरूप पीछे की ओर से आर्द्र वायु ऊपर उठकर बौछारों एवं तड़ित झंझावातों में विघटित हो जाती है। द्रोणिका रेखा के आगे अवरोही वायु प्रवाह आर्द्र वायु को ऊपर नहीं उठने देता जिससे स्वच्छ मौसम या प्रकीर्ण कपासी मेघ दृष्टिगोचर होते हैं तथा धरातल पर धुन्ध छायी रहती है। पूर्वी तरंगों की गति 325 से 500 किमी. प्रति दिन पूर्व से पश्चिम की ओर रहती है।

विषुवत रेखा के दोनों ओर जहां महासागरों में तापमान 25° सेग्रे. से अधिक रहता है उष्ण कटिबन्धीय गर्तचक्र पूर्वी तरंगों में उत्पन्न होते हैं। व्यापारी या विषुवत रेखीय पवन के अभिसरण तथा सूर्याभिताप के कारण आर्द्र पवन में संवाहनीय धाराएँ बन जाती हैं। ये धाराएं रुद्धोष्म शीतलन के कारण संघनित होकर गुप्त उष्मा त्याग देती हैं। यही गुप्त ताप संवाहनीय धाराओं को और भी प्रबल कर देता है। फलस्वरूप महासागरों पर निम्न दाब एवं अपसरण पैदा हो जाते हैं। अपसरण द्वारा रिक्त स्थान को भरने के लिए चारों ओर की वायु तीव्रता से निम्न दाब तक पहुंचने की चेष्टा करती है। किन्तु पृथ्वी की परिभ्रमण विक्षेपी शक्ति के कारण सर्पिल प्रवाह में परिवर्तित हो जाती हैं तथा अपकेन्द्री बल द्वारा केन्द्र तक पहुंचने से पहले ही विक्षेपित हो जाती हैं। फलस्वरूप निम्न दाब और भी गहरा होकर गर्तचक्र में परिवर्तित हो जाता है।

भारत में गर्तचक्रों को दक्षिणी–पश्चिमी मानसून के नाम से पुकारते हैं। ये बंगाल की खाड़ी से उत्तर–पश्चिम की ओर प्रवाहित होकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश तक वर्षा करते हैं। अरब सागर के मानसून से तमिलनाडु को छोड़कर भारत के शेष भागों में वर्षा होती है। आस्ट्रेलिया में ये गर्तचक्र तूफानों के नाम से जाने जाते हैं जो आस्ट्रेलिया के उत्तरी–पश्चिमी भाग में वर्षा करते हैं। इनकी गति 40 से 50 किमी. प्रति घण्टा होती है।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात अत्यन्त उग्र तूफान होते हैं जिनकी गति 120 किमी. प्रति घण्टा से अधिक होती है। इन चक्रवातों को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पृथक्-पृथक् नामों से जाना जाता है। हिन्द महासागर में इनको साइक्लोन, केरीवियन सागर में हरीकेन, चीन सागर में टाइफून तथा आस्ट्रेलिया में विलीविलजीज कहते हैं।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों का वितरण 6 प्रदेशों में सीमित है जिनमें अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी, मैडागास्कर के निकट दक्षिणी हिन्द महासागर, पश्चिमी द्वीप समूह, मैक्सिको की खाड़ी तथा कैरीबियन सागर, पश्चिमी–उत्तरी प्रशान्त महासागर (चीन सागर, जापान तथा फिलीपीन द्वीप समूह), मैक्सिको तथा मध्य अमेरिका का पूर्वी प्रशान्त महासागरीय तट और दक्षिणी प्रशान्त महासागर का पश्चिमी क्षेत्र (समोआ) और फिजी द्वीप समूह तथा आस्ट्रेलिया का पूर्वी तट मुख्य हैं।

बंगाल की खाड़ी में जन्मे चक्रवातों को सर्वप्रथम पिडिंगटन ने साइक्लोन के नाम से सम्बोधित किया था।

हिन्द महासागर में इण्डोनेशिया के द्वीपों के समीप एक ओर बंगाल की खाड़ी की आर्द्र मानसून और दूसरी ओर दक्षिणी–पश्चिमी एशिया की स्थलीय शुष्क हवाओं के मिलन स्थान पर सीमाग्रों का विकास होता है जिसके फलस्वरूप साइक्लोनों का जन्म होता है। भारत के थार मरुस्थल में अप्रेल से जून तक निम्न दाब पैदा होता है जो सागर के ओर की आर्द्र हवाओं को आकर्षित करता है। अत. मानसून से पूर्व चक्रवातों की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार मानसून के पश्चात् अक्टूबर से दिसम्बर तक आर्द्र और गर्म पवन स्थल की ओर चलना बन्द कर देती हैं और इससे उत्तर–पश्चिम से आने वाली स्थलीय शीतल हवाओं के आर्द्र और गर्म हवाओं से मिलने के फलस्वरूप साइक्लोनों की उत्पत्ति होती है।

बंगाल की खाड़ी में एक वर्ष में 8 से 10 साइक्लोन आते हैं। जून से नवम्बर तक अरब सागर में लगभग 4 साइक्लोन आते हैं जिनसे भारत का पश्चिमी तट कच्छ, कराची तथा ओमान की खाड़ी क्षेत्र प्रभावित होते हैं। जनवरी से अप्रेल तक दक्षिणी हिन्द महासागर में मेडागास्कर के समीप इनका जन्म होता है जिसके कारण ये मारीशस द्वीपों को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं।

हरीकेन प्रचण्ड एवं तीव्रगामी तूफान होते हैं जो अत्यन्त विनाशकारी होते हैं। इनका जन्म पश्चिमी द्वीप समूह के समीप केरीबियन सागर के अभिसरण क्षेत्र में होता है। गर्मी के अन्तिम महीनों में उच्च पछुवा पवन के माध्यम से परिवर्तित ध्रुवीय वायु, अन्तर उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण प्रदेश के समीप आ जाती है। ऐसी स्थिति में उच्च पछुवा पवन की द्रोणियां धरातलीय व्यापारिक पवन की द्रोणी से मिल जाती है जिससे वायुमण्डल में प्रतिचक्रवातीय अपवाह तथा अपसरण पैदा हो जाता है जो आरोही पवन को विकीर्ण करने में सहायक होता है। परिणामस्वरूप धरातल पर अत्यधिक निम्नभार पैदा हो जाता है जिससे वायुधाराएँ अत्यन्त वेग से ऊपर उठना प्रारम्भ कर देती हैं तथा चारों ओर से आर्द्र और गर्म हवाएं तीव्रता से सर्पिल रूप से निम्नदाब की ओर दौड़ती हैं और हरीकेन की रचना होती है। हरीकेन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह गर्म आवर्त का तूफान होता है जबकि अन्य उष्ण कटिबन्धीय विक्षोभों एवं गर्तचक्रों का केन्द्र शीत आवर्त होता है।

हरीकेन द्वारा प्रभावित क्षेत्र पश्चिमी द्वीप समूह, फ्लोरिडा तथा दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका हैं। ये अगस्त से अक्टूबर के मध्य सक्रिय रहते हैं। वर्ष में 7 से 8 हरीकेन जन्म लेते हैं जिनमें 4 या 5 अत्यन्त विध्वंसक होते हैं। इनकी औसत गति 100 से 120 किमी. प्रति घण्टा होती है जो कभी-कभी 200 किमी. प्रति घण्टा तक हो जाती है। आबादी वाले क्षेत्रों में ये बिजली के खम्बे, वृक्ष और मकान की छतों तक को उखाड़ फेंकते हैं। समुद्र तट पर गगनचुम्बी प्रलयंकारी लहरें उठकर तटवर्ती भूभाग में बहुत दूर तक प्रवेश कर जाती हैं जिससे जन-धन की भारी क्षति होती है।

चीन सागर में प्रवाहित चक्रवातों को टाईफून कहते हैं। इनका जन्म मार्शल द्वीप समूहों, फिलीपीरात, फार्मोसा, द. होंशू, श्यूक व द. चीन सागर में होता है। जुलाई से अक्टूबर तक यहां औसतन 20-21 टाईफून आते हैं जो पूर्व से पश्चिम की ओर तीव्र गति से प्रवाहित होते हैं। इनकी गति भी 160 किमी. प्रति घण्टा होती है। समदाब रेखाएं वृत्ताकार होती हैं तथा दाब प्रवणता अधिक होती है जिसके कारण वायु वेग भी तीव्र होता है। तीव्र गति और मूसलाधार वर्षा के कारण तटवर्ती भागों को अत्यधिक हानि पहुंचती है। साधारणतया इनका व्यास 150 से 450 किमी. तक होता है।

टारनेडो चक्रवात का एक छोटा किन्तु अत्यधिक विनाशकारी रूप है। पश्चिमी अफ्रीका में गिनीतट के समीप एक ओर से सागरीय गर्म और आर्द्र और दूसरी ओर से सहारा की शुष्क हारमेटन पवन के संगम से इनका जन्म होता है। यद्यपि ये उष्ण एवं उपोष्ण प्रदेशो में प्रवाहित होते हैं किन्तु विशेष रूप से ये अमेरिकी तूफान हैं जो अपने विनाशकारी प्रभाव से संयुक्त राज्य अमेरिका को क्षति पहुंचाते हैं। यहां इनको टोरनेडो (प्रभंजन) कहते हैं।

प्रभंजन एक बड़े कपासी वर्षा मेघ से काले कीपाकार मेघ की भांति लटका सा प्रतीत होता है। धरातल की ओर इसका छोर 90 से 460 मीटर व्यास का होता है। इसमें हवाओं की गति 800 किमी. प्रति घण्टा तक होती है तथा वायु दाब इतना कम होता है कि इसके मार्ग में जो भी चीज आती है वह पूर्णतः नष्ट हो जाती है तथा अति तीव्र चक्राकार वायु के साथ ऊपर उठ जाती है। जब कोई प्रभंजन समुद्र के ऊपर से गुजरता है तो लहरें 3 मीटर से भी ऊँची उठ जाती हैं। दूर से ऐसा प्रतीत होता है कि कोई स्तम्भ खड़ा हो। यह जल स्तम्भ कहलाता है जो रचना के आधा घन्टे बाद तक बना रहता है। इसके मध्य निम्न दाब के कारण मछलियां तक ऊपर खिच जाती हैं।
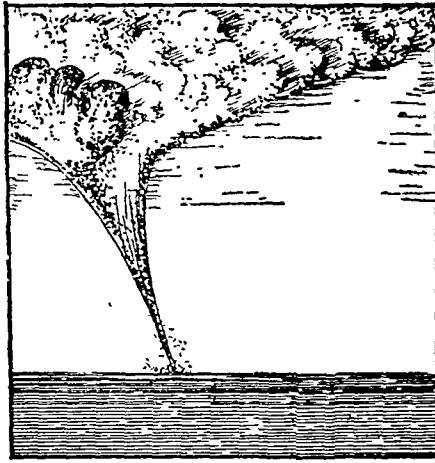
चित्र 24 12 टारनेडो (TORNADO)

अमरीकी वैज्ञानिक रोसो ने सन् 1967 में टारनेडो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक प्रयोग किया। उसने निष्कर्ष निकाला कि टारनेडो की उत्पत्ति दो विशाल मेघ संहितियों के मिलने से होती है। इनमें से एक की बूंदों पर धनात्मक और दूसरी पर ऋणात्मक विद्युत आवेश होता है। समातान्तर चलते हुए जब ये एक दूसरे से 2 किमी. दूर रह जाती हैं तो इनकी गति 800 किमी. प्रति घण्टा हो जाती है और उसी समय टारनेडो जन्म लेते हैं।

वाताग्रों के गौण रूप

चक्रवातों के अतिरिक्त वाताग्र के और भी कई गौण रूप होते हैं जो प्रकृति में चक्रवातों की अपेक्षा कम उग्र तथा कम विनाशकारी होते हैं। इनमें गौण गर्तचक्र, वेज, V-आकृति के गर्तचक्र एवं कॉल मुख्य हैं।

कभी-कभी सुस्थापित मूल निम्न दाब या चक्रवात के शीत वाताग्र के बाहरी या पार्श्व की ओर एक और निम्न दाब बन जाता है। यह गौण गर्तचक्र कहलाता है। यह समदाब रेखाओं में साधारण उभार के रूप में दिखाई देता है। यह उभार समदाब रेखाओं की दाब प्रवणता तथा चक्रवात के आकार के अनुपात में छोटा या बड़ा होता है। गौण गर्त चक्र प्रारम्भ में एक लहर की भाँति प्रतीत होता है किन्तु शीघ्र ही न्यून दाब के चारों ओर

वायु का चक्र विकसित हो जाता है। यह सदा विशाल आकार के चक्रवात में उत्पन्न होता है। यों तो यह किसी भी भाग में बन सकता है किन्तु विशेषकर यह चक्रवात के दक्षिणी किनारे पर विकसित होते हैं।
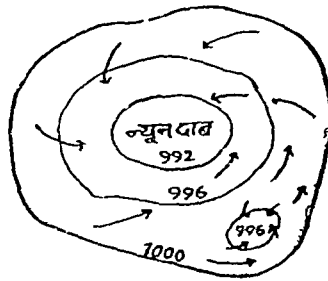
चित्र 24·13 गौण चक्रवात

इनमें ताप तथा दाब की प्रवणता कम पाई जाती है। अतः पवन मन्द गति से चलती हैं। मुख्य चक्रवात की भांति इसमें भी फैरल के नियम के अनुसार पवन चलती है। साधारणतः गौण गर्त चक्र मुख्य चक्रवात की वामावर्त दिशा में चक्कर लगाते हैं। प्रबल गौण गर्त चक्र के विकसित होने पर मुख्य चक्रवात शिथिल अथवा विघटित हो जाता है। कभी-कभी प्रबल गौण गर्तचक्र के पिछले भाग में अतिरिक्त गौण गर्तचक्र भी पैदा हो जाते हैं।

दो चक्रवातों के मध्य उल्टी के 'Λ' आकार की समदाब रेखाओं का उच्च वायुदाब का वायु चक्र स्फान या वेज कहलाता है। वास्तव में यह एक प्रतिचक्रवात होता है जिसमें समदाब रेखाएँ दूर-दूर वितरित होती हैं। इनमें ताप तथा दाब प्रवणता बहुत कम होती है। अतः पवन बड़ी मन्द गति से चलती हैं। यह प्रतिचक्रवात का लघु रूप होते हैं।
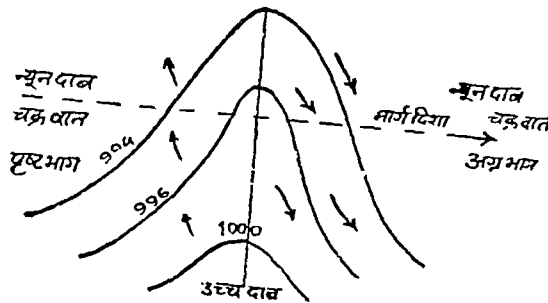
चित्र 24·14 वेज (wedge)
समपात रेखाएं मिलीबार में

वेज में मौसम स्वच्छ, खुला आकाश, मन्द तथा शीतल पवन के साथ शुष्क होता है। इसके अग्र भाग में पृष्ठ भाग की अपेक्षा शीतलता अधिक होती है। वेज का केन्द्र आगे बढ़ते ही पीछे आने वाले चक्रवात का पूर्वाभास हो जाता है। अतः इस भाग के पीछे हल्की वर्षा होती जाती है। इसके आगे बढ़ते ही चक्रवाती मौसम प्रारम्भ हो जाता है।

V-आकृति के गर्तचक्र वेज के बिलकुल विपरीत होते हैं। ये अंग्रेजी के अक्षर 'V' के आकार अर्थात् त्रिभुजाकर होते हैं जिनके केन्द्र में न्यून दाब होता है। यह चक्रवात का एक

लघु रूप है। न्यून दाब की रेखा जो शीर्ष से मध्य में होकर गुजरती है द्रोणी कहलाती है। इसके अग्र भाग में वायु दक्षिण दिशा से तथा पृष्ठ भाग में उत्तर दिशा से आती है। वायु-दाब प्रवणता अधिक होने के कारण वायु तीव्र गति से चलती है। द्रोणी पर तीव्र के झोंके तथा गर्जना के साथ वर्षा होती है।
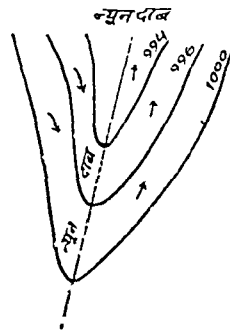
चित्र 24·15 (V) आकृति का गर्त चक्र

कॉल (Col) दो चक्रवात तथा दो प्रतिचक्रवातों के मध्य के स्थान को कहते हैं। कॉल में न तो चक्रवात और न प्रतिचक्रवात दोनों में से किसी के भी लक्षण परिलक्षित होते हैं। यह एक तटस्थ क्षेत्र है जिसमें समदाब रेखाओं का अभाव रहता है तथा वातावरण शान्त रहता है। शीत ऋतु में यहां कुहरा पड़ता है और ग्रीष्म ऋतु में आंधियां और तूफान आते हैं। कॉल अत्यन्त अस्थायी होती हैं तथा शीघ्र ही आगे बढ़ जाती हैं।

चित्र 24·16 ग्रीवा COL
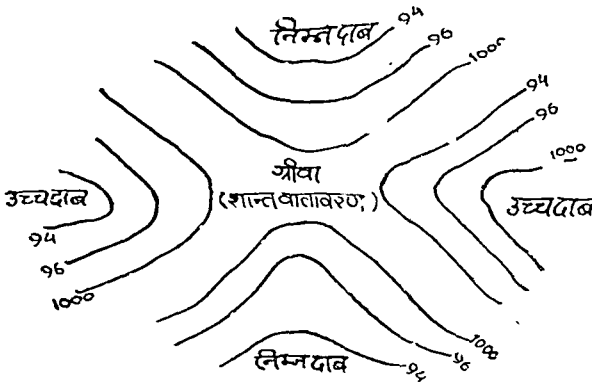
तड़ित झंझावात

लघु आकार का निम्न दाब का अस्थिर तूफान जिसके कपासी मेघों में बिजली की चमक तथा गर्जना तड़ित झंझावात कहलाता है। अत्यधिक गर्मी और वायुमण्डलीय अस्थिरता के कारण वायु गर्म और आर्द्र होकर अकस्मात ही संवाहनीय क्रिया द्वारा ऊपर चढ़ने लगती है। ताप की बढ़ी हुई क्षय मात्रा संवाहनीय धाराओं को और भी तीव्र गति प्रदान करती है। आरोही वायु के साथ बादल का कुछ भाग ऊपर की ओर प्रवाहित हो

जाता है और कुछ नीचे रह जाता है। इस प्रकार एक वृहत् संवाहनिक कपासी मेघ का निर्माण हो जाता है। इस मेघ में हिमकण, ओले, पानी की बूंदें और गैसों का सम्मिश्रण होता है। तड़ित झंझावात की रचना के लिए कपसीले मेघों के तल और शीर्ष के मध्य कम से कम 3,000 मीटर की दूरी का होना अनिवार्य है जिससे मेघ समूह में ही संवाहनिक धाराएँ पूर्णरूप से प्रवाहित हो सकें। संवाहनिक धाराएँ निचले मेघों को ऊपर ले जाती हैं जहां वह हिम कणों में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार बड़ी मात्रा में गुप्त ताप मुक्त हो जाता है जो तूफान को शक्ति प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त पर्वतीय बाधा और स्थानीय अभिसरण का होना भी आवश्यक है जिससे पवन को एक तल पर अस्थायी रूप से बनाये रखा जा सके।

तूफान का औसत व्यास 8 किमी. और बादलों का आधार 4 से 10 किमी. और ऊँचाई 14 से 20 किमी. तक होती है। तूफान द्वारा उत्पन्न प्रचण्ड वात 120 से 150 किमी. प्रति घंटा और कभी-कभी 200 किमी. प्रति घण्टा की गति से चलता है। यह तड़ित मेघ पहुँचने का पूर्वाभास देता है। वैसे तूफान की औसत गति 50 से 60 किमी. प्रति घण्टा होती है। किन्तु वायु के ऊर्ध्वाधर प्रवाह की गति 900 मीटर प्रति मिनट तक होती है। इसीलिए ट्रावार्था ने तड़ित झंझावात को एक अस्थिर संवाहनिक बौछार कहा है।

तड़ित झंझावात में स्थितिज ऊर्जा निरन्तर गतिक ऊर्जा में परिवर्तित होती रहती है। स्थितिज ऊर्जा अस्थिर आर्द्र वायु के संघनन तथा संगलन के मुक्त गुप्त ताप से बनी होती है। गतिक ऊर्जा संवाहनिक धाराओं, विद्युत चमक, मेघ गर्जन, वायु के झौंकें, ओले और मूसलाधार वर्षा के रूप में प्रकट होती हैं। इसके अतिरिक्त तीव्र गति से बहती हुई वायु के झौंकों से जलकण खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, जिससे धनात्मक तथा ऋणात्मक विद्युत लहर पृथक हो जाती हैं। वायु के साथ उठ कर जब ऋणात्मक विद्युत लहर मेघों की धनात्मक लहर से मिलती हैं तो विद्युत् प्रकाश होता है। प्रकार की गति ध्वनि गति से तेज होती है। अतः प्रकाश के पश्चात् मेघ गर्जन सुनाई देता है।
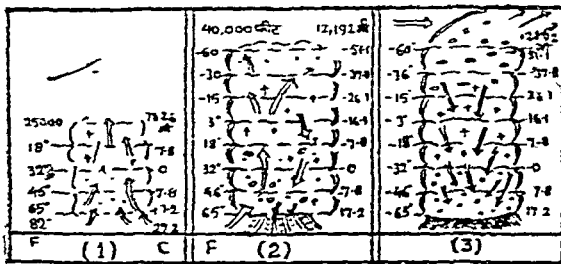
चित्र 24.17 तड़ित झंझावात का जीवन चक्र
1. कपासी या प्रारम्भ अवस्था 2. प्रौढ़ावस्था 3. विघटन अवस्था
वर्षा + हिम = बर्फ ⇒ संवाहनिक धाराएँ (रील, 1954)

तड़ित झंझावात की उत्पत्ति ऊष्मा और आर्द्रता से होती है। अतः ये विषुवत रेखा के समीप जन्म लेते हैं तथा ध्रुवों की ओर कम होते जाते हैं। ये शीत और शुष्क प्रदेशों में उत्पन्न नहीं होते व अधिकांशतः ग्रीष्मकाल में अत्यन्त तेज गर्मी के दिनों में जन्म

लेते हैं। इनका जीवन चक्र केवल एक या दो घण्टे का होता है। जब संवाहनिक धाराएँ समाप्त हो जाती हैं तो संघनन के रूप मे वर्षा हो जाती है और ओले गिरते हैं और सम्पूर्ण आर्द्रता समाप्त हो जाती है व गुप्त ताप के स्रोत नष्ट हो जाते हैं। अतः तूफान शक्तिहीन होकर विघटित हो जाता है।

तड़ित झंझावातों का वर्गीकरण

तड़ित झंझावातों की उत्पत्ति अत्यधिक आर्द्र वायु की ताप क्षय दर (lapse rate) के अधिक बढ़ने के कारण होती है। अतः इनका वर्गीकरण वायुमण्डल की उन दो मुख्य प्रक्रियाओं के आधार पर किया गया है जिनके द्वारा ताप-क्षय की प्रवणता तीव्र होती है।
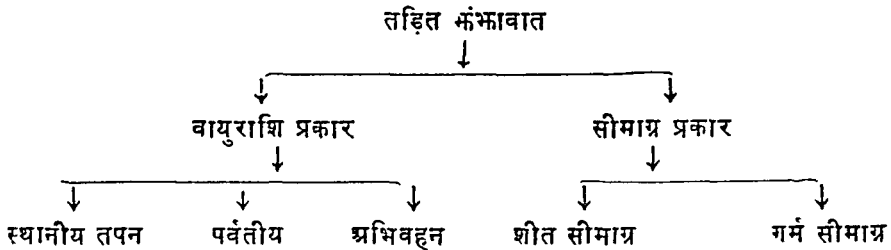
(1) वायुराशि तड़ित झंझावात

(अ) स्थानीय तपन झंझावात—ग्रीष्मकाल में अत्यधिक गर्मी के कारण स्थानीय ताप प्रवणता कपासी मेघ कोशिकाओं को गतिशील कर देती है। फलस्वरूप संवाहनिक धाराएँ पैदा हो जाती है। इस प्रकार के तूफान ऐसे क्षेत्रों में पाये जाते हैं जहां गर्म आर्द्र वायु अधिकता से पाई जाती है। ये बहुधा दिन के तीसरे पहर में जन्म लेते हैं।

(ब) पर्वतीय झंझावात—जब गर्म और आर्द्र अस्थिर हवा पर्वतो पर चढ़ने लगती है तो वाष्पकण घनीभूत होकर गुप्त ताप मुक्त कर देते हैं। फलस्वरूप झंझावात जन्म लेता है तथा मूसलाधार वर्षा करता है। इनके एक ही स्थान पर स्थायी होने के कारण इनमें बहुधा मेघ विस्फोट (cloud burst) की दशायें देखी जाती हैं। ग्रीष्मकाल में उत्तरी-पूर्वी भारत मे चेरापूँजी में 1082 सेमी. तक वर्षा हो जाती है।

(स) अभिवहन झंझावात—धरातलीय गर्म और उच्च वायुमण्डलीय शीतल वायु राशियों के मिलने के कारण तड़ित झंझावातों का जन्म हो जाता है। जब गर्म हवा ऊपर उठती है तो ताप-क्षय दर में तीव्रता आ जाती है तथा अत्यधिक ऊँचाई पर इनकी उत्पत्ति होती है। रात्रि के समय बादलों की ऊपरी सतह से विकिरण द्वारा तापह्रास होता रहता है। फलस्वरूप हवा ठण्डी होकर नीचे की ओर प्रवाहित होती है और गर्म हवा ऊपर चढ़ती है। इस प्रकार संवाहनिक क्रिया प्रारम्भ हो जाती है जिसके फलस्वरूप तड़ित झंझावात जन्म लेता है।

(2) सीमाग्र तड़ित झंझावात

(अ) शीत सीमाग्र तड़ित झंझावात—जब कभी विषुवत रेखा की ओर की गर्म और आर्द्र हवाएँ ध्रुवीय शीतल पवनों के सीमाग्र पर मिलती हैं तो शीतल पवनें उत्तर-पश्चिम और पश्चिम की ओर से प्रवाहित होकर गर्म हवा के नीचे प्रवेश कर जाती हैं।

इस प्रकार सीमाग्र पर ऊपर गर्म और नीचे ठण्डी हवा के रहने से संवाहनिक धाराएँ उत्पन्न होकर तड़ित झंझावात को जन्म देती हैं। ग्रीष्मकालीन V-आकार के चक्रवातों के सीमान्त पर शीत सीमाग्र क्रिया प्रबल होती है।

(ब) गर्म सीमाग्र तड़ित झंझावात---उष्ण कटिबन्धीय महासागरों में गर्म और आर्द्र अस्थायी वायुराशियों के अग्रिम भाग में कमजोर प्रकार के तड़ित झंझावात जन्म लेते हैं। गर्म वायु शनैः-शनैः ऊपर को उठती है तथा अत्यधिक ऊँचाई पर शीतल वायु के सम्पर्क में आकर तड़ित झंझावात को जन्म देती है। अतः इनको 'उच्च स्तरीय विक्षोभ' (High level turbulence) कहते हैं। धरातल पर ये प्रभावहीन होते हैं।

समशीतोष्ण एवं उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों का अन्तर

समशीतोष्ण चक्रवात	उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात
यह अत्यन्त विशाल आकार के होते हैं साधारणतः इनका व्यास 960 से 1120 किमी. होता है। एक पूर्ण विकसित चक्रवात का दीर्घ व्यास 3000 किमी. और क्षेत्रफल 10 लाख वर्गकिमी. तक हो जाता है।	ये छोटे आकार के होते हैं। इनका व्यास 80 से 300 किमी. होता है और कभी-कभी 1500 किमी. तक पहुंच जाता है।
इनकी उत्पत्ति 35° से 65° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के मध्य समशीतोष्ण कटिबन्ध में होती है।	इनका जन्म 10° से 15° अक्षांशों के मध्य होता है तथा प्रभावित क्षेत्र 35° तक विस्तृत रहता है।
इनकी आकृति अण्डाकार होती है तथा चक्ष केन्द्र से कुछ पीछे हटकर होती है।	इनकी आकृति गोलाकार होती है तथा चक्षु का स्थान ठीक केन्द्र में होता है जो शान्त क्षेत्र होता है।
समदाब रेखाएँ दूर-दूर होती हैं।	समदाब रेखाएँ समीप-समीप होती हैं।
चक्रवात में हवा की गति कम अर्थात् 30 से 50 किमी. प्रति घण्टा होती है।	इनमें हवा की गति 50 किमी. से अधिक होती है जो कभी-कभी 150 से 200 किमी. तक बढ़ जाती है।
इनका मार्ग व दिशा अनिश्चित होते हैं यह पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं किन्तु स्थानीय परिवर्तनों के कारण भी अपना मार्ग बदलते हैं।	इनका मार्ग और दिशा निश्चित होती है, इनकी दिशा व्यापारिक पवनों के साथ दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम होती है।
इनके अग्र भाग तथा पृष्ठ भाग के मध्य तापान्तर अधिक रहता है तथा वर्षा का वितरण भी असमान रहता है।	इनमें तापमान और वर्षा का वितरण सम्मितीय होता है।

इनकी उत्पत्ति गर्म तथा ठण्डी वायु संहितियों के संगम स्थान पर लहरों के रूप में वायुमण्डल में होती है।	इनका जन्म तापमान की विभिन्नता तथा सागरीय गर्म और आर्द्र एवं महाद्वीपीय शुष्क पवनों के मिलने से सागरों पर होता है।
यह तीव्रगामी होते हैं तथा 800 से 1600 किमी प्रतिदिन की गति से चलते हैं।	यह मन्द गामी होते हैं तथा एक दिन में 385 से 575 किमी. तक मार्ग तय करते हैं।
इनको केवल एक नाम से ही पुकारा जाता है।	इनको स्थान के आधार पर विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

प्रतिचक्रवात

प्रतिचक्रवात वायु का वह चक्र है जिसमें उच्च वायुदाब मध्य में होता है जो चारों ओर दूरी के साथ-साथ क्रमानुसार घटता जाता है। स्वभाव, गुण, प्रकृति, वायु अवस्था, गति तथा मौसम के दृष्टिकोण से प्रतिचक्रवात चक्रवात के ठीक विपरीत होता है। इनका आकार चक्रवातों से बड़ा होता है।

ये अण्डाकार से होते हैं जिनमे समवायुदाब रेखाएँ दूर-दूर होती हैं। यह यूरेशिया में 1600 से 3200 किमी. व्यास के होते हैं और साइबेरिया में तो 10000 किमी. तक के व्यास में फैले होते हैं। मध्य अक्षांशों में इनका व्यास 3000 से 4000 किमी. होता है।

प्रतिचक्रवात में उच्च वायु दाब मध्य में रहता है, अतः पवन केन्द्र से परिधि की ओर प्रवाहित होती हैं। ये पवन उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में वामावर्त चलती हैं। केन्द्र में वायु की गति नगण्य रहती है अर्थात् यह शान्त क्षेत्र होता है। साधारणतः वायु मन्द गति से चलती है। दाब प्रवणता की कमी के कारण स्थानीय पवन चलने लगती है।

प्रतिचक्रवातों का कोई सुनिश्चित मार्ग नहीं होता। यह दो चक्रवातों के मध्य कई दिनों तक स्थिर रहते हैं। मध्य अक्षांशों में कुछ छोटे प्रतिचक्रवातों की गति 30 से 50 किमी. के मध्य होती है।

अत्यधिक विशाल आकार ताप एवं दाब की प्रवणता की कमी के कारण इनमें स्थानीय मौसम का प्रभाव पड़ता है। आकाश मेघ रहित रहता है तथा दिन में तेज धूप रहती है। केन्द्र में वायु का अवतलन होता है जिसके कारण वह गर्म होकर शुष्क हो जाती है तथा वर्षा नहीं होती। ग्रीष्मकालीन प्रति चक्रवातों का तापमान शीतकालीन प्रतिचक्रवातों की अपेक्षा अधिक रहता है। ग्रीष्मकाल में भी रात्रि का तापमान इतना नीचे आ जाता है कि सूर्योदय के समय कुहरा तथा धुन्ध छा जाती है। शीतकाल में कुहरा, धुन्ध और ओस की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। क्षितिज पर बादल दिखाई देते हैं तथा मौसम सदा स्वच्छ और चक्रवातों की तुलना में ठण्डा रहता है।

साधारणत: प्रतिचक्रवातों में वर्षा नहीं होती। शॉ तथा लेम्फर्ट के अनुसार इनमें अनेक स्थानीय परिवर्तनों के कारण मेघों का सृजन हो जाता है। उपोष्णीय प्रतिचक्रवात के पश्चिमी किनारे जब किसी सागर तल से होकर स्थल की ओर प्रवेश करते हैं तो उनसे पर्याप्त वर्षा होती है।
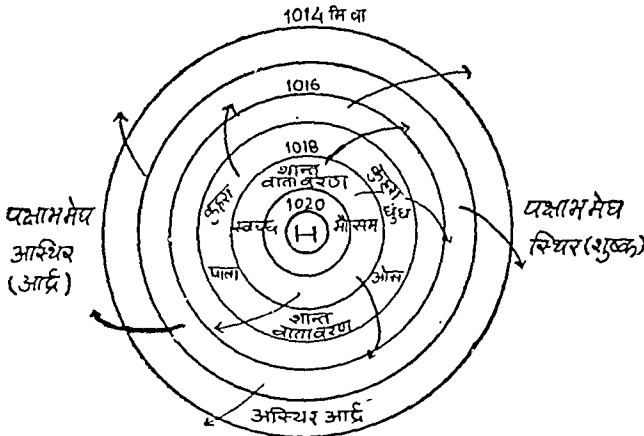
चित्र 24·18 प्रति चक्रवात में पवन की दिशा (उ. गोलार्द्ध मे)
H = उच्च — दाब (वायुदाब मिलीबार में)

हम्फ्रीज ने उत्पत्ति के आधार पर प्रतिचक्रवातों को तीन भागों में—गतिक, विकिरणात्मक, तापजन्य प्रतिचक्रवातों में विभाजित किया है।

उपोष्णीय उच्च दाब की पेटियाँ जो 30° से 35° अक्षांशों के मध्य स्थित हैं गतिक प्रतिचक्रवातों के केन्द्र हैं। इनकी रचना वायु अपसरण तथा अवतलन से निर्मित यांत्रिक संकुचन के परिणामस्वरूप होती है। ये सागरों पर बनते हैं तथा स्थल पर आकर विघटित हो जाते हैं। सागरों पर संरचित प्रतिचक्रवात अत्यन्त अस्थिर होते हैं और महाद्वीपों के पूर्वी तटों पर वर्षा करते हैं।

ध्रुवीय एवं उपध्रुवीय क्षेत्रों में तापमान सदा हिमांक के आसपास रहता है। अत: ग्रीनलैण्ड तथा एन्टार्टिका के हिमावरण पठार विकिरणात्मक प्रतिचक्रवातों के उद्गम केन्द्र हैं। यहाँ सदा उच्च वायुदाब बना रहता है।

निरन्तर वायुदाब रहने के कारण यहाँ स्थायी प्रतिचक्रवात विद्यमान रहते हैं। इनको स्थायी ध्रुवीय वायु संहिति कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी।

महासागरों में ठण्डी जलधाराओं का तापमान सागर तल से नीचा रहता है। अत: इन पर सर्दी के कारण उच्च वायुदाब उत्पन्न हो जाता है। लेब्रेडर, कनारी, क्यूराइल, केलिफोर्नियाई तथा पश्चिमी चिली की ठण्डी जलधाराओं के ऊपर की वायु शीतल होकर उच्च वायुदाब को जन्म देती है जिसके कारण अर्द्ध-स्थायी एवं छोटे आकार के तापजन्य प्रतिचक्रवात उत्पन्न हो जाते हैं।

हांजलिक ने प्रतिचक्रवातों को धरातलीय एवं उच्च वायुमण्डलीय सम्बन्धों से प्रतिपादित किया है। इनके अनुसार दो तरह के प्रतिचक्रवात होते हैं— शीत प्रतिचक्रवात तथा गर्म प्रतिचक्रवात।

शीत प्रतिचक्रवात—ये ध्रुवीय शीतल वायुपुंजों से निर्मित होते हैं। ये ऐसे स्थानों पर उत्पन्न होते है जहाँ अत्यधिक शीतलता हो। इनकी संरचना ठण्डे धरातल के स्पर्श से वायु की सघनता के कारण होती है। यह ठण्डी हवा केवल 1 या 2 किमी. ऊँचाई तक पाई जाती है तथा उसके ऊपर शीत प्रतिचक्रवात का कोई चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता। ऊँचाई के साथ-साथ वायुदाब कम होता जाता है और अधिक ऊँचाई के साथ यह नष्ट हो जाते है। साइबेरिया इनकी उत्पत्ति का आदर्श प्रदेश है। यहाँ ये चक्रवात के पृष्ठभाग में ठण्डी ध्रुवीय पवन के दक्षिण दिशा में चलने के फलस्वरूप जन्म लेते हैं।

उष्ण प्रतिचक्रवात—उष्ण प्रतिचक्रवात उपोष्ण उच्च वायुदाब के क्षेत्रों में विकसित होते हैं। कर्क तथा मकर रेखाओं के समीप गर्म एवं शुष्क वायु का अवतलन होता रहता है जिससे उच्च वायुदाब विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त इसका सम्बन्ध संभवत: उच्च वायुमण्डलीय पछुआ पवन की दीर्घ तरंगों से है जिनको उपोष्ण उच्च दाब की कोशिकाएँ नियन्त्रित करती है। यूरोप में प्रवेश करने वाले अधिकांशत: प्रतिचक्रवात इसी प्रकार के होते है। ये अस्थायी प्रकृति के होते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Battan, L. J. 1961); The Nature of Violent Storms (Doubleday and Co., Garden City, N Y.).
2. Byers, H. R. (1974), General Meteorology, 4th ed. (McGraw-Hill Book Co., New York).
3. Hare, F. K. (1953), The Restless Atmosphere (Hutchinson's University Library, London).
4. Helm, T. (1967), Hurricanes : Weather at its Worst (Dodd, Mead and Co., New York).
5. Haurwit, B. and Austin, J. A. (1944), Climatology (McGraw Hill Book Co., New York).
6. Humphreys, W. J. (1929), Physics of the Air (McGraw Hill Book Co., N. Y)
7. Namias, J. and Others (1940), Air Mass and Isentropic Analysis American Meteorological Society, Mass).
8. Petterssen, S. (1956), Weather Analysis and Forecasting (McGraw Hill Book Co., New York).
9. Riehl, H. (1954), Tropical Meteorology, (McGraw Hill Book Co., New York).
10. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography 4th ed. (Wiley International Edition, New York).
11. Trewartha. G. T. (1954), An Introduction to Climate (McGraw Hill Book Co., New York).
12. Wilet, H. C. (1945), Descriptive Meteorology (Academic Press, New York).
13. तिवाड़ी, अनिलकुमार (1974), जलवायु-विज्ञान के मूल तत्त्व (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर)
14. बनर्जी, रमेशचन्द्र और उपाध्याय, दयाशंकर (1973), मौसम विज्ञान (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर)

———

25

जलवायु क्षेत्रों का वर्गीकरण
[Climatic Regions & their Classification]

किसी स्थान या प्रदेश की सभी ऋतुओं की औसत मौसमी दशाओं को जलवायु कहते हैं। किसी स्थान तथा विशिष्ट समय की वायुमण्डलीय दशा को मौसम कहते हैं जबकि जलवायु किसी वृहत् क्षेत्र अथवा प्रदेश के वायुमण्डल की लम्बी अवधि की सामान्य दशाओं को प्रदर्शित करता है। मौसम परिवर्तनशील है। अतः किसी प्रदेश की जलवायु को निर्धारित करने के लिए 30 या 35 वर्षों तक इन परिवर्तनों का अध्ययन करने के पश्चात् विभिन्न स्थानों एवं क्षेत्रों को वायुमण्डल की औसत दशा जलवायु के आँकड़ों को शुद्ध औसत मानकर सामान्य मानों द्वारा निर्धारित की जाती है। किसी स्थान की जलवायु के वर्णन एवं वर्गीकरण में उन सभी घटकों को ध्यान में रखा जाता है जो मौसम के संदर्भ में काम आते हैं।

धरती के उस क्षेत्र को जहाँ सभी ऋतुओं की औसत दशाएँ समान हों जलवायु क्षेत्र कहते हैं। जलवायु क्षेत्र वह क्षेत्र है जहाँ सजातीय जलवायु दशाएँ पाई जाती हैं। किसी क्षेत्र की जलवायु को वहाँ के अक्षांश, महाद्वीपों तथा महासागरों की सापेक्षिक स्थिति, तापमान, विकिरण की मात्रा, वायुदाब, हवाओं की दिशा, सापेक्षिक एवं विशिष्ट आर्द्रता, ओसांक, संघनन, वाष्पीकरण, वाष्पोत्सर्जन, चक्रवात एवं प्रतिचक्रवातों का संयोग आदि तत्त्व नियंत्रित करते हैं। दो भिन्न जलवायु क्षेत्रों के मध्य कोई प्राकृतिक सीमा रेखा नहीं होती है।

जलवायु क्षेत्रों के निर्धारण में जलवायु के दो या उससे अधिक संयोगों को आधार बनाया जाता है। वास्तव में जलवायु क्षेत्र का वर्गीकरण जलवायु के अनेक तत्त्वों के संयोग की विभिन्नता को प्रदर्शित करता है तथा ऐसे क्षेत्रों की सीमा निर्धारित करता है जिनमें इन तत्त्वों के समान संयोग मिलते हों। जलवायु क्षेत्रों के वर्गीकरण में क्षेत्रीय वर्गीकरण सुविधाजनक है।

सर्वप्रथम यूनान के विद्वानों ने जलवायु क्षेत्रों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया। वर्षा जैसे महत्वपूर्ण तत्त्व की उपेक्षा करते हुए केवल तापमान के आधार पर तापीय कटिबन्धों का विश्लेषण किया। इन कटिबन्धों को उन्होंने अक्षांश रेखाओं द्वारा निश्चित किया।

उष्ण कटिबन्ध जिसे विषुवत रेखीय कटिबन्ध भी कहते हैं उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों में $23\frac{1}{2}°$ अक्षांशों के मध्य फैला हुआ है। उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क रेखा तथा

दक्षिणी गोलार्द्ध में मकर रेखा क्रमशः ग्रीष्म एवं शीत ऋतुओं में इस कटिबन्ध की सीमा रेखाएँ बनाती हैं। यहां सदा तापमान 20° से.ग्रे. से अधिक रहता है तथा शीतऋतु नहीं होती।

शीतोष्ण कटिबन्ध दोनों गोलार्द्धों में $23\frac{1}{2}$° से $66\frac{1}{2}$° अक्षांशों के मध्य फैला हुआ है। उत्तरी गोलार्द्ध में $66\frac{1}{2}$° अक्षांश उत्तरी ध्रुव-वृत्त तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में $66\frac{1}{2}$° अक्षांश दक्षिणी ध्रुव-वृत्त इस कटिबन्ध की सीमा रेखाएँ निर्धारित करते हैं। यहां 8 महीने तापमान 20° से. ग्रे. से कम रहता है तथा ऋतुएँ परिवर्तित हुआ करती हैं।

शीत कटिबन्ध दोनों गोलार्द्धों में $66\frac{1}{2}$° अक्षांशो से उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों तक फैला हुआ है। यहां ग्रीष्म ऋतु नहीं होती तथा वर्ष में 8 महीने तापमान 10 से.ग्रे. से नीचे रहता है। ध्रुवों पर सदा हिम जमी रहती है तथा 6 महीने का दिन और 6 महीने की रात होती है।
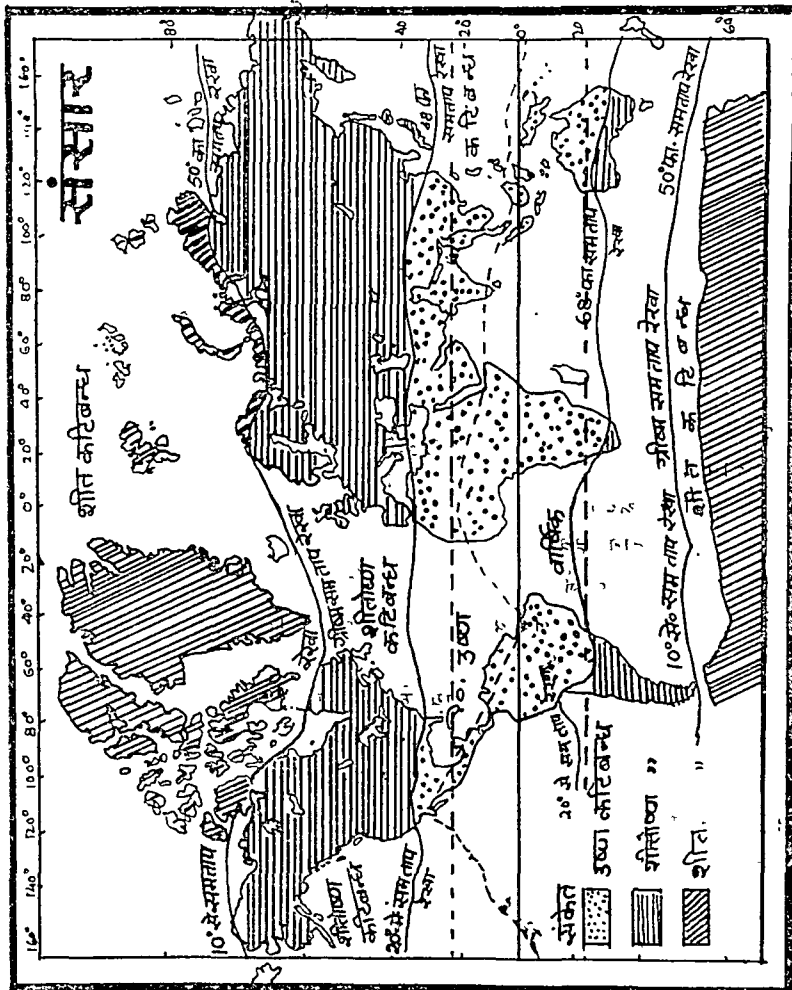
चित्र 25.1 पृथ्वी के तापीय कटिबन्ध (सूपन के अनुसार)

तापीय कटिबन्धों को अक्षांशों द्वारा सीमाबद्ध करना दोषपूर्ण बतलाकर जर्मन वैज्ञानिक सूपन ने समताप रेखाओं के आधार पर पृथ्वी के ताप मण्डलों को वर्गीकृत किया

है। इसके अनुसार उष्ण विपुवत रेखीय पेटी की 20° सेग्रे. समताप रेखा सीमा बनाती है। शीतोष्ण पेटी दोनों गोलार्द्धों में 10° से. समताप रेखा की सीमा बनाती है। शीत आवरण दोनों गोलार्द्धों में 0° से. समताप रेखा इस हिम के आवरण की सीमा बनाती है। तापमान पर आधारित उपर्युक्त वर्गीकरण दोषपूर्ण हैं क्योंकि इनमें जलवायु के अन्य महत्वपूर्ण तत्त्वों को सम्मिलित नहीं किया गया तथा जल और थल के असमान वितरण की उपेक्षा की गई है।

वर्षा पर आधारित वर्गीकरण

सन् 1965 में ब्लेअर ने वर्षा को मुख्य तत्त्व मानकर पृथ्वी को 5 जलवायु क्षेत्रों में विभाजित किया।

सारणी 1
जलवायु क्षेत्र

क्र.	क्षेत्र	वर्षा की मात्रा पर आधारित प्रदेश	औसत वार्षिक वर्षा (सेमी. में)	औसत वार्सिक वर्षा (इंचों में)
1	शुष्क	निम्न	25	0—10
2	अर्द्ध शुष्क	मन्द	25—50	10—20
3	अल्प आर्द्र	मध्यम या साधारण	50—100	20—40
4	आर्द्र	अधिक या प्रचुर	100—200	40—80
5	अति आर्द्र	अत्यधिक	200 से अधिक	80 से अधिक

मिलर ने तापमान तथा वर्षा दोनों महत्वपूर्ण तत्त्व जलवायु क्षेत्र के वर्गीकरण के आधार माने हैं। उन्होंने जलवायु क्षेत्रों को 7 मुख्य तथा इन्हें भी उप विभागों में विभक्त किया है।

जलवायु क्षेत्रों के इन वर्गीकरणों में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें ध्रुवीव तथा मरुस्थलीय शुष्क भागों को एक ही शुष्क क्षेत्र अर्थात् 25 सेमी. (0–10 इंच) वर्षा के क्षेत्रों में रखा है।

डब्ल्यू. कोपेन ने जलवायु क्षेत्रों के विभाजन में तापमान तथा वर्षा को मुख्य आधार माना तथा स्थानीय वनस्पति पर तापमान तथा वर्षा के प्रभाव को ध्यान में रखा है।

कोपेन व गीजर ने विभिन्न जलवायु क्षेत्रों को प्रदर्शित करने के लिए एक नवीन शैली का सूत्रपात किया। उन्होंने जलवायु के मुख्य पाँच वर्गों को A,B,C,D,E द्वारा प्रदर्शित किया है और इन भागों को उपविभागों में बांटा। इसके लिए उन्होंने अंग्रेजी के छोटे अक्षरों f, s, तथा w को प्रयोग में लिया है जो क्रमश: वर्षभर वर्षा, ग्रीष्मकालीन वर्षा तथा शरद्कालीन वर्षा को प्रदर्शित करते हैं। शुष्क जलवायु को प्रदर्शित करने के लिए

सारणी 2

मिलर द्वारा जलवायु क्षेत्रों का वर्गीकरण

मुख्य जलवायु एवं तापमान	चिह्न	उप-विभाजन	वर्षा	क्षेत्र
1. गर्म जलवायु, औसत तापमान 21.1° से. (70° फे.)	A_1	विषुवत रेखीय	वर्ष भर वर्षा किन्तु दो बार अधिक	पश्चिमी अफ्रीका का गिनी तट
	A_{1m}	विषुवत रेखीय, मानसूनी	वर्ष भर	जावा
	A_2	उष्ण कटिबन्धीय सागरीय, मानसूनी	वर्ष भर वर्षा	ब्राजील का पूर्वी तट
	A_{2m}	उष्ण सागरीय	मानसूनी वर्षा	फिलीपीन द्वीप
	A_3	उष्ण महाद्वीपीय	ग्रीष्मकालीन	ब्राजील का पठार
	A_{3m}	उष्ण महाद्वीपीय	मानसूनी वर्षा	स्याम
2. उष्ण शीतोष्ण किसी भी माह का तापमान 6.1° से. (43° फे.) से कम नहीं	B_1	पश्चिमी तटीय (भूमध्य सागरीय)	शीतकालीन वर्षा	केलीफोर्नियां
	B_2	पूर्वी तटीय	वर्ष भर वर्षा	न्यू साउथ वेल्स
	B_{2m}	पूर्वी तटीय (मानसून)	ग्रीष्मकालीन वर्षा अधिक	दक्षिणी जापान

3. शीत शीतोष्ण, 1 से 5 माह तक 6.1° से. (43° फ.) से तापमान वाली शीत ऋतु	C_1	सागरीय	वर्ष भर सामान्य वर्षा किंतु शीत ऋतु में अधिक	तसमानिया
	C_2	महाद्वीपीय	ग्रीष्मकालीन वर्षा	पूर्वी यूरोप का देश पोलेण्ड
	C_{2m}	महाद्वीपीय (मानसून)	ग्रीष्म में अधिक वर्षा	कोरिया
4. शीतोष्ण, 6 से 9 माह तक –5° से. (23° फ.) से कम तापमान	D_1	सागरीय	वर्ष भर सम-वर्षा तथा शीत कालीन अधिक	पश्चिमी अलास्का
	D_2	महाद्वीपीय	ग्रीष्मकालीन वर्षा	मध्य कनाडा
	D_{2m}	महाद्वीपीय	मानसूनी वर्षा	उत्तरी व मध्य मंचूरिया
5. आर्कटिक जलवायु लम्बी शीत ऋतु, केवल 3 महीने 6.1° से. से अधिक तापमान	E	ध्रुवीय जलवायु	वर्षा हिम के रूप में	ध्रुवीय प्रदेश
6. मरुस्थलीय जलवायु, तापमान 6.1° से. (43°फ.) से अधिक रहता है। वर्षा 25 सेमी. से कम	F_1	उष्ण मरुस्थलीय तटीय	वार्षिक वर्षा 25 सेमी. से कम	मध्य चिली तथा सिन्ध (पाकिस्तान)
	F_2	मध्य अक्षांशीय	25 सेमी. से कम	संयुक्त राज्य अमेरिका का वृहत् थाल
7. पर्वतीय जलवायु	G	ऊँचे पर्वतों पर	—	बोलिविया का पठार

S तथा W प्रयोग किए हैं (S—अर्द्ध मरुस्थलीय या स्टेपी तथा W—मरुस्थलीय)। इसी प्रकार ध्रुवीय जलवायु को T और F द्वारा इंगित किया गया है (T—टुण्ड्रा तथा F—हिमाच्छादित)।

कोपन द्वारा 5 मुख्य वर्ग तथा 11 उपवर्ग निम्न सारणी में प्रदर्शित किए गये हैं :

सारणी 3

क्र.	जलवायु के मुख्य वर्ग	चिन्ह	शुष्ककाल	शीत तथा शुष्कता
1	उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु	A	fw	—
2	शुष्क जलवायु	B	—	SW
3	मध्य अक्षांशों की आर्द्र तथा मध्य तापीय जलवायु	C	fsw	—
4	मध्य अक्षांशों की आर्द्र सूक्ष्म तापीय (शीतल) जलवायु	D	fw	—
5	ध्रुवीय जलवायु	E	—	TF

दो संकेतों के मिलाने से 11 प्रकार के जलवायु क्षेत्र बनते हैं जो निम्न हैं :

A वर्ग की जलवायु

A—उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु जहां तापमान सदा 18° सेग्रे. से ऊँचा रहता है। इस वर्ग में दो उपवर्ग और हैं :

उष्ण आर्द्र जलवायु (Af)-यहां वर्षभर वर्षा होती है। वार्षिक तापान्तर तथा वार्षिक वर्षा का अन्तर बहुत कम रहता है। शुष्कतम महीने (अगस्त) में 6 सेमी. से अधिक वर्षा होती है।

उष्ण आर्द्र शुष्क जलवायु (Aw)—यहां ग्रीष्म ऋतु में वर्षा तथा शीत ऋतु में शुष्कता रहती है। अति शुष्क महीने (दिसम्बर) में वर्षा 6 सेमी. से कम होती है। उष्ण कटिबन्धीय सवाना इस जलवायु का प्रतिनिधि क्षेत्र है।

A वर्ग के अन्तर्गत, (m) मानसून, (W') पतझड़ कालीन वर्षा, (W") वर्ष में दो आर्द्र और दो शुष्क मौसम।

(s) शुष्क ग्रीष्म ऋतु, (I) वार्षिक तापान्तर 5° से., (g) सूर्य के उत्तरायणान्त से पूर्व शुष्कता तथा ग्रीष्मकालीन वर्षा को प्रदर्शित करने वाले और भी कई संकेतों को लिया गया है।

B वर्ग की जलवायु

B—शुष्क जलवायु के क्षेत्रों में वर्षा कम और वाष्पीकरण अधिक होता है। इस वर्ग को भी दो उपवर्गों में विभाजित किया गया है :

स्टैपी जलवायु (Bs) या अर्द्ध मरुस्थलीय जलवायु—यहाँ ग्रीष्मकाल में अधिक एवं शीतकाल में बहुत कम वर्षा होती है जो घास की पैदावार के लिए उपयुक्त है।

मरुस्थलीय जलवायु (Bw)—शुष्क जलवायु को अन्य उपविभागों में भी विभक्त किया गया है, जैसे—(h) उष्ण कटिबन्धीय मरुस्थल तथा स्टैपी। यहाँ तापमान का वार्षिक औसत 18° से. अधिक रहता है। (K) शीतोष्ण कटिबन्धीय मरुस्थल व स्टैपी। यहाँ तापमान का वार्षिक औसत 18° सेग्रे. से कम रहता है। (K') अति उष्ण जहाँ माह का तापमान 18° सेग्रे. से कम रहता है। (s) ग्रीष्म कीलन शुष्क जलवायु, (w) शरदकालीन शुष्क जलवायु तथा (n) कुहरा युक्त जलवायु।

C वर्ग की जलवायु

C—समशीतोष्ण आर्द्र अथवा मध्य अक्षांशों की आर्द्र मध्य तापीय जलवायु के क्षेत्र में शीतऋतु में–3° से 18° सेग्रे, के मध्य तापमान रहता है तथा ग्रीष्मकाल में औसत तापमान 10° सेग्रे. से अधिक रहता है। वर्षा की मात्रा के आधार पर इसको तीन उपवर्गों में विभाजित किया गया है :

cf—वर्षभर वर्षा, cw ग्रीष्म ऋतु में वर्षा तथा cs शीतकालीन वर्षा (भूमध्य सागरीय जलवायु) इस क्षेत्र को ताप के आधार पर फिर तीन तथा वर्षा के आधार पर दो सूक्ष्म उप-विभागों में वर्गीकृत किया गया है :

(a) अति उष्ण ग्रीष्मकालीन, जिसमें अधिकतम तापमान 22° सेग्रे. रहता है।

(b) उष्ण ग्रीष्म कालीन, जिसमें सबसे गर्म माह के ताप का औसत 22° सेग्रे. से कम हो।

(c) शीतल एवं अल्पकालिक ग्रीष्म ऋतु जहाँ सबसे गर्म माह का औसत तापमान 21° सेग्रे. से कम हो तथा एक से तीन माह का तापमान 10° सेग्रे. या उससे अधिक रहता हो।

(x) बसंत अथवा ग्रीष्म के प्रारम्भिक समय में अधिक वर्षा तथा

(n) कुहरा युक्त जलवायु।

D वर्ग की जलवायु

D मध्य अक्षांशों की आर्द्र सूक्ष्म तापीय अथवा शीतोष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु। इस क्षेत्र में शरदकालीन माह के तापमान का मध्यमान –3° सेग्रे. से कम और ग्रीष्म माह से तापमान का मध्यमान 10° सेग्रे. से अधिक रहता है यहाँ कोणधारी वन मिलते हैं। इसको दो उपवर्गों में बांटा गया है :

(Df) शरदकालीन अधिक वर्षा तथा तेज सर्दी व

(Dw) ग्रीष्मकालीन वर्षा तथा कड़ाके की सर्दी।

E वर्ग की जलवायु

(E) ध्रुवीय जलवायु—इस प्रदेश में ग्रीष्म ऋतु का तापमान 10° सेग्रे. से कम रहता है। इसको भी ताप के आधार पर दो उपवर्गों में विभाजित किया गया है।

(ET) टुण्ड्रा प्रदेश जहाँ ग्रीष्मकालीन तापमान 0° से 10° सेग्रे. के मध्य रहता है।

(EF) हिमाच्छादित प्रदेश जहाँ ग्रीष्मकालीन तापमान 0° सेग्रे. से सदा कम रहता है।

कोपन ने उपर्युक्त जलवायु विभागों के अतिरिक्त पर्वतीय जलवायु को H से प्रदर्शित किया है। वास्तव में कोपन ने एक सामान्य विधि के द्वारा सुनिश्चित रूप से विश्व जलवायु को वर्गीकृत और उपवर्गीकृत किया है।

चित्र 25-2 कोपन द्वारा संसार के जलवायु प्रदेश
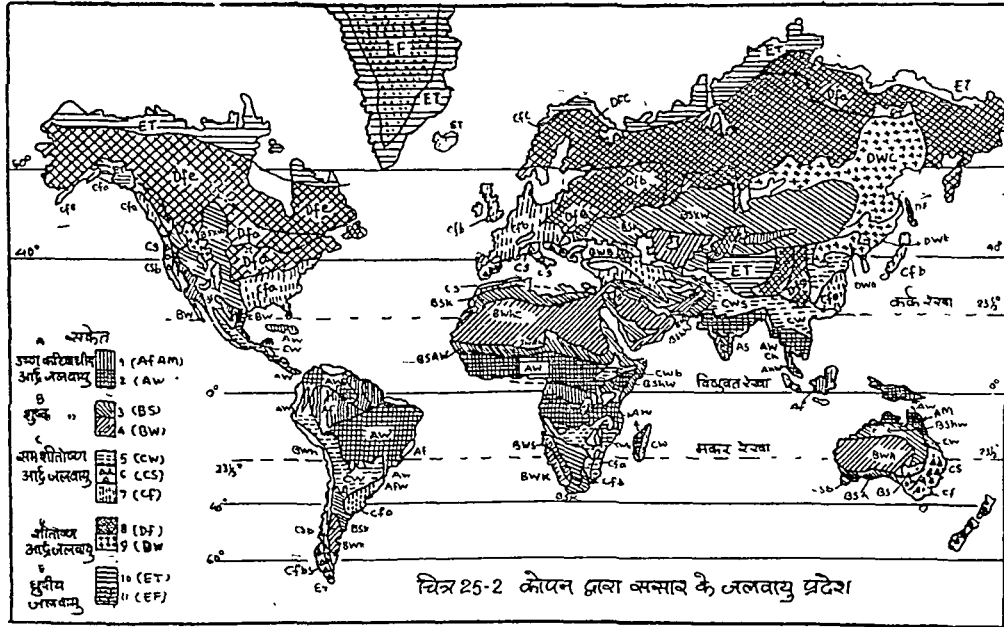
अमरीकी ऋतु-वैज्ञानिक थोर्नथ्वेट ने जलवायु क्षेत्रों का वर्गीकरण किया। कोपन का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी अपने तथ्यों के आधार पर यह ज्ञात किया कि जलवायु के सम्मिलित प्रभाव को वनस्पति के रूप में देखा जा सकता है। एक पौधा जलवायु के परिणामों का संकेत देता है। पौधों का पनपना वृष्टि प्रभावशीलता तथा तापीय-क्षमता पर आधारित रहता है। इसके अतिरिक्त 'वर्षा का मौसमी वितरण' भी वनस्पति की वृद्धि में सहायक होता है। यदि समय पर पानी मिल जाय तो वह शीघ्र बढ़ जाती हैं। कुल 12 महीने की वृष्टि-प्रभावशीलता सूचकांक (P/E Index) द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह वर्षा की मात्रा और वाष्पीकरण का अनुपात है। तापीय-क्षमता, औसत मासिक तापमान तथा मासिक वाष्पीकरण का अनुपात है। थोर्नथ्वेट की पद्धति अत्यन्त जटिल है तथा केवल अनुभवाश्रित तथ्यों पर ही आधारित है। आर्द्रता तथा उस पर आधारित वनस्पति द्वारा पाँच क्षेत्र निर्धारित किये गये हैं।

आर्द्रता-प्रभावशीलता

सारणी 4

आर्द्रता क्षेत्र	वनस्पति	वृष्टि—प्रभावशीलता सूचकांक
तर	वर्षा वन	128 से अधिक
आर्द्र	वन	64–127
उपार्द्र	घास के मैदान	32–63
अर्द्ध शुष्क	स्टैपी	16–31
शुष्क	मरुस्थल	16 से कम

वर्षा के मौसमी वितरण अर्थात् वर्षा की मौसमी सान्द्रता के आधार पर उपर्युक्त पाँच आर्द्रता क्षेत्रों को पुन: पाँच उप-विभागों में बाँटा है :

वर्षभर पर्याप्त वर्षा (r),
ग्रीष्मकाल में कम वर्षा (s),
शीतकाल में कम वर्षा (w),
बसन्त ऋतु में कम वर्षा (w′) तथा
वर्षभर कम वर्षा (d)।

तापीय-क्षमता भी जलवायु के वर्गीकरण में एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। तापीय-क्षमता बारह महीने के अनुपात के योग को प्रदर्शित करती है इसे तापीय-क्षमता सूचकांक (T/E Index) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। तापीय क्षमता के आधार पर 6 ताप क्षेत्रों को अंग्रेजी में दर्शाया गया है :

सारणी 5

तापीय क्षेत्र	तापीय-क्षमता सूचकांक (T/P Index)
A′=उष्ण कटिबन्ध	128 तथा उससे अधिक
B′=समशीतोष्ण कटिबन्ध	64 से 127
C′=शीतोष्ण अथवा कम उष्ण कटिबन्ध	32 से 63
D′=टैगा	16 से 31
E′=टुण्ड्रा	1 से 15
F′=हिमाच्छादित या पाला	0

तापीय क्षमता का सूत्र है—

$$\text{तापीय क्षमता अनुपात (T/E Ratio)} = \frac{T-32}{4}$$

थोर्नथ्वेट ने तापीय-क्षमता (T/E) तथा वृष्टि प्रभावशीलता (P/E) के आधार पर संसार को 32 उपवर्गों में विभाजित किया है जबकि कोपन ने ताप और वृष्टि के सामान्य वितरण से आधार पर विश्व के जलवायु क्षेत्रों का वर्गीकरण किया है। थोर्नथ्वेट की

प्रणाली के आधार पर 120 जलवायु क्षेत्र बनाए जा सकते हैं जो कोपन के वर्गीकरण की संख्या से लगभग तिगुने हैं। इसके अतिरिक्त थोर्नथ्वेट के जलवायु क्षेत्रों की सीमा रेखाएँ कोपन प्रणाली से अपेक्षाकृत जटिल हैं।
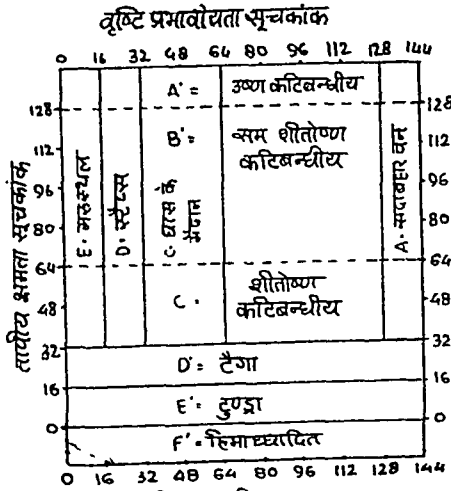
चित्र 25·3 थार्नथ्वेट द्वारा सन् 1931 में जलवायु वर्गीकरण

सारणी 7

थोर्नथ्वेट तथा कोपन के वर्गीकरणों की तुलना

थोर्नथ्वेट का वर्गीकरण	कोपन का वर्गीकरण
समानताएँ	**समानताएँ**
वर्गीकरण संख्यात्मक है।	यह भी वर्गीकरण संख्यात्मक है।
अंग्रेजी के बड़े और छोटे अक्षरों द्वारा संकेत प्रणाली का प्रयोग किया गया है।	इसमें भी वर्गीकरण को अंग्रेजी के बड़े और छोटे अक्षरों द्वारा प्रदर्शित किया गया है।
वर्गीकरण की विधि अनुभवाश्रित है।	वर्गीकरण की विधि सामान्य एवं अनुभवाश्रित है।
ये मान्य वर्गीकरण हैं।	ये भी मान्य वर्गीकरण हैं।
असमानताएँ	**असमानताएँ**
वर्गीकरण में PE तथा TE संकल्पनाओं के आधार पर प्रदेशों की सीमाएँ खीची गई हैं।	प्रदेशों की सीमाएँ साधारण ताप और वर्षा के मानों के आधार पर खींची गई हैं।
इनमें अक्षरों द्वारा संकेतों की कमी है।	इनमें अक्षरों द्वारा संकेतों की प्रचुरता है।
वर्गीकरण को जटिल और विस्तृत बना दिया है।	वर्गीकरण अपेक्षाकृत सरल है।
वर्गीकरण केवल सैद्धान्तिक न होकर जलवायु के तत्वों पर आधारित है।	वर्गीकरण केवल सैद्धान्तिक है।

जर्मन मौसम वैज्ञानिक एच. फ्लान ने जनन (उत्पत्ति) प्रणाली द्वारा जलवायु क्षेत्रों का महत्व पूर्ण वर्गीकरण किया। उन्होंने विभाजन प्रणाली में जलवायु के नियंत्रिक तत्वों पर अधिक बल दिया। कोपन तथा थोर्नथ्वेट के वर्गीकरण मुख्यतः अनुभवाश्रित विधियों पर आधारित हैं जिनमें वायुमण्डल के तापमान, वर्षा और वाष्पीकरण के अतिरिक्त जलवायु के दूसरे नियंत्रक तत्वों के प्रभावों पर ध्यान नहीं दिया गया। फ्लान ने कार्य-कारण सम्बन्धों पर बल देकर वायुपुंज के प्रकार, वायुदाब में परिवर्तन, वायु का सामान्य चलन तथा वर्षा की विशेषताओं का अध्ययन कर जलवायु क्षेत्रों का वर्गीकरण किया। फ्लोन गतिक-जलवायु विज्ञान को अधिक महत्व देते हैं जिसका आधार विशेषतः वायुमण्डलीय परिसंचरण है। इस प्रकार उन्होंने अपने वर्गीकरण के आधारभूत कारणों की व्याख्या और जलवायु क्षेत्रों की व्याख्या में उचित सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। फ्लान का जनन वर्गीकरण प्रयास जलवायु विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक बनाने में सहायक है। अतः उनके द्वारा वर्गीकरण व्याख्यात्मक-वर्णनात्मक कहलाता है।

फ्लान ने केवल एक तालिका तथा एक रेखा चित्र द्वारा जलवायु क्षेत्रों को प्रदर्शित किया है। संसार को 8 जलवायु कटिबन्धों में विभक्त किया गया है। उनमें से चार स्थिर
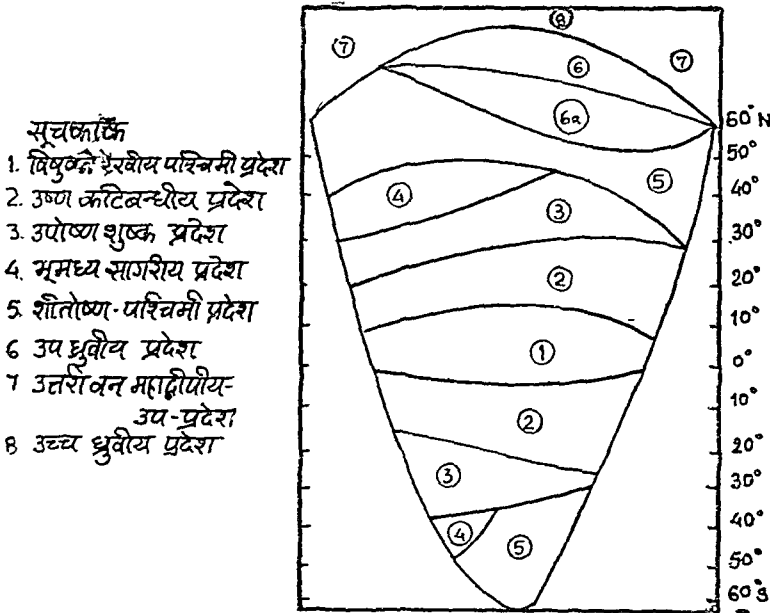
चित्र 25·4 फ्लोन द्वारा जलवायु वर्गीकरण (फ्लोन, 1950)

जलवायु क्षेत्र तथा शेष 4 को वैकल्पिक जलवायु क्षेत्र की श्रेणी में रखा है। चार स्थिर जलवायु क्षेत्र वर्ष भर लगभग एक ही तरह की वायु संचार पेटियों में रहते हैं तथा शेष कटिबन्धों की पवन-पेटियाँ मौसम के साथ स्थानान्तरित होती रहती हैं। फ्लान ने कटिबन्धों की सीमा निर्धारण में वर्षा को उपयुक्त स्थान दिया है जबकि तापमान को सामान्य तथ्य माना है। प्रत्येक क्षेत्र में वायु दाब तथा पवन-पेटियों को प्रदर्शित किया गया है।

फ्लान के जलवायु वर्गीकरण के दो आधार हैं—(क) सामान्य वायु संचार तथा पवनों की पेटियाँ व (ख) वर्षा की विशेषताएँ।

सारणी 8
जलवायु क्षेत्र (पलान)

क्र.	जलवायु क्षेत्र	वर्षा	पवन	वायुदाब	वनस्पति
1	विषुवत रेखीय पश्चिमी क्षेत्र	वर्ष भर वर्षा	विषुवत रेखीय पश्चिमी शान्त पेटी	निम्न दाब	सदाबहार तथा मानसूनी वन
2	उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र	ग्रीष्मकालीन वर्षा	कुछ भाग में विषुवत रेखीय पश्चिमी तथा शेष में व्यापारिक पवनें	उच्च वायुदाब कोशिकाएँ	सवाना प्रकार की वनस्पति
3	उपोष्ण शुष्क क्षेत्र	प्रायः शुष्क	व्यापारिक पवनें	उच्च वायुदाब कोशिकाएँ	स्टैपी, अर्धमरुस्थली या मरुस्थली
4	उपोष्ण शीतकालीन केवल महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर (भूमध्य सागरीय क्षेत्र)	शीतकालीन वर्षा	शीत ऋतु में पछुवा से वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में पूर्वी शुष्क पवनें	ग्रीष्मकालीन उच्च वायुदाब	सदाबहार पत्तियों के वन
5	शीतोष्ण पश्चिमी क्षेत्र	वर्ष भर वर्षा	वर्ष भर पछुवा पवनें	निम्न वायुदाब कोशिकाएँ	चौड़ी पत्ती एवं मिश्रित वन
6	उप-ध्रुवीय क्षेत्र (टैगा, केवल उत्तरी गोलार्द्ध में)	वर्ष भर सीमित वर्षा	मध्य अक्षांशीय पछुवा पवनें तथा भाग में ध्रुवीय पूर्वी पवनें	निम्न वायुदाब कोशिकाएँ	कोणधारी वन

7	उत्तरी वन महाद्वीपीय उप-क्षेत्र	ग्रीष्मकालीन वर्षा एवं शरदकालीन हिमपात	कुछ भाग में पछुवा तथा शेष में ध्रुवीय पूर्वी पवनें	ग्रीष्मकालीन निम्न एवं शीतकालीन उच्च वायु दाब	शंकुधारी तथा टुण्ड्रा प्रकार की वनस्पति
8	उच्च ध्रुवीय क्षेत्र	वर्ष भर साधारण हिमपात	ध्रुवीय पूर्वी शुष्क पवनें	उच्च वायुदाब	शीत मरुस्थल

चार जलवायु क्षेत्र विषुवत रेखीय पश्चिमी भाग, उपोष्ण शुष्क भाग, शीतोष्ण-पश्चिमी भाग, तथा उच्च ध्रुवीय क्षेत्र वर्षभर समान पवनों की पेटी में रहते हैं तथा स्थायी प्रकृति के हैं। शेष क्षेत्रो में पवन की दिशा परिवर्तित होती रहती है। फ्लान ने जलवायु क्षेत्रो में कोपन के वर्गीकरण की शैली और वनस्पति भी प्रदर्शित करने की चेष्टा की है।

फ्लान के वर्गीकरण को नीफ तथा कुप्फर ने संशोधित कर पाँच वायु संचार पेटियों और 14 जलवायु क्षेत्रों में वर्गीकृत कर तथा उनको मानचित्र द्वारा प्रदर्शित किया।

ट्रिवार्था ने कोपन का अनुसरण करते हुए जलवायु के वर्गीकरण को अधिक सरल और उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। जलवायु क्षेत्रों की सीमाएँ स्थायी और निश्चित दिखाने की चेष्टा की है, किन्तु ट्रिवार्था ने इनको अधिक सरल बना दिया है। वह मानते हैं कि जलवायु परिबर्तनों के साथ-साथ क्षेत्रों की सीमाएँ भी परिवर्तित हैं। ट्रिवार्था द्वारा कोपन के वर्गीकरण का संशोधित रूप निम्न है :

सारणी 9

मुख्य वर्ग	उप वर्ग
A उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु	1. उष्ण विषुवत रेखीय—Af 2. उष्ण मानसूनी – Am 3. उष्ण सवाना– Aw
B शुष्क जलवायु	4. उष्ण तथा उपोष्ण मरुस्थल—BwH 5. उष्ण तथा उपोष्ण स्टैपी—Bsh 6. मध्य अक्षांक्षीय मरुस्थल—Bwk 7. मध्य अक्षांशीय स्टैपी—Bsk
C शीतोष्ण आर्द्र तथा मध्य तापीय जलवायु	8. भूमध्य सागरीय—Cs 9. उपोष्ण आर्द्र—Ca 10. पश्चिमी यूरोपीय तुल्य—Cb
D शीतल आर्द्र सूक्ष्म तापीय जलवायु	11. आर्द्र महाद्वीपीय गर्म ग्रीष्म ऋतु—Da 12. आर्द्र महाद्वीपीय शीतल ग्रीष्मऋतु—Db 13. उप ध्रुवीय—De, Dd
E ध्रुवीय जलवायु	14. टुण्ड्रा—ET 15. ध्रुवीय हिमाच्छादित जलवायु —EF
H उच्च प्रदेश	

चित्र 25·5 एक काल्पनिक प्रदेश में जलवायु वितरण
(ट्रिवार्था, 1954)

विश्व के जलवायु क्षेत्र

उष्ण कटिबन्धीय वृष्टि क्षेत्र तीन उप-वर्गों में विभाजित हैं—

उष्ण विषुवत रेखीय जलवायु क्षेत्र (Af) विषुवत रेखा के दोनों ओर 5° से 10° अक्षांशों तक फैला हुआ है। कहीं-कहीं यह महाद्वीपों के पवनाभिमुख किनारों पर 10° अक्षांशों से भी उत्तर की ओर पाया जाता है। इस प्रदेश में दक्षिणी अमेरिका का अमेजिन नदी का थला, ब्राजील का उत्तरी-पूर्वी तटीय भाग, अफ्रीका का कांगो थला, गिनी की खाड़ी का तटीय प्रदेश, मेडागास्कर, एशिया में मलाया प्रायद्वीप, फिलीपाइन एवं पूर्वी द्वीप समूह सम्मिलित हैं। इस प्रदेश को विषुवत रेखीय निम्न क्षेत्र या भूमध्यवर्ती क्षेत्र भी कहते हैं। यहां वर्ष भर तापमान ऊँचा रहता है। वर्षा और मेघों के कारण यहां तापमान 27° से.ग्रे. के आसपास रहता है। वार्षिक तापान्तर 3° से.ग्रे. के लगभग रहता है किन्तु दैनिक तापान्तर 7° से 10° से.ग्रे. तक रहता है। जलवायु उष्ण और आर्द्र है।

इस क्षेत्र में वर्षा सदा सम्वाहनीय होती है। दोपहर के पश्चात् घनीभूत पवन के कारण अपराह्न में वर्षा होती है। यहां वार्षिक वर्षा का औसत 200 से.मी. है। वर्ष में दो बार जब सूर्य लम्बवत होता है तो वर्षा अधिक होती है। मेघों की गरज, बिजली की कड़क और तेज पवन के साथ एक साथ तेज वर्षा इस क्षेत्र की विशेशता है। आर्द्रता 80 प्रतिशत रहती है।

इस क्षेत्र में तापमान तथा वर्षा की एकरूपता के कारण वातावरण सघन रहता है। तटीय भागों में जलवायु अपेक्षाकृत सुखद होती है, क्योंकि वहां सागर समीर का प्रभाव रहता है तथा उमस कम रहती है। सिंगापुर (मलेशिया) तथा वेलम (पारा) (ब्राजील) इस क्षेत्र के प्रतिनिधि नगर हैं।

उष्ण कटिबन्धीय मानसूनी नम तथा शुष्क जलवायु (Am) वाले मानसूनी क्षेत्र महाद्वीपों के पूर्वी भागों में 5° से 30° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में पाए जाते हैं, किन्तु 5° से 20° अक्षांशों के मध्य इसका अधिक विस्तार है। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में पाकिस्तान, भारत, वर्मा, श्रीलंका, थाईलैण्ड, हिन्दचीन, दक्षिणी-पूर्वी चीन तथा फिलीपाइन द्वीप समूह आस्ट्रेलिया का उत्तरी तटीय प्रदेश, अफ्रीका में मोजम्बिक, मैलागैसी (मैडा-गास्कर) इथोपिया और सोमालिया मानसूनी क्षेत्र में आते हैं। इसके अतिरिक्त मेक्सिको, पश्चिमी द्वीप समूह, मध्य उत्तरी अमेरिका तथा दक्षिणी अमेरिका में वेनेज्वला, कोलम्बिया और ब्राजील के पूर्वी तटीय भागों में यह जलवायु है।

मानसूनी क्षेत्र की विशेषता ऋतु परिवर्तन है। यहां वर्ष में तीन ऋतु अर्थात् शीत, गर्मी तथा वर्षा ऋतुएँ होती हैं। ऋतु परिवर्तन के साथ मानसून चलती हैं। मानसूनी क्षेत्र से अयन रेखाएँ निकलती हैं अतः सूर्य के (उत्तरी गोलार्द्ध में मई और जून) लम्बवत होने के कारण प्रचंड गर्मी पड़ती है। फरवरी के पश्चात् ही दक्षिणी-पूर्वी एशिया में गर्मी पड़ने लगती है और समुद्र से दूर स्थित भाग अत्यन्त गर्म हो जाते हैं। गर्मी में औसत तापमान 27° से.ग्रे 32° से.ग्रे. रहता है किन्तु अधिकतम तापमान 44° या 45° से.ग्रे. तक पहुँच जाता है। जाड़े का औसत तापमान 17° से 24° से.ग्रे. के मध्य रहता है। वार्षिक तापान्तर 12° से.ग्रे 16° से.ग्रे. रहता है। ग्रीष्मकाल में शुष्क भागों में दैनिक तापान्तर 10° से.ग्रे. तक पहुँच जाता है।

चित्र 25.4 सिंगापुर का तापमान एवं वर्षा
चित्र 25.5 कलकत्ता का तापमान एवं वर्षा
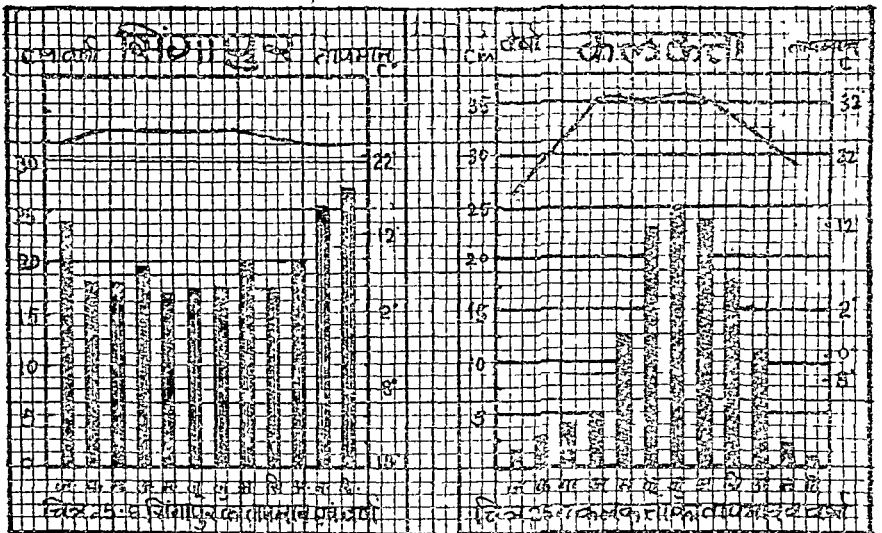
वर्षा ग्रीष्म ऋतु में होती है। यहाँ ग्रीष्म ऋतु में स्थल के भीतरी भाग न्यून वायु दाब के केन्द्र बन जाते हैं। समुद्र की ओर से आर्द्र पवन निम्न दाब के क्षेत्रों की ओर बड़े पैमाने पर चलना प्रारम्भ कर देती हैं। इस क्षेत्र की औसत वर्षा लगभग 25 सेमी. से 115 सेमी. तक होती है। चेरापूँजी विश्व का सर्वाधिक वर्षा का स्थान है। इस प्रदेश के निकटवर्ती समुद्रों में जल-थल के तापमान में अकस्मात् असमानता आने से चक्रवातों का

जन्म होता है। वर्षा का वितरण धरातल की बनावट पर आधारित रहता है। जाड़ों के दिनों में पवन शुष्क रहती है तथा वर्षा कभी-कभी भूमध्य सागरीय चक्रवातों या स्थानीय कारणों से हो जाती है। स्थलीय भागों में ठण्डे होने से उच्च वायुदाब केन्द्र स्थापित हो जाते हैं तथा पवन स्थल से सागरों की ओर प्रवाहित होने लगती है।

उष्ण सवाना जलवायु क्षेत्र (Aw) भूमध्य रेखा के उत्तर तथा दक्षिण दोनों ओर 5° से 20° अक्षांशों के मध्य स्थित है। इसके उत्तर में विषुवत रेखीय और दक्षिण में मरुस्थलीय जलवायु पाई जाती हैं। महाद्वीपों के पूर्वी भागों में यह प्रदेश 30^0 अक्षांश तक भी फैला हुआ है। इसे सूडान तुल्य या उष्ण कटिबन्धीय घास के क्षेत्र के नाम से भी जाना जाता है इसके अन्तर्गत दक्षिणी अमेरिका में ओरीनोको नदी घाटी के लानोज (कोलम्बिया और वेनेजजेला), गायना के उच्च पठारी भाग, ब्राजील के कम्पोज, अफ्रीका में सूडान, जेम्बजी की ऊपरी घाटी और जंजीबार तथा आस्ट्रेलिया के उत्तरी व भीतरी भाग आते हैं।

तापमान—उत्तरी गोलार्द्ध के सवाना क्षेत्र में गर्मी का औसत तापमान 27 सेग्रे. है, किन्तु कभी-कभी यह 38^0 से.ग्रे. तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार सर्दी का औसत तापमान 20^0 से. है, किन्तु यह 14^0 से 15^0 से. तक हो जाता है। वार्षिक तापान्तर 5^0 से. रहता है।

वर्षा का साधारण औसत 50 सेमी. से 100 से.मी. तक रहता है। दक्षिणी भागों में विषुवत रेखा से निकट होने के कारण वर्षा 200 से.मी. तक हो जाती है जो उत्तर की ओर क्रमशः कम होते-होते 25 से.मी. ही रह जाती है। वर्षा सूर्य का अनुसरण करती है। अधिकांश वर्षा गर्मियों में होती है तथा जाड़े प्रायः शुष्क रहते हैं। शीतकाल में समस्त प्रकृति सुप्त सी हो जाती है तथा मरुस्थलों जैसा दृश्य उपस्थित हो जाता है।
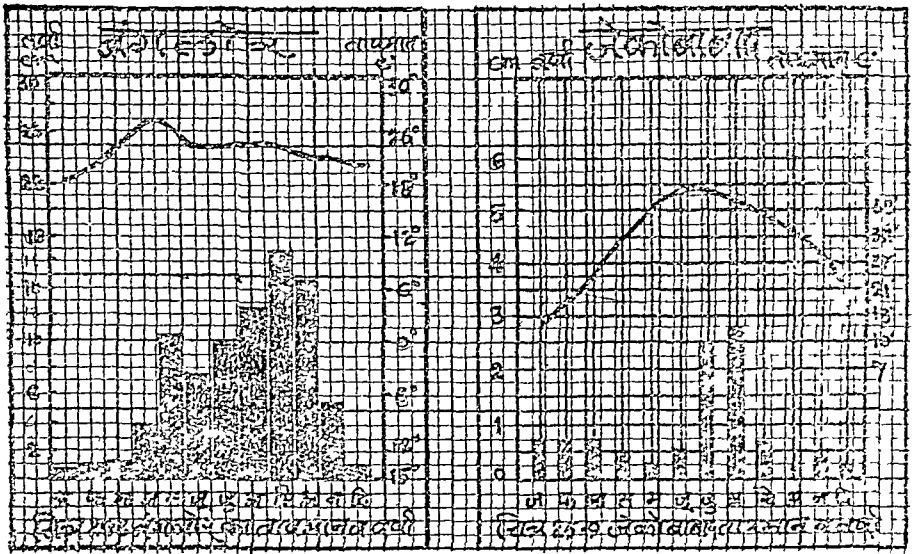
सवाना संक्रामी पेटी में स्थित है, अर्थात् इसके एक ओर उष्ण आर्द्र भूमध्य रेखीय क्षेत्र और दूसरी ओर उष्ण और शुष्क रेगिस्तानी भाग हैं। इसे अवस्थान्तर क्षेत्र भी कहते हैं।

सारणी 10
सवाना क्षेत्र की वर्षा तथा तापमान

	नगर	समुद्र तल से ऊँचाई (मीटर में)	जनवरी तापमान (सेण्टीग्रेड में)	जुलाई तापमान (सेण्टीग्रेड में)	वार्षिक वर्षा (सेण्टीमीटर में)	प्रदेश
Af	सिंगापुर (मलेशिया)	3	25.6	27.2	235	विषुवतरेखीय
	कोलम्बो (श्रीलंका)	7.3	26.1	27.2	232	
Am	कलकत्ता	6	20	30	158	मानसूनी
	रंगून	5.4	25	27	257	
Aw	बंगलौर	897	21	23.3	75	सवाना
	मांडले	76.8	20	29.4	80	

शुष्क जलवायु क्षेत्र (B) के भूमध्य रेखा के दोनों ओर 20° और 30° अक्षांशों के मध्य महाद्वीपों के पश्चिमी और भीतरी भागों में उष्ण और शुष्क जलवायु मिलती है। बहुधा आकाश मेघ रहित रहता है और वर्ष भर सूर्य तेजी से चमकता है। भीषण गर्मी के कारण तीव्र वाष्पीकरण होता है। केवल कुछ ही नदियाँ जिनके स्रोत जल के अक्षय भण्डार होते हैं, इस क्षेत्र को पार कर पाती हैं, जैसे नील नदी (मिस्र), कोलोरेडो नदी (उ. अमेरिका) तथा सिन्धु (पाकिस्तान)। तीव्र वाष्पीकरण के कारण 50 से.मी. वार्षिक वर्षा भी वनस्पति के उगने के लिए पर्याप्त नहीं होती। शुष्क जलवायु को चार उपवर्गों में विभाजित किया गया है।

उष्ण तथा उपोष्ण मरुस्थलीय क्षेत्र (Bwh) महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में दोनों गोलार्द्धों में 20° तथा 30° अक्षांशों के मध्य विस्तृत है। तापमान ऊँचा रहने के कारण वर्षा धरातल पर गिरने से पूर्व ही वाष्पीकृत होकर पुन आकाश: में विलीन हो जाती है। अत: वर्षाविहीन यह क्षेत्र उष्ण मरुस्थलीय कहलाता है। इसमें सहारा एवं कालाहारी (अफीका), अरब और थार (एशिया), कोलोरेडो तथा मेक्सिको का पठारी भाग (उ. अमेरिका), अटाकामा (द. अमेरिका) और अस्ट्रेलिया के विशाल पश्चिमी मरुस्थल हैं।

सूर्य की प्रचण्डता के कारण छाया में भी तापमान 47^0 से.ग्रे. तक पहुँच जाता है। इसके विपरीत रात्रि में विकिरण द्वारा तापमान अर्धरात्रि के पश्चात् 20^0 से.ग्रे. तक गिर जाता है। दैनिक तापान्तर 27^0 से.ग्रे. रहता है। ग्रीष्म ऋतु (जुलाई) का औसत तापमान 32^0 से.ग्रे. और शीत ऋतु का 18^0 से.ग्रे. रहता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में जुलाई का औसत तापमान 10^0 से.ग्रे. और जनवरी का 21^0 से.ग्रे. रहता है। पाकिस्तान के थार मरुस्थल में स्थित जेकोबाबाद का अधिकतम तापमान कभी-कभी 50^0 से.ग्रे. तक हो जाता है। इस क्षेत्र की वार्षिक वर्षा का औसत 20 से 25 से.मी. रहता है। किन्तु जेकोबाबाद में 10^0 से.मी. और अटाकामा के इकीक नगर में एक से.मी. वर्षा होती है।

निम्न अक्षांशीय स्टैपी तुल्य जलवायु (Bsh)—दोनों गोलार्द्धों में मरुस्थलीय एवं आर्द्र जलवायु के मध्य एक अन्तरिम पेटी है जहाँ पाया जाता है। यह प्रदेश प्रायः मरुस्थलों के पूर्वी भागों में पाए जाते हैं। यह जलवायु भारत, बर्मा, इण्डोचीन, सहारा के दक्षिणी भाग और कालाहारी के उ. पू. भाग ब्रजील के कुछ भागों में, मैक्सिको के दक्षिणी भागों में तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया में पाया जाता है। यहाँ का औसत तापमान 21^0 सेग्रे. रहता है। उष्ण मरुस्थलों की तुलना में यहां गर्मी कम पड़ती है तथा दैनिक और वार्षिक तापान्तर कम भी रहते हैं।

वर्षा—यहाँ वर्षा का वितरण असमान तथा अनिश्चित रहने के साथ-साथ वर्ष भर अभाव रहता है। भूमध्य सागरीय क्षेत्र के निकट वाले भागों में सर्दी की ऋतु में वर्षा हो जाती है। तापमान कुछ कम रहने के कारण थोड़ी सी वर्षा वनस्पति के लिए पर्याप्त होती है। दक्षिणी भाग में मरुस्थलों के निकट ग्रीष्म काल में कुछ वर्षा होती है जो वनस्पति के लिए अप्रभावी रहती है। यहाँ वर्षा का समय सवाना जलवायु के समान ही होता है, किन्तु
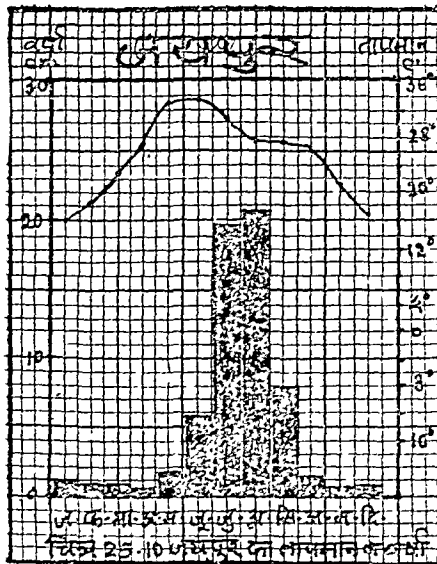
यहां शुष्क मौसम अपेक्षाकृत लम्बा और वर्षा की मात्रा कम होती है। कभी-कभी कुछ वर्षों तक सूखे की स्थिति बनी रहती है यहां की औसत वर्षा 50 सेमी. है।

मध्य अक्षांशीय मरुस्थल (Bwk) जलवायु क्षेत्र महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में पाये जाते है। यह चारों ओर से पर्वत श्रेणियों से घिरे हुए निम्न ऊँचाई के तश्तरीनुमा आकार के हैं जिनमें आंतरिक प्रवाह प्रणाली है। एशिया के इस प्रदेश में चीनी एवं रूसी तुर्किस्तान के निचले भाग बड़े क्षेत्र में विस्तृत हैं। एशिया महाद्वीप में तारिम थला, गोबी, रूसी तुर्किस्तान तथा मध्यवर्ती ईरान इसके अंतर्गत आते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में राकी पर्वत के पूर्वी ढाल का दक्षिणी मैदानी भाग, दक्षिणी अमेरिका में पेटेगोनिया का मरुस्थल तथा आस्ट्रेलिया में न्यू साउथ वेल्स इसी जलवायु क्षेत्र में हैं। इस प्रदेश का विस्तार 30° से 45^{0} महाद्वीपों के भीतरी भागों में पाया जाता है।

जलवायु—गर्मी के दिनों में तापमान 38° सेग्रे. तक हो जाता है। वार्षिक तापमान का औसत 18° से 20° सेग्रे. रहता है। शीत ऋतु में तापमान हिमांक से भी नीचे पहुँच जाता है। अतः यहां का वार्षिक तापान्तर लगभग 28° सेग्रे. रहता है। पर्वतीय ढालों के ऊँचे क्षेत्रों में अधिक सर्दी नहीं पड़ती क्योंकि वहाँ की शीतल पवन निचले मैदानी भागों की ओर चली जाती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा जलवायु कम विषम रहती है।

इस क्षेत्र में वर्षा की मात्रा 25 सेमी. से 60 सेमी. के मध्य होती है, किन्तु कुछ भाग अधिक सूखे रहते हैं। वर्षा का वार्षिक औसत 50 सेमी. रहता है। भूमि की बनावट के कारण एशिया तथा आस्ट्रेलिया में वर्षा का वार्षिक औसत 17.5 सेमी. तथा अमेरिका में 89 सेमी. रहता है।
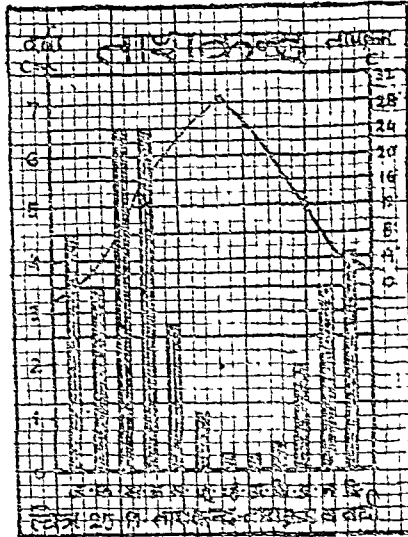
मध्य अक्षांशीय स्टेपी तुल्य जलवायु (Bsk) क्षेत्र समशीतोष्ण कटिबन्ध के भीतरी भागों में 45°उ. अक्षांश के उत्तर में पाए जाते हैं। उष्ण कटिबन्ध के आर्द्र शुष्क-प्रदेशों की भांति ये प्रदेश भी उत्तर में आर्द्र और दक्षिण में मरुस्थलीय प्रदेशों के मध्य स्थित हैं।

यूरेशिया में इनका विस्तार कालासागर के उत्तरी मैदानी भाग ऐरी से लेकर साइबेरिया की बैकाल झील तक है। उत्तरी अमेरिका में कनाडा के मध्य का मैदान ऐरी तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य का उत्तरी मैदान इसमें सम्मिलित है। एशिया में यह मैदानी भाग स्टेपी का उत्तरी भाग है।

समुद्र से दूर होने के कारण यहां की जलवायु विषम है। यह महाद्वीपीय जलवायु कहलाती है। गर्मियों में गर्मी और शीत ऋतु में ध्रुवीय शीतल हवाओं के कारण तापमान हिमांक से नीचे चला जाता है। गर्मियों में तापमान 16° से 20° सेग्रे. के मध्य रहता है तथा कभी-कभी 30° सेग्रे. तक पहुँच जाता है। वार्षिक औसत तापमान 18° सेग्रे. रहता है तथा वार्षिक तापान्तर अधिक रहता है।

इस प्रदेश में अधिकांश वर्षा ग्रीष्म ऋतु में होती है। वर्षा का वार्षिक औसत 30 से 50 सेमी. के मध्य रहता है। उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका में अपेक्षाकृत अधिक वर्षा हो जाती है। यहां वार्षिक वर्षा का औसत 50 सेमी. रहता है। किन्तु एशिया तथा आस्ट्रेलिया में ये प्रदेश पर्वतों की वृष्टछाया में आने के कारण अपेक्षाकृत शुष्क रहते हैं। यहां की वार्षिक वर्षा का औसत 17.5 सेमी. रहता है।

विनिपेग (कनाडा), उर्गा (मंगोलिया), अंकारा (तुर्की) तथा तेहरान (ईरान) Bsk जलवायु के प्रतिनिधि नगर हैं।
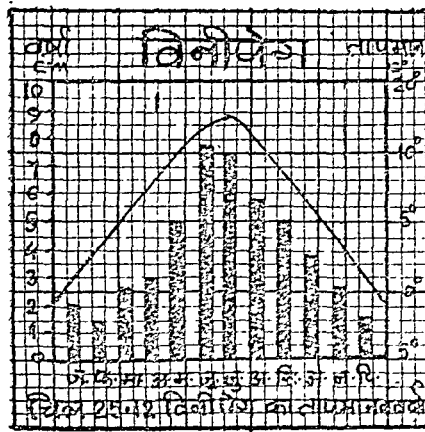
शीतोष्ण आर्द्र मध्य तापीय जलवायु (C)—एक ओर विषुवत रेखा के उच्च तापमान के उष्ण प्रदेश तथा दूसरी ओर ध्रुवीय ठण्डे प्रदेशों के मध्य यह स्थित है। यहां दक्षिण की ओर से उष्ण पछुवा पवन और उत्तर की ओर से शीतल ध्रुवीय पवन आकर मिलती हैं। अतः इस प्रदेश में न तो अधिक सर्दी और न अधिक गर्मी पड़ती है। पवन की पेटियों के स्थानान्तरण के कारण यहां मौसम में परिवर्तन होता रहता है। इस क्षेत्र को मध्य जलवायु का क्षेत्र कहा जा सकता है। यह जलवायु तीन उपवर्गों में विभाजित की गई है।

भूमध्य सागरीय जलवायु (Cs)—इस प्रदेश का विस्तार महाद्वीपों के पश्चिमी तटवर्ती भागों में 30° और 45° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में पाया जाता है। भूमध्य सागर की स्थिति इन्हीं अक्षांशों के मध्य होने के कारण इसको इसी नाम से सम्बोधित

करते हैं। भूमध्य सागर के तटवर्ती देशों में लगभग Cs प्रकार की जलवायु पाई जाती है। इसके अतिरिक्त जिन देशों में यह जलवायु पाई जाती है उसे भी भूमध्य सागरीय जलवायु कहकर पुकारते हैं। इसका विस्तार भूमध्य सागर के तटवर्ती भाग, उत्तरी अमेरिका की कैलीफोर्नियाँ की घाटी, दक्षिणी अमेरिका में चिली देश का मध्य भाग, आस्ट्रेलिया का दक्षिणी-पश्चिमी भाग और न्यूजीलैण्ड के उत्तरी द्वीप तथा द. अफ्रीका के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में है।

सारणी 11

शुष्क जलवायु प्रदेशों का तुलनात्मक अध्ययन तथा नगर

प्रतिनिधि नगर	समुद्र तल से ऊँचाई (मीटर में)	जनवरी तापमान (सेण्टीग्रेड में)	जुलाई तापमान (सेण्टीग्रेड में)	वार्षिक वर्षा (सेमी. में)	प्रदेश का नाम
Bwh जेकोबाबाद (पाकिस्तान)	57.2	14	35	10	निम्न अक्षांशीय उष्ण मरुस्थलीय
Bsh जयपुर (भारत)	436.5	16	30	60	निम्न अक्षांशीय स्टेपी
Bwk ताशकन्द (रूसी तुर्किस्तान)	496	−1	27	33	मध्य अक्षांशीय मरुस्थलीय
Bsk विनीपेग (कनाडा)	460	−20	19	52	मध्य अक्षांशीय स्टेपी

जलवायु—भूमध्य सागरीय जलवायु पवनों की पेटी खिसकने के कारण उत्पन्न होती है। शीत ऋतु में समुद्र की ओर से कम ठण्डी एवं आर्द्र पवनें चलती हैं। अतः शीत ऋतु में वर्षा होती है और तापमान मध्यम रहता है। ग्रीष्म काल में यह प्रदेश व्यापारिक सन्मार्गी पवनों की पेटी में आ जाता है। क्योंकि यह पवनें स्थल से सागर की ओर चलती हैं, अतः गर्मी का मौसम शुष्क और गर्म रहता है। अतः यह प्रदेश शुष्क ग्रीष्मकालीन उपोष्ण जलवायु का प्रदेश भी कहा जाता है।

भूमध्य सागरीय प्रदेश की जलवायु की तीन विशेषताएं हैं जोकि निम्न प्रकार हैं :

(1) शीतकालीन वर्षा तथा शुष्क ग्रीष्म ऋतु,

(2) सम शीत ऋतु एवं कम गर्म ग्रीष्म ऋतु,

(3) वर्षा भर में पर्याप्त धूप।

आर्द्र उपोष्ण अथवा चीन तुल्य जलवायु क्षेत्र (Ca)—भूमध्य सागरीय क्षेत्रों की विपरीत दिशा अर्थात् महाद्वीपों के पूर्वी भागों में 30° और 45° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में है। इसके अन्तर्गत मध्य और उत्तरी चीन का अधिकांश भाग आ जाता है। अतः इसे चीन तुल्य जलवायु भी कहते हैं। चीन के अतिरिक्त इसका विस्तार कोरिया, दक्षिणी जापान, द. प. संयुक्त राज अमेरिका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के दक्षिणी-पूर्वी तटीय भाग, दक्षिणी अमेरिका में दक्षिणी-पूर्वी ब्राजील और यूरेग्वे के तटीय प्रदेशों में है।

जलवायु की दशा के आधार पर यह क्षेत्र शीतोष्ण मानसूनी जलवायु क्षेत्र भी कहलाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में मानसून से वर्षा होती है। इस जलवायु की विशेषतायें निम्न हैं—

(1) ग्रीष्मकालीन पर्याप्त वर्षा, किन्तु वर्ष के अन्य दिनों में भी कुछ वर्षा होती है।

(2) अधिकांश में व्यापारिक संमार्गी पवन का प्रभाव रहता है।

(3) शीत ऋतु में अधिक निम्न तापमान तथा ग्रीष्म ऋतु में सम तापमान व

(4) चक्रवातों द्वारा वर्षा।
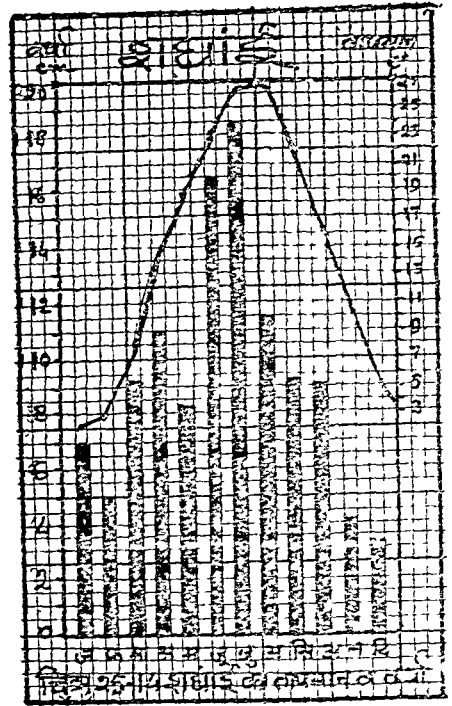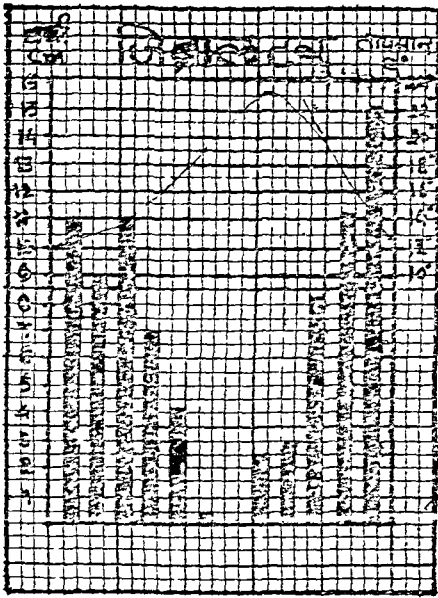
चित्र 25.13 जिब्राल्टर का तापमान एवं वर्षा

पश्चिम यूरोपीय तुल्य अथवा पश्चिम तटीय समुद्री जलवायु (Cb)—ये क्षेत्र महाद्वीपों के पश्चिम तटवर्ती भागों में 40° और 60° अक्षांशों के मध्य विस्तृत हैं। तटवर्ती क्षेत्र में स्थिति होने के कारण इस क्षेत्र में समुद्री प्रभाव अधिक पड़ता है, अतः इसको सागरीय जलवायु भी कहते हैं। इसमें पश्चिमी यूरोपीय देश, उत्तरी अमेरिका में ब्रिटिश कोलम्बिया तथा अलास्का के दक्षिणी-पश्चिमी तटीय भागों में, दक्षिणी चिली, तस्मानिया और दक्षिणी न्यूजीलैण्ड सम्मिलित हैं।

इस क्षेत्र की जलवायु की विशेषता यह है कि

(1) वर्ष भर पछुवा पवन से वर्षा शीत ऋतु में अधिक और ग्रीष्म में कम होती है।

(2) सम जलवायु सर्दी और गर्मी दोनों ही कम होते हैं।

(3) जलवायु पर पछुवा पवन, समुद्र तथा जलधाराओं का प्रभाव पड़ता है।

समुद्र के निकट स्थिति होने से यहां गर्मी और सर्दी के तापमान मे बहुत कम अन्तर रहता है। निकटवर्ती समुद्रों में उष्ण धाराऐं बहती हैं, अतः इनके ऊपर से चलने वाली पछुवा पवन गर्म होकर शीत ऋतु को अधिक ठण्डा होने से बचाती है। यहाँ गर्मियों मे हल्की गर्मी और जाड़े में मामूली सर्दी पड़ती है। यहां शीत ऋतु का औसत तापम न 5° सेग्रे. तथा ग्रीष्म ऋतु का 16° सेग्रे. रहता है। दिन का अधिकतम तापमान 20° या 22° सेग्रे. तथा न्यूनतम 10° या 12° सेग्रे. रहता है।

वर्षा वर्ष भर होती है किन्तु शीत ऋतु मे अधिक होती है। पश्चिमी यूरोप में चक्रवातों का प्रभाव अधिक रहता है। इस क्षेत्र का जलवायु अनिश्चित रहता है।

वेलेंशिया (आयरलैण्ड), लन्दन, पेरिस, वेंकुवर, विक्टोरिया, होबार्ट, वालडिविया आदि नगर इस जलवायु क्षेत्र में आते हैं।
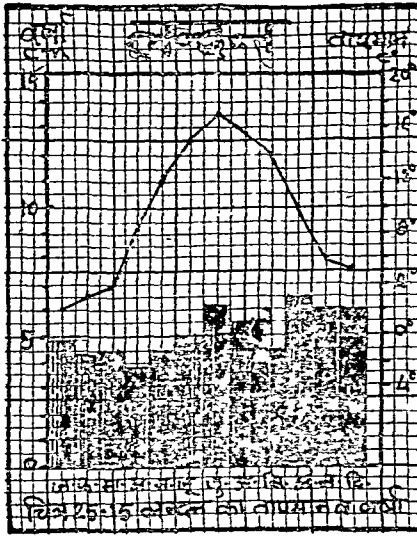
आर्द्र निम्न तापीय जलवायु में आर्द्र उष्ण तापीय जलवायु से तापमान अपेक्षाकृत कम होता है क्योंकि यह उत्तर की ओर ऊँचे अक्षांशों पर स्थित है। अक्षांशीय विस्तार एवं स्थिति इस जलवायु को अधिक प्रभावित करते हैं। महाद्वीपो के आन्तरिक भागों में विस्तृत होने के कारण क्षेत्रीय स्थिति इसको नियंत्रित करती है, इसीलिए इसको महाद्वीपीय जलवायु भी कहते हैं। इस प्रदेश का विस्तार 60° तथा 70° के मध्य केवल उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीपो के पश्चिमी तटीय भागों को छोड़कर शेष भागों में है। यूरेशिया तथा उत्तरी अमेरिका के मध्यवर्ती पवनविमुखी भागों से पूर्वी किनारे तक पाई जाती है।

दक्षिणी गोलार्द्ध में संकरा स्थल भाग होने के कारण वहाँ समुद्री प्रभाव इसकी विषमता को समाप्त कर देता है अतः यह दक्षिणी गोलार्द्ध में नहीं पाई जाती। ठण्डी शीत ऋतु, पाले का लम्बा मौसम, हिमपात, ग्रीष्मकालीन वर्षा और वार्षिक तापान्तर की अधिकता इस जलवायु की कुछ विशेषताएँ हैं।

सारणी 12

शीतोष्ण आर्द्र मध्य तापीय जलवायु के नगरों का तुलनात्मक अध्ययन

प्रतितिधि नगर	समुद्र तल से ऊँचाई (मीटर में)	जनवरी ताप (°सेन्टीग्रेड)	जुलाई ताप (°सेन्टीग्रेड)	वार्षिक वर्षा (सेन्टीमीटर)	जलवायु प्रदेश
Cs जिब्राल्टर (स्पेन/ग्रे.ब्रि.)	15	12	23	82	भूमध्यसागरीय जलवायु
वालपरेजो (चिली)	32.3	19.5	12.5	50	
Ca शंघाई (चीन)	8.25	3 3	27	105	आर्द्र-उपोष्ण अथवा चीन तुल्य जलवायु
सिडनी (आस्ट्रेलिया)	36.5	22.2	11.7	120	
Cb लन्दन	5.5	30	17.2	56	पश्चिमी यूरोपीय अथवा पश्चिमी तटीय समुद्री जलवायु।
विक्टोरिया (कनाडा)	26	4.4	16	105	

आर्द्र महाद्वीपीय गर्म ग्रीष्मकालीन जलवायु–Da आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु के क्षेत्र के दक्षिणी भाग में तथा उष्ण आर्द्र जलवायु के उत्तर में 40° तथा 50° अक्षांशों के मध्य पाई जाती है। उष्ण उपोष्ण जलवायु से यहाँ तापमान अपेक्षाकृत कम रहता है तथा वर्षा भी कम होती है।

इस जलवायु का विस्तार उत्तरी अमेरिका की कोर्न बेल्ट, यूरोप में डेन्यूब बेसिन, बाल्कन प्रदेश (इटली), एशिया उत्तरी चीन, मध्य एवं दक्षिणी मंचूरिया, कोरिया तथा जापान के मुख्य द्वीप में है।

ग्रीष्म ऋतु में तापमान का औसत 18° से 20° सेग्रे. रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यूरेशिया की अपेक्षा तापमान अधिक रहता है। यहां जुलाई का तापमान 24° सेग्रे. से 25° सेग्रे. के आसपास रहता है जबकि यूरोप में इससे नीचे रहता है। मक्का की

पेटी में स्थित अरबाना का जनवरी औसत तापमान −3° सेग्रे. रहता है जबकि पीकिंग का − 4.4.° सेग्रे. रहता है। शीतल ग्रीष्मकालीन जलवायु से यहाँ तापमान सदा 4° सेग्रे. से 6° सेग्रे. अधिक रहता है।

इस प्रदेश में वर्षा का औसत 40 और 60 सेमी. के मध्य रहता है। उत्तरी चीन, डेन्यूब के निम्न प्रदेश तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में कोर्न बेल्ट के पश्चिमी भाग में अपेक्षाकृत कम वर्षा होती है जबकि उत्तरी जापान, कोरिया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य तथा पूर्वी भागों में 75 सेमी. तक वर्षा हो जाती है। शीत ऋतु में हिमपात होता है।
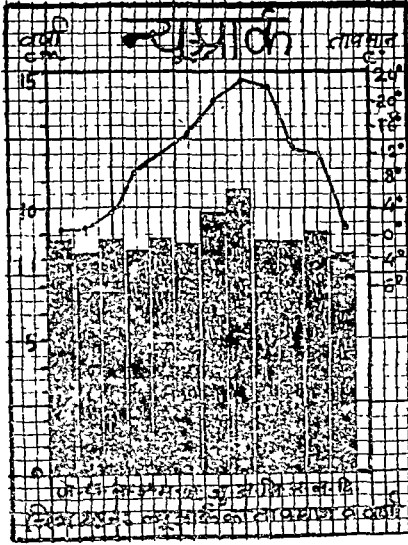
शीतल ग्रीष्मकालीन आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु Db आर्द्र महाद्वीपीय कोष्ण ग्रीष्म कालीन जलवायु की पेटी के उत्तर में 50^0 तथा 60^0 उत्तरी अक्षाशों के मध्य विस्तृत है। उत्तरी अमेरिका में 100^0 पश्चिमी देशान्तर के पूर्वी भागों के उत्तरी राज्यों और कनाडा के दक्षिणी राज्यों में इसका विस्तार पाया जाता है। यूरोप में इसका विस्तार पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड और रूस के मध्यवर्ती भागों में तथा एशिया में उत्तरी मंचूरिया, दक्षिणी पूर्वी साइबेरिया तथा जापान के होकेडो द्वीप में पाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसको स्प्रिग वीट बोल्ट भी कहते हैं।

उच्च अक्षांशों में स्थित होने के कारण यहाँ ठण्ड अधिक पड़ती है। शीत ऋतु लम्बी और ग्रीष्म ऋतु छोटी होती है। ग्रीष्मकाल का तापमान 19^0 सेग्रे. से 21^0 सेग्रे. के मध्य रहता है। यहाँ तापमान की विषमता ध्रुवीय एवं उष्ण कटिबन्धीय वायुपुंजों की पेटी के स्थानान्तरण के कारण होती है।

इस प्रदेश में वर्षा ग्रीष्मकाल में होती है। वर्षा का वार्षिक औसत 60 से 75 सेमी. के मध्य रहता है। शीत ऋतु में 40 से 60 दिन तक हिमपात होता है। न्यून ताप होने के कारण कम वर्षा ही वनस्पति के लिए पर्याप्त होती है। लगभग 4 माह तक धरातल हिमाच्छादित रहता है।

उप-ध्रुवीय अथवा टैगा तुल्य जलवायु Dc,Dd उत्तरी गोलार्द्ध में स्टेप प्रदेशों के उत्तर में 55^0 से 70^0 अक्षांशों के मध्य उप-ध्रुवीय अथवा टैगा प्रकार की जलवायु का विस्तार है।
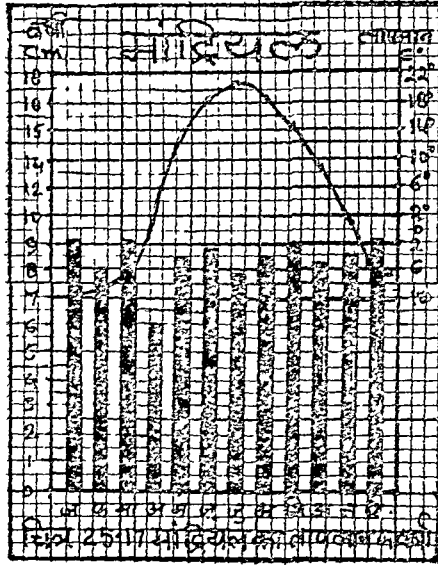
इस जलवायु के अन्तर्गत मध्य साइबेरिया, मध्य कनाडा, फिनलैण्ड, स्वीडन तथा रूस के मध्य क्षेत्र आते हैं। इन वन प्रदेशों का विस्तार कहीं अधिक और कहीं कम पाया जाता है। कनाडा में 320 किमी. तथा साइबेरिया में 960 से 2400 किमी. की चौड़ाई में ये पाए जाते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में इस तरह की जलवायु नहीं पाई जाती।

इस क्षेत्र में शीतऋतु लम्बी तथा गर्मी की ऋतु छोटी होती है। समुद्र से दूर होने के कारण यहां तापीय विषमता अत्यधिक पाई जाती है। गर्मी का तापमान 16^0 सेग्रे. तक पहुंच जाता है और शीतकाल में 5^0 से 10^0 सेग्रे. तक नीचा उतर जाता है। यहां का वार्षिक तापान्तर लगभग 26^0 सेग्रे. रहता है।

वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में थोड़ी सी वर्षा हो जाती है। वर्षा का औसत 50 सेमी. रहता है, किन्तु इसका वितरण असमान है। उत्तरी अमेरिका के बड़ी झीलों के तट (ओटावा) तथा नार्वे के तट पर वर्षा लगभग 75 सेमी, साइबेरिया के आन्तरिक प्रदेश में स्थित इर्कुटस्क में वार्षिक वर्षा 35 सेमी. तथा वरखोयांस्क में केवल 8 सेमी. वर्षा होती है। वरखोयांस्क संसार का सबसे ठण्डा स्थान है। शीत ऋतु में वर्षा हिम के रूप में होती है। शीत काल में 5 से 7 महीनों तक धरातल हिमाच्छादित रहता है। ओटावा (कनाडा), टॉबोलस्क (साइबेरिया), लेनिनग्राड तथा लेनिनग्राड (सोवियत संघ) आदि नगर इस जलवायु के प्रतिनिधि नगर हैं।
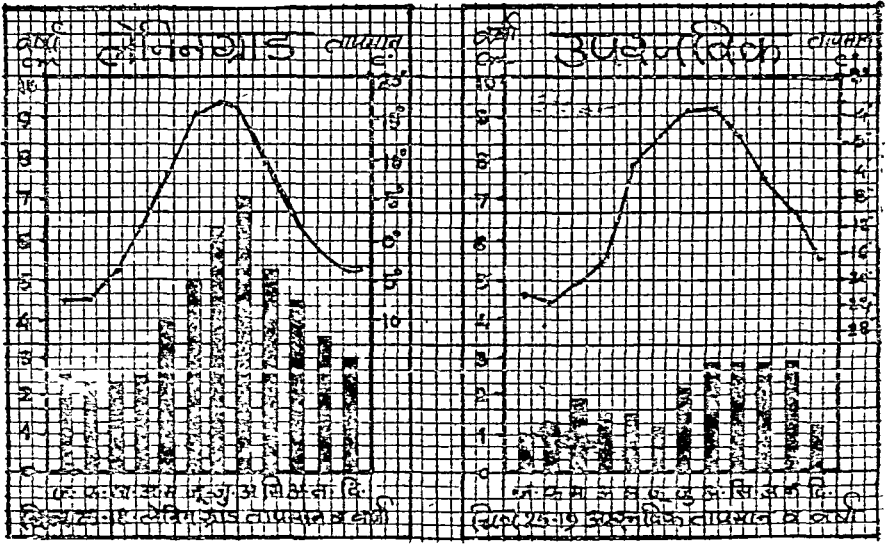
सारणी 13

आर्द्र निम्न तापीय जलवायु के नगरों का तुलनात्मक अध्ययन

प्रतिनिधि नगर	समुद्र तल से ऊँचाई (मीटर)	जनवरी ताप (°सेन्टीग्रेड)	जुलाई ताप (°सेण्टीग्रेड)	वार्षिक वर्षा (सेण्टीमीटर)	जलवायु प्रदेश
Da न्यूयार्क (अमेरिका)	10	−1	23.7	100	आर्द्र महाद्वीपीय कोष्ण ग्रीष्मकालीन
Db मॉन्ट्रियल (कनाडा)	50	−10.9	20.9	102.5	शीतल ग्रीष्मकालीन आर्द्र महाद्वीपीय
Dc लेनिनग्राड (रूस)	9	−9	18	50	उप-ध्रुवीय अथवा टैगा तुल्य जलवायु
Dd टोबोलस्क (साइबेरिया)	108	−18	17.5	80	उप-ध्रुवीय अथवा टैगा तुल्य जलवायु
ओटावा (कनाडा)	90.5	−11	21	45	उप-ध्रुवीय अथवा टैगा तुल्य जलवायु

Source—Kazi S. U. Ahmad—Ibid., pp. 158–59.

ध्रुवीय जलवायु (E) यह जलवायु लगभग 60^0 से 80^0 अक्षांशों के मध्य पाई जाती है। इस क्षेत्र की दक्षिणी सीमा शंकुल या कोणधारी वन अथवा जुलाई की 10^0 से.ग्रे. समताप रेखा निर्धारित करते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में साइबेरिया तथा कनाडा के उत्तरी ध्रुव सागर के तटवर्ती भाग, ग्रीनलैण्ड एवं अन्य द्वीप तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अन्टार्कटिक महाद्वीप इस जलवायु के अन्तर्गत आते हैं। यह जलवायु संसार के हिमाच्छादित ऊँचे पर्वतीय भागों पर भी पाई जाती है। इस जलवायु को दो उप-वर्गों टुण्ड्रा प्रदेश की जलवायु तथा हिमाच्छादित प्रदेश की जलवायु में विभाजित किया गया है।

कनाडा और यूरेशिया के भागों में उत्तरी ध्रुव-वृत्त के भीतरी भागों में फैले हुए क्षेत्र टुण्ड्रा हैं। इन्हें ठण्डे तथा उजाड़ क्षेत्र भी कहा जाता है। इसकी दक्षिणी सीमा जुलाई की 10 से.ग्रे. समताप रेखा निर्धारित करती है तथा उत्तर की ओर 0 से.ग्रे समताप रेखा सीमा बनाती है।

इस प्रदेश में शीत ऋतु 8 महीने की होती है। इस ऋतु में या तो सूर्य के दर्शन ही नहीं होते या फिर थोड़ी देर के लिए होते हैं। वर्ष में केवल 2 से 4 महीने ऐसे होते हैं जबकि तापमान हिमांक से कुछ ऊँचा रहता है। लम्बी कड़ी सर्दी की शीत ऋतु और छोटी शीतल गर्मी की ऋतु इस जलवायु की विशेषता है। सर्दियों में तापमान प्रायः 18 से.ग्रे. से भी नीचे तथा 34 से.ग्रे. तक रहता है। झीलों का जल काफी गहराई तक जम जाता है।

इस ऋतु में सूर्य क्षितिज से अधिक ऊँचा नहीं चढ़ता, किन्तु दिन लम्बे होते हैं। शीत ऋतु में ठण्डे पवन के झोंके चलते हैं जिसके साथ हिमकण मिले रहते हैं। इन तूफानों को ब्लिजार्ड या बर्फ की आंधियां कहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जुलाई का तापमान 10 से.ग्रे. से ऊंचा नहीं जाता। गर्मियों में हिम पिघलने लगती है जिससे नदियों में बाढ़ आ जाती है तथा भूमि दलदली हो जाती है। इस मौसम में कुहरा छा जाता है जो कई दिनों तक बना रहता है।

वर्षा का वार्षिक औसत 25 सेमी. है, अधिकांशतः यह गर्मी दिनों में होती है। सर्दियों में हिमपात होता है। अधिक शीत के कारण हिम नहीं पिघल पाता और परतों में जमा होता रहता है। वर्षा पूर्णतः चक्रवातीय होती है। पश्चिमी ग्रीनलैण्ड में स्थित उपर-नविक तथा कनाडा का बैरोपाइण्ट इसके प्रतिनिधि स्थान हैं।

हिमाच्छादित क्षेत्र की जलवायु (EF) टुण्ड्रा के उत्तर में ग्रीनलैण्ड तथा कुछ द्वीपों और दक्षिण में अण्टार्कटिका में विस्तृत है। इसमें सदा जमे हुए उत्तरी सागरीय भाग भी सम्मिलित हैं। यहां सदा तापमान हिमांक से नीचा रहता है तथा वर्ष भर हिम जमी रहती है। अंटार्कटिका को संसार का सबसे ठण्डा भाग कहा गया है। यहां 6 महीने का दिन और 6 महीने की रात होती है। दैनिक तापान्तर कम और वार्षिक तापान्तर अधिक रहता है। यहां का निम्न तापमान –43 से.ग्रे. तक हो जाता है।

उच्च स्थलीय जलवायु (H) इस जलवायु को अविभेदित अर्थात् आकाश को भेदने वाली जलवायु कहते हैं क्योंकि यह ऊँचे पर्वतीय तथा पठारी भागों में पाई जाती है। इस जलवायु की तुलना टुण्ड्रा अथवा हिमाच्छादित जलवायु से नहीं की जा सकती। ऐसी जलवायु राकी, एण्डीज, आल्पस, पामीर, तिब्बत तथा ईथोपिया के उच्च पर्वतीय एवं पठारी भागों में होती है।

सारणी 14
ध्रुवीय टुण्ड्रा प्रदेश का नगर

प्रतिनिधि नगर	समुद्र तल से ऊंचाई (मीटर)	जनवरी ताप (°सेण्टीग्रेड)	जुलाई ताप (°सेण्टीग्रेड)	वार्षिक वर्षा (सेण्टीमीटर)	जलवायु प्रदेश
ET उपरनविक (ग्रीनलैंड) 73° उत्तर	20	—13.3	5	22.75	ध्रुवीय टुण्ड्रा प्रदेश
बैरो पाइंट (कनाडा) 71° उत्तर	6	—7.2	4.4	13	
सगास्टर 73° उत्तर	3.6	—36	5	8.25	हिमाच्छादित प्रदेश
मॅकमुण्डो 78° दक्षिण	सागरतल	—4.4	26	हिमपात	

Source—Ahmad, Kazi Saied Uddin, Natural Regions, (Aligarh Book Co., 1931, Aligarh), p. 209 & 215.

ऊंचाई के अनुसार तापमान के गिरने की मात्रा प्रति 1000 मीटर पर 6^0 से.ग्रे. होती है। 5,600 मीटर की ऊँचाई पर वायुमण्डल का दाब आधा रह जाता है। अतः मध्य अक्षांशीय भागों में प्रायः 2000 मीटर से ऊंचे भाग ही उच्च स्थलीय जलवायु के अन्तर्गत आते हैं। ऊंचे स्थलीय भागों में वायु के स्वच्छ, शुष्क एवं पतली होने के कारण सूर्य का तीव्र प्रकाश होता है। पराकासनी तथा पराबैंगनी किरणों का अधिक प्रभाव रहता है। ऊंचाई के साथ-साथ वर्षा घटने लगती है। 1828 मीटर ऊंचाई के पश्चात् जलवायु की दशाओं में भारी परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है तथा वर्षा भी घटने लगती है। उदाहरणार्थ लेह में केवल 5 सेमी. ही वर्षा होती है। हिम रेखा से ऊपर का क्षेत्र सदा हिमाच्छादित रहता है। विषुवत रेखा से उत्तर और दक्षिण की ओर हिम रेखा की ऊँचाई दूरी के साथ-साथ घटती जाती है। तापमान तथा ऊंचाई का कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं होता। सूर्य पहाड़ी ढालों पर सूर्यविमुख ढालों की अपेक्षा उसी ऊँचाई पर तापमान अधिक रहता है।

पर्वतीय घाटियों में खुले भागों की अपेक्षा कम तेजी से चलती है। पर्वतीय भागों की दिशा के अनुसार कई भागों में स्थानीय पवन चलती हैं जिनका मैदानी भागों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। रॉकी पर्वत की चिनूक, आल्पस पर्वत की फोहम, बोरा, एवं मिस्ट्रल ऐसी

ही पवन हैं। दार्जिलिंग, लेह, लापाज, सोनब्लिक आदि नगर उच्च स्थलीय जलवायु के प्रतिनिधि नगर हैं।
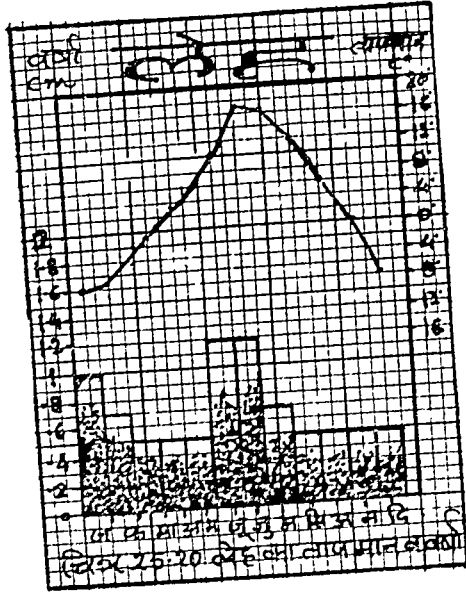
सारणी 15

उच्च स्थलीय जलवायु के प्रदेश

प्रतिनिधि नगर	सागर तल से ऊँचाई (मीटर)	जनवरी ताप (°सेण्टीग्रेड)	जुलाई ताप (°सेण्टीग्रेड)	वार्षिक वर्षा (सेण्टीमीटर)	जलवायु प्रदेश
H. लेह (भारत)	3517	−11	17.2	8	उच्च पर्वतीय जलवायु (तिब्बत तुल्य)
लापाज (बोलीविया) 16.30 दक्षिण	3700	10.9	6.6	53	
सोनब्लिक	3080	2	7.0	162	उच्च पर्वतीय जलवायु (अल्ताई तुल्य)
दार्जिलिंग (भारत)	2256	4.4	16.6	306.75	

जलवायु परिवर्तन

पृथ्वी के भूगर्भिक काल के ऐसे अनेक प्रमाण मिले हैं जिनसे यह विदित होता है कि अतीत में पृथ्वी पर जलवायु परिवर्तन हुए। आज भी हमारी जलवायु कुछ गर्म होती जा

रही है। जलवायु परिवर्तन सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों एवं परिकल्पनाओं का सूक्ष्म रूप से वर्गीकरण किया गया जिनमें धरातलीय या उच्चावचन, पृथ्वी की परिभ्रमण गति परिवर्तन एवं सूर्य ताप ब्रह्माण्डीय सिद्धांत प्रमुख हैं।

धरातलीय या उच्चावचन सम्बन्धी सिद्धान्त महाद्वीपों की ऊंचाई के अनुसार प्रति एक किमी. की ऊंचाई के साथ 6^0 से.ग्रे. तापमान कम होता है। अतीत में यदि धरातल ऊँचा उठा होगा तो तापमान में अवश्य कमी आई होगी। रेम्से ने यह सिद्ध कर दिया कि धरातल का उत्थान शीतल तथा अवतलन गर्म जलवायु को जन्म देता है।

ब्रुक्स ने तल परिवर्तन सिद्धान्त के द्वारा प्लीस्टोसीन की शीतल जलवायु की व्याख्या की है तथा प्रत्येक अक्षांश रेखाओं के लिए तापमान गणना की, जो महासागर उसी अक्षांश रेखा के केन्द्र का तापमान होता है। महाद्वीपों के पश्चिमी तटीय भागों के उत्थान के कारण उष्ण पछुआ पवन का प्रभाव समाप्त हो गया तथा ध्रुवीय शीतल पवन के प्रभाव के परिणामस्वरूप महाद्वीपों के आन्तरिक भागों का तापमान हिमांक से नीचा चला गया। किन्तु इस सिद्धान्त से यह संभव प्रतीत नहीं होता कि धरातलीय परिवर्तन के कारण विषुवत रेखीय प्रदेशों में हिम जम सके।

धरातलीय उत्थान व अवतलन का सागरीय धाराओं पर प्रभाव पड़ता है। यदि फारोज-आइसलैण्ड-उभार कुछ और ऊंचा उठ जाय तो गल्फ स्ट्रीम का आर्कटिक प्रदेश द्वार ही बन्द हो जायेगा तथा आर्कटिक महासागर का तापमान और गिर जायेगा और जलवायु परिवर्तित हो जायगी।

ट्रेवर्ट के अनुसार ज्वालामुखी क्रिया से आकाश में धूल व मिट्टी का आवरण छा जाता है जिससे सूर्य ताप में बाधा पड़ती है और तापमान घट जाता है। क्रिग के अनुसार ज्वालामुखी क्रिया सागरों में वाष्पीकरण की मात्रा बढ़ा देती है जो सूर्य ताप में अवरोध उत्पन्न कर देती है।

वायुमण्डल की गैसों तथा मेघों की मात्रा में परिवर्तन से भी जलवायु प्रभावित होता है। फ्रेंच तथा प्लास के कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के सिद्धान्त के अनुसार वायुमण्डल में कार्बन डाइ-ऑक्साइड (CO_2) सूर्य की किरणों को धरातल तक तो आने देती है किन्तु पौध घर की छत के समान धरती की उष्मा दीर्घ तरंगों के विकिरण को आत्मसात कर लेती है तथा धरातल के वायुमण्डल में ताप वृद्धि करती है। प्लास के अनुसार जीवाश्मी ईंधन का जलना वनस्पति का सड़ना, जीव जन्तुओं द्वारा श्वास लेना, ज्वालामुखी उद्गार, खेती तथा गर्म जल की फुहारों से प्रतिदिन 200 टन कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बनती है। कार्बनीफरेस युग से पूर्व वनस्पति स्थलखण्डों में दब गई जिससे वायुमण्डल में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का अभाव हो गया। अतः कार्बनीफेरस युग के पश्चात् हिमयुग का पदार्पण इस तथ्य का साक्षी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Ackerman, E. A. (1941), The Koppen Classification of N. America, Geog. Rev., 31 : 105-111.
2. Blair, T. A. (1942), Climatology, (Prentice Hall, New York).
3. Hare, F. K. (1951), Climatic Classification, VII (Harward University Press, Cambridge).

4. Kendrew, W. G. (1953), Climates of the Continents (Oxford University Press, London).
5. Koeppe, Clarence (1939), Weather and Climate (McKnight and McKnight, Bloomington, III).
6. Oliver, J. E. (1970), A genetic approach to Climatic Classification (Annals, A. A. G., 60-615-637).
7. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography, 4th ed. (Wiley International Edition, New York).
8. Trewartha, G. T. (1968), An Introduction to Climate (McGraw Hill Book Co., New York).
9. Trewartha, G. T. (1961), The Earth's Problem Climates (Univ. of Wisconsir Press, Madison).
10. Finch, V. C., Trewartha, G. T., Shearer, M. H. and Caudle F. U. (1942), Elementary Meteorology (McGraw-Hill Book Co., N. Y.)
11. तिवाड़ी, अनिलकुमार (1974), जलवायु विज्ञान के मूल तत्त्व (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर).
12. बनर्जी, रमेशचन्द्र; उपाध्याय, दयाशंकर (1973), मौसम विज्ञान (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर).

चतुर्थ खण्ड

जलमण्डल

26

जलमण्डल
[Hydrosphere]

पृथ्वी के लगभग $\frac{3}{4}$ भाग में जलमण्डल तथा शेष $\frac{1}{4}$ भाग में स्थल मण्डल विस्तृत है। ए वेगनर के अनुसार भू-पृष्ठ के 71.7%भाग में महासागर और 28.3%में स्थल खण्ड हैं। क्रूमेल के अनुसार ये पृथ्वी के क्रमशः 70.8% तथा 29.2% भागों में पाए जाते हैं। समस्त पृथ्वी का क्षेत्रफल 5100 लाख वर्गकिमी. है, जिसमें से 3610 लाख वर्गकिमी. क्षेत्र पर जलमण्डल विस्तृत है। स्थल और जल का वितरण बहुत अनियमित है। दक्षिणी गोलार्द्ध में 81%जल और 19%स्थल है जबकि उत्तरी गोलार्द्ध में यह प्रतिशत 43 (जल) और 57 (स्थल) है। यह उल्लेखनीय है कि 60^0 द. अक्षांश पर केवल महासागर ही हैं। इसके विपरीत उ. गोलार्द्ध में 60° तथा 70° अक्षांशों के मध्य स्थल का लगभग पूर्ण घेरा बना हुआ है जिसके उत्तर में आर्कटिक महासागर विद्यमान है। उत्तरी गोलार्द्ध 20° से 50° अक्षांशों तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में 70^0 से 80° अक्षांशों के मध्य स्थल की अधिकता है। 40^0 द. अक्षांश के दक्षिण की जल राशि को प्रायः दक्षिणी महासागर की संज्ञा दी जाती है जबकि यह अटलान्टिक, प्रशान्त तथा हिन्द महासागरों का ही विस्तार है।

चित्र 26·1 जलमण्डल (दक्षिणी गोलार्द्ध)

चित्र 26·2 स्थल मण्डल (उत्तरी गोलार्द्ध)

महासागरों का विस्तार केवल दुगुना ही नहीं अपितु यह तिगुना है। समस्त महासागरो का आयतन 1,370,323,000 घन किमी. है। लम्बाई और चौड़ाई के विस्तार के अतिरिक्त महासागरों की गहराई का आभास सी. ए. एम. किंग के अनुसार यदि समस्त पृथ्वी की सभी असमानताओं को मिटाकर धरातल एवं सागरतल समतल कर दिया जाय तो

सारी पृथ्वी पर 2521 मीटर (8,600 फीट) गहरा जल दृष्टिगोचर होगा। क्रूमेल ने उच्चतादर्शक वक्र रेखा के द्वारा भू-पृष्ठ की ऊँचाई तथा गहराई प्रदर्शित की है ;

स्थल की औसत ऊँचाई=840 मीटर

भू-मण्डल की औसत गहराई=2440 मीटर (महाद्वीपीय मग्नतट को सम्मिलित करके)

समुद्र की औसत गहराई=3800 मीटर
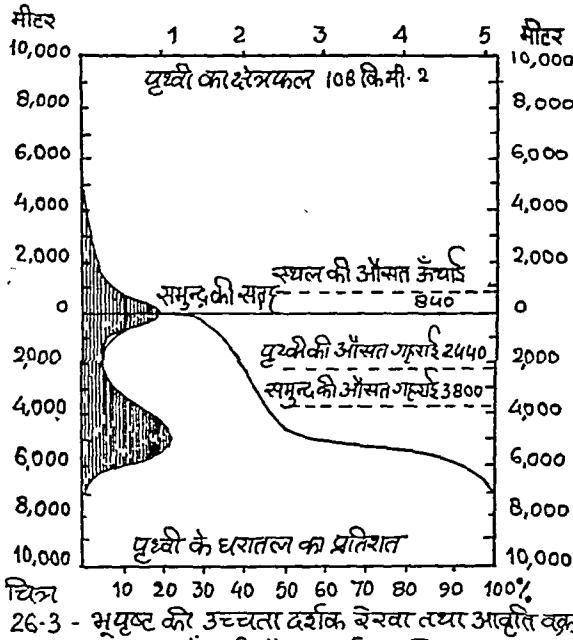
चित्र 26·3 - भूपृष्ठ की उच्चता दर्शक रेखा तथा आवृत्ति वक्र ऊँचाई और गहराई का वितरण (फिलिप लेक 1963 संस्करण)

स्थल की सर्वाधिक ऊँचाई 8868 मीटर (एवरेस्ट शिखर) है तथा सागर की सर्वाधिक गहराई 11,022 मीटर मेरियानास ट्रेंच (Marianas Trench) की है जो गुआम द्वीप के समीप है।

लार्ड केलविन ने जल दाब के आधार पर सागर की गहराई नापने के लिए 'फैदोमो-मीटर' यंत्र का आविष्कार किया। इसके पश्चात् ध्वनि तरंगों की प्रतिध्वनि विधि का आविष्कार हुआ। इस विधि के अनुसार एक यंत्र द्वारा सागर में ध्वनि तरंगें छोड़ी जाती हैं जोकि सागर तली से टकराकर पुन. यन्त्र तक लौट आती हैं और जलयानों में लगे स्वचालित यंत्र द्वारा ग्राफ पर सागर की गहराई स्वयं ही अंकित होती रहती है। ध्वनि तरंगों की गति 1480 मीटर प्रति सेकण्ड होती है। ध्वनि तरंगों के छोड़ने तथा उनके जलफोन यंत्र तक वापस आने के समय के अन्तर के आधार पर सागर की गहराई विदित हो जाती है। इस विधि को ध्वनिक सर्वेक्षण भी कहते हैं।

जोन मरे (John Murray) ने धरातलीय ऊँचाई तथा सागरीय गहराई के क्षेत्रफल तथा प्रतिशत के सम्बन्ध को अग्रांकित सारणी में प्रस्तुत किया है :

सारणी 1
धरातल की ऊँचाई तथा गहराई

स्थल मण्डल की ऊँचाई			जलमण्डल की गहराई		
ऊँचाई (मीटर में)	क्षेत्रफल निकटतम पूर्ण संख्या में दस लाख वर्गकिमी.	प्रतिशत भूमण्डल का	गहराई (मीटर में)	क्षेत्रफल निकटतम पूर्ण संख्या में दस लाख वर्गकिमी.	प्रतिशत भूमण्डल का
0–180	38	8	0–180	25	5
180–900	65	13	180–900	17	3
900–1810	25	5	900–1810	13	2
1810–3620	10	2	1810–3620	68	15
3620 से अधिक	3	1	3620–5430	202	41
			5430 से अधिक	25	5
	141	29		350	71
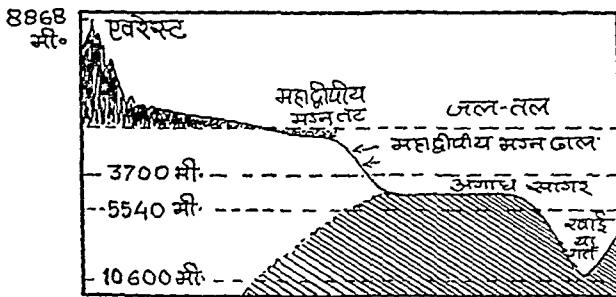
चित्र-26·4-धरातल की ऊँचाई व महासागरों की गहराई

उपरोक्त तालिका से विदित होता है कि स्थलमण्डल में सर्वाधिक क्षेत्र 180 से 900 मीटर के मध्य है तथा महासागर का सर्वाधिक क्षेत्र 3620 से 5430 मीटर की गहराई पर विस्तृत है। इसी प्रकार सबसे कम क्षेत्र 3620 मी. की ऊँचाई और 900 से 1810 मी. के मध्य गहराई में फैला हुआ है।

सारणी 2

महासागरों में गहराइयों का प्रतिशत

गहराई का अन्तर (मीटर में)	समीप के सागरों को मिलाकर				समीप के सागरों के अतिरिक्त			
	प्रशान्त %	आन्ध्र %	हिन्द %	अन्य का % योग	प्रशान्त %	आन्ध्र %	हिन्द %	अन्य का % योग
0—200	5.7	13.3	4.2	7.6	1.7	5.6	3.2	3.1
200—1000	3.1	7.1	3:1	4.3	2.2	4.0	2.7	2.8
1000—2000	3.9	5.3	3.4	4.2	3.4	3.6	3.1	3.4
2000—3000	5.2	8.8	7.4	6.8	5.0	7.6	7.4	6.2
3000—4000	18.5	18.5	24.0	19.6	19.1	19.4	24.4	20.4
4000—5000	35.2	25.8	38.1	33.0	37.7	32.4	38.9	36.6
5000—6000	26.6	20.6	19.4	23.3	28.8	26.6	19.9	36.2
6000—7000	1.6	0.6	0.4	1.1	1.8	0.8	0.4	1.2
7000 से अधिक	0.2	—	—	0.1	0.3	—	—	0.1
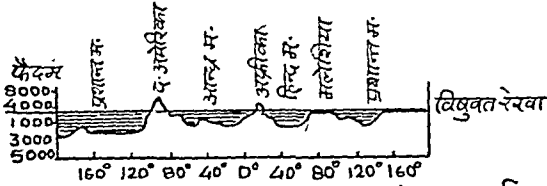
(क) चित्र 26·5-विषुवत रेखा पर महासागरों की गहराई
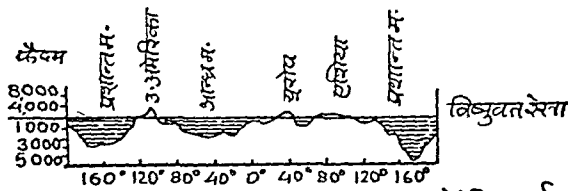
(ख) चित्र 26·5 - 40° उत्तरी अक्षांश पर महासागरों की गहराई

महासागरों की गहराई एवं उनके उच्चावच लक्षणों के आधार पर सागरीय तल को चार भागों महाद्वीपीय मग्न तट, महाद्वीपीय मग्न ढाल, अगाध सागरीय मैदान तथा महासागरीय गर्त तथा अन्तः सागरीय गम्भीर खड्ड में विभाजित किया जाता है।
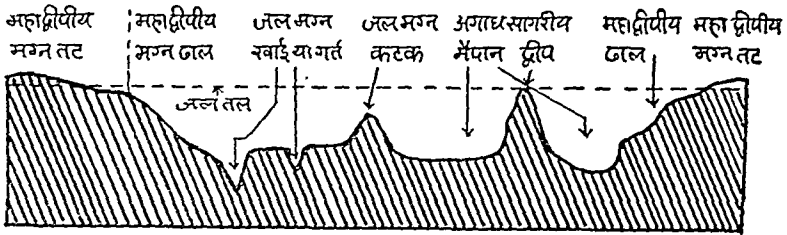
चित्र 26-6-महासागर के उच्चावच

महाद्वीपीय मग्न तट (Continental Shelf)–महाद्वीपों का तटवर्ती जलमग्न भाग महाद्वीपीय मग्न तट कहलाता है। इस पर जल छिछला रहता है। यह 185 मी. की समगम्भीर रेखा तक फैला होता है। इसका विस्तार तटवर्ती स्थल खण्ड की बनावट पर आधारित रहता है। तटवर्ती मैदानी प्रदेश का महाद्वीपीय मग्न तट चौड़ा और तटवर्ती पहाड़ी प्रदेश का संकरा एवं तीव्र ढाल का होता है। साइबेरिया के मैदानी तट पर इसकी चौड़ाई 1300 किमी. है जबकि आयरलैण्ड के पश्चमी पहाड़ी किनारे पर यह केवल 80 किमी. ही चौड़ा है। नदियों के मुहाने के निकट तलछट के निक्षेप के कारण यह अपेक्षाकृत चौड़ा होता है, ह्वांगहो तथा मीकांग नदियों के मुहाने के मग्न तट चौड़े हैं। भारत के पूर्वी तट के मग्नतट की औसत चौड़ाई 50 किमी. है किन्तु गंगा और महानदी के मुहानों के मग्नतट की चौड़ाई 100 किमी. से भी अधिक है। पश्चिमी तट पर नर्वदा और ताप्ती के मुहानों के मग्नतट दक्षिणी भाग के मग्नतट की अपेक्षा अधिक चौड़े हैं। मग्नतट के क्षेत्रफल में एशिया संसार में तथा उ. अमेरिका दूसरे स्थान पर आता है।

एफ. पी. शेपर्ड के अनुसार महाद्वीपीय मग्नतट की औसत चौड़ाई 67 किमी. तथा गहराई 130 मी. (72 फैदम) होती है। वेगनर के अनुसार इसका क्षेत्रफल 300.6 लाख

वर्ग किमी. है जिसमें स्थलखण्ड का 5% क्षेत्र सम्मिलित है। मग्नतट का औसत ढाल 1° से 2° के लगभग होता है, अर्थात् प्रति किलोमीटर पर 4 मीटर गहराई बढ़ जाती है।

महाद्वीपीय मग्नतट एटलांटक में 13.3%, प्रशान्त में 5.7% तथा हिन्द महासागर में 4% है। तटीय मैदानो की अपेक्षा इनमें घाटियाँ कम होती हैं पर कगार और द्रोणियां अधिक हैं। समुद्र की ओर के किनारों पर समुद्री कन्दराएँ भी पाई जाती हैं।

मग्नतट पर जल छिछला होने के कारण सूर्य के प्रकाश एवं गर्मी से समुद्री वनस्पति व मछलियां पर्याप्त मात्रा में होती हैं। संसार में सर्वाधिक मछलियों के भण्डार क्षेत्र मग्न-तटों पर ही विद्यमान हैं, जैसे ग्राण्ड बैंक (उ. अमेरिका) तथा डांगर बैंक (ग्रेट ब्रिटेन) आदि मग्नतट महाद्वीपीय ढाल तक विस्तृत रहते हैं।

महाद्वीपीय मग्नतट की उत्पत्ति—महाद्वीपीय मग्नतट की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। किसी की मान्यता है कि समुद्र के जल तल के ऊँचा होने के कारण महाद्वीपों का किनारा जलमग्न हो गया, कोई अनुमान लगाता है कि स्थलखण्ड के नीचे बैठने के कारण इसका विकास हुआ। कुछ विद्वान तो इसकी उत्पत्ति को सागर की अपरदन क्रिया मानते हैं तो किसी की मान्यता है कि इसका विकास निक्षेप क्रिया द्वारा हुआ। इस प्रकार हम मग्न तट के निर्माण को तीन क्रियाओं—(1) विध्वंसक, (2) रचनात्मक तथा (3) विध्वंसक तथा रचनात्मक दोनों ही को मिली-जुली शक्तियों का प्रतिफल मान सकते हैं।

संसार के कुछ भागों में साधारण भू-भ्रंश के कारण भी मग्न तटों का निर्माण हुआ है जैसे आस्ट्रेलिया में क्वीन्सलैण्ड के किनारे तथा लाल सागर के किनारे इसी प्रकार से निर्मित मग्न तट हैं। तीव्र भू-भ्रंश के कारण अत्यधिक अवतलन हो जाता है अतः मग्नतट के स्थान पर सागरीय गर्तो का निर्माण हो जाता है।

पृथ्वी के संकुचन के कारण तट के सहारे कोमल भाग में वलय हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप संकीर्ण मग्न तटों का निर्माण होता है जैसे प्रशान्त महासागर के चारों ओर इसी प्रकार के मग्नतट हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि भूगर्भ की संवाहनीय धाराओं के कारण महाद्वीपों के किनारे का क्षेत्र जोकि सियाल (Sial) परत का ही भाग है, अवतलित हो जाता है जिसके कारण मग्नतटों का निर्माण होता है। इस प्रकार के मग्नतट प्रशान्त महासागर के किनारे पर पाए जाते हैं।
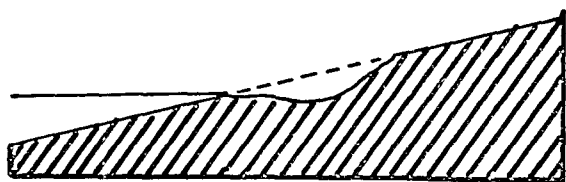
चित्र 26·7 - अपघर्षित महाद्वीपीय मग्नतट

विद्वानों के मत के अनुसार मग्न तटों का निर्माण रचनात्मक क्रिया द्वारा ही अधिक महत्वपूर्ण लगता है। सागरीय भाग में किनारे पर तलछट के निक्षेप के कारण मग्न तटों का निर्माण हुआ होगा।

यह माना जाता है कि अतीत में महासागर महाद्वीपीय मग्न ढाल के ऊपरी किनारों तक विस्तृत थे तथा सागर तल के ऊपर उठने के कारण महाद्वीपों के किनारे जलमग्न हो गए। आज भी अनेकों नदी घाटियाँ महाद्वीपीय मग्नतट को पार करती हुई मग्न ढाल में खुलती हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि महासागर के जलस्तर के ऊपर उठने से ही मग्न तट बने हैं।
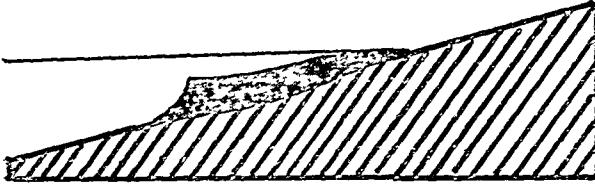
चित्र 26.8 निक्षेप जन्य महाद्वीपीय मग्न तट

महाद्वीपीय मग्नतट का निर्माण निक्षेप के कारण भी हुआ है। कालान्तर में नदियां अपने साथ करोड़ों टन तलछट प्रतिवर्ष सागर में जाकर निक्षेपित कर देती हैं जिसको लहरें तथा धाराएँ सागर के सुदूर भागों तक फैला देती हैं जिसके फलस्वरूप मग्नतटों की रचना होती है।

सागरीय तट के किनारों का कुछ क्षेत्रों में भ्रंशन के कारण उत्थान भी हुआ है जिसके फलस्वरूप मग्नतटों का निर्माण हुआ है। इस प्रकार का उत्थान साधारणत: प्राचीन भूखण्डों के किनारे पाया जाता है, जैसे—लेब्रोडोर, नार्वे, ग्रीनलैण्ड आदि।

चित्र 26.9 संसार के महाद्वीपीय मग्न तट
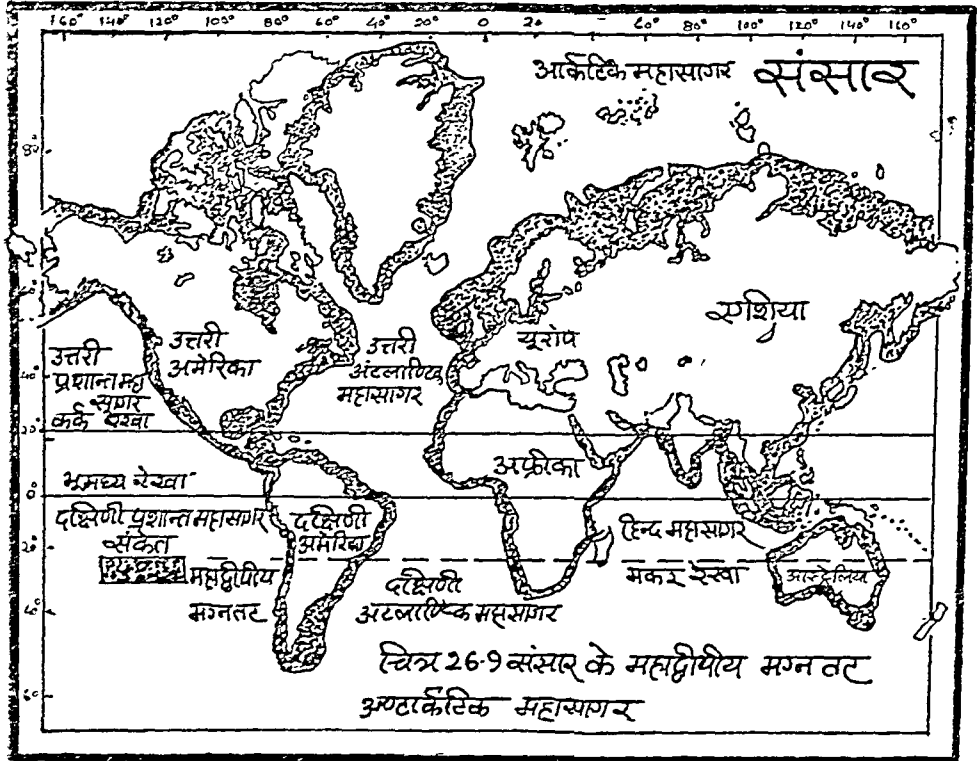
मग्नतटों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि अधिकांश मग्नतट विध्वंसक एक रचनात्मक शक्तियों की मिश्रित क्रिया के फलस्वरूप ही निर्मित हुए हैं। इनका निर्माण अपरदन और निक्षेप क्रिया द्वारा होता है।

महाद्वीपीय मग्न ढाल

महाद्वीपीय मग्न ढाल मग्नतट के सागर की ओर वाले किनारे से प्रारम्भ होकर अगाध सागरीय मैदानों तक विस्तृत रहता है। मग्न ढाल की प्रवणता मग्न तट की अपेक्षा अधिक होती है। यह 2^0 से 5° के मध्य होती है, किन्तु साधारणतः 5° से अधिक विरले स्थानों पर होती है। मग्नढाल की गहराई 183 मी. (100 फैदम) से 3660 मी. (2000 फैदम) के बीच होती है। मग्नढाल वास्तव में महाद्वीपों का जलमग्न बाहरी छोर होता है। इसका विस्तार मग्नतट की अपेक्षा कम होता है। समुद्र की ओर पहले 1830 मी. (1000 फैदम) तक इसका ढाल 35 से 61 मीटर प्रति किमी. अर्थात् $4\frac{1}{2}^\circ$ होता है। उसके पश्चात् 45% भाग में कहीं-कहीं ढाल की प्रवणता बढ़ जाती है। इसका विस्तार 185 किमी. से 366 किमी. के मध्य होता है। भिन्न-भिन्न सागरों में इसका विस्तार व ढाल अलग-अलग है। समस्त सागरों के कुल क्षेत्र में से मग्न ढाल का क्षेत्र 8.5% है। इस क्षेत्र का 12.4% भाग अटलान्टिक, 7% प्रशान्त तथा 6.5% हिन्दमहासागर में स्थित है। इसी प्रकार ढाल की प्रवणता में भी अन्तर है। मग्न ढाल की औसत प्रवणता प्रशान्त में $5^\circ 2'$ अटलान्टिक में $3^\circ 05'$ तथा हिन्द महासागर में $2^\circ 55'$ है। किन्तु स्थानीय रूप से इनमें विषमता भी पाई जाती है।

आर. पी. शेपर्ड के अनुसार कुछ ढालों की रचना भ्रंश क्रिया के कारण हुई। चाहे ये भ्रंश श्रेणीवद्ध सोपानों के रूप में अथवा वृहत अल्पनमन के रूप में निर्मित हुए हों।

महाद्वीपीय ढालों पर प्रायः नदियों द्वारा परवाहित बालू व मृत्तिका के सूक्ष्म कण निक्षेपित होते रहते हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मग्न ढालों पर तलछट के अत्यधिक निक्षेप के कारण एक ओर तो ऊंचाई बढ़ गई और दूसरी ओर इनका ढाल स्वतः ही तीव्र हो गया।

प्रारम्भ में कई विद्वानों की मान्यता थी कि महाद्वीपीय मग्न ढालों का निर्माण महाद्वीपों के किनारे नीचे मुड़ जाने तथा साथ ही उन पर तलछट की मोटी परत के जम जाने से हुआ। किन्तु इनकी आकृति एवं तीव्र ढाल इस धारणा का खण्डन करते हैं। यही नहीं; बहुत से ढालों के छोर के समीप ग्रेनाइट की शैलों का पाया जाना और उन पर तलछट की पतली परत का होना यह सिद्ध करता है कि इनका निर्माण महाद्वीपों के किनारों के मुड़ने से नहीं हुआ। मग्न ढाल उस स्थान से प्रारम्भ होते हैं जहाँ सागरीय लहरों का प्रभाव नगण्य है। अतः यह धारणा भी भ्रामक है कि इन पर निक्षेप पाया जाता है। इस भाग में भूस्खलन एक साधारण सी घटना है जो ढाल की प्रवणता के कारण होती है।

मग्न ढालों में अनेकों गर्त, गलियां, 'V' आकार की घाटियां, कन्दराएँ एवं गहरे खड्ड पाये जाते हैं।

अगाध सागरीय मैदान महाद्वीपीय मग्न ढाल के समाप्त होते ही प्रारम्भ हो जाते हैं। ये सागर की समस्त तली के 65% अर्थात् 2/3 भाग में विस्तृत हैं। इनकी गहराई 3660 मी. (2000 फै.) से 5490 मी. (3000 फै.) के बीच होती है। अगाध सागरीय

मैदानों के ढाल की प्रवणता 1 : 500 से 1 : 5,000 अनुपात के मध्य होती है। ढाल की प्रवणता कम होने के कारण ये मैदान जैसे प्रतीत होते हैं किन्तु इनका तल पूर्णतः समतल नहीं होता। इनकी तली कठोर शैलों से निर्मित है जिससे यह आभास होता है कि इनकी उत्पत्ति सम्भवतः भूगर्भीय कारणों से हुई होगी। तट से दूर होने के कारण नदियां यहां तक तलछट नहीं पहुंचा पातीं किन्तु इस भाग में जीव-जन्तुओं तथा वनस्पतियों के अवशेष, पंक तथा ज्वालामुखी जनित लावा राख के निक्षेप मिलते हैं।

अगाध सागरीय मैदान सभी महासागरों एवं कहीं-कहीं जुड़े समुद्रों में मिलते हैं। ये अटलान्टिक के 54·9%, प्रशान्त के 80.3% तथा हिन्द महासागर के 80.1% भागों में विस्तृत हैं। मग्न तट के अधिक क्षेत्रफल में फैले होने के कारण अटलान्टिक महासागर में अगाध सागरीय मैदान लगभग आधे से कुछ अधिक भाग में विस्तृत हैं। सागरीय मैदान, बंगाल की खाड़ी और वेडल सागर में पाए जाते हैं। अरब सागर में 3400 मी. (1856 फै) की गहराई पर समतल मैदान फैला हुआ है। संसार का सबसे बड़ा और चौरस सागरीय मैदान कनाडा बेसिन है जो 3820 मी. (2090 फै.) गहराई पर उत्तर से दक्षिण की ओर 1100 किमी. लम्बाई में फैला हुआ है। आर्कटिक सागर का मैदान निक्षेप की मोटी परत के कारण अत्यन्त ही समतल है। इसी प्रकार यूरेशिया का बेसिन भी कनाडा बेसिन की भांति ही चौरस है।

अगाध सागरीय मैदान ऊबड़-खाबड़ होते हैं। इनमें खड्ड, कटक, अन्तःसागरीय पर्वत, पठार आदि होते हैं। यों तो अन्तःसागरीय पर्वत अटलान्टिक महासागर में भी पाए जाते हैं किन्तु प्रशान्त महासागर में ये अधिकांश में मिलते हैं।

अगाध सागरीय मैदानों के किनारे समुद्र तल पर अथाह गहराइयों में समुद्री गर्त पाए जाते हैं। ये अव्यवस्थित तथा असंमितीय ढंग से विस्तृत तीव्र ढाल वाले अत्यधिक गहरे होते हैं। इनकी औसत गहराई 7000 से 9000 मीटर के मध्य होती है। गर्तों की गहराई भी असमान होती है।

साधारणतः महासागरीय गर्त द्वीप शृंखलाओं और मोड़दार पर्वतों के समीप गहरे सागरीय क्षेत्र में पाए जाते हैं। ये ज्वालामुखी तथा भूकम्पीय क्रियाशील क्षेत्रों में अधिकांश में पाए जाते हैं इनकी उत्पत्ति भूगर्भिक क्रियाओं के कारण हुई। इन गर्तों में निक्षेप के नाम पर आकाशीय धूल एवं ज्वालामुखी राख मिलती है। गर्तों में गहन अन्धकार होता है। तथा यहां जल शीतल रहता है।

वेनिंग मीनेज के अनुसार गर्त भूसन्तुलन असंगति की प्रबल पेटी के क्षेत्रों में पाए जाते हैं। अगाध समुद्री गर्तों को गर्त, खाई व द्रोणी में से वर्गीकृत कर सकते हैं।

खाई व द्रोणी के अत्यधिक गहराई वाले भाग गर्त कहलाते हैं। साधारणतः ये आकार में छोटे होते हैं; किन्तु गहराई में सबसे अधिक होते हैं, चेलेंजर गर्त 11,822 मीटर गहरा है। इसी तरह फिलीपीन द्वीप के निकट एमडन गर्त 10,623 मीटर गहरा है।

लम्बा, सँकरा तथा तीव्र ढाल के आकार का सागरीय अगाध क्षेत्र खाई कहलाता है। ये अगाध सागरीय भागों के किनारे स्थल की ओर स्थिति हैं। पश्चिमी प्रशान्त महासागर के किनारे सागरीय खाइयां झालर की भांति फैली हुई हैं। इसी प्रकार मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका के समीप प्रशान्त महासागर में अनेकों खाइयां विद्यमान हैं।

सारणी 3

संसार के कुछ महत्वपूर्ण समुद्री गर्त–खाई

महासागर का नाम	गर्त तथा खाई का नाम	स्थान	गहराई (मीटर में)	लम्बाई (किमी. में)	औसत चौड़ाई (किमी. में)	क्षेत्रफल (वर्गकिमी. में)	आयतन (घनकिमी. में)
प्रशान्त महासागर	क्यूराईल कमचटका खाई में टस्कारोरा गर्त	क्यूराईल द्वीप के निकट	10550	2200	120	264000	1320000
	जापान खाई में रामापो गर्त	जापान के निकट	8412	800	100	80000	336000
	मेरियानास खाई में चैलेन्जर गर्त	गुआम द्वीप के निकट	11022	2550	70	17850	98200
	फिलीपाइन खाई में मिन्डानाओ गर्त	फिलीपीन द्वीप के समीप	10550	1400	60	84000	420000
	टोंगा खाई में एलड्रिक गर्त	टोंगा द्वीप के निकट	10882	1400	55	77000	415800
	करमाडेक खाई	करमाडेक द्वीप के निकट	10047	1500	60	90000	450000
	एल्यूशियन खाई	एल्यूशियन द्वीप के निकट	7679	3700	50	185000	673000
	मध्य अमेरिका खाई	गोटेमाला के निकट	6662	2800	40	96000	316000
	पीरू चिली खाई	पीरू तथा चिली के निकट (द. अमेरिका)	8055	5900	100	590000	236000

हिन्द महासागर	जावा खाई	जावा के निकट	7450	4500	80	180000	666000
	मौरीशस खाई	मौरीशस द्वीप के निकट	5564	1080	30	32400	95400
अटलांटिक महासागर	पोर्टोरिको खाई में ब्लैकी गर्त	उत्तरी पोर्टोरिको द्वीप के निकट (पश्चिमी द्वीप समूह)	8385	1550	120	186000	779000
	केमेन खाई	केमेन द्वीप के निकट (पश्चिमी द्वीप समूह)	7093	1450	70	101500	360000
	रोमांशे खाई	मध्य एटलाण्टिक की कटक के आर-पार	7856	300	20	6000	21900
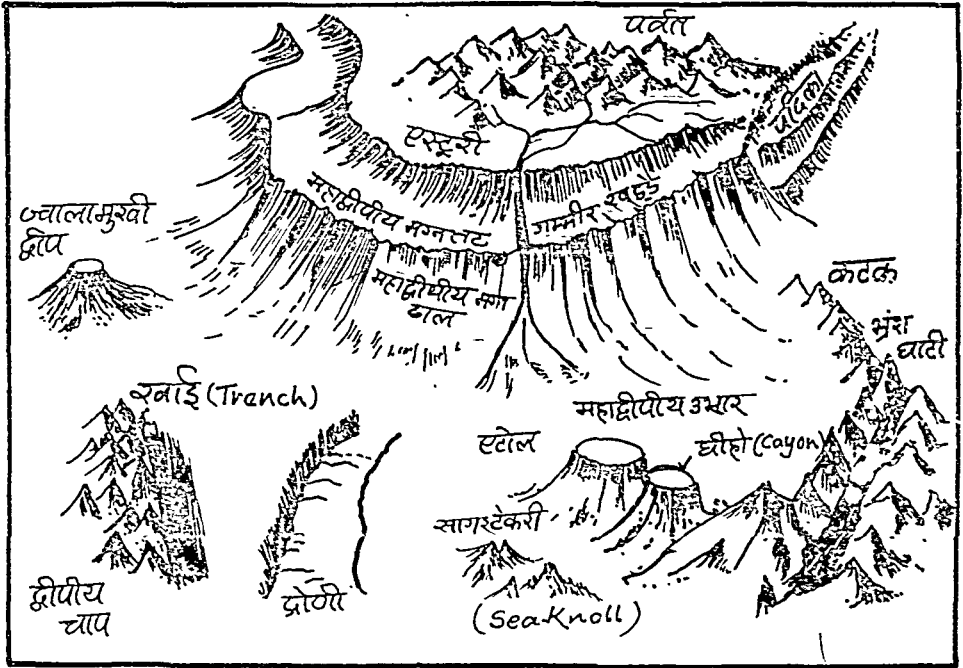
चित्र 26·10 – सागर तली के विभिन्न भाग एवं आकृतियां
(जे.जे. भट्ट के आधार पर)

अथाह सागर का लम्बा, चौड़ा और सामान्य ढाल वाला भाग द्रोणी कहलाता है। चौड़ाई और ढाल की प्रवणता के अतिरिक्त ये अन्य बातों में खाईयों से मिलती है।

महासागरीय गर्त समस्त सागरीय तली के 7% भाग में फैले हुए हैं। अब तक की खोजों के अनुसार महासागरों में 57 गर्त पाए गए हैं। इनमें से 32 प्रशान्त महासागर में, 19 अटलान्टिक महासागर में और 9 हिन्द महासागर में स्थित हैं। सबसे अधिक गर्त प्रशान्त महासागर के चारों ओर तटों के समीप स्थित हैं।

अन्तःसागरीय अगाध खड्ड महासागरीय मग्नतटों तथा ढालों पर (V) आकार की सँकरी किन्तु गहरी घाटियां जैसे होते हैं, इन्हें सागर कन्दराएँ भी कहते हैं। इनकी गहराई महासागरीय गर्तों से तो कम होती है किन्तु स्थल पर पाये जाने वाले गहरे खड्डों से अधिक होती है। इनमें से बहुतों की परिमाप तो कोलोरेडो की ग्राण्ड केनयोन के समान हैं। यह लगभग 2000 से 3000 मीटर की गहराई के मध्य पाये जाते हैं। संकरा होने के कारण यह विशाल प्रपाती दरार जैसे प्रतीत होते हैं। कुछ अगाध खड्डों का आकार बिलकुल सीधा होता है। इनमें से अधिकांश का आकार नदियों की घाटियों के अनुरूप होता है किन्तु इनका सम्बन्ध धरातलीय अपवाह से नहीं होता। ये अधिकतर नदियों के मुहानों से जुड़े हुए होते हैं। शेपर्ड व वेयर्ड के अनुसार महासागरों में 102 अन्तःसागरीय खड्ड पाए जाते हैं।

इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत व्यक्त किए गए हैं। इनके आकार, विस्तार एवं मग्नतटों और मग्न ढालों की भौतिक बनावट के आधार पर निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित

किये गये हैं। ये सिद्धान्त दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—(1) भूपृष्ठीय प्रक्रियाएं तथा (2) अन्तःसागरीय प्रक्रियाएं।

स्थल की नई घाटियों से सागरीय गम्भीर खड्डों की तुलना करने पर कुछ समानताओं के आधार पर यह मत व्यक्त किया गया कि खड्डों की उत्पत्ति भूपृष्ठीय अपरदन के फलस्वरूप हुई है।

कुछ तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि अगाध खड्डों का निर्माण भू-गर्भिक हलचलों के कारण होता है। प्रचण्ड भूकम्पीय तरंगों के कारण मग्नतट पर बहुत सी दरारी घाटियों का निर्माण हो गया जो बाद में एक दूसरे से मिलकर अगाध खड्डों के रूप में परिवर्तित हो गई। अन्य मत के अनुसार भू-संचलन के कारण क्वाटरनरी युग की घाटियों का अवतलन हो गया और परिणामस्वरूप वे जलमग्न होकर खड्ड बन गई। अगाव खड्डों में लम्बाई और गहराई की समानता भू-भ्रंश की क्रिया को प्रमाणित करती है जैसे गिरान्डे नदी (फ्रान्स) के सामने नजारे खड्ड जोकि भ्रंश-घाटी के समान है, 4000 मी. गहराई पर स्थित है।

डी. डब्ल्यू. जॉनसन ने यह परिकल्पना प्रस्तुत की कि सम्भवतः भूमिगत जल के निःस्राव से बना हुआ घोल और अपरदन इन खड्डों के निर्माण में सहायक होता है। साधारणतः सागर के तटीय भाग में जल तल की ऊँचाई सागर की सतह के बराबर ही होती है। किन्तु कुछ अवरोधकों के कारण कहीं-कहीं ऐसा नहीं होता। परिणामस्वरूप भूमिगत जल द्वारा अधःखनन होता रहता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी भूमिगत जल के स्तर में वृद्धि होने से वह पारगम्य शैलों द्वारा स्रोतों के रूप में मग्नतट पर प्रवाहित होता रहता है। अतः अधःखनन एवं घुलन दोनों ही क्रियाओं के कारण अगाध खड्डों का निर्माण हुआ होगा।
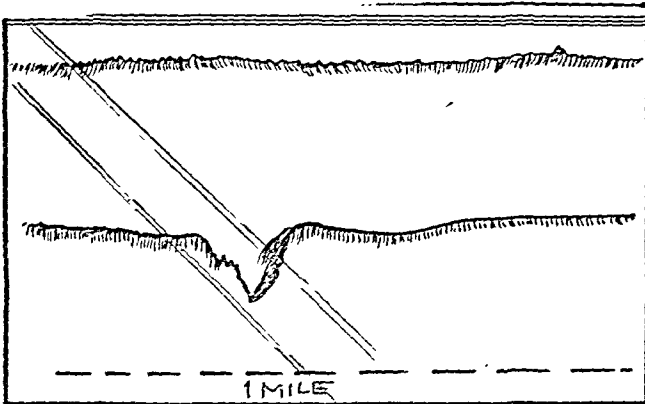
चित्र 26·11 हडसन अतः सागरीय खड्ड का तिरछी तरंगों द्वारा लिया गया चित्र। यह 366 मी· (200 फैदम) गहराई पर है। इसकी तली 3330·6 (1820 फैदम) गहराई पर है तथा चौड़ाई 3 किमी· से कम है। (संयुक्त राज्य भूगर्भिक सर्वेक्षण के आधार पर

कुछ का मत है कि अन्तःसागरीय खड्ड मग्नतट की अपेक्षा प्राचीन हैं, अर्थात् खड्डों का निर्माण पहले हुआ और मग्नतट सागरीय अपरदन के कारण उसके पश्चात् बने।

मग्नतट का अपरदित तलछट खड्डों में निक्षेपित हो गया जिससे वे भर गए। किन्तु मग्नतट के निर्माण के पश्चात् जल के सम्पर्क में आने से खड्डों में निक्षेपित तलछट ढीला होकर भू-स्खलन तथा अपपात की क्रिया द्वारा नीचे को खिसक गया और खड्ड पुनः अस्तित्व में आ गए।

शेपर्ड तथा एमरी के अनुसार ढीले तलछट में खड्डों को भरने से रोकने की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक रहती है। हिमयुग में सागरीय सतह के नीचे हो जाने के कारण नदियां मग्नतट पर पूर्व निर्मित गर्तों में होकर बहने लगीं। यह गर्त एक दूसरे से मिल गए जिसके फलस्वरूप गहरी घाटियों का निर्माण हुआ। हिमयुग के पश्चात् जल-तल ऊंचा होने के कारण वे स्थलीय घाटियां जलमग्न होकर अगाध खड्डों में परिवर्तित हो गयीं। किन्तु मग्नतट पर पंक प्रवाह के कारण इन खड्डों में तलछट निक्षेपित नहीं हो पाया।

अन्तः सागरीय घनत्व की धाराएं गंदली धाराएं भी कहलाती हैं। डेविस ने गन्दली धाराओं द्वारा इन खड्डों के निर्माण की सम्भावना व्यक्त की थी। उसके पश्चात् डाली ने इस मत की पुष्टि की। अधिक लवणता तथा सूक्ष्म तलछट के मिश्रण से जल में गन्दलापन आ जाता है। एक ही दिशा में निरन्तर प्रवाहित पवन जल की अपार राशि सागर तट के समीप एकत्रित कर देती हैं। इसी जलराशि के नीचे गंदली धाराएं उत्पन्न हो जाती हैं। गंदला जल स्वच्छ जल की अपेक्षा अधिक घनत्व का और भारी होता है। अतः वह तीव्रता से नीचे की ओर प्रवाहित होकर अपरदन करता रहता है। इस प्रकार गंदली धाराएं अन्तःसागरीय खड्डों के निर्माण में सहायक होती हैं। इस प्रकार का एक खड्ड कांगो नदी के मुहाने पर विद्यमान है।

गन्दली धाराओं में अपरदन करने की अपार क्षमता होती है। डाली की विचार-धारा को हीजेन तथा एविन्ग ने और भी दृढ़ कर दिया। सन् '29 के भूकम्प द्वारा ग्राण्ड बैंक के समुद्री तारों के टूटने का मुख्य कारण गंदली धाराओं को बताया। भूकम्प के कारण गंदली धाराएं 96 किमी. प्रति घन्टा की गति से चलने लगी थीं। यह सब होते हुए भी यह सन्देहग्रस्त ही है कि घनत्व की धाराओं में इतनी क्षमता हो सकती है कि वह इतने विशाल खड्डों का निर्माण कर सकें।
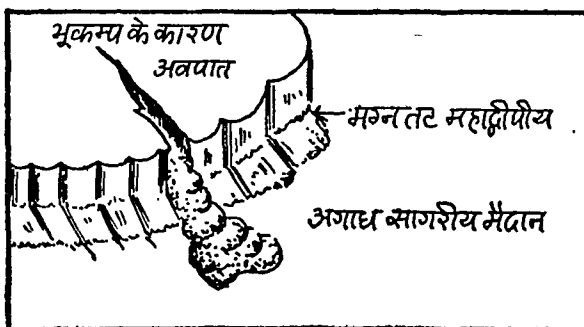
चित्र 26·12-भूकम्प के कारण गन्दली धाराओं द्वारा अवपात

अन्तःसागरीय खड्डों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकों परिकल्पनाओं के पक्ष और विपक्ष में अध्ययन कर शेपर्ड और एमरी ने यह निष्कर्ष निकाला कि अभी तक प्रतिपादित परिकल्पनाओं में से एक भी गम्भीर खड्डों के निर्माण को पूर्णरूप से सिद्ध नहीं कर सकी।

शेपर्ड तथा वेयर्ड के अनुसार संसार में अन्तःसागरीय खड्डों की संख्या 102 है। इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताएं उल्लेखनीय हैं :

(1) ये 2700 मीटर की गहराई तक वृक्षाकृति के होते हैं जो स्थलीय नदियों की मुख्य एवं सहायक घाटियों की भाँति प्रतीत होते हैं।

(2) ये वर्तमान विशाल नदियों एवं प्राचीन नदियों के मुहानों के समीप मिलते हैं।

(3) इनके तट अधिकांश रूप से सीधे होते हैं।

(4) इनके वितरण का अक्षांशीय दूरी अथवा तापमान का कोई सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् ये सभी स्थानों पर पाये जाते हैं।

(5) कहीं-कहीं बड़ी नदियों की अपेक्षा छोटी नदियों के निकट ये अधिक गहरे होते हैं।

(6) इनके ऊपरी भाग की आकृति 'V' आकार की प्रपाती ढाल की घाटी के समान होती है। अन्तःसागरीय अन्य रचनाओं में शिखर घीहो, कटक, द्वीप आदि मुख्य हैं।

अगाध सागरीय मैदानों में 1000 मीटर से ऊंचे जलमग्न पर्वत सागरीय पर्वत कहलाते हैं। ये शंकुकार तीव्र ढाल के शिखर होते हैं।

गुयोट भी एक प्रकार के जलमग्न पर्वत ही हैं जोकि अगाध सागरीय मैदानों में 1220 से 1828 मीटर के मध्य ऊंचाई तक मिलते हैं। इनका ऊपरी भाग चौरस
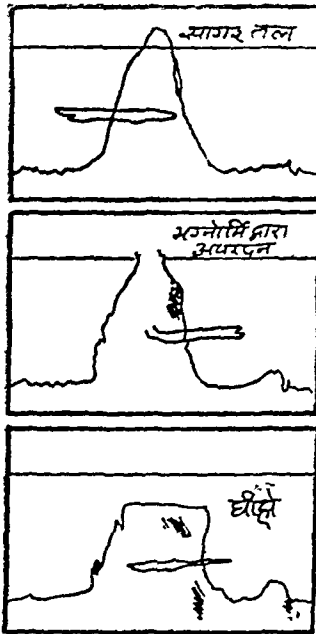
चित्र 26·13 - सागरीय पर्वत का भग्नोर्मि द्वारा अपरदन तथा घीहो का निर्माण

होता है। ज्वालामुखी चोटियों के समुद्री तरंगों द्वारा अपरदन या फिर उन चोटियों पर प्रवाल भित्तियों के निर्माण और अवतलन के कारण गुयोटों की रचना हुई होगी।

पर्वत तथा गुयोट में केवल इतना अन्तर होता है कि पर्वतों की तीव्र ढाल की शिखर होती है जबकि गुयोट का उत्तरी भाग सपाट होता है। यह अनुमान लगाया गया है कि केवल प्रशान्त महासागर में 10,000 सागरीय पर्वत एवं गुयोट हैं जो सागरतली से 3048 मीटर ऊँचे हैं।

अगाध सागरीय मैदानों में जलमग्न कटक भी उल्लेखनीय है। अटलान्टिक महासागर के मध्य उत्तर से दक्षिण की ओर 'S' आकृति में फैली हुई कटक महत्वपूर्ण है इसी प्रकार प्रशान्त एवं हिन्द महासागरों में भी जलमग्न कटकें पाई जाती हैं किन्तु ये अटलान्टिक महासागर की भांति विस्तृत नहीं हैं। इसके अतिरिक्त ये अटलान्टिक की भांति प्रशान्त एवं हिन्द महासागरों के मध्य में फैली हुई नहीं पाई जातीं. कहीं-कहीं ये कटक जल-तल से ऊपर द्वीपों के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं।

द्वीप—जलमग्न कटक के अतिरिक्त महासागरों में विभिन्न असंख्य द्वीप वितरित हैं। महाद्वीपों के किनारे पर फैले हुए द्वीप तो महाद्वीपों के ही भाग हैं जो सागरीय अपरदन के कारण पृथक हो गए हैं। इसके अतिरिक्त ज्वालामुखी पर्वतों की चोटियों तथा प्रवाल की रचनाओं के रूप में भी द्वीप पाए जाते हैं जो समस्त सागरीय भागों में कहीं-कहीं स्थित हैं।

विश्व के महासागर

पृथ्वी के समस्त क्षेत्रफल अर्थात् 51 करोड़ वर्ग किमी. में से 36 करोड़ वर्ग किमी. क्षेत्र में पांच महासागर हैं जिनकी औसत गहराइ एवं क्षेत्रफल अगले पृष्ठ की सारणी में दर्शाया गया है।

प्रशान्त महासागर

प्रशान्त महासागर विश्व का सर्वाधिक विस्तृत समुद्र है। तटवर्ती सागरों को मिला कर यह विश्व का लगभग एक तिहाई भाग घेरे हुए है। यह जलमण्डल के 45.5 प्रतिशत में फैला हुआ है तथा अटलांटिक महासागर से क्षेत्रफल में दुगुना है। इसकी पूर्व-पश्चिम लम्बाई 16,000 किमी. तथा उत्तर में बेरिंग जलडमरूमध्य से दक्षिण में द. ध्रुव महासागर तक चोड़ाई 14,000 किमी. है। उत्तर की ओर उ. अमेरिका तथा एशिया महाद्वीप इसे घेरे हुए हैं, किन्तु दक्षिण की ओर यह खुला हुआ है। इसकी आकृति अर्ध वृत्ताकार है। उत्तर में इसका शीर्ष बेरिंग जलडमरूमध्य तथा दक्षिण की ओर अंटार्कटिक महासागर इसका आधार है। यह तीन ओर पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ है। इसके पश्चिम में राकीज एवं एण्ड्रीज उच्च पर्वत श्रेणियां हैं। पूर्व में ज्वालामुखी पर्वत प्रधान द्वीप समूहों से घिरा है तथा दक्षिणी-पूर्व में आस्ट्रेलिया के ग्रेट डिवाडिंग रेंज स्थिति हैं। उत्तर में कमचटका और अलास्का के पर्वत हैं।

प्रशान्त महासागर के तीनों ओर संकीर्ण मग्नतट है जो इसके कुल क्षेत्रफल का 5.7% है। तटों के समीप ही अनेकों गर्त एवं द्रोणियां हैं। पूर्वीतट रेखा जो अलास्का से केप हार्न तक फैली हुई है, अपेक्षाकृत सपाट एवं अखण्ड है तथा ढाल की प्रवणता भी अधिक है। पश्चिमी तट के समीप क्यूराइल द्वीप से पूर्वी द्वीप समूह तक द्वीपों की तोरण श्रृंखला विद्यमान है। द्वीपों के पश्चिम की ओर अनेक तटवर्ती सागर स्थित हैं। प्रशान्त महासागर के अगाध सागरीय मैदानी भागों में अनेकों ज्वालामुखी एवं उभरे तथा मग्न पठारी भाग

सारणी 4

	महासागर का नाम	स्थिति	औसत गहराई (मीटर में)	क्षेत्रफल (करोड़वर्ग किमी. में)	समस्त जलमण्डल का प्रतिशत	समस्त पृथ्वी का प्रतिशत
1.	प्रशान्त महासागर	उ. तथा द. अमेरिका का पश्चिमी तथा एशिया और आस्ट्रेलिया का पूर्वी तट	4,282	16.4	45.50	32.2
2.	अटलान्टिक महासागर	उ. तथा द. अमेरिका का पूर्वी तथा यूरोप व अफ्रीका का पश्चिमी तट तक	3,500	8.2	22.80	16.2
3.	हिन्द महासागर	उत्तर में एशिया, पश्चिम में अफ्रीका तथा पूर्व में आस्ट्रेलिया तक	4,000	7.2	30.20	14.3
4.	द. ध्रुव महासागर	अण्टार्कटिका के चारों ओर	2,400	2.7	7.50	5.3
5.	उ. ध्रुव महासागर	उ. ध्रुव के चारों ओर तथा दक्षिण में उ. अमेरिका, यूरोप तथा एशिया तक	1,200	1.4	4.00	2 8
				36.0	100–00	70.8

हैं। उभरे भागों पर असंख्य द्वीप हैं किन्तु ऐसे पठार भी हैं जो जल तल से 3962 मीटर गहरे हैं जैसे एल्बाट्रास पठार बिखरे ज्वालामुखी द्वीपों का क्षेत्रफल संयुक्त राज्य अमेरिका के क्षेत्रफल के लगभग है।

प्रशान्त महासागर के उत्तरी भाग में बेरिंग सागर, ओखोटस्क सागर, जापान सागर, पीत सागर, पूर्वीचीन सागर, दक्षिणी चीन सागर तथा सेलीबीज सागर हैं। इनमें से पीत सागर के अतिरिक्त सभी सागर गहरे हैं तथा सेलीबीज सागर की गहराई सर्वाधिक है जो 5031 मीटर है। दक्षिणी प्रशान्त में इण्डोनेशिया के दक्षिण में बांडा सागर, आस्ट्रेलिया के उत्तर में कारपेन्ट्रिया की खाड़ी और अराफुरा सागर तथा दक्षिण की ओर बास जल सन्धि है।

प्रशान्त महासागर का अधिकांश क्षेत्र अगाध सागरीय मैदानों के अन्तर्गत आता है। मैदानों की गहराई एवं ढाल दूसरे महासागरों की अपेक्षा अधिक है। एशिया के पूर्वी तट पर मग्न तटों की औसत चौड़ाई 160 से 1600 किमी तक है। किन्तु पश्चिम तटीय भागों

में यह केवल 80 किमी. रह जाती है। 150^0 पश्चिमी देशान्तर इस महासागर को पूर्वी और पश्चिमी दो भागों में विभाजित करती है। पूर्वी भाग में लगभग समान गहराई है तथा द्वीपों का अभाव है किन्तु पश्चिमी भाग इसका अपवाद है जहां अनेकों कटक, खाई, द्वीप, तटवर्ती सागर आदि पाये जाते हैं।
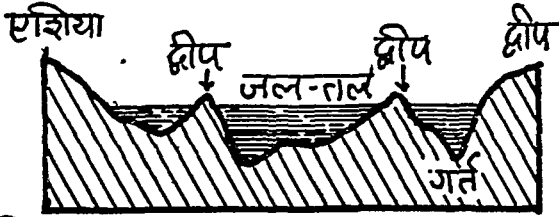
चित्र 26·14–प्रशान्त महासागर की तली
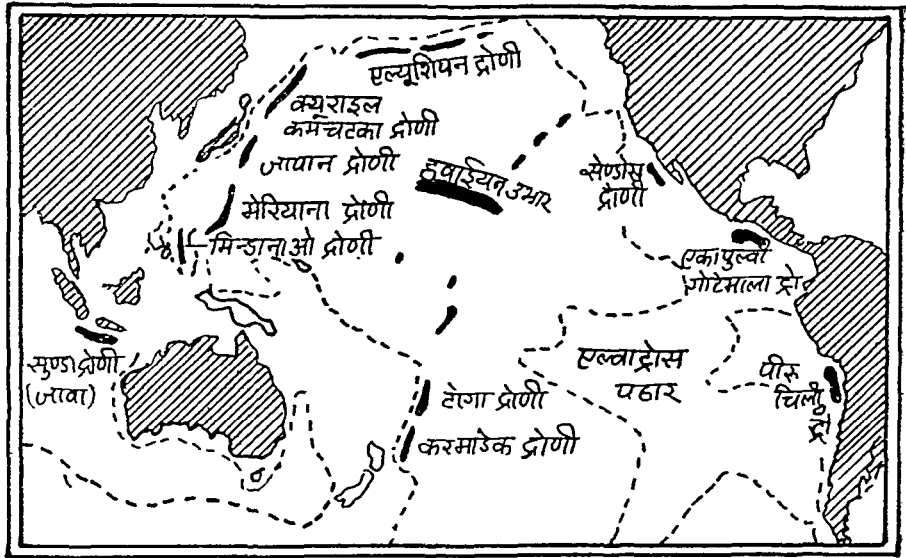
चित्र 26·15 प्रशान्त महासागर की तली की रचना (द्रोणी तथा पठार)
6000 मीटर से अधिक गहराई 4000 मीटर समगहराई रेखा

प्रशान्त महासागर के द्वीपीय चाप के समानान्तर 'लम्बे' गर्त स्थित हैं जिनमें से कुछ प्रमुख खाइयां अगले पृष्ठ पर दी गई हैं।

प्रशान्त महासागर के 32 गर्तों में से अधिकांश गर्त पश्चिमी प्रशान्त के द्वीपीय चाप के समान्तर मिलते हैं। प्रमुख गर्त मिण्डानाओं, टस्कारोरा, स्वायर, टोंगा, करमाडेक, रिक्यू, मरे, नीरो, वेली, अटाकामा आदि हैं।

अटलाण्टिक महासागर की भांति प्रशान्त के मध्य में कोई भी ऐसी कटक नहीं है जो इसको दो भागों में विभक्त करती हो। यहां कटकें बिखरी अवस्था में मिलती हैं। एक छोटी कटकों की श्रृंखला पश्चिमी प्रशान्त कटक के रूप में अलास्का से पश्चिम की ओर कमचटका तक फैली हुई है। इसकी दूसरी शाखा दक्षिण की ओर द्वीपीय चापों के मध्य से

सारणी 5

क्र.	पश्चिमी प्रशान्त	क्र.	मध्य प्रशान्त	क्र.	पूर्वी प्रशान्त
1	फिलीपाइन खाई	1	उत्तरी प्रशान्त खाई	1	ग्वाटेमाला खाई
2	कैरोलिन खाई	2	मेरियाना खाई	2	पीरू-चिली खाई
3	सोलोमन खाई	3	मध्य प्रशान्त खाई	3	प्रशान्त–एण्टार्कटिका खाई
4	कोरल खाई	4	दक्षिणी ग्रास्ट्रेलिया खाई		
5	न्यू हेब्राइड्स खाई				
6	फीजी खाई				
7	पूर्वी ग्रास्ट्रेलिया खाई				

न्यूजीलैण्ड तक ग्रण्टार्कटिका तक फैली हुई है। इस श्रृंखला के जलमग्न भाग कहीं-कहीं पृथक हो गए हैं। यह लगभग 5400 मी. से कम गहराई पर कुछ विच्छेदों के ग्रतिरिक्त निरन्तर फैली हुई है।

यह कटक प्रशान्त की मध्यवर्ती खाई को दक्षिणी ग्रमेरिका के पश्चिमी तट पर स्थिति ग्रगाध खाइयों से पृथक करती है।

यद्यपि सागरीय पर्वत दूसरे महासागरों में भी पाए जाते हैं, किन्तु प्रशान्त महासागर में यह विशेषकर मिलते हैं। इनका शिखर तीखा तथा ऊँचाई एक किमी. से ग्रधिक है। यों तो यह समस्त प्रशान्त में बिखरे हुए हैं, किन्तु ये इसके मध्य तथा उत्तरी-पूर्वी भागों में केन्द्रित हैं।

गुयोट चपटे शिखर के उभरे हुए भाग हैं। मेनार्ड के ग्रनुसार ज्वालामुखी पर्वतों के ऊपरी शिखरों के सागरीय ग्रपरदन द्वारा गुयोट की रचना हुई जो सागरीय तली ले ग्रवतलन के कारण उनमें से ग्रधिकांश जलमग्न हो गये। प्रशान्त महासागर में इनके 3 मुख्य क्षेत्र हैं। कमचटका से हवाई द्वीप तक उत्तर से दक्षिण की ग्रोर विस्तृत क्षेत्र, ग्रलास्का के दक्षिण में तथा मेरियाना द्वीप समूह से मार्शल द्वीप समूह तक ये विस्तृत हैं। ग्रलास्का की खाड़ी में इनकी गहराई 900 मीटर है। महासागर के मध्य में 'हवाईयन उभार' की लम्बाई 2,640 किमी. तथा चौड़ाई 960 किमी. है।

उत्तरी प्रशान्त में 'केरोलियन उभार' है जिस पर कैरोलन द्वीप समूह स्थिति है। ग्रास्ट्रेलिया के पूर्व में दक्षिण पूर्व दिशा में अंटार्कटिक तक एक ग्रौर उभार विद्यमान है।

ग्रास्ट्रेलिाया के उत्तरी तथा पूर्वी भागों के विस्तृत क्षेत्रों में ग्रनेक द्वीप स्थित हैं। पश्चिम की ग्रोर के द्वीप समूह महाद्वीपीय द्वीप कहलाते हैं जबकि पूर्व की ग्रोर के द्वीप ग्रपनी

विशेषताओं के कारण महासागरीय द्वीप कहलाते हैं। पश्चिम की ओर के द्वीप मुख्य स्थल के ही अंग हैं जो खाइयों द्वारा पृथक हो गए हैं। इनमें से मुख्य द्वीप क्यूराइल, जापान, फिलीपीन, हिन्देशिया तथा न्यूजीलैण्ड द्वीप समूह हैं। पूर्व की ओर अल्यूशियन, वेंकुअर तथा चिलियन द्वीप समूह हैं। महासागर के दक्षिण-पश्चिम में अत्यन्त लघु एवं बिखरे हुए द्वीप पाए जाते हैं। इन द्वीपों को चार समूहों में बांटा गया है :

(1) माइक्रोनेशिया,
(3) मेलेनेशिया,
(3) पोलिनेशिया,
(4) इण्डोनेशिया द्वीप समूह।

ये सभी द्वीप समूह ज्वालामुखी प्रवाल रचनाएँ हैं। इन द्वीप समूहों के मध्य अनेक द्रोणियां हैं। कुछ द्वीपों पर सक्रिय ज्वालामुखी विद्यमान हैं—जैसे सोलोमन, न्यू हेब्रिड्स व टोंगा द्वीप समूह, इण्डोनेशिया तथा हवाई द्वीप। प्रशान्त महासागर में लगभग 2000 उल्लेखनीय द्वीप हैं। इसके अतिरिक्त अनेकों लघु द्वीप भी हैं।

अटलांटिक महासागर

अटलाण्टिक महासागर की आकृति (S) अक्षर से मिलती-जुलती है। यह टेढ़े-मेढ़े रूप में उत्तरी ध्रुव महासागर से दक्षिणी महासागर तक विस्तृत है। उत्तर में विविल थाम्प-सन कटक जो स्काटलैण्ड से फैरोस के मध्य तक फैली हुई है, अटलांटिक को उत्तरी ध्रुव महासागर से पृथक करती है। 20^0 पूर्वी देशान्तर, जो अगुलहस अन्तरीप से गुजरती है, इसको हिन्द महासागर से पृथक करती है। इसी प्रकार 60^0 पश्चिमी देशान्तर (हार्न अन्तरीप से शटलैण्ड द्वीप तक) इसे प्रशान्त महासागर से पृथक करती है। उत्तर में डेनमार्क जलडमरूमध्य, नार्वेजियन सागर तथा डेविस की खाड़ी अटलाण्टिक को उत्तरी ध्रुव महासागर से जोड़ती है।

अटलाण्टिक महासागर उत्तर तथा दक्षिण में तो चौड़ा है, किन्तु भूमध्य रेखा के समीप संकरा हो गया है। यहाँ द. अमेरिका के रॉक अन्तरीप से अफ्रीका के सीयरा लियोन तट के मध्य इसकी चौड़ाई 2560 किमी. है। 40^0 उत्तरी अक्षांश पर इसकी अधिकतम चौड़ाई 4800 किमी. और 35° दक्षिणी अक्षांश पर 5920 किमी. है। इसका क्षेत्रफल 94,314 वर्ग किमी है जो प्रशान्त से लगभग आधा है। यह जलमण्डल के लगभग $\frac{1}{3}$ भाग में फैला हुआ है। इसकी औसत गहराई 3.7 किमी. है। भूमध्य रेखा पर पश्चिमी अफ्रीका तथा पूर्वी ब्राजील के आगे को निकले हुए महाद्वीपीय भाग अटलाण्टिक को उत्तरी तथा दक्षिणी दो भागों में विभक्त करते हैं।

उत्तरी अटलाण्टिक महासागर अनेकों सीमान्त सागरों एवं खाड़ियों से घिरा हुआ है जैसे बाल्टिक सागर, उत्तरी सागर, भूमध्य सागर तथा केरोंवियन सागर। भूमध्य सागर तथा कालासागर डर्डिनलस तथा वासफोरस जल सन्धियों और मारमोरा सागर के द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इटली और यूगोस्लाविया के मध्य उथला एड्रियाटिक सागर स्थित है। भूमध्य सागर अन्तराष्ट्रीय महाद्वीपीय सागर है। जिब्राल्टर जल-सन्धि अटलाण्टिक को भूमध्य सागर से जोड़ती है। इसकी गहराई 300 से 5000 मीटर के बीच है। उत्तरी अटलाण्टिक में पश्चिम की ओर वैफिन तथा हड्सन की खाड़ियां हैं। पूर्व की ओर मैक्सिको

की लगभग बन्द तथा विस्के की खुली खाडी है। दक्षिणी अटलाण्टिक पश्चिमी अफ्रीका, पूर्वी दक्षिणी अमेरिका तथा उत्तरी अटलाण्टिक महासागर से घिरा हुआ है। कांगो, अमेजन तथा मिसिसपी नदियां अटलाण्टिक महासागर में प्रति वर्ष करोड़ों टन तलछट जमा कर देती हैं।
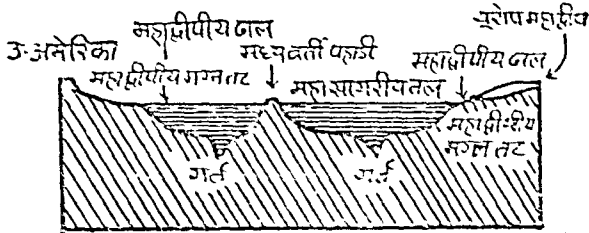
चित्र 26-16 अटलान्टिक महासागर की तली

अटलांटिक महासागर के तल में विस्तृत मग्नतट, मध्य उभार, अनुप्रस्थ कटक विस्तृत सीमान्त सागर तथा गर्तों की कमी इस महासागर की विशेषताएँ हैं। मग्नतट के विस्तार में
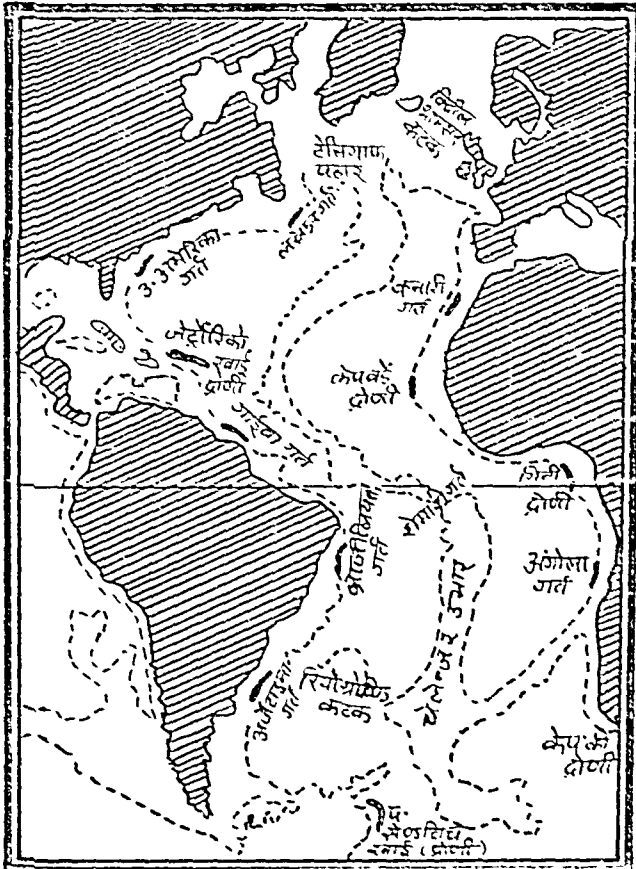
चित्र 26·17 अटलाण्टिक महासागर की तल रचना (द्रोणी, गर्त-कटक, तथा पठार ■ 7200 मी० गहराई ⊟ 3600 मी० गहराई की समोच्च रेखा

असमानता पाई जाती है। कहीं-कही यह बहुत चौड़ा और कहीं अत्यन्त संकीर्ण हो गया है तथा मग्नतट के समीप ही मग्न ढाल प्रारम्भ हो जाता है। मग्नतट के विस्तार के लिए न्यूफाउण्डलैण्ड का ग्राण्ड बैंक तथा ब्रिटिश द्वीप का डागर बैंक उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 50° दक्षिणी अक्षांश के दक्षिण में दक्षिणी अमेरिका के किनारे यह काफी चौड़ा हो गया है। चौड़े मग्नतटों पर अनेक द्वीप स्थित हैं।

अटलाण्टिक महासागर में कई उल्लेखनीय कटक हैं। धुर उत्तर में विविल थोम्पसन कटक इसकी उत्तरी सीमा निर्धारित करती है। सबसे महत्वपूर्ण कटक 'मध्य अटलाण्टिक महासागरीय कटक' है। यह उत्तर में आइसलैण्ड से लेकर दक्षिण में बोवेट द्वीप तक लगभग 11,200 किमी. लम्बाई में फैली हुई है। इसके उत्तरी भाग को 'डोल्फिन कटक' तथा दक्षिणी भाग को 'चेलेन्जर कटक' से सम्बोधित करते हैं। यह मध्य कटक तटीय वक्रों का अनुसरण करती है। इस कटक की औसत गहराई 3000 मीटर है, किन्तु भूमध्य रेखा के कुछ उत्तर में 'रोमांशे क्रूड' आ जाने से इसकी गहराई 7,200 मीटर हो जाती है। मध्य कटक उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक चौड़ी है। उत्तर में यह जलमग्न 'टेलीग्राफ पठार' से मिल जाती है। इस स्थान पर अटलाण्टिक महासागर बहुत उथला हो गया है। विविल थोम्पसन कटक पर महासागर की गहराई केवल 1000 मीटर रह जाती है। लगभग 50° उत्तरी अक्षांश पर इस कटक की चौड़ाई बढ़ जाती है। यहाँ इस कटक की एक शाखा न्यूफाउण्डलैण्ड की ओर मुड़ जाती है। अटलाण्टिक महासागर के मध्य में इसका आकार S के समान है। दक्षिण में चैलन्जर कटक लगभग 60° दक्षिणी अक्षांश तक विस्तृत है। दक्षिण की ओर यह अकस्मात समाप्त हो जाती है। मध्य की मुख्य कटक के पूर्व तथा पश्चिम में अनेक अनुप्रस्थ कटक हैं। इनमें से वेलविस तथा रियोग्रांडे कटकें विशेष उल्लेखनीय हैं। वेलविस कटक मुख्य कटक के ट्रिस्टन डि कुन्हा के समीप से निकल कर 20° द. अक्षांश पर अफ्रीका के तट से मिलती है। 30° और 35° द. अक्षांशों के मध्य पश्चिम की ओर रियोग्रांडे कटक द. अमेरिका के तट को मुख्य कटक से जोड़ती है। इस प्रकार सहायक कटक अटलाण्टिक महासागर की अनेकों द्रोणियों को विभाजित करती हैं। कहीं-कहीं इन कटकों के ऊपर द्वीप भी हैं।

अटलाण्टिक महासागर में अनेकों द्रोणियों पाई जाती हैं जो पृष्ठ 581 पर दी गई हैं।

अग्रांकित द्रोणियों के अतिरिक्त इस महासागर में 19 गर्त ऐसे हैं जो लगभग 5500 मीटर गहरे हैं।

उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में ब्रिटिश द्वीप समूह तथा मुख्य द्वीप न्यूफाउण्डलैण्ड हैं जो महाद्वीपीय द्वीप हैं। इसके अतिरिक्त पश्चिमी द्वीप समूह, आइसलैण्ड, फेरोस, एजोर्स, कनारी, केप वर्डे आदि अनेक छोटे द्वीप हैं। दक्षिणी अटलाण्टिक में फाकलैण्ड, सेंडविच, शटलैण्ड, जोर्जिया, दक्षिणी एशेन्सन, ओरकेनीज ट्रिस्टन डि कुन्हा आदि द्वीप दक्षिणी अमेरिका के दक्षिण में कटकों एवं जलमग्न पठारों के जल-तल से ऊपर उठे भागों पर हैं। मध्यवर्ती कटक के पूर्व में सेन्ट् हेलिना और पश्चिम में ट्रिनीडाड द्वीप गहरे सागरीय मैदानों के उठे हुए भागों पर स्थित हैं। वरमूडा प्रवाल द्वीप है। इसके अतिरिक्त भी गायना की खाड़ी एवं अन्यत्र कई छोटे द्वीप बिखरे पड़े हैं।

सारणी 6
अटलाण्टिक महासागर की द्रोणियां

उत्तरी आन्ध्र महासागर की द्रोणियां

पश्चिम नाम	अक्षांश	पूर्व नाम	अक्षांश
लेब्राडोर द्रोणी (4000 मी.)	50–60°	पश्चिमी यूरोपीय द्रोणी (5000 मी.)	40–45°
न्यूफाउण्ड लैण्ड की द्रोणी	40–50°	अश्वेरियन द्रोणी	30–40°
उत्तरी अमेरिका की द्रोणी (5000 मी.)	25–35°	कनारी की द्रोणी	20–30°
		केपवर्डे की द्रोणी (5000 मी.)	10–$23\frac{1}{2}$°
पूर्वी केरिवियन की द्रोणी	10–20°	सीरा लियोन की द्रोणी	5–10°
गायना की द्रोणी	5–10°	गिनी की द्रोणी	0–5°

दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर की द्रोणियां

उत्तरी ब्राजील की द्रोणी(गहरागर्त)	0–20°	अण्गोला की द्रोणी	5–20°
दक्षिणी ब्राजील की द्रोणी	$23\frac{1}{2}$–30°	केप की द्रोणी	25–45°
अर्जेन्टाईना की द्रोणी (गहरा गर्त)	40–50°	अगुलहस की द्रोणी	40–50°

हिन्द महासागर

हिन्द महासागर प्रशांत व अटलांटिक महासागरों से छोटा है। इसकी आकृति त्रिभुजाकार है। यह उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक चौड़ा है। यह तीन ओर से महाद्वीपों से घिरा हुआ है। उत्तर में एशिया, पश्चिम में अफ्रीका तथा पूर्व में आस्ट्रेलिया स्थित हैं। उत्तर में यह 30° उत्तरी अक्षांश (लाल सागर तथा फारस की खाड़ी तक) तथा दक्षिण में अण्टार्कटिक महासागर तक फैला हुआ है। दक्षिण में इसका विस्तार 20^0 पूर्वी देशान्तर से 115^0 पूर्वी देशान्तर तक है। उत्तर-पूर्व में यह इण्डोनेशिया तथा बर्मा तट के सहारे वलित पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ है। इसके अतिरिक्त इसका तटीय भाग गोण्डवाना के कठोर स्थल खण्डों से निर्मित है तथा किसी सीमा तक सपाट है। सीमान्त समुद्रों को छोड़कर इसका क्षेत्रफल 7.3 करोड़ वर्ग किमी. है तथा सीमान्त समुद्रों सहित 7.7 करोड़ वर्ग किमी. है। हिन्द महासागर, अटलाण्टिक तथा प्रशान्त दोनों ही महासागरों से अपेक्षाकृत कम गहरा है। इसकी औसत गहराई 3873 मीटर है। वलित पर्वतों के तट के निकट गहरी खाइयाँ हैं।

हिन्द महासागर में सीमान्त सागर अल्प मात्रा में हैं। उत्तरी हिन्द महासागर को भारत का दक्षिणी प्रायद्वीप दो भागों में विभक्त करता है, पूर्वी भाग बंगाल की खाड़ी और पश्चिमी भाग अरब सागर कहलाते हैं। वास्तव में ये दोनों हिन्द महासागर के दो उत्तरी

प्रसार हैं। **अण्डमान समुद्र** अण्डमान निकोबार चाप श्रो स्थल सन्धि के मध्य एक द्रोणी के रूप में स्थित है। **मोजेम्बिक जलमार्ग** एक चौड़ा जलडमरूमध्य है जो मेडागास्कर को अफ्रीका से पृथक करता है।

हिन्द महासागर के केवल 'लालसागर' तथा 'फारस की खाड़ी' ही सीमान्त सागरों की श्रेणी में आते हैं। लालसागर एक दरारी घाटी से निर्मित द्रोणी है जो अफ्रीका तथा अरब (एशिया) को पृथक करती है। सियान मरुस्थल की ओर स्वेज तथा अकारा की खाड़ियां लाल सागर को और भी उत्तर में विस्तृत कर देती हैं। दक्षिण में बाबेल मण्डेब जल सन्धि द्वारा लाल सागर हिन्द महासागर से जुड़ा हुआ है। लाल सागर का क्षेत्रफल लगभग 4 लाख वर्ग किमी. तथा औसत गहराई 491 मी. है। फारस की खाड़ी ओमान प्रायद्वीप के कारण ओमान की खाड़ी तथा हिन्द महासागर से पृथक सी हो गई है। यह एक उथली द्रोणी है जिसकी औसत गहराई केवल 25 मी. तथा क्षेत्रफल 2 लाख वर्ग किमी. है।

भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप के तीन ओर तथा मैडागास्कर के चारों ओर मग्नतट काफी विस्तृत है अन्यथा यह सभी तटों पर संकरा हो गया है। मग्नतट की औसत चौड़ाई लगभग 640 किमी. है। इसका आधे से अधिक तल अगाधसागरीय मैदान है जिसकी गहराई 3600 से 5400 मीटर के बीच है। हिन्द महासागर का मध्यवर्ती भाग उथला है जिसके दोनों ओर सागरीय गर्त पाए जाते हैं। इस महासागर में गर्त बहुत ही कम हैं। सुण्डा द्रोणी में एक गर्त है जिसकी गहराई 7336 मी. है। बंगाल की खाड़ी में लगभग 3 किमी. गहराई पर एक वाहिका है जिसमे गंगा नदी से लगभग 25 गुना अधिक जल प्रवाहित होता है।
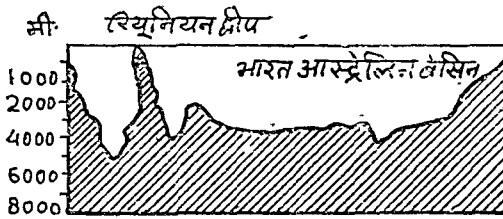
चित्र·26·18 हिन्द महासागर की तली

अटलाण्टिक महासागर की भाँति हिन्द महासागर के मध्य में भी एक कटक उत्तर में कुमारी अन्तरीप से प्रारम्भ होकर लकादीव तथा मालदीव होती हुई दक्षिण में अण्टार्कटिका के मग्नतट से मिल जाती है। यह कटक अटलाण्टिक की तुलना में अधिक चौड़ी एवं ऊंची है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर इसके पृथक-पृथक नाम हैं। उत्तर में 'लकादीव चोगोस कटक' तथा विषुवत रेखा से 30° द. अक्षाश तक 'चेगोस सैन्ट पाल' कटक के नाम से जानी जाती है। इसकी चौड़ाई 320 किमी. है किन्तु दक्षिण की ओर भी चौड़ी हो गई है। इसकी औसत गहराई 3600 मीटर है। 30° से 50° द. अक्षांश के मध्य इसको एम्सटर्डम-सेन्ट पाल पठार कहते हैं। यहाँ इसकी चौडाई 1,600 किमी. हो जाती है। 50° द. अक्षांश के पश्चात् यह पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में विभक्त हो जाती है। पूर्वी भाग में 'इण्डियाना अण्टार्कटिका कटक' तथा पश्चिमी शाखा करगुलेन गासबर्ग कटक कहलाती है।

मुख्य कटक की कई शाखाएँ हैं। पूर्व में कारपेन्टर कटक बंगाल की खाड़ी में इरावदी नदी के मुहाने से अण्डमान निकोबार द्वीपों तक विस्तृत है। पश्चिम में भारत तथा अफ्रीका के मध्य 'कार्ल्सबर्ग कटक' स्थित है जो अरब सागर को दो भागों में बाँटती है। चेगोस मुख्य कटक की एक शाखा 5° द. अक्षांश से पश्चिम की ओर अफ्रीका के गयाफ़ुई अन्तरीप तक जाती है। इसे सोकोत्रा चेगोस कटक कहते हैं। दूसरी शाखा लभगग 18° द. अक्षांश से 'सिचलीस कटक' के नाम से सोकोत्रा-चेगोस कटक के दक्षिण में समान्तर फैली हुई है। अन्त में मैडागास्कर के दक्षिण में मैडागास्कर कटक है जो दक्षिण में जाकर अनुप्रस्थ रूप में फैलकर प्रिन्स एडवर्ड क्रोजेट कटक कहलाती है। हाल में ही जॉन मरे अभियान के अन्वेषण से अरब सागर के उत्तरी-पश्चिमी भागमे एक कटक का पता चला है जिसे मरे कटक नाम दिया गया है।

हिन्द महासागर के अन्तर्राष्ट्रीय अभियान अन्वेषणों से विदित हुआ कि 90° पूर्वी देशान्तर के समानान्तर एक विशाल पर्वतमाला उत्तर-दक्षिण दिशा में लगभग 5760
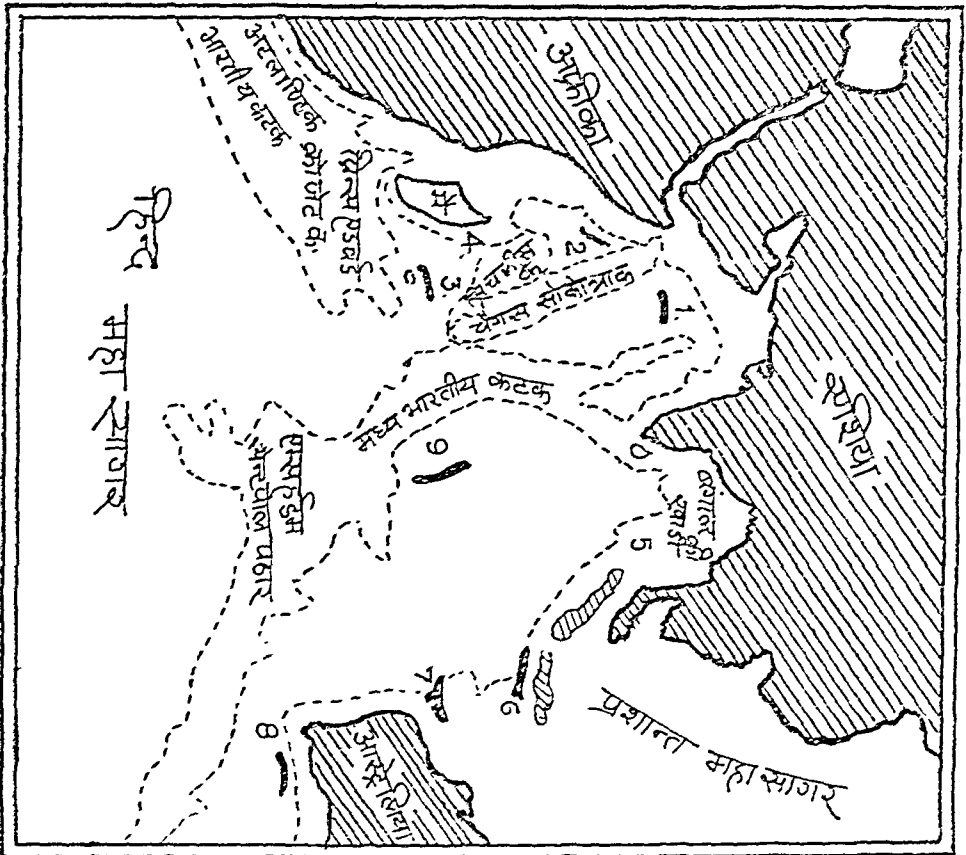
1. अरेबियन द्रोणी, 2. सोमाली द्रोणी, 3. मारीशस द्रोणी, 4. मैडागास्कर द्रोणी,
5. अण्डमान द्रोणी, 6. सुण्डा द्रोणी, 7. उ. आस्ट्रेलिया द्रोणी,
8. द. आस्ट्रेलिया द्रोणी, 9. मध्य भारतीय द्रोणी
सो—सोमोया द्वीप, चै—चैगोस द्वीप, मै—मैडागास्कर द्वीप, मा—मारीशस द्वीप

चित्र 26.9 हिन्द महासागर के तल की रचना (द्रोणी तथा उभार)

किमी. लम्बाई तथा 2430 मीटर ऊंचाई में इण्डोनेशिया के पश्चिम में फैली हुई है। 90^0 पूर्वी देशान्तर के समानान्तर होने के कारण इसको 90° पर्वतमाला कहते हैं।

हिन्द महासागर के मध्य की मुख्य कटक के पूर्व तथा पश्चिम में अनेकों द्रोणिया हैं।

सारणी 7
हिन्द महासागर की द्रोणियां

नाम	स्थिति	गहराई (मी. में)
पश्चिम में	**मुख्य मध्य कटक के पश्चिम की ओर**	
(A) अरेबियन द्रोणी	सोकोत्रा-चैगोस कटकों के मध्य अर्द्धचन्द्राकार	3600—5480
(B) सोमाली द्रोणी	सेण्टपाल, सोकोत्रा चैगोस तथा सिचलीस कटकों के मध्य	3600
(C) मारीशस द्रोणी	10° से 50° द. अक्षांशों के मध्य पूर्व में सेण्ट पाल तथा पश्चिम में मैडागास्कर के मध्य	5480
(D) मैडागास्कर दोणी	मैडागास्कर कटक तथा मध्य की मुख्य कटक के मध्य	5480
पूर्व में	**मुख्य मध्य कटक के पूर्व की ओर**	
(E) उत्तरी आस्ट्रेलियन द्रोणी	10° उत्तरी तथा $23\frac{1}{2}^0$ दक्षिणी अक्षांशों के मध्य	3600—5480
(F) अण्डमान द्रोणी	अण्डमान कटक के पूर्व की ओर बर्मा तथा सुमात्रा के मध्य	2700—3600
(G) दक्षिणी आस्ट्रेलियन द्रोणी	आस्ट्रेलिया के दक्षिण की ओर	3600
(H) मध्य भारतीय एण्टार्कटिका द्रोणी	उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम में मुख्य कटक तथा दक्षिण में अण्टार्कटिका से घिरी हुई है।	3600
(I) सुण्डा गर्त	सुण्डा द्वीप के निकट	7350

हिन्द महासागर के समस्त क्षेत्रफल के 60% भाग में मैदान, 20% भाग में कटक तथा शेष भाग में मग्न तट तथा मग्न ढाल विस्तृत हैं। सुण्डा खाई में सुण्डा गर्त 7350 मीटर तथा पूर्वी भारतीय खाई में 'व्हार्टन गर्त' 19° द. अक्षांश तथा 100^0 पूर्वी देशान्तर पर स्थित है 6390 मीटर गहरा है।

हिन्द महासागर में छोटे और बड़े सभी तरह के द्वीप हैं। मध्यवर्ती कटक के पश्चिम में "श्री लंका, सोकोतरा, कोरोमा, जंजीवार, मैडागास्कर" आदि द्वीप महाद्वीपों के ही भाग हैं। मैडागास्कर के पूर्व में ज्वालामुखी शंकुओं के ढालों पर स्थित मारीशस व रियूनियन द्वीप हैं। मुख्य कटक के पूर्व में अण्डमान व निकोबार द्वीप शृंखला बर्मा के अराकानयोमा पर्वत-श्रेणी के डूबे हुए भाग के अवशिष्ट चिन्ह हैं। मध्यवर्ती कटक पर लकादीव, मालदीव, चैगोस, न्यू एमस्टर्डम, सेन्टपाल, करगुलेन आदि द्वीप हैं। कटक के दक्षिणी भाग में अनेकों प्रवाल द्वीप हैं। हिन्द महासागर के दक्षिणी-पूर्वी भाग में द्वीप बहुत कम मात्रा में पाये जाते हैं। यहां 'कोकोस' तथा 'क्रिसमस' द्वीप मुख्य हैं।

प्रशान्त, अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागरों के अतिरिक्त उत्तरी-ध्रुव महासागर तथा दक्षिणी महासागर हैं। दक्षिणी महासागर वास्तव में उपरोक्त तीनों महासागरों का ही भाग है किन्तु वर्णन की सुविधा के लिए इसको पृथक ही माना जाता है। उत्तरी-ध्रुव तथा दक्षिणी महासागरों के अधिकांश भाग हिम से ढके रहते हैं। अत: इनका भोगोलिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं है।

उत्तरी-ध्रुव महासागर

उत्तरी ध्रुव महासागर चारों ओर से अलास्का, कनाडा, स्केण्डिनेविया, ग्रीनलैण्ड तथा सोवियत संघ से घिरा हुआ है। यह गोलाकार आकृति का महासागर है। 170° पश्चिमी देशान्तर पर यह संकीर्ण बैरिंग जलसन्धि द्वारा प्रशान्त महासागर से मिलता है। इसी प्रकार ग्रीनलैण्ड के पूर्व तथा पश्चिम में यह अटलाण्टिक महासागर से जुड़ा हुआ है। वर्ष के अधिकांश समय में यह हिम से ढका रहता है। किन्तु अटलाण्टिक महासागर की गल्फ स्ट्रीम तथा प्रशान्त महासागर की क्यूरोसीओ गर्म जलधाराएँ इस महासागर में प्रवेश करके इसके दक्षिणी भागों को हिम के जमने से बचा लेती हैं। उत्तरी ध्रुव महासागर का क्षेत्रफल लगभग 1.4 करोड़ वर्ग किलोमीटर है तथा औसत गहराई 1205 मीटर है।

महासागर के तटवर्ती भागों में अनेक उथले सागर पाये जाते हैं। अलास्का के किनारे 'ब्यूफोर्ट सागर' साइबेरिया के उत्तरी भाग में 'लेप्टेव सागर' तथा पूर्वी साइबेरियान सागर, ओब नदी तथा नोवाया जेम्लिया के मध्य कारा सागर' तथा नार्वे और स्पिट्स वर्जन के मध्य 'बारेण्ट्स सागर' स्थित हैं। इन सभी सागरों की औसत गहराई 1800 मीटर से कम है।

तट के समीपी भागों को छोड़कर इस महासागर की तली के बारे में अभी भी अन्वेषण जारी हैं। महासागर के मध्य में संभवत एक विशाल द्रोणी फैली हुई है जो उत्तरी ध्रुवीय द्रोणी के नाम से जानी जाती है। इसकी औसत गहराई 3600 मीटर है तथा 78° उ. अक्षांश तथा 175° द. देशान्तर पर सर्वाधिक गहराई 5,530 मीटर के लगभग है। महासागर का मग्नतट काफी विस्तृत है।

उत्तरी ध्रुवीय द्रोणी के चारों ओर अनेक द्वीप हैं। इनमें से बहुत से तो महाद्वीपों के डूबे हुए किनारों के ही भाग हैं, जैसे—'केनैडियन द्वीप समूह', 'न्यू साइबेरियन' द्वीप व 'नोवाया जेम्लिया' द्वीप। अन्य द्वीप जैसे स्पिट्सबर्जन, बीयर द्वीप तथा जेनमेयन द्वीप आदि जलमग्न ऊँची कटकों के भाग हैं।

सारणी 8

प्रमुख महासागरों का तुलनात्मक अध्ययन

महासागर का नाम	क्षेत्रफल (दस लाख वर्ग किमी. में)	आयतन (दस लाख घन किमी. में)	गहराई (मीटर में)	तापमान (सेग्रे. में)	लवणता (प्रतिशत में)	अन्य विशेषतायें
प्रशान्त महासागर	1,66,241	6,96,184	4,188	3.36	34.62	सबसे ठण्डा, गहरा तथा वृहत जो जल मण्डल के कुल आयतन का आधा भाग है ।
अटलांटिक महासागर	94,314	3,37,210	3,736	3.72	34.76	अमेजन, कांगों तथा मिसीसिपी से अधिकांश मात्रा में तलछट ग्रहण करता है ।
हिन्द महासागर	77,118	2,84,608	3,872	3.73	34.90	सिन्धु, गंगा तथा ब्रह्मपुत्र नदियों द्वारा बड़ी मात्रा में तलछट ग्रहण करता है ।
विश्व के महासागर	3,62,033	13,49,929	3,729	3.52	34.72	पृथ्वी के धरातल का 70 प्रतिशत भाग घेरे हुए है ।

दक्षिणी महासागर

अण्टार्कटिका महाद्वीप की खोज से पूर्व इसे दक्षिणी ध्रुव सागर के नाम से सम्बोधित करते थे, किन्तु बाद में इसको दक्षिणी महासागर कहना प्रारम्भ कर दिया। यों तो यह प्रशान्त, अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागरों का ही एक भाग है, किन्तु कठोर शीत और इस भाग की अनुपयोगिता तथा अनभिज्ञता के कारण इसको अन्य महासागरों से पृथक ही मानते हैं। वर्ष के अधिकांश समय में यह हिम से जमा रहता है। यह अण्टार्कटिका के चारों ओर फैला हुआ है तथा एक भी महाद्वीप समीप न होने के कारण इस महासागर के किनारे बन्दरगाह भी स्थापित नहीं किए जा सकते हैं। इसका क्षेत्रफल 2.7 करोड़ वर्ग किमी. तथा औसत गहराई 2410 मीटर है। क्षेत्र और गहराई दोनों में ही यह उत्तरी ध्रुव महासागर से अधिक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Anderson, Alan, Jr. (1975), Mid Atlantic Ridge : I ividing to the Birthplace of the Ocean, Science Digest, 1977, pp. 68-74.
2. Burke, C. A. and Drake, C. L. (eds) (1974). The Geology of Continental Margins, New York : Springer.
3. Emery, K. O. (1969), The Continental Shelves, The Ocean, San Francisco : Freeman.
4. Emery, K. O., (1950), Continental Slopes and Submarine Canyons, Geol. Magazine, pp. 102-4.
5. Gaskell, T. F. (1960), Under the deep Oceans (Eyse and Spottiwoode, London).
6. King, C. A. M. (1969), Oceanography for Geographers (Edward Arnold, (Publishers) Ltd., London).
7. Kuenen, P H. (1950), Marine Geology (Wiley, New York).
8. Menard, H. W. (1969), The Deep Ocean Floor, In the Ocean (San Francisco, Freeman).
9. Monkhouse, F. J. (1962), Principles of Physical Geograyhy (Uni. of London Press, London).
10. Ommaney, F. D. (1949), The Ocean, (Oxford University Press, New York).
11. Shephard, Francis P. (1974), Submarine Geology, 3rd ed. (Harper & Row, New York).
12. Turekian, K. K. (1979), Oceans, 2nd ed. (Prentice Hall, Englewood Cliff, New Jersey).
13. Wertenbaker, W. (1974), The Floor of the sea and the search to understand the Earth, Boston : Little Brown.

———

27

महासागरीय निक्षेप
[The Ocean Deposits]

वे सभी पदार्थ जो अनन्त काल से महासागरीय तल पर निक्षेपित होते चले आ रहे हैं और वर्तमान में भी हो रहे हैं, महासागरीय निक्षेप कहलाते हैं। ये निक्षेप 1/250 मिमी. व्यास से भी कम अत्यधिक महीन व अस्फुट पंक कणों से लेकर 256 मिमी. व्यास के गोलाश्मों तक होते हैं। इन निक्षेपों में निर्जीव तत्त्व जैसे बालू, चीका, ज्वालामुखी राख तथा अनेकों खनिज पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त जीवाश्म व अनेकों वनस्पतियों के अंश भी निक्षेपों का निर्माण करते हैं। गहन सागरीय निक्षेपों के बारे में सर जॉन मरे के परीक्षण महत्वपूर्ण हैं जो ब्रिटिश जलयान 'चैलेंजर' के माध्यम से किये गये थे।

गहन महासागरों का कोई भी ऐसा भाग नहीं है जहां असंगठित पदार्थों के निक्षेप की मोटी परत न जमी हो। कुछ पदार्थ स्थल से परिवहन कारकों द्वारा महासागरों में स्थानांतरित कर दिए जाते हैं। महासागरों में जीवाश्म, वनस्पतियों के अंश तथा समुद्री ज्वालामुखी निस्रत पदार्थों से निक्षेप निर्मित होते हैं। इसके अतिरिक्त उल्का धूल के गिरने से भी अल्प मात्रा में निक्षेपों का निर्माण होता है। अतः निक्षेपों के निर्माण में सहायक पदार्थों के स्रोत स्थान (स्थल, महासागर तथा अन्तरिक्ष) तथा उनके गुणों के आधार पर निक्षेपों को वर्गीकृत किया गया है।

महासागरीय निक्षेपों को स्थलीय ज्वालामुखी, सागर संप्राप्त, आकाशीय निक्षेपों में वर्गीकृत किया गया है।

हिमानियाँ, नदियाँ, वायु एवं सागरीय तरंगें अनन्त काल से स्थलीय भागों का अपरदन कर तलछट को महासागरीय तली में सतत् निक्षेपित करती चली आ रही हैं। इस तरह जो पदार्थ स्थल से प्राप्त होता है वह स्थलीय निक्षेप कहलाता है। साधारणतः स्थलीय निक्षेप अपने आकार और घनत्व के आधार पर तट से लेकर मग्नतट के अन्तिम छोर तक अधिकांश मात्रा में पाया जाता है। इनका विस्तार मग्नतट की चौड़ाई पर आधारित रहता है। तट से दूरी के साथ सागरीय निक्षेपों के कणों का आकार छोटा होता जाता है। तट के समीप बड़े आकार के, उथले सागरों में मध्यम आकार के तथा गहरे महासागरीय भागों में अत्यन्त सूक्ष्म आकार के पदार्थों से बने निक्षेप मिलते हैं।

निक्षेपों के आकार और प्रकार के आधार पर इन्हें भी वर्गीकृत किया जा सकता है :
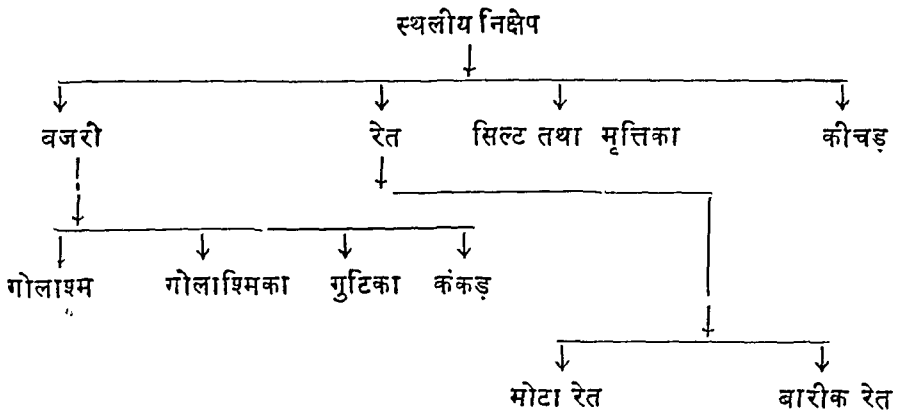
हिमानियाँ अपने साथ विभिन्न आकार की बजरी जो कि 2 से 256 मिमी. व्यास तक होती है, महासागरों तक ले जाकर तटवर्ती भागों में बिखेर देती हैं। इसके अतिरिक्त लहरों के प्रखर थपेड़े चट्टानी तटों को काटते रहते हैं। इस भांति गोलाश्म, गोलाश्मकाएं गुटिका और बड़े आकार की बजरी तटवर्ती भागों में जमा हो जाती है। नदियाँ भी भारी पदार्थों को जैसे बारीक बजरी और कंकड़ों को महासागरों में दूर तक न ले जाकर तटवर्ती भागों में छोड़ देती हैं। इस प्रकार तटवर्ती भागों में बड़े आकार के कणो के निक्षेप मिलते हैं। ये निक्षेप मग्नतटों व उथली खाड़ियों में विशेष रूप से पाए जाते हैं।

वायु व द्रुतगामी नदियाँ अपने साथ रेत को बहाकर और उड़ाकर महासागरों में निक्षेपित कर देती हैं। रेत के कणों का व्यास 1 से 1/16 मिमी. तक होता है। ऐसे निक्षेप अधिकांश रूप से महासागरीय ढालों पर पाये जाते हैं। पहले मोटे और बाद में बारीक रेत के निक्षेप मिलते हैं।

तीव्रगामी नदियो एवं वायु द्वारा खनिजों के सूक्ष्म कण महासागरों में प्रवाहित किये जाते हैं जो लहरों द्वारा गहन सागरीय भागों तक पहुँचा दिए जाते हैं। इनमें से कोमल एवं घुलनशील तलछट तथा मृत्तिका के कण रासायनिक क्रिया द्वारा कीचड़ का रूप लेते हैं। सिल्ट के कणो का व्यास 1/30 से 1/256 मिमी. तथा मृत्तिका के कणों का व्यास 1/512 से 1/8192 मिमी. तक होता है।

बालू के अत्यधिक सूक्ष्म कण, खनिजों के सूक्ष्म तत्त्व तथा चिकनी मिट्टी का मिश्रण कीचड़ होता है। महासागरों में पंक के निक्षेप 180 मीटर गहराई के पश्चात् गहन सागरीय भागों में पाए जाते हैं। कीचड़ के कणों का व्यास 1/16384 से 1/25000 मिमी. तक होता है।

स्थल एवं सागरो से प्राप्त पदार्थों से भी निक्षेपों का निर्माण होता है। ज्वालामुखी द्वीपों के समीप महासागरों के बड़े क्षेत्रों में ज्वालामुखी पदार्थ निक्षेपित हो जाते हैं। नदियों की अपेक्षा पवन ज्वालामुखी राख को दूर सागरीय भागों तक ले जाती है। अतः तटीय भागों की अपेक्षा गहन सागरीय भागों में राख के छोटे कण मिलते हैं। स्थलीय ज्वालामुखी पदार्थों के अतिरिक्त सागरीय ज्वालामुखी उद्गारों से भी अनेकों पदार्थ प्राप्त

होते हैं जो समीप ही के जल में निक्षेपित हो जाते हैं। इनमें खनिज कणों की अधिकता होती है।

ज्वालामुखी निक्षेपों का रंग भूरा, स्लेटी या हल्का काला होता है। जल के लम्बे सम्पर्क से वह रासायनिक क्रिया द्वारा नीले रंग की कीचड़ हो जाती है। ज्वालामुखी निक्षेप प्रशान्त महासागर के चारों ओर तथा भूमध्य सागर में मुख्यतः मिलते हैं।

जैविक निक्षेप केवल समुद्रों से ही प्राप्त होता है। सागरीय जीव-जन्तु एवं वनस्पतियों के अवशेष तली में निक्षेपित होते रहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—नेरेटिक एवं पैलेजिक।

नेरेटिक निक्षेप ऐसे जलजीवों तथा वनस्पतियों का मिश्रण है जो उथले सागरीय भागों में पनपते हैं तथा वहीं समाप्त होकर अपने अवशेषों से निक्षेपों का निर्माण करते हैं। ये निक्षेप 'बैन्थिक जीवों' के खोलों तथा अन्य बड़े जलजीवों के अवशेष तथा अस्थि-पंजरों से बनते हैं। इसके अतिरिक्त नेरेटिक निक्षेपों में अम्लयुक्त वनस्पतियों का भी समयोग होता है। अतः इनमें चूने की मात्रा अधिक होती है तथा कार्बनिक तत्त्व भी मिलते हैं।

ये निक्षेप जलवायु (तापमान एवं लवणता) तथा जलधाराओं की स्थानीय अवस्थाओं के कारण परिवर्तित होते रहते हैं। उदाहरणार्थ प्रवाल जलजीव उथले एवं गर्म समुद्रों में पाये जाते हैं तथा प्रवाल भित्तियों के समीप ही इनके अवशेष भी रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा 'प्रवाल कीचड़' में परिवर्तित हो जाते हैं। नेरेटिक निक्षेप विशेष रूप से मग्न तटों पर ही पाए जाते हैं। अतः इनके ऊपर स्थलीय पदार्थों की एक पतली परत जमी रहती है जिससे ये दृष्टिगोचर नहीं होते। किन्तु तट से कुछ दूर ये स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं। ये निक्षेप महासागरों की तली के 10% भाग पर जमे हुए हैं।
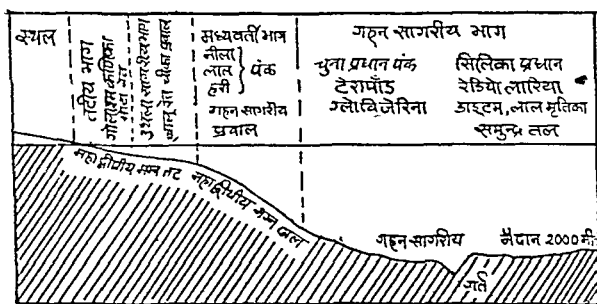
चित्र 27·1- समुन्द्री निक्षेपों का पार्श्व चित्र

पैलेजिक निक्षेप गहन एवं गम्भीर सागरीय तलियों का मुख्य पदार्थ है जो नेरेटिक निक्षेप की तुलना में अधिकांश भागों में विस्तृत है। ये निक्षेप मुख्य रूप से प्लैंकटन जीवों के अवशेष, लाल मृत्तिका तथा उल्का धूल से निर्मित होते हैं। अतः इनमें जैविक तथा अजैविक दोनों ही तत्त्वों का मिश्रण होता है। गहन सागरीय भागों के असंख्य जीवों के अवशेषों के मिश्रण से पंक का निर्माण हुआ है। पंक मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है—(1) चूना प्रधान तथा (2) सिलिका प्रधान। पंक में घुलनशील एवं अघुलनशील दोनों गुण विद्यमान रहते हैं। चूना प्रधान अर्थात् कैलशियम कारबोनेट पंक सिलिका प्रधान पंक से

अधिक घुलनशील होती है। अतः चूना प्रधान पंक सिलिका प्रधान पंक की अपेक्षा कम गहरे जल में पाई जाती है। लेक ने पैलेजिक निक्षेपों का निम्न वर्गीकरण किया है :
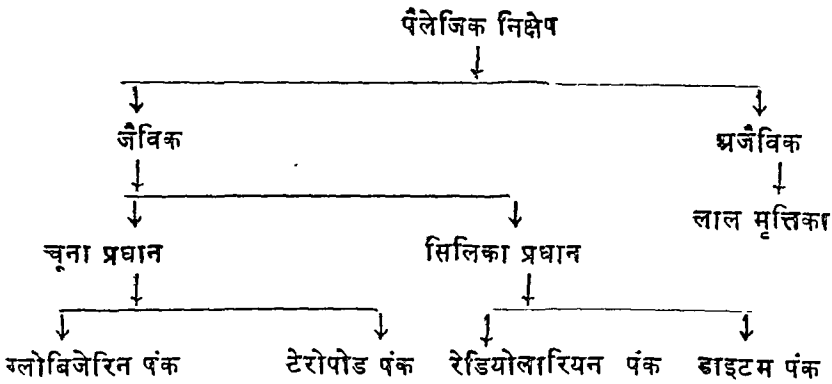
ग्लोबिजेरिन पंक महासागरों के 36 प्रतिशत क्षेत्र पर फला हुआ है तथा अटलान्टिक महासागर का लगभग आधा भाग इसके अन्तर्गत है। प्रशान्त महासागर के पूर्वी भाग तथा हिन्द महासागर के पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही भागों में फैला हुआ है। उत्तर में यह 70° उ. अक्षांश से लेकर दक्षिण में 60° द. अक्षांशों के मध्य पाया जाता है। उत्तर में इसका विस्तार गर्म जलधाराओं के कारण अधिक है। गर्म तथा ठण्डी धाराओं के संगम स्थल पर यह प्रचुरता से मिलता है। यह पंक लगभग 13.28 करोड़ वर्ग किमी. क्षेत्र में फैला हुआ है जिसमें से 5.1 करोड़ वर्ग किमी. प्रशान्त, 4.7 करोड़ वर्ग किमी. अटलान्टिक और 3.4 करोड़ वर्ग किमी. हिन्द महासागरों मे विस्तृत है। यह पंक 5000 मीटर से अधिक गहराई पर नहीं पाया जाता है।
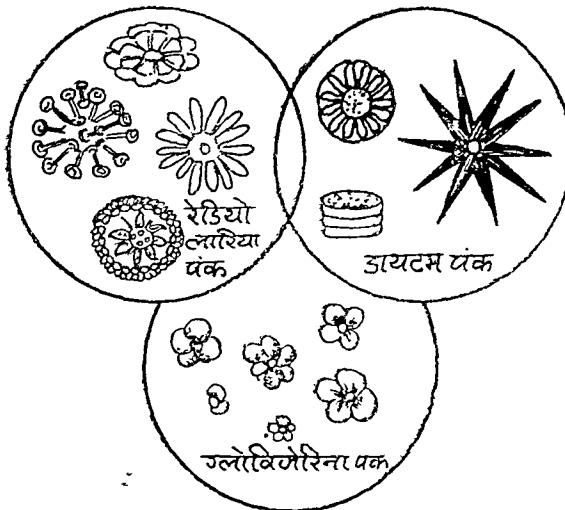
चित्र 27·2 गहन सागरीय निक्षेपों (पंक) की प्रतिकृति

टेरोपोड पंक 1500 से 3000 मीटर की गहराई तक पाए जाते हैं। इनका मुख्य क्षेत्र उष्ण कटिबन्ध है। यह प्रशान्त के पश्चिमी तथा पूर्वी किनारे पर, कनारी

द्वीप के समीप भूमध्य सागर में तथा अटलान्टिक महासागर की कटक के ऊपर मूँगे वाले क्षेत्रों तथा कहीं-कहीं महाद्वीपीय द्वीपों के किनारे तथा जलमग्न पठारों पर पाये जाते हैं।

रेडियोलारिया सिन्धु पंक 5400 मीटर गहराई तक पाये जाते हैं तथा इससे गहरे सागर में लाल मृत्तिका मिलती है। रेडियोलारिया सिन्धु पंक का विस्तार 5^0 उत्तरी अक्षांश से 15^0 उत्तरी अक्षांश के मध्य उत्तरी विषुवत रेखीय गर्म जल धारा के कटिबन्ध में 170^o पश्चिमी देशान्तर के पूर्व में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त हिन्देशिया के समुद्र तथा कहीं-कहीं हिन्द महासागर में भी पाया जाता है। यह मुख्यतः प्रशान्त महासागर के उष्ण कटिबन्धीय गहरे जल में मिलता है। यह महासागरों के 3.4 प्रतिशत क्षेत्र में फैला हुआ है।

डाइटम सिन्धु पंक का रंग हल्का पीला होता है। इसमें सिलिका की अत्यधिक मात्रा होती है, किन्तु उच्च अक्षांशों में हिमशिलाएँ तैरती हुई गहन सागर में अपने साथ खनिज कण भी ले जाती हैं जिनके पिघलने पर वह तली में बैठ जाते हैं। अतः इसमें 3 से 25 प्रतिशत खनिज कण भी मिलते हैं।

डाइटम सिन्धु पंक का विस्तार अण्टार्कटिका के चारों ओर 45° दक्षिणी अक्षांश से 60^o दक्षिणी अक्षांशो के बीच पाया जाता है। ग्लोबिजेरिना तथा डाइटम की सीमा रेखा अण्टार्कटिक अभिसरण है। उत्तर में यह जापान तथा अलास्का के मध्य पाया जाता है। उत्तरी ध्रुव सागर में शीतल जल में काफी दिनों तक रह चुकी ह्वेल की त्वचा पर पीले रंग का डाइटम विकसित हो जाता है जिसके फलस्वरूप इसको सल्फर बोटम से सम्बोधित करते हैं। समस्त महासागरों के कुल क्षेत्रफल के 6.4 प्रतिशत क्षेत्र में डाइटम सिन्धु पंक विस्तृत है।

जैव निक्षेप के अतिरिक्त भी महासागरों की तली पर अजैव निक्षेप बड़ी मात्रा में पाया जाता है। नदियाँ, वायु, हिमानी तथा महासागरीय तरंगें स्थल भागों को अपरदित कर बड़ी मात्रा में तलछट महासागरीय तली पर एकत्रित करती रहती हैं। यह क्रम अनन्त काल से चला आ रहा है। अतः वर्तमान में अजैविक निक्षेप की हजारों मीटर मोटी परत महासागरों की तली पर जमी हुई है। वायु ज्वालामुखी राख को महासागरों पर बिखेर देती है जो शनैः-शनैः जल में डूबती हुई अन्त में तली पर जाकर जम जाती है। इसी प्रकार उल्का धूल भी कुछ मात्रा में तली पर निक्षेपित हो जाती है। इन पदार्थों में डोलोमाइट, रवाहीन सिलिका, लोहा, मैगनीज ऑक्साइड, फास्फेट, बाइराइट के सूक्ष्म कण मिले रहते हैं। इसके अलावा भी समुद्रों में फेल्सपार, फास्फोराइट, फिलिपसाइट आदि पदार्थ भी पहुँचते हैं। जल में रासायनिक क्रिया द्वारा यह सभी अजैविक पदार्थ जैविक पदार्थों में घुल मिल जाते हैं, परिणामस्वरूप उनको अलग-अलग करना कठिन हो जाता है।

स्थलीय भागों में परिवर्तन लाने वाले बलों द्वारा अजैविक पदार्थों का निरन्तर स्थानान्तरण होता रहता है इसलिए यह धूल में मिलकर अपने अस्तित्व को खो देते हैं, किन्तु गहन समुद्रों की तली में यह सुरक्षित रहते हैं जिनको पहचाना जा सकता है। इनको मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—लाल मृत्तिका तथा उल्का धूल।

लाल मृत्तिका—सभी महासागरीय निक्षेपों की अपेक्षा अधिक क्षेत्र में विस्तृत है। यह लगभग 10.2 करोड़ वर्ग किमी. अर्थात महासागरों के 38% क्षेत्र में गहन सागरीय तल पर फैली हुई है। रासायनिक रूप से यह आग्नेय शैल की संरचना से मिलती-जुलती

सारणी 5

माहसागरों में जल जीवों के निक्षेपों का वितरण

(10 लाख वर्ग किमी. में)

	अटलान्टिक महासागर		प्रशान्त महासागर		हिन्द महासागर		कुल योग	
	क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत
चूना प्रधान पंक								
1. ग्लोबिजेरिना	40.1	—	51.9	—	34.4	—	—	—
2. टेरोपोड	1.5	—	—	—	—	—	—	—
कुल	41.6	67.5	51.9	36.2	34.4	54.3	127.9	47.7
सिलिका प्रधान पंक								
1. डाइटम	4.1	—	14.4	—	12.6	—	—	—
2. रेडियोलेरिया	—	—	6.6	—	0.3	—	—	—
कुल	4.1	6.7	21.0	14.7	12.9	20.4	38.0	14.2
लाल मृतिका	15.9	25.8	70.3	49.1	16.0	16.0	102.2	38.1
कुल योग	61.6	100.0	143.2	100.0	63.0	100.0	263.1	100.0

है। किन्तु इसमें एलुमिनियम, लोहा, मैंगनीज तथा मैग्नेशियम की मात्रा अधिक होती है। इसमें एलुमिनियम का जलयौति सिलिकेट तथा लौह का आक्साइड होता है जिससे इसका रंग लाल या भूरे चाकलेट की भाँति होता है। अगाध सागरीय क्षेत्रों में कैल्शियम कार्बोनेट का अभाव रहता है। यों कैल्शियम कार्बोनेट की मात्रा 7 से 10 प्रतिशत रहती है, किन्तु कुछ स्थानों पर यह 20 प्रतिशत तक पाई जाती है। सिलिका की औसत मात्रा 0.7 से 2.4 के बीच रहती है।

लाल मृत्तिका ज्वालामुखी राख के विघटन से बनती है। इसका मुख्य घटक ज्वाला मुखी लावा (Pumica) है जो जल की रासायनिक क्रिया से बनता है। ज्वालामुखी राख के अतिरिक्त इसमें उल्का धूल भी कुछ मात्रा में मिली रहती है। अजैव तत्वों के अलावा इसमें जैव तत्त्व जैसे शार्क के दांत तथा ह्वेल मछलियों के कान की हड्डियाँ भी मिश्रित रहती हैं। इसका भौतिक स्वरूप बहुत ही कोमल, चिकना और लचीला होता है।

लाल मृत्तिका की औसत गहराई लगभग 5000 मीटर तक मिलती है। यह अधिकांशत: गहन सागरीय मैदानों, द्रोणियों तथा गर्तों में पाई जाती है। प्रशान्त महासागर के लगभग आधे तथा अटलान्टिक और हिन्द महासागरों के लगभग चौथाई भागों में यह मृत्तिका फैली हुई है। अटलान्टिक महासागर में 10° उ.0 अक्षांश से 4° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य तथा हिन्द महासागर के मध्य और पूर्वी क्षेत्रों में इसका अधिक विस्तार पाया जाता है।
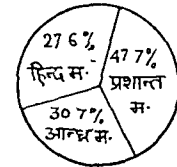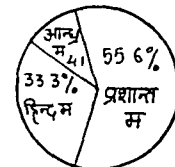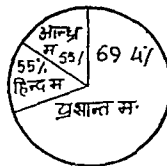
चित्र 27·3 तीन प्रधान महासागरों में सिन्धु पंक तथा मृत्तिका (स्वेरड्रप के आधार पर)

आकाशीय निक्षेप में उल्का धूल है जो सूक्ष्म कणों और राख के रूप के पृथ्वी पर गिरती रहती है। स्थलीय भाग में धूल और मिट्टी में मिलने तथा वायु और वर्षा द्वारा परिवहन करने के कारण यह दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु महासागरीय भागों में इसका निक्षेप उल्लेखनीय है। उल्का धूल में मुख्यत: लौह के कण तथा अन्य खनिज विद्यमान रहते हैं। यह कुछ श्याम वर्ण का होता है। किन्तु जब यह लाल मृत्तिका के साथ मिश्रित हो जाता है तो इसको पृथक रूप से पहचानना कठिन हो जाता है।

गहन सागरीय निक्षेपों के जमने की गति अत्यन्त मन्द होती है। किंग के अनुसार डाइटम पंक के जमने की गति 0.7 सेन्टीमीटर, ग्लोबीजेरिना पंक 4 सेमी. तथा लाल मृत्तिका की 0.4 से 1.3 सेमी. प्रति 1000 वर्ष है। साधारणतः सागरों में तलछट जमने की औसत गति 0.5 सेमी. प्रति 1000 वर्ष है। किन्तु अटलान्टिक में प्रशान्त की अपेक्षा जमने की गति अधिक है। अतः जितने समय में अटलान्टिक महासागर में 1000 मीटर तलछट जमेगा उतने ही समय में प्रशान्त महासागर में 200 से 400 मीटर जमेगा। इस प्रकार अटलान्टिक में प्रशान्त की अपेक्षा जमने की गति $2\frac{1}{2}$ से 5 गुनी अधिक है।

ध्वनिकरण यन्त्रों के प्रयोग से पता चलता है कि प्रशान्त महासागर में लगभग 20,000 वर्षों में 2.5 सेमी. मोटे निक्षेप की परत जम जाती है। किन्तु तलछट के जमने की गति अटलान्टिक में प्रशान्त की तुलना में 10 गुनी अधिक है। अटलान्टिक महासागर के कुछ भागों में निक्षेप की मोटाई 3,600 मीटर तक है, जिसे जमने में 25 से 30 करोड़ वर्ष लगे होंगे।

महाद्वीपों के निकट मग्न तटों पर मुख्यतः स्थलीय निक्षेप ही पाया जाता है। यह बात नहीं कि यहाँ पर सागरीय जीवों के निक्षेप न मिलते हों किन्तु स्थलीय निक्षेप की बहुलता के कारण यह ढक जाते हैं। इसके विपरीत महासागरों की गहराइयों की ओर स्थलीय निक्षेप कम होता जाता है तथा जैविक अवशेष की प्रधानता बढ़ती जाती है। सागरीय निक्षेपों को स्थिति तथा गहराई के आधार पर विभक्त किया जा सकता है: तटवर्ती निक्षेप, उथले सागरीय कटिबन्ध के निक्षेप, गहन सागरीय कटिबन्ध के निक्षेप, अगाध सागरीय कटिबन्ध के निक्षेप आदि।

तटवर्ती निक्षेप लघु और दीर्घ ज्वार के मध्यवर्ती क्षेत्र में मिलता है। इस भाग में गोलाश्म, बजरी, ककड़, क्वार्टज़ और मोटी रेत बिछी रहती है जिनको मुख्य रूप से हिमानी, नदियाँ और वायु लाकर जमा कर देती हैं। तटवर्ती निक्षेप में नेरेटिक तत्त्व भी मिश्रित रहते हैं क्योंकि इसमें तटवर्ती जलजीवों के अवशेष पाये जाते हैं। किन्तु जैव अवशेष स्थलीय निक्षेप की परत के नीचे ढके रहते हैं। तटवर्ती निक्षेपों का विस्तार सागर तल के केवल 2 प्रतिशत भागों में ही मिलता है।

उथले सागरीय कटिबन्ध का निक्षेप लघु ज्वार तथा 180 मीटर गहराई के भागों तक मुख्य रूप से मग्नतटों पर मिलता है। महासागरों के इस भाग में भी स्थलीय निक्षेप की मात्रा अधिक रहती है। इस भाग में जैव एवं अजैव दोनों ही सामग्री पाई जाती है। उथले सागरीय भागों में नेरेटिक निक्षेप की मात्रा बढ़ जाती है। किन्तु इस भाग में भी स्थलीय निक्षेप की बहुलता रहती है। इस निक्षेप में रेत, चीका तथा प्रवालों के जमाव अधिकांश रूप से मिलते हैं।

गहन सागरीय कटिबन्ध का निक्षेप 180 मीटर की गहराई से लेकर 2195 मीटर (1200 फैदम) की गहराई के बीच महाद्वीपीय मग्न ढाल पर पाया जाता है।

सूर्य का प्रकाश कम प्राप्त होने से यहाँ नेरेटिक निक्षेप का अभाव होता है तथा स्थलीय सामग्री भी कुछ मात्रा में वायु द्वारा इस स्थान तक पहुँचाई जाती है। मग्नतट के पश्चात् मग्न ढाल पर कार्बनिक पदार्थ तथा कैल्सियम युक्त जीवों के अवशेष प्राप्त होने

सारणी 2—आर्थर होम्स का वर्गीकरण

सामग्री का प्रकार/ निक्षेप का कटिबन्ध	स्थलीय निक्षेप	रासायनिक एवं जैविक अवक्षेप	जैविक निक्षेप	
			अगंभीर सागर (मुख्य रूप से नितल के जीव)	गम्भीर सागर (मुख्य रूप से परिप्लावी जीव)
तटवर्ती कटिबन्ध	बदृढ़ राशि बजरी	ओलाइट रेत चूनायुक्त पंक	कवच बजरी तथा कवच रेत	
अगंभीर सागरीय कटिबन्ध	रेत पंक	चिपकने वाला पदार्थ	प्रवाल भित्ति एवं प्रवाल रेत	
गंभीर सागरीय कटिबन्ध	गंभीर कटिबन्ध की गहरी सागरीय पंक हरी, काली तथा नीली पंक ज्वाला-मुखी पंक (परिप्लावी जीवो के विभिन्न अवशेषों सहित) (15%)	चिपकने वाले पदार्थ	प्रवाल पंक	गहरे सागर—अगाध कटिबन्ध की सिन्धु पंक टेरोपोड, ग्लोबिजेरिना डाइ-टम तथा रेडियो-लारियन सिन्धु पंक (41%) विभिन्न स्रोतों से अघुलनशील अवशेष—लाल पंक (34%)

कोष्ठक के अंक समुद्र तल के विभिन्न निक्षेपों से ढके क्षेत्रफल को प्रतिशत में प्रदर्शित करते हैं।

लगते हैं। महासागरों के इस क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की कीचड़ मिलती है। इनमें से नीली कीचड़ विस्तृत क्षेत्र पर पाई जाती है। इसके पश्चात् क्षेत्रफल के आधार पर लाल और हरी कीचड़ का स्थान आता है। इसके अतिरिक्त उभरे जलमग्न भागों में प्रवालों के अवशेष भी मिलते हैं।

अगाध सागरीय भागों में जल स्थिर और अन्धकार पूर्ण रहता है तथा तापमान 1.5° सेग्रे. पाया जाता है। विभिन्न गहराइयों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की पंक मिलती हैं।

पंक	गहराई (मीटर में)
टेरोपोड	2072
ग्लोवीजेरिना	3612
डाइटम	3900
रेडियोलारियम	5000

5000 मी. गहराई के पश्चात् लाल मृत्तिका का विस्तृत क्षेत्र प्रारम्भ होता है जो गहरे से गहरे गर्तों में पाई जाती है। 5000 मी. की गहराई के पश्चात् जलजीव नहीं पनपते। अतः इस गहराई के बाद केवल अजैव पदार्थ ही मिलते हैं जो ज्वालामुखी राख और उल्का धूल के विघटन से बने होते हैं।

आर्थर होम्स द्वारा महासागरीय निक्षेपों के स्थानों के आधार पर वर्गीकरण किया गया है जो पृष्ठ 596 पर दिया गया है।

महासागरीय निक्षेप का क्षैतिज वितरण

स्वेरड्रूप ने संसार के मानचित्र में महासागरीय निक्षेपों का क्षैतिज वितरण प्रदर्शित किया है। स्थलीय निक्षेप मुख्यतः मग्नतट तथा कुछ सीमा तक मग्न ढाल तक ही सीमित रहता है। स्थलीय निक्षेप का वितरण मग्नतट की चौड़ाई पर आधारित रहता है। उत्तरी ध्रुवीय महासागर, उत्तरी अटलान्टिक महासागर, इण्डोनेशियायी द्वीपों के चारों ओर, लेब्राडोर तट तथा उत्तरी-पूर्वी उत्तरी अमेरिका के किनारे मग्नतट का पर्याप्त विस्तार है जहाँ स्थलीय निक्षेप अधिक मात्रा में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थलीय निक्षेप का मुख्य स्रोत नदियाँ हैं। अटलान्टिक महासागर में अधिक नदियाँ गिरती हैं, अतः प्रशान्त की तुलना में यहाँ दस गुना स्थलीय निक्षेप पाया जाता है।

महासागरीय जलजीवों को पनपने के लिए ताप की आवश्यकता होती है जो गहराई तथा ध्रुवों की ओर घटता जाता है। 'रेडियोलारिया सिन्धु पंक' उष्ण कटिबन्धीय जीव का अवशेष है जो 5° उ. अक्षांश से 15° उत्तरी अक्षांशों के मध्य अधिकांश रूप से पाया जाता है। डाइटम सिन्धु पंक का विस्तार शीतोष्ण कटिबन्ध में 45° द. अक्षांश से 60° द. अक्षांश के मध्य अण्टार्कटिका के चारों ओर पाया जाता है। ग्लोवीजेरिना सिन्धु पंक उष्ण एवं शीतोष्ण दोनों ही कटिबन्धों में पाया जाता है। यह अधिकांशतः अटलान्टिक महासागर में है। प्रशान्त महासागर के दक्षिणी-पूर्वी तथा दक्षिणी-पश्चिमी भाग तथा हिन्द महासागर के पश्चिमी किनारे पर ग्लोवीजेरिना सिन्धु पंक का विस्तार मिलता है। दक्षिणी प्रशान्त महासागर में इसका अभाव है। टेरोपोड सिन्धु पंक उष्ण कटिबन्ध में

मिलता है। ये अटलान्टिक महासागर के ऊँचे भागों पर विस्तृत है। इसके अतिरिक्त प्रशान्त के पूर्वी और पश्चिमी किनारे और कहीं-कहीं प्रवाल प्रधान क्षेत्रों में मिलता है। लाल मृत्तिका सभी महासागरीय गहन तली पर मिलती है।
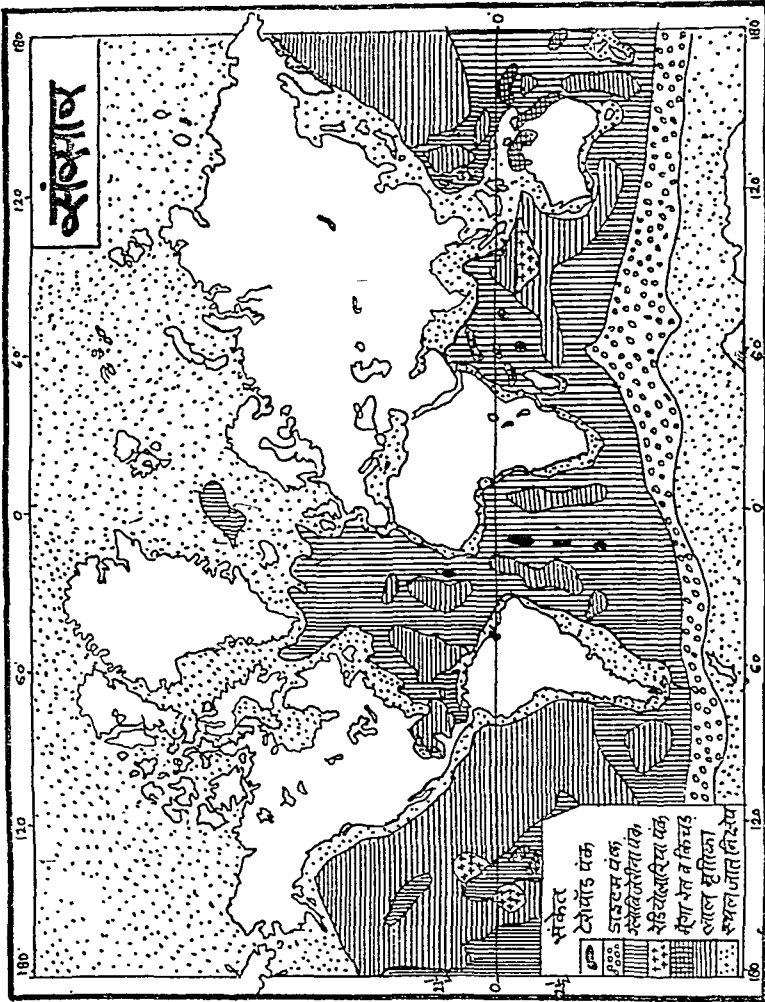
चित्र 27.4-महासागरीय निक्षेपों का विवरण

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Cotter, H. C. (1965), The Physical Geography of Oceans (Hollis and Carter, London).
2. Holmes, A. (1965), The Principles of Physical Geology (The English Language Book Society, Nelson).
3. King, C. A. M. (1969), Oceanography for Geographers (Edward Arnold Ltd., London).
4. Kuenen, P. H. (1952), Submarine Geology (John Wiley and Sons, London).

5. Lake, P. (1936), Physical Geography (Cambridge University Press, London).
6. Monkhouse, F. J. (1955), The Principles of Physical Geography (University of London Press Ltd., London).
7. Sharma, R.C. and Vatal, N. (1962), Oceanography for Geographers (Chaitanya Publishing House).
8. Sverdrup, H. V., Johnson, M. W., Fleming, R. H. (1942), The Oceans, their Physics, Chemistry and General Biology (Prentice Hall, New York).

28

समुद्री जल की संरचना
[Composition of Sea-water]

समुद्री जल की संरचना

समुद्री जल की संरचना में ताप, लवणता और घनत्व का महत्वपूर्ण योगदान है। जिस प्रकार वायुमण्डल में ताप और दाब के अन्तर से वायु में गति का संचार होता है, उसी प्रकार समुद्री-जल में भी ताप, लवणता और घनत्व की विभिन्नता से हर पल गति रहती है, फलस्वरूप जल स्वच्छ रहता है। इन तीनों बातों का जल-जीवों के अस्तित्व पर प्रभाव पड़ता है तथा उनके आकार और प्रकार में भी विभिन्नता आती है।

महासागरीय जल का तापमान

महासागरीय ताप, जल की लवणता और घनत्व दोनों को ही प्रभावित करता है। यदि ताप अधिक होता है तो लवणता तथा घनत्व दोनों ही घट जाते हैं, किन्तु ताप के घटने से स्थिति विपरीत हो जाती है। ताप के कारण महासागरों में वाष्पीकरण होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार महासागरीय तल से लगभग 93 सेन्टीमीटर जल की मात्रा का प्रतिवर्ष वाष्पीकरण हो जाता है जिससे स्थलीय भागों में वर्षा होती है।

वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा समुद्री-जल का ताप $\pm 0.02°$ से.ग्रे. की शुद्धता तक मापा गया है। वैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि सागर का तापान्तर -2^0 से.ग्रे. से $+30^0$ से.ग्रे. तक रहता है। सागर की सतह एवं उथले जल का तापमान लेना तो सरल है किन्तु गहरे भागों का तापमान ज्ञात करने की प्रक्रिया कुछ जटिल है। सागर-सतह व उथले जल का तापमान बाल्टी में जल लेकर या जलपोत से सागर में तापमापी डालकर लिया जा सकता है। किन्तु गहरे भागों में प्रतिवर्ती तापमापी का प्रयोग किया जाता है। इस विधि में नानसेन बोतल तथा इकमन बोतल उल्लेखनीय है। इन बोतलों में तापमापी लगे होते हैं। वांछित गहराई पर बोतलें उल्टी हो जाती हैं तथा इनमें पानी भर जाता है। पानी भरते ही बोतलों के मुँह स्वयं ही बन्द हो जाते हैं, और इस प्रकार बोतल में लगे तापमापी द्वारा वांछित गहराई के जल का तापमान ज्ञात हो जाता है।

ताप का स्रोत

पृथ्वी सौर विकिरण द्वारा ताप प्राप्त करती है। सूर्य की किरणें जल में 20 मीटर गहराई तक प्रवेश कर पाती हैं तथा सागर को संवाहन द्वारा गर्म रखती हैं। जल का

विशिष्ठ ताप स्थल की तुलना में पांच गुना अधिक है। अतः जल स्थल की तुलना में देर से गर्म और देर से ठण्डा होता है। समान समय में स्थल की अपेक्षा जल अधिक गर्म हो जाता है। किन्तु सागर के ताप की अधिकांश शक्ति जल को गर्म करने और वाष्पीकरण की क्रिया द्वारा ह्रास हो जाती है। कुछ ताप सागर-तल से परावर्तन के कारण कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त महासागरों पर स्थल की अपेक्षा आकाश अधिक मेघाच्छादित रहता है। अतः यहां सौर विकिरण कम हो पाता है। स्थल की अपेक्षा सागर द्वारा अधिक ताप ह्रास के कारण ही ब्लेअर (Blair) ने महासागरों की विशेषता यह कह कर व्यक्त की है "कि महासागर उदार हैं जबकि भूमि रूढ़िवादी है।"

महाद्वीपों के नीचे रेडियो सक्रियता के कारण महासागरों की अपेक्षा अधिक ताप रहता है। यद्यपि महासागरों के ताप का मुख्य स्रोत सूर्य है किन्तु इनको कुछ अंशों तक भूगर्भ से भी ताप प्राप्त होता है।

भूमध्य रेखा पर सौर विकिरण सर्वाधिक होता है जो उत्तर और दक्षिण की ओर सूर्य की तिरछी किरणें होने के कारण कम होता जाता है। ब्लेअर के अनुसार भूमध्य रेखा पर जितने ताप की प्राप्ति होती है उसका 88 प्रतिशत 33° अक्षांश पर, 68 प्रतिशत 55^0 पर, 47 प्रतिशत 70^0 पर तथा 42 प्रतिशत ध्रुवों पर प्राप्ति होती है।

पृथ्वी अपने अक्ष पर $23\frac{1}{2}^0$ झुके हुए परिभ्रमण करती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है जिसके कारण दिन की अवधि में अन्तर आता है। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर दिन की अवधि घटती जाती है। दिन की अवधि के घटने के साथ-साथ सौर विकिरण कम होता जाता है। ध्रुवों के निकट छः महीने की रात और छः महीने का दिन होवे हुए भी सूर्य की अनुप्रस्थ किरणों के कारण ताप का असाधारण ह्रास होता है और ध्रुवों पर सागर जमे रहते हैं।
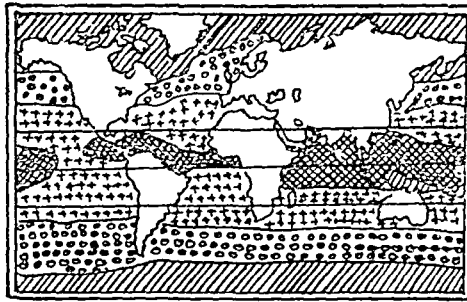
26 से॰मी॰ से अधिक　15 से 26 तक
4 से 15 तक　4 से॰मी॰ से कम

चित्र 28·1 - सागरों तथा महासागरों का वार्षिक माध्य तापमान

ऋतु परिवर्तन से भी महासागरों के ताप में अन्तर आता है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में चमकता है। अतः इस ऋतु में तापीय विषुवत रेखा भौगोलिक विषुवत रेखा के उत्तर में रहती है, फलस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध के महासागर दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागरों की अपेक्षा अधिक गर्म रहते हैं। शीत ऋतु में भी तापीय विषुवत रेखा कुछ भागों को छोड़कर भौगोलिक विषुवत रेखा के समीप उत्तर में ही रहती है अतः इस ऋतु में भी उत्तरी गोलार्द्ध के महासागर अपेक्षाकृत गर्म रहते हैं।

पृथ्वी पर महासागरों और महाद्वीपों का असमान वितरण है। उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा स्थल अधिक है। अतः देशान्तरीय भूमि अवरोध तथा वायुमण्डल-परिचलन के कारण उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा अधिक गर्म रहते हैं। इसके अतिरिक्त गर्म और ठण्डे स्थल खण्ड सागरीय ताप को प्रवाहित करते हैं जिसके फलस्वरूप उत्त ी गोलार्द्ध की समताप रेखाएं भी विकृत रहती हैं जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में महासागरों के अधिक विस्तार के कारण यह प्रायः समानान्तर रहती हैं।

बोहनेक के अनुसार अटलाण्टिक महासागर में प्रति 10° अक्षांश पर निम्न सारणी के अनुसार औसत तापमान रहता है :

सारणी 1

उत्तरी अक्षांश	तापमान (°सेग्रे. में)	दक्षिणी अक्षांश	तापमान (°सेग्रे. में)
70 से 60°	5 60	70–60°	—1.30
60 से 50°	8.66	60–50°	1.76
50 से 40°	13.16	50–40°	8.68
40 से 30°	20.40	40–30°	16.90
30 से 20°	24.16	30–20°	21.20
20 से 10°	25.81	20–10°	23.16
10 से 0°	26.66	10-0°	25.18

लघु एवं आंशिक परिवेष्टित समुद्रों की अपेक्षा खुले एवं विस्तृत महासागरों में वार्षिक तापान्तर अपेक्षाकृत कम पाया जाता है। आंशिक परिवेष्टित समुद्र स्थल से अधिक प्रभावित होते हैं जो ताप के लिए सुचालक हैं। अतः लघु आकार-विस्तार के समुद्रों का तापान्तर खुले और विस्तृत महासागरों की अपेक्षा अधिक रहता है।

गर्म एवं ठण्डी जलधाराएं सागरीय ताप को प्रभावित करती हैं। भूमध्य रेखा के उत्तर तथा दक्षिण में गर्म जलधाराएं पूर्व से पश्चिम की ओर बहती हैं। अतः महासागरों का पश्चिमी भाग पूर्वी भाग की अपेक्षा अधिक गर्म रहता है। इसके विपरीत महासागरों के पूर्वी भागों में ठण्डी जलधाराएं चलती हैं जिससे उष्ण कटिबन्धीय भागों में महासागरों का पूर्वी भाग पश्चिमी भाग की तुलना में ठण्डा रहता है।

उष्ण कटिबन्धों में व्यापारिक पवन पूर्वी तट पर स्थल से जल की ओर प्रवाहित होती हैं। अतः पवन के वेग से तट पर बहने वाली जलधारा तट से दूर हट जाती है। उस स्थान पर नीचे का शीतल जल ऊपर उठता रहता है। परिणामस्वरूप पूर्वी तट पर पश्चिमी तट की तुलना में उन्हीं अक्षांशों में तापमान कम रहता है।

प्लावी हिम-शैल ध्रुवों से 50° अक्षांश तक तैरती रहती हैं जिनको ठण्डी जल धाराएं सैकड़ों किलोमीटर बहा ले जाती हैं। ये हिम-शैल छोटे से लेकर कई किलोमीटर लम्बी और सैकड़ों मीटर मोटी होती हैं। इन प्लावी हिम-शैलों के पिघलने से महासागरों के तापमान में स्थानीय अन्तर आ जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में हिम-शैल साधारणतया

ग्रीनलैण्ड के पश्चिमी किनारे से टूटती हैं तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अंटार्कटिका से पृथक होती हैं। हिम शैलों के पृथक होने को हिम-पृथक्करण कहते हैं। अण्टार्कटिका की हिम-शैलें उत्तरी ध्रुव की हिम-शैलों की अपेक्षा अधिक बड़ी होती हैं।

लवणता के बढ़ने से विशिष्ठ ताप कम हो जाता है। किन्तु रुद्धोष्म तापन क्रिया के फलस्वरूप गहरी एकाकी द्रोणियों की नलियों में संपीडन से ताप बढ़ जाता है।

तापमान का क्षैतिज वितरण

जलवायु एवं विषुवत रेखा से दूरी महासागरों के ताप के क्षैतिज वितरण को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। विषुवत रेखा के समीप गर्म वायु महासागरों की सतह के जल को शीघ्र गर्म कर देती है जबकि ध्रुवों के समीप ठण्डी वायु जल के ताप का शीघ्रता से अवशोषण कर लेती है। अतः 0° से 10° अक्षांशों तक उत्तरी गोलार्द्ध में महासागरों का औसत तापमान 27° से.ग्रे. के आसपास रहता है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में यह लगभग 25° से.ग्रे. रहता है। 10° से 30⁰ उत्तरी अक्षांशों में तापमान का औसत 24° से 25° से.ग्रे. रहता है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में यह इन्हीं अक्षांशों में 17⁰ से 25⁰ सेग्रे. रहता है। दोनो गोलार्द्धों में 30⁰ अक्षांश के बाद तापमान शीघ्रता से गिरना प्रारम्भ कर देता है। स्वेरड्रप ने प्रति 10° अक्षांशों पर विभिन्न महासागरों के तापमान को पृष्ठ 604 की सारणी में अंकित किया है।

क्रुमेल के अनुसार महासागरों में 5⁰ उत्तरी अक्षांश के समीप अधिकतम तापमान रहता है तथा तापीय विषुवत रेखा का स्थानान्तरण दक्षिणी गोलार्द्ध में उपेक्षणीय है। सागर में समताप रेखाओं पर महाद्वीपों की स्थिति व आकार, वायु की दिशा, जलधाराओं की दिशा तथा समुद्रों के विस्तार और आकार का प्रभाव पड़ता है। साधारणतया उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में महासागरों के खुले और विस्तृत होने के कारण समताप रेखाएँ लगभग समानान्तर रहती हैं। अरब सागर में विशेष रूप से समताप रेखाएं अरब प्रायद्वीप के सहारे उत्तर से दक्षिण की ओर चलती हुई दक्षिणी हिन्द महासागर में अफ्रीका के सहारे मैडागास्कर तक जाती हैं जहाँ लगभग 10° दक्षिणी अक्षांश के समीप पश्चिम से पूर्व की ओर मुड़ कर इसके समानान्तर चलती हैं। हिन्द महासागर में पूर्व-पश्चिम विस्तार कम होने के कारण 20° उत्तरी अक्षांश से 10° दक्षिणी अक्षांश तक तीन चौथाई से अधिक भाग में 27° से.ग्रे. औसत तापमान रहता है जबकि इन्हीं अक्षांशो में अटलाण्टिक में 23° से 26° से.ग्रे. तथा प्रशान्त महासागर में 23° से 27° से.ग्रे. रहता है। अटलाण्टिक महासागर में विषुवत रेखा से उत्तर तथा दक्षिणी में 30° अक्षांशों तक समताप रेखाओं की दिशा गर्म धाराओं के कारण दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम रहती है जब कि प्रशान्त महासागर में पूर्व-पश्चिम अधिक विस्तार के कारण समताप रेखाओं में विकृति नहीं आती तथा यह सामान्यतया अक्षांशों के समानान्तर चलती हैं। गल्फस्ट्रीम की गर्म तथा लेब्राडर की ठण्डी जलधाराओं के कारण उत्तरी अटलाण्टिक में समताप रेखाएं एक दूसरे के समीप पाई जाती हैं। व्यापारिक पवन वर्ष भर केरीबियन सागर की ओर गर्म जल बहाकर ले जाती रहती हैं। अतः इस सागर का तापमान अपेक्षाकृत ऊँचा रहता है। इसी प्रकार भूमध्य सागर के आंशिक परिवेष्टित होने के कारण इसका तापमान 17 से 22° से.ग्रे. रहता है जबकि अटलाण्टिक का उन्हीं अक्षांशों में 13 से 17⁰ से.ग्रे. रहता है।

इसके विपरीत बाल्टिक सागर तथा हडसन की खाड़ी के तापमान अपेक्षाकृत नीचे रहते हैं।

सारणी 2
तापमान
(°सेण्टीग्रेड प्रतिवर्ष)

	अक्षांश	अटलांटिक महासागर	हिन्द महासागर	प्रशान्त महासागर
उत्तरी गोलार्द्ध	60—70° उ	5.60	—	—
	50—60° उ	8.66	—	5.74
	40—50° उ	13.16	—	9.99
	30—40° उ	20.40	—	18.62
	20—30° उ	24.16	26.14	23.38
	10—20° उ	25.81	27.23	26.42
	0—10° उ	26.66	27.88	27.20
दक्षिणी गोलार्द्ध	0—10° द	25.18	27.41	26.01
	10—20° द	23.16	25.85	25.11
	20—30° द	21.20	22.53	21.53
	30—40° द	16.90	17.00	16.98
	40—50° द	8.68	8.67	11.16
	50—60° द	1.76	1.63	5.00
	60—70° द	1.30	1.53	1.03

प्रशान्त महासागर में साधारणतया समताप रेखाएं अक्षांशों का अनुकरण करती हैं किन्तु गर्म और ठण्डी धाराओं के कारण इनमें कहीं-कहीं अपवाद आ जाता है। मध्य प्रशान्त महासागर में लगभग 160^0 पश्चिमी देशान्तर के समीप औसत समताप रेखा 20^0 उत्तरी और 18^0 दक्षिणी अक्षांशों के मध्य उत्तर-दक्षिण दिशा में मुड़ जाती है जिससे ताप के आधार पर प्रशान्त महासागर दो भागों में बंटा सा प्रतीत होता है। उत्तरी प्रशान्त

महासागर में कुरोशियो गर्म तथा ग्रायाशियो ठण्डी जलधाराओं के कारण जापान के निकट समताप रेखाएं एक दूसरे के निकट आ जाती हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल खण्डों के विरल होने के कारण प्रशान्त महासागर में समताप रेखाएं सामान्य क्रम से चलती हैं।

उत्तरी गोलार्द्ध में शीतोष्ण एवं शीत कटिबन्धों में महासागरों के अधिक विस्तार तथा सभी महासागरों के दक्षिणी ध्रुव सागर से सीधे मिले होने के कारण 50 से 70° के मध्य तापमान प्राय: 20 सेग्रे. से कम रहता है। किन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में इन्हीं अक्षांशों के मध्य तापमान 5° से 8° से.ग्रे. रहता है। इसका यह कारण है कि अटलाण्टिक तथा प्रशान्त महासागर उत्तरी ध्रुव सागर से केवल संकीर्ण जल-सन्धियों द्वारा मिले हुए हैं। अत: दक्षिण के गर्म तथा उत्तर के ठण्डे जल का आदान-प्रदान स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त दक्षिणी महासागरों में हिम-शिलाएं कहीं-कहीं 40° अक्षांश तक धाराओं के साथ बहकर आ जाती है जिससे तापमान प्रभावित होता है।

यद्यपि स्थल की अपेक्षा महासागरों पर ऋतु परिवर्तन का उतना प्रभाव नहीं होता किन्तु फिर भी महासागरों का तापान्तर एक महत्वपूर्ण तथ्य है। तापान्तर की सर्वाधिक विभिन्नता 40° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों पर मिलती है जो कि उत्तर तथा दक्षिण की ओर कम होती जाती है। उत्तरी प्रशान्त महासागर में 40^0 अक्षांश पर यह 10° से.ग्रे. पाया जाता है जबकि इसी अक्षांश में अटलाण्टिक महासागर में 8^0 सेग्रे. मिलता है। दक्षिणी हिन्द तथा अटलाण्टिक महासागरों में 30^0 द अक्षांश पर सर्वाधिक 6^0 से ग्रे. तथा 40^0 द. अक्षांश पर प्रशान्त महासागर में 6^0 से ग्रे. तापान्तर मिलता है। महाद्वीपों के अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के कारण उत्तरी महासागरों में दक्षिण की अपेक्षा अधिक तापान्तर मिलता है।
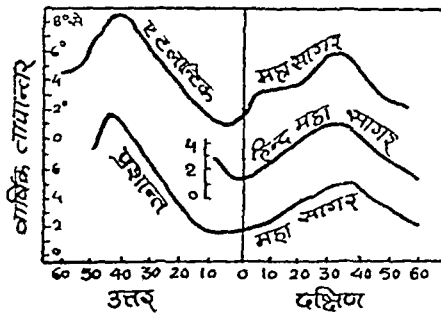
चित्र 28·2-विभिन्न महासागरों का वार्षिक तापान्तर
(स्वेरड्रुप के आधार पर)

ताप का ऊर्ध्वाधर वितरण

महासागरों में ताप का मुख्य स्रोत सूर्य है। अत: गहराई के साथ ताप कम होता जाता है। गहराई के साथ ताप की विभिन्नता विशेष रूप से चार बातों—ताप अवशोषण की मात्रा में अन्तर, ताप संवाहन का प्रभाव, जलधाराओं द्वारा ताप का क्षैतिज विस्थापन एवं जल की ऊर्ध्वाधर गति पर निर्भर करता है।

महासागरों की लवणता की विभिन्नता ताप द्वारा अवशोषण की मात्रा को विशेष रूप से प्रभावित करती है। जहां खारापन अधिक होगा वहां जल द्वारा ताप के अवशोषण

एवं संधारणा की मात्रा भी अधिक होगी। भूमध्य रेखा के समीप लवण की अधिकता के कारण ताप अवशोषण की मात्रा भी अधिक है। किन्तु सतह पर वर्षा के कारण ताप कम मिलता है तथा सतह के नीचे कुछ गहराई तक ही मिलता है और अधिक गहराई पर तापमान में गिरावट आनी शुरू हो जाती है। भूमध्य रेखा पर सतह का तापमान 24° सेग्रे. के आसपास रहता है जो सतह से कुछ नीचे 26° से.ग्रे के आसपास हो जाता है। 225 मीटर की गहराई पर यह तापतान 13° से.ग्रे. तक गिर जाता है तथा 3660 मीटर की गहराई पर 45° से.ग्रे. रह जाता है। ऊँचे अक्षांशों में स्वच्छ जल होने के कारण सतह पर ताप अवशोषण कम होता है किन्तु गहराई पर लवणता एवं घनत्व के कारण ताप बढ़ जाता है। अधिक गहराई पर ताप में गिरावट प्रारम्भ हो जाती है। लाल सागर में लवणता अधिक होने के कारण 26° से.ग्रे. से अधिक तापमान रहता है और वहां अवशोषण अधिक होता है।

सूर्य की किरणें 20 मीटर गहराई तक प्रवेश कर महासागरों के जल को संवाहन क्रिया द्वारा गर्म रखती हैं। किन्तु 20 मीटर की गहराई के पश्चात् सौर विकिरण प्रभाव नगण्य हो जाता है। स्थिर एवं सम जल वाले भागों में संवाहन क्रिया का गतिशीत क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। बिस्के की खाड़ी में सम और शान्त जल होने के कारण 25 मीटर की गहराई पर ½° सेग्रे. तथा 50 मीटर की गहराई पर 1° सेग्रे. तापमान गिर जाता है जबकि केलिफोर्निया के बाह्य भागों में तापमान की गिरावट 100 मीटर पर 1° से.ग्रे आती है। इसी प्रकार गर्म तथा ठण्डी जलधाराएँ एवं ठण्डी पवन संवाहन क्रिया में अवरोध पैदा करती रहती हैं।

जलधाराओ के कारण महासागरो का जल सदा गतिशील रहता है। भूमध्य रेखा से सतह के ऊपर धाराओं के रूप में गर्म जल बहता हुआ ध्रुवों की ओर तथा ध्रुवों की ओर महासागरों के नितल में भूमध्य रेखा की ओर प्रवाहित होता रहता है। अतः महासागरों की गहराई में सभी स्थानों पर ठण्डा जल पाया जाता है। गर्म तथा ठण्डी जलधाराओं के नीचे स्थानीय रूप से गहराई में तापमान में अन्तर आ जाता है। गर्म धाराओं के कारण ठण्डे भागों में ऊर्ध्वाधर ताप के ह्रास में वृद्धि हो जाती है।

भूमध्य रेखीय क्षेत्र से सतह पर बहता जल ध्रुवीय क्षेत्रों में पहुँच कर जल की मात्रा मे वृद्धि कर देता है। अतः अतिरिक्त दाब के कारण जल नीचे डूबने लगता है तथा भूमध्य रेखीय क्षेत्रों की घटी हुई जल की राशि की पूर्ति करने के लिए ठण्डा जल नितल में ध्रुवों की ओर से भूमध्य रेखा की ओर प्रवाहित होने लगता है। भूमध्य रेखीय क्षेत्रो में जल-तल को सम बनाए रखने के लिए ठण्डे जल की ऊर्ध्वाधर गति प्रारम्भ हो जाती है। व्यापारिक पवन क्षेत्र में महासागरों के पूर्वी किनारे गर्म जल की प्रचुर राशि पश्चिमी किनारों पर एकत्रित हो जाती है। अतः पूर्वी किनारे पर नीचे से ठण्ड जल ऊपर उठकर जल के ऊर्ध्वाधर ताप वितरण को प्रभावित करता है।

गहराई के साथ-साथ जलदाब में वृद्धि होती है। सतह का जल हल्का तथा गहराई का घनत्व व दाब के कारण भारी होता है। किन्तु सतही जल वाष्पीकरण और लवणता बढ़ने के कारण भारी होकर अवतलित होना प्रारम्भ कर देता है और ऊर्ध्वाधर धाराओं की उत्पत्ति होती है जो सामान्य ऊर्ध्वाधर ताप वितरण को प्रभावित करता है।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त समुद्र तल की रचना का भी ताप के ऊर्ध्वाधर वितरण पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ लाल सागर तथा हिन्द महासागर के मध्य जलमग्न कटक होने के कारण इनका जल स्वतन्त्रतापूर्वक मिश्रित नहीं हो पाता। अतः लाल सागर में कटक के नीचे गहराई तक 21° से.ग्रे. तापमान रहता है जबकि हिन्दमहासाएर में यह 21° से.ग्रे. से घटता हुआ उसी गहराई पर 2.4° से.ग्रे. हो जाता है। इसी प्रकार भूमध्य सागर और अटलान्टिक महासागर के मध्य जलमग्न कटक के कारण 4270 मीटर की समान गहराई पर अटलान्टिक महासागर का घटता हुआ तापमान 1.7° से.ग्रे. हो जाता है जबकि भूमध्य सागर का 12° से.ग्रे. रहता है।
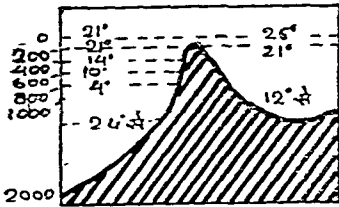
चित्र 28·3-लाल सागर एवं हिन्द-महासागर का उर्ध्वाधर ताप वितरण
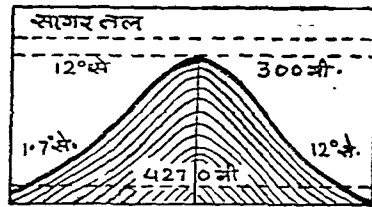
चित्र 28·4-अटलाण्टिक तथा भू-मध्य-सागर में ताप का उर्ध्वाधर ताप वितरण

ऊर्ध्वाधर ताप-वितरण की कई विशेषताएँ है। महासागरों में गहराई के साथ ताप गिरना प्रारम्भ होता है किन्तु इसकी मात्रा समान नहीं होती। उष्ण कटिबन्धों में गहराई में तापह्रास की मात्रा ध्रुवों की अपेक्षा अधिक होती है। अध्ययन और परीक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि 2000 मीटर की गहराई के पश्चात् जल का ऊर्ध्वाधर तापमान समान रहता है। महासागरों में सभी स्थानों पर ठण्डे जल की मोटी परत के ऊपर गर्म जल की परत विद्यमान रहती है। ध्रुवों के समीप समुद्रों में तापीय उत्क्रमण होता है अर्थात् ऊपरी सतह ठण्डे जल की होती है तथा निचली परत अपेक्षाकृत गर्म होती है।

सारणी 3

'चेलेन्जर अन्वेषण' के दौरान मुरे द्वारा संकलित आंकड़े

गहराई	ताप
200 मीटर	15.9 सेग्रे.
400 ,,	10.0 ,,
1,000 ,,	4.5 ,,
2,000 ,,	2.3 ,,
3,000 ,,	1.8 ,,
4,000 ,,	1.7 ,,

महासागरों की ताप वितरण प्रक्रिया

महासागरों द्वारा सौर विकिरण तथा पृथ्वी से ताप प्राप्त कर अतिरिक्त ताप को

पुनः विकिरण तथा वाष्पीकरण द्वारा वायुमण्डल को वापस लौटा देने की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। ताप के इस आदान-प्रदान से महासागरों में सन्तुलन स्थापित होता है तथा भौतिक परिस्थितियों में स्थिरता आती है। महासागर पृथ्वी की जलवायु पर तापीय स्थिरता के रूप में प्रभाव डालते हैं जिससे जलवायु में विषमता कम हो जाती है। महासागर अवशोषित ताप को संवाहन क्रिया द्वारा अधिक गहराई तक पहुँचा देता है। महासागर का यही ताप सतह पर सन्तुलन स्थापित करने में सहायक होता है। जल-तल का स्पर्श करने वाली वायु यदि जल की अपेक्षा शीतल होती है तो महासागर में तापह्रास होता है क्योंकि शीतल वायु ताप का उस समय तक अवशोषण करेगी जब तक जल और वायु का ताप समान नहीं हो जाय। यदि वायु जल से गर्म होती है तो महासागर ताप की प्राप्ति करते हैं। इस प्रकार के जल और वायु के समायोजन से सन्तुलन स्थापित होता है। इसे महासागरों की ताप वितरण प्रक्रिया या ताप बजट कहते हैं।

पीटरसन के अनुसार महासागरों द्वारा ताप-ग्रहण तथा तापह्रास की मात्रा बराबर होती है जो 154 यूनिट है।

सारणी 4

ताप प्राप्ति	तापह्रास
27 यूनिट—सौर विकिरण से सीधी प्राप्त	11 यूनिट—वायुमण्डल की पारदर्शी परतों द्वारा विकिरण
16 यूनिट—आकाशीय विकिरण	120 यूनिट—वायुमण्डल का विकिरण
107 यूनिट – वायुमण्डल में दीर्घ तरंगों द्वारा विकिरण	23 यूनिट—गुप्त ताप का संघनन
4 यूनिट—संघनन द्वारा निम्न दिशा में परिवहन	
कुल 154 यूनिट	कुल 154 यूनिट

महासागरों में लवणता

सागर जल सर्वत्र खारा होता है। इसमें अनेक लवण घुले हुए होते हैं। वस्तुतः सागर जल एक प्राकृतिक घोल है जिसमें 96.5% जल है तथा 3.5% लवण, घुली हुई गैसें, जैविक मिश्रण एवं अन्य तत्त्व हैं। सामान्यतः सागर जल एवं उसमें घुली हुई अवस्था में विद्यमान लवण के भार का अनुपात सागर जल की लवणता कहलाता है। किन्तु समुद्री विज्ञानवेत्ताओं के लिए लवणता का अर्थ कुछ भिन्न होता है। समुद्री विज्ञानवेत्ताओं के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग ने लवणता की परिभाषा इन शब्दों में की है—लवणता एक किलोग्राम सागरीय जल में उपस्थित ठोस पदार्थों की ग्रामों में परिकलित कुल मात्रा होती है जब उसमें उपस्थित समस्त कार्बोनेट आक्साइड में परिवर्तित हो चुके हों, ब्रोमीन और आयोडीन क्लोरीन द्वारा प्रतिस्थापित हो चुका हो तथा समस्त जैविक पदार्थ पूर्णतः आक्सीकृत हो चुके हों।

यह लवणता सदैव सहस्रांश (%₀) में प्रकट की जाती है। उदाहरणार्थ एक हजार ग्राम सागर जल में औसतन रूप से 35 ग्राम लवण होते हैं उसे 35%₀ के रूप में व्यक्त किया जाता है।

लवणता सागर जल का एक महत्वपूर्ण भौतिक गुण है। लवणता की मात्रा पर ही सागर जल का घनत्व, हिमांक एवं वाष्पीकरण की मात्रा निर्भर करती है। सागर जल में गीत, विशेषकर धाराओं का संचालन, लवणता की मात्रा से नियंत्रित होती है। यह ही नहीं सागरों में मछलियों, प्लैंकटन व अन्य जीवों का वितरण भी लवणता की मात्रा पर निर्भर करता है।

सागर जल एक विचित्र एवं जटिल घोल है। इसका रासायनिक विश्लेषण व्यापक रूप से स्काटलैण्ड के प्रो. विलियम डिट्मार ने चैलेन्जर अभियान के अन्तर्गत विश्व के विभिन्न सागरो से प्राप्त नमूनों के आधार पर किया। डिट्मार ने सागर जल में 47 लवण बताये हैं। अब तक केवल तीन और नये लवण ज्ञात हो पाये हैं। सागर जल में डिट्मार घोषित प्रधान लवणो की मात्रा और उनका प्रतिशत निम्न सारणी का में दर्शाया गया है :

सारणी 5

लवण का नाम	मात्रा (%₀)	कुल लवणों का प्रतिशत
सोडियम क्लोराइड	27.213	77.8
मैगनेशियम क्लोराइड	3.807	10.9
मैगनेशियम सल्फेट	1.658	4.7
केलशियम सल्फेट	0.260	3.6
पोटेशियम सल्फेट	0.863	2.5
कैलशियम कार्बोनेट	0.123	0.3
मैगनेशियम ब्रोमाइड	0.076	0.2

उपर्युक्त लवणों के अतिरिक्त सागर जल में लगभग सभी ज्ञात रासायनिक तत्त्व और अन्य लवण —ब्रोमीन, कार्बन, स्ट्रोशियम, आयोडीन, फ्लूओरीन, सिलकन, आर्सेनिक, बोरोन, बेरियम आदि भी मिलते हैं परन्तु ये अति अल्प मात्रा में होते हैं। इस तालिका से विदित होता है कि सागर जल में सोडियम क्लोराइड की मात्रा समस्त लवणों की मात्रा की तीन-चौथाई से भी अधिक हैं और प्रथम चार लवणों का योग 95 प्रतिशत से भी अधिक है। डिट्मार के रासायनिक विश्लेषणों से सागर जल में विभिन्न लवणों की मात्रा का ही पता नहीं चला अपितु यह भी ज्ञात हुआ कि सागर जल में विभिन्न भागों के लवणों की मात्रा विभिन्न होती हैं किन्तु विभिन्न लवणों का अनुपात समस्त सागरों में हर समय लगभग यही रहता है। अतः इनमें से किसी एक लवण की मात्रा का पता लगा लेने से अन्य लवणों की मात्रा सरलता से ज्ञात की जा सकती है।

सागर जल में लवणों की मात्रा निर्धारण की तीन प्रमुख विधियां हैं।

मोहर की क्लोरीन अनुपात विधि के अनुसार यह विधि सागर जल में विभिन्न

लवणों की मात्रा का अनुपात सदैव स्थिर रहता है। सागर जल में क्लोरीन की मात्रा ज्ञात करके लवणता की मात्रा ज्ञात की जा सकती है :

$$\text{लवण} ‰ = 0.03 + (18.5 \text{ क्लोरिनिकता } ‰)$$

हाइड्रोमीटर द्वारा सागर जल का घनत्व मापा जाता है तथा घनत्व की सहायता से लवणता की मात्रा परिकलित की जाती है।

विद्युत संचालित लवणमापी से इसके अनुसार ज्ञात तापक्रम पर सागर जल का वर्तनांक ज्ञात करके लवणता की मात्रा निश्चित की जाती है।

सागर जल में लवणता की उत्पत्ति व स्रोत

सागर जल में लवणता की उत्पति के संबन्ध में अनेक मत हैं। कुछ विद्वान सागर जल को मूलतः खारा मानते हैं। इनके अनुसार अधिकतर लवण सागरों के निर्माण के समय तप्त भूपटल की शैलों से ही प्राप्त हुए हैं। उस समय का तापक्रम एवं वायु दबाव जल में लवणों को घुलाने के लिये वर्तमान तापमान से अधिक उपयुक्त था। आज भी ये लवण उसी अनुपात में विद्यमान हैं। अन्य विद्वानों का मत है कि आरम्भ में सागर जल लवण रहित था। उसमें लवणता की उत्पति बाद में हुई। सागर जल में लवणों का प्रमुख स्रोत नदियाँ हैं। नदियाँ अपने प्रवाह क्षेत्रों से प्रतिवर्ष अनेक प्रकार के लवण बहाकर सागरों में पहुँचाती रहती हैं जिनकी मात्रा लगभग 16 करोड़ टन होती है। वाष्पीकरण से सागर जल उड़ता रहता है किन्तु नदियों द्वारा पहुँचाये गये लवण सागर में ही बने रहते हैं जिससे सागर जल में निरन्तर लवणों को मात्रा बढ़ती रहती है।

यदि हम सागर जल की लवणता का प्रमुख कारण नदियों को मानें तो सागर जल की संरचना नदी जल के समान ही होनी चाहिये किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हैं। नदियों के जल में लवणता का औसत केवल 0.18% है जबकि समुद्री जल में लवणता का औसत 35% है। सागर जल के लवणों में 75 प्रतिशत सोडियम क्लोराइड और केवल 5 प्रतिशत केलशियम पाया जाता है। इसके विपरीत नदियों के जल के लवणों में 60 प्रतिशत तक चूने के कार्बोनट और केवल 2 प्रतिशत क्लोराइड मिलती है। इस विलक्षणता के समाधान के लिये कुछ विद्वानों का कहना है कि सागरों में नदियों द्वारा लाये गये कार्बोनेट का उपयोग सागरीय जीव-जन्तु जैसे प्रवाल, घोंघा आदि के खोलों की रचना में हो जाता है जिससे सागर जल के लवणों में उसकी मात्रा कम हो जाती है। किन्तु नदी जल में सल्फेट भी क्लोराइड की अपेक्षा अधिक होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि नदियों द्वारा प्राप्त लवण सागरों की लवणता में अपना योगदान अवश्य देता है किन्तु समस्तः लवणता नदियों की देन नहीं हैं। कुछ लवण ज्वालामुखी उद्गारों से भी प्राप्त होते हैं। लवणता की उत्पत्ति एवं स्रोत के बारे में सर्वमान्य मत नहीं हैं।

महासागरों में लवणों की कुल मात्रा के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। जोली के अनुसार महासागरों में 50 अरब टन लवण है। यदि समस्त भूपटल पर कुल लवणों को बिछा दिया जाये तो इससे भूपटल पर 50 मीटर मोटी तह जम जायेगी और यदि महासागरों के जल में से समस्त लवणों को निकाल दिया जाय तो महासागरों का जल तल 30 मीटर नीचे गिर जायेगा। मरे के अनुसार महासागरों के जल में लवणों की मात्रा केवल 5 अरब टन ही

है। ताजे अनुमानों के अनुसार महासागरों के प्रति घन किलोमीटर जल में 41 लाख टन लवण विद्यमान हैं।

लवणता निर्धारक कारक

सागर जल सदैव लवणयुक्त होता है किन्तु लवणता की मात्रा सर्वत्र एक सी नहीं रहती है। विभिन्न सागरों में लवणता की भिन्न मात्रा को प्रधानतः तीन कारक वाष्पीकरण की मात्रा, ताजा जल की पूर्ति एवं सागर जल का अबाध सम्मिश्रण निर्धारित करते हैं।

वाष्पीकरण द्वारा सागर जल वाष्प बनकर वायुमण्डल में विलीन हो जाता है किन्तु लवण सागर में ही रह जाते हैं जिससे महासागरों में लवणता की मात्रा बढ़ती जाती है। अतः सागरों के जिस भाग में वाष्पीकरण अधिक होता है वहां लवणता की मात्रा भी अधिक मिलती है। वाष्पीकरण की मात्रा तापक्रम की अधिकता, मेघ रहित आकाश, पवन की तीव्र गति एवं शुष्कता आदि पर निर्भर होती है। अयन रेखाओं के निकटवर्ती क्षेत्रों में अधिक लवणता का यही कारण है।

महासागरों के जिन भागों में ताजा जल जितनी ही अधिक मात्रा में पहुँचता है वहां लवणता की मात्रा में उतनी ही कमी हो जाती है। महासागरों में ताजा जल प्राप्त होने के प्रधानतः तीन स्रोत वर्षण, नदियों एवं हिम का पिघलना है।

वर्षण से प्राप्त जल में लेशमात्र भी लवणता नहीं होती है। अतः जहां वर्षा अधिक होती है वहां लवणता कम हो जाती है। विषुवत रेखा के निकटवर्ती क्षेत्रों मे प्रतिदिन वर्षा होने से वहां सागर में लवणता सापेक्षतः कम रहती है। इसी प्रकार ध्रुवीय क्षेत्रों के सागरों में हिमपात द्वारा ताजा हिम व जल उपलब्ध होने से लवणता बहुत ही कम पाई जाती है।

नदियों के जल में लवणता बहुत कम होती है अतः इसे ताजा जल की संज्ञा भी दी जाती है। महासागरों में नदियों से प्राप्त ताजा जल केवल तटवर्ती प्रदेशों की लवणता की मात्रा को ही अधिक प्रभावित करता है। महासागरों के जिन भागों में अमेजन, मिसीसिपी, कांगो, नाइजर, यांगटीसिक्यांग, गंगा जैसी बड़ी नदियां गिरती हैं वहां इनके मुहानों पर लवणता की मात्रा कम पाई जाती है। कालासागर एवं मृत सागर के जल में लवणता की मात्रा का विशाल अन्तर नदियों द्वारा प्राप्त ताजा जल की मात्रा में अन्तर के कारण ही है।

हिम पिघलने से भी सागरों में ताजा जल प्राप्त होता है जो लवणता की मात्रा को कम कर देता है। बाल्टिक सागर के उत्तरी भाग तथा बोथनियां की खाड़ी में लवणता की कमी का प्रमुख कारण हिम के पिघलने से प्राप्त ताजा जल है।

महासागरों में जल के अबाध सम्मिश्रण की प्रक्रियाएँ लवणता विभेदों को सापेक्षतः कम कर देती हैं। सागर जल का अबाध सम्मिश्रण जल में दो प्रकार की गतियों—अभिवहन एवं विक्षुब्ध गति से होता है।

अभिवहन गति में जल की क्षैतिज गति होती है। यह गति समुद्री धाराओं, ज्वारीय तरंगों एवं धाराओं से उत्पन्न होती है। समुद्री धाराएँ विषुवतरेखीय क्षेत्रों से उष्ण एवं लवणयुक्त जल ध्रुवों की ओर तथा महासागरों के पश्चिमी किनारों से पूर्वी किनारों

पर ले जाती रहती हैं। धाराओं द्वारा ही खुले सागरों से जल आंशिक परिवेष्टित हो सागरों में पहुँचता रहता है। इसी प्रकार ज्वारीय तरंग एवं धाराएँ समस्त तटों के निकट हिलोरें मार कर अभिवहन गति उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार अभिवहन द्वारा महासागरों के एक भाग का जल दूसरे भागों में आता रहता है जिससे जल का अबाध सम्मिश्रण होकर लवणता की मात्रा प्रभावित होती है।

विक्षुब्ध गति में जल की ऊर्ध्वाधर गति होती है। यह गति संवहनीय धाराओं से उत्पन्न होती है। इसमें सागर तल का जल सतह की ओर ऊपर उठता है तथा सतह का जल तली की ओर बैठता है। जल के इस प्रकार अबाध सम्मिश्रण से लवणता की मात्रा परिर्तित हो जाती है।

उपरोक्त कारकों के अतिरिक्त महासागरों पर चलने वाले पवन की दिशा एवं मौसमी परिवर्तन भी लवणता की मात्रा को प्रभावित करते हैं। पवन की दिशा का प्रभाव व्यापारिक एवं पछुआ पवन की पेटियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। व्यापारिक पवन महासागरों के पूर्वी भाग के जल को पश्चिम की ओर ले जाते हैं तथा पछुआ पवन महासागरों के पश्चिमी भाग के जल को पूर्व की ओर ले जाते हैं। परिणामस्वरूप नीचे का विभिन्न लवणता वाला जल सतह पर आ जाता है। इसी कारण महासागरों के पूर्वी एवं पश्चिमी भागों में लवणता की मात्रा भिन्न मिलती है। मौसम के परिवर्तन के कारण पृथ्वी के विभिन्न भागों में ताप प्राप्ति की मात्रा में भिन्नता आ जाती है। ताप की मात्रा वाष्पीकरण को प्रभावित करती है। अतः सागर जल में लवणता की मात्रा मौसम के अनुसार भी परिर्वितित होती रहती है।

इसी तरह विभिन्न कारक महासागर जल में लवणता की मात्रा को निर्धारित करते हैं किन्तु इनमें से वाष्पीकरण तथा वर्षण जो सागर जल वितरण प्रक्रिया से सम्बन्धित है, लवणता निर्धारण के पृथक कारक माने जाते हैं।

ये दोनों ही कारक एक दूसरे से विरुद्ध हैं। यदि वाष्पीकरण वर्षण से अधिक होता है तो लवणता की मात्रा कम हो जाती है (चित्र संख्या 1)। वुसट तथा डिफान्ट ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए बताया कि वाष्पीकरण (वा) तथा वर्षण (व) से लवणता की मात्रा में परिवर्तन इन दोनों के अन्तर के अनुपात में होना चाहिए। विश्व सागरों में विभिन्न अक्षांशों पर लवणता की मात्रा एवं वा-व का मान लगभग संगतीय होता है (चित्र संख्या 2)।

लवणता का क्षैतिज वितरण

मानचित्रों में समुद्र की सतह या किसी भी गहराई पर लवणता को प्रदर्शित करने के लिए समलवण रेखाएँ खींची जाती हैं। ये समान लवणता वाले स्थानों को मिलाने वाली रेखाएँ होती हैं। इनकी सहायता से महासागरों में लवणता के वितरण के प्रदर्शन से ज्ञात होता है कि तटवर्ती प्रदेशों में और कुछ आंशिक परिवेष्टित सागरों में लवणता की अतिशयता मिलती है। एक ओर बोथनिया की खाड़ी में लवणता 5% से भी कम है तो दूसरी ओर लाल सागर में 40‰ से भी अधिक है। खुले सागरों में लवणता में कम अन्तर पाये जाते हैं। किन्तु अन्तर्देशीय सागरों एवं झीलों में अधिक अन्तर मिलते हैं। इन विभिन्नताओं के अनुसार लवणता के क्षैतिज विवरण के तीन प्रमुख कारक जरूरी हैं—

(क) खुले सागरों में लवणता (ख) आंशिक परिवेष्टित सागरों में लवणता एवं अन्त-र्देशीय सागरों एवं झीलों में लवणता।

खुले सागरों में लवणता सामान्यत: 32–37‰ के मध्य रही है। इनमें लवणता वितरण की क्षेत्रीय व्यवस्था है जिसकी अपनी विशेषताएं हैं (चित्र संख्या 3)।

अधिकतम् लवणता अयन रेखाओं के निकटवर्ती प्रदेशों में पाई जाती है। यहाँ इसकी औसत मात्रा लगभग 36‰ होती है किंतु अन्य महासागरों में 37‰से भी अधिक मिलती है। इन भागों में लवणता की अधिकता का कारण वाष्पीकरण की उच्च दर, ताजे जल की अपर्याप्त पूर्ति एवं जल का अबाध सम्मिश्रण न हो पाना है। यहां का मेघरहित स्वच्छ आकाश, सतत एवं तीव्रगामी व्यापारिक पवन तथा सर्वदा उच्च तापक्रम वाष्पीकरण की उच्च दर संपोषित करते हैं। उच्च भार का क्षेत्र होने से यहां पवन गति प्रतिचक्र-वातीय रहती है जिससे वर्षा बहुत ही कम होती है। पुन: इन प्रदेशों में बड़ी एवं नित्यवाही नदियां महासागरों में नहीं गिरती हैं। परिणामस्वरूप यहां ताजे जल की पूर्ति अपर्याप्त रहती है। समुद्री धाराओं की चक्रीय व्यवस्था के मध्य भाग में जहां सागर जल प्राय: शान्त रहता है, स्थिति होने से इन क्षेत्रों के अधिकांश भागों में सागर जल का अबाध सम्मिश्रण नहीं हो पाता है। आंध्र महासागर के सारगोसा सागर में इसी कारण से खुले सागरों की अपेक्षा सर्वाधिक लवणता 38‰ तक पाई गई है।

अयन रेखाओं से विषुवद्रेखा एव ध्रुवों के दोनों ही ओर जाने पर लवणता की मात्रा कम होती जाती है।

विषुवद्रेखा के निकटस्थ क्षेत्रों में यद्यपि वर्ष भर तापक्रम ऊंचा रहता है तथापि यहां लवणता अयन रेखीय प्रदेशों से कम पाई जाती है। यहां न्यूनतम लवणता का द्वितीयक क्षेत्र है जहां औसत लवणता 34‰ है। इन क्षेत्रों में ताजे जल की पर्याप्त पूर्ति से वाष्पी-करण का प्रभाव मन्द हो जाता है। दैनिक संवाहनिक वर्षा, एवं निकटस्थ महाद्वीपों से आने वाली अमेजन, काँगों, नाइजर जैसी बड़ी एवं नित्यवाही नदियां पर्याप्त मात्रा में ताजा जल सागरों में पहुँचाती रहती हैं। वायुमण्डल में उच्च सापेक्ष आर्द्रता, मेघाच्छादित आकाश तथा डोलड्रम की सापेक्ष शान्त वायु संहितियां वाष्पीकरण मात्रा को मन्द कर देते हैं।

खुले सागरों में न्यूनतम लवणता ध्रुवीय प्रदेशों में पाई जाती है। यहां लवणता का औसत 32‰ है किन्तु उ. ध्रुव के निकट तो लवणता 30‰ से भी कम मिलती है। इन प्रदेशों में न्यूनतम तापक्रम व बर्फीली सतह का उच्च अलबीदो होने से वाष्पीकरण की मात्रा नगण्य सी होती है तथा ग्रीष्म में हिम पिघलने से ताजा जल अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। ये दोनों ही कारक इन क्षेत्रों में लवणता की मात्रा को कम करने में सहायक होते हैं।

खुले सागरों में समलवण रेखाओं के विस्तार की सामान्य प्रवृत्ति पूर्व-पश्चिम दिशा में है। इस पूर्व-पश्चिम प्रवृति में स्थानीय विभिन्नता समुद्री धाराओं, पवन की दिशा एवं सागर में गिरने वाली नदियों के मुहानों पर देखी जा सकती है। पश्चिमी अन्ध महासागर में समलवण रेखाओं की प्रवृत्ति गल्फस्ट्रीम की दिशा के अनुरूप है।

समलवण रेखाएं खुले सागरों में यद्यपि समान अक्षांशों का अनुसरण करती हैं तथा उ. एवं द. गोलार्द्ध में लवणता का वितरण एक समान नहीं है। उ. गोलार्द्ध में 20–40° अक्षांशों के मध्य सामान्यत: 36‰ लवणता होती है किन्तु इतनी ही लवणता द. गोलार्द्ध में 10–30° अक्षांशों के मध्य मिलती है। 40–60° अक्षांशों के मध्य लवणता कम होकर उ. गोलार्द्ध में 32‰ तथा द. गोलार्द्ध में 34‰ हो जाती है। उ. एवं द. सागरों में यह असमानता वा-व कारक के साथ-साथ जल के अबाध सम्मिश्रण के कारण है। द.गोलार्द्ध में थल का कम विस्तार है अत: सागरीय जल का विभिन्न अक्षांशों में सम्मिश्रण सुगमता से होता है। उ. गोलार्द्ध में स्थलीय बाधाओं के कारण यह संभव नहीं है। उ. एवं द. के खुले सागरों में धरातलीय लवणता के विभेदों को निम्न सारणी द्वारा स्पष्ट किया गया है :

सारणी 6

महासागरों के 10° अक्षांशीय क्षेत्रों में धरातलीय लवणता का औसत

(‰ में)

उत्तरी गोलार्द्ध अक्षांश में (° में)	लवणता (‰ में)	अक्षांश (° में)	दक्षिणी गोलार्द्ध लवणता (‰ में)
90—80	30.5	0—10	31.16
80—70	31.7	10—20	35.72
70—60	32.9	20—30	35.71
60—50	33.03	30—40	35.25
50—40	33.92	40—50	39.34
40—30	35.31	50—60	33.92
30—20	35.71	60—70	33.95
20—10	34.95	70—80	33.95
10—0	34.58		

उ. अटलान्टिक महासागर में प्रशान्त महासागर की अपेक्षा लवणता अधिक है। इसके लिए दीत्रिख ने कई कारण बताये हैं।

उ. अटलान्टिक महासागर में व्यापारिक पवन पनामा थलडमरूमध्य के पार प्रशान्त महासागर में पहुँचकर पनामा खाड़ी के क्षेत्र में भारी वर्षा (औसतन 700 सेमी. प्रति वर्ष) करते हैं। प्रशान्त महासागर से जाने वाले पछुआ पवन एन्ड्रीज पर्वत से गुजरते हुए भारी पार्वतिक वर्षा करते हैं जिससे यह जल पुन: प्रशान्त में लौट आता है जबकि यूरोप एवं अफ्रीका में ऐसी कोई पर्वतीय बाधा नहीं है जिससे अटलान्टिक महासागर से उड़ने वाला जल पुन: उसमें लौट सके। उ. प्रशान्त महासागर में आंशिक परिवेष्टित सागरों का अभाव है अतएव उसमें अधिक लवणयुक्त जल की आपूर्ति कम होती है। खुले सागरों में विश्व की अधिकतम लवणता की औसत मात्रा 34.92‰ है। प्रशान्त महासागर में लवणता का औसत 34.72‰ और हिन्द महासागर में 34.76‰ है।

ग्रांशिक परिवेष्टित सागरों में लवणता

जो सागर अधिकांशत: स्थल भागों से घिरे हुए होते हैं और संकरे जलडमरूमध्यों द्वारा बड़े सागरों से संयोजित होते हैं, ग्रांशिक परिवेष्टित सागर कहलाते हैं। इनमें लवणता की मात्रा में अधिक विभेद मिलते हैं।

सारणी 7

सागर का नाम	लवणता (‰ में)
भूमध्य सागर	36–39
लाल सागर	36.5-41
फारस की खाड़ी	37–38
काला सागर	18
उत्तरी सागर	28–35
वाल्टिक सागर	2–22
मैक्सिको की खाड़ी	36
वैरिंग सागर	32
जापान सागर	33–34.5

भूमध्य सागर, लाल सागर एवं फारस की खाड़ी में लवणता की मात्रा अधिक है। इसके मुख्य कारण अधिक वाष्पीकरण, ताजे जल की बहुत कम पूर्ति तथा इनमें जल के अबाध सम्मिश्रण का अभाव है। भूमध्य सागर में वाष्पीकरण द्वारा जितना जल उड़ता है उसके केवल पांचवें भाग की पूर्ति यहाँ होने वाली वर्षा एवं रोन, पो, नील आदि नदियों से प्राप्त ताजा जल से हो पाती है। शेष जल की पूर्ति अटलान्टिक महासागर और काला सागर से होती है। पू. भूमध्य सागर में सीरिया एवं इजराइल के तटों पर लवणता की मात्रा 39‰ है किन्तु जिब्राल्टर के निकट जहां पर यह अटलान्टिक महासागर से मिलता है लवणता 36‰ है। इसी प्रकार लाल सागर में से जितना जल वाष्पीकरण से उड़ता हैं उसका केवल आठवां भाग ही वर्षा एवं छोटी नदियों से प्राप्त हो पाता है। शेष जल की पूर्ति हिन्दमहासागर से होती है। लाल सागर में एक भी बड़ी नदी नहीं गिरती है। उत्तर लाल सागर की स्वेज खाड़ी में लवणता की मात्रा 41‰ से भी अधिक है। किन्तु द. भाग में बाब-अल-मन्दब के निकट जहां यह हिन्दमहासागर से मिलता है लवणता 36.5‰ है। फारस की खाड़ी का मुख अधिक खुला हुआ है और इसमें दजला-फरात नदियां निरन्तर ताजा पानी लाती रहती हैं अतएव लवणता की मात्रा 37–38‰ के मध्य पाई जाती है। ये उदाहरण उन सागरों के हैं जिनमें निकटवर्ती खुले सागरों की अपेक्षा लवणता अधिक पाई जाती है। इसके विपरीत काला सागर एवं वाल्टिक सागर ऐसे ग्रांशिक परिवेष्टित सागरों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिनमें निकटवर्ती खुले सागरों से लवणता की मात्रा बहुत ही कम है।

काला सागर यद्यपि भूमध्य सागर एवं लाल सागर की अपेक्षा अधिक परिवेष्टित है फिर भी इसकी लवणता 18–18.5‰ ही रहती है। इससे संयोजित अजोव सागर में तो

लवणता और भी कम पाई जाती है। लाल सागर एवं भूमध्य सागर से काला सागर की स्थिति सापेक्ष उच्च अक्षांशों में होने के कारण वहाँ वाष्पीकरण की मात्रा कम होती है तथा इससे भी महत्वपूर्ण कारण डेन्यूब, नीस्टर, नीपर, डोन जैसी बड़ी एवं नित्यवाही नदियों द्वारा कालासागर के आकार के अनुपात में अधिक मात्रा में ताजा जल प्रदान करना है। अतएव इसकी लवणता कम है। वास्तव में काला सागर में ताजा जल इतना अधिक आता है कि वह डार्न्डेलीज एवं वास्फोरस जलडमरूमध्यों द्वारा भूमध्य सागर में बहता रहता है।

बाल्टिक सागर में लवणता इससे भी कम है। उ. सागर से ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते हैं लवणता कम होती जाती है। स्केगर्क जलडमरूमध्य के निकट लवणता 22‰, स्वीडन के दक्षिणी तट पर 11‰, रूजन द्वीप के निकट 8‰ और फिनलैण्ड तथा बोथनिया की खाड़ी में 2‰ से भी कम मिलती है। बसन्त ऋतु में तो बोथनिया एवं फिनलैण्ड की खाड़ी का जल बिल्कुल ताजा रहता है। बाल्टिक सागर के विभिन्न भागों में इतनी कम लवणता उच्च अक्षांशों में स्थित होने के कारण वाष्पीकरण बहुत ही कम होना, ताजा जल की अपरिमित पूर्ति जो चक्रवातीय वर्षा, हिम से पिघला हुआ जल तथा मध्य यूरोप की ओडर व विस्चूएला और स्वीडन तथा उत्तरी रूस की अनेक नदियों से प्राप्त होता है। बाल्टिक सागर में कम वायुदाब तथा अन्तर्मुखी पवनों के कारण जल सतह ऊँची रहती है इसलिये यहां से जल उत्तरी सागर की ओर बहता है परिणामस्वरूप अटलान्टिक महासागर का अधिक लवणयुक्त जल इसमें नहीं आ सकता है, प्रमुख कारण हैं।

अन्तर्देशीय सागर एवं झीलों में लवणता

अन्तर्देशीय सागर एवं झीलें पूर्णत. भूवेष्टित होते हैं। इनमें लवणता वितरण की कुछ भिन्न व्यवस्था होती है। ऐसी झीलों एवं सागरों में जहां नदियां गिरती हैं और यदि उनमें जल का निकास भी है तो उनमें लवणता कम होती है क्योंकि इनमें नदियों द्वारा लाये गये लवणों को निकलने का अवसर मिल जाता है और लवण एकत्रित नहीं हो पाते हैं। उदाहरणार्थ मानसरोवर, वुलर, बैकाल झील आदि। दूसरी ओर ऐसी झीलें और अन्तर्देशीय सागर हैं जिनमें नदियाँ कम गिरती हैं और जल का निकास नहीं होता है उनमें लवणता बढ़ जाती है क्योंकि वाष्पीकरण से जल तो वाष्प बनकर वायुमण्डल में विलीन हो जाता है और लवण वहीं रह जाते हैं। फलस्वरूप इनमें लवणता की मात्रा निरन्तर बढ़ती जाती है। उदाहरणार्थ सांभर झील में लवणता का औसत 110‰, संयुक्त राज्य अमेरिका की ग्रेट साल्ट लेक में 220‰ तथा मृत सागर में 237.5‰ है। किन्तु विश्व की सर्वाधिक लवणता लघु एशिया की वान झील में 330‰ है। अरब सागर में यद्यपि जल का निकास नहीं है किन्तु उसमें आमू व सर नदियां निरन्तर ताजा पानी उड़ेलती रहती हैं तथा वाष्पीकरण भी सापेक्षतः कम होने से इसकी लवणता केवल 8‰ है।

कहीं-कहीं एक ही झील अथवा अन्तर्देशीय सागर के विभिन्न भागों में लवणता की मात्राओं में अत्यधिक अन्तर मिलते हैं। उदाहरणार्थ कैस्पियन सागर के उ. भाग में लवणता का औसत 14‰ से भी कम है, द. भाग में 100‰ तथा द. पू. में कारावुगाज की उथली खाड़ी में 300‰ से भी अधिक है। इसके उत्तर भाग में यूराल एवं वोल्गा जैसी विशाल एवं नित्यवाही नदियों द्वारा ताजा जल की पर्याप्त मात्रा प्राप्त होती है, अतः वहां लवणता कम है। किन्तु कैस्पियन सागर के मध्य भाग में बालू रोधिकाएँ होने से उ. भाग का जल

दक्षिणी भाग से अबाध सम्मिश्रित नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप लवणता अधिक है। काराबुगाज की खाड़ी तो एक प्राकृतिक वाष्पन कड़ाही है। इसमें कैस्पियन सागर से साधारण लवणता वाला जल संकरे जलमार्ग द्वारा निरन्तर आता रहता है किन्तु उस जल का अधिकांश भाग वाष्पीभूत हो जाता है और लवण इसी में रह जाते हैं जिससे इसके जल की लवणता बहुत अधिक हो गई है।
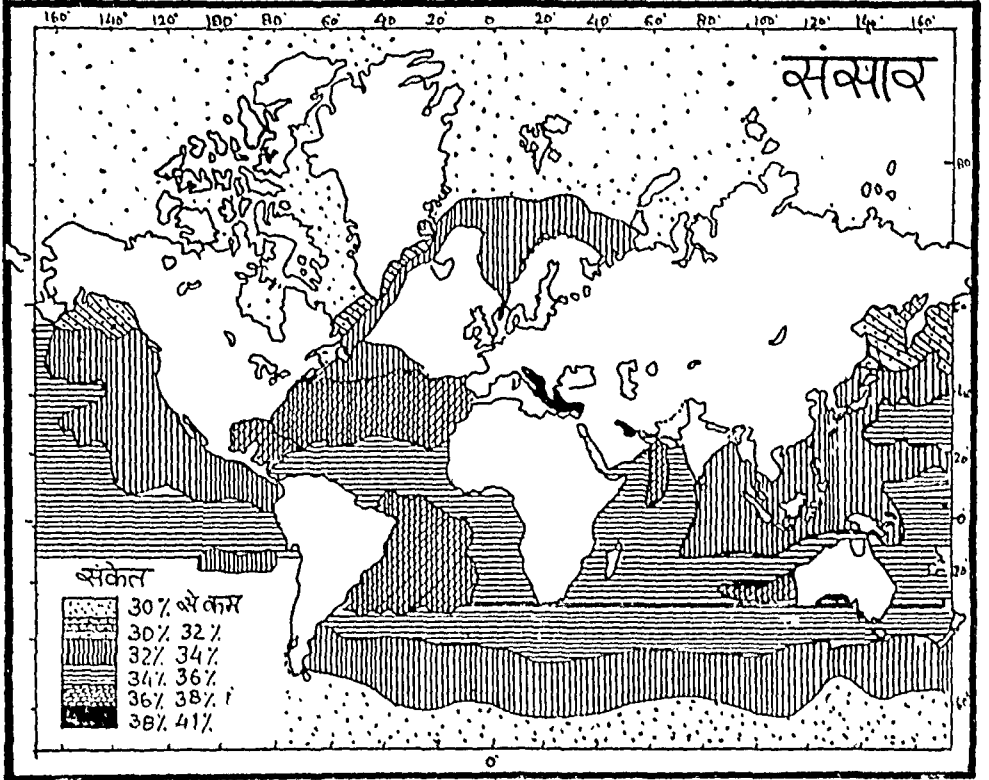
चित्र 28.5 - महासागरों में लवणता का वितरण

लवणता का ऊर्ध्वाधर वितरण

लवणता के ऊर्ध्वाधर वितरण में एकरूपता नहीं पाई जाती। कहीं गहराई के साथ-साथ लवणता कम तो कहीं अधिक पाई जाती है। सामान्यत: लवणता का ऊर्ध्वाधर वितरण जलराशि से प्रभावित होता है। शीतल अथवा उष्ण जलराशि की उपस्थिति से लवणता की मात्रा में प्रबल परिवर्तन हो जाते हैं।

सामान्यत: तीनों ही प्रमुख महासागरों में लगभग 700–800 मीटर की गहराई पर मध्यस्थ न्यूनतम लवणता मिलती है। इस गहराई पर कम तापक्रम एवं कम लवणयुक्त जल होता है। इस जल का स्रोत 45° द. अक्षांश से दक्षिणी सतह पर मिलने वाला उप-अन्टार्कटिक जल है। यह जल अन्टार्कटिक अभिसरण क्षेत्रों में नीचे बैठता है और 700–800 मीटर की गहराई पर अटलान्टिक महासागर में 45° द. अक्षांश से 20° उत्तरी अक्षांश तथा प्रशान्त और हिन्द महासागर में 45° द. अक्षांश से विषुवद्रेखा तक फैल

जाता है। द. प्रशान्त महासागर में उप-आर्कटिक मध्यवर्ती जल के कारण कम लवणता मिलती है।

अधिकांश महासागरों में इस 'मध्यस्थ न्यूनतम लवणता' वाले भाग से नीचे की ओर लवणता बढ़ती है और 1500–4000 मीटर के मध्य अधिकतम मिलती है। अटलांटिक महासागर में जलराशि 'गहन जल' कहलाती है। अन्धमहासागर में यह राशि भूमध्य सागर के अध: धरातलीय प्रवाह से बहुत अधिक प्रभावित होती है क्योंकि इस प्रवाह के कारण अन्ध महासागर में भूमध्य सागर का अधिक लवणयुक्त जल आ जाता है।

4000 मीटर से नीचे तीनों ही प्रधान महासागरों में अन्टार्कटिक मूल की जल राशियाँ होती हैं जिनमें 'गहन जल' की अपेक्षा लवणता कम होती है।

सभी अक्षांशों पर लवणता का ऊर्ध्वाधर वितरण एक सा नहीं होता है। विषुवत रेखीय क्षेत्रों में सतह पर लवणता कम मिलती है। कुछ ही गहराई पर अधिक तथा तली की ओर पुन: कम होती जाती है। मध्य अक्षांशों में 400 मीटर की गहराई तक लवणता की मात्रा में वृद्धि होती है। तत्पश्चात् अधिक गहराई तक पुन: कम होने लगती है। ऊँचे अक्षांशों में यद्यपि सतह पर लवणता कम होती है किन्तु वह अधिक गहराई में बढ़ती जाती है।

महासागरीय जल का घनत्व

किसी इकाई के निश्चित आयतन में परिमाण की मात्रा को घनत्व कहते हैं। जल के घनत्व को ग्राम प्रति घनसे.मी. द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यदि एक घन सेन्टीमीटर में जल के परिमाण निश्चित मात्रा से कम हैं तो घनत्व कम और यदि अधिक हैं तो घनत्व अधिक होता है। जो कारक ताप तथा लवणता को नियंत्रित करते हैं वही घनत्व को भी नियंत्रित करते हैं। घनत्व को तापमान, वाष्पीकरण, वर्षा, नदी व जलधारायें, लवणता, वायुदाब, जलदाब नियंत्रित करते हैं।

जलकण गर्म होकर फैलते हैं। अत: निश्चित आयतन में अधिक स्थान को घेर कर परिमाण की मात्रा को कम कर देते हैं। किन्तु इसके विपरीत शीतल जल के कण ठण्डे होकर सिकुड़ते हैं तथा उसी आयतन में अपेक्षाकृत इनकी मात्रा अधिक हो जाती है। इस प्रकार गर्म जल का घनत्व कम और शीतल जल का अधिक होता है।

वाष्पीकरण के कारण स्वच्छ जल भाप बन उड़ जाता है तथा जल में घुले हुए लवण एवं खनिजों के कण पीछे छूट जाते हैं। अत: उष्ण कटिबन्धीय भागों में विशेषत: कर्क और मकर रेखाओं पर वाष्पीकरण के अधिक होने के कारण जल का घनत्व अधिक होता है जबकि ध्रुवों के निकट वाष्पीकरण कम होते हुए भी तापमान कम होने के कारण घनत्व अधिक होता है।

जहाँ वर्षा अधिक होती है उन स्थानों में स्वच्छ जल की अतिरिक्त प्राप्ति के कारण निश्चित आयतन में स्वच्छ जल का अनुपात अधिक हो जाता है। फलस्वरूप जल हल्का होकर घनत्व को कम कर देता है। वर्षा रहित भागों में स्थिति इसके प्रतिकूल होती है जिससे जल का घनत्व अधिक रहता है।

समुद्रों में नदियां जिस स्थान पर प्रवेश करती है वहाँ स्वच्छ जल की मात्रा अधिक

होने से घनत्व कम हो जाता है। अमेजन तथा नाइजर के मुहानों पर घनत्व कम पाया जाता है। इसी प्रकार गर्म तथा ठण्डी जलधाराएँ भी घनत्व को प्रभावित करती हैं।

लवणता और घनत्व एक दूसरे के पर्यायवाची है। जहाँ लवणता अधिक होती है वहाँ जल का घनत्व अधिक और जहाँ लवणता कम होती है वहाँ घनत्व कम होता है। अधखुले सागरों; जैसे—लाल सागर, भूमध्यसागर, आदि में लवणता अधिक होने के कारण जल का घनत्व भी अधिक रहता है। इसी प्रकार कर्क तथा मकर रेखाओं पर लवणता अधिक होने के फलस्वरूप जल का घनत्व अधिक रहता है। खुले महासागरों में अधखुले सागरों की अपेक्षा घनत्व कम रहता है।

वायुमण्डलीय दाब के कारण जल का तापमान कम हो जाता है फलस्वरूप घनत्व बढ़ जाता है। अत: कर्क और मकर रेखाओं पर वायुदाब के कारण जल का घनत्व अधिक रहता है।

सागरीय सतह से गहरे उतरने पर दवाव बढ़ता जाता है परिणामस्वरूप सागरीय तली पर जल के संकुचन से उसका घनत्व बढ़ जाता है। गहरी द्रोणियों एवं गर्तों में प्रति वर्ग सेन्टीमीटर एक मैट्रिक टन दाब होता है। अतः गहरे महासागरों में घनत्व भी अत्यधिक होता है।

घनत्व का क्षैतिज वितरण

भूमध्य रेखा तथा 40 से 60 उत्तरी अक्षांशों पर महासागरों के पूर्वी भागों में वर्षा तथा नदियो के मुहानों पर स्वच्छ जल की प्राप्ति के कारण घनत्व अपेक्षाकृत कम रहता है। ध्रुवों की ओर ताप के घटने के साथ-साथ जल का घनत्व भी बढ़ता जाता है। भूमध्य रेखा पर स्वच्छ जल की हल्की परत अपेक्षाकृत अधिक घनत्व की भारी निचली परत के ऊपर तैरती हुई ध्रुवों की ओर प्रवाहित होती रहती है। फलस्वरूप भूमध्यरेखा पर 'अभिसरण' नहीं हो पाता। यहाँ ऊपर का जल नीचे नहीं डूबता। किन्तु उष्ण कटिबन्ध के सीमान्त भागो में वाष्पीकरण की अधिकता के कारण लवणता अधिक हो जाती है जिसके कारण ऊपरी सतह का घनत्व भी बढ़ जाता है तथा जल अभिसरण करने लगता है। इसे **उष्ण कटिबन्ध अभिसरण** कहते हैं। इसी प्रकार उच्च अक्षांशों में निम्न तापमान के कारण ऊपर की सतह के जल का घनत्व निचली परत की अपेक्षा अधिक हो जाता है। अत: यहां जल नीचे डूबने लगता है। इसको उपोष्ण अभिसरण की संज्ञा दी गई है।

व्यापारिक पवन क्षेत्र में महासागरों के पूर्वी किनारे से पश्चिमी किनारों की ओर ऊपरी सतह का जल बहाकर ले जाया जाता है। अत: जल-तल कम होने के कारण नीचे का ठण्डा जल ऊपर की ओर आना प्रारम्भ कर देता है। फलस्वरूप व्यापारिक पवन के क्षेत्र अर्थात भूमध्य रेखा से लगभग 40° अक्षांशों तक महासागरों के पूर्वी किनारों पर पश्चिमी किनारों की अपेक्षा अधिक घनत्व रहता है।

ध्रुवों के निकट हिमांक से कुछ ऊंचे 4° सेग्रे. से नीचे जल का भार प्रति घन सेन्टीमीटर 0.999878 ग्राम अर्थात् 1 ग्राम के लगभग होता है। मध्य अक्षांशों में जहां तापमान 15° से.ग्रे. होता है यह भार 0.999154 ग्राम प्रति घन सेन्टीमीटर रहता है। महासागरों की सतह का औसत घनत्व 1.0252 आंका गया।

घनत्व का ऊर्ध्वाधर वितरण

पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण हल्की वस्तु की अपेक्षा भारी वस्तु केन्द्र की ओर अधिक आकर्षित होती है। अतः महासागरों में हल्का जल ऊपर तथा भारी नीचे रहता है। जैसे ही ऊपरी सतह के जल का घनत्व अपेक्षाकृत अधिक हो जाता है वह हल्के जल में अभिसरण करने लगता है तथा नीचे का कम घनत्व वाला जल ऊर्ध्वाधर संवाहन धाराओं द्वारा ऊपर उठने लगता है। ध्रुवों पर सतह के अधिक घनत्व का जल नीचे की ओर डूबकर भूमध्य रेखा पर ऊपर की ओर उठता है। घनत्व के स्थानीय अन्तर के कारण इस तथ्य में अपवाद भी हो सकते हैं।

भूमध्य सागर में सतही जल के अपेक्षाकृत अधिक घनत्व का जल अभिसरण करता हुआ नीचे अटलाण्टिक महासागर की ओर प्रवाहित होता है। इस प्रकार ताप और लवणता को प्रवाहित करने वाले कारक महासागरीय जल के क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर घनत्व को भी प्रभावित करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Cotter, C. H. (1965), The Physical Geography of the Oceans (Hollis and Carter).
2. Fairbridge, R. W. (1966), Encyclopedia of Oceanography (Reinhold).
3. King, C. A. M. (1969), Oceanography for Geographers (Edward Arnold Ltd., London).
4. Lake, P. (1958), Physical Geography (Cambridge University Press London).
5. Monkhouse, F. J. (1971), Principles of Physical Geography (Orient Longmans Ltd., London).
6. Neumann, G. and Pierson, W. J. (1966), Principles of Physical Geography (Prentice Hall, Inc.).
7. Sharma, R. C. & Vattal, M. (1962), Oceanography for Geographers (Chaitanya Publishing House).
7. Sverdrup, H. U. etc. (1961), The Oceans (Asia Publishing House).

29

समुद्री तरंगें तथा ज्वार-भाटा
[Sea-waves and Tides]

महासागर कभी स्थिर नहीं रहते। महासागरों में तापमान घनत्व तथा लवणता की विभिन्नता, वायु, ज्वालामुखी विस्फोट, पृथ्वी परिभ्रमण गति और अपकेन्द्रीय बल तथा चन्द्रमा और सूर्य का गुरुत्वाकर्षण जल में सतत संचार बनाये रखते हैं। महासागरों में उपरोक्त कारणों से जल धाराएँ, तरगें तथा ज्वार-भाटा बनते हैं। अतः महासागरों का जल गतिशील रहते हुए अपना परिसंचरण बनाए रखता है।

महासागरों के जल की गति का ज्ञान गतिक समुद्र-विज्ञान के अन्तर्गत है। सागरीय गति का शुद्ध मापन स्वलेखी यन्त्र द्वारा किया जाता है जो सेन्टीमीटर प्रति सैकण्ड गति को अभिलिखित करता है। यह यन्त्र जलयान से सागर में निश्चित समय के लिए छोड़ दिया जाता है, जिसके द्वारा समय और गति तथा उतने समय में सागर की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। जल की असामान्य गति की जानकारी समुद्री तूफानों का संकेत देती है।

महासागरों में जल की स्पष्ट गति सतह की अस्थिरता है, जो पवन द्वारा तरंगों के रूप में उत्पन्न होती है। दोलन तरंगों की रचना के लिए मुख्य रूप से पवन ही उत्तरदायी है, जो जल की सतह पर हलचलें उत्पन्न करती है तथा तट रेखा के परिवर्तन में एक महत्व-पूर्ण भूमिका निभाती है। पवन के तनिक से घर्षण द्वारा सागरीय सतह उद्वेलित होकर हिलने-डुलने लगती है। पवन प्रहार से सागरीय जल के ऊपर-नीचे तथा आगे-पीछे की गति की क्रिया को तरंग कहते हैं। यों तो पवन इन तरंगों की उत्पत्ति का मुख्य कारक है किन्तु भूकम्प तथा ज्वार के कारण भी ये तरंगें उठती हैं।

पवन के सतत संचार और घर्षण के कारण सागर की सतह गतिशील रहती है। तरंग को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है शीर्ष, गर्त तथा लम्बाई। तरंग के सबसे ऊंचे भाग को शीर्ष या शिखर और सबसे निचले भाग को गर्त या द्रोणी कहते हैं। शीर्ष तथा गर्त के मध्य लम्बवत अन्तर को तरंग की ऊंचाई और शीर्ष से शीर्ष तक के मध्य की क्षैतिज दूरी को तरंग की लम्बाई कहते हैं।

तरंगों में जल कणों की गति यथा स्थान पर ही होती है तथा ये धाराओं के जल की भाँति स्थानान्तरित नहीं होते। यदि सागर में कार्क या लकड़ी का टुकड़ा डाल दिया जाय तो वह जल कणों की गति के साथ ऊपर-नीचे और आगे-पीछे हिलता रहेगा तथा

अपना स्थान छोड़कर दूर नहीं जायेगा। तरंगों में शीर्ष पर कणों की गति आगे और गर्त में पीछे की ओर होती है। इस प्रकार शीर्ष के अगले ढाल पर जल कणों की गति ऊपर की ओर तथा पिछले ढाल पर पीछे की ओर होती है। इस प्रकार तरंग का जल वृत्ताकार
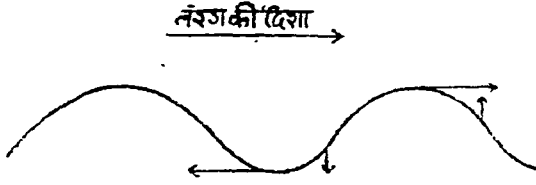
चित्र 29·1 - तरंग में जल कणों की गति

चक्कर लगा कर एक कक्षा पूर्ण कर लेता है। तरंग के जल की इस गति को दोलन कहते हैं जिसमें झूले की तरह जल आगे-पीछे होता रहता है और अपने स्थान को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर नहीं जाता।

चित्र 29.2 तरंगों मे वृत्तीय गति

तरगों की उत्पत्ति तथा रचना

तरंगों की रचना में चार बातों का मुख्य रूप से प्रभाव पड़ता है—पवन का वेग तथा दिशा, पवन प्रवाह की अवधि, सागरीय विस्तार तथा सागर की गहराई।

पवन के वेग और दिशा का तरंगों के आकार और गति दोनों पर ही प्रभाव पड़ता है। सागर में प्रचण्ड तूफानों के समय तरंगें भी भयंकर रूप धारण कर तीव्र गति से गरजती हुई चलती हैं। ऐसी तरंगों को सीज कहते हैं। यदि पवन की दिशा लगातार एक ही ओर रहती है तो तरंगों के बनने का क्रम जारी रहता है किन्तु दिशा के बदलने से यह क्रम बिगड़ जाता है। उदाहरणार्थ पछुआ पवन की पेटी में तरंगें बनती रहती हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों पर अक्षांशों के अनुसार पवन की गति में अन्तर आता जाता है। द. अटलाण्टिक महासागर की पछुआ पवन की पेटी में तरंगों की लम्बाई 133 मीटर और अवधि 9.5 सैकण्ड ज्ञात की गई है। इसी प्रकार हिन्दमहासागर में पछुआ पवन की पेटी में तरंगों की गति 15 मीटर प्रति सेकण्ड, लम्बाई 114 मीटर तथा अवधि 7.6 सेकण्ड अभिलेखित की गई है। यदि पवन की दिशा खुले सागर की ओर होती है तो तरंगों की लम्बाई भी अधिक होती है।

यदि पवन सतत लम्बी अवधि तक चलती है तो तरंगों की रचना लगातार होती रहती है तथा उनकी गति भी नियन्त्रित रहती है, जैसे पछुवा पवन की पेटी में पूरे वर्ष तरंगें बनती रहती हैं। पवन का वेग चाहे जितना हो पर उसकी अवधि यदि अल्पकालिक है तो लम्बी तरंगों की रचना नहीं होगी।

तरंगों की रचना पर सागरीय विस्तार का भी प्रभाव पड़ता है। पवन जितनी अधिक दूरी तक जल पर चलेगी उतनी ही लम्बी तरंगों की रचना होगी। उदाहरणार्थ अपतटीय पवन के क्षेत्र में तट के समीप तरंगें लम्बाई में कम होती हैं। किन्तु जैसे-जैसे

तट से दूर खुले और विस्तृत सागर में पवन पहुंचती जाती है वैसे-वैसे उसी अनुपात में तरंगों की लम्बाई बढ़ती जाती है। यदि पवन का वेग और दिशा समान रहती है तो तरंग अपनी अधिकतम लम्बाई प्राप्त कर लेती है तथा इसके पश्चात् तरंग की लम्बाई में अन्तर नहीं आता चाहे वह कितने ही खुले महासागर में क्यों न चलती रहे खुले सागरों की अपेक्षा बन्द सागरों में तरंगों की लम्बाई कम होती है। जैसे दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर में तरंगों की लम्बाई 133 मीटर तक होती है जबकि छोटे चीन सागर में यह केवल 79 मीटर रह जाती है। एक मत यह है कि 160 किमी. के विस्तार में तरंग अपनी अधिकतम लम्बाई प्राप्त कर लेती है यदि अन्य परिस्थितियां भी अनुकूल रहें क्योंकि पवन के वेग और तरंगों की लम्बाई का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उपरोक्त तीनों कारकों के अतिरिक्त तरंगों के वेग पर सागर की गहराई का भी अधिक प्रभाव होता है। जैसे-जैसे गहराई कम होती जाती है वैसे-वैसे तरंग की लम्बाई तथा वेग कम होते जाते हैं। जब तक सागर की गहराई और तरंग की लम्बाई (d/L) का अनुपात 0.5 तथा 0.05 तक रहता है। उस समय तक तरग के वेग को सागर की गहराई नियन्त्रित करती है। यदि सागर की गहराई तरंग की लम्बाई से 1/2 से 1/4 तक रहती है तो उस समय तक वेग पर गहराई का प्रभाव रहेगा। किन्तु जब दोनों का अनुपात (d/L) 0.06 हो जाता है उस समय तरंग की लम्बाई उसके वेग को नियंत्रित करेगी। दूसरे शब्दों में गहरे जल में गहराई और उथले जल में तरंग की लम्बाई तरंग के वेग को नियन्त्रित

सारणी 1

महासागरों का नाम	पवन क्षेत्र	तरंग की गति प्रति सेकण्ड (मीटर में)	तरंग की लम्बाई (मीटर में)	तरंग की अवधि प्रति मीटर (सेकण्ड में)
अटलांटिक महासागर	व्यापारिक पवन का क्षेत्र	1.2	65	5.8
हिन्द महासागर	व्यापारिक पवन का क्षेत्र	12.6	96	7.6
दक्षिणी एटलांटिक महासागर	पछुआ पवन का क्षेत्र	14.0	133	9.5
हिन्द महासागर	पछुआ पवन का क्षेत्र	15.0	114	7.6
चीन सागर	—	11.4	79	6.9
पश्चिमी प्रशान्त महासागर	—	12.4	102	8.2

करते हैं। गहराई के साथ-साथ पवन प्रभावहीन होती जाती है। तरंग की लम्बाई के बराबर जल की गहराई में पवन द्वारा संचलन सतह की अपेक्षा केवल 1/500 होता है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तरंगों की गति, लम्बाई तथा अवधि पर पवन का सीधा प्रभाव पड़ता है। विभिन्न अक्षांशों और भिन्न-भिन्न सागरों में यह *पृथक-पृथक होते हैं जो उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है।*

उपरोक्त तालिका से विदित होता है कि तरंगों की लम्बाई और अवधि दक्षिणी अटलान्टिक महासागर के पछुआ पवन के प्रदेश में सबसे अधिक होती है जो क्रमशः 133 मीटर तथा 9.5 सेकण्ड प्रतिमीटर है। इसी प्रकार हिन्दमहासागर के पछुआ पवनों के प्रदेश में तरंग की सर्वाधिक गति 15 मीटर प्रति सेकण्ड है।

तरंग की गति, लम्बाई तथा अवधि के अतिरिक्त पवन के वेग का तरंग की ऊँचाई पर भी प्रभाव पड़ता है। पवन का वेग सागरीय विस्तार पर आधारित रहता है। अतः तट की दूरी के अनुपात में तरंगों की ऊँचाई बढ़ती जाती है। यदि पवन की गति समान रहे तो तरंग की ऊंचाई तट से दूरी के साथ निम्न प्रकार से बढ़ती है :

सारणी 2

तट से तरंग की दूरी (किमी. में)	*तरंग की बढ़ती हुई ऊँचाई* (मीटर में)
16	1.5
32	2.5
80	3.3
160	4.5
640	9.0
1600	14.0

उपरोक्त तालिका की संख्या उसी समय तक शुद्ध रहेगी जब तक कि पवन का वेग समान है। किन्तु यदि सागर में तूफान आ जाता है उस समय इस क्रम में अपवाद आ जाता है तथा तरंग की ऊँचाई 17 से 18 मीटर तक हो जाती है। कम लम्बी तरंगों की ऊँचाई अधिक हो जाती है। ऐसा तूफान के समय होता है। जब तरंग तूफानी क्षेत्र से निकल कर शान्त सागरीय क्षेत्र में पहुँचती है उस समय उसकी ऊँचाई पुनः घट जाती है तथा लम्बाई अपेक्षाकृत बढ़ जाती है। इस प्रकार की तरंग को महातरंग कहते हैं। महातरंग सागर में हजारों किलोमीटर तक नियमित रूप से गति करती रहती है।

जल की गहराई और तरंग की लम्बाई के 0 : 05 अनुपात के पश्चात् तरंग की ऊँचाई तीव्रता से बढ़ने लगती है और अन्त में तरंग तट पर पहुँचकर टूटकर बिखर जाती है। उथले जल में तरंग का वेग कम होना प्रारम्भ हो जाता है तथा शीर्ष की ऊँचाई बढ़ने लगती है। जब तक शीर्ष और लम्बाई का अनुपात 1:7 रहता है, उस समय तक तरंग की गति बनी रहती है। किन्तु अधिक उथले जल में शीर्ष की ऊँचाई इस अनुपात से अधिक हो जाती है तो अग्रभाग पिछले भाग की अपेक्षा ऊँचा होता चला जाता है। दूसरे शब्दों में

पिछले भाग की गति गहरे पानी में होने के कारण अगले भाग की अपेक्षा अधिक होती है। अन्त में पिछला भाग अगले भाग पर चढ़ जाता है और इस प्रकार समतल तथा मन्द ढाल वाले तट पर तरंग गर्जनाहट के साथ टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाती है। तरंग उस समय टूटती है जबकि गहराई और शीर्ष की ऊँचाई का अनुपात 4:3 होता है। यदि गहराई 4 मीटर है तो शीर्ष की ऊँचाई 3 मीटर होनी चाहिए। टूटती हुई तरंगों को भग्नोर्मि के नाम से सम्बोधित करते हैं।

भग्नोर्मि दो प्रकार की होती हैं—निमज्जित तथा छलकती। निमज्जित भग्नोर्मि में तरंग का शीर्ष उसकी द्रोणी में ढह जाता है तथा तरंग पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। छलकती भग्नोर्मि में तरंग का शीर्ष झागदार पानी की रेखा के रूप में उसी गति से आगे बढ़ते हुए बिखर जाती है। निमज्जित भग्नोर्मि तीव्र ढाल वाले तट पर घटित होती है जबकि छलकती हुई भग्नोर्मि मन्द ढाल एवं समतल तथा रेतीले तट पर विघटित होती है। अत्यधिक झाग होने के कारण इसको सर्फ भी कहते हैं। जल तरंग टूट जाती है तो उसका जल तली के सहारे गुरुत्वाकर्षण के कारण ढाल की ओर लौट जाता है। इस प्रकार पुनः लौटते हुए जल को **प्रतिधावन** कहते हैं।

प्रायः महातरंग ही सर्फ के रूप में परिवर्तित हो जाती है। एक अध्ययन के अनुसार इस प्रकार की लम्बी तरंगें 1 से लेकर 5 मिनट के अन्तराल में आती हैं। ये साधारण तरंगों से आकार में 11 से 12 गुनी बड़ी होती हैं। इस प्रकार की लम्बी तरंगें घाना के टेमा बन्दरगाह तथा ब्रिटिश आइल्स कार्नवाल तट के पेरनपोर्थ पर देखी जाती हैं। इनकी ऊँचाई 12.5 सेमी. होती है जबकि साधारण तरंगों की ऊंचाई 2.7 मीटर होती है। जब महातरंग तीव्र ढाल के तट पर टकराती है तो जल 30 मीटर ऊंचाई तक उछल जाता है।

टूटने से पूर्व तरंग में कई परिवर्तन हो जाते हैं। यह उस समय होता है जबकि तरंग की लम्बाई के अनुपात में जल की गहराई कम होती है। तट के समीप तरंग के पिछले भाग की गति अगले भाग की अपेक्षा अधिक होती है। अतः तरंग का अगला भाग सागर तल की समोच्च रेखाओं के अनुसार तट के समानान्तर बहने लगता है।

चित्र 29·3-तट के किनारे तरंगों का परावर्तन
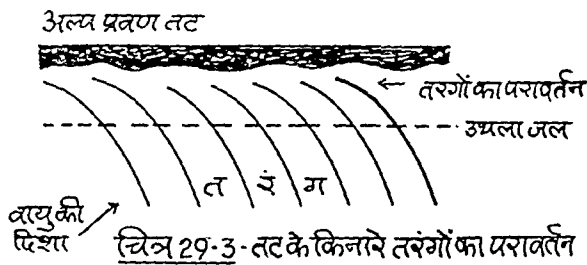
कभी-कभी अन्तर्सागरीय विस्फोट के कारण सागर तल में भूकम्प आ जाता है परिणामस्वरूप तल के कम्पन और दाब के कारण लम्बी-लम्बी तरंगों का जन्म होता है। यह तरंग **सुनामी** नाम से जानी जाती है। यह तरंग ज्वालामुखी या भूकम्प के उद्गम स्थान के चारों ओर फैल जाती है। खुले सागर में इसकी ऊंचाई 30 से 60 सेमी. तथा लम्बाई 160 किमी. तक होती है। सुनामी की गति सागर की गहराई के अनुपात में होती है। जितनी अधिक गहराई होगी उतनी ही अधिक गति होगी। यदि महासागर की औसत गहराई

4500 मीटर (2500 फैदम) मान ली जाय तो सुनामी की गति 755 किमी. (472 मील) प्रति घन्टा होगी। हांलाकि गहरे सागर में इसकी ऊंचाई इतनी कम होती है कि जलयानों में अनुभव नहीं होती, किन्तु तट पर पहुँच कर यह 6 से 9 मीटर तक ऊंची हो जाती है तथा अत्यन्त विनाशकारी होती है।

ज्वालामुखी अथवा भूकम्प के कारण उठी तरंगों के अतिरिक्त समुद्री तूफानों के कारण भी विनाशकारी तरंगों का जन्म होता है। मानसूनी तथा हरिकेन तूफानों के क्षेत्र में विनाशकारी तरंगें अधिक होती हैं।

ज्वार-भाटा

समुद्री धाराओं और तरंगों के अतिरिक्त भी सागरीय जल में नियमित रूप से संचलन होता रहता है। तटों में कठोर नियमितता के साथ जल के लयबद्ध चढ़ाव व उतार को ज्वार-भाटा कहते हैं।

समुद्र तटवासी प्राचीनकाल से ही यह देखते चले आ रहे हैं कि सागर का जल 24 घन्टे में दो बार सामान्य सतह से ऊपर उठता है और दो बार नीचे उतर जाता है। अब से हजारों वर्ष पूर्व यूनान, रोम, नार्वे आदि के निवासियों को ज्वार-भाटा के सम्बन्ध में जानकारी अवश्य थी, किन्तु बहुत समय तक इसकी उत्पत्ति के बारे में उनको ज्ञान नहीं था। प्राचीन चीनी लेखकों ने पृथ्वी को जीवित पदार्थ मान कर जल को रक्त की संज्ञा दी है तथा ज्वार-भाटा को उसकी नब्ज की धड़कन बतलाया है। मध्य युग में इस विषय के ज्ञान में पर्याप्त प्रगति हुई। किन्तु सन् 1687 में न्यूटन द्वारा पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति की खोज के पश्चात् ज्वार-भाटा के सम्बन्ध में सर्वप्रथम वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त हो सकी। इसके पश्चात् अन्य विद्वानों ने ज्वार-भाटा के कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जिनमें लाप्लास, एयरी, केलविन, जार्ज डारविन आदि उल्लेखनीय हैं।

ज्वार-भाटा के कारण

पृथ्वी के चारों ओर के आकाशीय पिण्डों में भी गुरुत्वाकर्षण विद्यमान है। सभी आकाशीय पिण्ड पृथ्वी पर कुछ न कुछ आकर्षण शक्ति उत्पन्न करते हैं, किन्तु सूर्य एवं चन्द्रमा को छोड़कर सभी का प्रभाव नगण्य है क्योंकि वे अत्यधिक दूर हैं। न्यूटन ने यह सिद्ध किया कि प्रत्येक आकाशीय पिण्ड अपने द्रव्यमान और पारस्परिक दूरी के अनुसार आकर्षण उत्पन्न करता है। यदि बड़े द्रव्यमान के पिण्ड की अपेक्षा छोटे द्रव्यमान का पिण्ड पृथ्वी से निकट है तो वह अधिक आकर्षण उत्पन्न करेगा। सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही पृथ्वी को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। किन्तु सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा पृथ्वी से अधिक निकट है, अतः वह पृथ्वी पर सूर्य की तुलना में अधिक गुरुत्वीय खिचाव उत्पन्न करता है। सूर्य का आयतन चन्द्रमा से 2.60 करोड़ गुना अधिक है किन्तु यह चन्द्रमा की अपेक्षा पृथ्वी से 380 गुना अधिक दूर है। अतः सूर्य की ज्वार उत्पन्न करने की शक्ति चन्द्रमा की अपेक्षा केवल 4/9 है। चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति सूर्य से लगभग अढाई गुना अधिक है। फलतः पृथ्वी पर ज्वार लाने में चन्द्रमा मुख्य कारक है।

ज्वार-भाटा उत्पन्न होने की प्रक्रिया में कई तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं। चन्द्रमा व सूर्य जल तथा कुछ सीमा तक ठोस पृथ्वी को भी अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

चन्द्रमा तथा सूर्य का आकर्षण पृथ्वी पर सागर की उस सतह को प्रभावित करता है जो उनके नीचे लम्बवत स्थिति में होती है।

चन्द्रमा और सूर्य का आकर्षण पृथ्वी के केन्द्र पर पड़ता है। आकर्षण की मात्रा दूरी के प्रतिलोम अनुपात में बदलती है, अतः चन्द्रमा व सूर्य पृथ्वी के दूरतम भागों की अपेक्षा निकटतम भाग को अधिक तीव्रता से आकर्षित करते हैं।

ज्वार-भाटा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं तथा उनके विचारों में मतभेद है। ज्वार-भाटा को अनेकों भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं अतः विचारों में विभिन्नता स्वाभाविक है।

न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के आधार पर यह सिद्ध किया कि आपसी आकर्षण के कारण प्रत्येक आकाशीय पिण्ड अपनी सन्तुलित स्थिति में विद्यमान है। इसी आकर्षण के कारण पृथ्वी पर ज्वार-भाटा आते हैं। पृथ्वी का व्यास 12,800 किमी. है, अतः पृथ्वी का चन्द्रमा की ओर का भाग उसके विपरीत दिशा के भाग से 12,800 किमी. निकट है। यह स्वाभाविक ही है कि पृथ्वी के निकट का भाग दूर के भाग की अपेक्षा चन्द्रमा की ओर अधिक अनुनमित होगा। परिणामस्वरूप ज्वार-भाटा आते हैं। पहले यह भ्रम था कि चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के कारण समस्त पृथ्वी चन्द्रमा की ओर कुछ खिंच जाती है जिसके कारण विपरीत दिशा में जल पीछे छूट जाता है जो ज्वार के रूप में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इस त्रुटि का संशोधन कर लिया गया।

चन्द्रमा तथा पृथ्वी दोनों ही गुरुत्वाकर्षण के एक समान केन्द्र की परिक्रमा करते हैं। चन्द्रमा की अपेक्षा पृथ्वी के विशाल आकार और अधिक भार के कारण यह केन्द्र बिन्दु पृथ्वी की सतह से 1600 किमी. गहराई पर स्थित है। इस केन्द्र पर चन्द्रमा तथा पृथ्वी की स्थिति सन्तुलित अवस्था में रहती है। पृथ्वी का द्रव्यमान 5.98×10^{21} मेट्रिक टन तथा चन्द्रमा का द्रव्यमान 7×10^{19} मेट्रिक टन है। अतः पृथ्वी और चन्द्रमा का परिभ्रमण केन्द्र पृथ्वी की ओर होना स्वाभाविक है।
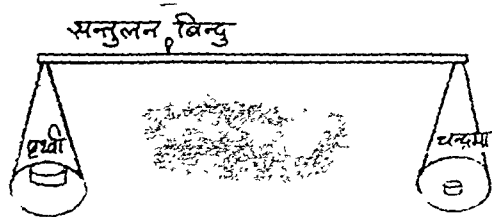
चित्र 29.4 - पृथ्वी और चन्द्रमा के द्रव्यमान के अनुसार तराजु पर तोलने का सन्तुलन बिन्दु

पृथ्वी के समस्त दो भागों में शक्तियां कार्य करती हैं—गुरुत्वाकर्षण बल तथा अपकेन्द्रीय बल। पृथ्वी के केन्द्र पर दोनों बल समान रहते हैं। किन्तु चन्द्रमा के सम्मुख वाले पृथ्वी के भाग में आकर्षण शक्ति अपकेन्द्रीय बल की अपेक्षा अधिक होगी। अतः इस दिशा में चन्द्रमा के आकर्षण से ज्वार आना स्वाभाविक ही है। पृथ्वी के विमुख भाग में अपकेन्द्रीय बल अधिक होने से ज्वार-भाटा उत्पन्न होगा।

पृथ्वी गुरुत्व के सामान्य केन्द्र की परिक्रमा करती हुई अपनी धुरी पर ही घूमती है।
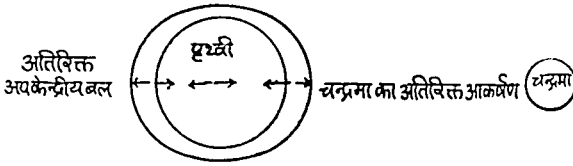
चित्र 29·5 - पृथ्वी पर गुरुत्वाकर्षण एवं अपकेन्द्रीय बल
(←-- अपकेन्द्रीय बल, --→ गुरुत्वाकर्षण)

सामान्य केन्द्र पर परिक्रमा करती तथा अपने अक्ष पर परिभ्रमण करती हुई पृथ्वी तथा चन्द्रमा विभिन्न स्थितियों से गुजरते हैं।
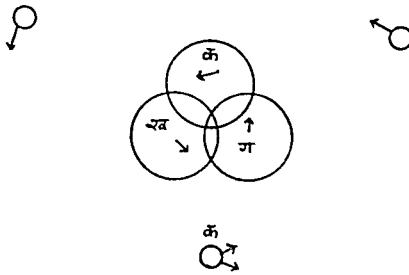
चित्र 29·6 - पृथ्वी तथा चन्द्रमा की बदलती स्थितियाँ

चित्र 6 में 'व' सामान्य केन्द्र बिन्दु है जो स्थिर है। इसी बिन्दु के चारों ओर पृथ्वी तथा चन्द्रमा परिक्रमा करते हुए अपनी स्थितियां बदलते रहते हैं। चन्द्रमा की 'क' 'ख' तथा 'ग' की स्थितियों के अनुरूप पृथ्वी भी क्रमशः 'क', 'ख' व 'ग' की स्थितियों में रहती है। चन्द्रमा तथा पृथ्वी तीरों के निशान की ओर परिक्रमा करते हुए आपसी आकर्षण के कारण एक दूसरे से दूर नहीं भागते।

चन्द्रमास में पृथ्वी का प्रत्येक अंश एक ही दिशा में एक वृत्त बनाता है जिसके परिणामस्वरूप पृथ्वी के प्रत्येक भाग में समान अपकेन्द्रीय बल उत्पन्न होता है। यह अपकेन्द्रीय बल चन्द्रमा से दूर पृथ्वी के विपरीत भाग में हर अवस्था में अधिक रहता है जिसके कारण ज्वार उत्पन्न होता है।

पृथ्वी के पश्चिम से पूर्व घूमने के कारण ज्वारीय तरंग इसके विपरीत पूर्व से पश्चिम की ओर गति करती है। चन्द्रमा की कलाओं तथा सूर्य की आकर्षण शक्ति का भी ज्वार-भाटा पर प्रभाव होता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि चन्द्रमा की ओर के पृथ्वी के भाग में आकर्षण द्वारा और विपरीत भाग में अपकेन्द्रीय बल के कारण ज्वार आते हैं और पृथ्वी के अन्य दोनों ओर के भागों में 'भाटा' आता है। जब दो स्थानों में ज्वार आता है तो अन्य दो स्थानों का जल सिमटकर पहले दो स्थानों पर आ जाता है जल का यह उतार 'भाटा' कहलाता है।

पृथ्वी पर जल और स्थल के असमान वितरण का ज्वारीय तरंगों के विस्तार तथा उनकी दिशा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यदि पृथ्वी पर केवल जल ही जल होता तो यह

सम्भव हो सकता था कि ज्वारीय तरंग चन्द्रमा की अनुसरण करती हुई पृथ्वी के चारों ओर घूम जाती तथा प्रत्येक देशान्तर पर समान रूप से उत्पन्न होती। किन्तु ऐसा न होने के कारण इनमें अन्तर पाया जाता है।
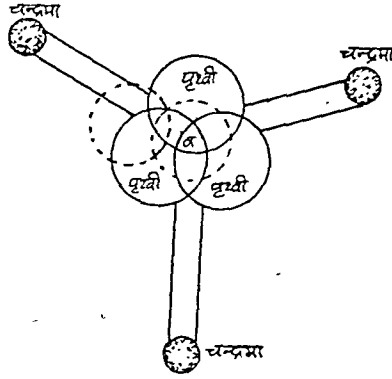
चित्र 29·7 चन्द्रमा तथा पृथ्वी की आपेक्षिक स्थितियों की प्रतिकृति

किसी चौरस धरातल पर तो ज्वारीय तरंगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई नियम निर्धारित हो सकता है, किन्तु पृथ्वी चपटी न होकर लगभग गोल है। अतः ज्वारीय तरंगों के लिए किसी निश्चित नियम को ज्ञात करना अत्यन्त कठिन है।

ज्वारीय तरंगें सागर की तली की बनावट से भी प्रभावित होती हैं। सागर की विभिन्न उच्चावच रचना तथा गहराइयों के कारण तरंगों के विस्तार, गति एवं दिशा में अन्तर आना स्वाभाविक ही है।

ज्वारीय तरंगों के अतिरिक्त सागर में अन्य प्रकार की गतियां भी होती हैं जो ज्वारीय तरंगों के मार्ग में कुछ सीमा तक अवरोध उपस्थित करती हैं।

ज्वारीय तरंगें चन्द्रमा की ऊंचाई के साथ-साथ निश्चित समय पर पृथ्वी की परिक्रमा नहीं कर सकती।

सन्तुलन सिद्धान्त की त्रुटियों को किसी सीमा तक कम करते हुए विलियम वेवल ने प्रगामी तरंग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसी सिद्धान्त को एयरी ने नहर सिद्धान्त बताया।

जल और स्थल के असमान वितरण को ध्यान में रखते हुए ज्वारीय-तरंगों को लहर का प्रतिरूप मानकर इस सिद्धान्त को जन्म दिया है। महाद्वीपों के आकार और उत्तर-दक्षिण विस्तार के कारण प्रत्येक देशान्तर पर चन्द्रमा का अनुसरण करती हुई ज्वारीय तरंगों की गति तथा दिशा में अन्तर आ जाता है। इसके अतिरिक्त महासागरों की गहराई भी तरंगों पर प्रभाव डालती है।

ज्वारीय तरंगों को लहर का प्रतिरूप मानते हुए इसके शिखर को ज्वार और द्रोणी को भाटा माना गया है। दो ज्वारीय तरंगों के मध्य की दूरी उसकी लम्बाई माना गया है। खुले महासागर जैसे अन्टार्कटिक महासागर में ज्वारीय तरंगें चन्द्रमा तथा सूर्य से प्रेरित होकर उनका अनुसरण करती हैं तथा पूर्व से पश्चिम की ओर चक्कर लगाती रहती हैं। किन्तु स्थलीय बाधा आ जाने के कारण इनकी दिशा दक्षिण से उत्तर की ओर हो जाती है।

180° देशान्तर पर अन्टार्कटिक महासागर की ज्वारीय तरंग दो भागों में विभक्त हो जाती है। केप आफ गुड होप अन्तरीप पर पहुँच कर यह एक गौण तरंग को जन्म देती है जो अटलान्टिक महासागर में प्रवेश करती है। अटलान्टिक, हिन्द तथा प्रशान्त महासागरों में भी गौण तरंगों के कारण ज्वार की उत्पत्ति होती है। तरंगों के दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ने के साथ-साथ उनके उत्पत्ति काल में वृद्धि हो जाती है। प्रधान ज्वरीय तरंगों की उत्पत्ति चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के कारण होती है जो उसका अनुसरण करती है। स्थल के अवरोध के कारण प्रधान तरंगों से गौण तरंगों का जन्म होता है।
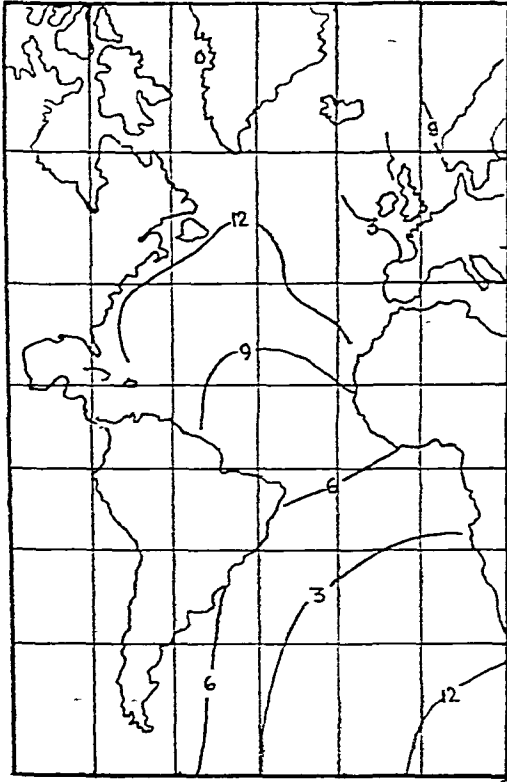
चित्र 29·8 - एटलान्टिक महासागर की समज्वार रेखाएँ
(रुअरी के आधार पर)

चित्र 28.8 में अटलान्टिक महासागर की ज्वारीय-तरंगों को सम ज्वार रेखाओं द्वारा अंकित किया गया है। समज्वार रेखाएं वह रेखाएं हैं जो कि एक ही समय में विभिन्न स्थानों पर उत्पन्न उच्च ज्वार वाले स्थानों को जोड़ती हैं। इन रेखाओं का समय ग्रीनविच देशान्तर के आधार पर निर्धारित होता है तथा उन पर अंकित भी कर दिया जाता है। चित्र 28.8 के अध्ययन से कुछ तथ्य उजागर होते हैं जो निम्न हैं :

ज्वारीय तरंगों की प्रगति तटों की अपेक्षा महासागर के मध्यवर्ती भाग में गहराई के कारण अधिक होती है। अतः ज्वारीय तरंगें अटलान्टिक महासागर के मध्य भाग में उत्तर की ओर मुड़ी दिखाई देती हैं।

प्रगामी तरंगों की दिशा महासागरों के मध्य दक्षिण से उत्तर, पश्चिमी भाग में पूर्व से पश्चिम तथा पूर्वी भागों में पश्चिम से पूर्व की ओर होती है। मध्यवर्ती गहन सागर में चलते हुए तरंग का शिखर वक्राकार हो जाता है तथा उत्तर दिशा में प्रगति के साथ-साथ वक्र की उत्तालता बढ़ती जाती है। यूरोप तक पहुंच कर तरंग की दिशा लगभग उत्तर-दक्षिण हो जाती है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह पश्चिम से पूर्व की ओर चलती है। इसके विपरीत उ. अमेरिका तट पर तरंगों की दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर रहती है।

सागर के संकड़े भागों की अपेक्षा चौड़े भागों में प्रगामी तरंगों की गति बढ़ जाती है। इंग्लैण्ड के पूर्वी तट पर इंगलिश चैनल में इनकी गति 60 से 65 किमी. प्रति घण्टा रहती है जबकि खुले सागर में 1000 किमी. प्रति घण्टे की गति से भी अधिक हो जाती है।

प्रधान ज्वारीय तरंग स्थल भाग के आते ही कई शाखाओं में विभक्त हो जाती है।

स्पेन के कोरुना प्रायद्वीप के समीप तरंग दो भागों में विभक्त हो जाती है। तरंग का उत्तरी भाग आयरिश सागर होता हुआ स्काटलैण्ड तक पहुँचता है, जहां इसकी दिशा फिर से विपरीत हो जाती है। स्काटलैण्ड के पूर्व में तरंग की दिशा उत्तर से दक्षिण की ओर हो जाती है। तरंग का दक्षिणी भाग ब्रिस्टल चैनल में होता हुआ इंगलिश चैनल तक पहुँच जाता है।

यदि प्रगामी तरंग एक या दो मुहाने वाले सागर में प्रवेश करती हैं तो उनके नियमित क्रम में जो चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से बनता है, जटिलता तथा व्यवधान आ जाता है। इंगलैण्ड के दक्षिणी भाग में स्थित आइल आफ वाइट तथा मुख्य द्वीप के मध्य स्पिटहेड तथा सोलेंट के संकीर्ण मार्गों से प्रगामी तरंगें प्रवेश करती हैं। सागर के उथला होने के कारण एक ओर तरंग का पृष्ठ शिखर अगले के समीप आता जाता है और दूसरी ओर भाटा का लगातार ह्रास होता जाता है। परिणामस्वरूप एक ही शिखर के दो अंग बन जाते हैं तथा दोहरा ज्वार उत्पन्न हो जाता है।

उपरोक्त स्थिति के विपरीत यदि एक ओर से ज्वार और दूसरी ओर से भाटा के साथ सम्पाती अर्थात् मेल हो जाय तो ऐसी हालत में दोनों एक दूसरे को समाप्त कर देंगे तथा उस स्थान पर ज्वार-भाटा दृष्टिगोचर नहीं होगा।
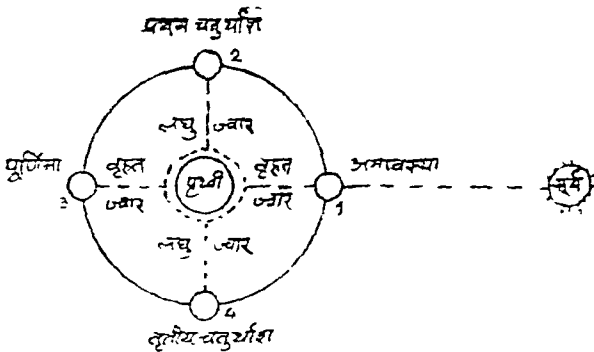
चित्र 29.9 ज्वार भाटे की विभिन्न परिस्थितियाँ

प्रगामी तरंग सिद्धान्त को हांलाकि बड़ी मात्रा में लोकप्रियता तथा मान्यता मिली किन्तु फिर भी इसमें कुछ त्रुटियां और आपत्तियां अनुभव की गयीं।

चन्द्रमा, सूर्य तथा पृथ्वी की विभिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्वार उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा और पृथ्वी की कक्षा, पृथ्वी की सूर्य और चन्द्रमा से दूरी तथा पृथ्वी के अक्ष के झुकाव के कारण भी ज्वार की अवस्थाओं पर प्रभाव पड़ता है।

वृहत ज्वार उत्पन्न करने में चन्द्रमा ही मुख्य कारक है, किन्तु जब पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य की स्थिति एक रेखीय हो जाती है तो वृहत ज्वार उत्पन्न होता है जो औसत ज्वार की अपेक्षा 20 प्रतिशत ऊँचा होता है। पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य की सीधी रेखीय सापेक्षिक स्थिति को युति-प्रयुति विन्दु कहते हैं। यह अवस्था पूर्णिमा तथा अमावस्था के दिन आती है। अमावस्था को चन्द्रमा और सूर्य पृथ्वी के एक ओर होते हैं। अतः पृथ्वी पर दोनों की सम्मिलित आकर्षण शक्ति का प्रभाव पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप वृहत ज्वार उत्पन्न होता है। पूर्णिमा को चन्द्रमा और सूर्य पृथ्वी के दोनों ओर विपरीत स्थिति में होते हैं जिसके कारण वृहत ज्वार उत्पन्न होता है। वृहत ज्वार महीने में दो बार आता है। वृहत ज्वार को दीर्घ या पूर्ण ज्वार भी कहते हैं।
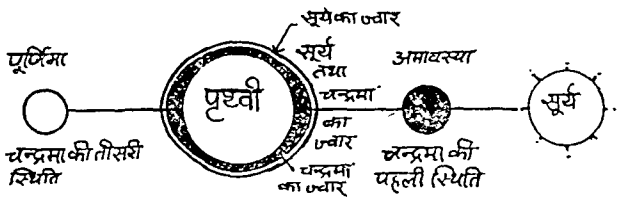
चित्र 29·10· वृहत ज्वार

जब सूर्य और चन्द्रमा सीधी रेखा में न होकर पृथ्वी से समकोण की स्थिति में होते हैं तो उनका आकर्षण सागर के जल को भिन्न दिशाओं की ओर प्रभावित करता है। सूर्य और चन्द्रमा की यह स्थिति शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष की सप्तमी अथवा अष्ठमी को होती है जबकि दोनों ही पृथ्वी के केन्द्र से 90° का कोण बनाते हैं। इस प्रकार समकोणीय दिशा में खिचाव के कारण सागरीय जल का सूर्य और चन्द्रमा की ओर विभाजन हो जाता है। अतः जल का उभार कम होने से लघु ज्वार उत्पन्न होता है। लघु ज्वार औसत ज्वार की अपेक्षा 20 प्रतिशत नीचा होता है। लघु ज्वार भी महीने में दो बार आता है।
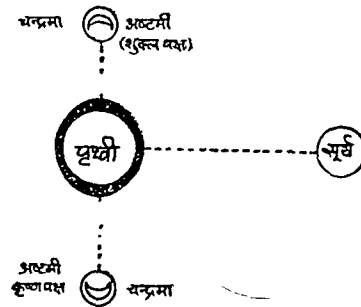
चित्र 29·11· लघु ज्वार

चन्द्रमा अपनी कक्ष पर परिक्रम करते हुए एक बार पृथ्वी के समीप और एक बार दूर हो जाता है। चन्द्रमा की पृथ्वी से निकटतम दूरी (3,56,000 किमी.) की स्थिति को

उपभू और अधिकतम दूरी (4,07,000 किमी.) की स्थिति को अपभू कहते हैं। अपभू की स्थिति में चन्द्रमा औसत से 20 प्रतिशत कम, निकटतम दूरी की स्थिति में औसत से 20 प्रतिशत अधिक ज्वार उत्पन्न करता है। दो समीप स्थिति तथा दो दूर स्थिति के ज्वारों में 29.5 दिन का अन्तर रहता है। ऐसे ज्वारों को समीपस्थ व दूरस्थ ज्वार कहते हैं।

सूर्य की भांति चन्द्रमा भी पृथ्वी के उत्तरायण तथा दक्षिणायण होता है। परिक्रमण करता हुआ चन्द्रमा माह में एक बार विषुवत रेखा के उत्तर और एक बार दक्षिण में होता है। चन्द्रमा का संयुक्ति मास लगभग 29½ दिन का होता है। उत्तरायण अवस्था में चन्द्रमा कर्क रेखा के समीप लम्बवत होकर पश्चिम की ओर अग्रसर होता है। इसी प्रकार माह में दूसरी बार अर्थात् दक्षिणायण अवस्था में चन्द्रमा मकर रेखा के समीप लम्बवत स्थिति में होता है। अतः यहां भी उच्च ज्वार पूर्व से पश्चिम की ओर गति करता है। इस प्रकार उत्तरायण अवस्था में कर्क रेखा के समीप उच्च ज्वार और मकर रेखा के समीप अपेक्षाकृत निम्न ज्वार होता है। दक्षिणायण अवस्था में इसकी विपरीत स्थिति होती है। विषुवत रेखा के दोनों ओर क्रमिक रूप से आने वाले ज्वारों का आकार असमान होता है किन्तु एकान्तरक ज्वार समान आकार के होते हैं।

भूमध्य रेखा के उत्तर-दक्षिण में क्रमशः ज्वार-भाटा आते रहते हैं जिनकी ऊँचाइयों में सामान्य ज्वार-भाटा से सदा विभिन्नता पाई जाती है। इसे ज्वार की दैनिक असमानता कहते हैं। माह में एक बार कर्क और दूसरी बार मकर रेखा पर चन्द्रमा का अधिकतम झुकाव रहता है। इस स्थिति में ज्वार की अधिकतम असमानता होती है। ऐसे ज्वार को **अयनवृत्तीय ज्वार** करते हैं। किन्तु जब चन्द्रमा विषुवत रेखा पर लम्बवत होता है तो ज्वारीय असमानता समाप्त हो जाती है। चन्द्रमा के विषुवत रेखा पर होने के समय उठ ज्वार को **विषुवत रेखीय ज्वार** कहते हैं। अयन रेखीय तथा विषुवत रेखीय ज्वार चन्द्रमा के झुकाव पर निर्भर करते हैं।

जब किसी स्थान पर 24 घन्टे 52 मिनट के अन्तराल पर ज्वार-भाटा आता है तो उसे दैनिक ज्वार-भाटा की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार का ज्वार-भाटा मैक्सिको की खाड़ी, फिलीपीन द्वीप समूह, अलास्का तथा चीन तट के समीप आता है। दैनिक ज्वारभाटा को सूर्य, पृथ्वी एवं चन्द्रमा की स्थिर गतियां प्रभावित करती हैं। यह मुख्य रूप से चन्द्रमा की झुकाव गति पर आधारित रहता है।
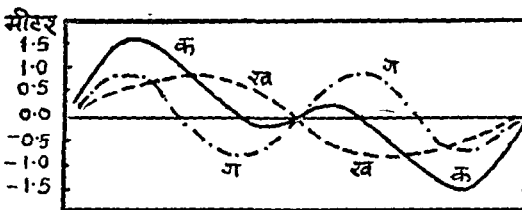
चित्र 29.12 ज्वार भाटा के प्रकार (क) मिश्रित ज्वार-भाटा (ख) दैनिक ज्वार-भाटा (ग) अर्द्ध दैनिक ज्वार-भाटा

जब किसी स्थान पर दिन में 12 घन्टे 26 मिनट के अन्तराल में दो बार ज्वार और दो बार भाटा होता है तो उसे अर्ध दैनिक ज्वार-भाटा कहते हैं। इस तरह के दोनों

ज्वार-भाटा में ऊंचाइयां तथा नीचाइयां क्रमश: बराबर रहती हैं। अर्ध दैनिक ज्वार-भाटा का मुख्य क्षेत्र अटलाण्टिक महासागर है।

जब किसी सागर में दो बार ज्वार-भाटा आता है तथा दोनों की ऊंचाई और नीचाई में अन्तर रहता है तो उसे मिश्रित ज्वार-भाटा कहा जाता है। कुछ के मत में दैनिक तथा अर्ध दैनिक ज्वार-भाटा के एक स्थान पर उत्पत्ति मिश्रित ज्वार-भाटा है जबकि कुछ यह मानते हैं कि अर्ध दैनिक ज्वार-भाटा की असमानताओं के कारण मिश्रित ज्वारभाटा बनता है। किन्तु यदि इनके समय में 12 घन्टा 26 मिनट का अन्तर नहीं होता तो इनके दैनिक तथा अर्ध दैनिक ज्वार-भाटा ही मानना चाहिए। इस प्रकार के एक समय के ज्वार की ऊंचाई दूसरे समय के ज्वार की ऊंचाई से भिन्न होती है तथा इसी प्रकार भाटा की नीचाइयों में भी असमानता पाई जाती है।

हिन्द तथा प्रशान्त महासागर में एक दैनिक तथा दूसरा अर्ध दैनिक ज्वार-भाटा आता है जबकि अटलाण्टिक महासागर में अर्ध दैनिक ज्वार-भाटा आते हैं। यह अनुभव किया गया है कि तट की बनावट, सागर का विस्तार एवं उसकी गहराइयां मिश्रित ज्वार-भाटा की ऊंचाइयों और नीचाइयों में अन्तर का कारण है।

ज्वार भाटा का समय

यदि चन्द्रमा स्थिर होता और पृथ्वी परिभ्रमण करती रहती तो प्रतिदिन ठीक समय पर ज्वार-भाटा आता किन्तु चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता हुआ उसके साथ सूर्य के

चित्र 29 13-विभिन्न प्रकार के ज्वार-भाटा का विश्व वितरण
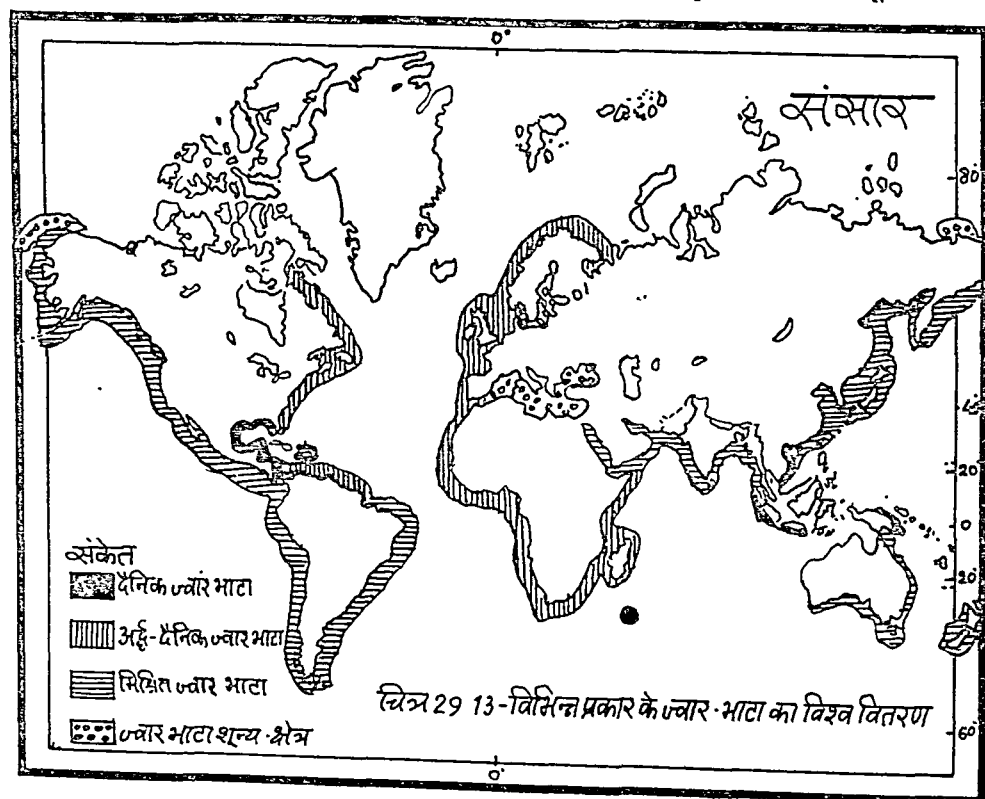
चारों ओर भी परिभ्रमण करता है। इस गति में चन्द्रमा प्रतिदिन कुछ आगे बढ़ जाता है, इसलिए इस बढ़ी हुई दूरी को तय करने में तथा उस स्थान को पुनः चन्द्रमा के नीचे पहुँचने में 52 मिनट लग जाते हैं। इस प्रकार उसी स्थान पर दूसरे दिन ज्वार आने का अन्तर 24 घन्टा 52 मिनट होता है। चन्द्रमा के विपरीत स्थान पर भी ज्वार उत्पन्न होता है। इस प्रकार दिन में दो ज्वारों के मध्य का अन्तर 12 घन्टा 26 मिनट होता है। किन्तु प्रतिदिन ज्वार के निश्चित समय में कोई परिवर्तन नहीं होता। ज्वार और भाटा के मध्य का अन्तर 6 घन्टा 13 मिनट होता है।

यदि चन्द्रमा की स्थिति 'क' पर है तो पृथ्वी के 'प' स्थान पर ज्वार आयेगा। पृथ्वी 24 घन्टे पश्चात् पुनः 'प' स्थान पर पहुँच जायेगी। किन्तु इतने समय में चन्द्रमा 'ख' स्थान पर पहुँच जायेगा जो 'फ' स्थान से लम्बवत है। अतः 'प' स्थान को चन्द्रमा के नीचे पहुँचने में 52 मिनट अतिरिक्त समय लगता है। चन्द्रमा 28 दिन में पृथ्वी का एक चक्कर पूरा करता है। चित्र में 'प' 'फ' स्थान इसके वृत्त का 1/28 भाग है। यदि पृथ्वी 'प' स्थान पर पुनः पहुंचने में 24 घन्टा लगाती है तो वह इस 1/28 भाग को $\frac{24 \times 60}{20} = 52$ मि. में पूरा करेगा।
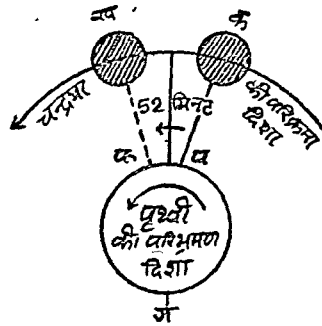
चित्र 29·14- सम्मुख ज्वार की द्वितीय स्थिति जिसमें 24 घन्टे 52 मि· लगते हैं अर्थात 52 मि· अधिक लगते हैं

ज्वार-भाटा के आने और उतरने के मध्यवर्ती समय में हर स्थान पर अन्तर पाया जाता है जो चन्द्रमा के झुकाव, तटों की बनावट, सागर की गहराई तथा महाद्वीपों से दूरी के कारण पैदा होता है। इन्हीं कारणों से ज्वार-भाटा के समय में अन्तर पाया जाता है जिसके फलस्वरूप दैनिक तथा अर्ध दैनिक ज्वार-भाटाओं की उत्पत्ति होती है।

ताहिती द्वीप के समीप केवल सूर्य के आकर्षण के कारण ही प्रतिदिन ठीक समय दोपहर और रात्रि के 12 बजे बिना 52 मिनट के अन्तर पर ज्वार उत्पन्न होता है। कुछ ऐसे स्थान भी हैं जहां ज्वार उत्पन्न ही नहीं होते, जैसे—भूमध्य सागर, पश्चिमी द्वीप समूह के निकट एवं बाल्टिक सागर।

ज्वार की ऊँचाई

ज्वार की ऊँचाई पर सागर की गहराई का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त नितल की रचना, तटों की बनावट एवं ज्वार की गति भी इसकी ऊँचाई को प्रभावित

करते हैं। खुले एवं गहरे सागर में ज्वारीय तरंग सामान्य ऊँचाई पर समान गति से अग्रसर होती है, किन्तु जब वह उथले सागरीय भाग में पहुँचती है तो उसका अगला भाग तल की रगड़ के कारण अवरुद्ध होना प्रारम्भ हो जाता है जबकि पिछला भाग गहरे जल में होने के कारण तीव्र गति से आगे बढ़ता है। परिणामस्वरूप अन्त में पिछला भाग अगले भाग पर चढ़ जाता है। यदि तट क्रमिक ढाल वाला और रेतीला होता है तो ज्वारीय तरंग टूट कर छिन्न-भिन्न हो जाती है।

ज्वार भित्ति

यदि ज्वारीय लहर नदी के मुहाने में प्रवेश करती है तो जल के बहाव की गति विपरीत दिशा में हो जाती है और ज्वारीय लहर के मार्ग में अवरोध पैदा हो जाता है। अत: नदी के संकरे मुहाने में जल की तेज गति के कारण जल की एक दीवार सी खड़ी हो जाती है तथा कुछ समय के लिए जल का प्रवाह विपरीत दिशा की ओर हो जाता है। इसी जल की दीवार को ज्वार-भित्ति कहते हैं।

विश्व की अनेक नदियों में ज्वार-भित्ति देखी जाती हैं। उच्च ज्वार के समय चीन में चांग टांग क्यांग नदी में हैनिंग पर 3.33 मीटर ऊंची ज्वार-भिति लगभग 29 किमी. प्रति घन्टा की गति से चलती है तथा अपने साथ 1 मिनट में 1.75 लाख टन जल ले जाती है। फ्रांस की सीन नदी में ज्वार भित्ति को मसकारेट कहते हैं। वर्षा काल में हुगली नदी के डाइमण्ड हारबर तथा खिदिरपुर बन्दरगाहों पर क्रमशः 6.09 मीटर (20 फीट) से 2.13 मीटर (7 फीट) तथा 4.87 मीटर (16 फीट) से 1.22 मीटर (2 फीट) ऊँची ज्वार भित्ति आ जाती है। हुगली, मेगना, पीगू, सितांग तथा खम्भात की खाड़ी में ज्वार-भित्ति का निर्माण हो जाता है।

ज्वारीय धाराएं

उथले महासागरों में अथवा ऐसी खाड़ियों में जो खुले सागरों या महासागरों से एक संकरे मार्ग द्वारा जुड़ी रहती है ज्वारीय धाराएँ उत्पन्न हो जाती हैं। जब महासागरों में ज्वार आता है तो उनका जल-तल खाड़ियों की अपेक्षा ऊँचा हो जाता है। अतः यह अति-रिक्त जल खाड़ियों के संकीर्ण मार्ग से उनमें प्रवेश करने लगता है जो महासागर से खाड़ी की ओर धारा जैसी चलती प्रतीत होती है। इसकी गति तीव्र होती है तथा यह जल प्रेरित धारा के नाम से जानी जाती है। किन्तु जब ज्वार के पश्चात् भाटा के समय जल स्तर गिरने लगता है तो महासागर और खाड़ी के जल-तलों में पुन: अन्तर उत्पन्न हो जाता है। अत: खाड़ी पूर्व में प्रेरित जल पुनः संकरे मार्ग द्वारा महासागर की ओर धारा के रूप में बहने लगता है। उथले सागर तटों पर ज्वार के समय जल धारा के रूप में बहता हुआ लगता है। नदियों के मुहाने तथा बन्दरगाहों पर उत्पन्न होने वाले ज्वार-भाटा की प्रकृति एवं तटों की बनावट का ज्वारीय धाराओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बहुत सी तो दीर्घ ज्वार आने के 3 घन्टे पूर्व और निम्न ज्वार के 3 घन्टे पश्चात् तक चलती हैं।

सम ज्वार रेखाएँ

महासागर की ज्वारीय तरंगों को मानचित्र पर सम ज्वार रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। सम ज्वार रखाएं वे रेखाएं है जो उन स्थानों को मिलाती हुई खीचीं जाती हैं जहां ज्वार एक ही समय उत्पन्न होता हो। महासागर में आगे बढ़ती हुई ज्वार-तरंग की गति एक समान नहीं रहती। तटों के साथ घर्षण, जल की गहराई तथा अन्य अवरोधों के

कारण उसकी गति भिन्न-भिन्न स्थानों पर विभिन्न हो जाती है किन्तु अधिकांश स्थानों पर उच्च ज्वार का समय समान रहता है। रेखाओं के सामने लिखित अंक पूर्णचन्द्र वाले दिनों में उत्पन्न होने वाले ज्वार का ग्रीनविच समय होता है। यदि दक्षिणी हिन्द महासागर के मध्य दोपहर के 12 बजे मुख्य तरंग उत्पन्न हुई, तो वह मेडागास्कर और मालद्वीप समूह पर लगभग 8 घन्टे में पहुँचेगी। अटलान्टिक महासागर में प्रवेश कर यह तरंग अन्य तरंग से मिल जाती है तथा ब्रिटिश द्वीप समूह तक दूसरे दिन मध्यान्ह को अर्थात् 24 घन्टों में पहुँचती है। इसी प्रकार 12 घन्टे पश्चात् यह प्रशान्त महासागर में उत्पन्न ज्वार से जाकर मिल जाती है। यह सिद्ध करता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर ज्वारीय तरंगों की गति पृथक-पृथक रहती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Fox, C. S. (1942), Physical Geography for Indian Students Macmillan and Co. Ltd., London).
2. King, C. A. M. (1969), Oceanography for Geographers (Edward Arnold (Publishers) Ltd., London).
3. Lake, P. (1955), Physical Geography (Cambridge University Press, London).
4. Marmer, H. A. (1926), The Tide (Appleton and Co., New York).
5. Monkhouse, F. J. (1955), The Principles of Physical Geography (University of London Press, London).
6. Sverdrup, Johnson and Fleming (1952), The Oceans (Asia Publishing House).
7. Russel, R. C. H. and Macmillan, D. H. (1952), Waves and Tides (Hutchinson).
8. Strahler, A. N. (1975), Physical Geography, 4th ed. (Wiley International Edition, New York).
9. Whipple, F. L. (1941), Earth, Moon and Planets (The Blackstone Co., Philadelphia).

30

महासागरीय धाराएँ
[Ocean Currents]

सामान्य परिचय—महासागर कभी भी शांत नहीं रहते। इनमें सदा किसी न किसी तरह की गति होती रहती है। यह गति तरंगों, ज्वार-भाटा तथा धाराओं द्वारा उत्पन्न होती है। तरंगों तथा ज्वार-भाटा से जल कणों में स्थानीय गति होती है जबकि धारा द्वारा जल की विशाल मात्रा को दूर तक स्थानान्तरित कर दिया जाता है। तरंग तथा ज्वार-भाटा महासागरों में सभी स्थानों पर मिलते हैं जबकि धाराओं का एक सुनिश्चित मार्ग होता है जिसका वह सतत अनुसरण करती रहती हैं। मोन्कहाउस के अनुसार महासागरों की सतह की वृहत जल राशि की एक निश्चित दिशा में होने वाली सामान्य गति को धारा कहते हैं। महासागरों की अपेक्षाकृत स्थिर जल राशि में एक ही निश्चित दिशा में धाराएं उसी प्रकार निरन्तर रूप से प्रवाहित होती हैं जैसे महाद्वीपों पर नदियाँ।

धाराओं की गति के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राचीन काल में बन्द बोतलों को धारा में किसी निश्चित स्थान पर छोड़ दिया जाता था तथा उसे किसी दूसरे निश्चित स्थान पर निकाल कर दूरी और समय के आधार पर धारा की गति की गणना की जाती थी। किन्तु सामुद्रिक विज्ञान के विकास के साथ-साथ धाराओं की गति जलयानों तथा अन्य वैज्ञानिक विधियों द्वारा ज्ञात की जाती है। सामान्यतया धाराओं की गति 2.3 किमी. से 10 किमी. प्रति घन्टा होती है।

धारा जल के भौतिक एवं रासायनिक गुण उसके किनारे के जल से भिन्न होते हैं। अर्थात् तापमान, दाब, लवणता तथा घनत्व सम्बन्धी गुणों में धाराओं व महासागरों के अन्य जल में विभिन्नता पाई जाती है। इसके अतिरिक्त एक धारा के भौतिक एवं रासायनिक गुण दूसरी धारा से नहीं मिलते। हमबोल्ट ने धाराओं की गति को जल के भौतिक गुणों पर आधारित माना है।

धाराएं सागर की सतह तथा उसकी गहराइयों में चलती हैं। अधिकांश धाराएं प्रचलित पवन की दिशा का अनुसरण करती हैं किन्तु कुछ इनकी विपरीत दिशा में भी चलती हैं। कुछ धाराएं तीव्र व कुछ मन्द गति से चलती हैं। तापमान के आधार पर गर्म और ठण्डी जल धाराएं होती हैं। सागर के गर्भ में क्षैतिज एवं ऊर्ध्वाकार दोनों ही गतियां होती हैं जो क्रमशः तलीय धाराएं व संनयन धाराएं कहलाती हैं।

धाराओं के बहाव के स्थान, दिशा, गति तथा तापमान के आधार पर इनको वर्गीकृत किया जाता है।
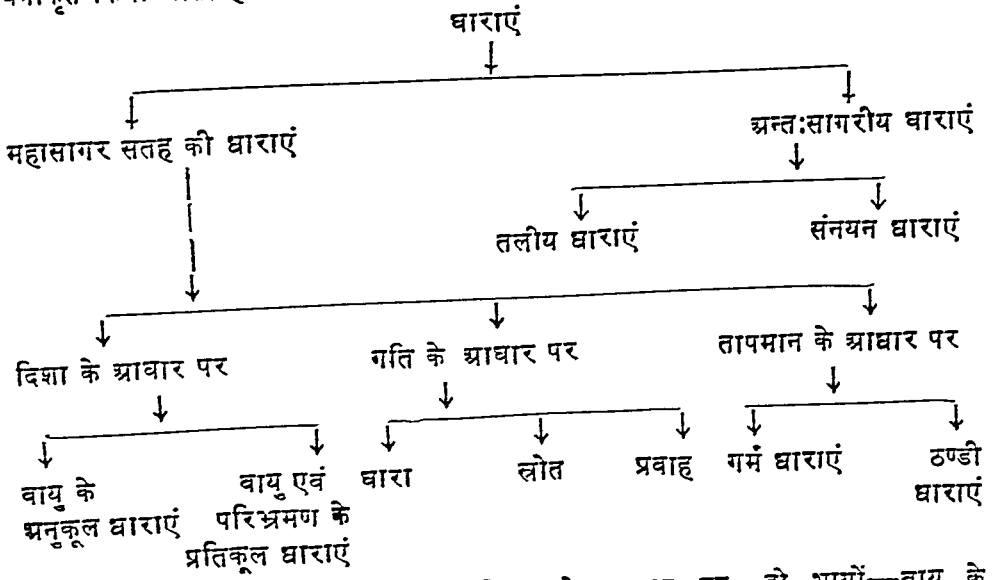
महासागरों की धाराओं को दिशा के आधार पर दो भागों—वायु के अनुकूल तथा वायु एवं प्ररिभ्रमण के प्रतिकूल धाराओं में विभक्त किया गया है। वह धाराएं जो वायु द्वारा नियंत्रित की जाती हैं, प्रचलित पवन की दिशा का अनुसरण करती हैं, जैसे उत्तरी तथा दक्षिणी भूमध्य रेखीय गर्म जलधाराएं। इन धाराओं की दिशा व्यापारिक पवन द्वारा नियंत्रित की जाती है।

उपरोक्त धाराओं के विपरीत सन्मार्गी पवन एवं पृथ्वी के परिभ्रमण की दिशा के प्रतिकूल पश्चिम से पूर्व की ओर भूमध्य रेखीय प्रतिकूल धारा चलती है।

गति के आधार पर धाराओं को तीन भागों में विभक्त किया गया है। धारा मध्यम गति से चलती है। इसकी गति स्रोत से कम किन्तु प्रवाह से अधिक होती है। धारा की गति साधारणतया 2.3 किमी. से 10 किमी. प्रति घन्टा होती है।

स्रोत को सागर की सरिता भी कहते हैं। यह संकीर्ण एवं सुनिश्चित सीमा में सागर की सबसे तीव्र गति है। इसका वेग साधारणतया 160 किमी. प्रतिदिन है। फ्लोरिडा के समीप इसकी गति 90 मीटर प्रति घन्टा से भी अधिक हो जाती है।

पछुवा पवन के क्षेत्र में वायु के निरन्तर घर्षण के कारण महासागरों की सतह की उथली अपार जलराशि संमार्गी पछुवा पवन के साथ निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इस जलराशि को पछुवा प्रवाह कहते हैं। प्रवाह की गति धारा एवं स्रोत दोनों ही से कम होती है। इसकी गति 14 किमी. से 24 किमी. प्रतिदिन होती है।

तापमान के आधार पर धाराओं को गर्म तथा ठण्डी धाराओं में वर्गीकृत किया गया है।

गर्म धाराएं विषुवत रेखा की ओर के गर्म सागरों से उत्तरी तथा दक्षिणी महासागरीय ठण्डे क्षेत्रों की ओर निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं, जैसे अटलाण्टिक महासागर की गल्फ स्ट्रीम।

गर्म धाराओं के विपरीत उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों के ठण्डे जल के क्षेत्रों की ओर से विषुवत रेखा की ओर ठण्डी जल धाराएं सतत प्रवाहित होती रहती हैं, जैसे अटलाण्टिक महासागर की लेब्राडोर धारा तथा फाकलैण्ड धारा।

सागर के गर्भ में क्षैतिज एवं लम्बवत दोनों ही प्रकार की गतियां होती रहती हैं। सागर की तली पर धाराएं क्षैतिज रूप से चलती हैं, अतः इनको तलीय धाराएं कहते हैं। किन्तु सागर के अन्दर जल का ऊर्ध्वाधर संचालन भी होता है इस प्रकार के संचालन को संनयन धाराएं कहते हैं।

तलीय धाराएं—जिस प्रकार सागर की सतह पर न्यून घनत्व के जल का अधिक घनत्व के जल की ओर धाराओं के रूप में संचालन होता रहता है, ठीक उसी प्रकार महासागरों की तली में सतह की धाराओं के विपरीत उच्च घनत्व की जलराशि न्यून घनत्व की जलराशि की ओर सतत प्रवाहित होती रहती है। इस प्रकार महासागर अपने परिवहण को पूरा करता रहता है।
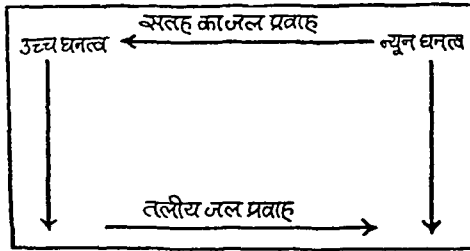
चित्र 30·1-तलीय एवं संनयन धाराएँ

संनयन धाराएं जल के घनत्व में उल्लेखनीय वृद्धि प्रबल अवरोही धाराओं में परिणित हो जाती है। ध्रुवीय महासागरीय क्षेत्रों का ठण्डा और अपेक्षाकृत अधिक घनत्व का जल नीचे को डूबने लगता है। इसके विपरीत उष्ण महासागरीय क्षेत्रों को नीचे गिरते हुए जल तल की पूर्ति करने नीचे से आरोही धाराएं चलती रहती हैं।

महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति

महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति के कारणों को प्राथमिक एवं गौण दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। इन्हें पृष्ठ 641 पर दिया गया है।

महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति के प्राथमिक कारण कई हैं। पृथ्वी के आकार के कारण उष्ण प्रदेशीय महासागरों में सूर्य लगभग लम्बवत चमकता है जिसके कारण जल का तापमान ऊंचा हो जाता है। गर्म जल फैलकर सतह की धारा के रूप में ठण्डे ध्रुवीय महासागरों की ओर प्रवाहित होता रहता है। ठीक इसके विपरीत ध्रुवीय क्षेत्रों का शीतल जल अपेक्षाकृत अधिक भारी होने के कारण नीचे को खिसककर सागर के गर्भ में वृहत् जल राशि के रूप में ध्रुवीय महासागरों से विषुवत रेखा की ओर प्रवाहित होता रहता है। यह जल नीचे से ऊपर को उठकर विषुवत रेखीय महासागरीय क्षेत्रों में जल की पूर्ति करता रहता है। इस प्रकार तापमान की विभिन्नता के कारण विषुवत रेखा की ओर से गर्म जल सतह की धारा के रूप में ध्रुवों की ओर तथा ध्रुवों की ओर से ठण्डा और भारी जल तलीय धारा के रूप में विषुवत रेखा की ओर निरन्तर प्रवाहित होता रहता है।
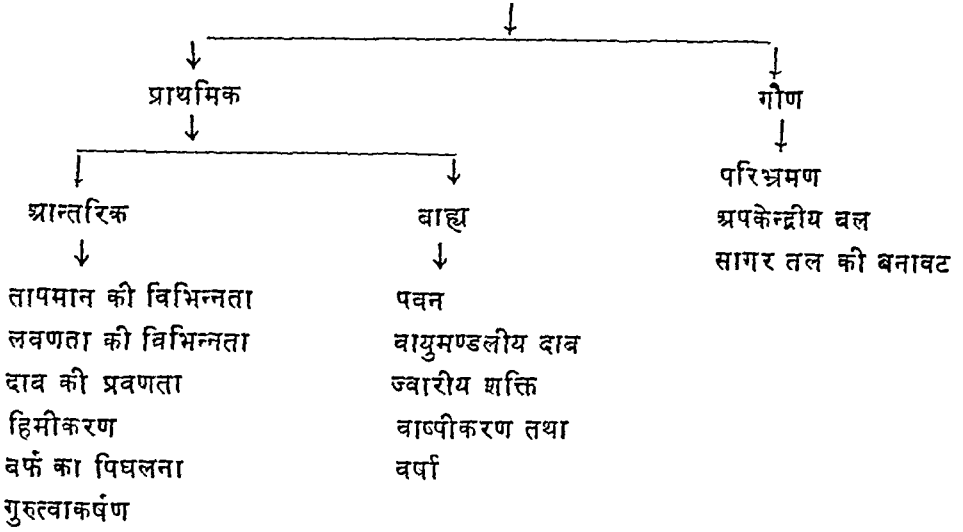
खारा पानी स्वच्छ जल की अपेक्षा अधिक घनत्व का व भारी होता है। जहां वाष्पीकरण की क्रिया तीव्र होती है वहां के पानी में लवण की मात्रा अधिक हो जाती है। अतः हल्के व स्वच्छ जल की धारा सतह पर खारे पानी की ओर चलती है। इसके विपरीत खारा पानी भारी होने के कारण तल में बैठ जाता है जिससे खारे पानी की तलीय धाराएं खुले सागर की ओर चलती हैं। भूमध्य सागर की ओर से अधिक घनत्व के खारे पानी की तलीय धारा अटलान्टिक महासागर की ओर तथा अटलाण्टिक महासागर की ओर से अपेक्षाकृत कम खारे और हल्के पानी की सतह की धारा निरन्तर चला करती हैं। इसी प्रकार लाल सागर की ओर से अधिक घनत्व की तलीय धारा अरब सागर की ओर तथा अरब सागर की ओर से हल्के तथा कम घनत्व की सतह की धाराएं सतत चला करती हैं। इनको घनत्व की धाराएं भी कहते हैं।

सागरीय जल में तापमान, लवणता, घनत्व, अपकेन्द्रीय बल एवं गुरुत्वाकर्षण की विभिन्नता के कारण जल की दाब प्रवणता में अन्तर पैदा हो जाता है। विषुवत रेखा पर लवणता अधिक होते हुए भी तापमान अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण जल फैल जाता है जिससे उसका घनत्व कम हो जाता है। कम घनत्व के जल का दाब भी कम होता है। अतः विषुवत रेखा की ओर से ध्रुवों की ओर सतह की धाराएं चला करती हैं इसके ठीक विपरीत ध्रुवीय सागरों में प्रतिकूल अवस्था पाई जाती है। ध्रुवीय क्षेत्रों में हिम जमने के कारण बर्फ की परत के नीचे पानी में लवणता की मात्रा बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप वह अपेक्षाकृत अधिक घनत्व का हो जाता है। अधिक घनत्व के जल का दाब भी बढ़ जाता है। अतः दाब से जल डूबने लगता है। सागर की निचली परतों में पहुँच कर ठण्डा जल फैल जाता है तथा शनैः-शनैः विषुवत रेखा की ओर अग्रसित होता रहता है। दाब की प्रवणता तथा घनत्व की विभिन्नता के कारण संनयन धाराओं की उत्पत्ति होती है। ये शीतकाल में अपेक्षाकृत तीव्र हो जाती हैं।

मध्यवर्ती अक्षांशों में भूमध्य सागर और लाल सागर में अपवाद पाये जाते हैं जहां उच्च ताप तथा अति लवणता का जल वृहत् गहराइयों में पाया जाता है जहां पानी का

दाब बहुत है। अतः भूमध्य सागर तथा लाल सागर से क्रमशः अटलान्टिक महासागर व अरब सागर की ओर तलीय धाराओं का सतत प्रवाह होता रहता है। महासागरों की ऊपरी परतों में क्षैतिज दिशा में घनत्व में अन्तर पाये जाते हैं किन्तु अगाध जल में यह अल्प होती हैं।

कोटर के अनुसार हिमीकरण अर्थात् बर्फ जमने के कारण नीचे के पानी में लवणता की मात्रा बढ़ जाती है। जल में घनत्व की वृद्धि के परिणामस्वरूप अवरोही धाराएँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा तलीय उष्ण जल कटिबन्धीय क्षेत्रों की ओर प्रवाह प्रारम्भ कर देता है। किन्तु हिम पिघलने से ताजा, स्वच्छ एवं कम घनत्व का जल सतह की धारा के रूप में ध्रुवों की ओर से उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों की ओर धारा के रूप में प्रवाहित होता रहता है।

पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण अभिकेन्द्रीय बल का सृजन होता है। इस बल के कारण पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को केन्द्र की ओर आकर्षित करती है। परिभ्रमण के कारण अप-केन्द्रीय बल पैदा होता है जिससे प्रत्येक वस्तु पृथ्वी से बाहर जाने की चेष्टा करती है। यह बल विषुवत रेखा पर, पृथ्वी की अधिक गति होने के कारण, सबसे अधिक होता है। इसके विपरीत अभिकेन्द्रीय बल ध्रुवों पर सबसे अधिक होता है। अतः ध्रुवीय क्षेत्रों में गहराई के साथ-साथ गुरुत्व में भी वृद्धि होती जाती है। इसलिए अपेक्षाकृत अधिक गुरुत्व के क्षेत्र में सतह का जल नीचे की ओर सरकना प्रारम्भ कर देता है। इसके विपरीत कम गुरुत्व के विषुवत रेखीय क्षेत्र से सतह का जल ध्रुवों की ओर प्रवाहित होता रहता है।

धाराओं की उत्पत्ति के कई बाह्य कारण हैं। संमार्गी पवन और धाराओं का अभिन्न सम्बन्ध है। पवन सागरीय जल को दो तरह से प्रभावित करती हैं। प्रथम अवस्था में पवन घर्षणात्मक बल द्वारा सागर की छिछली पृष्ठीय परत में गति का संचार कर देती हैं। दूसरी अवस्था में पवन द्वारा जल के परिवहन से सागर जल में घनत्व के वितरण में परिवर्तन होने लगता है जिससे धाराओं का विकास होता है। धाराएँ पवन दिशा का अनुसरण करती हैं जैसे विषुवत रेखीय भागों में व्यापारिक पवन की दिशा के ही अनुरूप धाराएँ पूर्व से पश्चिम की ओर प्रवाहित होती हैं। इसी प्रकार पछुआ पवन के क्षेत्र में पछुआ प्रवाह पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं। धाराओं की गति केवल पवन की शक्ति पर ही निर्भर नहीं रहती अपितु जलराशि के विस्तार एवं आकार पर भी निर्भर रहती है।
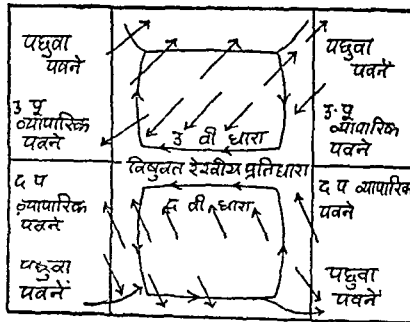
चित्र 30·2–समागी पवनो का धाराओं की दिशा पर प्रभाव

उदाहरणार्थ यदि खुले सागर में व्यापारिक पवन की गति एक नॉट है तो यह पवन

की औसत गति का पाचवां भाग होगा। कार्ल जोपरिज ने गणित से परिकलन कर पवन तथा धाराओं की दिशा के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया। स्वेरड्रुप ने पवन और धाराओं के प्रवाह की गति के मध्य अनुपात निकाला। उनके अनुसार यदि पवन की गति 50 किमी. प्रति घन्टा है तो धारा का प्रवाह 3/4 किमी. प्रति घन्टा होगा।

फिण्डलें के अनुसार सागर की गहराई के साथ-साथ जल का घनत्व बढ़ता है। अतः गहराई के साथ पवन का प्रभाव भी कम हो जाता है। उनके अनुसार 10 से 19 मीटर की गहराई तक पवन की गति का प्रभाव विशेष रूप से रहता है। यह निर्विवाद सत्य है कि धाराओं की उत्पत्ति में पवन का बहुत बड़ा योगदान है।

बाह्य कारणों में वायुमण्डलीय दाब भी धाराओं की उत्पत्ति का कारण माना जाता है। वायु दाब पृथ्वी पर असमान रूप से पाया जाता है। ठोस वस्तु की अपेक्षा तरल पदार्थों पर वायुदाब का अधिक प्रभाव होता है। जहाँ दाब अधिक होता है वहां की सागर सतह कुछ नीचे दब जाती है और जहां कम होता है वहां की सतह अपेक्षाकृत ऊँची रहती है। जल की अपेक्षा पारा 13 गुना भारी होता है। अतः जहां पारा 1 सेमी. दबता है वहाँ जल की सतह 13 सेमी. दब जाती है। इस प्रकार वायुदाब की विभिन्नता के कारण जल की गति न्यून दाब वाले स्थानों से उच्च दाब वाले स्थानों की ओर होती है जो वायु की गति के विपरीत है। वायुदाब की असमानता जल तल में असमानता पैदा करती है जिसके फलस्वरूप धाराएँ जन्म लेती हैं।

यद्यपि ज्वारीय शक्ति धाराओं को जन्म देती है किन्तु घनत्व, लवणता, पवन आदि की तुलना में यह शक्ति बहुत कम होती है। अखण्ड एवं संकीर्ण जल संयोजकों में जहां अर्ध दैनिक ज्वार-भाटा अधिक प्रभावी होता है, ज्वारीय धाराएँ प्रति 6 घन्टे में अपनी दिशा उलट देती हैं, किन्तु जहां दैनिक ज्वार-भाटा होता है वहां ये धाराएँ प्रति 12 घन्टे में अपनी दिशा उलटती हैं। साधारणतः खुले सागरों में ज्वार-भाटा धाराएं पृथ्वी की परिवहन शक्ति के कारण दिशाएँ बदलती रहती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में दिशा परिवर्तन दक्षिणावर्त्त तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में वामावर्त्त होता है।

ज्वार-भाटा की धाराएं ज्वार-भाटा के लक्षण, जल की गहराई और तट की आकृति से प्रभावित होती हैं। यह ज्वार-भाटा के साथ-साथ नियमित रूप लयबद्ध ढंग से उत्पन्न होती हैं। खुले सागरों की अपेक्षा इनको संकीर्ण और बन्द सागरों में स्पष्ट देखा जा सकता है।

यह अनुमान लगाया गया है कि लगभग 10 प्रतिशत ऊर्जा वायुमण्डल में संचालित होती है और शेष 90 प्रतिशत वाष्पीकरण में काम आती है। इस प्रकार महासागरों में वाष्पीकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वेरड्रुप तथा जेकब्स के अनुसार महासागरों में विभिन्न अक्षांशों तथा देशान्तरों में वाष्पीकरण में अन्तर रहता है। साधारणतः ऊंचे अक्षांशों की तुलना में नीचे अक्षांशों में वाष्पीकरण अधिक होता है। वाष्पीकरण के कारण जल के घनत्व तथा लवणता में वृद्धि हो जाती है और जल तल नीचा हो जाता है जिससे जल धाराएं उत्पन्न होती हैं।

विषुवत रेखा पर वाष्पीकरण अधिक होता है किन्तु वर्षा द्वारा उसकी क्षतिपूर्ति करदी जाती है। 20^0 तथा 30^0 उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों के मध्य स्वच्छ आकाश के कारण

वाष्पीकरण अधिक और वर्षा बहुत कम होने से लवणता अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है जिसके कारण अभिसरण होत है। अतः विषुवत रेखा की ओर से अयन रेखाओं की ओर धाराएं प्रवाहित होती हैं। इसी तरह ध्रुवीय क्षेत्रों से भी मध्य अक्षांशों की ओर ठण्डी धाराएं चलती रहती हैं।

जलधाराओं के विकास तथा प्रवाह की दिशा को निर्धारित करने वाले कई गौण कारण भी हैं।

पृथ्वी की परिभ्रमण गति न केवल धाराओं को उत्पन्न करने में सहायक होती है, अपितु धाराओं की दिशा का निर्धारण करने में भी बहुत बड़ा योगदान करती है। पृथ्वी अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है। विषुवत रेखा पर इसकी गति सर्वाधिक होती है तथा ध्रुवों की ओर घटती जाती है। जल तरल होने के कारण ठोस पृथ्वी की गति के साथ समानुरूपता नहीं रख पाता। अतः विषुवत रेखा पर पृथ्वी की गति के विपरीत जल पीछे छूटता जाता है जिसके परिणामस्वरूप एक विपरीत विषुवत रेखीय जलधारा विकसित होती रहती है जिसकी गति पश्चिम से पूर्व की ओर होती है।

पृथ्वी की परिभ्रमण गति सागरीय जल में विक्षेप उत्पन्न करती है। साधारणतः महासागरों के जल की गति विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर होती है। पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण ये धाराएं उत्तरी गोलार्द्ध में दायीं ओर और दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर मुड़ जाती हैं। विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर कोरिओलिस बल के कारण विक्षेप बढ़ता जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में विषुवत रेखा के समीप धाराओं की दिशा दक्षिण-पश्चिम होती है जो उत्तर की ओर आगे चलकर पश्चिम से पूर्व की ओर हो जाती है और उसके पश्चात् उत्तर-दक्षिण हो जाती है। इस प्रकार महासागर के मध्य एक भंवर की उत्पत्ति होती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में विषुवत रेखा के समीप जल की गति प्रारम्भ में उत्तर-पश्चिम होती है जो आगे चलकर पश्चिम से पूर्व और तत्पश्चात् उत्तर की ओर हो जाती है। इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध की भांति दक्षिणी गोलार्द्ध में भी जलधाराऐं एक सम्पूर्ण चक्र की रचना करती है जिसके मध्य भंवर पैदा हो जाती है।

अपकेन्द्रीय बल के कारण विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर जल गतिमान होता रहता है। फलस्वरूप धाराओं की उत्पत्ति होती है।

धाराओं की दिशा में परिवर्तनकारी कारक

धाराओं की दिशा को प्रभावित एवं परिवर्तन करने वाले कारकों में वायु एवं पृथ्वी की परिभ्रमण गति है। इसके अतिरिक्त स्थल की बनावट, महासागरों की तलहटी की आकृति, ऋतु परिवर्तन, अभिसरण तथा अपसरण अन्य कारक हैं जो धाराओं की दिशा को निर्धारित तथा नियन्त्रित करते हैं।

महाद्वीपों की आकृति का धाराओं की दिशा निर्धारण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अधिकांश महाद्वीपों के उत्तर-दक्षिण विस्तार के कारण वह पूर्व से पश्चिम की ओर बहने वाली धाराओं के मार्ग में अवरोधक का कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में उत्तरी-विषुवत रेखीय धारा, उत्तरी अमेरिका के मार्ग में आ जाने के कारण, मैक्सिको की खाड़ी में प्रवेश कर अपना मार्ग बदल देती है। इसी प्रकार दक्षिणी

अटलाण्टिक महासागर में दक्षिणी विषुवत रेखीय धारा दक्षिणी अमेरिका के अवरोधक के रूप में आ जाने के कारण ब्राजील के तट पर पहुँच कर अपना मार्ग परिवर्तन कर देती है। सानरोक अन्तरीप से एक शाखा उत्तर की ओर तथा दूसरी दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। यदि महाद्वीपों का विस्तार धाराओं के लम्बवत न होकर उनके समानान्तर होता तो मार्ग में रुकावट न आने के कारण सभी धाराएं भूमध्य रेखा के समानान्तर पृथ्वी का चक्कर काटती रहतीं। महाद्वीपों के अतिरिक्त धाराओं पर द्वीपों की बनावट का भी प्रभाव पड़ता है। प्रशान्त महासागर में द्वीप अवरोधक के रूप में धाराओं को नियन्त्रित करते हैं तथा धाराएं उनकी तट रेखा के अनुरूप अपनी दिशा निर्धारित करती हैं।

महासागरों की तली की आकृति का भी धाराओं की दिशा परिवर्तन पर किसी सीमा तक प्रभाव होता है! तली की आकृति एवं गहराई धाराओं की प्रवाह दिशा में *व्यवधान उत्पन्न कर देती हैं। उष्ण कटिबन्धों में व्यापारिक पवन तथा पृथ्वी की तीव्र* परिभ्रमण गति के कारण महासागरों की तली की आकृति का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि उच्च अक्षांशीय क्षेत्रों में पड़ता है। सागरीय धाराएं तल के ढाल का अनुसरण करती हैं तथा दाब और गुरुत्वाकर्षण बल से नियन्त्रित होती हैं।

अटलाण्टिक महासागर के मध्य उत्तर से दक्षिण की ओर विस्तृत एक कटक है जो 11,200 किमी. की लम्बाई में फैली हुई है। विस्तृत मध्य कटक से अनुप्रस्थ कटकें निकलती हैं जो अटलाण्टिक महासागर के जल प्रवाह को प्रभावित करती हैं।

सूर्य की लम्बवत् स्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ तापीय विषुवत् रेखा कुछ उत्तर और कुछ दक्षिण की ओर खिसकती रहती है, परिणामस्वरूप उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों में न केवल तापीय परिवर्तन ही होते हैं, अपितु वायु की पेटियां भी ग्रीष्म-काल में उत्तर और शीतकाल में दक्षिण की ओर खिसक जाती है। वायु की पेटियों के साथ-साथ धाराओं को प्रवाह क्षेत्र भी खिसकता रहता है।

यों तो ऋतु परिवर्तन का प्रभाव सभी जलधाराओं पर होता है, किन्तु हिन्द महासागर में यह परिवर्तन विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। हिन्द महासागर में धारायें मानसून पवनों की दिशा का अनुसरण करती हैं। शीत-ऋतु में मानसून की दिशा उत्तर-पूर्व होती है। अत जलधारा का प्रवाह भी पूर्व से पश्चिम की ओर होता है। इसके विपरीत ग्रीष्म-ऋतु में मानसून की दिशा दक्षिण-पश्चिम होती है, अतः जलधारा के प्रवाह में भी अन्तर आ जाता है तथा इसकी दिशा पश्चिम से पूर्व को हो जाती है। मानसून पवनों के प्रभाव से ही ग्रीष्म-ऋतु में विषुवत् रेखीय जलधारा का विकास होता है जो अरब सागर में मुड़कर भारतीय प्रायद्वीप के सहारे होती हुई बंगाल की खाड़ी तक पहुंचती है। शीत-ऋतु के विषुवत रेखीय विपरीत धारा की उत्पत्ति होती है तथा विषुवत रेखीय धारा लुप्त हो जाती है। इस प्रकार ऋतु-परिवर्तन और समुद्री धाराओं की दिशा परिवर्तन में उल्लेखनीय सम्बन्ध है।

जल राशियों के अभिसरण तथा अपसरण से भी महासागरीय जल की दिशा में परिवर्तन आ जाता है। अभिसरण जल की डूबती हुई राशि को कहते हैं। यह सामान्यतः ध्रुवीय क्षेत्रों में होता है जहां जल का घनत्व अधिक होता है। इसके विपरीत अपसरण

अर्थात् जल की आरोही गति ऊष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में महाद्वीपों के पश्चिमी किनारों पर पाई जाती है। पश्चिमी किनारों पर संगार्गी पवन पृष्ठीय जल को तटों से दूर ले जाती हैं जिसकी क्षतिपूर्ति के लिए नीचे से आरोही जल प्रवाह निरन्तर गतिमान रहता है। अभिसरण अर्थात् अवरोही जल प्रवाह के कारण जल-तल नीचे हो जाता है जिसकी क्षतिपूर्ति के लिए सागर-सतह की धारा उस अवतलित जल राशि की ओर प्रवाहित होती रहती है। अपसरण में आरोही जल-प्रवाह होता है जिसके कारण अतिरिक्त जल की मात्रा धाराओं के रूप में बहने लगती है।

महासागरीय धाराओं का वितरण

अटलांटिक महासागर की धारायें—व्यापारिक उपयोग की दृष्टि से अटलाण्टिक महासागर की धाराएँ उल्लेखनीय हैं। इस महासागर में धाराओं का प्रवाह क्रम एक विस्तृत एवं सुनिश्चित प्रणाली का द्योतक है। उत्तरी एवं दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर की प्रवाह दिशाओं में विभिन्नता पाई जाती है जो संमार्गी पवन का अनुसरण करती है।

उत्तरी अटलांटिक महासागर की धाराएँ

उत्तरी भू-मध्य रेखीय धारा—यह धारा उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीका के तट के समीप अपेक्षाकृत ठण्डी कनारी धारा के अतिरिक्त जल तथा अपसरण के कारण जन्म लेती है। यह व्यापारिक पवनों द्वारा पूर्व से पश्चिम की ओर गर्म जलधारा के रूप में प्रवाहित होती है। इसका प्रवाह क्षेत्र 0° से 10° उत्तरी अक्षांशों के मध्य है। यह एक उथले अर्थात् 200 मीटर गहरे जल की धारा है जो मन्द गति अर्थात् 25 किमी. से 28 किमी. प्रतिदिन के हिसाब से बहती है। 60° पश्चिमी देशान्तर के समीप दक्षिणी भू-मध्य रेखा की धारा की एक शाखा इससे आकर मिल जाती है। यह दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। एक शाखा पश्चिमी द्वीप समूह के पूर्व में होती हुई उत्तर की ओर मुड़ जाती है। यहां इसे एण्टीलिज़ धारा के नाम से सम्बोधित करते हैं। आगे चलकर यह धारा बहामा द्वीप समूह के समीप फ्लोरिडा की धारा में मिल जाती है।

दूसरी शाखा पश्चिमी द्वीप समूह के दक्षिण में बहती हुई केरिबियन सागर में प्रवेश करती है। आगे चलकर यह यूकटन जलसन्धि में होती हुई मैक्सिको की खाड़ी में प्रवेश करती है।

भू-मध्य रेखीय विपरीत धारा—उत्तरी तथा दक्षिणी भू-मध्य रेखीय जलधाराओं के मध्य शान्त पेटी (Equatorial Calm) में भू-मध्य रेखा के उत्तर की ओर इसके समानान्तर पश्चिम से पूर्व भू-मध्य रेखीय धारा की विपरीत दिशा में प्रवाहित होती है। यह सागरीय जल तल की असमानता तथा पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण पैदा होती है। उत्तरी तथा दक्षिणी भू-मध्य रेखीय धाराएँ दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी किनारे पर अपार जल राशि इकट्ठा कर देती हैं जिससे जल तल ऊँचा हो जाता है। अतः जल तल में समानता लाने के लिए यह उनकी विपरीत दिशा में चलती है तथा पूर्व की ओर गिनी की धारा के नाम से जानी जाती है क्योंकि यह गिनी की खाड़ी में प्रवेश कर जाती है। अगस्त में यह 50° पश्चिमी देशान्तर तथा फरवरी में 25° पश्चिमी देशान्तर से उत्पन्न होती है। यह एक अत्यन्त उथली धारा है जिसकी गहराई 40 से 140 मीटर के मध्य मापी गई है।

जल तल के ढाल के कारण यह उत्तरी एवं दक्षिणी भू-मध्य रेखीय धाराओं से अपेक्षाकृत कुछ तीव्र गति से चलती है।

गल्फ स्ट्रीम क्रम—उत्तरी भू-मध्य रेखीय धारा द्वारा अटलाण्टिक महासागर के पश्चिमी किनारे पर संकलित जल राशि से जब मैक्सिको की खाड़ी में जल-तल उठ जाता है तो गल्फ स्ट्रीम क्रम धारा जन्म लेती है। यह क्रम लगभग 20° उत्तरी अक्षांश से प्रारम्भ होकर 60° उत्तरी अक्षांश तक फैला हुआ है। इस क्रम को तीन भागों—फ्लोरिडा धारा, गल्फ स्ट्रीम व उत्तरी अटलांटिक महासागरीय प्रवाह में विभाजित किया गया है।

फ्लोरिडा धारा—उत्तरी भू-मध्य रेखीय धारा मैक्सिको की खाड़ी की परिक्रमा करती हुई फ्लोरिडा जलसन्धि तथा क्यूबा के मध्य से प्रवाहित होती है। यह एक जलीय धारा (Hydraulic Current) है जो मैक्सिको की खाड़ी में उत्तरी भू-मध्य रेखीय जल-धारा एवं मिसीसिपी तथा मिसौरी नदियों की अपार जल राशि के कारण जल-तल के उभार के कारण उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त इसको व्यापारिक पवन से शक्ति मिलती है तथा सारगेसो सागर से गुप्त ताप प्राप्त करती है। यह फ्लोरिडा से लगभग 35° उत्तरी अक्षांश तक फीते के रूप में एक ओर दक्षिण में सारगेसो सागर और दूसरी ओर उत्तरी अमेरिका के पूर्वी महासागरीय मग्न तट के मध्य महासागरीय ढाल पर चलती है। इस प्रकार यह दो असमान तापमान के महासागरीय जलों को विभाजित करती है। इसके दक्षिण में महासागर जल का तापमान 20° सेग्रे. और उत्तर में 14° सेग्रे. रहता है। फ्लोरिडा के समीप इसका तापमान 24° सेग्रे. तथा 30° उत्तरी अक्षांश के समीप 6.5° सेग्रे. हो जाता है। 33° उत्तरी अक्षांश तक यह ब्लैकी जलमग्न पठार पर 800 मीटर की गहराई तक चलती है तथा उसके पश्चात् इसकी गहराई लगभग 1500 मीटर हो जाती है। फ्लोरिडा जलसन्धि के समीप इसकी चौड़ाई 40 किमी, कैनवरेल जलसन्धि के समीप 96 किमी. तथा चार्ल्सटन (32° उ. अक्षांश) के समीप 192 से 270 किमी. तक हो जाती है। इसकी औसत गति 40 किमी. प्रतिदिन है किन्तु फ्लोरिडा जल सन्धि से प्रवाहित होते समय इसकी गति 160 किमी. प्रतिदिन तक आंकी गई है। महासागर के अन्य जल से इसके रंग में भी अन्तर पाया जाता है तथा यह अपेक्षाकृत अधिक नीली दिखाई देती है।

गल्फ स्ट्रीम—हेटरस अन्तरीप अर्थात् 35° उत्तरी अक्षांश से ग्रांड बैंक (न्यूफाउण्डलैंड) अर्थात् 47° उत्तरी अक्षांश तक फ्लोरिडा धारा को गल्फ स्ट्रीम के नाम से सम्बोधित करते हैं। 40° उत्तरी अक्षांश से गल्फ स्ट्रीम की दिशा उत्तर-पूर्व की ओर हो जाती है तथा यह उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट से दूर हो जाती है।

उत्तरी अमेरिका की समस्त नदियां एवं हिमानियां जितना जल प्रवाह करती हैं उसका 33 गुना जल केवल गल्फ स्ट्रीम द्वारा बहाया जाता है तथा यह 1,210,000 टन नमक प्रति सैकण्ड उत्तर की ओर ले जाती है। खुले सागर में इसकी गति 16 से 24 किमी. प्रतिदिन, न्यूयार्क के समीप 112 किमी. और ग्राण्ड बैंक से पूर्व की ओर मुड़ने पर 50 किमी. प्रतिदिन हो जाती है। यह सारगैसो सागर के जल को अटलांटिक महासागर के पश्चिमी तटीय जल से विभक्त करती है। हेटरस अन्तरीप से ग्राण्डबैंक तक इसका तापमान लगभग 5° सेग्रे. गिर जाता है। 40° उत्तरी अक्षांश के समीप यह लेब्राडोर की ठण्डी जलधारा से मिलती है जिससे न्यूफाउण्डलैंड के निकट कुहरा उत्पन्न हो जाता है।

दक्षिणी अटलांटिक महासागर की धाराएं

दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा—यह एक गर्म धारा है जो दक्षिणी-पूर्वी व्यापारिक पवनों के कारण पश्चिमी अफ्रीका के तट के समीप उत्पन्न होकर विषुवत रेखा के दक्षिण में पूर्व से पश्चिम की ओर समानान्तर चलती है।

ब्राजील की धारा—दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा पश्चिम की ओर बहती हुई दक्षिणी अमेरिका के सेन रॉक अन्तरीप से टकराती है जिसके फलस्वरूप इसकी दो शाखायें हो जाती हैं। एक शाखा उत्तर-पश्चिम में उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा से मिल जाती है और दूसरी शाखा ब्राजील के तट के सहारे-सहारे दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है। 40° दक्षिणी अक्षांश तक इस धारा को ब्राजील की धारा कहते हैं। यह एक गर्म धारा है। गल्फस्ट्रीम की तुलना में ब्राजील की धारा केवल दसवां हिस्सा जल की मात्रा प्रवाहित करती है। 30° दक्षिणी अक्षांश पर प्लेट नदी के मुहाने के समीप यह धारा फॉकलैण्ड की ठण्डी धारा से मिलती है। यहां यह पछुवा पवन के क्षेत्र में आ जाने के कारण पूर्व दिशा की ओर मुड़ जाती है।

ब्राजील की गर्म तथा फाकलैण्ड की ठण्डी धाराएँ प्लेट नदी के मुहाने के समीप मिलकर तीव्रगामी पछुवा पवन के प्रभाव क्षेत्र में आ जाती हैं। अतः यहां से ये पूर्व से पश्चिम की ओर प्रवाहित होने लगती हैं क्योंकि यह पछुवा पवन द्वारा तथा पृथ्वी की परिभ्रमण गति द्वारा विक्षेपित होती हैं। इसे दक्षिणी अटलाण्टिक महासागरीय प्रवाह कहते हैं।

दक्षिणी अटलांटिक महासागर का प्रवाह जब अफ्रीका के पश्चिमी तट के समीप पहुंचता है तो यहां यह मुड़कर किनारे के सहारे-सहारे उत्तर की ओर बहने लगता है। इस ठण्डे जल के प्रवाह का बैंगुला की धारा नाम है। ठण्डे जल में बहने और उच्च अक्षांशों के अति शीतल जल के मिश्रण से इसका जल भी ठण्डा हो जाता है। यह धारा उत्तर में गिनी की खाड़ी में प्रवेश करती है और अन्त में दक्षिणी भूमध्य रेखीय गर्म जलधारा में विलीन हो जाती है।

फाकलैण्ड की धारा दक्षिणी अमेरिका के हार्न अन्तरीप से टकराने के कारण दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। एक शाखा अन्टार्कटिक ठण्डे प्रवाह के रूप में पश्चिम से पूर्व की ओर और दूसरी दक्षिणी अमेरिका के दक्षिणी-पूर्वी तट पर दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित होती है। यह फाकलैण्ड द्वीप तथा दक्षिणी अमेरिका के मध्य पूर्वी तट से बहती हुई उत्तर में 40° दक्षिणी अक्षांश पर ब्राजील की गर्म धारा से मिलती है। तत्पश्चात यह ब्राजील की धारा तथा पेटेगोनिया के पूर्वी तट के मध्य बहती हुई जल में विलीन हो जाती है।

40° से 60° के मध्य पछुवा पवन द्रुत गति से चलती हैं, अतः अन्टार्कटिक महासागर के जल का प्रवाह सदा पश्चिम से पूर्व की ओर बना रहता है। यह अत्यन्त ठण्डा जल प्रवाह है जो बाधारहित महासागर में पृथ्वी का चक्कर लगाया करता है। डैकन के अनुसार इसकी प्रवाह गति 13 किमी. प्रतिदिन है। इस प्रकार किसी भी तैरते पदार्थ को पृथ्वी का सम्पूर्ण चक्कर लगाने में तीन से चार वर्ष लग जाते हैं। अन्टार्कटिका महाद्वीप के चारों

ओर भी यह प्रवाह चलता रहता है। अत्यन्त शीतल जल के अतिरिक्त इसमें हिमखण्ड भी बह कर आ जाते हैं।

दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर में दक्षिणी भूमध्य रेखीय व ब्राजील की गर्म धाराएं तथा दक्षिणी अटलान्टिक महासागरीय प्रवाह व बैंगुला की ठण्डी धाराओं के चक्रीय प्रवाह के कारण एक विशाल विघूर्ण का निर्माण होता है, किन्तु यह उत्तरी अटलाण्टिक महासागर की अपेक्षा भू-खण्डों के अभाव के कारण उतना सम्पूर्ण नहीं बन पाता।

उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में चलने वाली गर्म और ठण्डी जलधाराओं के चक्राकार प्रवाह के कारण उनके मध्य जल का एक गोलाकार क्रम बन जाता है जिसको सारगैसो सागर कहते हैं। इसकी स्थिति 20° से 40° उत्तरी अक्षांश एवं 35° से 75° पश्चिमी देशान्तरों के मध्य है। पुर्तगाली भाषा में सारगैसम समुद्री घास को कहते हैं। इस सागर में जड़रहित लम्बी समुद्री घास पैदा होती है अतः इसका नाम सारगैसम के अपभ्रंश शब्द सारगैसो से बना है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग 11,000 वर्ग किलोमीटर है। इस सागर की लवणता 37‰ तथा तापमान 26° सेन्टीग्रेड है। किन्तु अटलाण्टिक महासागर की लवणता 26.6‰ है। सारगैसो का नीला रंग दूसरे सागरों के जल के रंग से भिन्न पाया जाता है तथा यह सागरों में एक मरुस्थल की भांति प्रतीत होता है तथा अत्यन्त शान्त है।

उत्पत्ति के कारण—(1) सारगैसो सागर में सदा प्रतिचक्रवाती वातावरण बना रहने के कारण यह गति रहित तथा शान्त बना रहता है। यह व्यापारिक एवं पछुवा पवन के उद्गम स्थान पर स्थित होने के कारण पवन प्रभाव से भी मुक्त रहता है।

(2) इसके चारों ओर धाराएं चक्राकार गति से निरन्तर चलती रहती हैं, अतः इसके मध्य एक विशाल भँवर बन जाता है जिसका जल किसी भी दिशा में गति नहीं करता।

(3) चारों ओर की धाराएं अपने यथावत स्थान पर सतत प्रवाहित होती रहती हैं इसलिए इसमें जल का मिश्रण नहीं हो पाता और इसका जल भी यथावत स्थिर बना रहता है।
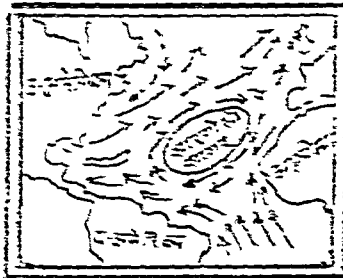
चित्र 30-य-सारगैसो सागर

प्रशान्त महासागर की धाराएं

अटलाण्टिक महासागर की तरह प्रशान्त महासागर में भी धाराओं की दिशा समान रूप से पाई जाती है। कुछ ही परिवर्तनों के साथ धाराओं का क्रम भी उसी प्रकार है किन्तु

तटरेखा की बनावट जल-तल में परिवर्तन तथा अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के कारण अटलाण्टिक महासागर की अपेक्षा प्रशान्त महासागर की धाराओं मे थोड़ा परिवर्तन पाया जाता है। उत्तरी तथा दक्षिणी प्रशान्त महासागर की धाराएँ निम्न हैं :

उत्तरी प्रशान्त महासागर की धाराएं

उत्तरी भूमध्य रेखीय जलधारा भौगोलिक विषुवत रेखा के उत्तर में 15° उ. अक्षांश के समानान्तर पूर्व से पश्चिम को प्रवाहित होती है। यह मध्य अमेरिका से प्रारम्भ होकर पश्चिम की ओर फिलीपीन द्वीप तक चली जाती है। डिफान्ट के अनुसार यह धारा केवल पवन बल से ही प्रवाहित होती है जबकि अटलाण्टिक महासागर की धारा प्रवाह के अन्य कारण भी हैं। 7,500 सागरीय मील की दूरी पार करके यह फिलीपीन द्वीप के समीप दो शाखाओं में विभाजित हो जाती है। एक शाखा मुड़कर अपना प्रवाह पूर्व की ओर कर देती है तथा विपरीत भूमध्यरेखीय धारा के रूप में पश्चिम से पूर्व की ओर बहने लगती है। दूसरी शाखा उत्तर की ओर मुडकर फारमोसा द्वीप के समीप पहुँचकर क्यूरोसीवो की गर्म धारा कहलाती है।

क्रोमवैल ने उत्तरी भूमध्य रेखीय धारा के नीचे पश्चिम से पूर्व को तेजी से बहती हुई एक पतली जलधारा की खोज की थी। यह धारा दो प्रकार के तापमान के मिश्रण के कारण उत्पन्न होती है तथा कुछ ही दूर प्रवाहित होकर समाप्त हो जाती है।

विपरीत भूमध्य रेखीय गर्म धारा फिलीपीन द्वीप से प्रारम्भ होकर भूमध्य रेखा के समानान्तर बहती हुई पूर्व में मध्य अमेरिका तक पहुँचती है। अटलान्टिक महासागर की विपरीत भूमध्य रेखीय धारा से यह अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसकी उत्पत्ति के दो कारण हैं—प्रथम तो उत्तरी तथा दक्षिणी भूमध्य रेखीय दोनों ही गर्म धाराएं पूर्व की ओर से अपार जलराशि को लाकर फिलीपीन के निकट एकत्रित कर देती हैं। द्वितीय संमार्गी व्यापारिक पवन भी पूर्व से पश्चिम की ओर जल ले जाकर इकट्ठा कर देती हैं। परिणामस्वरूप पश्चिमी प्रशान्त महासागर से पूर्व की ओर जल की सतह में ढाल पैदा हो जाता है। अतः विपरीत भूमध्य रेखीय धारा जल तल को समान बनाए रखने के लिए पश्चिम से पूर्व की ओर चलती हैं।

क्यूरोशिओ का क्रम गल्फ स्ट्रीम की भांति एक पूर्ण विकसित धारा है जिसकी कई शाखाएं एवं उपशाखाएं हैं। इसका प्रवाह क्षेत्र फारमोसा से बेरिंग जलसन्धि है। इसकी कई शाखाएं हैं।

फारमोसा के समीप गर्म जल की अपार जलराशि एकत्रित हो जाने के कारण उत्तरी भूमध्य रेखीय धारा उत्तर की ओर मुड़कर 35° उत्तरी अक्षांश तक रिक्यू द्वीप तक पहुंचती है। यहां इसकी लवणता 35.0‰ तथा तापमान 26.6° सेग्रे. है। रिक्यू द्वीप तक इसको क्यूरोशियो की धारा कहते हैं। आगे उत्तर की ओर इस धारा का प्रसार प्रारम्भ हो जाता है।

जापान के दक्षिणी तट पर पहुंच कर यह दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक मुख्य शाखा जापान के पूर्वी तट की ओर अग्रसर होती है। जापानी इसको क्यूरोशियो जल धारा कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसके गहरे नीले रंग के कारण इसे काली धारा कहते हैं।

उत्तर की ओर यह आयोशियो की ठण्डी धारा से मिल जाती है। यह धारा अनेक बातों में फ्लोरिडा की धारा से मिलती है। इसकी गहराई 700 मीटर तथा गर्मियों में गति 3.2 किमी. प्रति घन्टा और सर्दियों में 2.1 किमी. रहती है। 160° पूर्वी देशान्तर के समीप क्यूरोशियो का प्रसार क्षेत्र व्यापक हो जाता है।

क्यूरोशियो की एक शाखा पछुआ पवन के प्रभाव क्षेत्र में आने के कारण पूर्व की ओर मुड़ जाती है। इसे उत्तरी प्रशान्त प्रवाह के नाम से जाना जाता है। व्यापक रूप में यह गर्म धारा का ही रूप है। पूरे प्रशान्त महासागर को पार करके यह उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट पर पहुँचती है। यहां यह दो उपशाखाओं में विभक्त हो जाती है। एक शाखा उत्तर की ओर तट के सहारे चलती हुई फिर दो उपशाखाओं में बट जाती है। एक उपशाखा अलास्का धारा में और दूसरी कमचटका धारा में परिवर्तित हो जाती है। एक धारा दक्षिण की ओर प्रवाहित होती हुई केलीफोनिया धारा बन जाती है।

उत्तरी भूमध्य रेखीय धारा का गर्म जल चीन सागर में इकट्ठा हो जाता है जो उत्तर की ओर प्रवाहित होता हुआ जापान सागर में पहुंचता है। इसे सुशीमा धारा कहते हैं। इस धारा का ताप तथा लवणता अपेक्षाकृत अधिक हैं। अतः इसके गर्म प्रभाव के कारण जापान के पश्चिमी तट और चीन के पूर्वी तट के तापमान अपेक्षाकृत ऊँचे रहते हैं।

कमश्चटका धारा वेरिंग जलसंधि से साइवेरिया के पूर्वी तट के सहारे-सहारे दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है। क्यूराइल द्वीप समूह के निकट इसको क्यूराइल धारा कहते हैं। यहाँ से दक्षिण की ओर चलकर यह ओयाशियो धारा बन जाती है। यह ठण्डी धारा है जो जापान के पूर्वी किनारे पर बहती हुई 36° उत्तरी अक्षांश के समीप क्यूरोशियो की गर्म धारा में मिल जाती है। गर्म और ठण्डी धाराओं के संगम पर घना कुहरा उत्पन्न होता है। ओयाशियो की एक उपशाखा को एल्यूशियन धारा भी कहते हैं।

उत्तरी प्रशान्त प्रवाह उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट पर पहुंच कर दो उपशाखाओं में विभक्त हो जाता है। इसकी एक उपशाखा अलास्का की खाड़ी में प्रवेश कर अलास्का की धारा कहलाती है। यह ठण्डे जल में मिली एक गर्म धारा है जिसके कारण अलास्का का तट शीत ऋतु में भी नहीं जमने पाता।

कैलिफोर्निया की धारा उत्तरी प्रशान्त प्रवाह की दक्षिणी उपशाखा है। यह धारा ध्रुवों से खिसकती हुई ठण्डे जल के ऊपर उठने के कारण उत्पन्न होती है। अतः यह एक ठण्डी जल धारा है जो कलिफोर्निया के पश्चिमी तट के सहारे प्रवाहित होती हुई अन्त में उत्तरी भूमध्य रेखीय धारा से मिल जाती है। इसकी गति अति मन्द है।

इस तरह उत्तरी प्रशान्त महासागर का धारा क्रम चक्रीय रूप में प्रवाहित होकर समाप्त हो जाता है। हवाई द्वीप के पूर्वी भाग में एक विशाल विघूर्ण उत्पन्न होता है, जिसका जल क्यूरोशियो धारा के विपरीत पूर्व से पश्चिम की ओर प्रवाहित होता है। इसको विपरीत क्यूरोशिया धारा कहते हैं। इसकी स्थिति हवाई द्वीप और उत्तरी अमेरिका के मध्य में है। यह एक छोटी धारा के रूप में बहती रहती है।

दक्षिणी प्रशान्त महासागर की धाराएं व्यापारिक पवन से प्रेरित दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट से पूर्वी आस्ट्रेलिया की ओर बहती हैं। जल प्रवाह क्षेत्र 3° से 10° दक्षिणी

अक्षांशों के मध्य पाया जाता है। सागर के मध्य एवं पश्चिमी भाग में अनेक बाधाओं के कारण इसकी बहुत सी शाखाएं तथा प्रशाखाएं हो जाती हैं। इसका ताप एवं लवणता अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। इसकी गति में भी विभिन्नता पाई जाती है। इसकी औसत
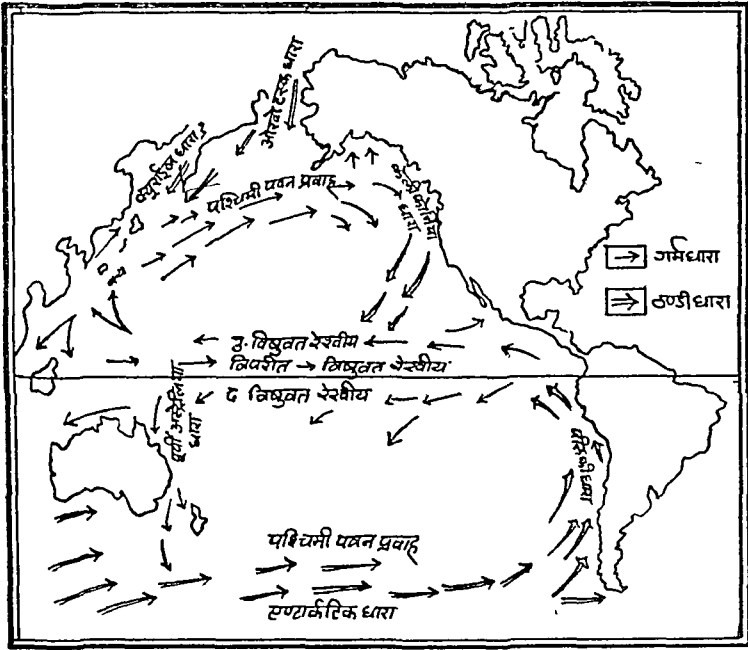
चित्र 30·5 प्रशान्त महासागर की धाराएँ

गति 80 से 100 किमी. प्रति दिन आंकी गई है। आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर पहुंच कर न्यू गिनी के समीप यह दो धाराओं में विभाजित हो जाती है। एक धारा उत्तर की ओर और फिर पूर्व की ओर मुड़कर भूमध्यरेखीय विपरीत धारा से मिल जाती है तथा दूसरी धारा दक्षिण की ओर मुड़कर पूर्वी आस्ट्रेलिया की धारा में परिणित हो जाती है।

पूर्वी आस्ट्रेलिया की धारा दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा की ही एक शाखा है जोकि न्यूगिनी तट की ओर से चलकर आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर प्रवाहित होती है। यह गर्म जल धारा पूर्वी आस्ट्रेलिया के तापमान को सदा ऊंचा बनाए रखती है। 40° दक्षिणी अक्षांश पर पछुवा पवनों के क्षेत्र में आ जाने के कारण अपनी दिशा परिवर्तित कर पश्चिम से पूर्व की ओर पछुवा पवन प्रवाह के रूप में दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर पहुंचती है।

पछुवा पवन प्रवाह को अन्टार्कटिक धारा भी कहते हैं। अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागरों में 40° दक्षिणी अक्षांश के दक्षिण में कोई बाधा न होने के कारण पछुवा पवन प्रवाह विरोध रहित पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होता हुआ प्रशान्त महासागर में भी प्रवेश करता है। यहां भी पछुवा पवन इसे पश्चिम से पूर्व की ओर प्रेरित करती रहती है। अत: यह प्रवाह तीव्र गति से बड़े व्यापक रूप में पश्चिम से पूर्व की ओर अबाध प्रवाहित होता रहता है। इसमें अन्टार्कटिका की ओर से ठण्डा जल आता रहता है। 45° द.

अक्षांश के समीप यह दो शाखाओं में विभक्त हो जाता है। एक शाखा उत्तर की ओर मुड़कर पेरू की धारा का रूप ले लेती है और दूसरी शाखा दक्षिण की ओर मुड़कर हार्न अन्तरीप से होती हुई अन्टलाण्टिक महासागर में प्रवेश पा जाती है।

पेरू की यह ठण्डी जल धारा पछुवा पवन प्रवाह की ही एक शाखा है। अन्टार्कटिक के ठण्डे जल तथा किनारे पर नीचे से उठते हुए शीतल जल के कारण यह धारा जन्म लेती है। दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर पेरू तट के सहारे यह दक्षिण से उत्तर की ओर चलती है। इसलिए इसको पेरू धारा कहते हैं। प्रसिद्ध जर्मन भूगोलवेत्ता हम्बोल्ट ने इसकी खोज की थी। अतः इसको हम्बोल्ट धारा भी कहते हैं। इसकी औसत चौड़ाई 160 किमी. और गति लगभग 27 किमी. प्रति दिन है। उत्तरी और दक्षिणी भागों में इसकी चौड़ाई 900 किमी. तक हो जाती है। पेरू धारा उत्तर में पहुंच कर दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा से मिल जाती है। इस प्रकार दक्षिणी प्रशान्त महासागर के चारों तरफ की धाराओं का चक्रीय प्रवाह पूर्ण हो जाता है।

एलनिनो धारा विपरीत गर्म जल धारा है जो पेरू धारा की प्रतिकूल दिशा में प्रवाहित होती है। इसका प्रवाह क्षेत्र 3° दक्षिणी अक्षांश से 14° दक्षिणी अक्षांश तक है। यह धारा क्रिसमस (Christmas) के अवसर पर ही जन्म लेती है। ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ उत्तरी गोलार्द्ध के शीतकाल में, उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा दक्षिण की ओर खिसक कर एलनिनो धारा विकास करती है।

हिन्द महासागर की धाराएं

हिन्द महासागर की धाराओं का क्रम अन्य धाराओं से भिन्न है। किनारे की बनावट एवं महासागर के आकार का धाराओं पर प्रभाव इस महासागर में विशेष रूप से देखा जाता है।

उत्तरी हिन्द महासागर की धाराएं ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ सामयिक पवन से प्रभावित होती हैं। ग्रीष्मकालीन तथा शीतकालीन मानसूनी पवन यहां की धाराओं की दिशा को नियन्त्रित करती हैं। इसलिए इनको मानसून ड्रिफ्ट कहते हैं।

उत्तरी-पूर्वी मानसून धारा शीतकाल में स्थल से सागर की ओर जो पवन चलती हैं इस धारा को जन्म देते हैं। सोमाली तथा अण्डमान द्वीपों के मध्य इसका उद्गम है। यह 5° उत्तरी अक्षांश के समीप विकसित होकर ग्रीष्मकालीन मानसून के ठीक विपरीत दिशा में बंगाल की खाड़ी के किनारे-किनारे होती हुई अरब सागर में प्रवेश करती है तथा पूर्वी अफ्रीका के तट पर उत्तर से दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है। यह शीतकालीन मानसून पवन के घर्षण से उत्पन्न होती है इसलिए इसको उत्तरी-पूर्वी मानसून प्रवाह भी कहते हैं। अफ्रीका के पूर्वी तट पर पहुंच कर यह धारा विपरीत भूमध्यरेखीय धारा में परिवर्तित हो जाती है।

ग्रीष्म ऋतु में दक्षिणी-पश्चिमी मानसून धारा जो पवन सागर से स्थल की ओर प्रवाहित होने लगती है उनके नाम पर जानी जाती है। यह धारा अफ्रीका के पूर्वी तट से प्रारम्भ होकर अरब देश, पाकिस्तान, भारत के पश्चिमी तट, श्रीलंका, बंगाल की खाड़ी तथा मलेशिया प्रायद्वीप होती हुई उत्तरी भूमध्य रेखीय धारा में मिल जाती है।

उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा

शीत ऋतु में उत्तरी-पूर्वी मानसून के कारण यह मलक्का की खाड़ी में जन्म लेकर बंगाल की खाड़ी का चक्कर लगाती है। श्रीलंका के पश्चात अरब सागर में यह दक्षिण से उत्तर की ओर बहती हुई अदन तक पहुंचती है। यहां से यह दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। दक्षिण में इसकी दिशा पश्चिम से पूर्व की ओर रहती है। ग्रीष्म ऋतु में दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के चलते ही यह धारा विलुप्त हो जाती है।

विपरीत भूमध्यरेखीय धारा शीत ऋतु में दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के समय पश्चिम में जंजीबार के समीप जन्म लेती है। विशेषकर अगस्त और सितम्बर के महीनों में यह स्पष्ट रूप से पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होती है तथा सुमात्रा द्वीप तक पहुंचती है। यह धारा वर्ष भर चलती है किन्तु शीत ऋतु में इसका प्रवाह तेज और व्यापक हो जाता है।

दक्षिणी हिन्द महासागर की धाराएं अन्य महासागरों की भांति ही उसी क्रम से चलती हैं तथा पवन द्वारा नियन्त्रित होती हैं। इनकी दिशा दक्षिणावर्त होती है।

दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा किसी सीमा तक प्रशान्त महासागर की दक्षिणी भूमध्य रेखीय धारा के विस्तार के कारण ही जन्म लेती है। प्रशान्त महासागर की धारा इण्डोने-

चित्र 30·6· हिन्द महासागर की धाराएँ (ग्रीष्म ऋतु)
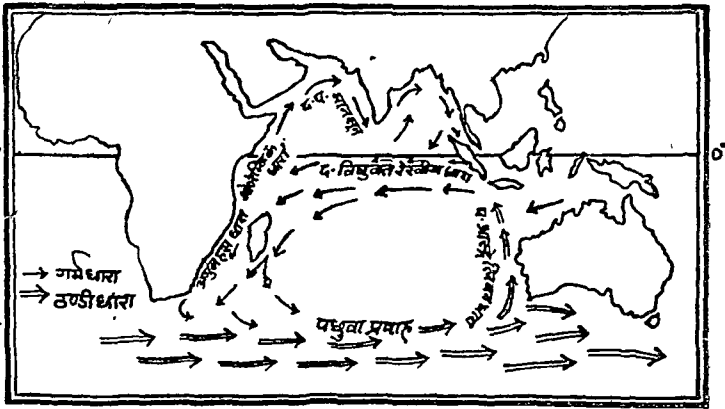
शिया तथा आस्ट्रेलिया के मध्य से हिन्द महासागर में प्रवेश पा जाती है। इसका कुछ जल उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा और शेष दक्षिणी हिन्द महासागर की दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा में मिल जाता है। यह धारा 10° से 15° दक्षिणी अक्षांश के मध्य इण्डोनेशिया तथा आस्ट्रे-लिया की ओर से पश्चिम की ओर मैडागास्कर की ओर प्रवाहित होती है। 10° दक्षिणी अक्षांश पर मैडागास्कर के समीप यह कई शाखाओं और उप शाखाओं में बंट जाती है। एक धारा उत्तर की ओर प्रवाहित हो जाती है। दूसरी धारा दक्षिण की ओर मुड़कर फिर से दो उपशाखाओं में विभक्त हो जाती है। एक धारा मैडागास्कर के पूर्वीतट पर मैडागास्कर धारा जानी जाती है और दूसरी मैडागास्कर तथा पूर्वी अफ्रीका के मध्य से गुजरती है। इस प्रकार दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा का क्रम वर्ष भर चलता रहता है।

दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा की एक शाखा मैडागास्कर तथा पूर्वी अफ्रीका के मध्य

ोजम्बिक खाड़ी में प्रवेश कर जाती है। अतः इसको मोजम्बिक धारा कहते हैं। यह गर्म ारा उत्तर से दक्षिण की ओर 10° से 30° दक्षिणी अक्षांश के मध्य बहती है। आगे चल-ार दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा की एक शाखा इससे आकर मिल जाती है।

चित्र 30·7- हिन्द महासागर की धाराएँ (शीत ऋतु)

30° दक्षिणी अक्षांश पर मोजम्बिक तथा मैडागास्कर धाराएं मिल जाती हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिणी भूमध्य रेखीय धारा भी आकर मिल जाती है तथा यह तीनों धाराएं मिलकर अफ्रीका के पूर्वी तट के समीप आशा अन्तरीप तक बहती हैं। उसके पश्चात् पछुवा पवन के प्रभाव में आकर पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होकर अण्टार्कटिक प्रवाह में मिल जाती हैं। इसे अगुलहास धारा कहते हैं।

अन्य महासागरों की भांति हिन्द महासागर में भी पछुवा पवन प्रवाह पाया जाता है। इसको अण्टार्कटिका प्रवाह भी कहते हैं। 40° अक्षिणी अक्षांश से दक्षिण में यह प्रवाह पश्चिम से पूर्व की ओर निर्विरोध बहता है। 110° पूर्वी देशान्तर के समीप यह प्रवाह दो शाखाओं में विभक्त हो जाता है। एक शाखा उत्तर की ओर मुड़ जाती है और दूसरी सीधी आगे की ओर प्रवाहित होती हुई प्रशान्त महासागर में मिल जाती है।

पश्चिमी आस्ट्रेलिया की जल धारा पछुवा पवन प्रवाह की उत्तरी शाखा के रूप में आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट के सहारे-सहारे प्रवाहित होती है। उत्तर की ओर बहती हुई यह धारा सुण्डा द्वीप के समीप दक्षिणी भूमध्यरेखीय जल धारा को पोषित करती है।

इस तरह हिन्द-महासागर के चारों ओर प्रवाहित जल धाराओं का चक्र सम्पूर्ण हो जाता है। पछुवा पवन प्रवाह में अण्टार्कटिका की ओर का शीतल जल मिलने के कारण यह धारा ठण्डी है।

कुछ घिरे हुए सागरों में वाष्पीकरण के कारण जलतल नीचे हो जाता है जिसकी क्षतिपूर्ति खुले महासागरों के जल द्वारा धाराओं के रूप में होती रहती है। भूमध्य सागर में वाष्पीकरण द्वारा जितने जल की क्षति होती है उसका चौथाई भाग ही नदियों या वर्षा से प्राप्त होता है। अतः तीन चौथाई जल मात्रा की पूर्ति हेतु अटलाण्टिक महासागर से जिब्राल्टर के समीप से अपेक्षाकृत कम लवणता और कम घनत्व

की जल धारा जो भूमध्यसागर में प्रवाहित होती रहती है तथा अधिक घनत्व की धाराएं गहराई में इसके विपरीत प्रवाहित होती हैं।

इसी तरह लाल सागर में भी वाष्पीकरण एवं तलीय धारा से जो हिन्द महासागर की ओर बहती है, प्रति वर्ष 2.97 से 7.47 मीटर जल तल नीचे चला जाता है जिसकी क्षति पूर्ति के लिए सतह पर तीव्र धारा हिन्द महासागर से लाल सागर की ओर प्रवाहित होती रहती है और जलतल को समान रखती है।

चित्र 30·8- भूमध्यसागर में सतह एवं गहराई की धाराएँ

महासागरीय धारायें तटवर्ती क्षेत्रों में मानव-जीवन को अधिक प्रभावित करती हैं। जलवायु, बन्दरगाहों का विकास, मत्स्य-उद्योग और व्यापार इन सभी पर धाराओं का प्रभाव पड़ता है।

गर्म धारायें तटवर्ती प्रदेशों का तापमान ऊँचा रखती हैं, जैसे गल्फ स्ट्रीम न केवल ब्रिटेन अपितु नार्वे तक के तट को जमने से बचाती है। किन्तु दूसरी ओर लेब्रेडोर की ठण्डी धारा से कनाडा का पूर्वी तट शीतकाल में जम जाता है। गर्म धाराओं के तटवर्ती क्षेत्रों में वर्षा होती है, जैसे ब्रिटिश द्वीप समूह पर गल्फ स्ट्रीम के कारण वर्षा होती है। ठण्डी धारायें मरुस्थल के विकास में योग देती हैं। गर्म और ठण्डी धाराओं के संगम पर कुहरा छाया रहता है।

गर्म जलधारायें ऊंचे अक्षांशों में स्थित बन्दरगाहों को शीतकाल में भी व्यापार के लिए खुला रखती हैं। गल्फ स्ट्रीम रूस के बन्दरगाह मरमैन्स्क को कड़ी सर्दी में भी जमने से बचाती है। इसी के प्रभाव से सेंट लारेंस का मुहाना जाड़ों में भी खुला रहता है।

गहन जल-संचार

महासागर की सतह पर सूर्यताप के तापान्तर और अन्य कई कारणों से क्षैतिज गति का संचार होता रहता है। एकमैन के अनुसार यह उथली 100 मीटर गहरी परत उसी के नाम से **एकमैन परत** कहलाती है। इसी परत के नीचे गहरे पानी में जलराशियों का संचार होता रहता है। एकमैन परत के नीचे घनत्व, लवणता, ताप तथा आपजन की असमानता के कारण सागर की गहराइयों में जल की विभिन्न परतें मिलती हैं। 5400 मीटर से अधिक गहरे सागर में जल अत्यन्त शीतल होता है तथा उसका घनत्व समान पाया

जाता है। महासागरों की असमान जलराशियों को विभाजित करने वाली सीमा को **असांतत्य परत** कहते हैं। डिफेण्ट के अनुसार महासागर एक दर्पण है जिसमें वायुमण्डल की परतों का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। मध्य तथा निम्न अक्षांशों में पाई जाने वाली अपेक्षाकृत उच्च ताप और सतह की तीव्र धाराओं वाली परत को **प्रक्षुब्ध क्षोभ मण्डल** तथा गहरे जल की शान्त, शीतल तथा समताप वाली परत को **अचल मण्डल** कहते हैं।

ध्रुवीय क्षेत्रों में जलराशियां डूबती रहती हैं तथा गहराई में विषुवत रेखा की ओर चलती रहती हैं इसके विपरीत विषुवत रेखा की जलराशि सतह पर ध्रुवों की ओर प्रवाहित होती हैं।

अभिसरण

महासागर में जल-तल को समान रखने के लिए क्षैतिज गति के अतिरिक्त अवरोही तथा आरोही गतियाँ सदा संचलित रहती हैं। दक्षिणी महासागरीय क्षेत्रों में लगभग 50° दक्षिणी अक्षांश पर एक स्पष्ट सीमा रेखा आती है जो अण्टार्कटिक कटिबन्ध के अत्यन्त शीतल तथा अधिक घनत्व के जल को उप-अण्टार्कटिक कटिबन्ध के हलके तथा खारी जल राशि से पृथक करती है। यहाँ दोनों जलराशियों में 2° से 5° सेग्रे. तक के तापमान का अन्तर पाया जाता है। यह सीमा अण्टार्कटिक अभिसरण कहलाती है।

40° दक्षिणी अक्षांश पर पुनः एक सीमा रेखा आती है जहाँ उप-अण्टार्कटिक की अपेक्षाकृत कम ठण्डी जल राशि उप-उष्ण कटिबन्धीय उष्ण जल की राशि से मिलती है। यह 'उप-उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण' कहलाती है। पुनः ठण्डा एवं अधिक घनत्व का जल 800 से 1200 मीटर गहराई तक डूबकर उप-सतह में भूमध्य रेखा की ओर मन्द गति से प्रवाहित होता रहता है। इस स्थान पर स्थल खण्डों के आ जाने से यह सीमा अण्टार्कटिक अभिसरण की भाँति उतनी स्पष्ट नहीं है। दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागरों में जल के परि-संचरण में एक स्पष्ट ग्रहीय सरलता पाई जाती है जिसका उत्तरी गोलार्द्ध में अभाव है।

उत्तरी गोलार्द्ध के अभिसरण दक्षिणी गोलार्द्ध की भाँति उतने सरल नहीं हैं। यहाँ महासागरों के अपेक्षाकृत पूर्व-पश्चिम के कम विस्तार एवं महाद्वीपों की प्रधानता के कारण अभिसरणों में जटिलता पाई जाती है। उत्तरी महासागर की तली का जल बेरिंग जलसंधि की उथली सिल तथा विविल थॉम्पसन कटक द्वारा क्रमशः प्रशान्त एवं अटलांटिक महा-सागरों से पृथक हो गया है। अतः यह एक विशाल निष्प्रवाह शीतल जल के स्थिर कुण्ड के समान है। यहाँ स्पष्ट अभिसरण दृष्टिगोचर नहीं होता। उष्ण कटिबन्धीय अटलाण्टिक महासागर में अण्टार्कटिक के दक्षिण से उत्तर की ओर रेंगते अत्यधिक शीतल जल की परत के ऊपर मध्यवर्ती परत में आर्कटिक का अपेक्षाकृत कम शीतल जल विपरीत दिशा में उत्तर से दक्षिण की ओर रेंगता रहता है। उत्तरी अटलांटिक महासागर में तत्सम्बन्धित उत्तर ध्रुवीय अभिसरण का बहुत ही कम विकास होता है, किन्तु प्रशान्त महासागर में यह विद्य-मान है। मध्य और निम्न अक्षांशों में दो अभिसरण पाये जाते हैं—(1) उप-उष्ण कटिबन्धीय तथा (2) विषुवत रेखीय।

प्रथम उप-उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण उन अक्षांशों पर स्थित है जहाँ ऊपरी परतों का घनत्व ध्रुवों की ओर बढ़ता है, किन्तु वह उन स्थानों पर अधिक स्पष्ट है जहाँ दो अभिसारी धारायें एक दूसरे से मिलती हैं—जैसे गल्फ स्ट्रीम व लेब्रेडोर की धारायें तथा तथा क्यूरोसियो व आयोशियो की धाराओं के संगम स्थान पर।

द्वितीय अभिसरण विषुवत रेखीय प्रदेशों में मिलता है। यहाँ जल का घनत्व इतना कम होता है कि तीव्र अभिसरण होने के बावजूद भी पृष्ठीय जल नीचे की ओर किसी विशिष्ट गहराई तक नहीं डूब पाता किन्तु पृष्ठीय जल की सतह के नीचे कम गहराइयों में फैल जाता है। इस हलकी ऊपरी परत तथा गहराई पर पाये जाने वाले अधिक घनत्व के जल के बीच एक तीक्ष्ण सीमा विकसित हो जाती है।

उपरोक्त अभिसरणों के अतिरिक्त भूमध्य सागर तथा लाल सागर में स्वच्छ जल की पूर्ति की अपेक्षा वाष्पीकरण अधिक होने के कारण जल की क्षति वर्षा व नदियों द्वारा पूर्ति से अधिक होती है। परिणामस्वरूप लवणता तथा घनत्व बढ़ जाता है जिसके कारण इन दोनों सागरों में अभिसरण की क्रिया विद्यमान है।

अपसरण

अपसरण किसी भी स्थान पर हो सकता है किन्तु मुख्यत: यह महाद्वीपों के पश्चिमी तटों के समीप स्पष्ट रूप से विद्यमान है। इन स्थानों से प्रचलित व्यापारिक पवन पृष्ठीय जल की बड़ी मात्रा तटों से दूर पश्चिम की ओर बहा ले जाती हैं। जल की पूर्ति के लिए उप-पृष्ठीय जल अपसारी धारों के रूप में ऊपर उठता रहता है।

जलराशियां

समुद्रशास्त्रियों ने तापमान, लवणता, घनत्व तथा वाष्पीकरण की विभिन्नता के आधार पर अनेक उप-पृष्ठीय जलराशियों की खोज की है। यह जलराशियां सागर की विभिन्न गहराइयों में मध्यवर्ती, गहरी और नितल परतों के रूप में विद्यमान हैं।

अण्टार्कटिक तलीय जलराशि दक्षिणी गोलार्द्ध में 30° पूर्वी और 30° पश्चिमी देशान्तरों के मध्य अण्टार्कटिका के किनारे वैडेल सागर के क्षेत्र में अत्यधिक शीतल जल राशि के रूप में विद्यमान है। इसका तापमान 1.9° सेग्रे. तथा लवणता $34.6‰$ पाई जाती है।

अण्टार्कटिक मध्यवर्ती जलराशि अण्टार्कटिक अभिसरण के ठीक उत्तर में लगभग 50° दक्षिणी अक्षांश के समीप पछुवा पवन की पेटी में पृष्ठीय जल के नीचे मध्यवर्ती परत में पाई जाती है। इसका तापमान 2.2° से 7° सेग्रे. के मध्य तथा लवणता 34.1 से $34.6‰$ के बीच है।

उत्तरी अटलाण्टिक महासागरीय गर्त एवं तलीय जलराशि उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में ग्रीनलैण्ड के दक्षिणी भाग में जहां क्रमश: ठण्डी पूर्वी ग्रीनलैण्ड तथा लेब्राडोर की जलधाराएं अपेक्षाकृत उष्ण पश्चिमी पवन प्रवाह से मिलती हैं। यह लेब्राडोर सागर, ग्रीनलैण्ड तथा आइसलैण्ड के मध्य स्थित है। यह लगभग 100 मीटर से अधिक गहरे महासागर में मिलती है। इसका तापमान 2.8° से 3.3° सेग्रे. के मध्य तथा लवणता 34.9 से $34.96‰$ के मध्य मिलती है।

उत्तरी अटलाण्टिक महासागरीय मध्यवर्ती जलराशि लेब्राडोर के दक्षिणी भाग में सीमित क्षेत्र में विस्तृत है। इसका तापमान 3.5° सेग्रे. तथा लवणता $34.88‰$ पाई जाती है। यह जलराशि उत्तरी अटलाण्टिक महासागर की गहरी अत्यधिक शीतल जलराशि पर स्थित है।
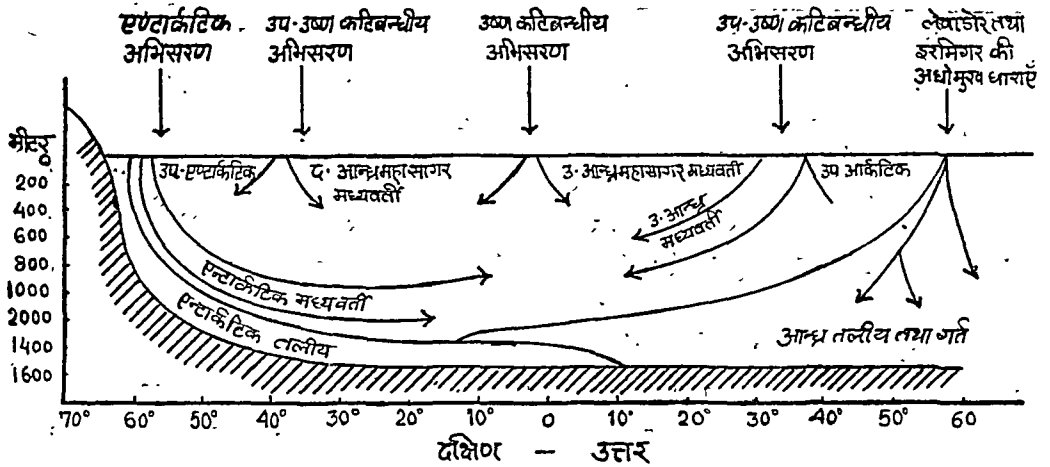
चित्र 30·9 · अटलाण्टिक महासागर के गहरे जल में संचार

उत्तरी प्रशान्त मध्यवर्ती जलराशि 40° उत्तरी अक्षांश के निकट उत्तरी प्रशान्त महासागर के उत्तरी-पश्चिमी भाग में 600 से 800 मीटर गहराई पर पाई जाती है। इसमें ऑक्सीजन की मात्रा कम पाई जाती है।

मध्यवर्ती जलराशियां उत्तरी गोलार्द्ध में मध्यवर्ती एवं निम्न अक्षांशों में भूमध्य सागर तथा लाल सागर में पाई जाती हैं। भूमध्य सागर में विभिन्न लवणता तथा घनत्व की तीन परतें—सतह, मध्यवर्ती तथा मध्यवर्ती और गहरी परत के मध्य अन्तर्वर्ती परतें विद्यमान हैं। अत्यधिक वाष्पीकरण तथा कम वर्षा के कारण इसकी लवणता भी बहुत अधिक है। अतः उच्च ताप के जल के बावजूद भी भूमध्य सागर में जल डूब जाता है। मध्यवर्ती का तापमान 13° से 13 6° सेग्रे. के बीच तथा लवणता 36 से 38.4‰ पाई जाती हैं। यह परत लगभग 300 मीटर गहरे जल में तथा अन्तर्वर्ती परत की गहराई से 600 से 1500 मीटर के मध्य पाई गई है।

चित्र 30·10 · उ० अटलाण्टिक तथा भूमध्य सागर में जल संचार तथा लवणता

लाल सागर की जलराशि लगभग 300 मीटर गहराई पर पाई जाती है। इसका तापमान 21.5° से 22° सेग्रे. के बीच तथा लवणता 40.5 से 41‰ रहती है। अत्यधिक लवणता के कारण ऊंचा तापमान होते हुए भी सतह की जलराशि डूबकर सागर की गहराइयों में पहुंच जाती है। यह जलराशि उप-पृष्ठीय भाग में बाबेल मण्डप से हिन्द महासागर में स्पष्ट रूप से प्रवाहित होती रहती है।
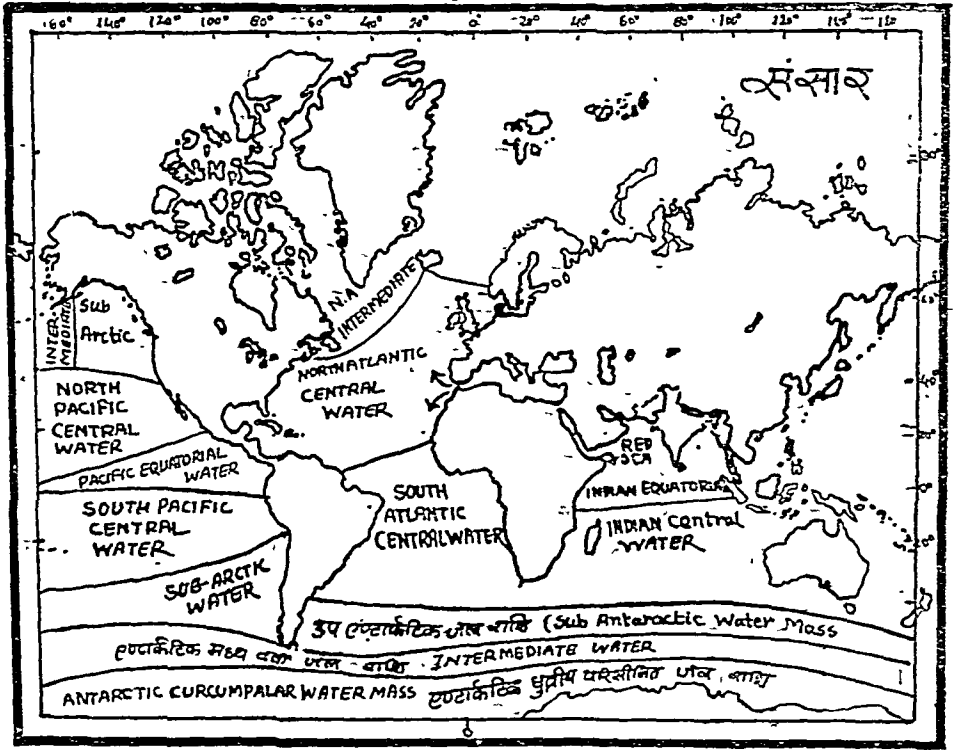
चित्र 30·11 - महासागरों की प्रमुख जल राशियाँ

जल के घनत्व में विभिन्नता के कारण सम्वाहन क्रिया के द्वारा बनी जलराशियों के अतिरिक्त भी महासागरों के उप-पृष्ठीय भाग में विभिन्न ताप जल के मिश्रण से भी जल राशियों का विकास होता है जैसे अण्टार्कटिक ध्रुवीय परिसीमित जलराशि। यह जलराशि महासागर के गर्तों, अण्टार्कटिक तलीय तथा अण्टार्कटिक मध्यवर्ती परत के जलों के मिश्रण से निर्मित हुई है। इसी तरह अण्टार्कटिक तथा दक्षिणी उप-उष्ण कटिबन्धीय अभिसरणों के मध्य उप-अण्टार्कटिक जलराशि का विकास होता है। यह जलराशि दक्षिण में अण्टार्कटिक ध्रुवीय परिसीमित जल राशि तथा उत्तर में मध्यवर्ती जलराशि के मध्य अन्तर्वर्ती जलराशि के रूप में विद्यमान है। इन जलराशियों के अतिरिक्त प्रशान्त तथा हिन्द महासागरों में अनेक छोटी-छोटी जलराशियाँ पाई जाती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Church, P. E. (1932), Surface Temperature of the Gulf Stream and its bordering waters, Geog. Rev., 22 : 586–293.
2. Charnock, H., Ocean Currents, Science Prog. 48, 257–70, 1960.
3. King, C. A. M. (1969), Oceanography for Geographers (Edward Arnold (Publishers) Ltd., London).
4. Defant, A. (1961), Physical Oceanography, Vol. I (Pergamon Press).

5. Lake. P. (1956), Physical Geography (Cambridge University Press, London).
6. Munk, W. (1955), The Circulation of the Ocean, Scientific American, 193, No. 3 : 97-1014.
7. Sharma, R. C. & Vatal M. (1962), Oceanography for Geographers (Allahabad).
8. Stommel, H. (1958), The Gulf Stream (University of California Press).
9. Sverdrup, H. U. (1946), Johnson, M. W., and Fleming, R. H., The Oceans (Prentice Hall, New York).

31

प्रवाल भित्तियाँ तथा प्रवाल द्वीप
[Coral Reefs and Coral Islands]

प्रवाल समुद्री कीड़ा है जो केवल जल में ही जीवित रहता है। ये अपने कंकालों के निरन्तर निक्षेप से प्रवाल भित्तियों का निर्माण करते हैं। किन्तु ये रचनाएं कहीं-कहीं प्रवाल द्वीपों के रूप में सागर की सतह के ऊपर भी दिखाई देती हैं जो भूगर्भिक हलचलों के कारण ऊपर उठ जाती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य चार्ल्स डार्विन सर्वप्रथम प्रवालों के विकास सम्बन्धी कुछ भौगोलिक तत्व प्रकाश में लाये। ये सागरों में उन स्थानों पर पाए जाते हैं जहां इनको अनुकूल तापमान, गहराई, भोजन तथा स्वच्छ जल मिल जाता है। इनके विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं।

प्रवाल भित्ति का निर्माण करने वाले प्रवाल जीवों की अनेक किस्में कम से कम 18° सेग्रे. और अधिक से अधिक 36° सेग्रे. तापमान के जल में जीवित रहती हैं। अतः ये उष्ण कटिबन्धीय गर्म जल में खूब पनपते हैं।

प्रवालों को जीवित रहने के लिए सूर्य के प्रकाश एवं ऑक्सीजन की आवश्यकता रहती है। अतः ये उथले जल में लगभग 55 मीटर (30 फ़ैदम) औसत गहराई तक पाए जाते हैं। यह गहराई जल की शुद्धता पर भी निर्भर करती है। स्वच्छ जल में सूर्य का प्रकाश अधिक गहराई तक प्रवेश कर जाता है जबकि उथले जल में यह उतनी गहराई तक नहीं पहुंच पाता। अतः स्वच्छ जल में प्रवाल 55 मीटर से अधिक और मटमैले जल मे 55 मीटर से कम गहराई तक ही जीवित रहते हैं। जितनी गहराई तक सूर्य का प्रकाश एवं ऑक्सीजन सुगमता से उपलब्ध हो पाते हैं उतनी ही गहराई तक प्रवालों का विकास होता है।

प्रवाल एक निष्क्रिय जीव है जो अपने स्थान पर ही भोजन प्राप्त करता है। भोजन के लिए प्रवाल समूहों के समीप जल संचार का निरन्तर होना नितान्त आवश्यक है। कैल-शियम कार्बोनेट प्रवाल का मुख्य भोजन है। खारे जल में कैलशियम कार्बोनेट की मात्रा अधिक पाई जाती है। अतः प्रवाल ताजे पानी में विकसित नहीं होते। यह देखा गया है कि जहां नदियां सागरों से आकर मिलती हैं वहां प्रवाल रचनायें नहीं पाई जातीं। सागर की ओर खारे पानी में भोजन की प्राप्ति होने के कारण ये उसी ओर विकसित होते हैं।

जल में 27‰ से 38‰ लवणता में चूने की पर्याप्त मात्रा विद्यमान रहती है। इस मात्रा से कम या अधिक लवणता में चूने का अभाव होने लगता है। अतः प्रवाल के लिए 27‰ से 30‰ के मध्य लवणता वाला जल अधिक उपयुक्त है।

प्रवाल क्षेत्रों का विस्तार 30° उत्तरी एवं 30° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य पाया जाता है। उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में बरमूडा ही एक ऐसा स्थान है जहां 32° उत्तरी अक्षांश तक गल्फस्ट्रीम के कारण प्रवाल रचनायें पाई जाती हैं। व्यापारिक पवन पेटी में पवन की दिशा की ओर महाद्वीपों के पूर्वी किनारों पर प्रवालों का पर्याप्त विकास होता है। यहां इनको भोजन एवं आदर्श तापमान मिल जाता है जबकि पश्चिमी किनारों पर ठण्डी जलधाराओं के कारण अपेक्षित तापमान कम होने के कारण ये विकसित नहीं होते। सागरों में प्रवाल भित्तियां 13 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में फैली हुई हैं तथा इससे प्राप्त पदार्थ का विस्तार 26 लाख वर्ग किमी. क्षेत्र में है।

शान्त सागर में ये द्रुमाकृतिक आकार की रचना करते हैं, किन्तु जहां तरंगों का प्रकोप होता है उस स्थान पर इनके शिखर का आकार कुछ गोल तथा ढलवां हो जाता है। इसके दो कारण हैं: प्रवाल अशान्त सागर की सतह से कुछ नीचे तेजी से पनपते हैं इनका विकास किनारों की अपेक्षा ऊपर की ओर तीव्र गति से होता है किन्तु शिखर के किनारे तरंगों द्वारा मग्न होते रहते हैं जिससे यह प्रायः गोल तथा ढलवाँ हो जाता है।

उथला जल प्रवालों के विकास में व्यवधान पैदा करता है। इस जल से प्रवाल भोजन प्राप्त नहीं कर सकते और न इनमें सूर्य का प्रकाश अधिक गहराई तक पहुँच पाता। इसीलिए प्रवालों की रचना नदियों के मुहाने पर नहीं होती। इसके अतिरिक्त नदियों की बाढ़ें भी प्रवाल रचना को समाप्त कर देती हैं। इसीलिए दक्षिणी-पूर्वी एशिया में नदियों के मुहानों पर प्रवाल नहीं पाये जाते। आस्ट्रेलिया के पूर्वी किनारे पर भी यह मुख्य स्थल से 16 किमी. दूर मूँगे की दीवार निर्मित कर पाए हैं तथा इस दीवार में भी जहां-जहां नदियों का जल पहुँचता है वहां इनकी रचना नहीं पाई जाती तथा दीवार टूट गई है।

महाद्वीपीय मग्न तट तथा गहरे महासागरों में ज्वालामुखी शिखर, अवतलित भाग, जलमग्न वेदिका, कटक अथवा पठार जो जल की सतह से अधिकाधिक 55 मीटर की गहराई तक जलमग्न हैं प्रवालों को आश्रय प्रदान करते हैं क्योंकि इतनी गहराई तक सूर्य का प्रकाश पहुँच जाता है तथा इनकी भोजन व्यवस्था भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त महासागरों की धारायें व तरंगें भी प्रवाल भोजन के लिए उत्तम साधन हैं। अतः धाराओं एवं तरंगों की ओर प्रवालों के विकास की प्रवृत्ति पाई जाती है।

महासागरों के जल-तल के ऊपर प्रवाल जीवित नहीं रहता। जल की सतह के ऊपर तरंगों तथा पवन के निरन्तर थपेड़ों के कारण प्रवाल भित्ति टूट-फूट जाती है। इसके ऊपर तरंग एवं पवन द्वारा रेत तथा अन्य पदार्थों का निक्षेप हो जाता है। फलतः प्रवाल मर जाते हैं। अतः भाटा के जल-तल से नीचे ही प्रवाल जीवित पाये जाते हैं।

तरंगों के प्रकोप से प्रवाल भित्ति के टुकड़े टूट जाते हैं तथा निरन्तर टूटने-फूटने के कारण रेत में परिवर्तित हो जाते हैं। यह रेत प्रवालों के अवशेषों तथा अन्य कैल्शियमी जीवों और सैवाल से मिलकर रिक्त स्थानों में भर जाते हैं। कंकालों तथा चूने की रेत से

निर्मित चूने के कार्बोनेट का घोल सीमेंट का काम करता है जिससे भित्ति दृढ़ हो जाती है।

तूफानो के समय प्रवाल भित्ति के पृथक टुकड़े उसके पार्श्व में एकत्रित होकर लगभग 4.5 मीटर ऊंची चौरस भित्ति का निर्माण करते हैं। जो पृथक टुकड़े तथा तलछट गहरे सागर में डूब जाते है उनसे टॅलस ढाल का निर्माण होता है। यह प्रवाल भित्ति की परिधि में नवीन रचनाओं के लिए आधार शिला का कार्य करती हैं।

प्रवाल मुख्य रूप से जटिल शाखाओं के रूप में खुले सागरों की ओर शनैः-शनैः फैलते जाते हैं तथा साथ ही साथ मर कर तली में कैलशियम युक्त अवशेषों का निक्षेप होता जाता है। फलस्वरूप कालान्तर में कैलशियम कार्बोनेट के द्वीपों का निर्माण हो जाता है जिन्हें प्रवाल द्वीप की संज्ञा दी जाती है। इनकी रचना में पॉलिप्स के अतिरिक्त सैवाल, मोलस्क, इकाइनोडर्म, फोरामिनीफेरा आदि कैल्शियमयुक्त अवशेषों का भी योग होता है।

उष्ण कटिबन्धीय महासागरों में प्रवाल द्वारा निर्मित अनेकानेक रचनायें पाई जाती हैं जो अपनी उत्पत्ति और आकार में भिन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त स्थिति के आधार पर भी इनके विस्तार में विभिन्नता पाई जाती है। किसी स्थान विशेष पर यह दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक मात्रा मे पाई जाती है। संरचना एवं आकार के आधार पर तथा प्रवाल भित्तियो की स्थिति के आधार पर इन्हें दो भागों में बांटा जाता है।

प्रवाल रचनाओं की संरचना तथा उनके आकार के आधार पर इन्हें तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है।

प्रवाल विकास के अनुकूल भौगोलिक स्थिति तटीय प्रदेशों के समीप लगभग 55 मीटर की गहराई में मग्नतट पर प्रवाल विकसित होना प्रारम्भ करते हैं। इसके अतिरिक्त द्वीपों के किनारे भी इसी गहराई पर ये जन्म लेते हैं और तेजी से पनपते हैं। स्थलीय भाग की ओर भोजन के अभाव में इनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतः मुख्य स्थल या द्वीप तथा तटीय भित्ति के मध्य एक उथली अनूप का निर्माण हो जाता है। कहीं-कहीं यह अनूप स्थलीय तलछट तथा तरंगों के अपरदन के कारण मृत प्रवालों के कंकालो से भर जाते हैं। तटीय भित्ति मुख्यतः तटों से सटी हुई समानान्तर लम्बी और संकरी पट्टी के आकार की होती है। इसका ढाल समुद्र की ओर तीव्र एवं स्थल की ओर साधारण होता है। भित्ति की ऊपरी सतह ऊबड़-खाबड़ लगभग एक किमी. की चौड़ाई में तथा कई किमी. लम्बाई में फैली होती है। कहीं-कहीं यह एक किमी. से भी अधिक चौड़ी होती है।
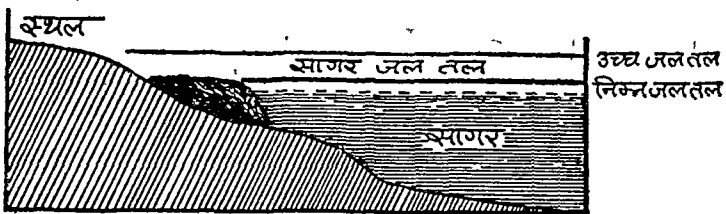
चित्र 31·1· तटीय प्रवाल भित्ति

नदियों के मुहाने के समीप मीठे पानी के कारण और तट से दूर तरंगों के अपरदन के कारण तटीय भित्ति बीच में से टूट जाती हैं। ऐसी तटीय भित्ति अण्डमन-निकोबार द्वीप

समूह, मलेशिया तथा फ्लोरिडा के निकट दृष्टिगोचर होती हैं। प्रायः उच्च ज्वार के समय अनूपों में जल भर जाता है तथा भाटा के समय कीचड़ रहती है। किन्तु ऐसे अनूप भी मिलते हैं जो सदा जल से भरे रहते हैं।

रोधिका प्रवाल भित्ति तटीय भित्ति की अपेक्षा मुख्य स्थल या द्वीप से दूर सागर में स्थित होती है। स्थल तथा रोधिका भित्ति के बीच का पाट 30 मीटर से 5 या 6
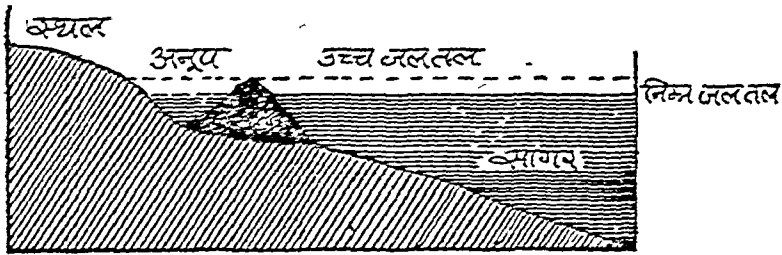
चित्र 31·2-रोधिका प्रवाल भित्ति

किमी. तक चौड़ा होता है। यह लम्बाई, चौडाई तथा ऊँचाई सभी प्रकार से तटीय भित्ति की अपेक्षा आकार में बहुत बड़ी होती है व तट के समानान्तर लम्बाई में सैकड़ों किमी. तक विस्तृत होती हैं। इसकी चौड़ाई 300 मीटर तक होती है। इसकी ऊपरी सतह गोलाश्म, रेत तथा प्रवाल चूर्ण से आच्छादित रहती हैं। रोधिका भित्ति के सागर की ओर के ढाल का कोण 45° तक होता है। कुछ छोटी भित्तियों का ढाल 15° से 25° के मध्य होता है। स्थल की ओर इनका ढाल साधारण होता है। रोधिका भित्ति कहीं-कहीं नदी के स्वच्छ जल के कारण विच्छेदित हो जाती है जिससे खुले सागर और स्थल की अनूप का सम्पर्क स्थापित हो जाता है।

क्वीन्सलैण्ड (आस्ट्रेलिया) के पूर्वी तट के समीप $9\frac{1}{2}°$ दक्षिणी अक्षांश से $22\frac{1}{2}°$ दक्षिणी अक्षांश तक लगभग 2000 किमी. की लम्बाई में किनारे के लगभग समानान्तर रोधिका प्रवाल भित्ति फैली हुई है। इसकी चौड़ाई 16 से 144 किमी. है। मुख्य स्थल से इसकी दूरी 24 से 240 किमी. तक आँकी गई है। रोधिका भित्ति एवं स्थल के मध्य अनूप है। उत्तर में केप योर्क के निकट इसकी चौडाई 128 किमी. है जो दक्षिण की ओर केप मेलविल तक कम होती गई है। केरंस के निकट चौड़ाई पुनः बढ़ती है जो टाउंसविल के समीप लगभग 80 किमी. हो जाती है तथा दक्षिण में स्वेन भित्ति के निकट अनूप की चौड़ाई 240 किमी. तक हो जाती है। इसकी गहराई 72 मीटर के लगभग है। रोधिका भित्ति की अत्यधिक लम्बाई होने के कारण यह कई स्थानों पर विच्छेदित हो गई है जिससे अनूप का सम्पर्क प्रशान्त महासागर से बना रहता है। आस्ट्रेलिया की यह रोधिका भित्ति विशाल मूँगा दीवार के नाम से विश्वविख्यात है।

आस्ट्रेलिया की महान रोधिका भित्ति के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर में 21° द. अक्षांश तथा 165 पू. देशान्तर पर स्थित न्यू केलेडोनिया द्वीप के चारों ओर रोधिका भित्ति फैली हुई है। इस द्वीप के दक्षिणी-पश्चिमी किनारे से आस्ट्रेलिया तक लगभग 136 किमी. तक यह रोधिका भित्ति विस्तृत है। अन्य स्थानों पर यह रोधिका द्वीप से 1.6 किमी. तथा

24 किमी. के मध्य की दूरी तक विस्तृत है। इसी प्रकार कैरोलाइन द्वीप में ऋक समूह के चारों ओर रोधिका भित्ति का निर्माण हो गया है किन्तु यह भित्ति अधिकांश स्थानों पर विच्छेदित तथा खण्डित है।

वलयाकार प्रवाल भित्ति अगूंठी या घोड़े की नाल के आकार की प्रवाल रचना है जिसके मध्य उथली अनूप होती है। वलयाकार भित्ति कहीं-कहीं विच्छेदित रहती है जिससे
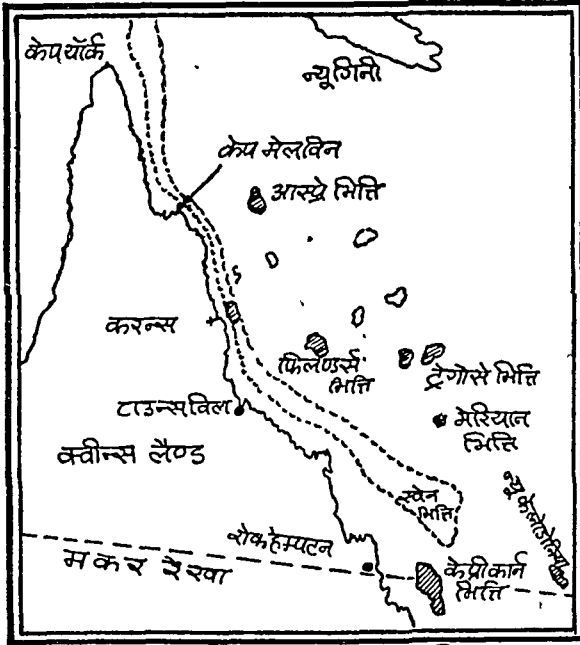
चित्र 31·3 आस्ट्रेलिया की महान रोधिका भित्ति

मध्य के अनूप तथा खुले सागर का सम्पर्क रहता है। इन अनूपों की गहराई प्राय: 72 तथा 126 मीटर के मध्य होती है। कहीं-कहीं उथली अनूप के मध्य द्वीप होता है किन्तु वास्तविक वलयाकार भित्ति के बीच केवल अनूप ही होती है, द्वीप नहीं। वलय के ऊपर मिट्टी, रेत, प्रवालो का चूर्ण आदि निक्षेपित हो जाने से ऊपरी किनारों पर ताड़ के वृक्ष वनस्पति पाई जाती हैं।
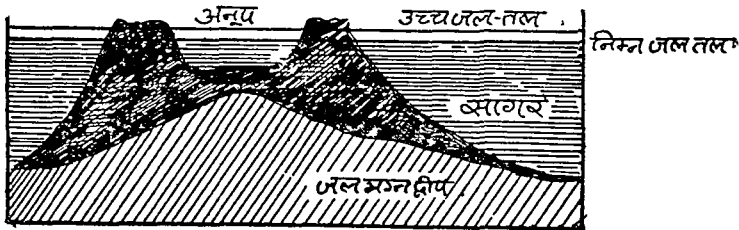
चित्र 31·4 वलयाकार प्रवाल भित्ति

वलयाकार भित्ति मुख्यत: प्रशान्त महासागर में पाई जाती हैं यह महाद्वीपों से बहुत दूर गम्भीर महासागरों में स्थित रहती है। प्रशान्त महासागर में हवाई द्वीप के समीप बिकिनी एटॉल, फीजी एटॉल, कैरोलिन द्वीप के समीप त्रुक एटॉल, एलिस द्वीप के समीप फुना

फूटी एटॉल विश्वविख्यात हैं। हिन्द महासागर में मालदीव की वृहत् एटॉल जिसका व्यास 80 किमी. से भी अधिक है, उल्लेखनीय है। बड़ी एटॉल के पार्श्व में छोटी वलय भी विकसित हो जाती है जिन्हें एटालोन कहते हैं जैसे मालद्वीप समूह में तिलादूमाटी।

वलयाकार प्रवाल भित्ति की तुलना में प्रवाल द्वीप बहुत छोटे होते हैं। आस्ट्रेलिया में ये रेतीले लघु द्वीप होते हैं। प्रवाल का विकास सागर की सतह के नीचे तक ही होता है किन्तु द्वीपों की रचना में अन्य कैल्शियमी जीव, शैवाल, फोरामिनीफेरा गोलाश्म, रेत, प्रवाल चूर्ण आदि का योग होता है। द्वीपों के मध्य अनूप होती है और ये वृत्ताकार द्वीप कहलाते है। तरंगों तथा पवन की सहायता से द्वीप पर तलछट का निक्षेप हो जाता है जिस पर वनस्पति उग जाती है। आस्ट्रेलिया की महान मूँगे की दीवार के उत्तरी भाग में अनेकों ऐसे द्वीप हैं जैसे सडवरी ग्रीन द्वीप, बंकर तथा केपीकार्न। इसके अतिरिक्त मालदीव, फीजीद्वीप, क्रिसमस द्वीप आदि उल्लेखनीय हैं। प्रवाल द्वीपों पर पवन या पक्षियों द्वारा उड़ाकर बीज पहुँच जाते हैं जिससे इन पर वनस्पति उग आती है। द्वीप जब पूर्ण विकसित हो जाते हैं तो इनके किनारों पर और भी नवीन प्रवाल भित्तियां विकसित हो जाती हैं। प्रशान्त महासागर में ऐसे अनेकों छोटे प्रवाल द्वीप पाये जाते हैं।

चित्र 31·5 प्रवाल द्वीप -

प्राकृतिक स्थिति के आधार पर प्रवाल भित्तियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :

उष्ण कटिबन्धीय प्रवाल भित्तियां विषुवत रेखा के उत्तर तथा दक्षिण में लगभग 25^0 अक्षांशों तक विस्तृत हैं जहां प्रवाल के विकास के लिए अनुकूल भौगोलिक दशायें उपलब्ध हैं।

प्रशान्त, अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागर इनके प्रमुख क्षेत्र हैं। इन महासागरों में महाद्वीपों अथवा द्वीपों के पूर्वी किनारों के निकट गर्म जलधाराओं के होने से प्रवाल को भोजन मिलता रहता है तथा अनुकूल परिस्थितियां भी रहती हैं। अतः इन क्षेत्रों में प्रवाल उत्तरोत्तर विकास करते रहते हैं। यह विषुवत रेखा के आस-पास नहीं पाए जाते क्योंकि यहां जल अधिक गर्म रहता है। प्रशान्त महासागर के मध्य में भी ज्वालामुखी शिखरों या तली के उभरे हुए भागों में प्रवाल शैलमालायें होती हैं।

सीमान्त प्रदेशीय प्रवाल शैलमालायें 25° उत्तरी अक्षांश से 30° दक्षिणी अक्षांश तक पाई जाती हैं। इनका विकास हिमयुग से पूर्व हुआ, किन्तु प्लीस्टोसीन हिमयुग के समय जल की सतह नीची हो जाने के कारण प्रवाल समाप्त हो गए। कालान्तर में सागरीय तरंगों

के कारण बहुत सी शैलमालायें भी धीरे-धीरे समाप्त हो गयीं। किन्तु शेष आज भी महासागरों में जल की सतह से कुछ नीचे वृहत् चबूतरों के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। अवशिष्ट भित्तियां वर्तमान में द्वीपों के रूप में विद्यमान हैं। जैसे बरमूडा, बहामा तथा हवाई द्वीप।

तटीय प्रवाल शैलमाला के अतिरिक्त अन्य प्रवाल शैलमालाओ के निर्माण के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। यह सर्वमान्य है कि तटीय प्रवाल भित्ति महाद्वीपीय मग्नतट पर लगभग 55 मीटर की गहराई से विकसित होना प्रारम्भ करती है तथा निम्न ज्वार की सतह तक पहुँच जाती है। किन्तु रोधिका शैलमाला तथा वलयाकार शैलमाला एवं द्वीपो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वान एक मत नहीं हैं क्योंकि इनमें प्रवालो के निक्षेप की मोटाई 55 मीटर से अधिक पाई जाती है। प्रवाल जल की 55 मीटर की गहराई तक सूर्य के प्रकाश एवं ऑक्सीजन की उपलब्धि के कारण जीवित रहता है तथा इस गहराई के पश्चात मर जाता है। किन्तु मार्शल द्वीप में छिद्रण से ज्ञात हुआ कि प्रवाल रेत 1200 मीटर गहराई तक भी विद्यमान है। इसी प्रकार अन्य प्रवाल शैलमालाओ के वेधन से प्रवाल निक्षेप 55 मीटर की गहराई से अधिक गहरा पाया गया। प्रवालो की उनके जीवित रहने की गहराई की सीमा से अधिक गहराई पर पाये जाने की स्थिति पर विभिन्न मत व्यक्त किये गये है।

चार्ल्स डार्विन ने प्रवाल शैलमालाओं की रचना सम्बन्धी सिद्धान्त को सागरीय तली के अवतलन के आधार पर प्रतिपादित किया। डार्विन के अनुसार प्रवाल शैलमाला की रचना द्वीप के चारो ओर उथले सागरीय भागो मे तटीय शैलमाला के रूप मे होती है। इसका विकास सागर की ओर तीव्र गति से होता है किन्तु स्थल की ओर इसका विकास भोजन के अभाव में रुक जाता है। फलतः स्थल खण्ड तथा शैलमाला के मध्य अनूप निर्मित हो जाते है। अवतलन के कारण शैलमाला का आधार गहरे जल में डूबता जाता है जिसके परिणामस्वरूप ऊपर की सतह भी जल-तल से नीचे हो जाती है। अतः निर्माणकारी प्रवाल एवं अन्य कैल्शियम युक्त सूक्ष्म जीव समुदाय सक्रिय हो उठते है तथा शैलमाला का पुनः निर्माण प्रारम्भ कर देते हैं जब तक कि प्रवालो की रचना जल की सतह तक नही पहुंच जाती यह क्रम जारी रहता है। अवतलन के कारण अनूप की चौड़ाई अधिक हो जाती है तथा तटीय शैलमाला रोधिका में परिणित हो जाती है।

यदि अवतलन की गति निरन्तर चलती रहती है या तीव्र हो जाती है तो समस्त द्वीप ही जलमग्न हो जाता है तथा रोधिका वलयाकार रूप धारण कर लेती है। नीचे के प्रवाल मरते जाते हैं और 55 मीटर की गहराई वाले भाग में नवीन प्रवाल उत्पन्न होकर ऊपर की ओर निर्माण करते रहते हैं।

अमरीकी भूगोलवेत्ता डेविस ने अवतलन सिद्धान्त के पक्ष में अनेकों ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये है :

(1) रोधिका एव वलयाकार प्रवाल शैलमालाओं का अस्तित्व केवल अवतलन पर ही आधारित है चाहे यह मन्द गति से क्यो न चलता रहता हो। किन्तु अवतलन का निरतर होना अनिवार्य था। डेविस के अनुसार जलमग्न घाटियो तथा भृगुविहीन तट का अवतलन के प्रवाल शैलमालाओं के निर्माण से मेल खाता है।

(2) इण्डोनेशिया तथा क्वींसलैण्ड के तटीय प्रदेशों में अवतलन के अनेकों प्रमाण मिलते हैं। हाल ही में अन्वेषित चौरस सतह के सागरीय पर्वत या गुयोट्स जो प्रशान्त महासागर में लगभग 1 6 किमी. की गहराई पर पाए जाते हैं, प्रशान्त महासागर की तली के अवतलन के साक्षी हैं। यह सम्भावना प्रकट की जाती है कि उनके चौरस धरातल अवतलित वलयाकार शैलमालाओं के द्योतक हैं जिनके अनूप सागरीय तलछट से भर गए हैं। फीजी द्वीपों के उत्तर मे पेनगुइन तथा अलेस्का बैंक वलयाकार शैलमालाओं के अवतलन के प्रमाण हैं।

(3) उथले अनूप इस तथ्य के द्योतक हैं कि तटीय अनाच्छादन से प्राप्त तलछट को अवतलन के माध्यम से किस प्रकार आत्मसात किया गया है अन्यथा अनूप स्थलीय एवं सागरीय प्रवाल शैलमालाओं से प्राप्त पदार्थों से कभी के पट गए होते।

(4) अवतलन के कारण अपरदन तल उत्पन्न होता है जिस पर प्रवाल शैलमालायें अपना आधार बनाती हैं। इस प्रकार के आधार तथा भित्ति के मध्य अपरदन तल विद्यमान रहता है। भित्तियो के वेधन से ज्ञात हुआ है कि आधार एवं भित्ति के मध्य विषमविन्यास रहता है। यह विषमविन्यास उत्क्षेप भित्तियो में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कुछ विद्वानो के अनुसार प्रवाल पर्तों के भार से भी आधार अवतलित हो जाता है।
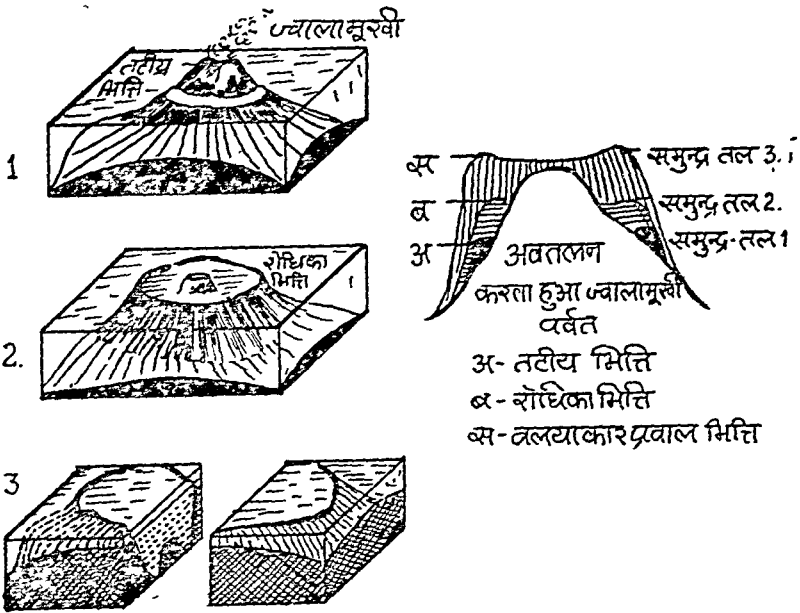
चित्र 31·6 - अवतलन सिद्धान्त के अनुसार प्रवाल रोधिका एवं वलयाकार प्रवाल भित्ति का निर्माण (डार्विन के अनुसार)

(5) डार्विन के सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए सन् 1896 में ब्रिटिश एसोसियेशन द्वारा एलिस द्वीप समूह के फुनाफुटी द्वीप में लगभग 300 मीटर से अधिक गहरा वेधन किया गया जिसमें 225 मीटर तक तो प्रवाल के कंकालों से निर्मित चूना प्राप्त हुआ, तत्पश्चात दूसरा पदार्थ प्राप्त हुआ। साधारणतः प्रवाल अधिक से अधिक 60 मीटर की गहराई तक ही जीवित रह सकते हैं। अतः 225 मीटर गहराई तक इनके अवशेषों का पाया जाना अवतलन के मत को सिद्ध करता है। छेदन द्वारा आस्ट्रेलिया की महान प्रवाल रोधिका से

र्भा प्राप्त पदार्थों से यही सिद्ध होता है कि वहां भी 120 मीटर गहराई तक अवतलन हुआ है। प्रवाल भित्तियों की मोटाई यह प्रकट करती है कि उनका विकास धंसती हुई सतह पर हुआ होगा।

स्थिर स्थल सिद्धान्त

डार्विन के अवतलन सिद्धान्त की कमियों को देखते हुए अन्य विद्वानों ने ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो अवतलन के विपरीत हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार प्रवाल भित्तियों का सागरीय आधार तल निमज्जन तथा उन्मज्जन दोनों ही क्रियाओं से मुक्त है। अतः यह स्थिर स्थल सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। स्थिर स्थल सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक जॉन मरे हैं।

विलयन सिद्धान्त

सर जॉन मरे ने विलयन सिद्धान्त के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि तटीय प्रवाल भित्ति के भीतरी भागों के विलयन के फलस्वरूप कालान्तर में रोधिका भित्ति का निर्माण हो जाता है। प्रवालों का विकास सदा ऊपर तथा समुद्र की ओर होता है। अतः भीतर के भागों का विलयन सम्भव होता है। इसी प्रकार वलयाकार भित्ति के मध्य विलयन के कारण अनूप का निर्माण हो जाता है। इसके अतिरित मरे की परिकल्पना है कि प्रवालों के विकास के लिए अनुकूल वातावरण का होना आवश्यक है। मरे के अनुसार

(1) सागर में 55 मीटर (30 फैदम) गहराई तक पूर्ववर्ती वेदिका का होना जिस पर प्रवाल सुगमता से विकसित हो सके।

(2) सागर तली का स्थिर रहना तथा जल–तल का अपरिवर्तित रहना जरूरी है।

मरे की विचारधारा के कई समर्थकों में से अगेसीज तथा गार्डिनार प्रमुख हैं।

मरे के अनुसार महासागरों की तली में जलमग्न द्वीप, पठार, ज्वालामुखी आदि विद्यमान हैं जिनका ऊपरी भाग समुद्र की सतह से 55 मीटर (30 फैदम) की गहराई तक है। यदि कोई इससे अधिक गहरा है तो वहां सागरकृत पदार्थ निक्षेपित है तथा वह 55 मीटर की गहराई में पूर्व निर्मित वेदिका के रूप में विद्यमान है जहां प्रवाल सुगमतापूर्वक अपना विकास प्रारम्भ कर सकते हैं इसी प्रकार यदि कोई पहाड़ समुद्रतल से ऊँचा है तो उसे तरंग अपरदित कर जलमग्न कर देती हैं। जोकि तरंग घर्षित वेदिका के रूप में प्रवालों के निर्माण के लिए आधार का निर्माण करती हैं।

मरे के विचार से तटीय प्रवाल भित्तियां 55 मीटर की गहराई से भी अधिक गहराई में विस्तृत हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि प्रारम्भ में 55 मीटर की गहराई तक तटीय प्रवाल भित्ति का निर्माण हो जाता है। पूर्ण विकसित भित्ति पर तरंगों का प्रकोप होता है जिसके परिणामस्वरूप उसके छोटे-छोटे टुकड़े टूट-टूट कर भित्ति के सहारे गहराई में निक्षेपित होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त जलमग्न पठार के तलछट प्रवाल चूर्ण तथा जैव सामग्री के निक्षेप से भित्ति को समुद्र की ओर का भाग शनैः-शनैः 55 मीटर की परिसीमा में आ जाता है तथा इस प्रकार प्रवाल समुद्र की ओर विकसित होते जाते हैं। स्थलीय भाग

की ओर विलयन के कारण अनूप चौड़ा होता जाता है तथा इसी क्रम से तटीय भित्ति रोधक भित्ति का रूप ले लेती हैं। वलयाकार भित्ति का निर्माण जलमग्न वेदिका, पहाड़ की चोटी या द्वीप के चारों ओर होता है। खुले सागर की ओर प्रवाल तीव्रता से विकसित होते हैं तथा अन्दर की ओर भोजन के अभाव में मर जाते हैं। मृत प्रवालों का जल में विलयन प्रारम्भ हो जाता है जिसके फलस्वरूप अनूप का निर्माण हो जाता है और अन्त में वलयाकार भित्ति अपना पूर्ण आकार प्राप्त कर लेती है।

चित्र 31·7 मरे के अनुसार प्रवाल भित्ति की रचना

गार्डिनर ने मरे के विचारों का अनुसरण करते हुए महासागरीय तरंगों द्वारा अपरदन पर अधिक बल दिया है जबकि मरे ने विलयन पर गार्डिनर के अनुसार पूर्व स्थित द्वीप तरंगों के घर्षण से अपरदित होकर 252 से 306 मीटर (140 से 170 फैदम) गहरे हो गये। आवश्यक गहराई प्राप्त करने के पश्चात् इन वेदिकाओं पर गहन समुद्री प्रवाल के अतिरिक्त अन्य सागरीय जीवों का निक्षेप प्रारम्भ हुआ। कालान्तर में जब यह निक्षेप समुद्र की सतह से 40 मीटर हो गया तो साधारण प्रवालों ने अपनी रचना प्रारम्भ कर दी और इस प्रकार प्रवाल भित्तियों का निर्माण सम्भव हो सका। उनके अनुसार अनूप की रचना मरे के मत के अनुरूप विलयन द्वारा होती है। गार्डिनर ने अपना मत हिन्द महासागर स्थित लकादीव तथा मालदीव की प्रवाल भित्तियों के अध्ययन के आधार पर व्यक्त किया। उनका मत है कि भारत और मैडागास्कर को मिलाता हुआ एक वृहत स्थल खण्ड था जो शनैः-शनैः अपरदन व अवतलन के कारण जलमग्न हो गया जिस पर प्रवाल भित्तियों का निर्माण हुआ।

वैज्ञानिक शोधों के आधार पर गार्डिनर की परिकल्पना भी त्रुटिपूर्ण पाई गई है।

अलेग्जेंडर एगासीज ने प्रवाल भित्ति निर्माण सम्बन्धी जो मत व्यक्त किया वह मरे की विचारधारा से बहुत मेल खाता है। इसके अनुसार सागरीय तरंगों द्वारा अपरदन के कारण जलमग्न वेदिकाएं तथा भृगु निर्मित हो जाती हैं। ये वेदिकाएं जब 30 से 50 मीटर की गहराई तक अपरदित हो जाती हैं तो प्रवाल अपना रचनात्मक कार्य प्रारम्भ कर देते हैं तथा भित्तियों का निर्माण हो जाता है। एगासीज ने आस्ट्रेलिया की महान प्रवाल रोधिका, फिजी तथा ताहेती द्वीप समूहों को अपने मत का आधार बनाया। यह परिकल्पना भी अपूर्ण मानी गई है।

आर. पी. डाली ने इस बारे में हिमानी-नियन्त्रण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तः तटीय स्थल स्थिर रहे हैं तथा हिमयुग के समय और उसके

पश्चात् जल-तल में अन्तर आया है। जल-तल को केवल हिमानी ने ही नियन्त्रित रखा।

डाली को हवाई द्वीप के दो तथ्यों ने प्रभावित किया। एक तो भित्तियां अत्यन्त संकरी थीं और दूसरा यह कि उन पर हिम युग के चिन्ह पाये गये। मोनाकी नामक प्रवाल भित्ति में नवीन हिम युग के चिन्ह देखे गये। अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रवाल भित्तियों और तापमान में अटूट सम्बन्ध है और इसी आधार पर इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

डाली के ही अनुसार अभिनूतन हिम युग में ताप के हिमांक के नीचे गिर जाने से महासागरों का जल 60 से 69 मीटर तक हिम चादर में परिवर्तित हो गया था जिसके कारण जल-तल में उतनी ही गिरावट आ गई। सागरीय जल के अवनयन के फलस्वरूप पूर्व निर्मित प्रवाल भित्तियां, द्वीप, ज्वालामुखी शिखर तथा वेदिकायें जल से ऊपर स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी होगीं। तापमान के कम होने के कारण प्रवाल समाप्त हो गये। शनैः शनैः सागरीय तरंगों द्वारा उभरी हुई रचनाओं का अपरदन कर उनको भू-रचना के अनुसार संकरी तथा चौरस वेदिकाओ में परिवर्तित कर दिया। अभिनूतन हिम युग के उपरान्त हिम चादर के पिघलने से समुद्र के जल-तल में पुनः वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त तापमान भी बढ़ा जो प्रवालों के विकास के लिए अनुकूल हो गया। अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों के पुनः स्थापित होने के परिणामस्वरूप हिम युग के बचे हुए जीवित प्रवालों ने फिर से जल-वेदिकाओं पर अपनी रचनायें तेज कर दीं।

सागरीय जल में जैसे-जैसें उत्थान हुआ वैसे-वैसे प्रवाल एवं अन्य सूक्ष्म जीव समुदाय भी शनैः-शनैः ऊपर की ओर तथा खुले समुद्र की ओर विकसित होते गये। महाद्वीपीय मग्नतट की संकरी वेदिकाओं पर तटीय प्रवाल भित्ति तथा चौड़ी जलमग्न पठारी वेदिकाओं पर प्रवाल रोधिकाओं और वलयाकार द्वीपों का निर्माण हुआ। हिम युग के उपरान्त प्रवाल वेदिकाओं पर अन्तर्जात बल का कोई प्रभाव नहीं हुआ तथा वह लगभग स्थिर ही रहीं।

अपनी सरलता तथा वास्तविक तथ्यों के अधिक समीप होने के कारण डाली का सिद्धान्त एक मौलिक सिद्धान्त के रूप में माना जाता है। यह सिद्धान्त अनेक भौतिक तथ्यों को सिद्ध करता है किन्तु इसको भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

डार्विन द्वारा मन्द अवतलन सिद्धान्त तथा डाली द्वारा हिमानी नियन्त्रण सिद्धान्त दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। स्थानीय रूप से अवतलन का सिद्धान्त तथा व्यापक रूप से हिमानी नियन्त्रण सिद्धान्त महासागरों के विभिन्न भागों में किसी सीमा तक महत्वपूर्ण तथा सही पाये गये हैं। प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति केवल एक सिद्धान्त के आधार पर प्रमाणित नही की जा सकती। वास्तव में दोनो ही सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं।

डेविस ने प्रवाल भित्तियो के निरीक्षण, अध्ययन तथा परीक्षण के आधार पर डार्विन के सिद्धान्त का समर्थन किया तथा इसी सिद्धान्त को अपने मत का मूल आधार भी बनाया। प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने के लिए भू-आकृतियों को दृष्टिगत रखकर निर्णयात्मक विचार देने की चेष्टा की। डार्विन ने अपने सिद्धान्त में भू-आकृतियों के समावेश का अभाव रखा, जो एक बड़ी त्रुटि थी जिसको डेविस ने पूरा किया।

डेविस के अनुसार सागर तली का अवतलन तथा उत्थान दोनों ही होते हैं, जिनका

प्रभाव प्रवाल रचनाओं पर पड़ता है। लगभग सभी प्रवाल भित्तियाँ कटी-फटी खाड़ियों के ऊपर मिलती हैं। आस्ट्रेलिया की महान रोधिका क्वींसलैण्ड के तट के समानान्तर भ्रंश के
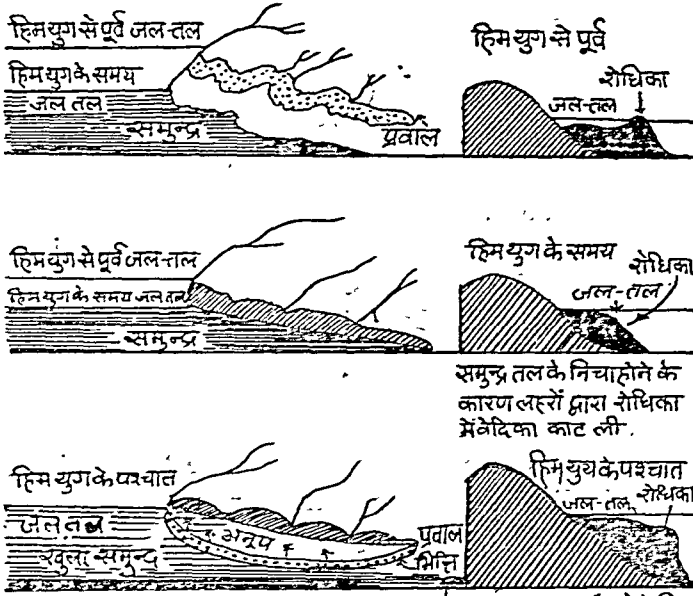
चित्र 31·8 हिमानी नियंत्रण सिद्धान्त के अनुसार प्रवाल रोधिका की रचना (डाली के अनुसार)

ऊपर आधारित है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रवाल भित्तियों का आधार भ्रंशों के ऊपर ही है। प्रवाल समुद्रों की खाड़ियों में कटे-फटे किनारे अवतलन के द्योतक हैं। अनूपों का चौरस तल हिम युग के समय के अपरदन के कारण न होकर निक्षेप के कारण है। यदि हम मरे के स्थिर स्थल सिद्धान्त को मान लें तो अनूपों में भृगुओं की रचना होना नितान्त आवश्यक है किन्तु इनमें भृगु का अभाव अवतलन की ओर संकेत करता है। डेविस ने अनूपों के नीचे स्थल से लाये हुए तथा भित्तियों के तलछट से भरे जलमग्न खड्ड, खाइयों और घाटियों को माना है।

यदि यह तलछट अनूपों में निक्षेपित न होती तो प्रवालों के विकास में अवरोध उपस्थित कर देती। इसके अतिरिक्त यदि अवतलन न होता तो सभी अनूप तलछट से भर जातीं।

डेविस ने प्रवाल भित्ति उत्पत्ति सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों के गुणों को अपनी परिकल्पना में समावेश करने की चेष्टा की है जिससे इनके मत का क्षेत्र व्यापक हो गया है। इन्होंने समुद्र तल की कल्पना को मान्यता नहीं दी। डार्विन के सिद्धान्त में भू-आकारों के पुट को लगाकर अवतलन के सम्बन्ध में कई ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। कुछ विद्वानों ने प्रवाल भित्ति के विकास के फलस्वरूप भार के कारण अवतलन की सम्भावना प्रकट की है। किन्तु यदि एक स्थान पर अवतलन होता है तो समस्थिति बनाने के लिए दूसरे स्थान पर उत्थान होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार यदि एक स्थान पर उत्थान के प्रमाण मिलते हैं

तो दूसरे स्थान पर अवतलन होना स्वाभाविक है। अवतलन और उत्थान एक दूसरे के पूरक हैं। किन्तु फिर भी डेविस ने अवतलन पर अधिक बल दिया है।

सभी साध्यों के अध्ययन के पश्चात् डेविस ने अवतलन के आधार पर रोधिका एवं वलयाकार प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति सिद्ध की है। डेविस द्वारा प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति की समस्या अभिविन्यास के कारण वर्तमान विद्वानों का झुकाव भी अवतलन के पक्ष में है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Cotter, C. H. (1965), The Physical Geography of the Oceans (Hallis and Carter, London).
2. l aly, R. A. (1936), The Changing World of the Ice Age (Yale University Press), New Haven Conn).
3. Davis, W.H. (1928), The Coral Reef Problem, American Geog. Soc. Sepc. Publ. No. 9.
4. Darwin, C. (1942), The Structure and Distribution of Coral Reef (Smith Elder and Co., London).
5. Guilcher, A. (1958), Coastal and Submarine Morphology, tr. B. W. Sparks, R. H. W. Kneese (Methuen, London).
6. Lake, P. (1936), Physical Geography (Cambridge University Press, London).
7. Petterson, H. (1954), The Ocean Floor (Yale University Press, New Haven, Conn).
8. Steers, J. A. (1961), The Unstable Earth (Methuen & Co. Ltd., London).
9. Steers, J. A. (1937), The Coral Islands and Associated Features of the Great Barrier Reefs, Geog. Journn., 89.